हिन्दी

विश्व-भारती

[ज्ञान-विज्ञान का कोश]

हिन्दी

विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान का कोश

संशोधित और परिवर्द्धित
नवीन संस्करण

संपादक
कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

भाग
४

ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

प्रकाशक
हृदयेश्वर प्रसाद
हिन्दी विश्व-भारती
चारबाग, लखनऊ

मूल्य
प्रति भाग
रु० २१)

मुद्रक
नवज्योति प्रेस,
लखनऊ

: लेखक-मंडल :

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ०आर० ए० एस०, भूतपूर्व रीडर, गणित-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, *प्राध्यापक, भौतिक विज्ञान, धर्म-समाज कॉलेज,* अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम०एस-सी०, प्रधानाचार्य, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, आचार्य, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, पुरातत्त्व-संग्रहालय, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी०एस-सी० (मेटालर्जी)।

डॉ० शिवकण्ठ पांडे, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, वनस्पति-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम०एस-सी, एल-एल०बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० कॉम०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी०एस-सी० (लंदन), भूतपूर्व उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व उपकुलपति, लखनऊ-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, भूतपूर्व, उप-प्रधानाचार्य, राजकीय कला-महाविद्यालय, लखनऊ।

डॉ० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच० डी० (हाइडेलबर्ग)।

डॉ० डी०एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी०आर०एस०, एफ०आर०ए०आई०, भूतपूर्व अध्यक्ष, मानव-विज्ञान-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम०ए०, एल-एल० बी०।

श्री० रामकृष्ण अवस्थी, एम० ए०।

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०।

श्री० नीलकंठ तिवारी, एम० ए०।

विषयानुक्रम

: विश्व की कहानी :

: पृथ्वी की कहानी :

पृथ्वी की रचना

जानवरों की दुनिया

पृष्ठ १४२४–१४५६

पक्षियों का संसार––(१) [श्री० श्रीचरण वर्मा]

उन पर कवि और कलाकार दोनों ही लट्टू है—पक्षियों की उपयोगिता—उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह—१. कीड़े-मकोड़े खानेवाले पक्षी—२. घासपात के बीज खानेवाले पक्षी—३. वे पक्षी, जो चूहे आदि नन्हें जीवों का भक्षण करते हैं—४. वे पक्षी, जो शिकार के काम में आते हैं—५. वे पक्षी, जो मेहतर का काम करते हैं—६. वे पक्षी, जो संदेशवाहक का काम करते है।

पक्षियों का संसार––(२) [श्री० श्रीचरण वर्मा]

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन—जमीन पर दौड़नेवाले पक्षी—कैसोवरी और ऐमू—अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग—शुतुर्मुर्ग-फार्म—अद्‌भुत प्रणयलीला—डेढ़-डेढ़ सेर के अण्डे—मोआ, डोडो और रॉक।

पक्षियों का संसार––(३) [श्री० श्रीचरण वर्मा]

'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न'—स्वर्ग के पक्षी'—पक्षी-जगत् के सब से भौंडे सदस्य—हार्नबिल—टूकन—एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग—अद्‌भुत होत्जिन पक्षी—हमारे देश के पक्षी—भारतीय पक्षी-जगत् के अत्यन्त सुन्दर पक्षी—फ्लेमिंगो या हंसावर—सारस—हुदहुद और नीलकंठ—मछमरनी और कौड़िल्ला—पीलक और पतेने—कुरूप पक्षी—गिद्ध और चील—उकाब और बाज—उकाब, जो भेड़ों तक को उड़ा ले जाते हैं—विविध जाति के उल्लू—मदमाती, किन्तु आलसी कोयल—कोयल का नवजात बच्चा अपने प्रतियोगियों का नाश कैसे करता है—पपीहा (चातक)—भारत के सब से बुद्धिमान पक्षी :: तोते और उनके भाई-बन्धु—भारत का सब से कुशल कारीगर पक्षी :: बया— हंस —गानेवाले पक्षी।

ः मनुष्य की कहानी ः

हम और हमारा शरीर

पृष्ठ १४५९–१४८२

पाचन-संस्थान तथा अन्न-प्रणाली [श्री० श्रीचरण वर्मा]

हम खाना क्यों खाते हैं—मुख्य खाद्य पदार्थ—पाचन-सम्बन्धी कल और पुर्जे :: पाचक-संस्थान—

प्रकृति पर विजय

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

साहित्य-सृष्टि

देश और जातियाँ

मानव विभूतियाँ

अमर कथाएँ

विश्व
की कहानी

त्रिपार्श्व (प्रिज्म) द्वारा दिग्दर्शित प्रकाश-रश्मियों की इन्द्रधनुष की-सी रंगीन झाँकी

दाहिनी ओर की ऊपर की पट्टी में तीन प्रमुख रंग— नीला, पीला और लाल—दिखाए गए हैं, जिनके न्यूनाधिक मिश्रण से नारंगी, हरा और कासनी रंग बनते हैं। नीचे के गोले में ये सातों रंग दिग्दर्शित हैं। विशेष जानकारी के लिए पृ० १२९३-१३०० का मैटर देखिए।

वृहस्पति—सबसे बड़ा ग्रह

सूर्य को छोड़कर वृहस्पति सौर परिवार का सबसे वड़ा सदस्य है। इसकी कक्षा मंगल और अवान्तर ग्रहों की कक्षाओं से बाहर पड़ती है। आइए, इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण ग्रह से परिचय प्राप्त करें।

वृहस्पति अन्य सब ग्रहों से वड़ा है, तो भी अधिक दूरी के कारण साधारणतः यह शुक्र से कुछ कम ही चमकीला दिखलाई पड़ता है। एक वार इसको देख लेने पर इसकी पहचान पीछे आसानी से की जा सकती है, क्योंकि यह तारों से अधिक चमकीला है। शुक्र और इस ग्रह में अंतर यह है कि शुक्र क्षितिज से केवल थोडी ही ऊँचाई पर और संध्या समय पश्चिम में या सवेरे पूरव में दिखलाई पड़ता है, परंतु वृहस्पति क्षितिज से किसी भी ऊँचाई पर रह सकता है और अर्धरात्रि में भी क्षितिज के ऊपर दिखलाई पड सकता है। वृहस्पति की चमक प्रायः सदा एक समान रहती है। कारण यह है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी वृहस्पति और सूर्य के बीच की दूरी की अपेक्षा वहुत कम है। मोटे हिसाव से हम यह मान सकते हैं कि हम सूर्य से विलकुल सटकर खड़े हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वृहस्पति का केवल वही गोलार्द्ध हमें दिखलाई पड़ता है, जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। अर्थात् वृहस्पति का विम्व हमें प्रायः सदा पूर्णिमा के चंद्रमा के समान दिखलाई पडता है—इसमें हमें कलाएँ प्राय. नही दिखलाई पडती। फिर वृहस्पति सूर्य के चारों ओर प्रायः गोल कक्षा में चलता है और मोटे हिसाव से पृथ्वी सूर्य के पास ही रहती है। इसलिए पृथ्वी से वृहस्पति की दूरी भी वहुत कम ही घटती-वढ़ती है। इन दोनो कारणों से वृहस्पति की चमक में उतना घटाव-वढ़ाव नहीं होता, जितना मंगल या शुक्र की चमक में।

दूरदर्शक में वृहस्पति की एक झांकी

तीर के निशान से वृहत् रक्त चिह्न दिखाया गया है। यह फोटो पराकासनी किरणों द्वारा लिया गया है। (फो०—'लिक वेधशाला'।)

नाप और दूरी

वृहस्पति अन्य ग्रहों से वहुत वड़ा है। जव इसकी उपमा नारंगी से दी गई थी तो अन्य ग्रहों की उपमा राई, मटर और लीची से देनी पड़ी थी। केवल शनि ही वृहस्पति के आगे कुछ-कुछ वरावरी का दावा रख सकता है। वृहस्पति के वड़े आकार का एक सिद्धांत यह है कि हमारे सौर जगत् की उत्पत्ति हमारे सूर्य के निकट किसी अन्य सूर्य के आ जाने से हुई। आरंभ में केवल हमारा सूर्य ही रहा होगा, पृथ्वी और अन्य ग्रह न रहे होंगे। परंतु हमारा सूर्य और इसी के समान वे अन्य सूर्य, जो हमें महान् दूरी के कारण

तारे की तरह दिखलाई पड़ते हैं, सदा चलते रहते हैं। किसी सुदूर काल मे संयोगवश कोई अज्ञात सूर्य हमारे सूर्य के पास से निकल गया होगा। उस अज्ञात सूर्य के भीषण आकर्षण के कारण हमारे सूर्य में भयानक तरंगे उठी होंगी, ठीक उसी प्रकार जैसे चन्द्रमा के कारण हमारी पृथ्वी के समुद्रों में ज्वार-भाटा उठा करता है। हमारे सूर्य पर जब तरंगे उठी होंगी तो उसका एक अश छटक गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे जब समुद्र में कोई बड़ी लहर उठती है तो बहुत-सा जल छटक जाता है। छटका हुआ सूर्य का यह अंश गोल न होकर गुल्ली की तरह लंबा हो गया होगा, क्योंकि एक ओर से हमारे सूर्य के और दूसरी ओर से अज्ञात सूर्य के आकर्षण ने इसको तान डाला होगा। अज्ञात सूर्य के निकल जाने पर हमारे सूर्य से निकला लंबा अंश छिन्न-भिन्न हो गया होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे लहरों से छटका पानी अंत मे छीटों के रूप में बँट जाता है। स्वभावत: जब सूर्य से निकला गुल्ली के रूपवाला अंश टूटा होगा तो इसके मध्य भाग बड़े रहे होगे। अनुमान किया जाता है कि ये ही मध्यवाले भाग वृहस्पति और शनि हुए होगे। ओर-छोर के समीपवाले भागों से शुक्र और नेपच्यून उत्पन्न हुए होंगे, इत्यादि। यदि ग्रहों की नापो पर ध्यान दिया जाय तो उपर्युक्त सिद्धांत का समर्थन होता है। इस सिद्धांत से वृहस्पति के बड़े होने का कारण अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। जैसे पृथ्वी नारंगी के समान कुछ चपटी है, उसी प्रकार वृहस्पति भी चपटा है। अंतर यही है कि पृथ्वी बहुत कम चपटी है और वृहस्पति अपेक्षाकृत बहुत अधिक। पृथ्वी का ध्रुवोंवाला व्यास भूमध्य रेखावाले व्यास की अपेक्षा कुल $\frac{1}{3}$ प्रतिशत ही छोटा है, परंतु वृहस्पति का ध्रुवोंवाला व्यास दूसरे व्यास से लगभग ६ प्रतिशत छोटा है। यदि हम पृथ्वी का चित्र पैमाने के अनुसार बनावे तो पृथ्वी के चपटेपन का पता हमें न चलेगा, परंतु वृहस्पति का चपटापन प्रत्येक फोटोग्राफ और पैमाने के अनुसार बने नक्शे में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि वृहस्पति का व्यास पृथ्वी के व्यास की अपेक्षा लगभग दस गुना होते हुए भी वृहस्पति अपनी धुरी पर केवल दस घंटे में ही घूम लेता है। निस्संदेह स्थूलकाय होने पर भी द्रुत गति से नाचने के कारण वृहस्पति इतना चपटा हो गया होगा।

सूर्य के चारों ओर एक बार चलने में वृहस्पति को लगभग १२ वर्ष का समय लगता है। सूर्य से वृहस्पति की मध्यम दूरी लगभग ४८,३३,००,००० मील है।

दूरदर्शक से देखने पर

दूरदर्शक से देखने पर वृहस्पति के चपटे बिम्ब पर हलकी समानान्तर धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जैसा इस लेख में दिये गये फोटोग्राफो से स्पष्ट है। ये धारियाँ वृहस्पति की भूमध्यरेखा के समानान्तर रहती हैं। धारियाँ वृहस्पति का कोई स्थायी अंग नही हैं, क्योंकि उनकी चौड़ाई और संख्या घटा-बढ़ा करती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वृहस्पति बादलों से ढका रहता है और धारियाँ या तो बादलों के बीच के स्वच्छ स्थान हैं या गाढ़े रंग के बादल हैं। कभी-कभी केवल दो ही चौड़ी-चौड़ी धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी

वृहस्पति और पृथ्वी के आकार की तुलना

वृहस्पति का व्यास ८७,००० मील है, अर्थात् पृथ्वी के व्यास से वह लगभग दस गुना है।
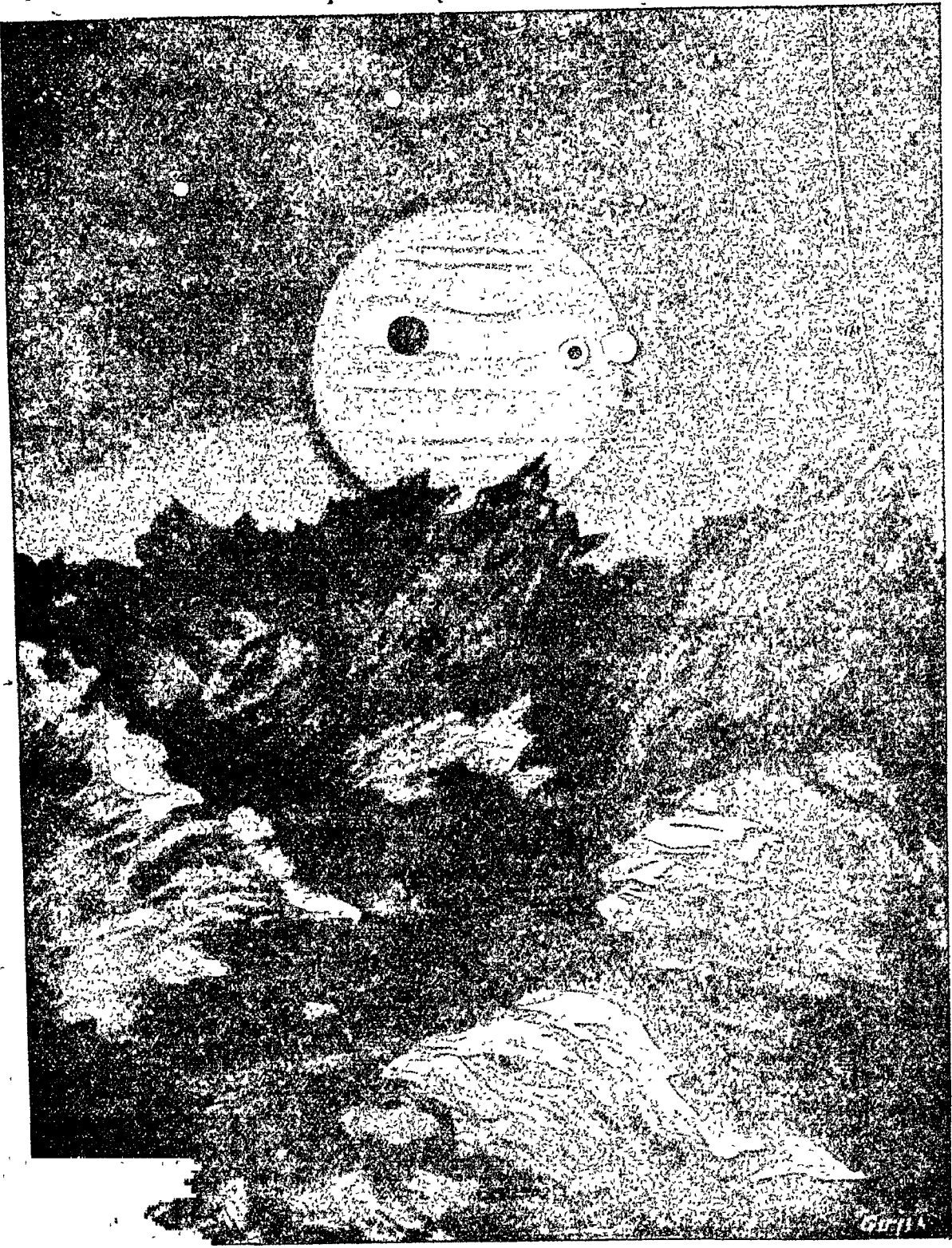
अपने एक उपग्रह से बृहस्पति का दृश्य

यह चित्र काल्पनिक है। बृहस्पति के विशाल बिम्ब की आड़ में सफेद और काली गेंद जैसी जो आकृतियां हैं, वे उसके सामने से होकर गुजरते हुए दो उपग्रहों को सूचित करती हैं। सफेद आकृति के समीप काला बिंदु उक्त उपग्रह की बृहस्पति पर पड़ रही छाया है।

आठ-दस तक पतली-पतली धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी उनका रूप देखते-देखते बदल जाता है, तब ऐसा जान पडता है, जैसे वृहस्पति पर प्रचंड आँधी आई हो। परंतु कभी-कभी धारियों का रूप महीने-दो-महीने तक एक-सा ही रह जाता है। वृहस्पति का रंग कुछ-कुछ गुलाबी लिये पीला रहता है और धारियाँ मटमैली दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी वे कुछ तॉंबे के रग की जान पडती हैं।

वृहस्पति पर कभी-कभी धव्वे भी दिखलाई पडते हैं। ये धव्वे साधारणत छोटे होते है, और कुछ ही दिनों तक टिकते है, परंतु एक वार ऐसा धव्वा दिखलाई पड़ा, जो ७५ वर्ष तक दिखाई देता रहा! इसका नाम "वृहत् रक्त-चिन्ह" रक्खा गया। वृहस्पति के दक्षिण भाग में यह चिन्ह वर्षो तक स्पष्ट दिखलाई पडा, परंतु अव वह प्राय मिट गया है। यह लगभग ३०,००० मील लंबा और ७,००० मील चौड़ा था। पृथ्वी से दूरदर्शक द्वारा देखने पर यह परवल के आकार का और ईंट के रंग का दिखलाई पडता था। सन् १८७८ मे यह स्पष्ट दिखलाई पड़ा और उस समय के ज्योतिषियों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। इसका इतना वडा होना, इसका चटक रंग और इसका वरावर एक समान रह जाना वड़े मारके की वाते थी। चार वर्ष बाद इसका रंग फीका पड़ने लगा, परंतु आकार छोटा न हुआ। पीछे यह इतना फीका हो गया कि केवल वहुत ध्यान देने से इसके रहने का आभास होता था। वृहस्पति पर कभी-कभी सफेद धव्वे भी दिखलाई पड़ते है। ये धव्वे क्या है, कोई भी नही जानता। अनुमान किया जाता है कि वे गैसीय अंधड़ होंगे, जो कि उसके धरातल पर उठते रहते होंगे।

'वृहत् रक्त चिन्ह' का रहस्य

अनुमान किया जाता है कि 'वृहत् रक्त-चिन्ह' वृहस्पति के घने वायुमण्डल को भेदकर उसके ऊपर उभड निकलनेवाले गैसीय तत्त्वों का ३० हजार मील लंबा और ७ हजार मील चौड़ा एक अंधड़ रहा होगा, जैसी कि चित्र में कल्पना की गई है।

अक्षभ्रमण

वृहस्पति अपनी धुरी पर वरावर घूमता रहता है और उसके एक वार घूमने में लगभग दस घंटे लगते हैं, परंतु ठीक समय नापना सरल नही है। वात यह है कि सूर्य की तरह वृहस्पति पर भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि वृहस्पति के चिन्ह स्थायी नही है और भिन्न-भिन्न चिन्हों से अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न निकलता है। भूमध्यरेखा के पास के धव्वे एक चक्कर लगभग ९ घंटे ५० मिनट २६ सेकंड में लगाते हैं। ध्रुवो के पासवाले धव्वे लगभग ५ मिनट अधिक समय लेते हैं। वृहत् रक्त-चिन्ह भी सदा एक वेग से नहीं चलता था। समान वेग से चलने पर इसे जहाँ पहुँचना चाहिए था, वहाँ से यह कभी वीस हजार मील आगे निकल जाता था या इतना ही पीछे छूट जाता था। जिस मार्ग पर यह लाल चिन्ह चलता था, उसी पर एक वार एक छोटा काला चिन्ह भी चलता हुआ दिखलाई पड़ा था। परतु यह लाल चिन्ह से अधिक शीघ्रगामी था। जिस समय यह देखा गया था, उस समय यह लाल चिन्ह के पीछे था। ज्योतिषियो ने पहले सोचा था कि काला चिन्ह लाल के ऊपर से या नीचे से होकर निकलेगा, जिससे पता चल जायगा कि लाल चिन्ह अन्य चिन्हों से ऊँचा है या नीचा। परंतु काला चिन्ह अपने मार्ग से विचलित होकर लाल चिन्ह की वगल से होकर निकल गया। फिर, १९०१ से लेकर कई वर्षों तक लाल चिन्ह के दक्षिण की ओर एक सॉंवले रंग का विस्तृत धव्वा दिखलाई पड़ता रहा। यह भी लाल चिन्ह से अधिक शीघ्रगामी था; इसका वेग लाल चिन्ह की

अपेक्षा १६ मील प्रति घंटा अधिक था। यह जब कभी लाल चिन्ह तक पहुँचता था तो अपने मार्ग से हटकर लाल चिन्ह की बगल से होकर आगे जाता था और फिर अपना सीधा रास्ता पकड लेता था। ऐसे अवसरो पर लाल चिन्ह हजारो मील आगे निकल जाता था और फिर जब साँवला चिन्ह बहुत आगे बढ जाता था तो लाल चिन्ह अपने स्थान पर लौट आता था।

इन चिन्हो की गतियो से स्पष्ट है कि ये बृहस्पति की ठोस सतह पर ठोस वस्तु नही है।

भीतरी बनावट

बृहस्पति का घनत्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह पानी से थोडा ही भारी है। इसलिए लोगो का अनुमान था कि यह सूर्य के समान घनी गैसो से बना होगा। इसके बृहत् आकार से लोग अनुमान करते थे कि यह अभी काफी ठढा न हो पाया होगा। इसका समर्थन वे इस बात से करते थे कि इसकी चमक मंगल आदि ग्रहो से अधिक है और इसलिए वे समझते थे कि यह गरम होगा और उसमे निजी चमक भी होगी। परतु पीछे के वेधो से पता चला कि ये अनुमान सब गलत है। बृहस्पति का ताप नापा गया है। वह बेहद ठढा है। उसकी अधिक चमक का केवल एक ही यह कारण हो सकता है कि बृहस्पति अत्यत चमकीले बादलो से ढका है। वस्तुत. वह इतना अधिक ठंडा है कि वहाँ पानीवाले बादल रह ही नही सकते। पानी स्वय वहाँ नही रह सकता, जमकर बर्फ हो जायगा। इसलिए अनुमान किया जाता है कि यहाँ के बादल जमी हुई कार्बन डाइ-ऑक्साइडगैस या इसी प्रकार की किसी अन्य गैस के होगे। कार्बन डाइ-ऑक्साइड वही गैस है, जो सोडावाटर की बोतल खोलने पर निकलती है। बडे शहरो मे जमाकर 'ड्राइ-आइस' अर्थात् सूखी बर्फ के नाम से भी वह बिकती है।

ज्योतिषियो का अनुमान है कि बृहस्पति के बादल अवश्य ही किसी ऐसी गैस के होगे, जो लगभग कार्बन-डाइ ऑक्साइड के जमने के ताप पर जम जाती है या तरल हो जाती है और जो ठढक के थोडा-सा ही कम होने पर उबलने लगती है। एक सिद्धात के अनुसार बृहस्पति का भीतरी भाग ठोस पाषाण है, ऊपर से बर्फ की गहरी तह है और सबसे ऊपर विस्तृत वायुमडल है, जिसमें ऐसी गैसो के बादल है, जो ठढक पाकर अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से जम जाती है या तरल हो जाती है। धारियाँ और धब्बे इन्ही बादलो के भेद है। इस सिद्धात से बृहस्पति का कम ताप, कम घनत्व, अधिक चमक, आदि सभी बातें हमारी समझ मे आ जाती है।

अन्य ग्रहों के साथ बृहस्पति कैसे जनमा ?

सौर परिवार की उत्पत्ति के सबध में एक सिद्धान्त यह है कि सुदूर भूतकाल मे जब हमारा सूर्य अकेला ही था, तब किसी अन्य अज्ञात सूर्य या नक्षत्र के हमारे सूर्य के समीप होकर निकलने से उसके आकर्षण के द्वारा एक लबा-सा सिगरेटनुमा अश टूट पडा, जिसके छीटों से टूट-टूटकर विभिन्न ग्रह बन गए। इन ग्रहों के आकार तथा विन्यास (दे० दाहिने कोने का चित्र) से उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है।
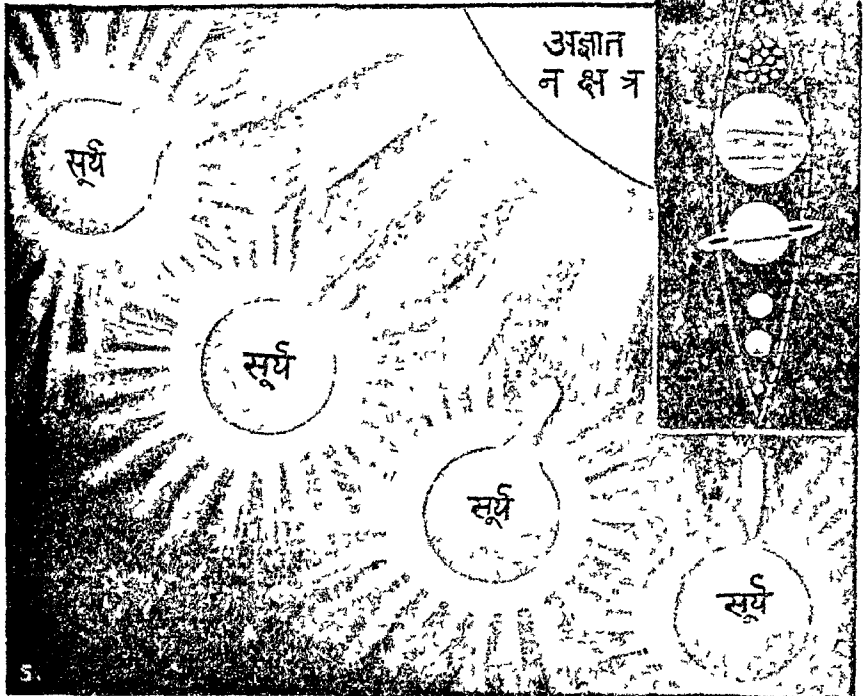
बृहस्पति सूर्य से इतना दूर है कि पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ केवल ४ प्रतिशत ही गरमी पहुँच पाती होगी। वहाँ से सूर्य बहुत छोटा और विवर्ण दिखलाई पड़ता होगा।

उपग्रह

पृथ्वी के एक उपग्रह—चंद्रमा—है, और मंगल के दो। परंतु बृहस्पति के चार बड़े उपग्रह हैं और पाँच छोटे। इस प्रकार कुल मिलाकर बृहस्पति के ९ उपग्रह हैं। चार बड़े उपग्रह वस्तुतः हमारे चंद्रमा के बराबर या उससे कुछ बड़े हैं, परंतु दूरी अधिक होने के कारण कोरी आँख से वे देखे नहीं जा सकते। वे दूरबीन से आसानी से देखे जा सकते हैं, चाहे दूरबीन छोटा ही क्यों न हो। तीक्ष्ण दृष्टि-वाले तो अनुकूल अवसरों पर कोरी आँख से ही उपग्रहों के अस्तित्व का पता पा सके हैं। अनुकूल अवसर तब होता है, जब तीसरे और चौथे उपग्रह प्रायः एक ही साथ रहते उपग्रह बृहस्पति की छाया में पड़ जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक चक्कर में एक बार इन उपग्रहों का ग्रहण लगता है। केवल चौथा उपग्रह कभी-कभी बच जाता है। उपग्रहों की अधिक संख्या और उनमें प्रायः प्रत्येक बार ग्रहण लगने के कारण बृहस्पति पर खूब ग्रहण दिखलाई पड़ते होंगे। गणना से पता चलता है कि बृहस्पति पर वहाँ के एक वर्ष में सूर्य के और इन चार चंद्रमाओं के ग्रहणों की संख्या ४,५०० से कम न होगी!

जब कोई उपग्रह बृहस्पति और हमारे बीच में आ जाता है, तब उसकी परछाईं बृहस्पति के बिंब पर स्पष्ट पड़ती है। उपग्रह स्वयं इतना स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, क्योंकि उपग्रहों और बृहस्पति की चमकों में बहुत अंतर नहीं है, परंतु उपग्रह की परछाईं काली दिखलाई पड़ती है। हाँ, यदि सूर्य ठीक हमारे पीछे हो तो परछाईं उपग्रह के ठीक
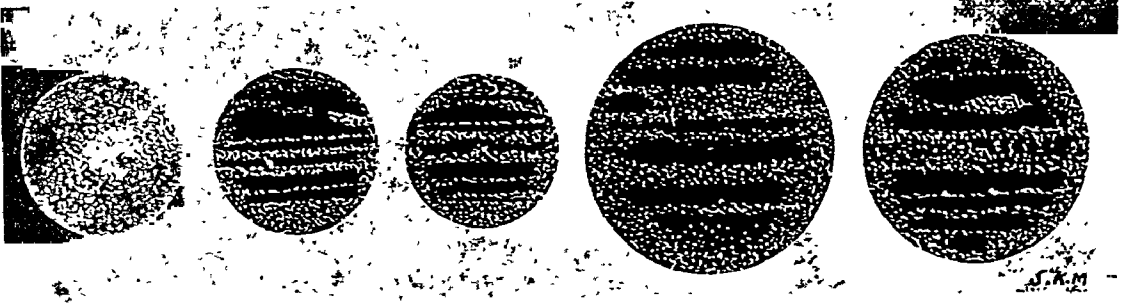
बृहस्पति के चार बड़े उपग्रहों के आकार की चंद्रमा से तुलना

बाईं ओर सबसे पहला पिंड चंद्रमा का आकार सूचित करता है, शेष पिंड बृहस्पति के चार प्रधान उपग्रहों के हैं।

हैं और तीसरा उपग्रह बृहस्पति से महत्तम दूरी पर रहता है। ऐसी दशा में दोनों उपग्रह मिलकर एक नन्हे-से तारे के समान देखे जा सके हैं। कभी-कभी चार उपग्रह कोरी आँख से दो उपग्रहों के समान भी देखे गए हैं। रूसी यात्री रेंगल ने लिखा है कि उससे एक शिकारी से मुलाकात हुई थी, जिसने बृहस्पति को दिखाकर बतलाया कि मैंने अभी उस बड़े तारे को एक दूसरे छोटे तारे को निगलते देखा और थोड़े समय बाद उसने उस तारे को दूसरी ओर उगल भी दिया।

बृहस्पति के समीपवाले उपग्रह को प्रथम उपग्रह कहते हैं, इसके बादवाले को द्वितीय उपग्रह। फिर तृतीय उपग्रह की पारी आती है। यही सबसे बड़ा है।

बृहस्पति बहुत बड़ा है और प्रथम तीन उपग्रहों की कक्षाएँ बहुत तिरछी नहीं हैं। इसलिए प्रत्येक चक्कर में ये पीछे पड़ेगी और इसलिए हमारे यहाँ से वह देखी न जा सकेगी। जो उपग्रह बृहस्पति के सबसे अधिक निकट है, उसके संबंध में कुछ विचित्र बातें देखी गई हैं। कभी-कभी वह लंबा दिखलाई पड़ता है और कभी-कभी दो बिंदु-सरीखा। इसका वास्तविक कारण अमेरिका के ज्योतिषी बारनार्ड ने बतलाया था। उसने कहा कि इस उपग्रह का बिम्ब सर्वत्र एक रंग का नहीं है। इसके ध्रुवप्रदेश साँवले रंग के हैं और कटिप्रदेश सफेद रंग का। जब यह उपग्रह बृहस्पति के साँवले भाग के सामने पड़ता है, तब उपग्रह के ध्रुवप्रदेश साँवली जमीन में मिलकर छिप जाते हैं। उस समय हमें उपग्रह का केवल कटिप्रदेश दिखलाई पड़ता है, जो लंबा है। इसलिए उस समय उपग्रह हमें लंबा-सा दिखलाई पड़ता है। परंतु जब उपग्रह बृहस्पति के सफेद भाग के सामने रहता है, उस समय उपग्रह का कटिप्रदेश जमीन में मिल

चार विभिन्न तिथियों के बृहस्पति के फोटो

काला गोल चिह्न बृहस्पति पर पड़ रही एक उपग्रह की छाया को सूचित करता है। धारियों के स्थिति-परिवर्तन पर ध्यान दीजिए। [फो० –'माउण्ट विल्सन वेधशाला'।]

जाता है और इसलिए दिखलाई नही पड़ता। उस समय उपग्रह के ध्रुवप्रदेश ही साँवले होने के कारण सफेद जमीन पर दो विंदु-सरीखे दिखलाई पड़ते है। वस्तुतः यह उपग्रह भी औरों की तरह गोल है, केवल भ्रमवश कभी लवा और कभी दो विदु-सरीखा दिखलाई पड़ता है।

चार बड़े उपग्रह को पहले-पहले गैलीलियो ने देखा था। गैलीलियो ने ही दूरदर्शक का आविष्कार किया था। उसे दूरदर्शक से बृहस्पति के चार उपग्रह सहज ही में दिखलाई पड गए। पाँचवे उपग्रह का पता बहुत वर्ष बाद बारनार्ड को लगा। यह इतना छोटा और बृहस्पति के इतना समीप है कि बहुत बड़े दूरदर्शको मे ही, सो भी कठिनाई से, दिखलाई पड़ता है। शेष उपग्रह बृहस्पति से दूर है और इतने छोटे है कि उनका पता केवल फोटोग्राफी से लगता है। तेज प्लेट पर घटों का प्रकाशदर्शन देने से उनके मद प्रकाश का इकट्ठा प्रभाव बस इतना हो जाता है कि उनका चित्र विंदु - सरीखा उतर आए। इन उपग्रहों का पता इतनी कठिनाई से लगा है कि संभव है कि अधिक तेज प्लेट या बड़े दूरदर्शक के बनने पर एक-दो अन्य उपग्रहों का भी पता चले।

बृहस्पति के दो अंतिम उपग्रहो मे यह विशेपता है कि वे उलटी दिशा में चलते है। ध्रुवतारे से देखने पर सब ग्रह और बृहस्पति के शेष सातो उपग्रह घड़ी की सुइयों की विपरीत दिशा में घूमते दिखलाई पड़ेंगे, परंतु अंतिम दोनो उपग्रह घड़ी की सुइयों की दिशा में चलते दिखलाई पड़ेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि ग्रह आदि हमारे सूर्य से ही निकले है, तब तो सब ग्रहों और उपग्रहों को एक ही दिशा में चलना चाहिए था। इसलिए सदेह किया जाता है कि अंतिम दो ग्रह सभवतः कोई अवान्तर ग्रह है जो बृहस्पति के आकर्षण मे फँस आए है। और यदि बात ऐसी ही है तो प्रश्न उठता है कि क्या ये दो उपग्रह कभी बृहस्पति के आकर्षण से भागकर निकल भी सकते है? केवल गणित ही इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, परंतु ठीक हिसाब लगाना कठिन है। जहाँ तक पता चलता है, इस बात का डर नही जान पड़ता कि ये उपग्रह निकल भागेंगे।
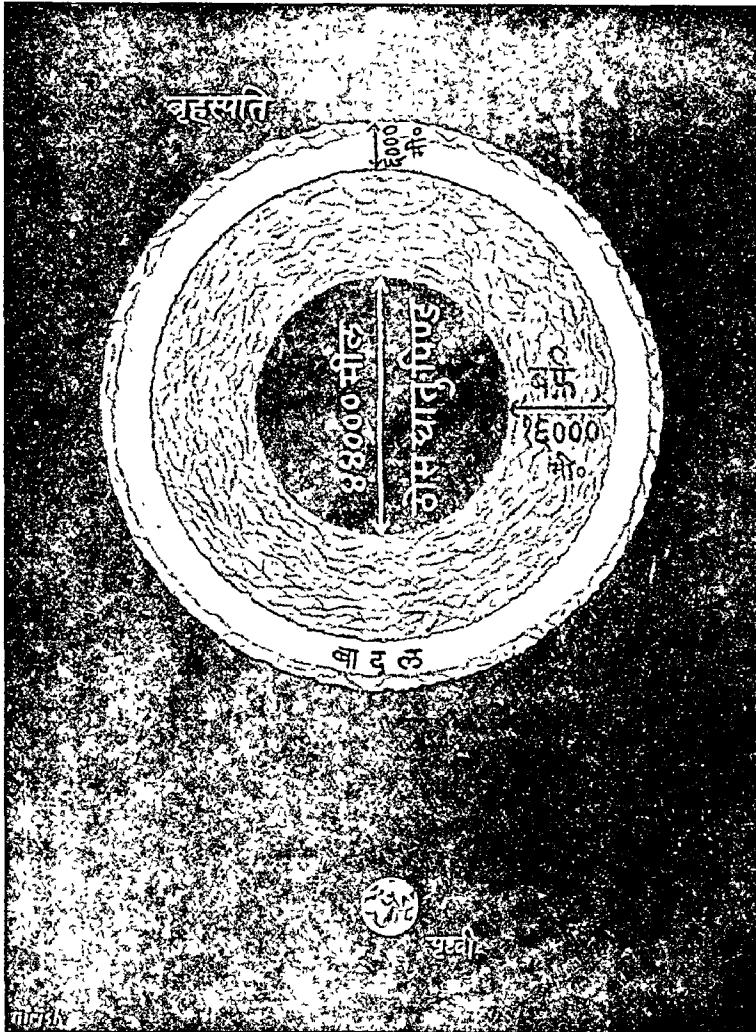
बृहस्पति की बनावट

बृहस्पति को बीच में से नारगी की तरह काटकर उसकी भीतरी रचना समझाई गई है। आकार की तुलना के लिए उसी पैमाने पर पृथ्वी भी दी गई है।

उपग्रहों के हजारों ग्रहणों के वेध और सूक्ष्म गणना से पता चला है कि बृहस्पति का आकार स्थायी नहीं है। वह अपने मध्यम आकार से कभी १०० मील तक छोटा, और कभी बड़ा भी हो जाता है। आप यह जानकर चकित होंगे कि बृहस्पति के धरातल पर आकर्षण-शक्ति का जोर इतना अधिक है कि जो वस्तु पृथ्वी पर मन भर की होगी, उसका वजन बृहस्पति पर दो मन से भी अधिक अर्थात् दुगुने से भी ज्यादा होगा।

विचित्र वलयधारी—शनि ग्रह

सूर्य से दूरी के हिसाब से बृहस्पति के बाद ग्रहों में शनि की बारी आती है। आकार में भी वही बृहस्पति के बाद स्थान पाने का अधिकारी है। परन्तु शनि की प्रधान विशेषता और खूबी तो है दरअसल उसका वह अनोखा वलयाकार मंडल, जिसे कि उसने अपने आसपास एक छल्ले की तरह पहन रक्खा है। अपने इस विचित्र वलय के कारण शनि सौर परिवार ही में नहीं, बल्कि आसमान के सभी कौतुकों में सबसे निराला है। दूरदर्शक द्वारा देखने पर यह एक अनुपम दृश्य आँखों के आगे प्रस्तुत करता है। इस प्रकरण में इसी आकाशीय पिण्ड की कहानी आपको सुनाई जा रही है।

अन्य ग्रह दूरदर्शक से देखने पर गोल या प्रायः गोल दिखलाई पड़ते हैं, परंतु शनि के रूप में अद्वितीय विशेषता दिखलाई पड़ती है। इसको चारों ओर से घेरे हुए एक करधनी है, जिसे वलय (अंग्रेजी में 'रिंग') कहते हैं। स्त्रियों की करधनी उनके शरीर से चिपकी रहती है, परंतु शनि के वलय का धरातल शनि की सतह से समकोण बनाता है। इसलिए शनि के वलय की उपमा नर्त्तकी के लँहगे से देना अधिक उपयुक्त होगा, जो वेग से नाचने के कारण फहराकर एक धरातल में फैल गया हो। शनि नाचता भी खूब तेजी से है। हमारी पृथ्वी के एक बार नाचने में चौबीस घंटे लगते हैं, परंतु शनि के एक बार घूमने में केवल साढ़े दस घंटे, यद्यपि विशेषता यह भी है कि शनि पृथ्वी की अपेक्षा अत्यंत स्थूलकाय है—उसका व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग साढ़े नौ गुना है! फिर शनि का वलय बहुत पतला भी है। यदि हम शनि की मूर्ति पैमाने के अनुसार बनावें और इसके वलय को एक हाथ के व्यास का रक्खें तो वलय की मोटाई बारीक-से-बारीक रेशमी कपड़े की मोटाई से भी कम होगी! परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि शनि का वलय उसकी कमर में बँधा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वलय शनि को कहीं भी नहीं छूता। शनि और वलय के निकटतम छोर के बीच कोई ८००० मील का अंतर है। तो फिर यह वलय है क्या?

दूरदर्शक में शनि कैसा दिखाई पड़ता है? ये दोनों फोटो भिन्न-भिन्न समय पर लिये गए थे। वलय स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं।

आरंभ से ही वलय ने ज्योतिषियों को अनेक उलझनों में डाला है। दूरदर्शक के आविष्कर्त्ता गैलीलियो ने अपने नवीन दूरदर्शक से पहली बार देखा कि शनि का आकार असाधारण है; परंतु दूरदर्शक के छोटा होने के कारण वह ठीक-ठीक न जान सका कि शनि का सच्चा स्वरूप कैसा है। उसने समझा कि शनि स्वयं अन्य ग्रहों की तरह एक गोल पिंड है, और इसके अगल-बगल भी दो अन्य गोल पिंड हैं। यहाँ दिये गये चित्रों को बहुत दूर से कोरी आँख से देखने पर अवश्य दर्शक को ऐसा भ्रम हो सकता है, जैसा गैलीलियो को हुआ था, विशेषकर यदि उसने पहले से इन चित्रों को समीप से न देखा हो।

बच्चों को ही खा डाला!

वलय का रूप हमें सदा एक-सा नहीं दिखलाई पड़ता। बात यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा में नहीं रहते।

सूर्य के चारों ओर शनि के एक बार घूमने में हम आधे समय तक वलय की उत्तरी सतह को देखते हैं और पुनः आधे समय तक उसकी दूसरी सतह को। इसलिए अवश्य ही शनि के एक चक्कर मे दो बार ऐसा समय भी आता है, जब हम ठीक वलय के धरातल में रहते हैं। उस समय हम न तो वलय की उत्तरवाली सतह को देख सकते हैं और न दक्षिणवाली; हम केवल उसकी कोर को ही देख सकते हैं। परंतु वलय, जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, बहुत पतला है। परिणाम यह होता है कि उस समय वलय पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। शनि के एक चक्कर मे लगभग तीस वर्ष समय लगता है। इसलिए महत्तम चौडाई के दिखलाई पड़ने के साढ़े सात वर्ष के बाद शनि का वलय अदृश्य होता है। इसलिए जब गैलीलियो ने कुछ समय बाद शनि को फिर देखा तो उसे अगल-बगल के दोनो पिंड नही दिखलाई पड़े। उसे इससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ! 'क्या', वह बोल उठा, 'शनि ने अपने बच्चों को ही खा डाला?' परंतु कुछ वर्ष बाद पार्श्ववर्त्ती पिंड उसे फिर दिखलाई पड़े। तब से लेकर पचास वर्षों तक ज्योतिषियों ने छोटे-छोटे और अनेक दोषों से युक्त दूरदर्शकों से शनि को देखा और तरह-तरह के चित्र खींचे। अंत में असली बात का अंदाज हालैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हॉयगेन्स को लगा। उसने पहले-पहल बतलाया कि शनि पतले समतल वलय से घिरा हुआ है। यह शनि को कहीं नहीं छूता और इसका धरातल पृथ्वी-कक्षा के धरातल के हिसाब से तिरछा है।

इसके बीस वर्ष बाद फ्रांस के ज्योतिषी कैसिनी ने देखा कि वलय सर्वत्र अटूट नहीं है। यह बीच से कटा है, जिससे वस्तुतः यह कहना ठीक होगा कि शनि के दो वलय हैं। इन वलयों को विभाजित करनेवाली रेखा आज भी आविष्कर्त्ता के नाम पर 'कैसिनी की चीर' कहलाती है। फिर इसके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद, अमेरिका के ज्योतिषी बॉण्ड ने एक तीसरे वलय का पता लगाया, जो शनि से निकटतम दूरी पर है। यह बहुत फीका और प्रायः पूर्णतया पारदर्शक है। इसी से यह छोटे और मझोले दूरदर्शकों में नहीं दिखलाई पड़ता।

एक से अधिक होने के कारण शनि के वलयों की चर्चा प्राय. बहुवचन मे ही की जाती है।

वलय क्या हैं?

क्रियात्मक ज्योतिष की कठिनाइयों को अच्छे दूरदर्शकों ने हल कर दिया, परंतु गणितज्ञों की उलझनें आज भी पूर्णतया मिट नहीं पाई है। पहले लोगो का विश्वास था कि वलय ठोस हैं। दो सौ वर्षों तक यही विश्वास बना रहा। तब प्रश्न उठा कि वलय क्या वस्तुतः ठोस हैं या वे छोटे-छोटे टुकड़ों के समूह हैं? अठारहवीं शताब्दी के अंत में ज्योतिषी लाप्लास ने गणित द्वारा सिद्ध किया कि ठोस वलय टिकाऊ हो ही नहीं सकता। ठोस वलय चाहे कितना भी अच्छी तरह समतुलित हो अर्थात् उसका कोई अंश किसी ओर जरा-सा भी भारी न हो और चाहे कितनी भी सचाई से यह ठीक शनि के चारो ओर समान दूरीवाली स्थिति में रख दिया जाय, फिर भी कभी-न-कभी वह ग्रह से लड़ जायगा। बात यह है कि यह स्थिति 'अस्थायी साम्य' की है। नाम-मात्र भी बाहरी शक्ति—किसी उपग्रह या दूरस्थ ग्रह का इकतरफा आकर्षण—वलय की निश्चलता को भंग कर देगा। वलय की
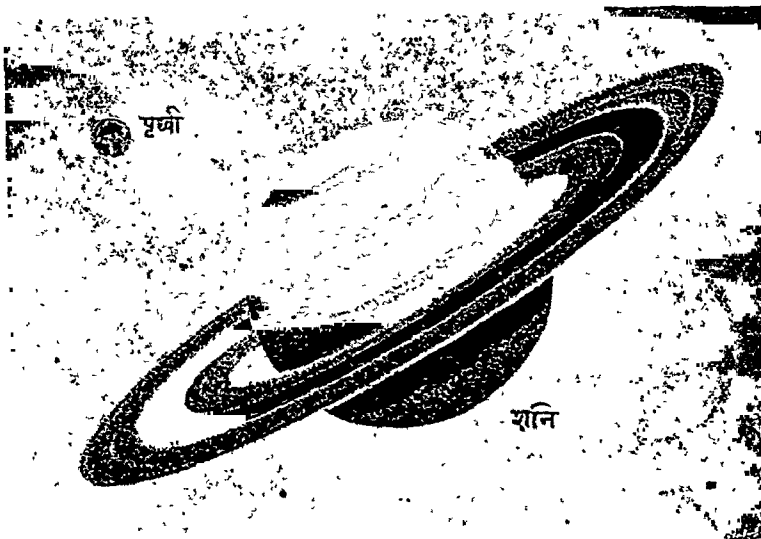
पृथ्वी के साथ शनि के आकार की तुलना

शनि का व्यास (वलय को छोड़कर) ७६,५०० मील है। पृथ्वी के आकार से तुलना कीजिए। न जाने कितनी पृथ्वियाँ इस ग्रह की परीधि में समा जाएँगी।

अपने एक उपग्रह मिमास से शनि का दृश्य

निस्संदेह यह चित्र कोरी कल्पना के आधार पर ही बनाया गया है, परन्तु ज्योतिषियों की धारणा है कि अपने उपग्रहों से शनि ऐसा ही भव्य और सुन्दर दिखाई पड़ता होगा। सूर्य से शनि की औसत दूरी ८८,७७,७६,६०० मील है। यह अपनी धुरी पर लगभग १० घंटे में एक बार घूम जाता है।

परिस्थिति वैसी ही होगी, जैसे किसी नोकीली छड़ी को नोक के बल पत्थर पर खड़ी कर देने से होगी। इस स्थिति में छड़ी आसानी से खड़ी होगी ही नहीं, और यदि होगी भी तो जरा-सी फूँक लगते ही गिर पड़ेगी। इसलिए लाप्लास की धारणा थी कि यह वलय वस्तुतः चूड़ियों के समान पतले असंख्य वलयों का समूह होगा, वह एक वलय कदापि नहीं हो सकता। इसके बहुत समय पीछे, १८५७ में, भौतिक विज्ञानवेत्ता मैक्सवेल ने सिद्ध किया कि वलय न ठोस ही हो सकता है और न तरल। वह असंख्य चूड़ियों का समूह भी नहीं हो सकता। वह केवल असंख्य छोटे-छोटे रोड़ों का समूह हो सकता है। ठोस (या तरल) वलय में, ग्रह के समीप रहने के कारण, ऐसे जोर का ज्वार-भाटा आएगा कि वह चकनाचूर हो जायगा, चाहे वलय में इस्पात की मजबूती ही क्यों न हो!

एक फ्रेंच गणितज्ञ रोशे ने अपनी गणना से यह भी सिद्ध किया कि शनि से एक विशिष्ट दूरी के भीतर कोई भी उपग्रह बिना टूटे रह नहीं सकता। उस दूरी तक ज्वार-भाटा-उत्पादक शक्ति इतनी प्रबल होगी कि केवल छोटे-ही-छोटे पिंड बच सकते हैं। शनि के सब वलय रोशे की बतलाई हुई दूरी के भीतर ही हैं।

ये सब गणनाएँ अवश्य एक सीमा तक संतोषजनक हैं। परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्यों केवल शनि के ही वलय हैं, अन्य उपग्रहों के नहीं? वलय इतना पतला और समतल क्यों है और इसके रोड़े किस प्रकार इतने नियमबद्ध होकर चलते हैं?

शनि के कुछ पुराने चित्र

पहले वलय स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता था। धीरे-धीरे उसका वास्तविक रूप प्रकट हुआ।

शनि को कोरी आँख से भी बखूबी देखा जा सकता है। बिना दूरदर्शक के वह एक चमकीले तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। परंतु उसकी चमक बहुत घटा-बढ़ा भी करती है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वलय हमें कभी खूब चौड़े दिखलाई पड़ते हैं और कभी वे अदृश्य हो जाते हैं। जब वे हमें खूब चौड़े दिखलाई पड़ते हैं और सूर्य हमारी पीठ-पीछे रहता है तो शनि हमें बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। उस समय सबसे अधिक चमकीले तारे लुब्धक (सीरीयस) को छोड़कर अन्य सब तारों से शनि अधिक चमकीला रहता है। जब वलय अदृश्य हो जाते हैं तो शनि की चमक लगभग तिहाई ही रह जाती है, परंतु उस समय भी इसमें इतनी चमक रहती है कि इसकी गणना प्रथम श्रेणी के तारों में की जा सकती है। देखने में इसका रंग कुछ मैला पीला जान पड़ता है।

प्राचीन समय में सब ज्ञात ग्रहों में शनि ही सूर्य से महत्तम दूरी पर था। इसलिए इसका ही वेग सब ज्ञात ग्रहों में न्यूनतम था। इसी से इसका नाम 'शनैश्चर'—धीरे-धीरे चलनेवाला—पड़ा। परंतु अब तो शनि के उस पार तीन और ग्रहों का पता चला है। इनमें से सबसे दूरवाला और इसलिए धीरे-धीरे चलनेवाला ग्रह प्लूटो है। धीरे चलने में वह शनि को आसानी से मात करता है।

शनि को सूर्य की एक परिक्रमा करने में लगभग साढ़े उनतिस वर्ष समय लगता है। फलित ज्योतिष में विश्वास रखनेवाले जब 'साढ़े-साती सनीचर' की बात करते हैं, तब उनका अभिप्राय यह रहता है, कि शनि को अपने चक्कर का चौथाई भाग पूरा करने में साढ़े सात वर्ष लगेगा और इतने समय तक ग्रह-दशा रहेगी।

दूरदर्शक में

दूरदर्शक में (उन समयों को छोड़कर जब वलय अदृश्य रहते हैं) बीच के प्रायः गोल पिंड और इसको घेरे हुए वलय बड़े सुन्दर लगते हैं। बीचवाला पिंड नारंगी-सा चपटा है और यह चपटापन अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक है। इसके लघुतम और महत्तम व्यासों का

अनुपात लगभग ९ और १० का है। बड़े दूरदर्शकों में वृहस्पति की तरह शनि पर भी धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु ये बहुत फीकी हैं। शनि पर धब्बे ऐसे ही कभी देखे गए हैं। वे जब-जब देखे गए हैं तब-तब शनि के अक्षभ्रमण-काल के नापने की चेष्टा की गई है, जिससे पता चला है कि वृहस्पति की तरह शनि पर भी मध्य-रेखा से विभिन्न दूरियों पर अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। वृहस्पति की तरह शनि के भी बिंब के किनारेवाले आर-पार शनि का किनारा स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। आकार में बाहरी वलय दस हजार मील चौड़ा है। बीचवाला वलय सोलह हजार मील चौड़ा है। इन दोनों के बीच जो रिक्त स्थान—कैसिनी की चीर—है, वह तीन हजार मील चौड़ा है। भीतरी (जालीनुमा) वलय साढ़े ग्यारह हजार मील चौड़ा है। भीतरी और मध्य वलयों के बीच लगभग तीन हजार मील चौड़ी जगह खाली है। बाहरी वलय के बाहरी किनारे का व्यास करीब १,७१,००० मील है।

शनि के वलय की झांकी बदलती क्यों रहती है ?

भिन्न-भिन्न समय में शनि के वलय का आकार भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि हम वलय के हिसाब से सदा एक ही दिशा में नहीं रहते। सूर्य के चारों ओर शनि के घूमने से कभी हम वलय की ऊपरी सतह को देखते हैं, कभी निचली को। कभी ठीक वलय के धरातल की सीध में आ जाने से केवल उसकी कोर ही नजर आती है।

भाग केन्द्र की अपेक्षा कम चमकीले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यरेखा की अपेक्षा शनि के ध्रुवप्रदेश भी कम चमकीले दिखाई पड़ते हैं। बड़े दूरदर्शकों में तीन वलय दिखलाई देते हैं। बीचवाला वलय सबसे अधिक चमकीला है। यह शनि के केन्द्रीय भागों से चमक में किसी प्रकार कम नहीं है। बाहरी वलय सबसे कम चमकीला है। भीतरवाला वलय बहुत ही मन्द प्रकाश देता है और यह प्रायः पारदर्शक है। इसीलिए इसे 'जालीनुमा' वलय (क्रेप रिंग) के नाम से पुकारते हैं। इसके

तीनों वलय बहुत पतले हैं। उनकी मोटाई शायद १० मील से अधिक न होगी। जब हम वलयों के धरातल में आ जाते हैं तो वे बड़े-से-बड़े दूरदर्शकों में भी नहीं दिखलाई पड़ते और कई दिन तक पूर्णतया अदृश्य रहते हैं। अदृश्य होने के कुछ समय पहले और पीछे वलय हमें एक महीन डोरे की तरह पतले दिखलाई पड़ते हैं। उस समय कभी-कभी इस पतले डोरे में मोती के समान बिंधे हुए शनि के उपग्रह अत्यन्त मनोहर लगते हैं।

बाहरी वलय शायद चिरा हुआ है। इस चीर को 'एनके की चीर' कहते हैं। परन्तु यह कभी ही कभी और सो भी अस्पष्ट दिखलाई पड़ती है। बीचवाले चटक वलय में भी कभी-कभी दो-तीन धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जिससे सम्भवतः वह भी कई जगहों पर चिरा हुआ मालूम होता है।

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे होने के बदले कुछ दायें या बायें रहता है तो शनि की परछाईं वलयों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वलय की भी परछाईं ग्रह पर अक्सर देखी जाती है, परन्तु सँकरी होने के कारण मझोले दूरदर्शकों में बहुत स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती।

१९५१ में वलय दिखाई दिये थे। १९४३ में भी वे महत्तम चौड़ाई के थे। उस समय छोटे दूरदर्शकों से भी वे देखे जा सकते थे।

उपग्रह

वलयों के अतिरिक्त शनि के नौ उपग्रह भी हैं, इनमें जो सबसे बड़ा है, वह ३ इंच के व्यास के दूरदर्शक से देखा जा सकता है। परन्तु दूसरों को देखना इतना सरल नहीं है। जो उपग्रह शनि से निकटतम दूरी पर है, वह एक चक्कर कुल साढ़े बाईस घंटे में ही लगा लेता है। इसके बाद चार उपग्रह हैं, जिनके परिक्रमण-काल सवा दिन से लेकर साढ़े चार दिन तक है। इसके बाद सबसे बड़ा उपग्रह पड़ता है। यह लगभग १६ दिन में एक चक्कर लगाता है। यह हमारे चंद्रमा से बड़ा है। इस उपग्रह का नाम टाइटन है। इसके बादवाला उपग्रह २१ दिन ७ घंटे में एक चक्कर लगाता है। तब बहुत-सा खाली स्थान पड़ता है, जिसके बाद एक छोटा-सा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने में लगभग ८० दिन लगते हैं। अन्त में एक बहुत ही नन्हा उपग्रह है, जिसे एक चक्कर लगाने में लगभग डेढ़ वर्ष लगता है। यह उपग्रह उल्टी दिशा में चलता है। जिस
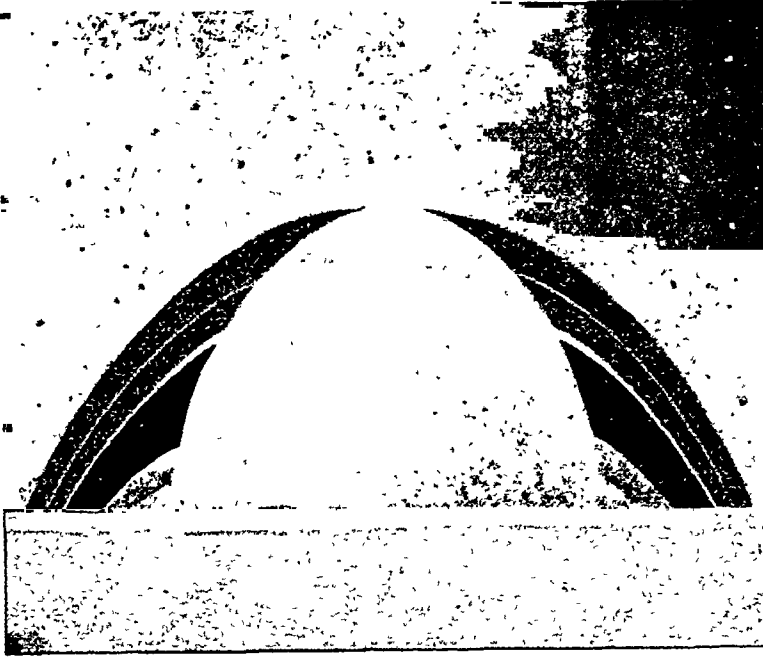
शनि के धरातल पर से वलय का दृश्य

यदि हम शनि के धरातल पर पहुँच पाते तो हमें उसके क्षितिज पर वलय का अंश और उस पर पड़ रही शनि की छाया कुछ ऐसी ही विचित्र दिखाई पड़ती, जैसी इन चित्रों में कल्पित की गई है।

समय इस उपग्रह का पहले-पहल पता चला, उस समय कोई भी दूसरा ग्रह या उपग्रह उल्टी दिशा में चलता हुआ नहीं देखा गया था। इससे गणितज्ञ बहुत आश्चर्य में पड गए, क्योंकि लाप्लास के प्रसिद्ध नीहारिका-सिद्धांत के अनुसार सब ग्रहों और उपग्रहों को एक ही दिशा में चलना चाहिए था! पीछे वृहस्पति के दो बाहरी उपग्रह भी उल्टी दिशा में चलते देखे गए। उनके उल्टी दिशा मे चलने का क्या कारण है इस पर वृहस्पति के उपग्रहों के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है।

वलयों की बनावट

वलय अवश्य असंख्य छोटे-बडे और पृथक्-पृथक् रहनेवाले ढोंको, रोडों और धूलिकणों से बने होंगे। इसका प्रमाण केवल गणित से ही नहीं, अन्य बातों से भी मिलता है। भीतरी वलय की पारदर्शकता से स्पष्ट है कि वहाँ रोड़े इतने दूर-दूर पर होंगे कि प्रकाश बिना विशेष रुकावट के पार जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब सूर्य वलय के एक पृष्ठ पर चमकता है और हम दूसरे पृष्ठ की ओर रहते हैं तो हम देखते हैं कि वलय को पार करके सूर्य का प्रकाश दूसरी ओर भी पहुँच जाता है। यदि वलय ठोस होते तो ऐसा न हो सकता। फिर, बाहरी और भीतरी वलयों के पार से तारे भी देखे गए हैं!

जब सूर्य हमारे ठीक पीछे रहता है, तब वलय की ऊपरी सतह में स्थित उसके रोड़ों की जो परछाईं नीचेवाले रोड़ों पर पडती है, वह ऊपरवाले रोड़ों से छिपी रहती है। इसलिए उस समय कोई परछाईं हमें नहीं दिखलाई पड़ती और वलय बहुत ही चमकीला दिखलाई पड़ता है। परंतु सूर्य ज्यों-ज्यों एक बगल हटता है, त्यों-त्यों परछाइयाँ तिरछी पड़ती हैं; जिससे उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में हमें परछाईं दिखलाई पड़ने लगती है; इससे वलय की चमक बहुत कम हो जाती है। यदि वलय ठोस होता तो सूर्य के तिरछी दिशा से चमकने पर प्रकाश इतना न घटता। प्रकाश के घटने के नियम की गणना करने पर इस बात का समर्थन अच्छी तरह हो जाता है कि वलय पृथक्-पृथक् स्थित छोटे-छोटे पिंडों से बने हैं और यह भी पता चलता है कि दोनों चमकीले वलयों में कुल लगभग सोलहवाँ भाग ही ठोस पदार्थों से भरा होगा, शेष रिक्त स्थान होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि रोड़े ही नही, वहाँ धूल के कणों की मात्रा भी काफी होगी। उपर्युक्त बातों का पता जर्मन ज्योतिषी जेलिगर ने लगाया। इसके वर्षों पहले वलयो के ठोस न होने का प्रमाण इस बात मे भी मिला था कि उनका भीतरी किनारा अधिक तेजी से चल रहा है, और बाहरी किनारा कम तेजी से। यदि वलय ठोस होते तो अवश्य ही बाहरी किनारे का वेग अधिक होता और भीतरी का कम। इसलिए प्रत्यक्ष है कि वलय ठोस नही है।

शनि सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण आँकड़े

पृथ्वी से महत्तम दूरी	१,०३,०६,१२,००० मील
,, ,, न्यूनतम	७४,२६,४६,००० ,,
सूर्य से महत्तम दूरी	९३,६३,८८,००० ,,
,, ,, न्यूनतम	८३,७१,७०,००० ,,
परिक्रमा-काल	१०,७५९ दिन ५ घंटे १६ मि०
गति	६·२ मील प्रति सेकंड
व्यास (वलय छोड़कर)	७६,५०० मील
वलय सहित व्यास	१,७१,००० मील

शनि पर

शनि पर अनुपम दृश्य दिखलाई पड़ता होगा। मध्य रेखा से कुछ उत्तर या दक्षिण स्थित प्रदेशों मे रात्रि के समय वलय चंद्रमा की तरह शीतल प्रकाश से चमकता हुआ और धनुष के समान एक ओर से दूसरी ओर तक तना हुआ दिखलाई पड़ता होगा। छोटे-बड़े नौ चंद्रमा भी दिखलाई पडते होंगे, कोई द्वितीया के चंद्रमा की तरह शृंगाकार, कोई नतोदर, कोई उन्नतोदर और कोई पूर्णिमा के चंद्रमा की तरह पूर्ण गोलाकार! परन्तु वलय की कांति के सामने ये सब फीके लगते होंगे। वलय स्वयं एक ओर कटा-सा दिखलाई पड़ता होगा, क्योंकि एक ओर इस पर ग्रह की परछाईं पड़ती होगी। वलय में चौड़ी और पतली कई एक काली और किनारे से समानान्तर धारियाँ दिखलाई पड़ती होंगी, जिनसे वलय की शोभा और बढ़ जाती होगी। दिन में सूर्य बहुत नन्हा-सा दिखलाई पड़ता होगा। जान पड़ता होगा, जैसे उससे कुछ गरमी आ ही नही रही है।

शनि का धरातल प्रायः सपाट होगा, वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ या पहाड़ियाँ न होंगी। वहाँ घना वायुमंडल होगा। शनि पानी से भी हलका है। यदि कही काफी बड़ा समुद्र मिल सकता और उसमें हम शनि को डाल सकते तो यह उतराता, डूबता नही! शनि की भी बनावट वृहस्पति की-सी होगी; ठोस केन्द्र, फिर बरफ और तब घने बादल। ये बादल जलवाष्पवाले बादल न होंगे; वे शायद किसी

गैस के ही वादल होगे। वहाँ ऐसी सरदी पड़ती होगी, जिसका अनुमान करना कठिन है। नापने से पता चलता है कि वहाँ का ताप 0°c से भी नीचे होगा। ऐसे कम ताप पर ऑक्सिजन तक जमकर तरल हो जाती है।

१० जून, १९५७ के दिन एक अद्भुतदृश्य कोरी आँखों से आसमान में दिखाई दिया था, जवकि पृथ्वी से शनि ग्रह और चंद्रमा की युति दिखाई पड़ी थी, अर्थात् चंद्रमा और शनि पृथ्वी की सीध मे आ गये थे। उस समय शनि ऐसा दिखाई पड़ता था, मानो चंद्रमा की कोर पर एक मणि चमचमा रही हो। ऐसे मौके कम ही आते है।

शनि के उस पार—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो

ये तीनों ग्रह सौर जगत् के सीमान्त के निवासी हैं, अर्थात् शनि की कक्षा से भी परे उनकी कक्षाएँ फैली हुई हैं। परन्तु यूरेनस को छोड़कर उपर्युक्त शेष दो ग्रह विना दूरदर्शक की सहायता के नही देखे जा सकते। इनकी खोज इस युग की सवसे अचरजभरी घटनाओं में मानी जा सकती है।

शनि के उस पार तीन ग्रह है—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो। इनका आविष्कार अपेक्षाकृत हाल मे ही हुआ है। वुध, शुक्र, आदि प्राचीन ग्रहों का आविष्कार इतने सुदूर भूतकाल में हुआ था कि कोई नही जानता कि पहले-पहल ये कव देखे गए थे। वस्तुतः ग्रहों में यूरेनस ही प्रथम ग्रह है, जिसके आविष्कार की कथा हमें ज्ञात है। इसे विलियम हरशेल ने १३ मार्च, १७८१, की रात मे पहले-पहल देखा। वस्तुत. नवीन ग्रह के देखे जाने की किसी को संभावना ही नही थी। स्वय हरशेल को भी यह विश्वास ही न हुआ कि उसने कोई ग्रह देखा है। उसने समझा कि जिस पिड को उसने देखा था, और जो किसी प्रकार से तारा हो नही सकता था, कोई नवीन पुच्छल तारा होगा। इसमें पूँछ नही थी तो क्या, सभवतः पूँछ इतनी फीकी थी कि दिखलाई नही पड़ती थी। इसके देखे जाने का संयोग इस प्रकार हुआ कि हरशेल ने अपने हाथ से सात इच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक वनाया था और इसी से वह आकाश मे देखने योग्य वस्तुओ की खोज में था।

जव उसे नवीन ग्रह दिखलाई पड़ा। तव उसने तुरंत ताड़ लिया कि यह कोई तारा नही है। वात यह है कि तारे दूरदर्शक मे भी विंदु-सरीखे ही दिखलाई पड़ते है और यदि दूरदर्शक की प्रवर्द्धक-शक्ति वढा दी जाय तो भी वे विंदु-सरीखे ही रह जाते है। कारण यह है कि तारे इतनी दूर है कि उनका प्रत्यक्ष व्यास शून्य ही मानना पड़ता है। शून्य को हम चाहे १०० से गुणा करे, चाहे १००० से, शून्य शून्य ही रह जाता है। इसीलिए वड़े-से-वड़े दूरदर्शक में भी तारे विंदु-से ही दिखलाई पड़ते हैं। परंतु हरशेल ने देखा कि उस पिंड मे, जिसकी ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ था, छोटा-सा पिंड था। दूरदर्शक में अधिक शक्ति का चक्षुताल लगाने पर इसका विंव वड़ा हो गया। इससे हरशेल को विश्वास हो गया कि अवश्य ही वह पिंड तारा नही था। इसका समर्थन भी कुछ ही दिनों मे हो गया, क्योकि नवीन पिंड तारो के हिसाव से स्थिर नहीं था, वह चल रहा था। इसलिए हरशेल ने अनुमान किया कि निश्चय ही यह कोई पुच्छल तारा था। परंतु जैसे-जैसे समय वीता और लोगों ने इसकी कक्षा की गणना की वैसे-वैसे सदेह वढने लगा। लोगो ने देखा कि यह पुच्छल तारों की तरह लवी कक्षा में नही चल रहा था। इसकी कक्षा अधिक गोल थी। अंत में लगभग एक वर्ष वाद इसकी कक्षा की पक्की गणना की जा सकी और तव यह वात निश्चित हो गई कि नवीन पिंड वस्तुतः ग्रह था। वह कोई पुच्छल तारा नही था।

दूरदर्शक में यूरेनस की झाँकी
[फोटो—'लिक वेधशाला' से प्राप्त]

नवीन ग्रह के आविष्कार से स्वभावतः उस समय वड़ी सनसनी फैली। हरशेल को वड़ी ख्याति मिली। हरशेल इंगलैंड-निवासी था। उसे सर की पदवी मिली, और २०० पाउंड प्रति वर्ष के वेतन पर वह राज-ज्योतिपी वना दिया गया। हरशेल वस्तुत. जर्मन था और पहले जर्मनी की फौज मे सिपाही था, परंतु चुपके से फौज छोड़कर वह इंगलैंड भाग आया था और वहीं वस गया था। वहुत दुःख झेलने के वाद
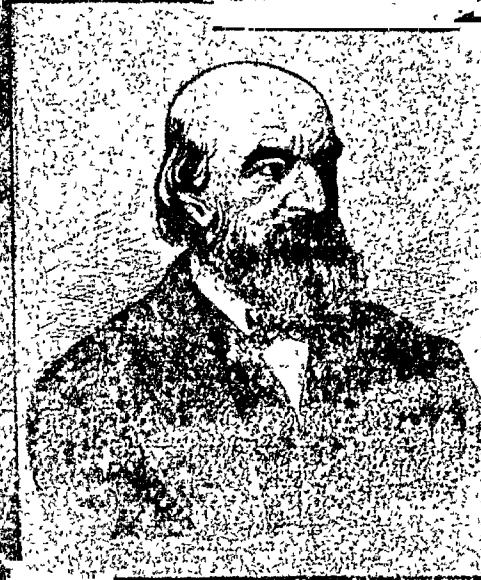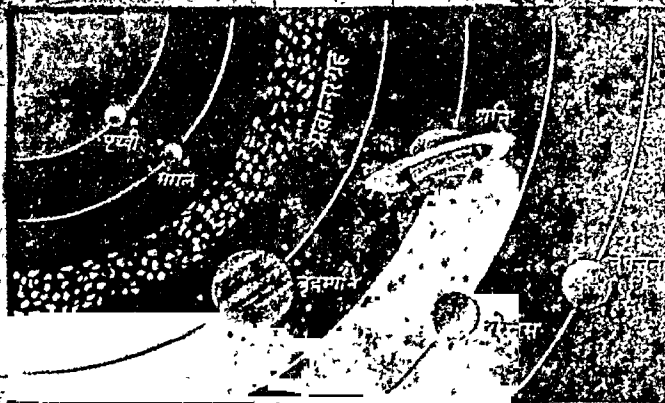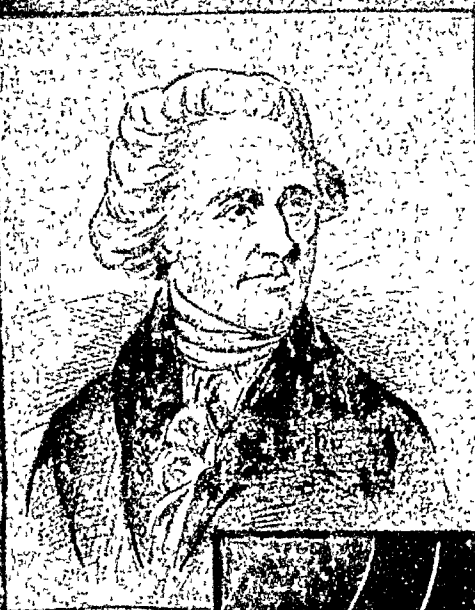
यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो का पता लगानेवाले महान् ज्योतिषी

(ऊपर) बाईं ओर हरशेल, जिसने यूरेनस की खोज की; दाहिनी ओर लेवेरियर, जिसकी गणना से नेपच्यून का आविष्कार हुआ। (नीचे) बाईं ओर ऐडम्स, जिसने गणना करके नेपच्यून की स्थिति बतलाई; दाहिनी ओर गाले, जिसने दूरदर्शक द्वारा नेपच्यून का पता लगाया।

उसे बाजा बजाने का काम मिला था और उसी पर वह निर्वाह कर रहा था। उसके साथ उसकी बहन कैरोलिन हरशेल भी थी। प्रारंभ से ही विलियम हरशेल को पढ़ने-लिखने का शौक था। जीवन-निर्वाह का ठिकाना लग जाने पर उसे ज्योतिष के अध्ययन का शौक हुआ। एक दूरदर्शक प्राप्त करने की उसकी प्रबल इच्छा हुई, परंतु उसके पास इतना धन नहीं था कि वह बाजार से दूरदर्शक खरीद सके। इसलिए उसने स्वयं अपने हाथ से दूरदर्शक बनाने का निश्चय किया। कुछ समय में वह बाजार के दूरदर्शको से बढ़िया और बडा दूरदर्शक बनाने में सफल भी हुआ। अंत में वह दो फुट व्यास का दूरदर्शक बना सका। उसके पहले किसी ने कल्पना भी न की थी कि इतने बड़े दूरदर्शक बन भी सकते हैं। हरशेल बड़ा मेहनती था। एक बार वह बराबर १६ घंटे तक दूरदर्शक के दर्पण पर पॉलिश करता रहा। उसकी बहन उसके मुख मे कौर रख-रखकर उसे बीच-बीच मे खिलाती रही। अपने काम मे उसे इतना उत्साह था कि बाहर से आने पर उसे अच्छे कपड़े उतारने का ध्यान ही न रहता, इसलिए, जैसा उसकी बहन ने लिखा है, उसकी कई एक आस्तीनें फट गईं या कालिख लगने से नष्ट हो गई।

अपने राजा के नाम पर हरशेल नवीन ग्रह को 'जॉर्जीय नक्षत्र' नाम देना चाहता था, परंतु योरप के अन्य ज्योतिषी स्वयं उसके ही नाम पर इस ग्रह को हरशेल नाम देना चाहते थे। इस गड़बड़ी मे प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी बोडे ने नवीन ग्रह का नाम एक प्राचीन देवता के नाम पर 'यूरेनस' रख दिया। यही नाम अंत मे चल निकला। हिंदी मे इस ग्रह को 'वारुणी' कहते हैं।

जब ग्रह की कक्षा का ठीक पता चल गया तो पीछे की ओर गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को पहले लोगो ने कई बार देखा था, परंतु वे बराबर इसको साधारण तारा ही समझते रहे। अकेले लेमॉनियर नामक ज्योतिषी ने इसे बारह बार वेध किया था। यदि वह अपने वेधों की तुलना करता तो उसे अवश्य आसानी से पता चल जाता कि यह स्थिर नहीं है; अन्य तारों के हिसाब से यह चला करता है। इसलिए वह तुरंत जान जाता कि यह ग्रह है। परंतु सबके भाग्य में ख्याति नही लिखी रहती। इन पुरानी स्थितियो से विशेष लाभ यह हुआ कि यूरनेस की कक्षा का बहुत ही सच्चा ज्ञान ज्योतिषियों को हो गया और इस कक्षा की विचित्रता के कारण कुछ समय बाद एक अन्य नवीन ग्रह नेपच्यून का पता चला।

यूरेनस की नाप, आदि

अँधेरी रात में, जब वायुमंडल स्वच्छ रहता है, तीव्र दृष्टि वाले व्यक्ति यूरेनस को कोरी आँख से ही स्पष्ट देख सकते हैं। यह अत्यंत मंद प्रकाश के तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। पृथ्वी से इसकी दूरी के घटने-बढ़ने के कारण इसका प्रकाश इतना कम घटता-बढ़ता है कि यह प्रायः सदा ही एक ही चमक का रहता है। सूर्य से यूरनेस पृथ्वी की अपेक्षा १९ गुना अधिक दूरी पर है और एक चक्कर लगाने में इसे ८४ वर्ष का समय लगता है। इससे यह न समझना चाहिए कि यूरनेस बहुत धीरे-धीरे चलता है। वस्तुतः यह सवा चार मील प्रति सेकंड के वेग से बराबर दौड़ता रहता है !

बड़े दूरबीन से देखने पर यूरनेस का बिंब समुद्र के समान हरे रंग का दिखलाई पड़ता है। बिंब इतना छोटा दिखलाई पडता है कि इसके व्यास को ठीक-ठीक नापना कठिन है। विभिन्न ज्योतिषियों के नाप एक ही नहीं आते, परंतु उनके नापों में १० प्रतिशत से अधिक का अंतर नही पड़ता है। इन नापों के आधार पर पता चलता है कि यूरनेस का मध्यम व्यास पृथ्वी के व्यास का प्रायः ठीक चौगुना है। इसलिए यूरनेस का धरातल पृथ्वी की अपेक्षा १६ गुना अधिक और आयतन ६४ गुना अधिक होगा। यह देखकर कि यूरनेस शनि को अपने गणितसिद्ध मार्ग से कितना विचलित करता है, उसकी तौल का हमने बहुत अच्छा ज्ञान कर लिया हैं। यूरेनस पृथ्वी की अपेक्षा लगभग १५ गुना ही भारी है। इसलिए यह अपेक्षाकृत हलके द्रव्यों का बना हैं। यह शनि की तरह पानी में तैर तो न पाएगा, परंतु पानी से यह कुल सवा गुना ही भारी है। आकार मे यूरेनस गोल नहीं है, अन्य ग्रहों की तरह यह भी कुछ चपटा है। कई ज्योतिषियों ने इसे नापा है और सबके वेधों का परिणाम यही निकलता है कि लघु व्यास बड़े व्यास की अपेक्षा लगभग ८ प्रतिशत छोटा है।

कई ज्योतिषियों ने यूरेनस के बिंब पर उसी प्रकार की धारियाँ देखी है, जैसी बृहस्पति पर दिखलाई पड़ती हैं, परंतु ये धारियाँ इतनी फीकी है कि उनके बारे में कुछ विशेष बातें नही ज्ञात है। उनमे कोई ऐसे स्पष्ट चिह्न भी नहीं है, जिनमे पता चल सके कि यूरेनस अपनी धुरी पर घूमता है या नही, और यदि घूमता है तो कितने समय मे। परंतु इस बात का उत्तर अन्य बातों से मिला है। यूरेनस का नारंगी की तरह चपटा होना और काफी चपटा होना घोषित करता है कि वह काफी तेजी से नाचता होगा। परंतु

अक्षभ्रमण-काल का ज्ञान १९१२ के पहले न हो सका। उस वर्ष लॉवेल और उसके सहायकों ने बिंब के दाहिने और बायें भागों से आए प्रकाश के रश्मि-चित्रों की तुलना करके बतलाया कि यूरेनस के एक बार घूमने में कुल पौने ग्यारह घंटे लगते हैं और वेधों में दोष रह जाने के कारण इस काल में अधिक-से-अधिक आधे घंटे की ही गलती हो सकती है। यूरेनस उसी दिशा में घूमता है, जिस दिशा में इसके उपग्रह चलते हैं। पाँच वर्ष बाद एक बिलकुल दूसरी रीति से यूरेनस का अक्षभ्रमण-काल नापा गया। सूक्ष्म जाँच से पता चला कि यूरेनस का प्रकाश पूर्णतया स्थिर नहीं है; यह कुछ घटा-बढ़ा करता है। प्रकाश के घटने-बढ़ने के एक चक्र में पौने ग्यारह घंटे (वस्तुतः १० घंटे ४९ मिनट) समय लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यूरेनस सर्वत्र एक ही चमक का नहीं है और यह अपनी धुरी पर लगभग पौने ग्यारह घंटे में एक बार घूमता है।

यूरेनस की परिक्षेपण-शक्ति—वास्तविक चमक—क्या है? यह काले पत्थरों की तरह प्रायः चमकरहित है या सफेद बर्फ की तरह खूब चमकीला है? इन प्रश्नों का भी उत्तर गणना और वेध से मिल गया है। पता चला है कि यूरेनस पर भी बृहस्पति और शनि की तरह ठंढी गैसों का गहरा वायुमंडल होगा। सूर्य से बहुत दूर होने के कारण यूरेनस पर बृहस्पति की अपेक्षा धूप की तेजी कुल चौदहवाँ भाग ही होगी। इसलिए यूरेनस बृहस्पति और शनि से कहीं अधिक ठंढा होगा। परंतु मोटे हिसाब से कहा जा सकता है कि यूरेनस की भी बनावट बृहस्पति और शनि जैसी ही होगी। सभवतः उसके केन्द्र में पत्थर होगा। उस पर बर्फ की गहरी तह होगी। फिर जमी हुई गैस होगी। ऊपर गैस के बादल होंगे। यूरेनस के हरे रंग और इसके प्रकाश के रश्मि-चित्र से अनुमान किया जाता है कि इन बादलों के ऊपर दूर तक पारदर्शक गैसें होंगी, जो हरी दिखलाई पड़ती है। गैसों का यह वायुमंडल गहरा और घना होगा।

उपग्रह

यूरेनस के चार उपग्रह हैं। इनमें से दो बड़े उपग्रहों का पता तो ग्रह के आविष्कार के कुछ ही वर्षों के बाद स्वयं हरशेल को लगा। शेष दो का पता ७० वर्ष बाद लैसल को लगा। लैसल शराब बनाने का काम करता था, परंतु उसे ज्योतिष का शौक था। वह दूरदर्शक बनाया करता था। अंत में एक व्यक्ति की सहायता से उसने २४ इंच व्यास का बहुत बढ़िया दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया। इसी से उसने यूरेनस के दो नये उपग्रहों का पता लगाया।

ये उपग्रह बहुत छोटे हैं और वे केवल बहुत बड़े दूरदर्शक से ही देखे जा सकते है। परंतु उनकी वास्तविक नाप इतनी छोटी नहीं है। अनुमान किया जाता है कि सबसे बड़े उपग्रह का व्यास लगभग १००० मील होगा। *सभी उपग्रह यूरेनस की मध्यरेखा के धरातल में चलते हैं।*

इन उपग्रहों के संबंध में सबसे विचित्र बात यह है कि इनकी कक्षाओं का धरातल यूरेनस के मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है। पृथ्वी स्वयं प्रायः सदा यूरेनस के मार्ग के धरातल में रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी पृथ्वी यूरेनस के अक्ष की सीध में आ जाती है और तब हमें इन उपग्रहों की कक्षाएँ प्रायः ठीक वृत्ताकार (गोल) दिखलाई पड़ती हैं। उस समय यूरेनस *का ध्रुव उसके बिंब के प्रायः ठीक बीच में दिखलाई पड़ता* है और तब यह ग्रह हमें चपटा नहीं, सच्चा गोल दिखलाई पड़ता है। स्वभावतः एक समय ऐसा भी आता है, जब पृथ्वी यूरेनस के अक्ष से अभिलंब दिशा (समकोण बनाती हुई दिशा) में रहती है। ऐसे अवसर पर यूरेनस का बिंब हमें चपटा दिखलाई पड़ता है। शुद्ध माप जानने के लिए यूरेनस का चपटापन ऐसे ही नापा जाता है। किसी भी अन्य ग्रह में ऐसा नहीं होता कि कभी हम उसे चपटा देखें और कभी गोल।

नेपच्यून का आविष्कार

नेपच्यून का अविष्कार गणित-ज्योतिष का एक अद्भुत चमत्कार है। यूरेनस अपने गणितसिद्ध मार्ग पर नहीं चल रहा था। इसी से ज्योतिषियों को संदेह हुआ कि संभवतः उसके उस पार कोई अज्ञात ग्रह है, जिसकी खींचातानी के कारण यूरेनस अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। इस सिद्धांत पर गणना करके एक ज्योतिषी ने लिखा कि यदि आकाश के अमुक बिंदु पर दूरदर्शक साधा जाय तो यह ग्रह दिखलाई पड़ेगा और वस्तुतः वहीं पर नवीन ग्रह मिला।

१८२० में फ्रेंच ज्योतिषी बूवार्ड ने बृहस्पति, शनि और यूरेनस की नई सारिणियाँ बनाईं। उसने देखा कि बृहस्पति और शनि तो न्यूटन के आकर्षण के सिद्धांतानुसार ही चलते थे, परंतु यूरेनस के बारे में कठिनाई थी। यूरेनस के आविष्कार के पहले और पीछेवाले सभी वेधों को ध्यान में रखकर जब कक्षा की गणना की गई तो पता चला कि कोई भी ऐसी कक्षा नहीं है, जो सब वेधों के अनुकूल हो। यदि पुराने वेधों के अनुसार कक्षा निर्धारित की जाती थी तो यूरेनस की नवीन वेधानुसार प्राप्त स्थितियाँ गणितसिद्ध स्थितियों से भिन्न पड़ती थीं। इसी प्रकार यदि केवल

नवीन स्थितियों के आधार पर कक्षा की गणना की जाती थी, तो पुरानी स्थितियों में अंतर पड़ता था। बूवार्ड ने समझा कि सभवत पुराने वेधो मे कुछ त्रुटियाँ रही होंगी। इसलिए उसने पुराने वेधो को छोड दिया और केवल नवीन वेधो के आधार पर यूरेनस की कक्षा की गणना की।

परंतु थोडे ही वर्षो मे देखा गया कि यूरेनस बूवार्ड की वतलाई कक्षा से भी विचलित हो रहा है। यह अतर धीरे-धीरे वढता ही गया। पच्चीस वर्ष मे यह अतर इतना पड गया कि किसी को संदेह नही रहा कि बूवार्ड की कक्षा शुद्ध नही है। यों तो अंतर कुछ विशेष अधिक नही था। यदि आकाश मे एक दूसरा यूरेनस भी होता और वह वरावर बूवार्ड की गणित-सिद्ध कक्षा में चलता तो कोरी आँख से इन दोनो को पृथक्-पृथक् नही देखा जा सकता। हाँ, दूरदर्शक की सहायता से ये अवश्य आसानी से अलग-अलग देखे जा सकते थे। परंतु बड़ी वात तो यह थी कि जो अंतर पड रहा था, वह किसी ज्ञात कारण से नहीं पड़ रहा था और तो भी यह अंतर इतना था कि निश्चित रूप से कहा जा सकता था कि यह वेधो की त्रुटियों के कारण नही उत्पन्न हुआ था। इस विषय पर ज्योतिषियों में वाद-विवाद होता रहा। परतु १८४५ तक निश्चित रूप से कुछ भी निर्धारित नही हो पाया था।

यूरेनस और नेपच्यून का आकार
तुलना के लिए पृथ्वी भी दिग्दर्शित है।

उस वर्ष ऐरागो के कहने पर लेवेरियर ने इस प्रश्न पर जड से छानवीन करना आरंभ किया। वह एक अच्छा ज्योतिषी और सिद्धहस्त गणितज्ञ था। पहले उसने बूवार्ड के काम को अधिक सूक्ष्म रीतियो से दोहराया। परतु उसे बूवार्ड की सारिणी में केवल छोटी-छोटी ही त्रुटियाँ मिली। कोई भी ऐसी त्रुटि नही मिली, जो यूरेनस की विचित्र गति का रहस्य वतला सके।

बूवार्ड ने यूरेनस पर पडनेवाली शनि और वृहस्पति की आकर्षण-शक्तियो को भी गणना में सम्मिलित कर लिया था। यही उचित था। परंतु मरता क्या न करता! लेवेरियर ने वृहस्पति और शनि की आकर्षण-शक्तियों को छोडकर भी यूरेनस की कक्षा निकाल डाली—इस आशा से कि कदाचित् इस प्रकार प्राप्त कक्षा अधिक अनुकूल हो। परंतु यह कक्षा भी ठीक नहीं उतरी।

अब केवल यही देखना वाकी था कि यूरेनस के उस पार कोई ग्रह तो नही है, जो अपनी आकर्षण-शक्ति के कारण यूरेनस को खीचा करता है और यदि ऐसा ग्रह है तो वह कहाँ और कितना वडा होगा। यह जानी हुई वात है कि कोई ग्रह सूर्य से जितना ही अधिक दूरी पर होगा, वह एक चक्कर उतना ही अधिक समय में लगाएगा। परिणाम यह होगा कि जब तक यूरेनस आधा चक्कर लगाएगा, तव तक उस पारवाला ग्रह कदाचित् चौथाई ही चक्कर लगा पाएगा। इस प्रकार यदि यूरेनस के आधा चक्कर लगाने के आरंभ में यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खींचकर उसके वेग को वढ़ा रहा था तो निश्चय ही यूरेनस के आधा चक्कर लगा लेने पर यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खीचकर उसके वेग को कम कर देगा। इसलिए अवश्य ही इस ग्रह की अवहेलना करके निकाली गई यूरेनस की कक्षा वास्तविक परिस्थिति को सच्चाई से कदापि प्रदर्शित न कर सकेगी।

यह भी निश्चय था कि अज्ञात ग्रह यूरेनस के इस पार नही था। यदि वह इधर होता तो अवश्य ही शनि को भी वह अपने मार्ग से काफी विचलित कर देता।

गणना करने के पहले यह जानना आवश्यक था कि अज्ञात ग्रह सूर्य से कितनी दूर था। भिन्न-भिन्न दूरी मानकर भिन्न-भिन्न उत्तर निकल सकते थे। लेवेरियर ने अनुमान किया कि अवश्य ही नेपच्यून की दूरी बोडे के नियम के अनुसार होगी, क्योकि सव ज्ञात ग्रहों की दूरियाँ इसी नियम के अनुसार थी। सितंवर १८४६ में गणना समाप्त हुई। लेवेरियर के पास

ग्रह के देखने लिए कोई साधन नही था । इसलिए उसने अपने मित्र गाले को, जो बर्लिन वेधशाला का नवयुवक अध्यक्ष था, लिखा कि कुंभ राशि मे वसंत सपात से ३२६ अंश पर और सूर्य के मार्ग के पास अज्ञात ग्रह होगा; इस विंदु से नवीन ग्रह की स्थिति एक अंश के भीतर ही होगी। चमक मे यह नवी श्रेणी के तारे के समान होगा, परंतु इसका विंब स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा—यह तारो के समान विंदु-सरीखा न होगा।

२३ सितम्बर, १८४६, की रात्रि में यह ग्रह बर्लिन मे देखा गया। इसकी स्थित लेवेरियर के बतलाये स्थान के पास ही थी। खोज मे आधा घटा भी नही लगा। ग्रहो के समान इसका विंब भी था और नक्षत्रों के नकशे में यह नही था। इससे निश्चय था कि यह नवीन ग्रह था। तो भी सूक्ष्मता से इसकी स्थिति नाप ली गई। दूसरी रात फिर नापने पर पता चला कि यह बतलाई हुई दिशा में चल भी रहा था। अब नाम मात्र भी संदेह नही रह गया। सर्वत्र समाचार फैल गया कि नवीन ग्रह देखा गया है।

ऐडम्स की गणना

नवीन ग्रह के आविष्कार का यश केवल लेवेरियर को ही नहीं मिला। इंगलैण्ड मे केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के एक नये ग्रैजुएट, जे० सी० ऐडम्स, ने भी इसी प्रश्न की जाँच की थी। १८४१ में ही उसने संकल्प किया था कि डिग्री मिलने के बाद वह गणित द्वारा पता लगाएगा कि यदि यूरेनस के चलने की विचित्रता किसी अज्ञात ग्रह के कारण है तो वह अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। इंगलैण्ड के राजज्योतिपी की एक रिपोर्ट मे इस अज्ञात ग्रह के रहने की बात उसने पढ़ी थी। १८४३ की गरमी की छुट्टी मे ही उसने मोटे हिसाब से पता चला लिया कि अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। फिर प्रोफेसर चैलिस की सलाह से वह राजज्योतिपी एअरी से भेंट करने ग्रिनिच (लंदन) गया। संयोगवश एअरी वहाँ उस समय नही था। कुछ समय पीछे ऐडम्स फिर एअरी से मिलने गया। परन्तु इस बार वह एअरी से मुलाकात नही कर सका, क्योंकि एअरी भोजन कर रहा था। प्रतीक्षा करने के बदले, ऐडम्स एक पुरजा लिखकर चला आया कि अमुक स्थान मे नया ग्रह दिखलाई पड़ेगा। पीछे पता चला कि ऐडम्स की गणना लेवेरियर की गणना से अधिक सच्ची थी। यदि नवीन ग्रह की खोज बतलाई हुई दिशा मे अच्छे दूरदर्शक से की जाती तो ग्रह उसी दिन मिल जाता और इसके आविष्कार का पूरा यश ऐडम्स को मिलता, क्योंकि लेवेरियर की गणना अभी नही हो पाई थी। परन्तु ऐडम्स कोई प्रसिद्ध ज्योतिषी नही था। राजज्योतिपी ने ऐडम्स को केवल इतना ही लिख भेजा कि क्या आपने सूर्य से यूरेनस की दूरी में जो अंतर पड़ा करता है, उस पर भी ध्यान दिया है? ऐडम्स ने या तो झल्लाकर या अन्य किसी कारण से इस पत्र का उत्तर नही दिया। राजज्योतिपी भी इस प्रसंग को भूल गया। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

एअरी की निद्रा अब भंग हुई, क्योंकि उसने देखा कि लेवेरियर ने इस विपय पर जो परचे इस समय छापे, उनका भी अन्तिम उत्तर वैसा ही निकलेगा, जैसा ऐडम्स का। इस लिए उसने तुरत केम्ब्रिज के प्रोफेसर चैलिस को नवीन ग्रह की खोज सुपुर्द की। इस पर विश्वास न करके कि नवीन ग्रह अपने बिम्ब के कारण पहचाना जा सकेगा, उसने आसपास के सब तारों की स्थितियाँ नापना आरम्भ किया। जिस समय गाले ने नवीन ग्रह देखने की घोपणा की थी, उस समय तक चैलिस वस्तुत: दो बार नवीन ग्रह का वेध कर चुका था। यदि वह वेधों की तुलना करता चलता तो वह गाले के कई सप्ताह पहले ही नवीन ग्रह के पा जाने की घोपणा कर सकता था। परन्तु इस काम को वह इतना आवश्यक कदाचित् नही समझता था। उसने सोच रक्खा था कि काफी वेध ले-लेने के बाद एक साथ ही सब की तुलना करेंगे। सम्भव है, ऐडम्स की योग्यता मे उसे काफी विश्वास न रहा हो। जो कुछ हो, हुआ यही कि गाले की घोपणा तक ब्रिटिश ज्योतिपियो को नवीन ग्रह का पता न चल सका। उसके बाद एअरी और चैलिस ने देखा कि ऐडम्स की गणना अधिक शुद्ध थी और केवल उन्ही की लापरवाही के कारण नवीन ग्रह के आविष्कार का यश लेवेरियर को मिला!

तब एअरी ने अपनी भूल का प्रायश्चित्त करना चाहा। उसने बड़े जोरों से लिखना आरभ किया कि ऐडम्स की गणना पहले हो चुकी थी और वह अधिक शुद्ध थी, इसलिए उसी को ग्रह का आविष्कारक समझना चाहिए। बड़ी बहस चली और स्वभावत: लोगों के मिजाज गरम हो गए। लेवे-रियर के मित्र समझते थे कि अंग्रेजों की यह एक चाल है, जिससे फ्रांस को नये ग्रह के आविष्कार का यश न मिले। ऐडम्स के मित्र अलग एअरी से अप्रसन्न थे। उन्होंने उसको खूब खरी-खोटी बातें सुनाई। यों तो विज्ञान में आवि-ष्कारक वही समझा जाता है, जिसका आविष्कार प्रथम प्रकाशित होता है; अपने घर किसी ने किस दिन किस काम को किया, इस पर विचार नहीं किया जाता। परन्तु यह देखते हुए कि इसमें ऐडम्स का कोई दोष नही था, अब

विज्ञान-संसार यही मानता है कि लेवेरियर और ऐडम्स दोनो को ही नेपच्यून का आविष्कारक समझना चाहिए।

कुछ सप्ताह तक वेध करने पर नेपच्यून की कक्षा का स्थूल रूप से ज्ञान हो गया। तब पीछे की ओर गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को कई ज्योतिषियों ने पहले भी देखा था और इसे तारा समझकर इसकी स्थिति को नक्षत्र-सूचियों में लिखा था। प्रसिद्ध फ्रेंच ज्योतिषी लैलाड ने पचास वर्ष पहले इसे दो बार, कुछ दिनो के अंतर पर देखा था। इतने में ग्रह होने के कारण यह कुछ हट गया था। यदि लैलांड को जरा-सा भी यह खयाल होता कि आकाश मे अज्ञात ग्रह भी हो सकते है तो वह तुरत जान जाता कि यह वस्तुत. ग्रह था। परन्तु उसे इसका कुछ भी सदेह नहीं था। उसने समझा कि संभवतः प्रथम वार उसने भूल की थी। इसलिए अपनी प्रकाशित नक्षत्र-सूची मे "तारे" के आगे उसने केवल प्रश्नचिह्न लगाकर ही संतोष कर लिया। प्रश्नचिह्न का असली कारण उसकी अप्रकाशित नोटवुक से तब लगा, जब नेपच्यून का आविष्कार हो चुका था।

पुराने और नवीन वेधों के सहारे नेपच्यून की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान शीघ्र हो गया। तब पता चला कि इसकी सूर्य से दूरी वोडे के नियम के अनुसार नही थी। लेवेरियर और ऐडम्स दोनों ने जो कक्षा नेपच्यून के लिए अपनी-अपनी गणनाओं से निर्धारित की थी वह गलत थी, क्योकि दोनों ने इसकी दूरी के लिए वोडे के नियम को सत्य माना था। इनकी वतलाई कक्षाएँ इतनी अशुद्ध थीं कि उस समय के कुछ ज्योतिषियो का विश्वास था कि नवीन ग्रह का पता संयोगवश ही लग गया, गणना के कारण नही। परन्तु बात ऐसी नही है। जिस रीति से और यूरेनस के जिन वेधों के आधार पर नवीन ग्रह की गणना की गई थी, उनसे केवल नवीन ग्रह की स्थिति का ही सच्चा पता लग सकता था; नवीन ग्रह की कक्षा का ठीक पता इनसे नही लग सकता था। इसलिए यदि कक्षा की गणना मे भद्दी भूल भी हुई तो क्या! कक्षा की त्रुटियों का परिणाम केवल यही हो सकता था कि भूत और भविष्यकाल में नवीन ग्रह की स्थितियों का ज्ञान लेवेरियर और ऐडम्स की गणनाओं से नही हो सकता था; परन्तु उस समय जब गणना की गई थी, नवीन ग्रह की स्थिति ठीक-ठीक वतलाई गई थी और ग्रह के आविष्कार के लिए बस इतना ही काफी था।

यूरेनस की कक्षा

यूरेनस इस बात मे अन्य सब ग्रहों से निराला है कि उसके उपग्रहो कि कक्षाओं का धरातल स्वयं उसके मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है।

नेपच्यून की कक्षा आदि

पृथ्वी की अपेक्षा नेपच्यून सूर्य से तीस गुना अधिक दूरी पर है। इसकी कक्षा प्रायः ठीक-ठीक गोल है। एक बार चक्कर लगाने में इस ग्रह को लगभग १६५ वर्ष लगते हैं, यद्यपि इसका वेग लगभग ३½ मील प्रति सेकंड है। कोरी आँख से नेपच्यून नहीं देखा जा सकता, परन्तु किसी भी अच्छे छोटे दूरदर्शक से यह देखा जा सकता है। छोटे दूरदर्शकों में यह आठवीं श्रेणी के तारे के समान दिखलाई पड़ता है। स्मरण रखना चाहिए कि जितने तारे हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ते हैं, वे सब छः श्रेणियों में बाँटे गए है। प्रथम श्रेणी के तारे

सबसे अधिक चमकीले होते हैं। छठवी श्रेणी के तारे सबसे मंद प्रकाश के होते है। सातवी और आठवी श्रेणी के तारे केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ते है।

बड़े दूरदर्शकों मे नेपच्यून का विम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह हरे रंग का है। छोटा दिखलाई पड़ने के कारण इसके विम्ब के व्यास का नापना अत्यत कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नही कि इसका वास्तविक व्यास लगभग ३१,००० मील होगा। इस प्रकार नेपच्यून यूरेनस से थोड़ा-सा ही छोटा है।

यद्यपि व्यास की नाप बहुत सूक्ष्मता से नही ज्ञात है तो भी इसकी तौल का हमें अच्छा ज्ञान है। कारण यह है कि इसकी तौल इसके उपग्रह की गति से और यूरेनस को विचलित करने की मात्रा से निकाली गई है। नेपच्यून पृथ्वी से लगभग १७ गुना (वस्तुतः १७.१६ गुना) भारी है। इस प्रकार यह यूरेनस की अपेक्षा कुछ अधिक भारी है। पानी के हिसाब से इसका घनत्व १·६ गुंना है।

नेपच्यून का ताप बहुत ही कम होगा। इसका वायुमंडल किसी ऐसी यौगिक गैस का होगा जो पृथ्वी के साधारण ताप पर टिक ही नही सकती। सभवतः यही बात है, जिसके कारण हम अभी तक ठीक-ठीक नही जान सके हैं कि बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेपच्यून में वह कौन-सी गैस है, जिसकी मात्रा बृहस्पति से लेकर नेपच्यून तक उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और जिसके कारण इन ग्रहों से उत्तरोत्तर अधिक हरा प्रकाश आता है। हाल के कुछ अनुसंधानों से अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति और शनि के वायुमंडलों में मिथेन और अमोनिया गैसो की प्रधानता होगी।

नेपच्यून के बिंब पर कोई भी ऐसे चिन्ह नही देखे जा सके हैं, जिनसे इसके अपनी धुरी पर घूमने के बारे में कुछ निश्चय किया जा सके। नेपच्यून और यूरेनस में कई बातो में सादृश्य है। नाप में, तौल में, घनत्व मे, रंग में ये प्रायः एक से है। निःसन्देह उनकी रासायनिक बनावट भी प्रायः एक-सी होगी, इसलिए ये यमज भ्राता कहे जा सकते हैं। सौर-जगत् मे इस प्रकार की दूसरी जोड़ी शुक्र और पृथ्वी की है, परन्तु शुक्र और पृथ्वी में इतनी समानता नही है।

नेपच्यून का एक उपग्रह है। इसे पहले-पहल लैसल ने प्रधान ग्रह के देखे जाने के एक महीने भीतर ही देखा था। यह उपग्रह एक चक्कर लगभग ६ दिन में ही लगा लेता है। देखने में यह बहुत ही मंद प्रकाश का है, परन्तु जब उसके वास्तविक नाप की गणना की जाती है तो पता चलता है। कि यह लगभग हमारे चन्द्रमा के बराबर होगा।

जिस धरातल में यह उपग्रह चलता है, वह स्वयं भी घूम रहा है। गति-विज्ञान के आधार पर इससे यह परिणाम निकलता है कि नेपच्यून गेंद की तरह गोल न होकर नारंगी की तरह चपटा होगा। इस प्रकार यद्यपि नेपच्यून हमसे इतनी दूर है कि हम उसके रूप को ठीक-ठीक नहीं देख पाते, फिर भी हम जानते है कि वह भी यूरेनस की तरह चपटा है। १९२८में रश्मि-विश्लेपक यंत्र से पता चला कि नेपच्यून अपनी धुरी पर लगभग १६ घटे में एक बार घूम लेता है।

प्लूटो

मार्च १९३० मे नेपच्यून से भी अधिक दूरी पर स्थित एक ग्रह देखा गया, जिसका नाम 'प्लूटो' रक्खा गया। इसका आविष्कार कोई संयोगवश नहीं हुआ। ऐसे ग्रह की खोज वर्षो से की जा रही थी। कई एक ज्योतिषियों ने इसकी स्थिति बतलाने की चेष्टा उसी रीति से की थी, जिस रीति से नेपच्यून का आविष्कार हुआ था, परंतु इसमें कठिनाई यह थी कि नेपच्यून की कक्षा का ज्ञान अब भी हमे इतना अच्छा नहीं है, जितना होना चाहिए। इसका कारण यह है कि इसके आविष्कार के समय से आज तक नेपच्यून कुल लगभग पौन चक्कर ही लगा पाया है। जब तक नेपच्यून पूरा चक्कर न लगा ले तब तक इसकी कक्षा की सूक्ष्म गणना नही की जा सकती। इसलिए पता नहीं चलता कि नेपच्यून गणितसिद्ध कक्षा से कितना विचलित होता है।

परंतु यूरेनस की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान १९३० के कई वर्ष पहले से ही था। देखा गया था कि नेपच्यून की आकर्षण-शक्ति की गणना कर लेने पर भी यूरेनस की वास्तविक और गणितसिद्ध चालों में थोड़ा-सा अन्तर रह जाता है। इसी के आधार पर गैलीलियो, पिकरिंग, लॉवेल आदि की धारणा थी कि नेपच्यून के उस पार कोई ग्रह है, जो नेपच्यून से ड्योढ़ी दूरी पर है। लॉवेल की गणना से ही अत में प्लूटो का आविष्कार हुआ, परंतु लॉवेल की गणना का परिणाम यह निकला था कि नेपच्यून के उस पारवाला ग्रह तौल में नेपच्यून का लगभग आधा होगा। इससे अनुमान किया गया कि अज्ञात ग्रह इतना छोटा न होगा कि इसके फोटोग्राफ लेने में विशेष कठिनाई पड़े। इसलिये लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि इस ग्रह के पता लगाने में इतनी कठिनाई क्यों पड़ रही थी।

लॉवेल को ग्रह-सम्बन्धी खोजो से इतना प्रेम था कि उसने अपने ख़र्च से एक ऊँचे और बहुत ही अच्छे स्थान पर अच्छी वेधशाला बनवाई थी और इस अभिप्राय से कि उसके मरने के बाद भी खोज होती रहे, वह काफी धन भी इसके

लिए छोड़ गया था। लॉवेल के सहायक उसके मरने पर ग्रह-सम्बन्धी अनुसंधानो मे तत्परता से लगे रहे और अन्त में मार्च १९३० में उन्होने नेपच्यून के उस पारवाले ग्रह को देख ही लिया। यह ग्रह लॉवेल के गणनानुसार निश्चित स्थान से बहुत पास ही मिला।

प्लूटो का रूप

इस नवीन ग्रह का नाम यूनानी देवता प्लूटो के नाम पर रक्खा गया। प्लूटो को हिंदी में 'यम' कहते है। यह ग्रह बड़े दूरदर्शको मे भी बिंदु-सरीखा ही दिखलाई पड़ता है। इसलिए इसके गोल या चपटा होने की बात का पता नही। इसकी कक्षा का भी विशेष ज्ञान नही है। अत्यन्त दूर होने और इसलिए मद गति से चलता जान पड़ने के कारण इसकी कक्षा का ठीक पता वर्षो बाद लगेगा।

नेपच्यून की अपेक्षा प्लूटो हजार गुना कम चमक का है। तीस इंच के तालयुक्त दूरदर्शक से भी फोटो लेने के लिए आधे घंटे से कम प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज्हर) से काम नही चलता। इसके कोई उपग्रह अभी तक नहीं देखे गये हैं। यदि कोई उपग्रह होगा भी तो वह संसार के बड़े-से-बड़े दो-चार दूरदर्शको में ही कदाचित् दिखलाई पड़ सकेगा।

नाप में यह बहुत छोटा है। यदि लॉवेल के गणनानुसार इसकी तौल नेपच्यून की तौल की लगभग आधी होती तो यह हमें बारहवी श्रेणी के तारे की तरह दिखलाई पड़ता परंतु वस्तुतः यह हमें पंद्रहवीं श्रेणी के तारे की तरह दिखलाई पड़ता है, अर्थात् वास्तविक चमक लॉवेल की गणना के अनुसार निर्धारित चमक के हिसाब से रुपये में एक आना भी नही है। इसीलिए इसकी खोज पड़ने में इतना समय लगा।

प्लूटो की तौल की गणना हाल में फिर से की गई है और पता चला है कि वह लगभग शुक्र की तौल के बराबर है। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है, क्योकि प्लूटो इतना फीका है कि लोग समझते थे कि इसकी तौल बहुत कम होगी। तीन ही बाते हो सकती है--या तो तौल की गणना में कहीं गलती हो, या प्लूटो बहुत घना हो और इसलिए अधिक तौल का होते हुए भी यह बहुत छोटा हो, या वह वस्तुतः चमकरहित, प्रायः काले पत्थर का हो। इनमें से पहली बात की कोई विशेष आशंका नही है। ज्योतिषियों का अनुमान है कि तौल की नवीन गणना मे आठ-दस प्रतिशत से अधिक भूल कदापि न हुई होगी। इसी प्रकार दूसरी बात भी लागू नही जान पड़ती। अधिक-से-अधिक प्लूटो हमारी पृथ्वी के केन्द्र के घनत्व का होगा, जहाँ धातुओं

प्लूटो की खोज

प्लूटो का आविष्कार लॉवेल वेधशाला में लिये गए इन फोटोग्राफों द्वारा हुआ था। ऊपर के फोटो में मार्च २, १९३०, को आकाश में प्लूटो की स्थिति तीर के निशान द्वारा दिखाई गई है। तीन दिन बाद मार्च ५ को वही छोटा-सा बिंदु उस स्थान में खिसक आया जो नीचे के फोटो में तीरों द्वारा दिखाया गया है। अन्य सभी पिंड, जो तारे है, ज्यों-के-त्यों वहीं थे। केवल यही एक बिंदु खिसका था, इससे सिद्ध हो गया कि यह ग्रह था।

की ही मात्रा अधिक है। यदि प्लूटो इतना भी घना हुआ तो भी इसे काफी चमकीला होना चाहिए था। परतु वस्तुतः यदि प्लूटो को शुक्र के घनत्व का मान लिया जाय तो इसकी सतह की चमक शुक्र की सतह की चमक का पंद्रहवाँ भाग भी न ठहरेगी।

इस प्रकार हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि प्लूटो की सतह चमकरहित काले पत्थर के समान है। परंतु इस संबंध में एक बात यह यह समझ में नही आती कि प्लूटो का वायुमंडल कहाँ गया। जब इसकी तौल शुक्र के समान है और फिर यह शुक्र से कही अधिक ठंढा भी है तो अवश्य इसके वायुमंडल को उड न जाना चाहिए था। परंतु यदि इस पर अब भी वायुमंडल है तो अवश्य इसे अपने वायुमंडल के कारण काले पत्थर से अधिक चमकीला होना चाहिए था। संभव है, निकट भविष्य में इस रहस्य का भेद खुल जाय।

प्लूटो के एक चक्कर में लगभग ३०० वर्ष का समय लगता होगा। शनि की पदवी अब छिन जानी चाहिए, क्योंकि यथार्थ में, प्लूटो ही शनैश्चर—शनैः शनैः चलनेवाला—है।

प्लूटो पर

प्लूटो पर कल्पनातीत सरदी पड़ती होगी। यदि पृथ्वी उस ग्रह की दूरी पर रख दी जाय तो हमारा वायुमंडल ठोस हो जायगा और सब जीव—चर और अचर—नष्ट हो जाएँगे। वहाँ से सूर्य केवल उतना ही बड़ा दिखलाई पड़ता होगा, जितना पृथ्वी को बृहस्पति दिखाई पड़ता है, परंतु सूर्य कहीं अधिक चमकीला जान पड़ता होगा। कम रोशनी की शिकायत वहाँ न होगी। दोपहर की धूप मे वहाँ हमारी पूर्णिमा की रात्रि मे ३०० गुना अधिक प्रकाश रहता होगा। या यो कहिए कि वहाँ की धूप में उतनी ही रोशनी रहती होगी, जितनी १००० मोमबत्ती की ताकतवाली बिजली-बत्ती को १५ फीट पर रखने से हमे मिलती है। परतु गरमी वहाँ नाम-मात्र ही पहुँचती होगी। वस्तुतः प्लूटो पर पृथ्वी की अपेक्षा गरमी और रोशनी एक ही अनुपात में कम पहुँचती होगी। अनुमान किया जाता है कि मगल के समान ठंढे स्थान में मनुष्य का जीवित रहना कठिन है; बृहस्पति के समान ठढे स्थान मे मनुष्य का रहना असंभव है; और उसके पारवाले ग्रहो पर तो किसी भी जीव का रहना कल्पना के परे है।

पृथ्वी पर बैठे-बैठे हम बुध से लेकर प्लूटो तक के सभी ग्रहों को देख सकते है, परतु यदि हम अपने दूरदर्शको को लेकर प्लूटो तक जा सकें—और वहाँ जीवित रह सकें—तो वहाँ केवल बृहस्पति और शनि ही हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ेंगे, बृहस्पति मंद तारे की तरह और शनि मद-से-मंद तारे की तरह। शुक्र और पृथ्वी दोनो यो तो शनि से कुछ अधिक चमकदार रहेंगे, परतु सूर्य से सटे रहने के कारण दूरदर्शक से उनका दिखलाई पडना कठिन होगा। बुध का देखना तो वहाँ एकदम असंभव होगा।

पुच्छल तारे या केतु

बुध से लेकर प्लूटो तक सभी ग्रहों से आप परिचित हो चुके है, किन्तु अभी एक प्रकार के विचित्र आकाशीय पिण्ड केतुओं का परिचय पाना बाकी है, जो ग्रहों से तो निराले है, फिर भी है सौर परिवार के ही सदस्य। इस लेख में इन्हीं का मनोरंजक हाल सुनाया जा रहा है।

आकाश में रात्रि के समय कभी-कभी विचित्र पिण्ड दिखलाई पड़ते है, जो प्रकाशमय धुएँ में लिपटे हुए तारे से जान पड़ते है और जिनमें साधारणतः लंबी-सी पूँछ रहती है। इनके स्वरूप के कारण लोग इन्हें पुच्छल तारा, केतु, धूमकेतु, झाड़ू या बढ़नी कहते है। ये ग्रहों और तारों से बहुत भिन्न होते है। ये केवल कुछ सप्ताह या कुछ महीनो तक ही दिखलाई पड़ते है और फिर दूर तथा फीके होकर मिट जाते है। अंग्रेजी मे इन्हे 'कॉमेट' कहते है।

आकाशीय चमत्कारों में पुच्छल तारों का अपना विशिष्ट स्थान है। बड़े केतु वस्तुत. बड़े भडकीले और सुन्दर होते है। कुछ तो शुक्रसे भी अधिक चमकीले होते है और दिन में भी दिखलाई पड़ते है। इनकी नाभि इतनी चमकीली हो सकती है कि चकाचौंध लगे। इनका सिर चन्द्रमा के बराबर तक हो सकता है और पूँछ इतनी लम्बी कि वह क्षितिज मे लेकर लगभग सिर के ऊपर तक पहुँच सके। परन्तु इतने बड़े केतु कभी-ही-कभी दिखलाई पडते है। अधिकाश केतु इतने छोटे होते है कि वे केवल दूरदर्शक में ही दिखलाई पड़ते है।

पुराने जमाने में प्रायः सभी देश के लोग केतुओं से बहुत डरते थे। उनका विश्वास था कि जब कभी आकाश में केतु दिखलाई पड़ता है तो कोई राजा मरता है, महायुद्ध होता

है, अकाल पड़ता है या महामारी फैलती है। पिछली वार एक बड़ा केतु १९१० मे देखा गया था। वस्तुतः उस वर्ष दो वडे-बड़े केतु दिखलाई पड़े थे। इसके कुछ ही समय वाद सम्राट् सप्तम एडवर्ड की मृत्यु हुई थी। इससे भारतवासियों का विश्वास फिर से दृढ हो गया कि केतुओं के दिखलाई पडने पर कोई विशेप उपद्रव होता है। वस्तुतः संस्कृत में केतु का एक नाम 'उत्पात' भी है।

परन्तु जब वैज्ञानिक रूप से जॉच की जाती है तो कोई भी कारण नही दिखलाई पड़ता कि केतुओं से किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका हो। बात यह जान पडती है कि बड़े केतुओ के अचानक दिखलाई पडने के कारण और उनके तेज तथा विचित्र आकार के कारण लोगो के हृदय में भय का ही संचार होता है। फिर, प्रति वर्ष कोई-न-कोई दुर्घटना हुआ ही करती है। इसलिए अपनी भावना के अनुसार केतुओं और दुर्घटनाओ मे सम्वन्ध जोड़ लेने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती।

केतुओं का स्वरूप

साधारण केतुओं में तीन भाग होते हैं—(१) नाभि, जो तारे के समान छोटी और केतु के अन्य भागो से बहुत अधिक चमकीली होती है, (२) शिर, जो बादल के टुकड़े या नीहारिका के समान होता है और नाभि को घेरे रहता है, और (३) पूँछ, जो झाड के समान और सूर्य से विपरीत दिशा में निकली हुई दिखलाई पड़ती है। परन्तु सभी केतुओं में ये तीनों भाग उपस्थित नही रहते। कुछ छोटे केतुओं में तो पूँछ ही नहीं रहती। वहुत से केतुओं में नाभि नहीं रहती और किसी-किसी में एक से अधिक नाभियाँ भी रहती है। वहुत से केतुओं में पहले नाभि नही रहती, परतु सूर्य के पास पहुँचने पर नाभि वन जाती है। शिर सभी केतुओं में होता है।

केतुओं की पूँछ साधारणत: कुछ टेढी होती है। शिर से दूरवाला भाग पीछे की ओर झुका रहता है—पीछे की ओर से अभिप्राय केतु के चलने की दिशा से उल्टी वाली दिशा है। पूँछ कोई स्थायी वस्तु नही जान पड़ती। जैसे दिए की लौ कोई स्थायी वस्तु नहीं है—उसके अणु प्रति क्षण वदलते रहते है, पुराने अणु निकलते जाते हैं और नवीन वनते रहते हैं—ठीक इसी प्रकार केतु की पूँछ भी वरावर वदलती रहती होगी। इस सिद्धान्त का प्रमाण इस बात से मिलता है कि कभी-कभी किसी केतु की पूँछ वहकर अलग होती हुई भी देखी गई है और केतु मे तुरंत दूसरी पूँछ निकल आई है। अधिकाश केतुओ में पहले पूँछ नही रहती। जव केतु सूर्य के समीप आता है तो उसमे पूँछ निकल आती है। जैसे-जैसे केतु सूर्य के समीप आता है उसकी पूँछ वढती जाती है। सूर्य की अर्ध-परिक्रमा करके जब केतु फिर सूर्य से दूर होने लगता है, तव पूँछ फिर छोटी होने लगती है और अंत में मिट जाती है। इसी प्रकार केतुओ की चमक भी सूर्य के समीप आने पर बढ जाती है। गणना करने से पता चलता है कि ऐसा केवल इसी कारण नहीं होता कि सूर्य के समीप आने पर केतु हमारे भी समीप हो जाता है और इसलिए वड़ा और चमकीला लगता है। सूर्य के समीप आने पर वह वास्तव मे बड़ा और अधिक चमकीला हो जाता है। केतुओं का शिर भी इसी प्रकार घटता-वढ़ता रहता है। परंतु कई केतुओं में शिर और पूँछ अनियमित रीति से घटती-वढती भी देखी गई है। केतुओं के फोटो में तारे विंदु-सरीखे न उतरकर कुछ लम्बे हो जाते है। कारण यह है कि केतु तारो के हिसाव से वरावर चलता रहता है और इसलिए जितने समय मे केतु का फोटो उतरता है, उतने में तारे कुछ वल लेते है।

एडमण्ड हैली

जिसने सन् १६८२ के चमकीले पुच्छल तारे को देखकर गणना द्वारा भविष्यद्वाणी की थी कि यह केतु ७६ वर्ष वाद पुनः सूर्य के समीप लौटेगा। उसकी यह भविष्यवाणी बिल्कुल सही निकली। तभी से उस केतु का नाम 'हैली-केतु' पड गया।

केतुओं की वनावट

कई वातों का कारण अव भी समझ मे नही आया है, परन्तु इतना निश्चय है कि केतु कोई ठोस वस्तु नहीं है। वस्तुतः यह छोटे-बड़े रोड़ों का समूह है। सूर्य की गरमी और प्रकाश लगने से कुछ गैस और अत्यन्त सूक्ष्म धूल इसमें से निकलती है। यही पूँछ के रूप में हमें दिखलाई पड़ती

है। यह ज्ञात है कि अत्यन्त सूक्ष्म कणों को प्रकाश ढकेलकर दूर करने की चेष्टा करता है। भौतिक विज्ञानवाले इसे अपने प्रयोगों से सिद्ध कर चुके हैं। विश्वास किया जाता है कि प्रकाश के इसी गुण के कारण केतुओं से निकली धूल सूर्य से विपरीत दिशा में बिखर जाती होगी। पूँछ के टेढ़ी होने का सबब यह जान पड़ता है कि शिर, सूर्य से निकट होने के कारण, अधिक वेग से चलता है। पूँछ का छोर अधिक दूर होने के कारण धीरे-धीरे चलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे ग्रहों में वे, जो सूर्य के निकट होते हैं, अधिक शीघ्रगामी होते हैं और वे जो दूर रहते हैं धीरे-धीरे चलते हैं।

केतु के शिर और पूँछ के ठोस न रहने का प्रमाण कई एक बातों से मिलता है। प्रथम तो यह कि बहुत से केतु सूर्य के इतने निकट चले जाते और अपनी परिक्रमा का आधा भाग इतने कम समय में समाप्त कर डालते हैं कि यदि शिर या पूँछ ठोस होते तो इनके भिन्न-भिन्न भागों पर सूर्य की न्यूनाधिक आकर्षण-शक्ति के कारण वे चूर-चूर हो जाते, चाहे उनमें इस्पात की-सी ही मजबूती क्यों न होती! फिर पूँछों के आर-पार तारे बिना किसी प्रकार मंद हुए ही चमकते देखे जाते हैं, जिससे समझा जाता है कि उनमें की धूलि के कण इतनी दूर-दूर पर हैं कि पूँछ प्रायः पारदर्शक है। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी एक-दो बार केतुओं की पूँछ में पड़ गई है और ऐसे अवसरों पर हमको कुछ भी पता नहीं चला है कि हम किसी घने वायुमंडल या धूलि में से होकर निकल रहे हैं। कुछ केतुओं की पूँछों में कहीं-कहीं गाँठ-सी पड़ जाती है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ किसी कारण धूलि-कण साधारण से कुछ अधिक घने हो गये हैं। देखा जाता है कि ये गाँठें धीरे-धीरे शिर से दूर चली जाती हैं।
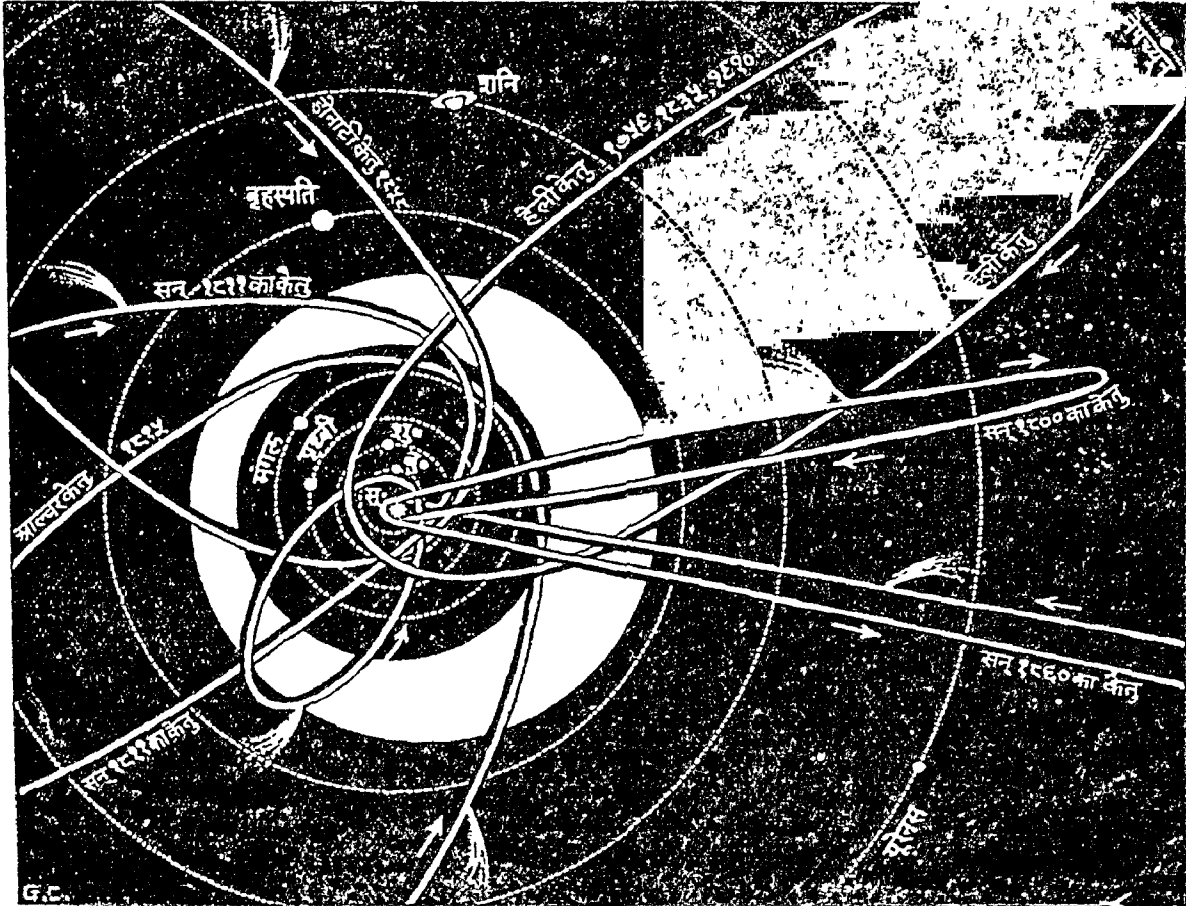
सौर जगत् में केतुओं का स्थान एवं कुछ मुख्य केतुओं की भ्रमण-कक्षाएँ

जहाँ सभी ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त के आकार की कक्षा में चलते हैं, वहाँ केतु अत्यंत लंबे दीर्घवृत्त या परवलय में चलते हैं।

इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि दिये की लौ की तरह केतुओं की पूँछ भी केवल कणों और गैसों का समूह है।

शिर भी प्राय: पारदर्शक होते हैं। इनके आर-पार भी तारे देखे जा सकते हैं। रश्मिचित्र से पता चलता है कि शिर पूर्णतया गैस के नहीं बने होते। इसलिए अवश्य केतुओं के शिर रोड़ों के समूह ही होते होंगे। इसके समर्थन में उल्लेखनीय बात यह है कि जब कभी किसी केतु का शिर हमारे और सूर्य के बीच में आ जाता है तो वह पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। यदि शिर ठोस होता तो अवश्य ऐसे अवसरों पर वह हमें सूर्य-बिंब पर काले धब्बे के समान दिखलाई पड़ता।

जब केतुओं की गणना की जाती है तब आश्चर्यजनक परिणाम निकलता है। पता चला है कि उनकी तौल बहुत कम होती है। अनुमान किया गया है कि बड़े-बड़े पुच्छल तारों की तौल पृथ्वी की तौल की अपेक्षा दस लाख में एक भाग भी न होगी! परंतु ठीक-ठीक किसी केतु की तौल क्या है, इसका पता लगाना असंभव है, क्योंकि केतु इतने हलके होते हैं कि पृथ्वी या किसी अन्य ग्रह को अपने मार्ग से वे कभी भी इतना विचलित नहीं कर पाते हैं कि अंतर नापा जा सके। इतनी कम तौल और इतने अधिक विस्तार से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि केतुओं का सापेक्षिक घनत्व बहुत कम होगा। अनुमान किया गया है कि प्रसिद्ध हैली-केतु, जो हमें बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है, इतना हलका होगा कि इसके २००० घनमील क्षेत्र में उतना भी द्रव्य न होगा, जितना हमारे वायुमंडल के एक घन इंच में रहता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात है कि एक घनमील में लगभग २,५०,००,०० ००,००,००० घनइंच होते हैं!

केतु रोड़ों के समूह हैं, परंतु ये रोड़े बहुत छोटे-बड़े होते होंगे। जिस मार्ग में केतु चलता है, उसमें इन रोड़ों में से कुछ बिखरे भी पड़े रहते हैं। जब कभी पृथ्वी उनके निकट आ जाती है तो पृथ्वी के आकर्षण के कारण ये रोड़े पृथ्वी की ओर खिंच आते हैं। ये ही हमें उल्का के रूप में दिखलाई पड़ते हैं या उल्का-प्रस्तर के रूप में पृथ्वी पर गिरते हैं। इस प्रकार हम इन रोड़ों में से कुछ को समय-समय पर पा भी जाते हैं। इनसे हम केतुओं के संबंध में बहुत-कुछ ठीक अनुमान कर सकते हैं। केतुओं में ये रोड़े कई मन की तौल के पत्थरों से लेकर सूक्ष्मतम धूल से भी सूक्ष्म होंगे। यह भी पता चलता है कि इनका औसत व्यास आध इंच से कम न होगा। फिर, यदि सब रोड़े इसी औसत नाप के होते तो प्रत्येक घनमील में कुल दस-बारह रोड़ों का ही पता पड़ता। यदि इन रोड़ों का घनत्व पत्थर के घनत्व के समान मान लिया जाय तो हम देख सकते हैं कि केतुओं के शिर के प्रत्येक घनमील में कुल डेढ़ दो तोला माल होता होगा। अनुमान किया गया है कि सारे हैली-केतु में कदाचित् उतना द्रव्य भी न होगा, जितना पनामा-नहर के बीसवें भाग के लिए खोदना पड़ा था, यद्यपि हैली-केतु सबसे बड़े केतुओं में गिना जाता है।

पूँछें केवल सूर्य से आए प्रकाश के कारण ही नहीं चमकती, उनमें निजी प्रकाश भी होता है। रश्मिविश्लेषक यंत्र से देखने पर पता चलता है कि उनमें नाइट्रोजन, कार्बन मानॉक्साइड, सायानोजन और कई एक हाइड्रो-कार्बन गैसें भी हैं।

केतुओं का विस्तार

केतुओं का वास्तविक विस्तार क्या होता होगा? स्पष्ट है कि बड़े केतु वस्तुत: बहुत बड़े होते होंगे। तभी तो वे हमें इतने विस्तृत दिखलाई पड़ते हैं। बड़े केतुओं का शिर ही पृथ्वी की अपेक्षा चौगुने से लेकर बीस गुने व्यास का होता है और यदि शिर की यह बात है तो फिर उनकी पूँछ का क्या कहना! कुछ की पूँछें तो इतनी लम्बी होती हैं कि वे सूर्य से पृथ्वी तक पहुँच सकती हैं! नाभियाँ अवश्य छोटी होती हैं। बड़े-बड़े केतुओं की नाभियाँ भी कुल ५०० से लेकर १,००० मील के व्यास की होती हैं।

केतुओं के घटने-बढ़ने की बात पहले बतलाई जा चुकी है। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। हैली-केतु जब १९०९-१० में दिखलाई पड़ा था, तब पहले यह बहुत छोटा था। १९०९ के सितंबर में इसके शिर का व्यास पृथ्वी के व्यास का कुल दुगुना था, परंतु तीन ही महीने में यह फूलकर पृथ्वी से कई गुना बड़ा हो गया। उस समय पृथ्वी के हिसाब से इसका व्यास तीस गुना रहा होगा। अभी यह सूर्य से निकटतम दूरी पर नहीं पहुँच पाया था। जब यह इस दूरी पर पहुँचा तो पहले की अपेक्षा छोटा हो गया और तब इसका व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग पंद्रह गुना था। इसके बाद यह फिर बढ़ने लगा। जून १९१० में यह पहिले से भी बड़ा हो गया और इस समय इसका व्यास पृथ्वी का चालीस गुना हो गया। इस समय इसका आयतन पृथ्वी की अपेक्षा ६४,००० गुना अधिक था! इसके बाद यह केतु एक बार फिर छोटा होने लगा। १९११ के अप्रैल तक इसका व्यास पृथ्वी का कुल चौगुना ही रह गया।

कुछ केतु एकदम अनियमित रूप से घटते-बढ़ते हैं। वे क्यों ऐसा करते हैं, इसका भेद अभी तक नहीं जाना जा सका है।

केतुओं की खोज

बड़े केतु आप-से-आप ही दिखलाई पड सकते हैं और पुराने जमाने में लोग इतने से ही संतोष कर लेते थे। परंतु अब कुछ लोग केतुओं की खोज जानबूझकर करते हैं। अक्सर इस काम को शौकीन लोग करते हैं, क्योंकि वेधशालाओं के बड़े-बड़े ज्योतिषियों को अन्य कामों से फुरसत नही मिलती। इसके लिए ऐसे दूरदर्शक का प्रयोग किया जाता है, जिसकी प्रवर्द्धन-शक्ति तो विशेष अधिक नही होती, परंतु जिसमें प्रकाश एकत्रित करने की शक्ति विशेष रूप से अधिक होती है। इसलिए मंद प्रकाश के केतु भी आसानी से इन यंत्रों से देखे जा सकते है। ये दूरदर्शक छोटे होते हैं और इनमे एक विशेषता यह भी होती है, उनसे आकाश का अपेक्षाकृत अधिक भाग एक साथ दिखलाई पडता है। इससे खोज में समय कम लगता है। १९२५ तक लगभग ९०० पुच्छल तारे देखे गए थे। इनमें से लगभग ४०० तो दूरदर्शक के आविष्कार के पहले देखे गए थे और इसलिए वे चमकीले थे। शेष सोलहवी शताब्दी के बाद देखे गये थे। १८८० के बाद प्रति वर्ष लगभग पाँच पुच्छल तारों के देखे जाने का पता चला है। सौ वर्ष मे वस्तुतः पंद्रह-बीस चमकीले पुच्छल तारे देखे जाते है, परंतु इनमें से केवल एक ही दो इतने चमकीले होते हैं कि वे दिन में भी देखे जा सकें। १९१० में दो चमकीले पुच्छल दिखाई पडे थे, जिनमे एक इतना चमकीला था कि वह दिन में भी देखा जा सकता था। उस वर्ष का दूसरा पुच्छल तारा प्रसिद्ध हैली-केतु था।

कुछ केतुओं के नाम उन्हे सर्वप्रथम देखने वालों के नामों पर पड़ गये हैं, जैसे पोनाटी-केतु, एनके-केतु, इत्यादि। छोटे केतुओं का नामकरण वर्ष के आगे अंग्रेजी अक्षर ए, बी, सी डी, आदि लिखने से होता है या वर्ष के आगे रोमन गिनती I, II, III, आदि लिखने से। अक्षरों से प्रथम देखे जाने का क्रम सूचित किया जाता है, रोमन गिनती से सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचने का क्रम। जैसे '१९१० बी' से पता चलता है कि यह केतु पहले-पहल सन् १९१० में देखा गया था और उस वर्ष जितने केतु देखे गये थे, उनमें से यह दूसरा था। '१९१० II' से पता चलता है कि इस नंबर का केतु सन् १९१० में सूर्य की निकटतम दूरी पर पहुँचा और उन सब केतुओं में जो १९१० में अपनी-अपनी कक्षा में चलने पर सूर्य से निकटतम दूरी पर पहुँचे, यह क्रमानुसार दूसरा ग्रह था।

केतु की रचना

सूर्य की परिक्रमा करते समय केतु की पूँछ की दिशा बदलती रहती है—वह सदैव सूर्य से उल्टी दिशा में रहती है। (दाहिनी ओर ऊपर) केतु के तीन भाग प्रदर्शित हैं। नाभि शिर में छिपी है।

कक्षा

हम देख चुके है कि सभी ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त में चलते है। परंतु सभी पुच्छल तारे अत्यंत लंबे दीर्घवृत्त में चलते है। वस्तुतः अधिकांश पुच्छल तारे तो इतने लंबे दीर्घवृत्त में चलते है कि उनके दूसरे छोर के अस्तित्व का हमें पता ही नहीं है। यदि दीर्घवृत्त की सूर्य के पास की चौड़ाई एक रक्खी जाय और उत्तरोत्तर लंबे दीर्घवृत्त बनाए जायँ तो हम अवश्य एक ऐसे दीर्घवृत्त की कल्पना कर सकते है, जिसका दूसरा छोर अनंत दूरी पर हो, या, दूसरे शब्दों में, जिसका छोर कही हो ही नहीं। ऐसी आकृति को परवलय कहते है। बहुत लंबे दीर्घवृत्त और परवलय में सूर्य के आस-पास इतना कम अंतर रहता है कि यह कहना अक्सर कठिन हो जाता है कि कोई केतु वस्तुतः लंबे दीर्घ-वृत्त में चल रहा है या परवलय में। परन्तु इन दोनों कक्षाओं में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दीर्घवृत्त में चलनेवाला केतु लौटकर सूर्य के पास एक बार फिर अवश्य आएगा, परन्तु परवलय में चलनेवाला केतु लौट नही पाएगा। वह बराबर अनंत की ओर चलता ही चला जायगा। यदि किसी कक्षा का मार्ग परवलय से भी

कुछ अधिक खुले मुँह का हो तो वह, सम्भवतः, अतिपरवलय मे चलता होगा और ऐसी कक्षा में चलनेवाला केतु भी कभी फिर लौटकर नहीं आएगा।

थोड़े से केतुओं को छोड अधिकांश केतु परवलय में ही चलते जान पडते है। पुराने ज्योतिषियो का विश्वास था कि सभी केतु परवलय में चलते है और इसलिए वे कभी फिर लौटकर नही आते। प्रसिद्ध गणितज्ञ न्यूटन ने अपने गुरुत्वाकर्षण सिद्धात के अनुसार यह अनुमान किया कि केतुओं को भी सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त में घूमना चाहिए। परंतु वह स्वय कोई दृष्टात नही दे सका। उसके मित्र हैली ने पहले-पहल गणना करके बतलाया कि १६८२ का चमकीला केतु वस्तुतः दीर्घवृत्त में चल रहा था और उसके एक बार चक्कर लगाने में लगभग ७६ वर्ष लगते है। कुछ ज्योतिषियो को उस समय यह बात ऐसी विचित्र जान पडी कि उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यह हैली की चालाकी है—जान-बूझकर केतु के लौटने का समय ७६ वर्ष बाद बतलाया गया है, जिसमे कोई उसे झूठ न सिद्ध कर सके। परंतु पीछे हैली की बात सच्ची निकली और इस केतु का नाम इसीलिए 'हैली केतु' रख दिया गया।

लगभग सवा तीन वर्ष में ही चक्कर लगा लेनेवाला एक केतु भी ज्योतिषियो को ज्ञात है, परंतु वह केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ता है।

थोड़े से ही ग्रह निश्चित रूप से ज्ञात दीर्घवृत्त मे चलते पाए गए है। अधिकांश केतु यदि वस्तुतः दीर्घवृत्त में चलते है, तो इतने लबे दीर्घवृत्त में चलते है कि वे सैकड़ों या हजारो वर्ष मे लौटते होंगे। किसी ग्रह के आकर्षण से ऐसे केतुओं का वेग जब कुछ बढ जाता होगा, तब वे सूर्य की आकर्षण-शक्ति से छूटकर भाग निकलते होंगे। वेग का बढना कोरी कल्पना नहीं है। बृहस्पति के आकर्षण से केतुओं का वेग बढ़ते देखा भी गया है। इसके विपरीत, जब केतु आगे पड़ जाता है और बृहस्पति पीछे, तो बृहस्पति के उल्टे आकर्षण से केतु का वेग घटते भी देखा गया है। ऐसी अवस्था में पहले परवलय में चलते हुए केतु पीछे सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए भी देखे गए है, इसी को 'केतु-बंदीकरण' कहते है। अनंत दूरी से आया केतु इस रीति से "बंदी" हो जाता है और वह फिर अनंत दूरी तक भाग निकलने में असमर्थ रहता है।

पुच्छल तारों की पक्की पहचान केवल उनकी कक्षाओं से होती है, क्योंकि उनका स्वरूप बदला करता है। परंतु कभी-कभी एक ही कक्षा में एक से अधिक केतु भी चलते पाए गए हैं। समझा जाता है कि ऐसे केतु किसी एक बड़े केतु के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से उत्पन्न हुए होंगे। उदाहरणत. १६६८, १८४३, १८८० और १८८२ में चार पुच्छल तारे दिखलाई पड़े, जिनकी कक्षाएँ एक-सी थीं। इनका स्वरूप भी एक-सा था। और ये सभी खूब चमकदार थे। लोगो को संदेह था कि सम्भवतः एक ही केतु बार-बार आकर हमें चार बार दर्शन दे गया है, परंतु गणना से पता चलता था कि एक बार चक्कर लगाने में इसको ६०० या ८०० वर्ष समय लगना चाहिए था। चौथा केतु तीसरे के कुल दो वर्ष बाद ही आया था, इसी से बहुत से लोगों को ऐसा विश्वास हो रहा था कि संभवतः ये चार एक ही केतु के भिन्न-भिन्न टुकड़े है। सौभाग्यवश इसका इन्हे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया, क्योंकि १८८२ वाला केतु देखते-देखते चार टुकडों में विभक्त हो गया, जो सब पुरानी ही कक्षा में चलने लगे।
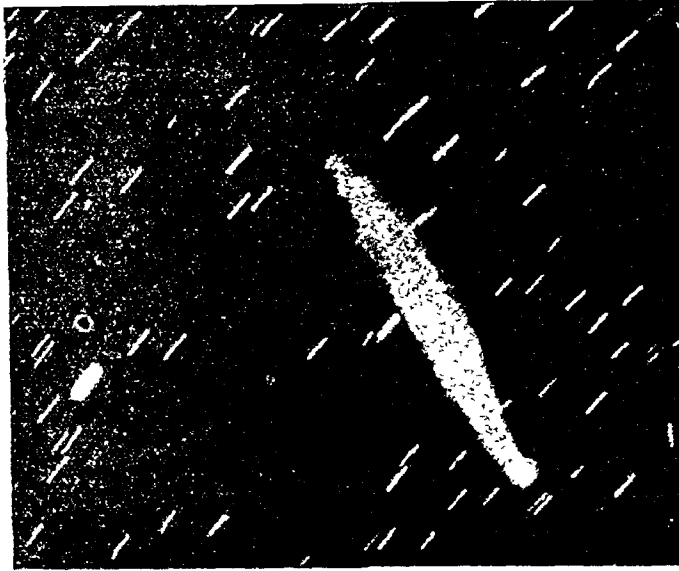
मूरहाउज-केतु (१९०८ III)

काफी देर तक प्रकाश-दर्शन (एक्सपोजर) देने के कारण तारे (पृथ्वी के भ्रमण के फलस्वरूप) फोटो-प्लेट पर लंबे-लंबे-से दिखाई पड रहे है।

केतुओ की कक्षाओ से यह भी निश्चित है कि केतु सौर परिवार के ही सदस्य हैं। तारों के हिसाब से सूर्य बड़े वेग से चल रहा है। जितने केतु सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, वे भी सूर्य के साथ-साथ चल रहे है। जो केतु सूर्य की

ब्रूक का पुच्छल-तारा, नवम्बर (१३, १८९३)

बाईं ओर जो लंबी-सी सीधी सफेद रेखा दिखाई दे रही है वह फोटो लेते समय टूटे हुए एक उल्का के मार्ग की प्रकाश-रेखा है। केतु फोटो के मध्य में नीचे की ओर है। [फोटो—ई० ई० बर्नार्ड द्वारा]

परिक्रमा नहीं कर रहे हैं, वे ऐसी कक्षा में चलते हैं, जो दीर्घ-वृत्त से थोड़ी-सी ही भिन्न रहती है और इस प्रकार वे भी प्रायः सूर्य की ही परिक्रमा करते हुए माने जा सकते हैं। यदि केतु वस्तुतः सौर जगत् के बाहर से आते तो उन सब का या उनमे से अधिकांश का वेग अवश्य इतना अधिक होता कि वे निश्चित रूप से अतिपरवलय में चलते हुए दिखलाई पड़ते।

पुच्छल तारों की मृत्यु

पुच्छल तारों की पूँछ बनानेवाला पदार्थ अवश्य ही धीरे-धीरे निकल जाता होगा। किसी केतु के सब उडन-शील पदार्थ के निकल जाने पर क्या होता होगा? ज्योतिषियों का अनुमान है कि तब केतु अदृश्य हो जाता होगा, उसके रोडे अवश्य पुराने मार्ग में चलते होगे, परन्तु समय पाकर वे और भी अधिक बिखर जाते होगे। इस सम्बन्ध में बीला-केतु का इतिहास शिक्षाप्रद है। इस केतु को दूरदर्शक से पहलेपहल ऑस्ट्रिया के विलहेल्म वॉन बीला ने १८२६ में देखा। गणना करने से पता चला कि यह छोटा-सा केतु छः-सात वर्ष में ही सूर्य का एक चक्कर लगा लेता है। पुराने रजिस्टरो को देखने से पता चला कि यह कई बार पहले भी देखा जा चुका था। १८०५ में यह कोरी आँख से भी देखा गया था। परन्तु १८२६ में यह इतने मंद प्रकाश का था कि कोरी आँख से कभी भी नही देखा जा सका। १८३२ मे यह फिर दिखलाई पडा, परन्तु कोई विशेष बात नही हुई। १८४५ में जब यह दिखलाई पड़ा तो पहले यह साधारण आकृति का था, परन्तु बीस दिन में ही यह तुंबी के आकार का हो गया—बीच मे यह पतला हो गया और उसके दोनों ओर मोटे गोलाकार शिर थे। दस दिन और बीतने पर यह दो भागों में बँट गया और दोनों भाग स्वतंत्र केतु
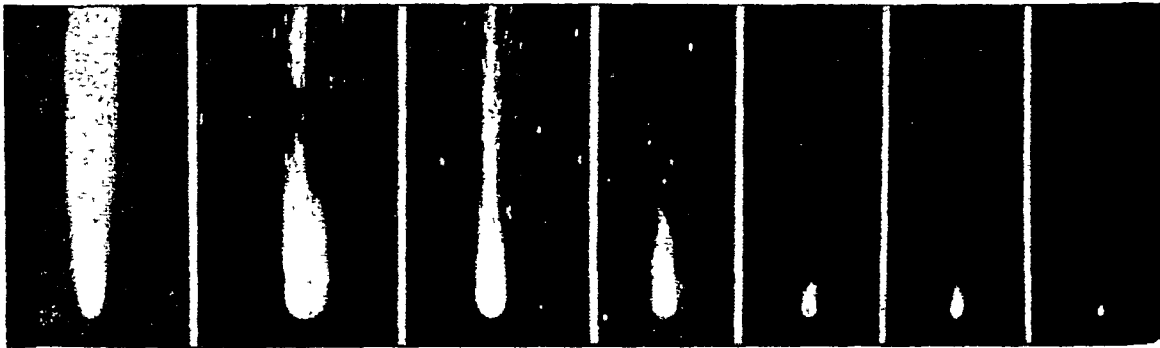
सन् १९१० में हैली-केतु के उदय से अस्त तक भिन्न-भिन्न तिथियों की अवस्थाओं के फोटो

देखिए, किस प्रकार पहलेपहल यह केतु एक प्रकाश-विन्दु-सा दिखाई दिया और ज्यों-ज्यों सूर्य की ओर बढ़ता गया, उसकी पूँछ लंबी होती गई। अंत में उसी क्रम से वह पुनः छोटा होते-होते अस्त हो गया। यह केतु पुनः १९८६ में वापस पृथ्वी और सूर्य के निकट लौटेगा। (फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला')

सुप्रसिद्ध हैली-केतु

यह फोटो भारत ही में १३ मई, १९१०, की रात्रि को सुप्रसिद्ध 'कोडाईकनाल-वेधशाला' में लिया गया था।

की तरह एक ही कक्षा मे चलने लगे। इन दोनों में अलग-अलग पूँछें निकल आई। उनमें नाभियाँ भी उत्पन्न हो गईं। उनमें से कभी एक अधिक चमकदार हो जाता था, कभी दूसरा। इतना ही नही, उन दोनों के बीच कभी-कभी प्रकाश का पुल-सा बँध जाता था।

१८५२ में दोनों फिर लौटे, परन्तु अब उनके बीच की दूरी बहुत बढ गई थी। थोड़े समय बाद वे सदा के लिए अदृश्य हो गए, यद्यपि उनकी कक्षा अच्छी तरह ज्ञात थी और उनके लिए खूब खोज भी की गई।

परतु यह न समझना चाहिए कि बीला-केतु की तरह सभी पुच्छल तारो की मृत्यु शीघ्र हो जाती है या हो जायगी। हैली केतु हजारो वर्ष से एक समान चमकता आ रहा है। एनके-केतु, जो केवल दूरदर्शक मे ही दिखलाई पडता है, लगभग सवा तीन वर्ष मे ही चक्कर लगा लेता है और इसलिए यह कई बार देखा गया है, परंतु इसकी चमक मे जरा भी कमी होते नही देखी गई है।

पुच्छल तारों से मुठभेड़

गत वर्षो मे पृथ्वी और पुच्छल तारो मे मुठभेड हो जाने की पूर्व-सूचना समाचारपत्रो में छपने के कारण कई बार जनता मे सनसनी फैल चुकी है, परंतु ये सब सूचनाएँ गलत थी। केवल १९१० मे पृथ्वी हैली-केतु की पूँछ में पड गई थी। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि भविष्य में कभी किसी पुच्छल तारे के गिर से पृथ्वी की मुठभेड हो जाय। इसका परिणाम क्या होगा, यह ठीक-ठीक तो नही बतलाया जा सकता, परतु हम अनुमान कर सकते है कि मुठभेड होने पर पुच्छल तारे के रोड़े असंख्य उल्काओं (टूटते हुए तारे) के रूप में गिरेगे। इनमें से अधिकांश तो हमारे वायुमंडल मे ही भस्म हो जायँगे, परन्तु बड़े-बड़े ढोके अवश्य पृथ्वी तक पहुँच जायँगे। जिधर यह कांड होगा उधर जान और माल की भारी हानि हो सकती है, परन्तु इसकी कोई भी संभावना नहीं जान पडती कि आघात की भीषणता से पृथ्वी चकनाचूर हो जाय। केतुओं की पूँछों मे विषैली गैसें अवश्य रहती है, परंतु उनमे पड़ जाने से हमारा कोई नुकसान नहीं होता। कारण यही जान पडता है कि पूँछ मे इन गैसो की मात्रा बहुत कम होती है। शायद हमारे वायुमंडल के ऊपरी भागों मे ऑक्सिजन की अधिकता इन विषैली गैसों को नष्ट भी कर डालती होगी। १८६१ मे और फिर १९१० में पृथ्वी निश्चय रूप से बड़े केतुओं की पूँछ में पड गई थी, परन्तु सिवाय गणना के अन्य किसी भी रीति से हमें इसका पता न चला।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अतरिक्ष मे इतने केतु भी नही है कि उनसे पृथ्वी के लड़ जाने का कोई विशेष डर हो। न्यूकॉम्ब का कहना है कि यदि कोई आँख मूँदकर आकाश मे गोली चला दे तो उस गोली से किसी उड़ती चिड़िया के मर जाने की संभावना पृथ्वी के केतु से टकराने की सभावना से कही अधिक है!

कुछ प्रसिद्ध केतु

(१) सन् १८४३ का केतु—फरवरी, १८४३, में एक पुच्छल तारा सूर्य के पास ही छोटी तलवार के समान दिखलाई पड़ा। यह इतना चमकीला था कि दोपहर में भी सूर्य को ओट में कर देने पर इसकी पूँछ चंद्रमा के व्यास से दस गुनी लंबी दिखलाई पड़ती थी। थोड़े ही दिनों मे इसकी पूँछ बहुत बड़ी हो गई और तब यह क्षितिज से लेकर खस्वस्तिक की ओर आधी दूर तक पहुँच जाती थी। यह केतु सूर्य से बहुत समीप होकर—कुल ३६,००० मील की दूरी पर से—निकला। परंतु उस समय यह ३६६ मील प्रति सेकंड के वेग से चल रहा था। इसी से यह सूर्य में जा गिरने से बच गया। आधी परिक्रमा में इसे कुल सवा दो घंटे लगे, यद्यपि शेष परिक्रमा मे निस्संदेह इसे सैकड़ों वर्ष लगेंगे।

(२) डोनाटी केतु—यह बहुत बड़ा और अत्यंत चमकीला केतु है। उन्नीसवीं शताब्दी में यह केतु ११२ दिन तक कोरी आँख मे दिखलाई पड़ता रहा। दूरबीन से तो यह ९ महीने तक दिखलाई पडा। इसका परिक्रमण-काल लगभग २००० वर्ष है।

(३) हैली-केतु—इसकी कक्षा की गणना का इतिहास पहले लिखा जा चुका है। सन् १९८७ ईस्वी पूर्व से लेकर १९१० तक यह केतु २९ बार सूर्य के निकट आया होगा। अधिक चमकीला होने के कारण इसके प्रत्येक दौरे के संबंध में किसी-न-किसी देश के साहित्य में चर्चा मिली है। गणना से निकले समयों पर ठीक स्थिति में इसके दिखलाई पडने तथा गणना से निकले मार्गो में ही इसके चलने से सिद्ध है कि यही केतु बार-बार देखा गया था। पुराने वर्णनो से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भी यह केतु वैसा ही चमकीला था, जैसा अब है। प्राचीन चीनी पुस्तको में इसका ऐसा सूक्ष्म और सच्चा वर्णन मिलता है कि आश्चर्य होता है! आधुनिक काल मे १९१० में यह केतु अच्छी तरह देखा गया। २० मई को यह पृथ्वी से निकटतम दूरी पर पहुँचा, परन्तु उस समय यह ठीक सूर्य के सामने था। इसके कई दिन पहले और पीछे इसकी

पूँछ बहुत लम्बी और चमकीली दिखलाई पड़ती थी। १८ मई को पृथ्वी इसकी पूँछ में पड़ गई थी। इस केतु के भिन्न-भिन्न तिथियों के अनेक फोटो पृष्ठ १२५० पर दिए गए हैं। एक फोटो पृष्ठ १२५१ पर भी दिग्दर्शित है।

(४) मूरहाउज-केतु— यह १९०८ में अमेरिका की यरकिज वेधशाला के एक ज्योतिषी डैनियल मूरहाउज द्वारा पहले-पहल देखा गया था। इसीलिए इसका नाम मूरहाउज केतु पड़ा। इसका एक फोटो पृष्ठ १२४८ पर दिया गया है।

(५) ब्रूक-केतु—१९११ में यह केतु कोरी आँख से ही आकाश में दिखाई पड़ता रहा। उस समय इसके बड़ी लंबी पूँछ थी। इसका परिक्रमण-काल लगभग ७ वर्ष है। १८८६ में यह केतु बृहस्पति ग्रह की आकर्षण-शक्ति द्वारा प्रभावित होकर अपनी कक्षा या भ्रमण-मार्ग में बहुत विचलित हुआ था। इस केतु का भी एक फोटो इसी लेख के साथ पृष्ठ १२४९ पर दिया गया है। यह फोटो प्रसिद्ध ज्योतिषी बरनार्ड द्वारा लिया गया था।

उल्काएँ

ग्रहों, उपग्रहों और केतुओं के अतिरिक्त हमारे सौर मण्डल के एक और विचित्र सदस्य हैं, जिन्हें हम उल्काएँ या टूटते हुए तारे कहकर पुकारते हैं। ये आकाशीय पिण्ड यथार्थ में क्या हैं, और आधुनिक ज्योतिषी उनके बारे में क्या-क्या बातें जान सके हैं, आइए, इस लेख में देखें।

रात को अक्सर तारे टूटकर गिरते हुए जान पड़ते हैं। ये ही उल्काएँ हैं। अधिकांश उल्काएँ तो हमारे वायुमंडल में ही भस्म हो जाती हैं और उनका कोई अंश पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाता, परन्तु कुछ उल्काएँ बहुत बड़ी होती हैं। गिरते समय उनसे प्रचंड ज्वाला-सी निकलती है और सारी भूमि प्रकाशित हो उठती है। वायु को चीरते हुए भयानक वेग से उनके चलने का शब्द कोसों तक सुनाई पड़ता है और पृथ्वी पर गिरने की धमक भूकंप-सी जान पड़ती है। सौभाग्य की बात है कि ऐसी बड़ी उल्काएँ कभी ही कभी गिरती हैं, अन्यथा उनके मारे हमारा रहना ही कठिन हो जाता।

जैसा हम आगे देखेंगे, उल्काएँ वस्तुतः छोटे-बड़े पिंड हैं, जो अंतरिक्ष में भटकते रहते हैं। जब कभी पृथ्वी उनमें से किसी पिंड के पास आ जाती है, या वह पिंड पृथ्वी के पास आ जाता है, तो वह पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण समीप खिंच आता है। तब उसका वेग इतना बढ़ जाता है कि वायु के संघर्ष से उसकी सतह तप्त हो जाती है। फलतः उसमें से गैसें निकल पड़ती हैं, जो जल उठती हैं। इन्हीं जलती हुई गैसों के कारण उल्काएँ हमें दिखलाई पड़ती हैं, अन्यथा वस्तुतः वे इतनी ठंढी होती हैं कि वैसे उनमें से कुछ प्रकाश नहीं निकलता। कभी-कभी उल्काएँ हमारे वायुमंडल की रगड़ से फट भी जाती हैं और तब उनमें बिजली के तड़पने के समान शब्द होता है।

उल्काओं की जातियाँ

अपने स्वरूप के अनुसार उल्काओं की साधारणतः तीन जातियाँ मानी जाती हैं। यदि उल्का फीकी, केवल तारे की

९ अक्टूबर, १९३३, की रात को जर्मनी में देखी गई एक अद्भुत उल्का-झड़ी का फोटो

कभी-कभी आकाश में एक साथ ही तड़ातड़ ऐसी उल्काएं टूटने लगती हैं कि उनकी झड़ी-सी लग जाती है और एक भयप्रद दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। ऊपर के फोटो में एक ऐसी ही उल्का-झड़ी का चित्र है, जो घंटों तक ऊपर उल्लिखित तिथि की रात को आकाश में अपना आतिशबाजी का खेल दिखाती रही थी। यह फोटो जर्मनी में लिया गया था।

तरह जान पड़ती है, तो उसे छोटी उल्का या 'टूटता तारा' कहते हैं। यदि उल्का इतनी बड़ी हुई कि उसका कोई अंग पृथ्वी तक पहुँच जाय, तो उसे 'उल्का-प्रस्तर' कहते हैं। यदि उल्का बड़ी होने पर भी आकाश ही में फटकर चूर-चूर हो जाय तो उसे साधारणत: 'अग्नि-पिंड' कहते हैं।

छोटी उल्काओं में उन सब उल्काओं की गणना है, जो केवल अत्यन्त मंद प्रकाश के तारे से लेकर शनि या बृहस्पति जैसे ग्रहों की तरह चमक पाती हैं। ऐसी उल्काएँ प्रति रात्रि हमें दिखलाई पड़ती हैं। अग्नि-पिंड बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। ये कम-से-कम बृहस्पति या शुक्र के समान चमकीले होते हैं और कभी-कभी तो पूर्णिमा के चंद्रमा से भी कई गुने बड़े और उससे कहीं अधिक चमकीले होते हैं। ऐसे बड़े अग्नि-पिंड के हवा को चीरते हुए चलने का शब्द बादलों की गड़गड़ाहट-सा जान पड़ता है और जब ये फटते हैं, तो जान पड़ता है कि कान का पर्दा ही फट जायगा। जहाँ तक पता लगाया जा सका है, यह ज्ञात हुआ है कि अग्नि-पिंड के फटने पर इसके इतने छोटे टुकड़े हो जाते हैं कि वे हमारे वायुमंडल में ही भस्म हो जाते हैं और उनका कोई अंश पृथ्वी तक नहीं पहुँचता। अनुमान किया जाता है कि उल्काओं की इन तीन जातियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है; केवल छोटे-बड़े होने के कारण ही उनके रूप में इस प्रकार का अन्तर पड़ता है। तो भी उपर्युक्त वर्गीकरण में सुविधा है।

उल्का-प्रस्तरों का उत्पात

उल्का-प्रस्तरों के गिरने पर पृथ्वी पर कैसा उत्पात होता है, इसका कुछ अंदाज हमें एक-दो उदाहरणों से मिल सकता है। साइबेरिया के येनीशाई नामक एक छोटे से प्रांत में ३० जून, १९०८, को सात बजे सबेरे एक अत्यन्त प्रचण्ड उल्का देखी गई। सूर्योदय हो चुका था; तो भी इसकी चमक अद्वितीय थी। हजारों मनुष्यों ने इसे देखा और लाखों ने इसकी गड़गड़ाहट सुनी। इसके गिरने पर पृथ्वी काँप उठी। आस-पास के शहरों में भूकम्प के स्वयंलेखन-यंत्रों में पृथ्वी का कंपन अंकित हो गया। परन्तु लोगों के बहुत चेष्टा करने पर भी उस स्थान का पता न चला, जहाँ उल्का-प्रस्तर गिरा था। पीछे इसका कारण ज्ञात हुआ। बात यह थी कि उल्का के प्रचण्ड तेज और भयानक शब्द से लोगों को यही धारणा हुई कि प्रस्तर कहीं पास में ही गिरा होगा, परन्तु वस्तुत: वह एक प्राय: निर्जन स्थान में येनीशाई से सौ मील की दूरी पर गिरा था।

उल्का-रूपी अग्निबाण का प्रकाश-मार्ग

२। घंटे तक फोटो लिये जाने पर जहाँ पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण प्लेट पर गोल रेखाओं द्वारा प्रदर्शित नक्षत्रों का यह अनोखा चित्र खिंच आया, वहाँ उसी समय आकाश में टूटती हुई एक उल्का का भी फोटो उस पर उतर आया, जिसका प्रकाश-मार्ग सीधी रेखा के रूप में चित्र को आड़े काटते हुए दिखाई दे रहा है।

पचास मील तक सर्वनाश

कई कारणों से वैज्ञानिक १९२१ के पहले इस उल्का-प्रस्तर की खोज में नहीं निकल सके। १९१४–१८ का प्रथम योरपीय महासमर भी इनमें से एक कारण था। १९२१ में खोज तो

को गई, परन्तु सफलता नही मिली। लोग वहाँ तक न पहुँच सके, जहाँ उल्का-प्रस्तर गिरा था, क्योंकि मार्ग बड़ा दुरूह था। १९२७ में वैज्ञानिकों का एक दूसरा दल इसी खोज के लिए निकला और असह्य कठिनाइयाँ झेलता हुआ अन्त में उल्का-प्रस्तर के पतन-स्थान तक पहुँच गया। तब पता चला कि दुर्घटना अनुमान से कही अधिक भयानक थी। वह स्थान पहले घना जंगल था। उल्का-प्रस्तर गिरने के बाद दूर तक भूमि तृणरहित हो गई थी। कई मील के घेरे मे पृथ्वी ऐसी फट और खुद गई थी, जैसे किसी कल्पनातीत भीमकाय हल से उसे जोत दिया गया हो! ज्वालामुखी पर्वतों के मुख के समान कई गड्ढे भी बन गए थे। पतन-स्थान से पचास मील तक स्थित सब मकान गिर गए थे और मनुष्य मर गए थे। एक व्यक्ति ने बतलाया कि उसके एक सम्बन्धी के पास डेढ़ हजार पशु थे, परन्तु उल्का-प्रस्तर के गिरने के बाद उनका कही पता ही नहीं चला; केवल एक-दो पशुओं की जली-भुनी लाशें मिली थी!

इस पर भी वहाँ कोई एक बड़ा-सा पत्थर नहीं मिला। अनुमान किया जाता है कि वस्तुतः एक प्रस्तर नही गिरा, वरन एक प्रस्तर-समूह गिरा होगा। सब पत्थर भूमि में बहुत गहरे धँस गए होंगे और इसीलिए वे दिखलाई नही पड़ते। यह विचार किया गया है कि कभी खोदकर कुछ पत्थर निकाले जायँ। कुछ तो इसमे विशेष आर्थिक लाभ का भी स्वप्न देखते है, क्योंकि कभी-कभी उल्का-प्रस्तर प्रायः शुद्ध लोहा रहता है। यदि इस उल्का की भी बनावट ऐसी ही है तो उस लोहे से काफी लाभ होगा, क्योंकि अनुमान किया जाता है कि हजारों टुकड़े निकलेंगे, जिनमे से कुछ तो तीन-तीन हजार मन के होंगे!

अरिजोना का गड्ढा

अरिजोना मे एक गड्ढा है, जो निस्संदेह किसी उल्का-समूह के गिरने के कारण बना है। इसका व्यास एक मील से थोड़ा ही कम है। इसकी दीवार भीतर से लगभग ६०० फीट ऊँची है। बाहर से, भूमि के उठ आने के कारण इस गड्ढे की दीवार कुल १५० फीट ही ऊँची है। इस गड्ढे के आस-पास पाँच मील तक हजारों छोटे-छोटे उल्का-प्रस्तर मिलते है, परंतु बड़े-बड़े प्रस्तर निस्संदेह भूमि के भीतर धँस गए होंगे। जमीन को बरमे से छेदकर बानगी निकालने पर पता चला है कि गड्ढे के नीचे पृथ्वी कई सौ फीट तक चूर्ण हो गई है। परंतु अभी तक उन प्रस्तरो का पता नही चला, जिनके कि कारण यह गड्ढा बना होगा। लोगों का अनुमान है कि इसका कारण यह है कि प्रस्तर शायद तिरछे गिरे होंगे। इसलिए वे गड्ढे
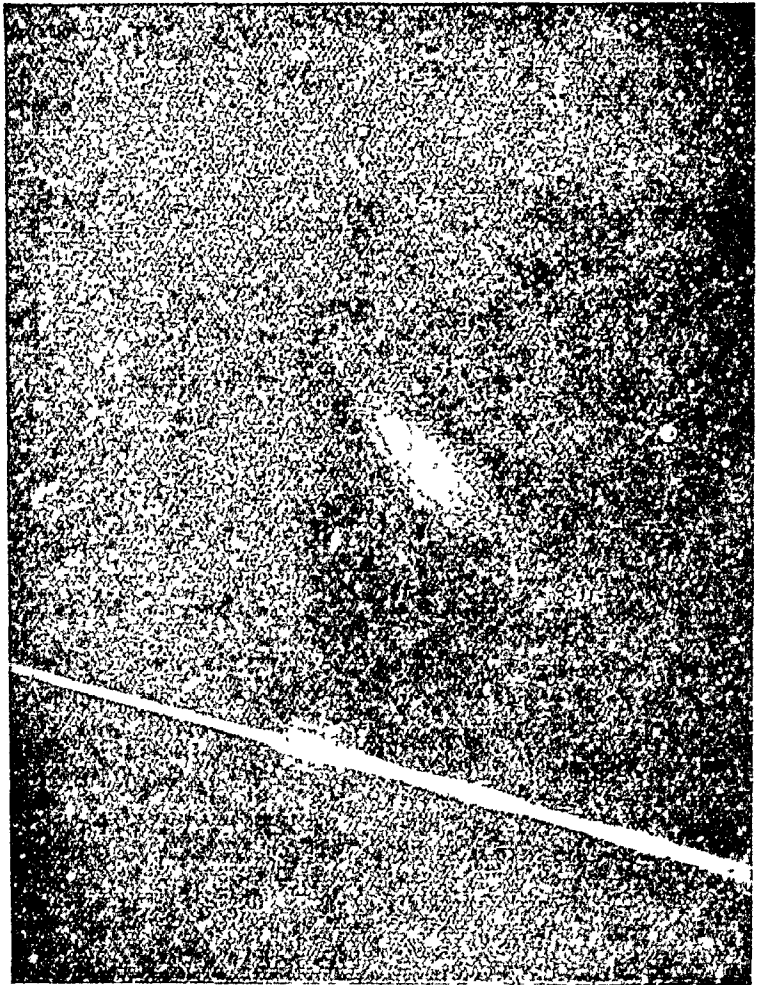
आकाश में टूटते हुए एक अग्निपिण्ड के प्रकाश-मार्ग का फोटो

अग्निपिण्ड का प्रकाश-मार्ग चित्र के नीचे दिखाई दे रही सीधी रेखा द्वारा प्रदर्शित है। ऊपर नक्षत्रखचित आकाश में एक विशाल नीहारिका दिखाई दे रही है। यह दूरदर्शक-कैमेरा द्वारा लिया गया फोटो है। देखिए, फोटो में अग्निपिण्ड की प्रकाश-रेखा की मोटाई कहीं कम कहीं ज्यादा हो गई है।

की पेंदी के नीचे न होंगे, वल्कि किसी एक बगल होंगे। इस उल्का-प्रस्तर समूह को गिरे कई हजार वर्ष हो गए होंगे, क्योंकि अब इस गड्ढे के किनारे ऐसे वृक्ष उगे हुए है, जिनकी आयु कदापि ७०० वर्ष से कम नही है।

ऐतिहासिक उल्का-प्रस्तर

प्राचीन भारत के इतिहास में उल्का-प्रस्तरो के गिरने की चर्चा कही नही मिलती, परतु अन्य देशो की पुस्तको में कहीं-कही इनकी चर्चा आ गई है। बाइबिल में एक स्थान पर लिखा है कि ईश्वर ने आकाश से बड़े-बड़े पत्थर गिराए। सभवत. ये उल्का-प्रस्तर ही रहे होंगे। प्राचीन रोमन ग्रंथ-कार लिवी ने ६५० ईस्वी पूर्व मे उल्का-प्रस्तरों के गिरने की बात लिखी है। लोगों ने इसे देवताओं के कोप का परिणाम समझा और इसलिए ९ दिन का व्रत रखने की आज्ञा कर दी गई। चीनी पुस्तको मे भी कही-कही पत्थर बरसने की बात लिखी है।

सी० पी० ऑलिवियर अपनी 'मीटियर्स' नामक पुस्तक मे लिखता है इस बात के प्रमाण मिलते है कि मूर्तिपूजा के अति प्रारभिक रूप में उल्का-प्रस्तरो की पूजा भी शामिल थी। वह यह बात भी लिखता है कि वह पवित्र पत्थर जो मक्का के काबा मे उत्तर-पूर्वी कोने मे लगा हुआ है एक उल्का-प्रस्तर ही है।

आधुनिक समय मे गिरे भारत के कई उल्का-प्रस्तर कलकत्ते के सगृहालय (अजायबघर) में सुरक्षित रक्खे गए हैं। नवीन प्रस्तरों का इतिहास जिओलॉ-

उल्का की जीवन-कहानी

आरभ में उल्कापिंड एक सामान्य ठंडे प्रस्तरपिंड के रूप में रहता है, जैसा चित्र की सबसे ऊपरी पंक्ति में प्रदर्शित है। तदनन्तर यदि वह हमारे वायुमडल में प्रवेश कर गया, तो घर्षण के कारण उसमें भयकर ऊष्मा और प्रकाश उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह जल उठता है और भीषण गति से दौड़ता हुआ अंत में राख हो जाता है, जैसा कि चित्र मे भिन्न-भिन्न चार पंक्तियों में दिखाया गया है। यदि वायुमंडल ही में वह जलकर राख नहीं हो जाता, तो कभी-कभी पृथ्वी पर भी गिर पड़ता है।

जिकल सर्वे की पत्रिका में प्रकाशित होता रहता है। परन्तु कोई विशेष बड़ा प्रस्तर अभी तक हमारे यहाँ नहीं मिल सका है।

उल्का-प्रस्तरों से डर

यह असंभव नहीं है कि भविष्य मे कभी ऐसा उल्कापात हो कि उसके कारण कोई बड़ा शहर क्षण भर मे मटियामेट हो जाय, परंतु इस बात को देखते हुए कि भारी पत्थर कभी-ही-कभी गिरते हैं और पृथ्वी इतनी अधिक बड़ी है, इसकी विशेष आशंका नही जान पड़ती। सौभाग्य की बात है कि पृथ्वी को चारो ओर से वायुमंडल घेरे हुए है। यह वायुमंडल एक कवच का काम देता है। अधिकांश उल्काएँ इसी के घर्षण से राख हो जाती हैं। यदि वायुमंडल न होता तो अक्सर समाचारपत्रों में हमें यह पढ़ने को मिलता कि अमुक व्यक्ति सड़क पर चला जा रहा था और अचानक उल्का-प्रस्तर की चोट से वह प्राण खो बैठा! अनेक व्यक्तियों के एक साथ मरने की सूचना भी कभी-कभी मिलती, क्योंकि एक ही स्थान में एक ही समय पर अनेक उल्का-प्रस्तर कई बार गिरते देखे गए है। १८३० में फ्रांस के एक स्थान में एक बार दो-तीन हजार पत्थर गिरे। वहाँ के निवासी व्याकुल हो गए। पोलैंड के एक स्थान मे एक बार लगभग एक लाख पत्थर गिरे थे। कहते हैं, १९ जुलाई, १९१२, को अरिजोना में चौदह हजार पत्थर गिरे थे। पत्थरों की संख्या कुछ तो हमारे वायुमडल में उनके चूर-चूर हो जाने से बढ़ जाती है, परंतु यह अधिक संभव है कि आरंभ में

ही कई पत्थर एक साथ ही चलते हैं। जो अग्निपिंड हमें चंद्रमा के समान बड़े दिखलाई पड़ते हैं, वे एक ही पत्थर न होते होंगे, अन्यथा वे वायु में ही भस्म हो जाते। अवश्य ही ऐसे अग्निपिंड उल्का-समूह होते होंगे, जो पास-पास रहने के कारण और अपने अत्यंत तेज के कारण हमें एक पिंड के समान दिखलाई पड़ते हैं।

उल्का-झड़ी

केवल उल्का-प्रस्तर ही समूहों में नहीं चलते। कभी-कभी छोटी-छोटी उल्काएँ भी सैकड़ों-हजारों की संख्या में देखी जाती हैं। इस घटना को 'उल्का-झड़ी' कहते हैं। कभी-कभी घंटों तक उल्का-झड़ी लगी रहती है। एक दर्शक ने एक उल्का-झड़ी का निम्न शब्दों में वर्णन किया है :—

"नवम्बर, १७९९ को तीन बजे तड़के लोगों ने मुझे उल्कापात देखने के लिए जगाया। घटना उत्कृष्ट और अति भयानक थी। सारा आकाश ऐसा जान पड़ता था, मानों आतिशबाजी के बाणों से प्रकाशित हो उठा हो। यह घटना दिन निकल आने के बाद केवल सूर्य के प्रकाश से ही बंद हुई। प्रति क्षण उल्काएँ वैसी ही असंख्य जान पड़ती थीं जैसे तारे और प्रत्येक दिशा की ओर वे उड़ रही थीं। केवल वे पृथ्वी से आकाश की ओर नहीं जा रही थीं। वस्तुतः, सभी उल्काओं का मार्ग पृथ्वी की ओर ही थोड़ा-बहुत झुका-सा जान पड़ता था और जिस जहाज पर हम थे, उसके ऊपर भी कुछ खड़ी गिरती जान पड़ीं, यहाँ तक कि मैं बराबर डर रहा था कि दो-चार हम लोगों के बीच भी आ गिरेंगी। × × × × पीछे मुझे मालूम हुआ कि यह दृश्य बहुत दूर तक दिखलाई पड़ा।"
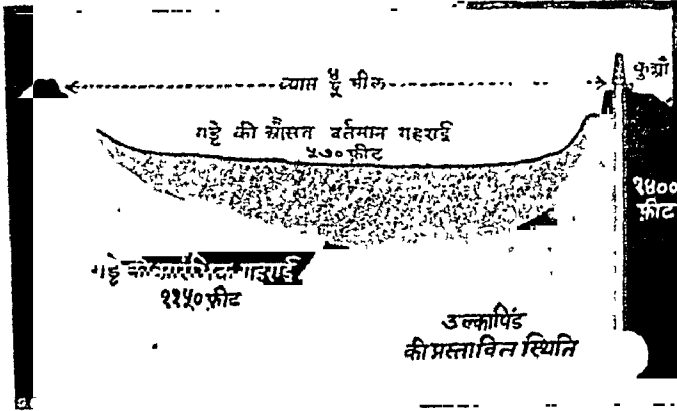
अरिजोना के प्रसिद्ध गड्ढे का मानचित्र

उल्कापात द्वारा निर्मित अरिजोना के महान् गड्ढे की गहराई आरंभ में ११५० फ़ीट से कम न रही होगी, जैसी चित्र में प्रदर्शित है। धरती में कुआँ-सा खोदकर १४०० फ़ीट की गहराई तक गिरे हुए उल्का-प्रस्तर की खोज की गई है। पर अभी तक उसका पता नहीं लग पाया है।

इस उल्का-झड़ी के चौंतीस वर्ष बाद फिर ऐसी ही झड़ी देखने में आई। एक दर्शक ने लिखा कि "आज सुबह बड़े तड़के आकाश में हमें उल्काओं का आश्चर्यजनक दृश्य देख पड़ा। लेखक का ध्यान इस ओर लगभग पाँच बजे आकर्षित किया गया। उस समय से लेकर सूर्योदय तक इनका स्वरूप अद्भुत और अति शोभायमान था। मैंने इस प्रकार का जो कुछ भी पहले देखा था, उससे यह कहीं बढ़कर था। इस दृश्य का कुछ अनुमान करने के लिए पाठक को उल्काओं की लगातार वर्षा की कल्पना करनी चाहिए। ये बाण की तरह थीं और आकाश के एक बिंदु से चारों ओर फैलती थीं। × × × × उल्काएँ भिन्न-भिन्न चमक की थीं। कुछ तो केवल बिंदु-सरीखी थीं। कुछ बृहस्पति से या शुक्र से भी बड़ी और चमकदार थीं। एक तो लगभग चंद्रमा के बराबर थी। प्रकाश की चमक ऐसी तेज थी कि सोये हुए मनुष्य जग उठते थे।"

यह उल्का-झड़ी केवल तड़के ही नहीं, ९ बजे रात के कुछ पहले से आरंभ हुई थी और अनुमान किया गया था कि प्रति घंटे कोई दस हजार उल्काएँ गिरती रही होंगी।

ऊँचाई

उल्काएँ कितनी ऊँची होती होंगी, इस प्रश्न पर लोगों की सम्मतियाँ पहले बड़ी विचित्र थीं। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के अंत में दो जर्मन विद्यार्थियों ने उल्काओं की दूरी नापी। उन्होंने उसी रीति का प्रयोग किया, जिससे क्षेत्र-मापक (सरवेयर) अगम्य स्थानों की दूरी निकालता है। उनके बाद कई दूसरों ने भी दूरी नापी। इन सब वेधों से पता चला कि उल्काएँ जब हमें पहले दिखलाई पड़ती हैं, तो लगभग ७० मील की ऊँचाई पर रहती हैं और अधिकांश उल्काओं का अंत ५० मील की ऊँचाई ही पर हो जाता है। इनका वेग सौ, सवा सौ, मील प्रति सेकंड के लगभग होता है। ठीक गोल न होने के कारण बहुत-सी उल्काएँ फिरकी की तरह नाचती हुई गिरती हैं। बहुत चमकीली उल्काओं के मार्ग में उनके गुजरने के बाद कभी-कभी कुछ धुआँ-सा रह जाता है, जो कुछ समय तक दिखलाई पड़ता रहता है।
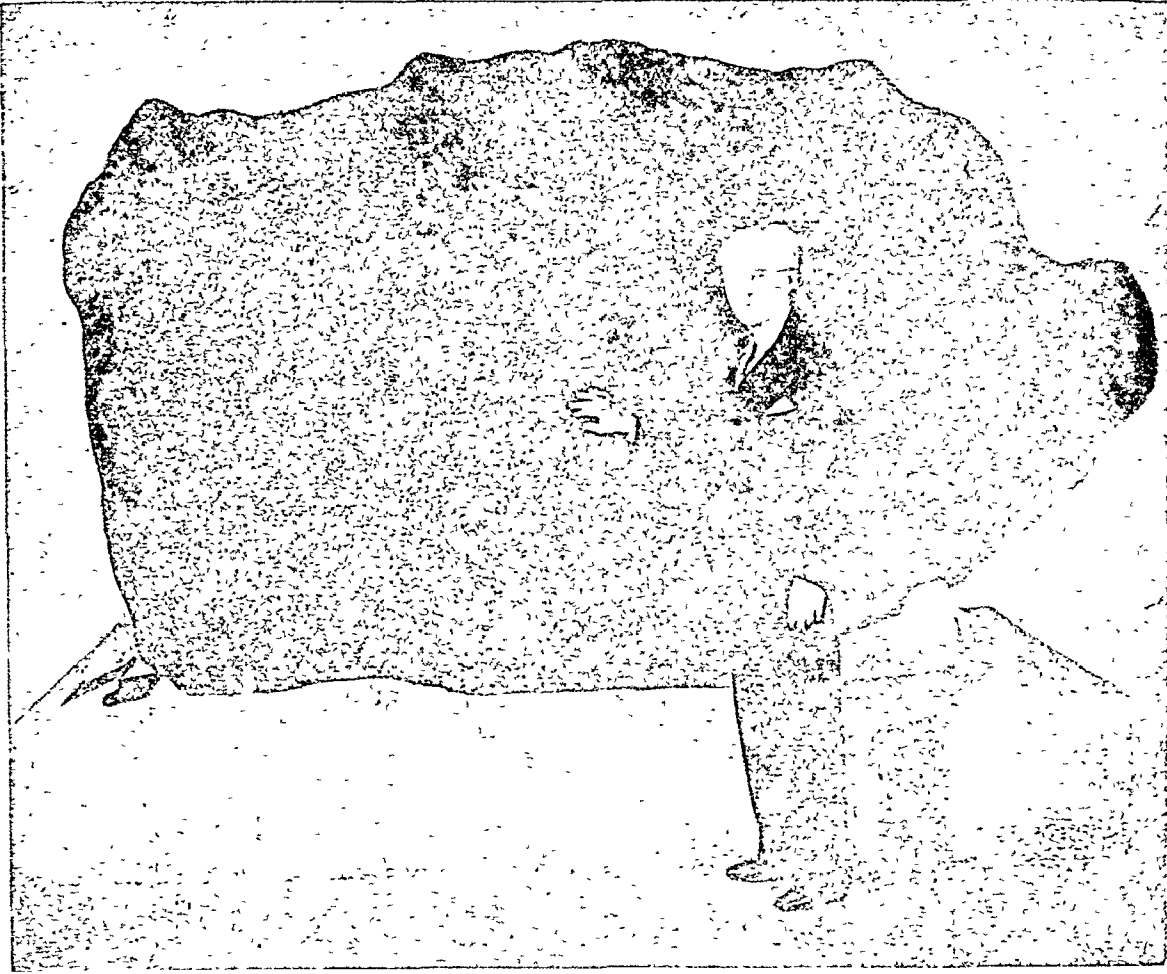
अब तक पाया गया संसार का सबसे बड़ा उल्का-प्रस्तर

यह अमेरिका के न्यूयार्क शहर के एक अजायबघर में सुरक्षित है और वजन में ३७ टन अर्थात् लगभग १००० मन है। यह भीमकाय आकाशीय वज्र उत्तरी ध्रुव की खोज करनेवाले सुप्रसिद्ध एडमिरल पेरी को ग्रीनलैंड के हिमाच्छादित द्वीप में पड़ा मिला था। इसके आकार का कुछ अनुमान आप समीप खड़े हुए व्यक्ति की ऊंचाई द्वारा कर सकते हैं। (फोटो—'अमेरिकन म्यूजियम आफ नेचुरल हिस्ट्री')

उल्का-केंद्रों का मार्ग

यदि उल्काओं का मार्ग नक्षत्र-चित्रों पर खींचा जाय तो पता चलता है कि बहुत-सी उल्काएँ एक ही बिन्दु से चलती हैं। आरंभ में अदृश्य रहने के ही कारण वे हमें एक बिंदु से आती हुई नहीं जान पड़तीं। केवल उल्का-झड़ियों के समय ही उनके एक बिंदु से चलने का आभास हमें मिलता है। उस बिंदु को, जहाँ से उल्काएँ चलती हुई मानी जा सकती हैं, 'संपात-मूल' कहते हैं।

बहुत-से वेधों का मानचित्र खींचने पर एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई कि ये संपात-मूल नक्षत्रों (तारों) के बीच उसी नियम से चलते हैं, जिससे कि केतु चलते हैं। यही नहीं, कुछ संपात-मूल तो ठीक उन्हीं कक्षाओं में चलते हैं, जिनमें कुछ परिचित केतु अदृश्य होने के पहले चलते थे। उदाहरणतः, एक उल्का-संपात-मूल ठीक प्रसिद्ध बीला केतु के मार्ग में चलता हुआ मिला है। बीला केतु का इतिहास पुच्छल तारों के प्रकरण में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है और वहाँ बतलाया जा चुका है कि यह केतु देखते-देखते एक बार टूट गया था और अब कई वर्षों से वह एकदम अदृश्य है। तो फिर प्रश्न यह उठता है कि क्या ऊपर उल्लिखित उल्का-संपात मूल कदाचित इसी केतु का भग्नावशेष तो नहीं है? अधिक सम्भावना यही जान पड़ती है।

उल्काएँ क्या हैं ?

उल्का-संपात-मूल की उपर्युक्त गति के कारण समझा जाता है कि उल्काएँ वस्तुतः केतुओं के ही टुकड़े या अंग हैं। इस संबंध में यह अनुमान किया जाता है कि केतुओं के मार्ग में असंख्य रोड़े और ढोंके बिखर जाते होंगे, क्योंकि (जैसा हम केतुओं पर विचार करते समय देख चुके हैं) केतु ठोस नहीं होते। वे रोड़ों और ढोंकों के समूह होते हैं। जब कभी पृथ्वी किसी केतु के मार्ग के पास से होकर जाती है, तो कुछ रोड़े आकर्षित हो आते हैं। ये रोड़े भी अवश्य ही केतुओं के मार्गों में चला करते होंगे। कहीं-कहीं रोड़ों के घने समूह भी होते होंगे। वे ही संपात-मूल की तरह हमें जान पड़ते होंगे। रोड़े शब्द से यह न समझना चाहिए कि सभी टुकड़े कंकड़ के रोड़ों के बराबर होते होंगे। जैसा कि केतुओं के संबंध में बतलाया गया है, ये सरसों से भी छोटे आकार से लेकर सैकड़ों-हजारों मन तक के वजन के बड़े-बड़े रोड़े और ढोंके होते होंगे।

अब उल्का-झड़ियों की उत्पत्ति की भी बात समझ में आ सकती है। जब कभी हमारी पृथ्वी किसी पुराने केतु के मार्ग के बहुत समीप होकर जाती होगी और वहाँ रोड़ों का समूह बहुत घना होता होगा, तो ये रोड़े हमें उल्का-झड़ी के रूप में दिखलाई पड़ते होंगे। उल्काओं के समूहबद्ध होकर चलने का कारण भी इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। समूह के विभिन्न पिंड आरंभ में आस-पास रहते हैं और पृथ्वी की ओर खिंचने पर भी वे आस-पास ही रह जाते हैं।

उल्काओं के प्रकाश से उनकी तौल का भी अनुमान किया गया है। पता चला है कि अधिकांश उल्काएँ सरसों के समान छोटी होती होंगी। अग्निपिंड और उल्का-प्रस्तर अवश्य ही बहुत बड़े होते होंगे। सबसे बड़ा उल्का-प्रस्तर, जो इस समय तक पाया गया है, वह है जो अमेरिका के एक संग्रहालय में रक्खा है। यह ग्रीनलैंड से लाया गया था और लगभग १००० मन का है। पिछले पृष्ठ पर इसका
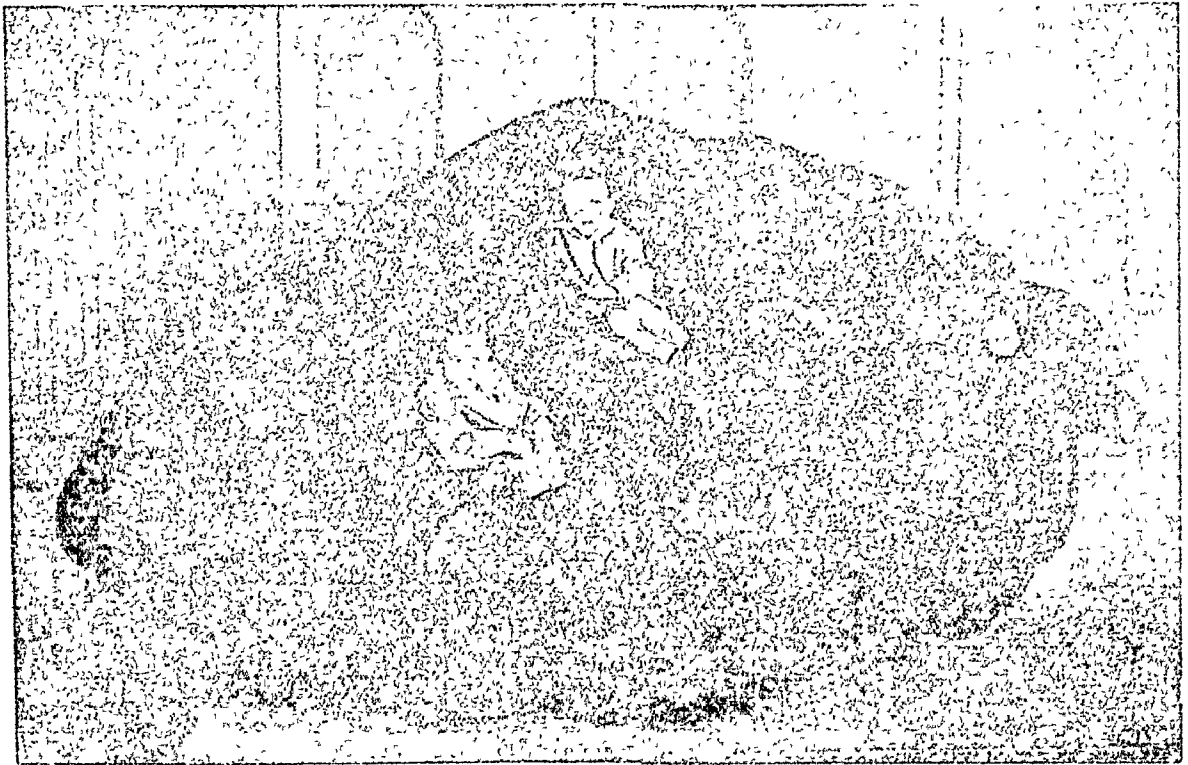
न्यूयार्क के अजायबघर में सुरक्षित एक और भीमकाय उल्का-प्रस्तर

यह 'विलामेट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है और वजन में १६·टन या लगभग ५०० मन है। यह उल्का-प्रस्तर अमेरिका ही में मिला था। देखिए, इसकी ऊबड़-खाबड़ सतह के गड्ढों में इतनी जगह है कि लड़के उनमें आराम से बैठ सकते हैं! जरा कल्पना कीजिए कि जब यह पत्थर पृथ्वी पर गिरा होगा तो इसने कैसा उत्पात मचाया होगा!

यदि हमारे किसी बड़े नगर पर भारी उल्कापात हो तो कदाचित् ऐसा ही विनाशकारी दृश्य प्रस्तुत होगा।

यह असंभव नहीं कि भविष्य में कभी ऐसा उल्कापात हो कि उसके कारण क्षण भर ही में कोई बड़ा नगर मटियामेट हो जाय, यद्यपि यह देखते हुए कि भारी उल्काएँ कभी-ही-कभी गिरती हैं, ऐसे संकट की आशंका कम ही है।

फोटो दिया गया है। अन्य एक महान् उल्का-प्रस्तर पिछले पृष्ठ पर दिग्दर्शित है।

उल्का-प्रस्तरों की रासायनिक बनावट

अनुमान किया जाता है कि उल्काओं के भीषण वेग के कारण उन पर हमारे वायुमंडल की रगड इतनी अधिक लगती है कि उनकी सतह अत्यंत तप्त हो जाती है और उनमे से गैसें निकल पड़ती है। ये गैसें जल उठती हैं। गैसो के निकलने का प्रमाण उल्काओं के प्रकाश के त्रिपार्श्व द्वारा विश्लेपण करने से मिला है। त्रिपार्श्व द्वारा देखने पर श्वेत प्रकाश अपने विभिन्न रंगों में बँट जाता है और इन रंगों की सूक्ष्म परीक्षा से पता चल जाता है कि प्रकाश किन पदार्थों से आ रहा है।

उल्काओं की जीवन-लीला एक ही दो सेकंड में समाप्त हो जाती है। इसलिए उल्का-पिंड भीतर तक गरम नही हो पाता। केवल उसकी सतह ही गरम हो पाती है। पानी से तर स्थानों पर गिरे प्रस्तर तो कभी-कभी बरफ से ढके हुए भी पाए गए है। जान पड़ता है कि भीतर अत्यंत ठढा रहने के कारण बाहरी तप्त सतह भी इतनी शीघ्र ठंढी हो जाती है कि वह पास के पानी को जमा डालती है।

अधिकांश उल्का-प्रस्तरों के ऊपर एक पतली चमकती हुई तह रहती है, मानों उस पर वार्निश कर दी गई हो। अवश्य ही यह पर्त ऊपरी तह के पिघल जाने के कारण बन जाती होगी। बहुत-से प्रस्तरों में चेचक के दाग की तरह गड्ढे भी पडे रहते है। शीघ्र जलनेवाले भागों के पहले जल जाने के कारण ही ये गड्ढे बनते होंगे। उल्का-प्रस्तरो को प्रयोगशाला मे गरम करने पर भी उनमे से गैसें निकलती हैं। इससे पता चलता है कि मार्ग में गरमी के कारण उनमें से गैस निकलने का सिद्धांत ठीक ही होगा।

अधिकांश उल्का-प्रस्तरों की बनावट रवादार होती है। तेजाब में डालकर उनकी ऊपरी सतह को काट देने पर यह रवादार बनावट खिल उठती है और अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पडने लगती है। थोड़े से ही उल्का-प्रस्तरो मे लोहे की मात्रा अधिक होती है। ऐसे लौह प्रस्तरों की संख्या कुल तीन प्रतिशत होती है। शेष उल्का-प्रस्तरों की रचना पृथ्वी के साधारण रवादार पत्थरों की-सी होती है। परंतु सब की बनावट ठीक पत्थरों की-सी नहीं होती।
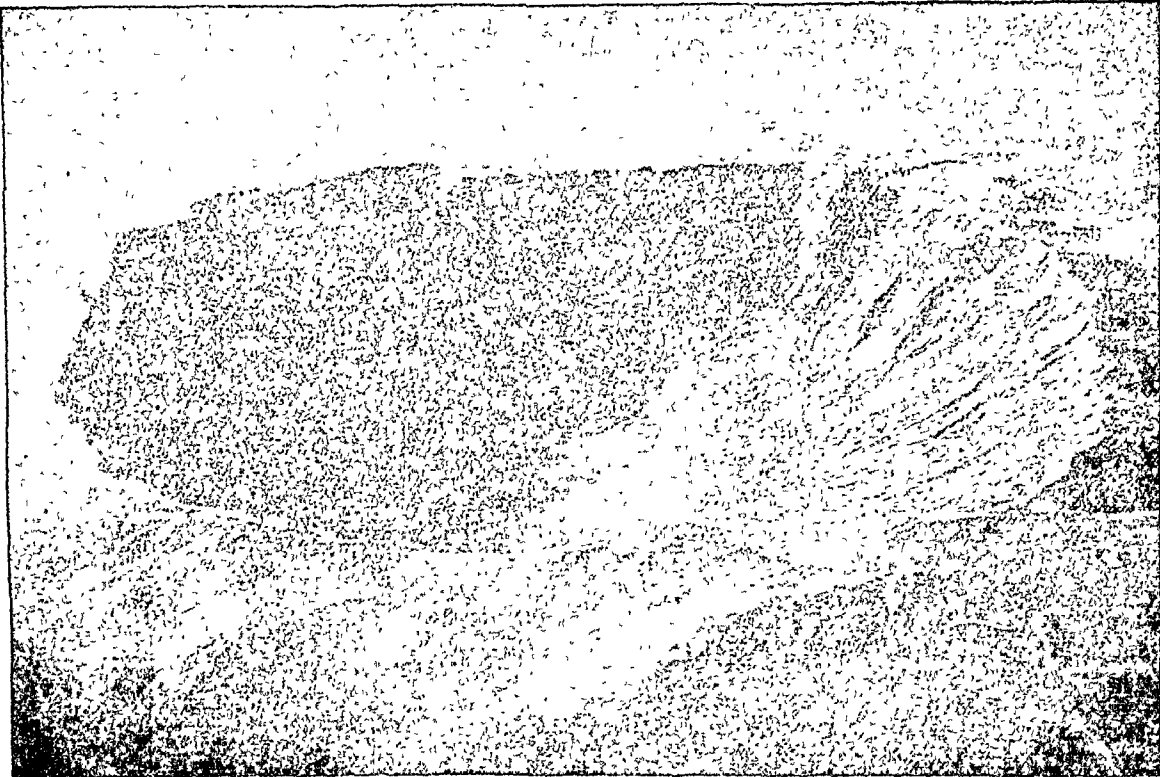
अरिजोना का सुप्रसिद्ध गड्ढा, जो निस्संदेह किसी उल्का-समूह के गिरने से बना है

लगभग १ मील व्यास का यह गड्ढा काल के प्रभाव से अब बहुत-कुछ भर गया है फिर भी अभी इसकी औसत गहराई ६०० फीट है!

आलोक या प्रकाश--शक्ति का एक रूप

आलोक या प्रकाश के प्रति मनुष्य आदिकाल ही से आकृष्ट है। प्रकाश में ही उसे जीवन दिखाई देता है और उसका अभाव अर्थात अंधकार उसे स्वभावतः आशंकित और भयभीत कर देता है। इसीलिए हजारो वर्षों पहले ही से उसके मन में यह कामना उमगने पाई जाती है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय', अर्थात् अंधकार से प्रकाश की ओर हम अग्रसर हों ! यह प्रकाश या आलोक है क्या वस्तु ? विज्ञान का कथन है कि यह भी ऊष्मा, विद्युत्, चुंबकत्व, आदि की तरह शक्ति या ऊर्जा का एक रूप है। इसका सबसे प्रखर उदाहरण हमारे लिए सूर्य है, जो हमारी इस धरती पर की दुनिया के लिए शक्ति या ऊर्जा के साथ-साथ प्रकाश का भी सबसे बड़ा स्रोत है: वस्तुतः प्रकाश या आलोक के रूप में सूर्य से हमे जो शक्ति निरंतर प्राप्त होती रहती है, उसी से इस पृथ्वी पर जीवन के उद्भव, विकास और पोषण का चक्र चालू है।

आलोक-रश्मियाँ

शक्ति के एक रूप 'ऊष्मा' का पिछले खंड में आपको परिचय कराया जा चुका है। इसके बाद हमारा ध्यान अब 'आलोक' की ओर जाता है। इस ओर आगे के कुछ लेखों में हम भौतिक विज्ञान के इसी महत्त्वपूर्ण विषय की जानकारी पाने की कोशिश करेंगे।

आज से हजारों वर्ष पूर्व भी लोग आलोक के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुए थे। आलोक है क्या? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के प्रयत्न में तरह-तरह के अनुमान तत्कालीन विद्वानों ने लगाए। लगभग २,३०० वर्ष पूर्व सिकन्दरिया के महान् गणितज्ञ उक्लैदिस ने इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया। उसकी धारणा थी कि आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों से विकीर्ण होकर जब भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर पड़ती हैं, तभी वे वस्तुएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं। उसका कहना था कि जिस प्रकार झींगुर आदि कतिपय कीड़े-मकोड़े अपने शरीर पर लगी हुई लम्बी-लम्बी पतली मूँछ द्वारा छूकर अपने आस-पास की वस्तुओं का पता पा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आँखों से विकीर्ण होनेवाली आलोक-रश्मियों द्वारा अपने आस-पास की चीजों को देखने में समर्थ होता है।

उसके प्रतिकूल प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथागोरस का खयाल था कि प्रत्येक आलोकमय वस्तु से आलोक के नन्हे-नन्हे भौतिक कणों की बौछार प्रति क्षण हर दिशा में निकलती रहती है। आलोक के ये कण जब हमारी आँखों में प्रवेश करते हैं, तभी हमें उस वस्तु का, जिससे कि ये आलोक-कण आरम्भ में चले थे, बोध होता है, अर्थात् वह वस्तु हमें दिखलाई पड़ती है।

अरिस्टॉटल या अरस्तू का मत था कि आलोक कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न पदार्थों से चलकर आलोक के भौतिक कणों की बौछार हमारी आँखों में पहुँचती है, यह खयाल सर्वथा गलत है। अरस्तू का कहना था कि एक विस्तृत माध्यम में, जो सर्वत्र मौजूद है, तरंगों के रूप में आलोक चारों ओर विकीर्ण होता है। निस्सन्देह यह कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आज से २,००० वर्ष पूर्व ही बिना किसी प्रयोगात्मक आधार के उस महान् तत्त्ववेत्ता ने जो मत आलोक की वास्तविकता के बारे में निर्धारित किया था, वह इस बीसवीं सदी में प्रयोग की कसौटी पर कसे जाने पर भी एकदम सही उतरा! आलोक की प्रकृति के बारे में आधुनिक मत की विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। अभी तो हमें उसके साधारण गुणों का ही परिचय प्राप्त करना है।

अरस्तू या अरिस्टॉटल
जिसका मत था कि आलोक एक विस्तृत माध्यम में तरंगों के रूप में चारों ओर विकीर्ण होता है।

आलोक सीधे चलता है

बन्द खिड़की की दरार से सूर्य की किरणें जब अँधेरे कमरे में प्रवेश करती हैं, तो उनका चमकता हुआ सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वास्तव में, स्वयं

आलोक-रश्मियों को हम नहीं देख पाते, केवल कमरे के अन्दर हवा में उड़ते हुए सहस्रों धूलिकण आलोक-रश्मियों के मार्ग में आते ही चमकने लगते हैं, इसीसे उन रश्मियों का समूचा मार्ग ही आलोकित हो उठता है।

इस सम्बन्ध में एक और रोचक प्रयोग किया जा सकता है। दफ्ती के कई टुकड़े लीजिए। प्रत्येक के बीच मे एक-एक बारीक छिद्र बना लीजिए। इन दफ्तियों को एक जलती हुई मोमबत्ती के सामने एक के पीछे दूसरी खड़ी कर दीजिए। यदि सभी दफ्तियो के छिद्र एक सीधी रेखा में हुए, तब तो आपको इनमे से होकर मोमबत्ती की लौ दिखलाई पड़ेगी, अन्यथा नहीं। इन दोनों प्रयोगो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आलोक का गमन केवल सीधी रेखाओं में ही सकता है। सीधे मार्ग से ये तनिक भी इधर-उधर मुड नही सकती।

आलोक की इस विशेषता से लाभ उठाकर वैज्ञानिकों ने फोटो उतारने का एक नितान्त सरल केमरा भी तैयार किया है। इस केमरे मे किसी लन्स को फिट करने की आवश्यकता नही होती। इस बक्सनुमा यंत्र में सामने की दीवार में सुई की नोक के बराबर एक सुराख होता है और इस छिद्र के पीछेवाली दीवार मे एक खाँचा बना होता है। इसी खाँचे के रास्ते से फोटो की चेतनशील प्लेट को बक्स के अन्दर प्रवेश कराकर उसे दीवार के समानान्तर खड़ी कर देते है। बाहर से आलोक-रश्मियाँ उसी नन्हें छिद्र के रास्ते केमरे के अन्दर प्रवेश करती हैं और तब बाहर की वस्तुओं का उल्टा बिम्ब उस फोटो-प्लेट पर पड़ता है। इस सूक्ष्म छिद्रवाले केमरे के अन्दर प्रवेश करते समय ये आलोक-रश्मियाँ छिद्र पर ही एक-दूसरे को काटती है, अतः वे अपने उद्गमस्थान की वस्तुओं का उलटा बिम्ब प्लेट पर बनाती है। केमरे के अन्दर प्लेट छिद्र से जितनी दूर होगी, बिम्ब का आकार भी उतना ही बड़ा होगा। इस बात से भी यही सिद्ध होता है कि आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती हैं।

सूक्ष्म छिद्रवाले केमरे मे बिम्ब एकदम स्पष्ट उभरता है, उतना ही स्पष्ट जितना कि महँगे दाम के लेन्सयुक्त केमरे के अन्दर। किन्तु लेन्सयुक्त केमरे के अन्दर का बिम्ब अधिक आलोकमय होता है, क्योंकि लेन्स का मुँह चौड़ा होने के कारण बाहर से प्रकाश की मात्रा भी अधिक परिमाण मे केमरे के अन्दर पहुँचती है। छिद्रवाले केमरे में नन्हे छिद्र में से होकर बहुत कम आलोक केमरे के अन्दर प्रवेश कर पाता है।

आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती है

देखिए, भिन्न-भिन्न सर्चलाइटों से निकले हुए आलोक-रश्मि-पुंज किस प्रकार आड़े-तिरछे एक-दूसरे को काटते हुए आसमान में एकदम सीधी दिशा में जाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।

बिम्ब का आलोक बढ़ाने के प्रयत्न में हम पहले छिद्र के पास ही यदि दूसरा छिद्र बना दें, तो इस छिद्र के कारण भी एक दूसरा बिम्ब पहले बिम्ब पर ही उससे तनिक एक ओर हटकर बनेगा। फलस्वरूप इस प्रकार बने बिम्ब में पहले की अपेक्षा प्रकाश की मात्रा तो अधिक होगी, किन्तु यह उतना स्पष्ट

न होगा। यदि छिद्रों की संख्या बढ़ा दी जाय, तो इनके योग से बने हुए विम्ब में आलोक बढ़ जायगा, किन्तु उसी अनुपात मे उनकी स्पष्टता भी मारी जायगी। बड़े आकारवाले सूराख को हम अनेक सूक्ष्म छिद्रों से बना हुआ मान सकते है। अत. ऐसे छिद्र द्वारा बना हुआ विम्ब भी अस्पष्ट ही होगा। और यदि छिद्र का आकार काफी बड़ा हुआ तो विम्ब इतना अधिक अस्पष्ट हो जायगा कि विम्ब के स्थान पर प्रकाश का केवल एक हलका-सा धब्बा ही नजर आएगा, चित्र नही।

प्रकाश और छाया

लालटेन के सामने एक तख्ती खड़ी कर दीजिए—बस तख्ती की आड़ में अँधेरा-ही-अँधेरा नजर आएगा, क्योंकि आलोक-रश्मियाँ मुड़कर तख्ती की आड़ मे पड़नेवाली जगह तक नही पहुँच सकती। फिर आपने गौर किया होगा कि प्रातःकाल की धूप में जमीन पर आपकी छाया बेहद लम्बी दिखलाई पड़ती है। ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है, आपकी छाया भी छोटी पड़ती जाती है। संध्या को सूर्य जब नीचे उतरता है, तब आपकी छाया पुनः लम्बी हो जाती है। प्रातःकाल की छाया पश्चिम

आलोक-रश्मियों का अनोखा वर्त्ताव

१—बंद खिड़की या दरवाजे की दरार मे जब अँधेरे कमरे में सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तो धूलिकणों के कारण चमकता हुआ उनका सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

२—किसी भी दीपक की आड़ में किसी वस्तु को रखने पर उसकी छाया उसी आकार की पड़ती है, जो उस वस्तु का होता है। चौकोर तख्ती की छाया भी चौकोर पड़ रही है, यद्यपि वह परिवर्द्धित है।

३—सूक्ष्मछिद्र कैमरा। ऊपर के चित्र में 'क' पर एक ही सूक्ष्म छिद्र है, जिससे होकर सामने रक्खी दावात की उलटी छाया कैमरा के भीतर की दीवाल पर लगी प्लेट पर स्पष्ट पड़ रही है। नीचे के चित्र में 'क' पर छिद्र चौड़ा है, इसलिए छाया धुंधली पड़ रही है।

४—प्रातःकाल, दोपहर और शाम को सूर्य के कारण पड़नेवाली छाया की विभिन्नता।

५—आलोक की तीव्रता दूरी के वर्ग के विलोम नियम के अनुसार घटती है। 'क', 'ख', 'ग' क्रमशः १, २, और ३ फीट की दूरी के सूचक हैं।
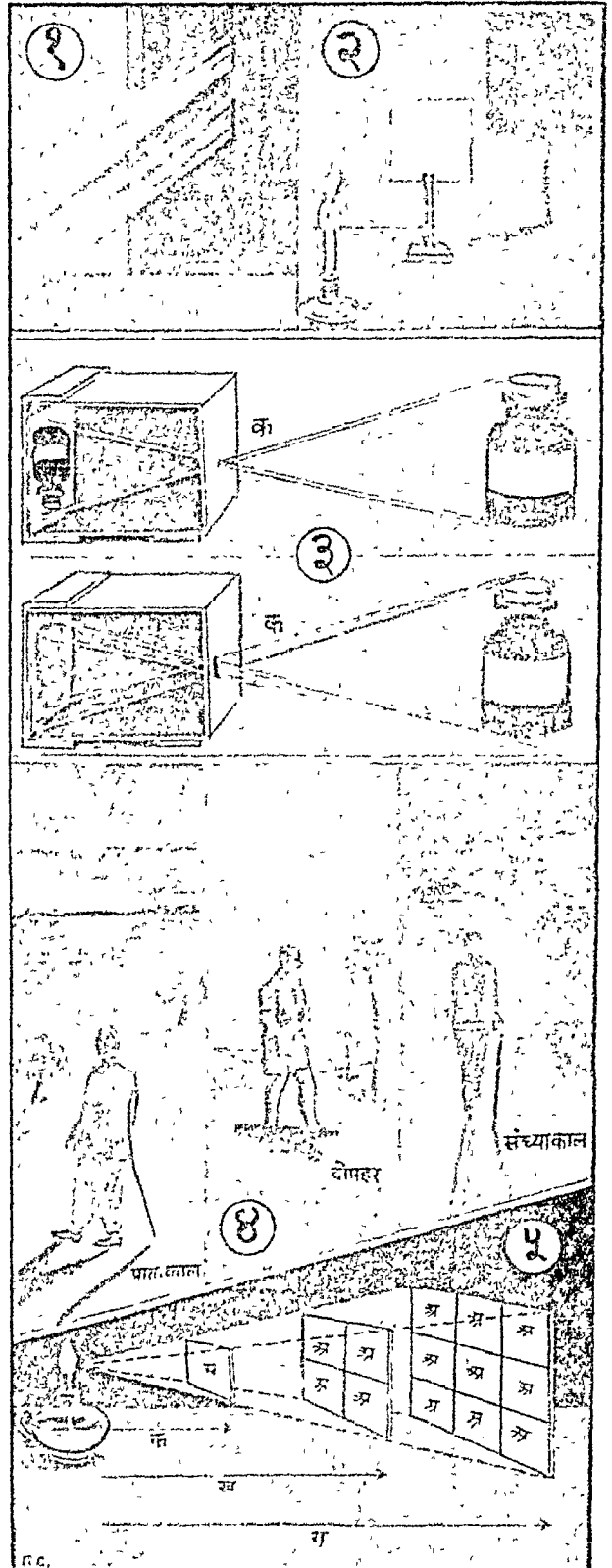
की ओर और सन्ध्या को पूर्व दिशा की ओर पड़ती है। हर हालत में आप देखेंगे कि छाया ठोस पदार्थ के पीछे तथा प्रकाशोत्पादक के दूसरी ओर ही पड़ती है।

यदि प्रकाशोत्पादक का आकार कुछ अधिक बड़ा नहीं हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित छाया भी स्पष्ट और गहरी उभरती है और यह छाया एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक समान रूप से काली होती है। ऐसी छाया की सीमान्तक रेखाएँ भी स्पष्ट दीखती हैं।

प्रच्छाया और उपच्छाया

इसके प्रतिकूल यदि प्रकाशोत्पादक का आकार बड़ा हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित ठोस वस्तुओं की छाया का समूचा भाग न तो समान रूप से काला होगा और न उसकी सीमान्तक रेखाएँ ही स्पष्ट उभरेंगी। ऐसी छाया के मध्य-भाग मे प्रकाशोत्पादक के किसी अंग से भी आलोक नही पहुँचने पाता। फलस्वरूप छाया का यह भाग निपट काला होता है। इसे 'प्रच्छाया' के नाम से पुकारते हैं। प्रच्छाया के दोनों ओर छाया का वह भाग स्थित होता है, जिसमें प्रकाशोत्पादक के समूचे अंग से तो नही, किन्तु उसके कुछ भाग से आलोक अवश्य पहुँचता है। अतः यह छाया उतनी गाढी नहीं होती, जितनी प्रच्छाया। इसे 'उपच्छाया' के नाम से पुकारते है।

चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण

चन्द्रमा और पृथ्वी दोनो ही सूर्य के प्रकाश से आलोकित होते हैं। अतः दोनों ही के पीछे लम्बी प्रच्छाया और उपच्छाया पड़ती हैं। पूर्णिमा के दिन जब चन्द्रमा पृथ्वी के छायाकोण में प्रवेश करता है, तो पूनों के चाँद पर पृथ्वी की काली छाया पड़ती है। फलस्वरूप चन्द्रमा का धरातल भी आंशिक या पूर्ण रूप से आलोकविहीन हो जाता है और हमें ग्रहण दिखाई पड़ता है। केवल पूर्णिमा की रात को ही चन्द्रग्रहण का लगना सम्भव हो सकता है और इस अवसर पर पृथ्वी के उस तमाम भाग में, जहाँ रात होगी, चन्द्रग्रहण दिखलाई पड़ेगा। कुछ ही घण्टों में अपनी कक्षा पर परिभ्रमण करता हुआ चन्द्रमा जब इस छाया से बाहर निकल जाता है तो ग्रहण समाप्त हो जाता है और चन्द्रमा पुनः सूर्य के आलोक मे आ जाता है।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच आ जाता है, और तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है। अपने भ्रमण-मार्ग पर ज्यों-ज्यों चन्द्रमा आगे बढ़ता है, यह छाया भी पृथ्वीतल पर तेजी के साथ आगे बढ़ती है। इस छायामार्ग में पृथ्वी के जो प्रान्त आते जाते है, उन तक सूर्य का प्रकाश पहुँचने में असमर्थ होता है। अतएव इन स्थानों पर सूर्य का पूर्ण ग्रहण दिखलाई पड़ता है। इस प्रदेश के दोनों ओर कुछ दूर तक के प्रान्त चन्द्रमा की उपच्छाया में पड़ते है, इन स्थानो पर केवल आंशिक सूर्यग्रहण दिखाई देता है।

चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। अतः कभी-कभी चन्द्रमा पृथ्वी से बहुत दूर भी चला जाता है। ऐसी दशा मे सूर्य द्वारा प्रक्षालित अमावस्या के चन्द्रमा की छाया पृथ्वी तक पहुँच भी नही पाती। फलस्वरूप चन्द्रमा समूचे सूर्य को ढकने मे असमर्थ होता है और हमें कुण्डलाकार सूर्य के दर्शन होते है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है, मानों काले वृत्त के चारों ओर चाँदी का एक छल्ला चढ़ा दिया गया हो। जिस समय चन्द्रमा अपनी कक्षा में पृथ्वी से दूर स्थित होता है, उस समय यह हमसे २,५२,९७० मील के फासले पर होता है। किन्तु इसकी छाया केवल २,३८,००० मील लम्बी होती है, अतः यह छाया पृथ्वी को छू नहीं पाती।

इस स्थान पर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि हर पूर्णिमा और हर अमावस्या को क्रम से चन्द्र और सूर्य के ग्रहण क्यों नही लगते? किन्तु ऐसा होना तभी सम्भव था, जब कि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों के परिभ्रमण-मार्ग का धरातल एक ही होता। जब कभी पूर्णिमा या अमावस्या के दिन चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग पृथ्वी की कक्षा के धरातल से होकर गुजरता है, तभी चन्द्रग्रहण या सूर्य-ग्रहण के हमें दर्शन होते है।

आलोक की तीव्रता दूरी के अनुसार घटती है

आलोक-रश्मियाँ प्रकाशपिण्ड के किसी बिन्दु से ज्यों-ज्यों आगे बढती है, त्यों-त्यों उनके बीच की दूरी बढ़ती जाती है। वे फैलती जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोण की भुजाएँ बढ़ाई जाने पर उत्तरोत्तर एक दूसरे मे दूर हटती जाती हैं। इसका फल यह होता है कि किरणपुंज प्रकाशोत्पादक से ज्यों-ज्यों आगे बढता है, त्यों-त्यों उतने ही प्रकाश को अधिक क्षेत्रफलवाले धरातल को आलोकित करना पड़ता है। जैसा कि पृ० १२६५ के न० ५ चित्र मे प्रकट है, प्रकाशोत्पादक से १ फुट की दूरी पर जितना प्रकाश धरातल 'अ' को आलोकित कर रहा है, उतना ही प्रकाश २ फीट की दूरी पर रक्खे हुए दूसरे धरातल को आलोकित कर रहा है। किन्तु इस दूसरे धरातल का क्षेत्रफल प्रथम का चार गुना है। अतः दूसरे धरातल पर पहले की अपेक्षा प्रकाश की तीव्रता केवल एक चतुर्थांश

रहेगी। तीन फीट की दूरी पर उसी प्रकाश को नौ गुने धरातल को आलोकित करना होगा। अतः प्रकाश की तीव्रता इस ठौर अब पहले की अपेक्षा नवांश रह जायगी। यह नियम दूरी के वर्ग का विलोम कहलाता है। दूरी ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, प्रकाश की तीव्रता उसके वर्ग के अनुसार घटती जायगी। दूरी यदि चार गुनी होगी, तो आलोक की तीव्रता पहले का सोलहवाँ अंश रह जायगी; आठ गुनी हुई तो चौंसठवाँ अंश रह जायगी।

फोटोमीटर

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही फोटोमीटर यंत्र बनाये गये हैं, जिनकी सहायता से हम आँक सकते हैं कि अमुक प्रकाशोत्पादक के आलोक की तीव्रता कितनी है। अवश्य ही आलोक की तीव्रता नापने के लिए मापदण्ड की जरूरत होती है। स्वभावतः वैज्ञानिकों ने मोमबत्ती को मापदण्ड माना। टार्च या पेट्रोमैक्स लैम्प की आलोक-शक्ति को मोमबत्तियों की संख्या में ही व्यक्त करते हैं। यदि टार्च की आलोक-शक्ति ५०० कैन्डिल-पावर हुई, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस टार्च से ५०० मोमबत्तियों के बराबर प्रकाश उत्पन्न होगा।

साधारणतः दो प्रकार के फोटोमीटर काम में लाये जाते हैं—एक में छाया की सहायता ली जाती है और दूसरे में तेल के धब्बे से काम लेते हैं। एक सफेद रंग का पर्दा अँधेरे कमरे में रखिए। पर्दे के सामने एक पेन्सिल लम्बवत् खड़ी कर दीजिए — एक मोमबत्ती भी स्टैण्ड में लगाकर कुछ दूर पर रखिए। अब उस लैम्प को भी कमरे के अन्दर ले आइए, जिसकी आलोक-शक्ति की जाँच करनी है। लैम्प और मोमबत्ती दोनों को ऐसी जगह पर रखिए कि उनके द्वारा प्रक्षालित पेन्सिल की छाया सफेद पर्दे पर पड़े। लैम्प की दूरी घटा-बढ़ाकर आप पेन्सिल की दोनों छाया में समान गहराई की कालिमा ला सकते हैं। अपनी-अपनी छाया से अब मोमबत्ती और लैम्प दोनों की दूरी नाप लीजिए। लैम्प और मोमबत्ती की आलोक-शक्तियों में वही अनुपात होगा, जो लैम्प की दूरी के वर्ग और मोमबत्ती की दूरी के वर्ग में है, क्योंकि इस दशा में लैम्प द्वारा डाली गई छाया को मोमबत्ती से उतना ही तीव्र प्रकाश मिलता है, जितना मोमबत्तीवाली छाया को लैम्प से।

तेल के धब्बेवाला फोटोमीटर तैयार करने के लिए एक खुरदरे सफेद कागज का टुकड़ा लेते हैं। इस कागज के बीच में एक बूंद तेल गिराकर धब्बे का एक छोटा-सा वृत्त बना लेते हैं। इस कागज को लम्बवत् खड़ा करके इसके एक ओर यदि एक मोमबत्ती रखी जाय, तो उसी ओर से देखने पर धब्बा कागज के शेष भाग की अपेक्षा अधिक काला दिखाई देगा, क्योंकि धब्बे में से होकर बहुत-सा प्रकाश कागज की दूसरी ओर चला जाता है। इस ओर प्रकाश की कम मात्रा प्रक्षालित होती है। यदि कागज को दूसरी ओर से देखा जाय तो धब्बा कागज के शेष भाग की अपेक्षा अधिक आलोकित दिखेगा, क्योंकि इस भाग से अधिक मात्रा में प्रकाश छनकर आ रहा है। जिन दो प्रकाशोत्पादकों की आलोक-शक्ति की तुलना करनी होती
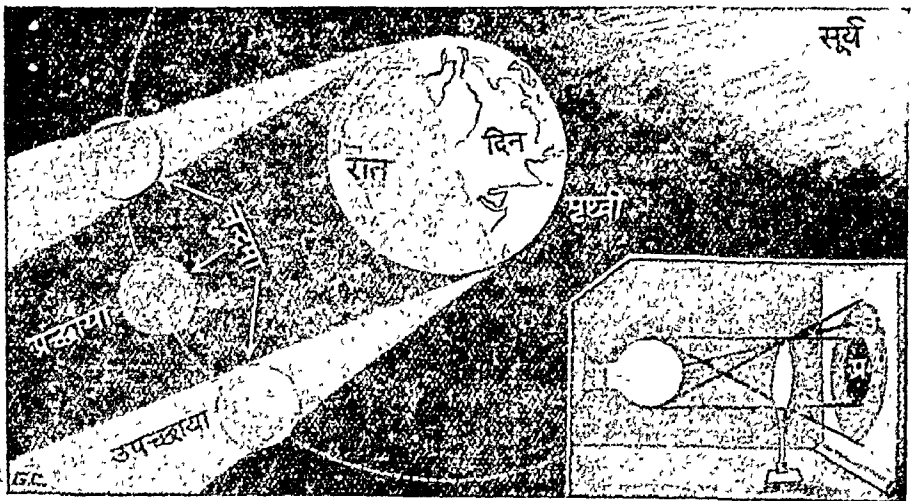
चंद्रग्रहण के समय पड़नेवाली पृथ्वी की 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया'

पूर्णिमा के दिन जब कभी चद्रमा मौके से पृथ्वी के छायाकोण में प्रवेश करता है, तभी चद्रग्रहण होता है। 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया' का सिद्धान्त इसी चित्र के निचले कोने में लैम्प के सामने गच्ची रखकर किए जानेवाले प्रयोग द्वारा समझाया गया है।

है, उनमें से एक को कागज के एक ओर, और दूसरे को दूसरी ओर रखते हैं। फिर इन दोनों की दूरी धब्बेवाले कागज से इस तरह घटाते-बढ़ाते हैं कि दोनों ओर से देखने पर धब्बा लुप्त हो जाता है। इस दशा में भी उतना ही प्रकाश आता है, जितना कागज के शेष धरातल से। अर्थात् उस समय कागज पर दोनों प्रकाशोत्पादकों से आए हुए आलोक की तीव्रता समान होती है। अब प्रत्येक प्रकाशोत्पादक की दूरी कागज के धरातल से नाप लेते हैं। उनकी आलोक-शक्तियों का परस्पर अनुपात वही होगा, जो उनकी दूरी के वर्ग के बीच है अर्थात् उनमें दूरी के वर्ग के विलोम के अनुसार अंतर होगा। बारीक नापजोख के लिए अधिक सूक्ष्म फोटोमीटर यंत्र बनाए जाते हैं।

आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन

आलोक-रश्मियों में परावर्त्तित होने का जो गुण है, उसकी ही यह खूबी है कि हम विभिन्न वस्तुओं को देख पाते हैं। आइए, इस लेख में भौतिक जगत् के इस महत्वपूर्ण नियम का अध्ययन करें।

छोटे बच्चों को रबड की गेंद के साथ खेलते हुए आपने अक्सर देखा होगा। प्रायः वे बाजी लगाते हैं कि लगातार बिना सिलसिला टूटे हुए वे गेंद को फर्श और अपनी हथेली के बीच कितनी बार उछाल सकते हैं। इस खेल में बराबर सतर्क रहना पड़ता है। गेंद को फर्श पर यदि लम्बवत् फेंका जाय तभी वह ठीक ऊपर वापस आएगी। असावधानी के कारण गेंद यदि जरा भी फर्श पर तिरछी पहुँची कि फिर वह सीधी ऊपर हथेली के पास वापस न आएगी। नीचे जाते समय गेंद का मार्ग लम्ब से जितना एक ओर झुका होगा, लौटती बेर उसका मार्ग लम्ब की दूसरी ओर उतना ही झुका हुआ होगा। कमरे के एक कोने पर यदि एक व्यक्ति खड़ा हो और दूसरेकोने पर अन्य एक व्यक्ति, तो दोनों एक दूसरे के पास उछालकर गेंद उसी दशा में फेंक सकते हैं, जब कि वे गेंद को बीच की दूरी के ठीक मध्य विन्दु पर दे मारें।
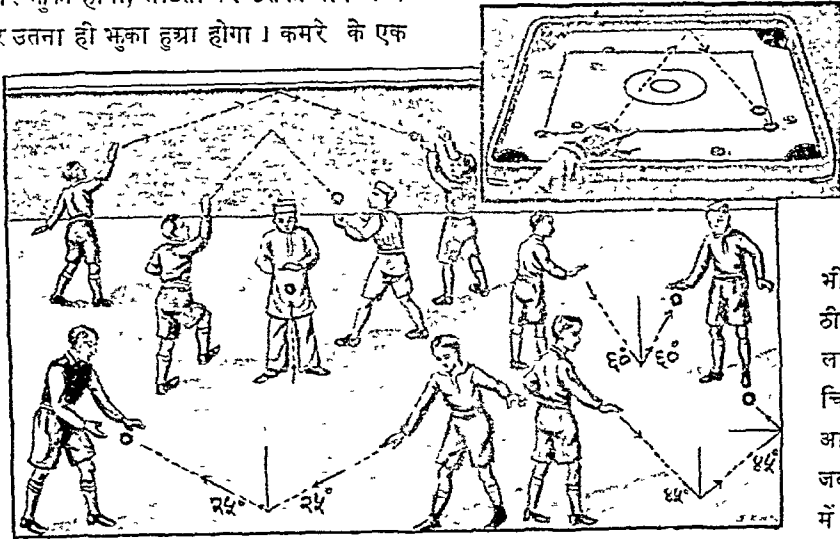
गेंद की उछाल द्वारा परावर्त्तन के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

परावर्त्तन में सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है। ऊपर कैरम के खेल में इस सिद्धान्त का प्रयोग दिखाया गया है।

रबड की गेंद किसी धरातल से धक्का खाकर जब लौटती है, तो इस क्रिया को हम 'परावर्त्तन' कहते हैं। परावर्त्तन में सदैव आपतित मार्ग और लम्ब के बीच का कोण लौटने के मार्ग और लम्ब के बीच के कोण के बराबर होता है।

कैरम के खेल में भी परावर्त्तन के इस नियम का पूरा फायदा हम उठाते हैं। जब कभी गोट को स्ट्राइकर द्वारा मारकर हम सीधे पाकेट में नहीं डाल सकते, तब इस नियम की मदद लेते हैं। स्ट्राइकर को बोर्ड की दीवाल पर ताककर ऐसे कोण पर मारते हैं कि धक्का खाकर जब वह वापस लौटे, तो वह उस गोट से सीधा जा टकराए। आलोक-रश्मियों के सम्बन्ध में भी परावर्त्तन का ठीक यही नियम लागू होता है। चिकने धरातल पर आलोक-रश्मियाँ जब लम्बवत् दिशा में आपतित होती हैं, तो वे परावर्त्तित होने पर ठीक उसी रास्ते उलटी दिशा में लौटती भी हैं।

आपतित किरणें यदि लम्ब से एक ओर कुछ झुकी हुई हों, तो परावर्तित किरणें भी लम्ब की दूसरी ओर ठीक उतनी ही झुकी हुई होंगी। अनगिनत प्रयोगों द्वारा यह बात भली भाँति सिद्ध हो चुकी है कि हर प्रकार के परावर्त्तन में आपतित किरण, लम्ब और परावर्त्तित किरण तीनों एक ही धरातल में होते है।

जल में प्रतिविम्ब
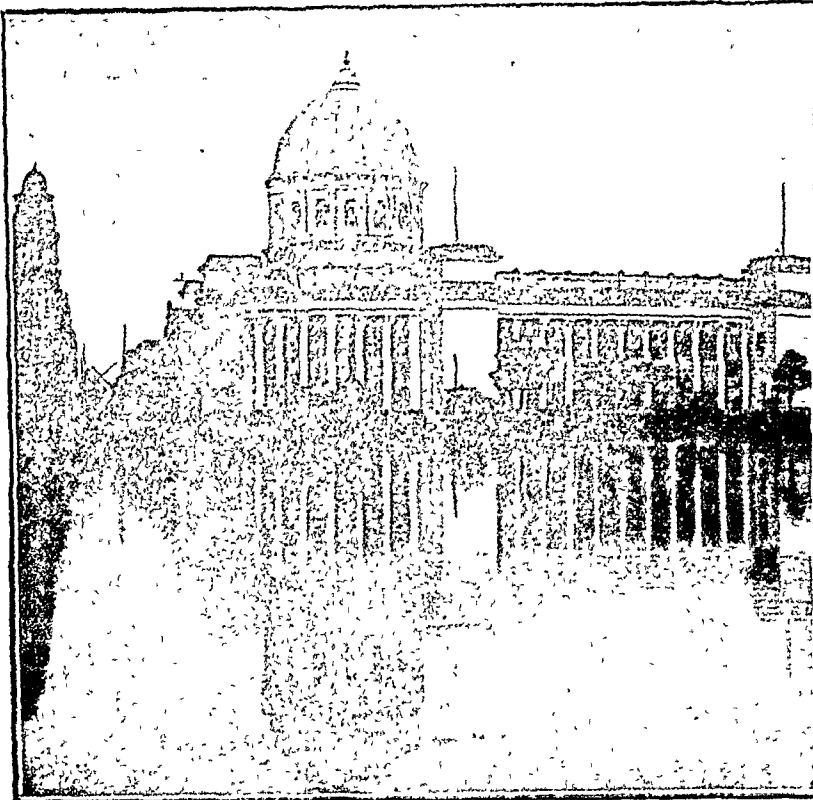
देखिए, किनारे की इमारत पानी में किस तरह उलटी प्रतिबिंबित दिखाई दे रही है। यह आलोक-रश्मियों के परावर्त्तन की ही करामात है।

दर्पण के ठीक सामने जब आप खड़े होते है, केवल तभी आपको अपना प्रतिविम्ब उसमें नजर आता है। सामने से जरा एक ओर हटकर यदि आप खड़े हों, तो स्वयं आपको अपना प्रतिविम्ब उस दर्पण में न दिखाई देगा। अवश्य अन्य कोई व्यक्ति जब दर्पण के सामने से दूसरी ओर हटकर ऐसी जगह खड़ा होता है कि आपके चेहरे से आलोक-रश्मियाँ चलकर दर्पण से परावर्त्तित होने पर उसकी जगह पर से गुजरें, तो उस व्यक्ति को आपका प्रतिविम्ब दर्पण में दिखलाई पड़ेगा, साथ ही उस व्यक्ति के भी चेहरे का प्रतिविम्ब आपको दिखाई देगा।

सभी तरह के धरातलों से रबड़ की गेंद समान रूप से नहीं उछलती। ठीक इसी प्रकार आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन भी भिन्न-भिन्न धरातलों से एक-सा नहीं होता। श्वेत वर्ण के चिकने चमकीले धरातल से आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन सर्वोत्तम होता है। किन्तु चिकने से चिकने धरातल से भी आलोक-रश्मियों का पूर्ण परावर्त्तन कभी नहीं हो पाता। चाँदी की कलई किए हुए दर्पण से आपतित आलोक का केवल ८० प्रतिशत भाग परावर्त्तित हो पाता है, शेष २० प्रतिशत दर्पण में ही विलीन हो जाता है। कलईदार धरातल आलोक के श्रेष्ठ परावर्त्तक होते हैं।

पारदर्शिता

इसके प्रतिकूल कुछ ऐसे पदार्थ भी होते है, जिनमें से होकर लगभग समूचा प्रकाश आसानी से गुजर सकता है। इनके आरपार हम वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। शीशा, बर्फ का टुकड़ा, स्वच्छ पानी आदि इसी श्रेणी के पदार्थ हैं। ये पदार्थ 'पारदर्शक' कहलाते है। महीन कपड़ा, धुँधला काँच, मटमैला पानी और दूध आदि उन पदार्थों की श्रेणी में आते है, जिनमें से होकर आलोक थोड़ा-बहुत गुजर सकता है। इन पदार्थों में से गुजरते समय आलोक का काफी भाग उनके अन्दर ही विलीन हो जाता है। ऐसे पदार्थ 'अल्पपारदर्शी' कहलाते हैं। इन पदार्थों के आरपार प्रकाश तो चला जाता है, किन्तु उस ओर की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दिखाई पडती।

अनेक पदार्थों में से प्रकाश का तनिक-सा भी अंश नहीं गुजर सकता। लकड़ी, पीतल की मोटी चद्दरें, दफ्ती आदि इसी श्रेणी में आती हैं। इन्हें 'अपारदर्शी' कहते हैं। अवश्य ही इन पदार्थों के धरातल से आपतित आलोक का कुछ अंश परावर्त्तित होता है और शेष उसी में विलीन हो जाता है। किन्तु कजली जैसी नितान्त काली वस्तुओं में से होकर

न तो प्रकाश इस पार से उस पार जा सकता है और न उसका कोई अंश परावर्तित होकर वापस ही लौटता है। जो कुछ आलोक ऐसी वस्तुओं पर पड़ता है, वह समूचा ही उस धरातल में विलीन हो जाता है। इसी कारण फोटो धोनेवाले अँधेरे कमरे की समूची दीवालों पर गाढ़े तारकोल की काली पालिश चढ़ा दी जाती है, ताकि बाहर से प्रकाश की एकाध रश्मियाँ भी यदि इस अँधेरे कमरे में कहीं से आ जायँ, तो वे भी सब-की-सब दीवाल में ही विलीन हो जायँ—किसी भी हालत में ये रश्मियाँ फोटो-वाली फिल्म तक न पहुँचे।

दर्पण का आविष्कार

प्राचीन काल में आजकल जैसे बढ़िया ढंग के दर्पण तो उपलब्ध नहीं थे, फिर भी तत्कालीन सभ्य समाज प्रकाश के परावर्त्तन से एकदम अपरिचित न था। पानी तथा तेल जैसे तरल पदार्थों मे बिम्ब देखना वे जानते थे। पुराणों के अनुसार अपने रूप के बारे में नारदजी का मोह उस समय भंग हुआ, जब उन्होंने नाले के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। द्रौपदी के स्वयम्वर में प्रतियोगियों को नीचे रखे हुए कड़ाह के तेल में स्तम्भ से लटकती हुई मछली का बिम्ब देखकर ही उस मछली को तीर से वेधना था।

परंतु कलईवाले दर्पणों का आविष्कार बहुत बाद में हुआ। प्रारम्भ में धातुओं पर बढ़िया पालिश करके दर्पण तैयार किए गए। किन्तु ऐसे दर्पणों का धरातल वायु के स्पर्श से जल्दी ही गन्दा हो जाता था। १४वीं शताब्दी में वेनिशियन लोगों ने आधुनिक ढंग के काँच के दर्पणों का सर्वप्रथम निर्माण किया था। दर्पण के लिए पूर्णतया समतल धरातलवाले काँच का टुकड़ा लेना होता है। फिर इस काँच के ऊपर पारे और टिन की एक पतली तह चढ़ा देते हैं। धातु के चमकीले धरातल को काँच का परदा हवा के स्पर्श से अलग रखता है। इस कारण दर्पण की चमक मन्द नहीं पड़ने पाती। किन्तु पारे की कलईवाले दर्पण पर जब कुछ दिनों तक सूर्य की प्रखर किरणें पड़ती हैं, तो दर्पण पीला पड़ जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए दर्पण की कलई के लिए अब पारे के स्थान पर चाँदी का प्रयोग करते हैं। समतल काँच को एक छिछली थाल में नीचे की ओर मुँह करके रख देते हैं और चाँदी के घोल को काँच के ऊपर रखकर फैला देते हैं। अब एक रासायनिक पदार्थ इस घोल में डालते हैं, फलस्वरूप घोल के अन्दर से शुद्ध चाँदी निकल आती है और काँच के धरातल पर इसकी एक पतली तह समान रूप से बैठ जाती है। कलई करने के लिए बहुत थोड़ी-सी चाँदी की आवश्यकता पड़ती है। चाँदी की तह को हवा के स्पर्श से बचाने के लिए उसके ऊपर गाढ़े रंग का लेप चढ़ा देते हैं। ये दर्पण वर्षों खराब नहीं होते।

नियमित और अनियमित परावर्त्तन

(१) बिंदु 'अ' का बोध 'क' पर इसलिए होता है कि परावर्त्तन के नियमानुसार 'अ' से चली किरणें दर्पण पर पड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रक्षालित हो जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो किसी काल्पनिक बिंदु 'क' से आती जान पड़ती हैं। (२) अ से ब तक धरातल चिकना है। ब से स तक ऊबड़-खाबड़ है। टूटी रेखाओं द्वारा परावर्त्तन का मार्ग दिखाया गया है।

चिकने धरातल पर बिंब क्यों दिखाई देता है

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि दर्पण या किसी अन्य चिकने धरातल में बाह्य वस्तुओं का बिम्ब हम कैसे देख पाते हैं। कमरे में रखे हुए दर्पण पर जब हम दृष्टि

डालते हैं तो हमें स्वयं दर्पण नहीं दिखता, वरन् उस दर्पण में अन्य वस्तुओं का बिम्ब दिखलाई पड़ता है। आलोक विन्दु 'अ' से अनेक आलोक-रश्मियाँ दर्पण पर जाकर गिरती हैं। परावर्त्तन के नियमानुसार ये भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रक्षालित होती हैं। ये परावर्त्तित किरणें जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी काल्पनिक विन्दु 'क' से आ रही हैं। चूँकि ये सभी किरणें प्रारम्भ में विन्दु 'अ' से चली थीं, अतः हमारी आँखों में प्रवेश करके ये हमें विन्दु 'अ' का ही बोध कराएँगी। हमें ऐसा जान पड़ेगा कि 'क' बिन्दु ही 'अ' पर स्थित है। 'क' विन्दु ही 'अ' विन्दु का प्रतिविम्ब है। रेखागणित के नियमों से स्पष्ट है कि 'क' विन्दु 'अ' की ठीक लम्बवत् सीध में दर्पण के पीछे उतनी ही दूरी पर स्थित है, जितनी दूरी पर 'अ' दर्पण के सामने है। (दे० पृष्ठ १२७० के चित्र में भाग १)।
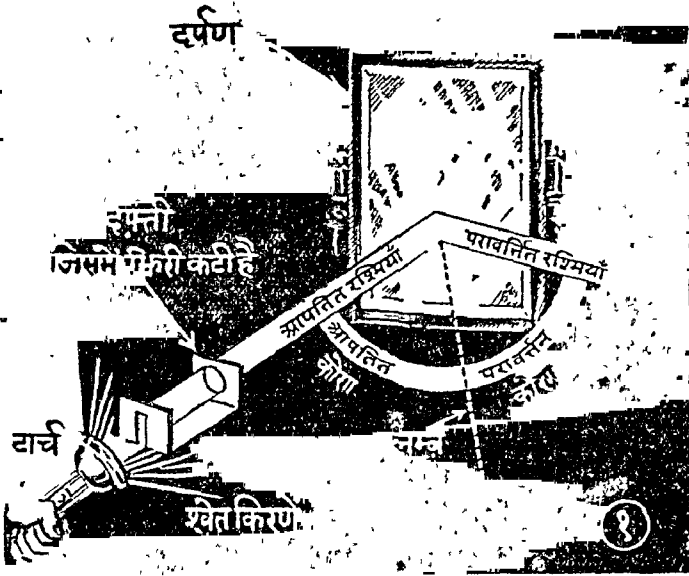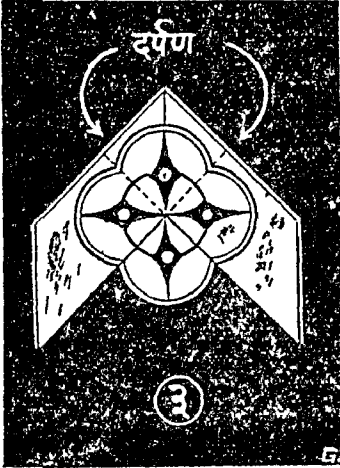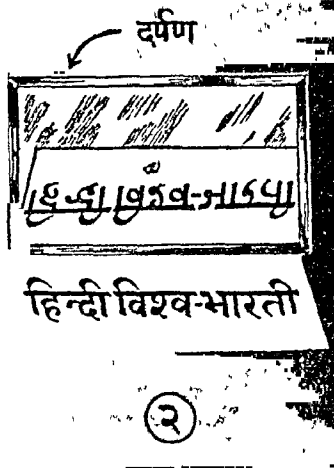
नियमित परावर्त्तन के कुछ नमूने

(१) समतल दर्पण में आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन। (२) समतल दर्पण के बिंब में पार्श्विक उलट-फेर। (३) दो दर्पणों को ९०° के कोण पर रखने पर तीन बिंबों का निर्माण। (दे० पृ० १२७२-१२७३ का मैटर)

अनियमित परावर्त्तन

चमकदार कलईवाले धरातल से आलोक-रश्मियों का सदैव नियमित परावर्त्तन ही होता है। किसी बिन्दु विशेष से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद एक ही विन्दु से आती हुई जान पड़ती हैं। अतः इन किरणों द्वारा परावर्त्तन करनेवाले धरातल को हम देख नहीं पाते। चिकने समतल धरा- के बजाय जब आलोक-रश्मियाँ किसी खुरदरे धरातल पर पड़ती हैं, तो उनका परावर्त्तन उपर्युक्त नियमित ढंग से नहीं हुआ करता। इस अनियमित परावर्त्तन में एक ही विन्दु से चली हुई किरणें परावर्त्तन के बाद किसी विशेष बिन्दु से आती हुई नहीं जान पड़ती हैं। नियमित रूप से परावर्त्तित होने के बजाय ये रश्मियाँ धरातल पर प्रक्षालित होकर बिखर-सी जाती हैं। यह बिखरा हुआ प्रकाश जब हमारी आँखों में प्रवेश करता है, तो हमें धरातल में कोई खास प्रतिबिम्ब नजर नहीं आता, बल्कि स्वयं धरातल ही दिखाई देने लगता है। इसी बिखरे हुए प्रकाश की मदद से हम अप्रदीप्त वस्तुओं को देखने में समर्थ होते हैं।

बिखरे हुए प्रकाश की किरणें चकाचौंध नहीं उत्पन्न किया करतीं। लैम्प के प्रकाश में पढ़ते समय पुस्तक इस प्रकार रखना चाहिए कि लैम्प से आनेवाली किरणें पुस्तक के पृष्ठ से प्रक्षालित होकर सीधी हमारी आँखों में न पहुँचें, अन्यथा पृष्ठ पर छपे हुए अक्षरों के बजाय हमें लैम्प का धुँधला प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। और आँखों में व्यर्थ की चकाचौंध पहुँचेगी। पुस्तक को सामने इस तरह रखना चाहिए कि पृष्ठ से केवल बिखरा हुआ प्रकाश आँखों में पहुँचे। इससे अक्षर भी स्पष्ट दिखाई देंगे और आँखों को भी कष्ट न पहुँचेगा।

सन्ध्या के समय जब क्षितिज के नीचे सूर्य डूब जाता है, तब भी ऊर्ध्वाकाश के वायुस्तरों द्वारा सूर्य का प्रकाश बिखरकर नीचे पृथ्वी पर पहुँचता रहता है। अतः सूर्यास्त के उपरान्त कुछ देर तक आकाश में धुँधला-धुँधला प्रकाश बना रहता है। प्रातः सूर्योदय से कुछ देर पहले भी वायुस्तरों द्वारा बिखरा हुआ सूर्य का प्रकाश आसमान से पृथ्वी पर पहुँचता है। वायु के अन्दर उड़ते हुए नन्हे-नन्हे रजकणों से ही टकराकर आलोक बिखरता है। यदि हवा में धूलिकण या पानी की नन्ही-नन्ही बूँदें न होतीं, तो सूर्य डूबते ही सर्वत्र घटाटोप अँधेरा छा जाता। ऊर्ध्वाकाश में, जहाँ हवा में न तो बादल होते हैं और न धूलिकण, दिन की दुपहरी में भी आसमान में घना अन्धकार छाया रहता है, केवल सूर्यपिण्ड प्रकाशमान दिखता है, क्योंकि शुद्ध वायु में अन्य कोई पदार्थ ही मौजूद नहीं, जिससे प्रक्षालित होकर आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों में पहुँच सकें।

पढ़ने के लिए तेज रोशनीवाले लैम्प में चकाचौंध से आँखों की रक्षा करने के लिए दूधिया शीशे का ग्लोब काम में लाते हैं। इस ग्लोब के अन्दर से आलोक-रश्मियाँ बिखरकर हर दिशा में विकीर्ण होती हैं।

बिखरे हुए प्रकाश के गुणों की जाँच के लिए शुद्ध बर्फ की एक शिला लीजिए। यह एकदम पारदर्शक होगी। बहुत ही कम प्रकाश इस हिमशिला से बिखरता है। अतः स्वयं बर्फ की शिला
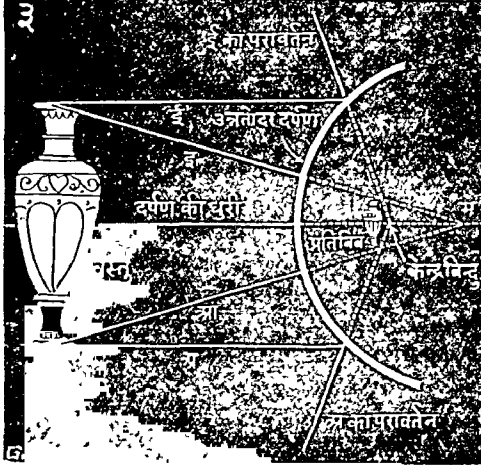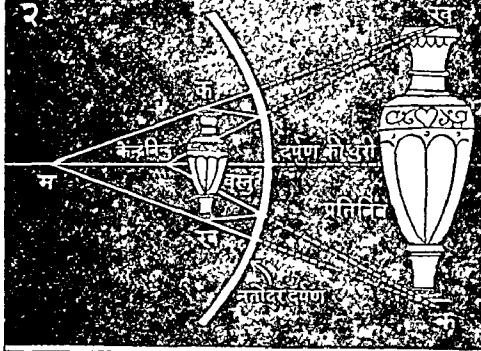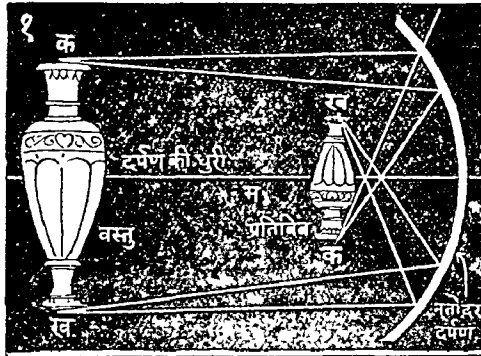
नतोदर और उन्नतोदर धरातलों में बिम्ब-निर्माण

१. वस्तु 'क'-'ख' से चली हुई किरणें नतोदर दर्पण में परावर्तित होकर दर्पण के सामने उसी वस्तु का उल्टा और छोटे आकार का बिम्ब 'ख'-'क' बनाती हैं। २. यदि हम वस्तु को केन्द्रबिन्दु और दर्पण के दर्मियान रक्खें तो दर्पण के पीछे जो काल्पनिक बिम्ब बनेगा वह अभिवर्द्धित होगा, साथ ही सीधा भी। ३. उन्नतोदर दर्पण की धुरी के समानांतर दौड़नेवाली किरणें 'अ' और 'ई' मुड़ जाती हैं और मालूम होता है, मानों वे दर्पण के पीछे से आ रही हों। दर्पण के पीछे सीधे और छोटे काल्पनिक बिंब का निर्माण होता है।

बहुत स्पष्ट हमें नहीं दिखाई देती। अब बर्फ को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ डालिए। फौरन् ही इसकी पारदर्शिता नष्ट हो जाती है। अब भी यह पहले जैसी शुद्ध बर्फ है, किन्तु ऊबड़-खाबड़ पड़े हुए इसके सहस्रों धरातलों से आलोक-रश्मियों का नियमित परावर्त्तन नहीं हो पाता। अब प्रकाश का बहुत बड़ा अंश इन टुकड़ों द्वारा बिखरा जा रहा है। इसी कारण तोड़ी हुई बर्फ के टुकड़ों का ढेर रुई-जैसा सफेद दिखाई देता है। जलप्रपात से गिरने पर जब जल नन्हीं-नन्हीं असंख्य बूँदों में परिवर्तित हो जाता है, तो इनका रंग भी दूध के फेन की भाँति सफेद हो जाता है, क्योंकि इस दशा में बहुत सारा प्रकाश ये बूँदें बखेर सकती हैं।

समतल दर्पणों में किसी वस्तु का बिम्ब सीधा और उतना ही बड़ा बनता है, जितनी बड़ी स्वयं वह वस्तु होती है। किन्तु यह बिम्ब एक बात में मूल वस्तु से भिन्न होता है। मूल वस्तु का दाहिना अंग बिम्ब में बाईं ओर दिखाई देता है। शीशे के सामने आप दाहिने हाथ से कंघी करते हैं, तो बिम्ब में वह बाईं ओर दिखलाई पड़ता है।

कागज पर लिखे हुए शब्दों का बिम्ब भी दर्पण में ठीक ऐसा ही उभरता है मानों उस पर सुखाने से ये शब्द स्याही-सोख पर उलटे आए हों (देखिए पृष्ठ १२७१ के चित्र में नीचे बाईं ओर का चित्र)।

यदि दो दर्पण इस तरह खड़े किये जायँ कि उनके बीच ९०°

का कोण बने तो इनके बीच में रखे हुए पदार्थ के दर्पणों में तीन बिम्ब बनेंगे। समकोण बनाती हुई दो रेखाओं के अन्दर कोई सुन्दर डिजाइन बनाइए। इन्हीं दोनों रेखाओं पर दो काँच के दर्पण खड़े कर दीजिए—आप देखेंगे कि आपकी डिजाइन अपने तीन प्रतिबिम्बों के साथ मिलकर एक सुन्दर और पूर्ण डिजाइन का प्रदर्शन करती है। यदि दोनों दर्पणों के बीच ४५ अंश का कोण हो, तो उनके बीच रखी हुई वस्तु के सात बिम्ब बनेंगे। ६० अंश के कोण में ५ बिम्ब मिलेंगे। दो समानान्तर दर्पणों के बीच रखी हुई वस्तु के अनेक बिम्ब इन दर्पणों में बनेंगे। भोजनालयों के कमरे की आमने-सामने की दीवारों के समूचे धरातल को समतल दर्पण से ढक देते हैं। ऐसा करने से छोटा-सा कमरा भी लम्बाई में बहुत बड़ा जान पड़ता है।

दर्पणों की सहायता से अचरज भरे तमाशे

कार्निवाल तथा मनोरंजन-पार्क में बिना धड़ के बोलते हुए सिर का तमाशा भी दर्पणों की सहायता से ही दिखलाते हैं। इसके लिए तीन टाँग-वाली एक मेज को इस तरह रखते हैं कि एक पैर सामने रहे, शेष दो पीछे। सामनेवाले पैर से पिछले दोनों पैरों तक मेज के नीचे दो दर्पण लगे रहते हैं—दर्पणों का मुँह स्टेज की ओर रहता है। दोनों दर्पणों के पीछे मेज के नीचे एक आदमी बैठा रहता है। मेज में बने एक झरोखे के रास्ते से इस आदमी का सिर बाहर निकला रहता है। आइनों के सामने काले रंग का पर्दा स्टेज की आड़ में टाँग देते हैं। अतः दर्पण पर दृष्टि डालने से दर्पण तो स्वयं नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि उसमें काले रंग के पर्दे का प्रतिबिम्ब देखकर ऐसा जान पड़ता है कि जहाँ दर्पण लगा हुआ है, वह जगह एकदम खाली है, अर्थात् मेज के नीचे की समूची जगह एकदम खाली है, यद्यपि शीशे के पीछे ही वह व्यक्ति बैठा हुआ है। साधारण दर्शक समझते हैं कि बिना धड़ का सिर मेज पर रखा हुआ है।

क्या कभी आपने ऐसे दर्पण में अपनी झाँकी देखी है?

यह एक वक्र दर्पण में दिखाई देनेवाले विकृत प्रतिबिंब का नमूना है। यह भी आलोक के परावर्तन-संबंधी नियमों का ही खेल है।

हीलियोग्राफ और पेरिस्कोप

दर्पण की मदद से सूर्य-रश्मियों को इच्छित दिशा में प्रेरित करके स्काउट तथा सैनिक परस्पर सांकेतिक भाषा में बातचीत कर लेते हैं। ऐसे यंत्र का नाम हीलियोग्राफ है। एक त्रिपाद पर दर्पण लगा रहता है, जिसका मुँह सूर्य की ओर रहता है। एक बटन दबाकर संकेत करनेवाला सूर्य-रश्मियों को इच्छित स्थान पर सामने की ओर भेज सकता है। देर तक बटन दबाए रखने पर 'डैश' का बोध होता है, और कम देर तक बटन दबाने पर 'डॉट' का बोध होता है। इस प्रकार मोर्स-संकेत-प्रणाली द्वारा संदेश भेजा जा सकता है। इस रीति से १०० मील तक के फासले पर सीधे संकेत भेजे जाने का भी दृष्टान्त मिलता है। इसी तरह साधारण पेरिस्कोप में भी आलोक-रश्मियों के परावर्तन का प्रयोग करते हैं। पेरिस्कोप में साधारणतः एक लम्बी नली के दोनों सिरों पर दो दर्पण लगे रहते हैं। नली को सीधी खड़ी करने पर दूर की वस्तुओं से चलकर आलोक-रश्मियाँ ऊपरवाले दर्पण से परावर्तित होकर नीचे नली के अन्दर जाती हैं, और तब दूसरे दर्पण से परावर्तित होकर वे हमारी आँखों में पहुँचती हैं। पनडुब्बियों में लगे हुए पेरिस्कोप का ऊपरी भाग जरा-सा पानी के बाहर निकला रहता है। इस प्रकार पानी के अन्दर बैठे-बैठे ही पनडुब्बी-संचालक मालूम कर लेता है कि शत्रु का जहाज किस ओर और कितनी दूरी पर है। आधुनिक पेरिस्कोप में समतल दर्पणों के स्थान पर त्रिपार्श्व और लेन्स का प्रयोग करते हैं ताकि बिम्ब अधिक स्पष्ट बन सके।

उन्नतोदर और नतोदर दर्पण

सभी दर्पण समतल धरातल के नहीं हुआ करते। गोले के धरातल के एक टुकड़े को लेकर यदि उसके बाहरी भाग पर कलई करे, तो हमें उन्नतोदर या उतल दर्पण मिलते हैं। यदि भीतरी भाग पर कलई करे तो नतोदर या अवतल दर्पण मिलेगा। वक्र धरातलवाले इन दर्पणो में विचित्र ढंग के प्रतिविम्ब बनते हैं। इसी पृष्ठ का चित्र देखिए। नतोदर दर्पण के बीचोबीच से गुजरनेवाली त्रिज्या 'क ध' मुख्य अक्ष कहलाती है। 'ध' दर्पण का ध्रुव कहलाता है। 'क' उस गोले का केन्द्र है, जिसके धरातल में से दर्पण का टुकड़ा काटा गया है। जैसा कि चित्र नं० ३ से प्रकट है, वे तमाम किरणे जो मुख्य अक्ष के समानान्तर चलकर दर्पण पर आपतित होती हैं, परावर्त्तन के बाद मुख्य अक्ष को विन्दु 'न' पर काटती हैं। 'न' को मुख्य नाभि (फोकस) कहते हैं। वक्र धरातलवाले गोल दर्पणो के परावर्त्तन के सिलसिले में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धरातल के किसी विन्दु पर खीची गई लम्बरेखा केन्द्र 'क' से गुजरनेवाली त्रिज्या होगी।

स्पष्ट है कि 'क' पर रखे हुए विन्दु से चलकर आलोक-रश्मियाँ दर्पण से परावर्त्तित होने पर पुन उसी रास्ते लौटेंगी और 'क' पर ही मिलेंगी। अत इस विन्दु का विम्ब भी 'क' पर ही बनेगा। यदि प्रदीप्त विन्दु 'ख' पर रखा जाय तो परावर्त्तन के उपरान्त 'ख' से चली हुई किरणें 'क' और 'न' के दर्मियान विन्दु 'ग' पर मिलेगी। अत 'ख' का विम्ब 'ग' पर बनेगा। इसके प्रतिकूल यदि प्रदीप्त विन्दु 'ग' पर रखा जाय तो इसका विम्ब 'ख' पर बनेगा। यदि प्रदीप्त विन्दु दर्पण के सामने एकाध मील की दूरी पर रखा जाय, तो इस विन्दु से चली हुई किरणें, जो दर्पण पर आपतित होंगी, लगभग एक दूसरे के समानान्तर ही होंगी, अतः परावर्त्तन के बाद वे सभी 'न' पर मिलेंगी—उस प्रदीप्त विन्दु का विम्ब 'न' पर बनेगा (दे० चित्र मे नं० १, २, ३)। सूर्य का विम्ब नतोदर दर्पण में उसके नाभिविन्दु पर बनता है।

ये सभी विम्ब दर्पण के सामने वास्तव में बनते हैं—धुँधले काँच के परदे पर ये विम्ब स्पष्ट उभर आते हैं। सभी वास्तविक विम्ब उलटे बनते हैं। यदि विम्ब 'क' और 'न' के बीच बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ की अपेक्षा छोटा होता है, और जब विम्ब 'क' 'ध' के बाहर बनता है, तो वह मुख्य पदार्थ से बड़ा होता है। जब वस्तु 'व' को हम 'न' और 'ध' के बीच ले आते हैं तो उस वस्तु से चली हुई किरणे परावर्त्तन के उपरान्त दर्पण के सामने नही मिलती, वरन् वे दर्पण के पीछे 'व' पर मिलती हुई जान पड़ती हैं। अतः इस दशा मे विम्ब काल्पनिक बनता है और यह विम्ब सीधा तथा उस वस्तु की अपेक्षा आकार मे बड़ा होता है (दे० इसी पृष्ठ के चित्र में नं० ४)।

उन्नतोदर दर्पण मे विन्दु 'क' और 'न' दोनों ही दर्पण के पीछे होते हैं। जैसा कि चित्र में नं० ५ से प्रकट है, दर्पण के सामने किसी वस्तु को कही भी रखिए, इसका विम्ब दर्पण के पीछे ही बनेगा—विम्ब काल्पनिक, सीधा तथा आकार में उस वस्तु से छोटा होगा। उन्नतोदर दर्पण में विम्ब सदैव दर्पण के पीछे विन्दु 'ध' और 'क' के बीच बनेगा। यह काल्पनिक विम्ब 'क' से आगे कभी निकल ही नही सकता जैसा चित्रों से स्पष्ट है।

नतोदर और उन्नतोदर दर्पण में आलोक-रश्मियों के परावर्त्तन के सिद्धांत

विवरण के लिए अगले पृष्ठ का मैटर देखिए।

कार्निवाल और मेलों में उन्नतोदर तथा नतोदर और अन्य इसी प्रकार के वक्र दर्पणों को एक दूसरे से सटाकर इस तरह रखते हैं कि दर्शकगण बड़े वीभत्स तथा विचित्र प्रतिविम्ब इनमें देखते हैं। किसी दर्पण में सिर चपटा तथा टाँगे पतली दिखाई देती हैं, तो किसी मे हाथी-जैसी मोटी टाँगें दिखलाई देती हैं (पृ० १२७३ का चित्र देखिए)।

मोटरकार के लैम्प के भीतर बल्ब के पीछे ही नतोदर दर्पण लगा रहता है। बल्ब की किरणें इस नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उस बल्ब का एक वास्तविक बिम्ब कुछ दूर सामने बनाती है—यही बिम्ब अभिवर्द्धित रूप में सड़क पर पड़ता है, जिससे ड्राइवर को अँधेरे में दूर तक रास्ता दिखलाई पड़ता है। वास्तविक अभिवर्द्धित बिम्ब प्राप्त करने के लिए बल्ब को दर्पण के मुख्य नाभिबिन्दु और उसके केन्द्र के बीच में रखना जरूरी होता है। यही प्रबंध सर्चलाइट में भी रहता है, जिसकी सहायता से आलोक को बहुत अधिक दूरी तक फेंका जा सकता है।

आलोक-रश्मियों का वर्तन

आलोक जहाँ अपनी प्रगति के मार्ग में किसी धरातल द्वारा बाधा प्रस्तुत होने पर उक्त धरातल पर से परावर्त्तित होकर अपना मार्ग बदलते देखा जाता है, वहाँ वह किसी माध्यम में से होकर आगे बढ़ने के क्रम में भी माध्यम के घनत्व के प्रभाव से अपने मार्ग से विचलित होते पाया जाता है। यह विचलन ही आलोक का 'वर्तन' कहलाता है। इसके क्या नियम हैं, प्रस्तुत प्रकरण में पढ़िए।

अ*भी तक हम यही समझते आए हैं कि आलोक-*रश्मियाँ सीधी रेखाओं में आगे बढ़ती हैं। किन्तु हर दशा में यह नियम लागू नहीं होता। जब तक आलोक एक ही माध्यम में गमन करता रहता है, निस्सन्देह इसका मार्ग एकदम सीधा होता है। किन्तु आलोक-रश्मि जब एक माध्यम में से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती है, तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, जब आलोक-रश्मि हवा में से पानी में प्रवेश करती है, तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित होकर लम्बरेखा की ओर झुक जाती है। इस क्रिया को आलोक-रश्मियों का वर्तन (रिफ्रेक्शन) कहते हैं। आलोक-रश्मियाँ जब किसी कम घने (विरल) माध्यम से अधिक घनत्ववाले माध्यम में प्रवेश करती हैं, तो वे लम्बरेखा की ओर झुकती हैं। इसके प्रतिकूल जब वे अधिक घनत्ववाले माध्यम से कम घनत्ववाले माध्यम में—जैसे शीशे के अन्दर से हवा में — प्रवेश करती हैं,तो लम्ब-रेखा से विचलित होकर दूर बाहर की ओर झुकती हैं।

सामने रखी हुई किसी वस्तु को आप काँच की एक मोटी पट्टी में से देखिए, तो वह वस्तु अपनी असली *जगह से एक ओर को हटी हुई दिखलाई पड़ेगी, साथ ही* उस वस्तु का व्यक्त स्थान वास्तविक स्थान की अपेक्षा कुछ निकट भी जान पड़ेगा। आलोक-रश्मियों के वर्तन के कारण ही वह वस्तु अपनी जगह से हटी हुई जान पड़ती है। शीशे की पट्टी की मुटाई जितनी अधिक होगी, वह वस्तु उतनी ही अधिक जगह से हटी हुई दिखलाई देगी। जैसा कि पृष्ठ १२७७ के चित्र से प्रकट है, 'क' से चलनेवाली आलोक-रश्मियाँ काँच की पट्टी में प्रवेश करते ही लम्बरेखा की ओर मुड़ जाती हैं। शीशे के अन्दर इन रश्मियों का मार्ग सीधा ही रहता है। फिर ये रश्मियाँ जब शीशे की पट्टी से बाहर निकलती हैं, तो वे पुनः अपने मार्ग से विचलित होती हैं। इस बार एक घने माध्यम से वे विरल माध्यम में आ रही हैं, अतः उनका झुकाव लम्बरेखा से बाहर की ओर होता है। शीशे से बाहर निकल आने पर आलोक - रश्मियों का मार्ग शीशे में प्रवेश करने के पहले वाले मार्ग के समानान्तर होता है। ये आलोक-रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं,तो हमें ऐसा प्रतीत होता है, मानों वे 'क' से आ रही हैं। चित्र से स्पष्ट है कि काँच जितना

आलोक-रश्मियों पर माध्यम के घनत्व का प्रभाव

आलोक-रश्मियाँ कम घने माध्यम (जैसे हवा) से अधिक घने माध्यम (जैसे पानी) में प्रवेश करने पर लम्ब की ओर झुक जाती हैं और अधिक घने (जैसे हवा) से कम घने माध्यम (जैसे शीशा) में प्रवेश करने पर वे लम्ब से बाहर मुड़ती हैं।

यह दृश्य आलोक के वर्तन के कारण ही दिखाई देता है

पानी से भरे गिलास में पड़ा हुआ चम्मच सामने से देखने पर वहाँ से टूटा हुआ दिखाई पड़ता है, जहाँ वह पानी में प्रवेश करता है। ऊपर से देखने पर वही मुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है।

ही अधिक मोटा होगा, वस्तु भी अपनी जगह से उतनी ही अधिक हटी हुई दिखलाई पड़ेगी। परंतु खिड़की के काँच में से बाहर देखने पर हमें बाहर की सभी वस्तुएँ यथास्थान ही दिखाई देती हैं—तो क्या खिड़की के काँच में होकर गुजरने पर आलोक-रश्मियों मे वर्तन नहीं होता? वास्तविक बात यह है कि वर्तन खिड़की के काँच में भी अवश्य होता है, किन्तु यह काँच इतना पतला होता है कि उसमें से गुजरनेवाली आलोक-रश्मियों का विचलन बहुत ही नगण्य-सा हो पाता है।

आलोक-रश्मियों के वर्तन संबंधी कुछ प्रयोग

काँच की पट्टी से एक और मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। मेज पर रूलदार कागज रखिए। कागज पर शीशे की एक पट्टी इस प्रकार रखिए कि काँच की पट्टी के किनारे कागज पर खिंची हुई लाइनों पर तिरछे पड़ें। अब इस पट्टी में से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाइन का वह भाग जो शीशे की पट्टी के नीचे दबा हुआ है, दोनों किनारों पर से टूटकर एक ओर बगल मे हट गया है। यदि शीशे की पट्टी कागज पर इस प्रकार रक्खी जाय कि लाइनें शीशे के किनारों को लम्बवत् काटती हों, तो ऐसी दशा में ऊपर से देखने पर लाइन शीशे के भीतर टूटी हुई न दिखलाई देगी। यह अवश्य एक ध्यान देने योग्य बात है। क्योंकि इस निरीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोक-रश्मि जब एक माध्यम में से दूसरे माध्यम मे लम्बवत् प्रवेश करती है, तब उस रश्मि का मार्ग तनिक भी नही बदलता। ऐसी दशा में आलोक-रश्मियों में वर्तन होता ही नहीं।

गिलास में स्वच्छ जल भरकर उसमें चम्मच इस प्रकार डाल दीजिए कि चम्मच का थोड़ा-सा भाग बाहर निकला रहे। सामने से देखने पर मालूम होगा कि पानी के अन्दर जिस जगह चम्मच प्रवेश करता है, उस जगह से चम्मच टूटा हुआ है तथा पानी के अन्दरवाला यह भाग छोटा है, और ऊपर को उठा हुआ है! पानी के अन्दर डूबा हुआ चम्मच अपने स्थान से हटा हुआ इसलिए दिखलाई देता है कि डूबे हुए भाग से चली हुई आलोक-रश्मियाँ पानी के बाहर निकलने पर वर्तित होकर अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती हैं। ये ही आलोक-रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं, तो हमे ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस विचलित मार्ग की दिशा में से आ रही हैं (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)।

बाल्टी में यदि स्वच्छ जल भरा हो तो ऊपर से देखने पर उसकी गहराई कम मालूम पड़ती है। हमें वर्तन के कारण बाल्टी का पेंदा उठा हुआ दिखलाई पड़ता है (देखिए पृष्ठ १२७८ का ऊपरी चित्र)। कुछ वर्ष हुए चीन सागर में एक वैज्ञानिक जहाज पर यात्रा कर रहा था। एकाएक नाविकों ने शोर मचाया कि जहाज उथले पानी में आ गया है और नीचे की मूंगे की चट्टानों से वह टकरा जाना चाहता है। प्रधान अफसर की आज्ञा से जहाज कुछ दूर पीछे हटाया गया, क्योंकि वास्तव में स्वच्छ जल में थोड़ी ही गहराई पर मूंगे की कुछ चट्टानें दिखलाई दे रही थीं और उस घड़ी एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी यही सोचता कि इन चट्टानों से जहाज का पेंदा अवश्य टकराकर टूट जायगा। पर तुरन्त ही कप्तान ने थाह लगानेवाले यंत्र से गहराई नापी, तो पता चला कि उस जगह समुद्र की गहराई काफी थी, अत. जहाज के लिए एकदम खतरा न था। अवश्य ही आलोक-रश्मियों के वर्तन के कारण ही समुद्रतल ऊँचा उठा हुआ दिखलाई दे रहा था।

एक और बात है। पानी या किसी भी पारदर्शी पदार्थ के अन्दर वस्तु को जितनी ही अधिक तिरछी दिशा से आप देखेंगे, उतनी ही ऊपर उठी हुई वह आपको दिखलाई देगी। नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अन्दर की मछली

को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति, जो नाव के अन्दर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा से मछली के देखने का प्रयत्न कर रहा है। जैसा कि पृष्ठ १२८२ के चित्र से प्रकट है, इस व्यक्ति को ऐसा जान पड़ेगा, मानों मछली एकदम ऊपर पानी की सतह के पास ही है।

वर्तन के कारण धरातल के ऊपर उठ जाने का एक स्पष्ट उदाहरण निम्नलिखित प्रयोग में देखा जा सकता है। इस प्रयोग को आप अपने घर पर भी कर सकते हैं। पत्थर की एक प्याली लीजिए, जिसका पेंदा चपटा हो। अब मोम की सहायता से एक इकन्नी प्याले में रखकर पेंदे से चिपका दीजिए। प्याले को फर्श पर रख दीजिए। अब खड़े होकर प्याले की इकन्नी पर निगाह लगाइए। इकन्नी पर से निगाह हटाए बिना ही पीछे हटते जाइए। ज्योंही इकन्नी आपकी दृष्टि से ओझल होती हो, आप ठहर जाइए। इकन्नी और आपकी आँख के बीच प्याली की दीवाल का किनारा आ गया है, इसी कारण इकन्नी अब आपको दिखलाई नहीं देती। अवश्य ही यदि इकन्नी को किसी भाँति जरा ऊँचा उठ दिया जाय, तो आपको वह फिर दिखाई देने लगेगी। आप अपने मित्र से कहिए कि वह प्याले के अन्दर पानी उँडेले। प्याले के अन्दर ज्यों-ज्यों पानी पहुँचेगा, इकन्नी भी ऊपर को उठती हुई जान पड़ेगी, यहाँ तक तक कि वह आपको फिर दिखलाई देने लग जायगी, क्योंकि इकन्नी से आनेवाली आलोक-रश्मियाँ, प्याले में पानी भरने से पूर्व, एकदम सीधी आपकी आँखों तक पहुँचना चाहती थी, किन्तु बीच में प्याले की दीवाल के आ जाने से वे ऐसा करने में असमर्थ थीं। पानी भर देने पर, पानी से बाहर निकलने पर आलोक-रश्मियाँ आवर्तित होकर मुड़ जाती है और इस तरह वे आपकी आँखों तक पहुँच जाती हैं।

वर्तन के कारण आलोक-रश्मियों का अपने पूर्व मार्ग से विचलित होना हम स्वयं अपनी आँखों से देख सकते हैं। शीशे के एक चौकोर वर्त्तन में प्रतिदीप्त करनेवाले घोल को भरिए। घोल गाढा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का घोल कुनीन सल्फेट, अलकोहोल और पानी की सहायता से तैयार किया जा सकता है। कुनीन सल्फेट एक भाग और अलोकोहोल १०० भाग लेकर मिला दीजिए। कुनीन सल्फेट के घुल जाने पर इस घोल का एक बूँद एक लोटे पानी में डाल दीजिए। अब धूपछाँह रंग का एक प्रतिदीप्त करनेवाला घोल तैयार हो गया। दफ्ती के दो टुकड़े लेकर उनमें दो झिरी काटिए। शीशे की दीवाल के सामने दोनों दफ्तियों को इस प्रकार रखिए कि दोनों झिरी से गुजरनेवाली रेखा वर्त्तन की दीवाल पर तिरछी पड़े। एक तेज रोशनीवाले टार्च से आलोक-रश्मियों का पुंज यदि झिरी के रास्ते वर्तन में भेजा जाय तो आप देखेंगे कि ये रश्मियाँ दोनों झिरी की सीध में घोल के अन्दर अपना मार्ग नहीं बनाती, वरन् वे अपने पूर्व मार्ग से थोड़ी विचलित हो जाती है। चूंकि ये रश्मियाँ एक घने माध्यम में प्रवेश कर रही है, अतः ये घोल के अन्दर घुसते ही लम्बरेखा की ओर मुड़ जाती है। घोल के अन्दर ये किरणें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि आलोक-रश्मि के मार्ग में घोल के जो अवयव आते हैं, वे एकदम प्रदीप्त हो उठते हैं। अतः आलोक-रश्मि का मार्ग भी आलोकित हो जाता है।

गैसों में भी आलोक को वर्तित करने की शक्ति है

वर्तन का गुण न केवल पारदर्शी ठोस और द्रव में पाया जाता है, बल्कि गैसों में भी यह गुण मौजूद है। हाइड्रोजन में वर्तन की शक्ति सबसे अधिक और ऑक्सिजन में सबसे कम है। यदि हवा की वर्तनशक्ति को हम १००० मानें तो हाइड्रोजन की वर्तनशक्ति ६६१४ और आक्सिजन की ८४१ उतरेगी। स्वयं
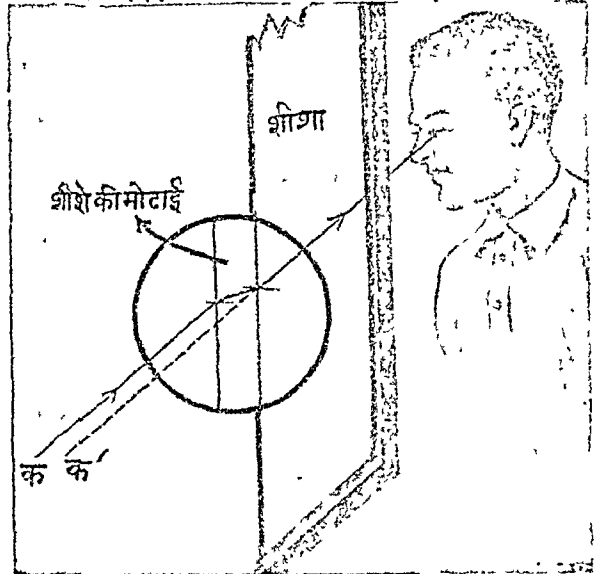
शीशे की मोटाई के अनुसार आलोक का विचलन

क से चलनेवाली आलोक-रश्मि शीशे में होकर निकलने पर वर्तित हो जाती है, जिससे दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह क' बिंदु से आ रही हो।

हवा के विभिन्न स्तर यदि भिन्न-भिन्न ताप पर हों तो घनत्व बदल जाने के कारण उनकी वर्तन-शक्ति एक-सी नही रह जाती। फलस्वरूप इन वायुस्तरो में से होकर आलोक-रश्मि जब गुजरती है, तो प्रत्येक नए स्तर में प्रवेश करने पर वह अपना मार्ग थोड़ा-सा बदल देती है। यदि किसी कारण इन वायुस्तरों का ताप निरन्तर बदलना ही रहे,तो उसी के अनुसार आलोक-रश्मि भी अपना मार्ग निरन्तर बदलती रहेगी। कुम्हार के आँवे के पास सुवह को चले जाइए। आँवे के स्पर्श मे आनेवाली हवा के स्तर गरम होते है, किन्तु ऊपर के वायुस्तर ठंडे रहते है। अतःइन वायु स्तरो मे से होकर दूर की चीजो से आने वाली आलोक-रश्मियाँ तो वर्तित हो जाती है। चूँकि हवाके बहते रहने से इन वायु स्तरों का ताप बदलता रहता है, अतः हमारी आँखों तक पहुँचने वाली वर्त्तित रश्मियो का मार्ग भी निरन्तर बदलता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों दूर की वे वस्तुएँ काँप रही है! जेठ की दोपहर मे! इसी ढंग का अनुभ व होने पर कहते है कि दुपहरिया नाच रही है।
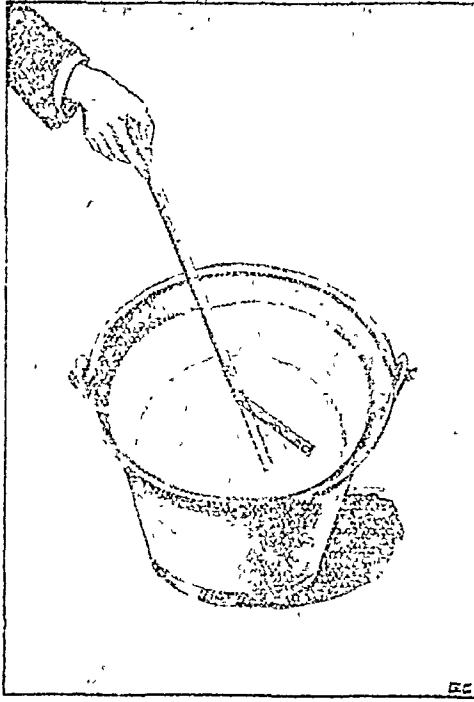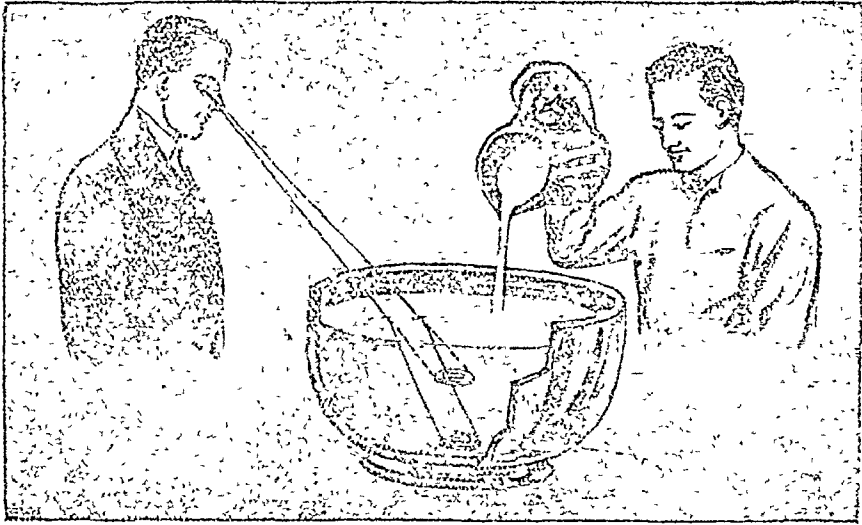
वर्तन संबंधी दो मनोरंजक प्रयोग

(ऊपर) बाल्टी में यदि स्वच्छ जल भरा हो, तो ऊपर से देखने पर बाल्टी की गहराई कम मालूम देगी और उसका पेंदा उठा हुआ दिखाई पड़ेगा। उसमें एक लकड़ी डालिए, वह एक जगह से मुड़ी हुई दिखाई पड़ेगी। यह आलोक-रश्मियों के वर्तन की ही करतूत है। (नीचे) इकन्नी का प्रयोग। विवरण के लिए पृष्ठ १२७६-१२७७ का मैटर पढ़िए।

वर्तन के कुछ चमत्कार

आकाश के ग्रह और नक्षत्रो से चली हुई आलोक-रश्मियाँ जब शून्य (वैकुअम) से हमारी पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करती है, तो वे अपने पूर्व मार्ग से वर्तन के कारण विचलित हो जाती है। इसी कारण सूर्यास्त के समय यद्यपि सूर्य क्षितिज से नीचे पहुँच चुका होता है, फिर भी हमें ऐसा जान पड़ता है,मानों समूचा सूर्य अभी क्षितिज के ऊपर ही है। क्षितिज के नीचे से चली हुई आलोक-रश्मियाँ वायुस्तरो द्वारा वर्तित होकर मुड़ जाती हैं, और इस तरह वे हमारी आँखों तक पहुँचने में समर्थ होती है। आसमान के नक्षत्र गण भी वर्तित आलोक-रश्मियों द्वाराही हमे दृष्टिगोचर होते है। अतः हमें वे अपनी वास्तविक स्थिति से कुछ ऊपर उठे हुए दिखलाई देते है। इस स्थल पर यह लोकोक्ति खूब चरितार्थ होती है कि जिस रूप और दशा
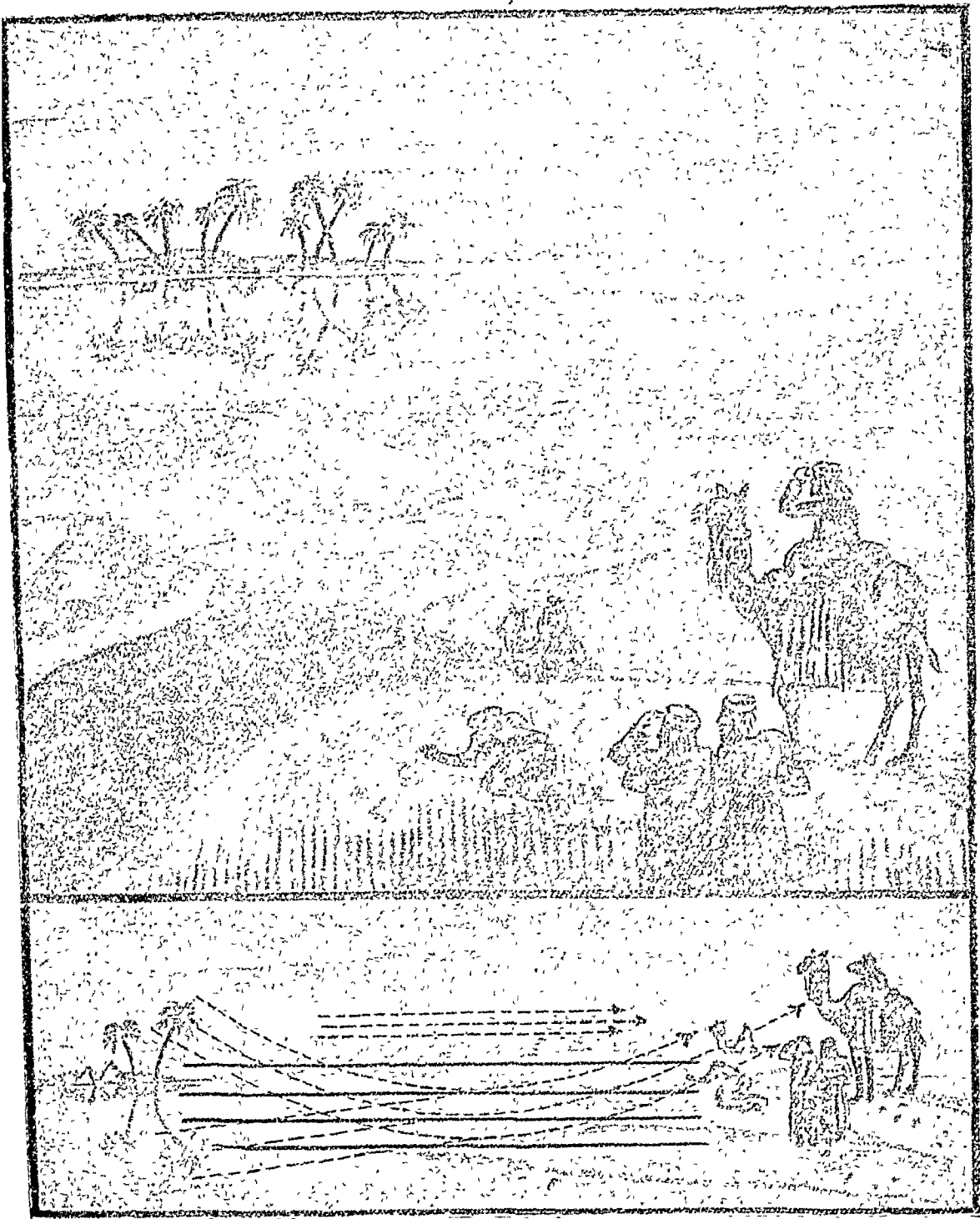
मरुभूमि में दिखाई पड़नेवाली 'मरीचिका' या 'मृगतृष्णा' का दृश्य आलोक के वर्तन का ही चमत्कार है

रेगिस्तानों में प्रायः दोपहर के समय कभी-कभी दूर दिखाई पड़नेवाले वृक्षों की ऐसी परछाई-सी दिखाई देने लगती है, जिसमे दर्शक को वहाँ पर जल के होने का भ्रम हो जाता है, जबकि वास्तव में वहाँ पर जल का नामोनिशान तक नहीं होता। यह आलोक रश्मियों के वर्तन के कारण ही होता है, जैसा कि नीचे के मानचित्र में समझाया गया है। वृक्षों से आनेवाली किरणें ऊपर की सघन वायु से नीचे की विरल वायु में आने के कारण वर्तित होकर दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं, जिससे वृक्ष इस प्रकार उल्टे दिखाई पड़ते हैं, मानो जल में उनकी परछाईं पड़ रही हो !

में हमें वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं, वह प्राय: यथार्थता से भिन्न होता है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)।

हमारी पृथ्वी गोल है, अतएव धरातल पर हम बहुत दूर तक चीजे नहीं देख सकते, क्योंकि कुछ मील आगे बढ़ने पर धरती का उभड़ा हुआ भाग बीच में आ जाता है और इस कारण दूर की चीजे क्षितिज से नीचे छिप जाती है। परन्तु ध्रुवप्रान्तो मे ठण्डे हिम के स्पर्श से धरती के निकट के वायुस्तर विशेष ठण्डे हो जाते है। ऐसी परिस्थितियों में प्राय: क्षितिज के नीचे के जहाज या गाँव वर्तित किरणों की मदद से स्पष्ट दिखलाई दे जाते है। ध्रुव-अनुसन्धान के प्रसिद्ध अभियानकारी विलियम स्कोरेस्वी का कहना है कि ग्रीनलैण्ड से कुछ दूर जब वह अनुसन्धान के निमित्त अपने जहाज पर जा रहा था, तब उसने 'फेम' नामक जहाज को एक दिन बिल्कुल स्पष्ट देखा, यद्यपि वह जहाज क्षितिज से पूरे १७ मील आगे था। मारीशस द्वीप के समुद्र-तट पर एक नाविक को एक बार एक जहाज, जो उस समय पूरे २०० मील के फासले पर था, बिल्कुल साफ दिखलाई पड़ा था! कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तन के बिना धरती पर इतनी दूर की चीजें कदापि नहीं दृष्टिगोचर हो सकती। वर्तन द्वारा क्षितिज से ऊँचे उठकर दृष्टिगोचर होने की क्रिया को अंग्रेजी में 'लूमिंग' कहते हैं। डोवर और कैले के बीच ब्रिटिश चैनेल की चौड़ाई ४५ मील है। अत: डोवर से कैले की चीजे साधारणत: दिखलाई नही दे सकतीं, क्योंकि डोवर के क्षितिज मे कैले नीचे पड़ता है। किन्तु एक बार दूरवीक्षण यंत्र से देखने पर बोलोन से कैले की ओर भागती हुई एक रेलवे-ट्रेन स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई थी! बोलोन का नेपोलियन स्तम्भ तो कैले से कई बार देखा जा चुका है!

वायुमण्डल द्वारा वर्तन के कारण प्रात: और सन्ध्या समय प्राय: सूर्य का रूप चपटा-चपटा-सा दिखाई पड़ता है। दोपहर को सूर्य जब ऊपर आकाश में रहता है, तो उस समय सूर्य के प्रत्येक भाग से जो किरणें वायुमण्डल में प्रवेश करती है, वे वायुस्तर के साथ लगभग बराबर कोण
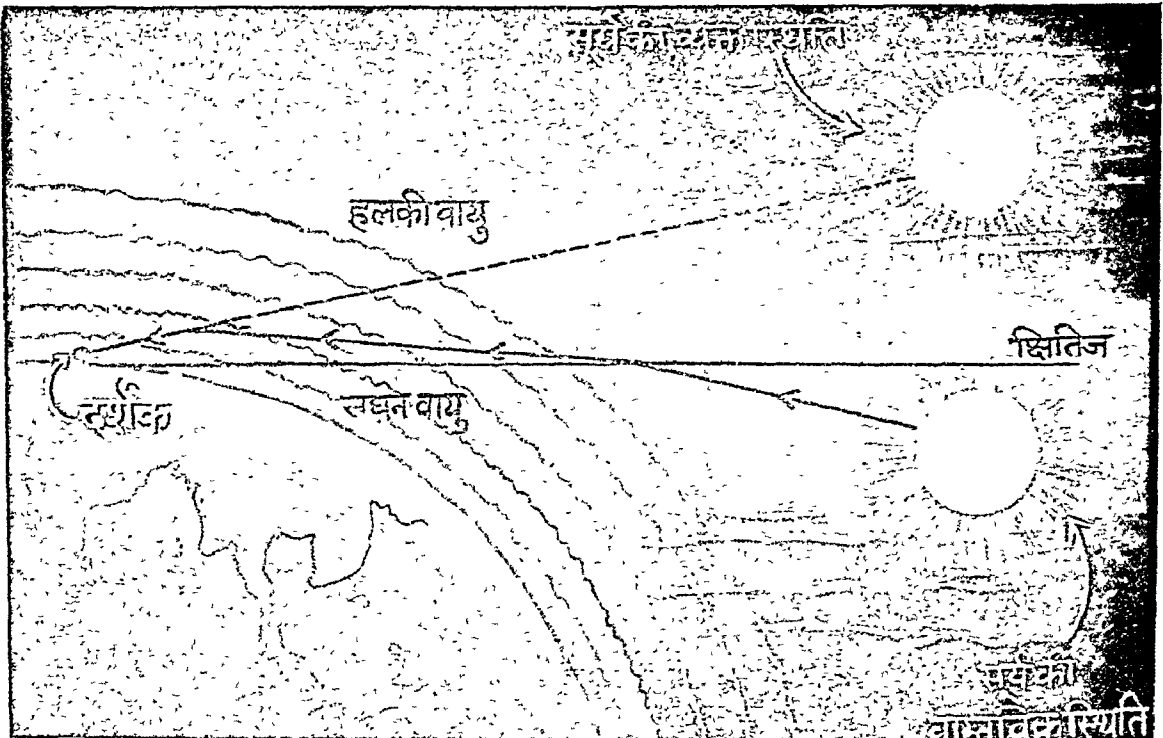
सूर्यास्त के समय क्षितिज से नीचे चले जाने पर भी सूर्य क्यों दिखाई देता है?

संध्या के समय सूर्य हमें क्षितिज के नीचे छिप जाने पर भी बहुत देर तक दिखाई देता रहता है। इसका कारण आलोक-रश्मियों का वर्तन ही है। जैसा कि इस चित्र से विदित होता है पृथ्वी के निकट ही सघन वायु की पर्त में से होकर दर्शक की आँखों तक पहुँचते-पहुँचते सूर्य की किरणें वर्तन के कारण मुड़ जाती हैं और इस प्रकार हमे सूर्य की स्थिति क्षितिज से ऊपर व्यक्त होती है जब कि वास्तविक स्थिति काफी नीचे होती है।

बनाती है, अतः उन सबमें वर्तन द्वारा विचलन भी समान मात्रा में ही होता है। किन्तु सन्ध्या या सुबह को सूर्य के गोले के शीर्षभाग से आनेवाली किरणें वायुस्तर को उतनी तिरछी नहीं काटतीं, जितनी गोले के निचले भाग से आनेवाली किरणें। अतः निचले भाग से आनेवाली किरणों में वर्तन भी अपेक्षाकृत अधिक ही होता है। फलस्वरूप सूर्य के गोले का शीर्षभाग वर्तन द्वारा उतना ऊपर नहीं उठ पाता, जितना उसका निचला भाग। अतएव सूर्य का गोला अब गोला न रहकर कुछ चपटा हो जाता है।

हम जानते हैं कि आलोक-रश्मियाँ जब किसी विरल माध्यम में से होकर किसी सघन माध्यम में प्रवेश करती हैं, तो वर्तित किरण लम्ब की ओर झुक जाती है। इसके विपरीत सघन माध्यम में से विरल माध्यम में प्रवेश करने पर वर्तित किरण लम्ब रेखा से दूर को मुड़ जाती है। इस दशा में सघन माध्यम में से आनेवाली आलोक-रश्मियाँ यदि विरल माध्यम में तिरछी दिशा से प्रवेश करें तो वर्तित किरणें लम्ब रेखा से और भी दूर हट जाएँगी। जैसा कि इसी पृष्ठ के चित्र में सं० १ से प्रकट है, यदि कोण ∠क ख ग को धीरे-धीरे बढ़ाया जाय तो कोण च ख य भी बढ़ता जायगा, यहाँतक कि किरण क ख की ऐसी स्थिति भी आ पहुँचेगी जब वर्तित किरण धरातल अ ख ब से बाहर निकलने में एकदम असमर्थ होगी। वर्तित किरण अ ख ब के समानान्तर निकलेगी। यह उस विरल माध्यम में प्रवेश न कर पायगी। इस दशा में सघन माध्यमवाली किरण लम्ब के साथ जो कोण बनाती है, उसे 'चरम कोण' कहते हैं। यदि किरण क ख को और भी तिरछी की जाय, तो कोण क ख ग का मान 'चरम कोण' के मान से बढ़ जायगा और तब वर्तित किरण न तो विरल माध्यम में पहुँच पायगी और न वह पृथक्करणी धरातल अ ख ब के समानान्तर ही निकलेगी, बल्कि यह किरण बिन्दु ख पर उस पृथक्करणी धरातल से समूची ही परावर्त्तित हो जायगी। अ ख और क ख के बीच की सभी आलोकरश्मियों का सम्पूर्ण परावर्तन होना अवश्यम्भावी है। काँच से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि के लिए चरम कोण का मान ४२° है। पानी से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि का चरम कोण ४८° है।

'चरम कोण' की रचना और संपूर्ण परावर्त्तन
(१) देखिए इसी का मैटर। (२) प्रिज्म द्वारा पूर्ण परावर्त्तन। देखिए इसी पृष्ठ और पृष्ठ १२८२ का मैटर। (३) प्रिज्मयुक्त दो आँखवाली दूरबीन का सिद्धान्त। देखिए पृष्ठ १२८२ का मैटर।

संपूर्ण परावर्त्तन

बढ़िया-से बढ़िया दर्पण में भी कलईवाले धरातल से संपूर्ण परावर्त्तन नहीं हो पाता। दर्पण पर आलोक-रश्मियाँ जब गिरती हैं, तो उनका कुछ अंश तो दर्पण के ऊपरी धरातल से ही परावर्त्तित हो जाता है और शेष भीतर के कलईवाले धरातल से परावर्त्तित होता है। अतः ऐसे दर्पण में बननेवाला बिम्ब न उतना स्पष्ट होता है और न उतना चटकीला, जितना सम्पूर्ण परावर्त्तन द्वारा बना हुआ बिम्ब। चटकीला बिम्ब प्राप्त करने के लिए ऐसा साधन काम में लाना होता है, जिस में आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन पूर्ण रूप से हो। इसी पृष्ठ के चित्र २ में अ स ब एक समद्विबाहु समकोण प्रिज्म

है। रश्मि 'क ख' भुजा 'अस' को भेदकर 'अ ब' तक सीधी पहुँच जाती है। 'अ स' पर इस रश्मि का वर्तन नहीं होता, क्योंकि 'अ स' पर 'क ख' लम्बवत् गिरती है। स्पष्ट है कि अब धरातल के लम्ब के साथ 'क ख' 'क ख' डिग्री का कोण बनाती है। अत रश्मि 'क ख' धरातल अ ब को भेदकर बाहर निकल पाएगी। पूर्ण रूप से परावर्त्तित होकर 'ख ग' के रास्ते यह रश्मि 'ब स' को भेदती हुई बाहर निकल जाती है, मानो 'अ ब' एक अत्यन्त ही बढ़िया पर्दे का दर्पण है। सबमैरीन के पेरिस्कोप में दर्पण के स्थान पर इसी ढंग के समकोण प्रिज्म का प्रयोग होता है, ताकि बाहरी दृश्य का बिम्ब पेरिस्कोप के धुंधले कांच के परदे पर स्पष्ट और चटकीला बन सके। प्रिज्मवाली दो आँखों की दूरबीन में भी आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करके उलटी दिशा में ले जाने के लिए दो समकोण प्रिज्मो का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से दूरबीन की लम्बाई में दो तिहाई की कमी हो जाती है (देखिए पृष्ठ १२८१ के चित्र में नं० ३)

सम्पूर्ण परावर्त्तन के सम्बन्ध मे स्वयं आप भी एक दिलचस्प प्रयोग कर सकते है। पानी से भरे हुए एक कांच के बरतन में एक पतली परख-नली तिरछी करके इस प्रकार रखिए कि पानी के धरातल के साथ वह ५० डिग्री से बड़ा कोण बनाए। अब बरतन की दीवालो में से सूर्य की किरणें यदि नली की ओर भेजी जायँ तो ये पूर्ण रूप से नली की दीवाल पर परावर्तित हो जायँगी और ऊपर से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा, मानों नली की दीवाल चाँदी की बनी है। तदुपरान्त परख-नली मे स्वच्छ जल भर दीजिए। नली की सारी चमक तत्काल ही जाती रहेगी, क्योंकि अब नली की दीवाल पर आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने का कोई कारण शेष न रहा।

हीरे का चरम कोण २४ अंश होता है। अतः हीरे के धरातल से आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने की सम्भावना अधिक होती है। हीरे की काट-छाँट इस होशियारी से की जाती है कि जो आलोक-रश्मियाँ सामनेवाले पहल से परावर्त्तित न होकर भीतर प्रवेश कर जाती हैं, उनके बगलवाले पहल से पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। अतः हीरा तनिक प्रकाश को पाकर भी जगमगा उठता है।

मरीचिका

मरीचिका (मृगतृष्णा) के पीछे भी वर्तन और सम्पूर्ण परावर्त्तन का रहस्य छिपा हुआ है। मरुस्थल की तपती हुई धूल में यात्री को ऐसा प्रतीत होता है कि फासले पर पानी से भरा हुआ कोई तालाब है। वृक्ष, पहाड़ और आसमान का बिम्ब भी पानी में उसे दिखाई पड़ता है। किन्तु वास्तविकता यह होती है कि उस ठौर भी वैसी ही तपती हुई बालू पड़ी रहती है। पानी का कहीं नामोनिशान भी नहीं होता। समीप जाने पर प्यास से आकुल यात्री हताश हो जाता है। रेगिस्तान में भूमि की तप्त रेत के दर्पण से निकट के वायुस्तर खूब गरम
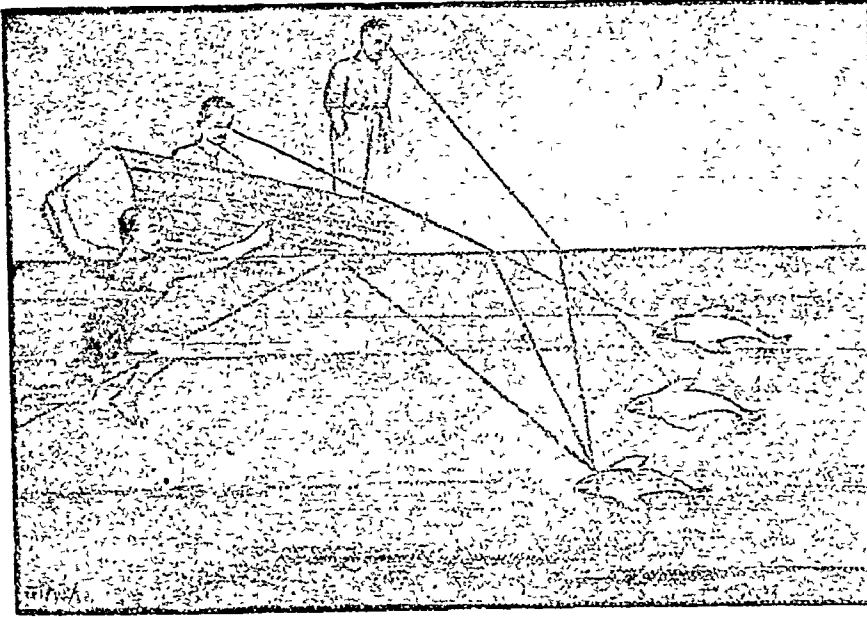
दर्शक की स्थिति के भेदानुसार वर्त्तन द्वारा प्रस्तुत झांकी की विविधता

नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अंदर की मछली को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति जो नाव के अंदर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा मे मछली को ऐसा देख रहा है, मानों वह पानी की सतह के एकदम पास ही है। तीसरा व्यक्ति, जो पानी की सतह पर तैर रहा है, मछली को देख ही नहीं पा रहा है। यह सब आलोक-रश्मियों के वर्तन की ही करामात है।
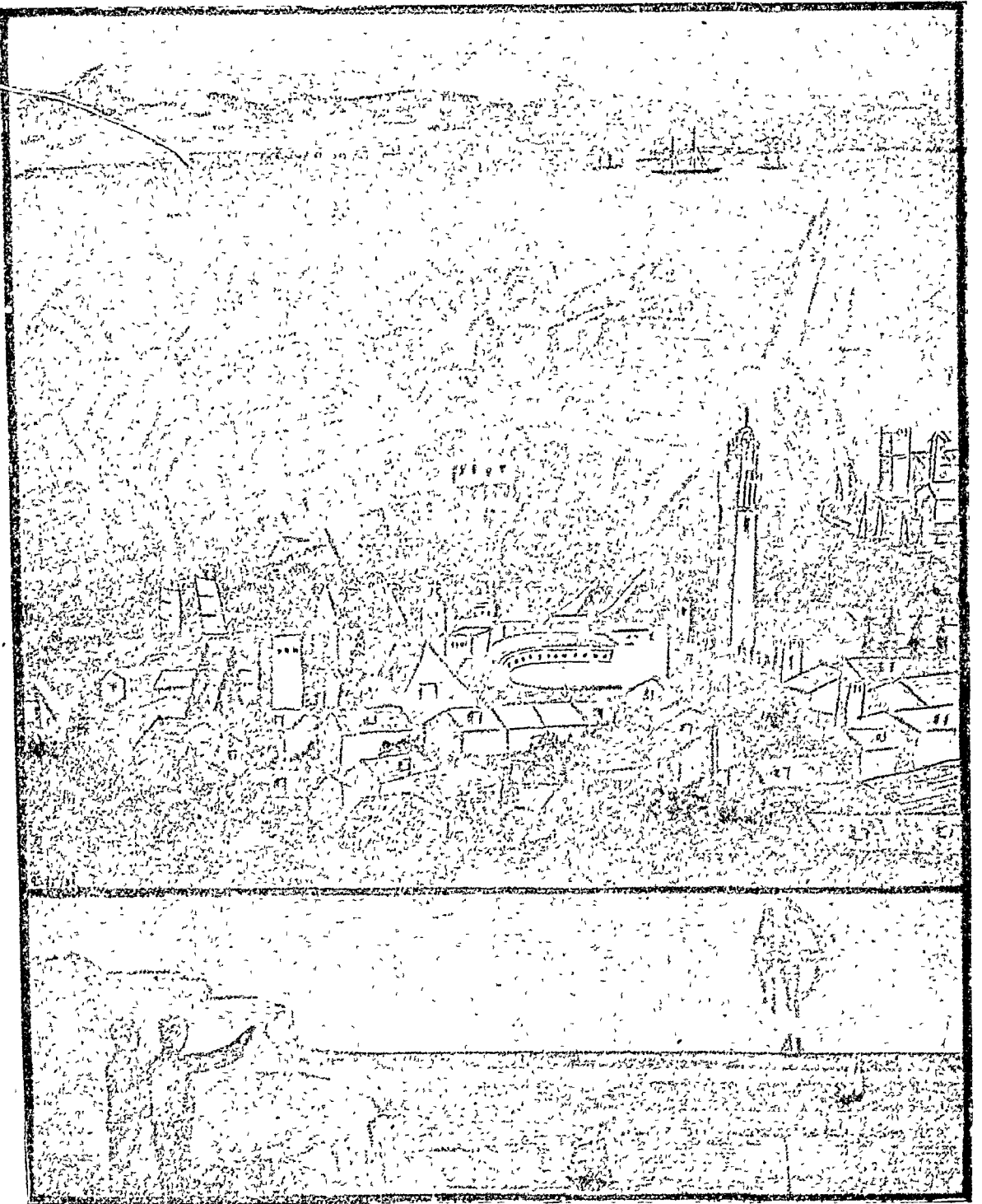
वर्तन और परावर्त्तन के कारण भांति-भांति की मरीचिकाएं

इटली और सिसली द्वीप के तट पर किसी ऊंचे स्थान पर खड़े दर्शक को किसी-किसी दिन सुबह आकाश में वायुमण्डल में इसी प्रकार के टेढ़े-मेढ़े मकानों, जहाजों आदि की एक धुंधली-सी तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है, जो क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। यह विचित्र दृश्य प्रातःकालीन कोहरे पर प्रकाश-रश्मियों के वर्तन और परावर्त्तन के कारण प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार कभी-कभी ठंडे देशों के समुद्र-तट पर से ऊंचे आकाश में किसी दूरवर्ती जहाज का बिंब भी दिखाई देने लगता है, जैसा कि नीचे के चित्र में प्रदर्शित है।

हो जाते हैं, किन्तु ऊपर के वायुस्तर अपेक्षाकृत ठण्ढे ही रहते हैं। अतः ऊपर से ज्यों-ज्यों हम नीचे आते हैं, सघन से विरल माध्यम मिलते हैं। खजूर के वृक्ष की चोटी से आनेवाली आलोक-रश्मि ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है, वह लम्ब रेखा से दूर हटती जाती है। यहाँ तक कि कुछ दूर नीचे पहुँचने पर इस रश्मि और लम्ब रेखा के बीच के कोण का नाप इतना बढ जाता है कि यह रश्मि अन्य वायुस्तरों को भेदकर आगे नही बढ सकती। फलत. इसका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। परावर्त्तन होने पर ऊपरवाले वायुस्तरों को पार कर जब यह आलोक-रश्मि यात्री की आँखों में पहुँचती है, तो ऐसा जान पडता है मानो यह रश्मि नीचे से आ रही है। इससे भ्रमवश यात्री समझता है कि फासले पर पानी के अन्दर खजूर के वृक्ष और आसमान का बिम्ब दिखाई दे रहा है।

केवल रेगिस्तान ही मे नहीं, शहरों की तारकोल से पुती हुई काली सड़क पर भी मई-जून की दुपहरिया में अक्सर लोगों ने मरीचिका देखी है।

ताल या लेन्स तथा तालयुक्त यंत्र

पिछले प्रकरणों में हमने आलोक-रश्मियों के वर्तन और परावर्त्तन संबंधी नियमों की जानकारी प्राप्त की। इस प्रकरण में ताल और त्रिपार्श्व में से होकर गुजरने पर आलोक-रश्मियों के वर्तन तथा बिम्ब-निर्माण की क्रिया एवं इस सिद्धान्त का विवेचन किया गया है तथा विविध यंत्रों के निर्माण में किस प्रकार इन सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ है, इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है।

हम सब जानते है कि उभड़े हुए काँच, जिन्हें ताल या लेन्स कहते है, नन्ही-नन्ही वस्तुओं को परिवर्द्धित आकार मे दिखा सकते है। दृष्टिशक्ति कम होने पर लोग तालयुक्त चश्मों का प्रयोग करते है। केमरा, सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक भी हमे ताल या लेंस की बदौलत ही लभ्य हो सके है।

कुछ लेंस दोनों ओर से उभरे होते है—बीच में मोटे होते है और किनारे की ओर पतले। ऐसे लेन्स को उन्नतोदर लेन्स कहते है। किसी-किसी उन्नतोदर लेन्स का एक ओर का धरातल उभरा हुआ अवश्य रहता है, किन्तु दूसरी ओर का धरातल या तो एकदम समतल सपाट होता या भीतर की ओर ही चिपका होता है। किन्तु हर हालत में उन्नतोदर ताल का मध्य भाग किनारे के हिस्से से मोटाई में अधिक होता है। इसके विपरीत नतोदर ताल में मध्य भाग किनारे के हिस्से की अपेक्षा सदैव पतला रहता है। नतोदर ताल के दोनों ओर के धरातल भीतर की ओर दबे हो सकते हैं। किसी-किसी में एक ही ओर का धरातल दबा होगा, दूसरी ओर का या तो सपाट होगा या थोड़ा-सा बाहर की ओर भी उभरा हुआ, किन्तु इतना नही कि ताल का मध्य भाग शेष भाग की अपेक्षा मोटा हो जाय।

भिन्न-भिन्न प्रकार के लेन्स या ताल

१. युगलोन्नतोदरः २. समोन्नतोदरः ३. नतोन्नतोदर; ४. युगल-नतोदरः ५. समनतोदरः ६. उन्नतनतोदर।

त्रिपार्श्व या प्रिज्म

आलोक-रश्मियाँ किस प्रकार लेन्स द्वारा बिम्ब बनाती है, इसे समझने के लिए हमें पहले प्रिज्म या त्रिपार्श्व का अध्ययन करना होगा। किसी पारदर्शी माध्यम के ऐसे टुकड़े को हम ले, जो तीन समतल पहल से इस तरह घिरा हो कि एक पहल दूसरे पहल के साथ जिस कोर पर मिला हो, वहाँ एक कोण बनता हो। इस तरह प्रत्येक त्रिपार्श्व के तीन पहल और तीन कोर होते है। कल्पना

कीजिए कि अ ब स पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोक-रश्मि क ख पहल अ ब पर शीशे में प्रवेश करती है (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र)। वर्तन होने के कारण यह रश्मि अपने पूर्व-मार्ग से विचलित होकर ख ग मार्ग का अनुसरण करती है। पार्श्व अ स पर पहुँचकर रश्मि ख ग शीशे का माध्यम छोड़कर वायु के माध्यम में प्रवेश करती है, अतः इस रश्मि का एक वार फिर वर्तन होता है। इस वार रश्मि लम्ब से दूर हटती है। त्रिपार्श्व से वाहर निकलने पर हम देखते हैं कि आलोक-रश्मि अपने पूर्व-मार्ग से काफी विचलित हो गई है। विचलन की मात्रा तीन वातों पर निर्भर करती है—त्रिपार्श्व का माध्यम, त्रिपार्श्व के सामनेवाले कोर का कोण और रश्मि का त्रिपार्श्व के धरातल के साथ झुकाव। वर्तन के उपरान्त आलोक-रश्मि सदैव आधार की ओर ही विचलित होती है। प्रत्येक त्रिपार्श्व के लिए आपतित आलोक-रश्मि और त्रिपार्श्व के पहल के बीच के कोण का एक मान निश्चित रहता है, जवकि वर्तन के उपरान्त आलोक-रश्मि में अल्पतम विचलन होता है। यदि आपतित रश्मि का झुकाव इस निश्चित मान से कम या अधिक हुआ, तो हर दशा में वर्तित रश्मि का विचलन उपर्युक्त विचलन से अधिक ही होगा। एक वात और है। इस अल्पतम विचलन की मात्रा त्रिपार्श्व के कोर के कोण के अनुपात में ही घटती-वढ़ती है। यदि दो त्रिपार्श्व एक ही पदार्थ के वने हों, तो जिस त्रिपार्श्व के कोर का कोण वड़ा होगा, उसके अन्दर अल्पतम विचलन भी अधिक होगा। आइए, अव दो ऐसे त्रिपार्श्वों को, जो विल्कुल एक से हों, लीजिए। दोनों के पेंदे, जैसा ऊपर के चित्र में दिखाया है, एक दूसरे से सटा दीजिए। विन्दु 'क' से दो आलोक-रश्मियाँ क ख और क ग इन दोनो त्रिपार्श्वों पर समान झुकाव के साथ आपतित होती हैं, अतः
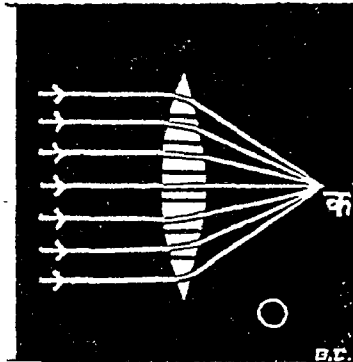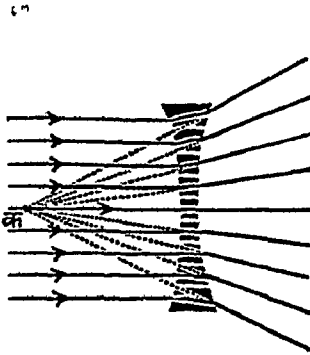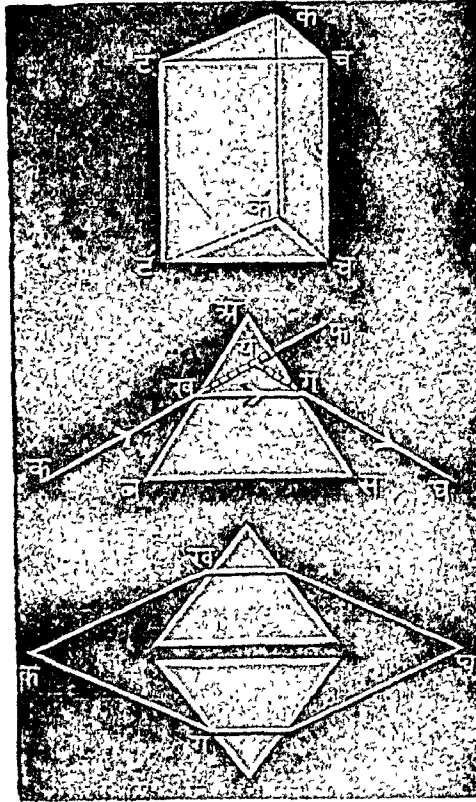
त्रिपार्श्व एवं उन्नतोदर तथा नतोदर ताल द्वारा वर्तन

(ऊपर) प्रथम पंक्ति में, प्रिज्म या त्रिपार्श्व। क क', च च', और ट ट', इस त्रिपार्श्व के तीन कोर हैं। द्वितीय पंक्ति में, अ ब स पर शीशे का त्रिपार्श्व लम्बवत् खड़ा है। आलोक-रश्मि क ख पहलू अ ब पर शीशे में प्रवेश करती है और वर्तित होकर ख ग मार्ग ग्रहण करती है तथा अ स पर पहुँचकर वही पुनः आवर्तित होकर ग घ के रूप में वायु के माध्यम में प्रवेश करती है। इसमें अल्पतम विचलन कोण ग य फ के वरावर है (दे० इसी पृष्ठ का मैटर)। तीसरी पंक्ति में, दो समान त्रिपार्श्व एक-दूसरे से पेंदे सटाकर रखे गए हैं। क ख और क ग रश्मियाँ समान झुकाव से पतित होकर समान वर्तन के उपरान्त घ पर मिल जाती है। (नीचे) उन्नतोदर और नतोदर लेन्सों को कई जोड़े त्रिपार्श्वों से वना हुआ मानकर यह दिखाया गया है कि भिन्न भिन्न त्रिपार्श्व-खण्डों के कम-ज्यादा विचलन के फलस्वरूप किस प्रकार तमाम रश्मियाँ उन्नतोदर लैंस में से निकलने पर वर्तित होकर पुनः एक ही ठौर क नाभि-विंदु पर आ मिलती हैं तथा नतोदर में से निकलने पर प्रसारित हो जाती हैं।
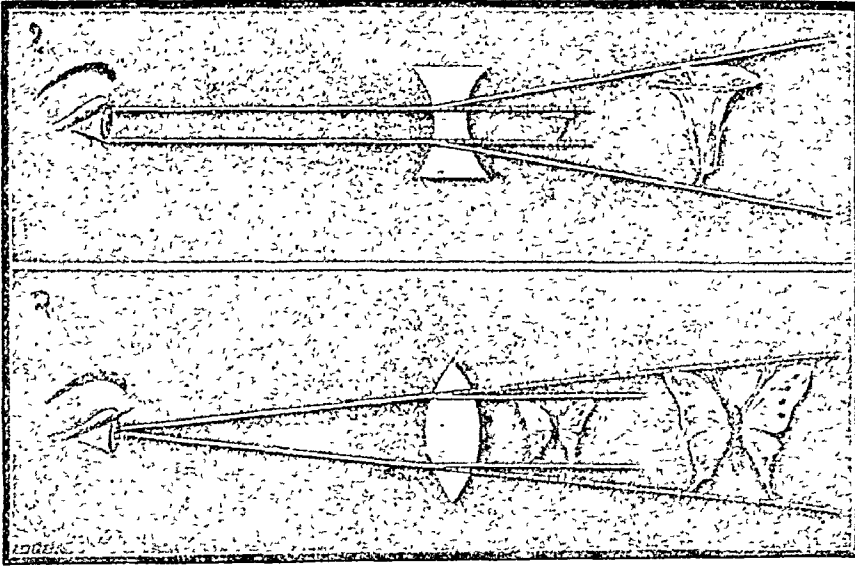
नतोदर और उन्नतोतर ताल द्वारा बिम्ब-निर्माण

१. नतोदर ताल में, वस्तु चाहे जहाँ रक्खी जाय फिर भी हर दशा में विंब काल्पनिक, सीधा और मूल वस्तु से आकार में छोटा बनेगा। २. उन्नतोदर ताल द्वारा निर्मित बिम्ब नाभि दूरी के अनुसार मूल वस्तु से छोटा-बड़ा हो सकता है, किंतु यह सदैव वास्तविक और उल्टा होगा।

वर्तन के उपरान्त आधार की ओर इन दोनों का झुकाव भी समान होगा—ये दोनों बिन्दु 'घ' पर मिलती हैं। वास्तव में लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ समझ सकते हैं—मध्य भाग से ज्यों-ज्यों किनारे की ओर बढ़ेंगे, हमें ऐसे त्रिपार्श्व मिलेंगे, जिनके कोर उत्तरोत्तर चौड़े होते जाते हैं। फल यह होता है कि मध्य भाग के त्रिपार्श्वखण्ड से विचलन कम होता है, किनारेवाले त्रिपार्श्वखण्ड से ज्यादा, अतः किसी एक बिन्दु से चली हुई तमाम रश्मियाँ वर्तन के उपरान्त पुनः एक ही ठौर आ मिलती हैं। मुख्य अक्ष के समानान्तर आनेवाली रश्मियाँ वर्तन के उपरान्त जिस बिन्दु पर मिलती हैं, मुख्य नाभि कहते हैं।

नतोदर और उन्नतोदर लैन्स द्वारा बिम्ब-निर्माण

नतोदर लेन्स को भी हम कई जोड़े त्रिपार्श्वों से बना हुआ मान सकते हैं। इस दशा मे इन त्रिपार्श्वों के शिर मध्य भाग की ओर रहते हैं और पेंदे बाहर किनारे की ओर। वर्तन के उपरांत किरणें विचलित होकर बाहर पेंदे की ओर मुड जाती हैं। समानान्तर रश्मियों का पुंज ऐसे लेन्स द्वारा वर्तित होने पर बाहर की ओर प्रसारित हो जाता है। दूसरी ओर से देखनेवाले को ऐसा प्रतीत होगा मानो ये रश्मियाँ बिन्दु 'क' से आ रही हैं (देखिए पिछले पृष्ठ का निचला बायाँ चित्र)। 'क' पर उस प्रकाश-बिन्दु का काल्पनिक बिम्ब बन जाता है, जहाँ से ये समानान्तर आलोक-रश्मियाँ चलकर लेन्स में प्रविष्ट हुई थीं। 'क' इस लेन्स का नाभि-बिन्दु कहलाएगा। इन दोनों लेन्सों में एक खास अन्तर ध्यान देने योग्य है। उन्नतोदर लेन्स में से गुजरने पर आलोक-रश्मियाँ अनिवार्य रूप से संकुचित हो जाती हैं—इसके प्रतिकूल नतोदर लेन्स मे वर्तित होने पर रश्मिपुंज पहले की अपेक्षा अधिक प्रसारित हो जाती है। उन्नतोदर लेन्स द्वारा बिम्ब-निर्माण की क्रिया समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातें याद रखनी चाहिएँ—

१. लेन्स की मुख्य कक्षा के समानान्तर आनेवाली तमाम रश्मियाँ वर्तन के उपरांत दूसरी ओर के नाभि-बिन्दु से अवश्य गुजरती हैं।

२. नाभि-बिंदु की दिशा से आनेवाली रश्मियाँ वर्तन के उपरांत मुख्य कक्षा के समानान्तर हो जाती हैं।

३. लेन्स के मध्य भाग से गुजरनेवाली आलोक-रश्मियाँ आने के पूर्व-मार्ग से विचलित नहीं होतीं। अधिक मोटे लेन्स में कुछ थोड़ा-सा विचलन अवश्य होता है, किन्तु यहाँ पर भी विचलन की मात्रा नगण्य-सी ही होती है।

उन्नतोदर लेन्स द्वारा दूर की वस्तु का बिम्ब नाभि-बिंदु से तनिक आगे हटकर बनता है। यह बिन्दु मूल वस्तु से आकार में छोटा, उल्टा और वास्तविक होगा, अर्थात् धुँधले काँच के पर्दे पर इस बिम्ब को हम प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु यदि लेन्स से नाभि-दूरी के दूने फासले पर रक्खी जाय, तो इसका बिम्ब लेन्स की दूसरी ओर उतनी ही दूरी पर बनेगा। यह बिम्ब भी वास्तविक और उल्टा होगा, किन्तु आकार में वह मूल वस्तु के ठीक बराबर होगा। मूल वस्तु को यदि और भी निकट लाएँ, तो उसका बिम्ब लेन्स

से दूर हटता जायगा, साथ ही बिम्ब का आकार भी बढ़ता जायगा, यद्यपि यह बिम्ब अब भी उल्टा और वास्तविक होगा। वस्तु जब नाभिबिन्दु पर रख दी जायगी, तब हमें इसका बिम्ब नही मिलेगा, वरन् लेन्स की ओर समानान्तर आलोक-रश्मियो का एक पुज हमे लभ्य होगा। नाभिबिंदु और लेन्स के बीच में वस्तु रखने पर उसका बिम्ब काल्पनिक ही बन पाता है—इस बिम्ब को हम कॉंच के पर्दे पर प्राप्त नही कर सकते। किन्तु यह बिम्ब एकदम सीधा और आकार मे मूल वस्तु की अपेक्षा सदैव बडा होता है। नतोदर लेन्स में, वस्तु चाहे कही पर भी क्यो न रखी जाय, हर दशा में बिम्ब काल्पनिक, सीधा और आकार मे मूल वस्तु से छोटा होगा। नतोदर लेन्स द्वारा बने हुए बिम्ब को हम कॉंच के पर्दे पर कभी भी प्राप्त नही कर सकते।

केमरे का सिद्धान्त

आइए देखे, केमरे में उन्नतोदर लेन्स की सहायता से बाहर की वस्तुओं का फोटो कैसे उतारते हैं। केमरे के 'शटर' को खोलने पर हम लेन्स को आसानी से देख सकते हैं। 'शटर' धातु की काली पत्तियों से बना होता है। शटर खोलने पर ही लेन्स में से होकर आलोक-रश्मियाँ केमरे के अन्दर जा सकती है, अन्यथा नही। केमरे के अन्दर लेन्स के पीछे कॉंच का एक धुंधला पर्दा लगा रहता है। इसी पर्दे पर बाहर की वस्तु का उल्टा किन्तु वास्तविक बिम्ब बनता है। एक अँधेरे कमरे में एक मोमबत्ती केमरे से लगभग ८ फीट की दूरी पर रखिए—कॉंच के पर्दे पर मोमबत्ती का उल्टा बिम्ब आपको नजर आएगा। मोमबत्ती को लेन्स के निकट ले आइए—अब बिम्ब का आकार तो बढ़ जाएगा, किन्तु बिम्ब पहले जैसा स्पष्ट नही उभरेगा। बिम्ब का 'फोकस' ठीक नहीं है। स्पष्ट बिम्ब प्राप्त करने के लिए लेन्स और कॉंच के पर्दे के बीच की दूरी बढ़ानी होगी। धौकनीदार केमरे में लेन्स को आगे खिसकाकर इस दूरी को बढ़ा लेते है, और इस तरह बिम्ब का फोकस पुन ठीक हो जाता है। बॉक्स-केमरे मे धौकनी नही होती, अत. लेन्स आगे-पीछे सरक नही सकता। ऐसे केमरे में २२ फीट या इससे अधिक दूरी पर
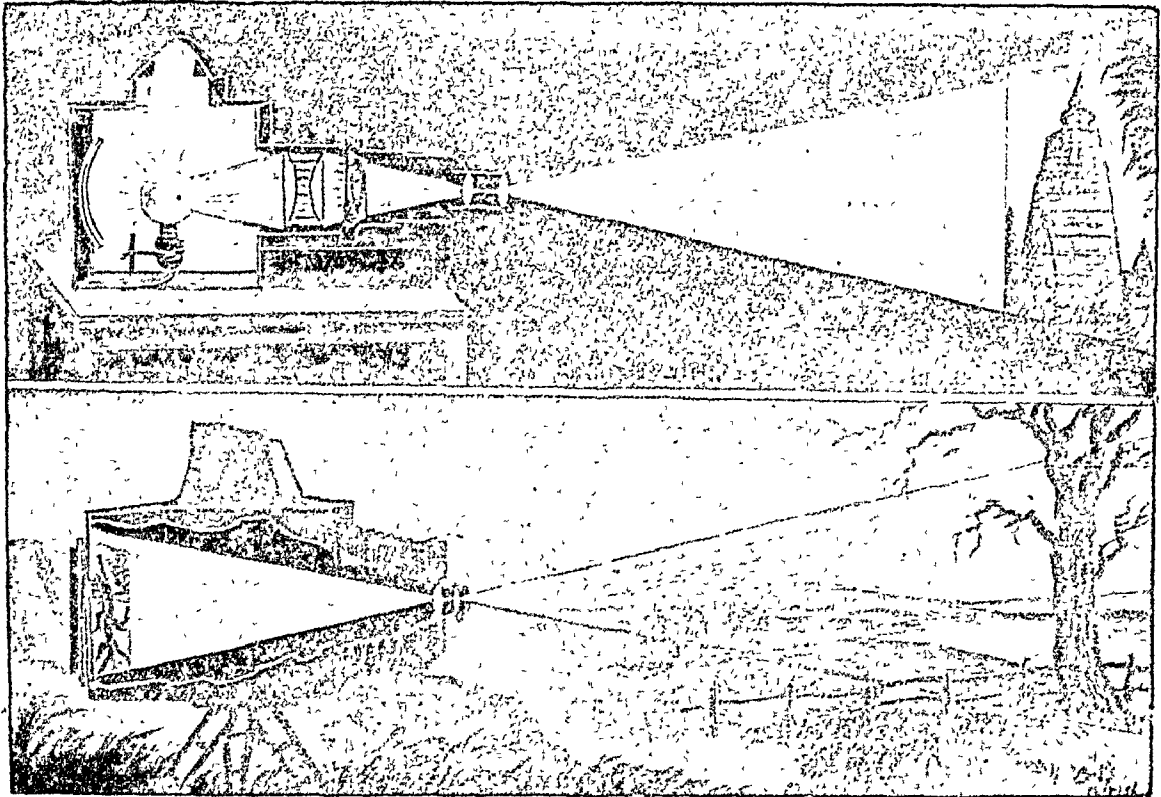
(ऊपर) मैजिक लैन्टर्न का सिद्धान्त; (नीचे) फोटो उतारने के यंत्र अर्थात् केमरे का सिद्धान्त

इन दोनों सुपरिचित यंत्रों में लेन्स का प्रयोग किया जाता है (विशेष विवरण के लिये पृष्ठ १२८७-८८ का मैटर पढ़िए)

स्थित वस्तुओं का विम्व समान रूप से स्पष्ट उभरता है। बॉक्स-केमरे से निकट का फोटो स्पष्ट नहीं उभरता।

फिल्म या प्लेट पर, जिस पर फोटो उतारना होता है, एक रासायनिक मसाला पुता रहता है। यह मसाला आलोक-रश्मियों द्वारा प्रभावित होकर काला पड़ जाता है। फोटो लेते समय कॉच के पर्दे को केमरे के अन्दर से निकालकर ठीक उसी के स्थान पर उक्त फिल्म या प्लेट लगा देते हैं। फोटो लेते समय शटर को एकाध सेकेण्ड के लिए खोलकर पुनः उसे वन्द कर देते हैं। प्लेट पर इस थोड़ी-सी देर के लिए विम्व पड़ा था--अतः विम्व का प्रतिरूप इस प्लेट के मसाले पर उभर आता है। इसे 'निगेटिव फोटो' कहते हैं, चूँकि मूल वस्तु मे जहाँ प्रकाश अधिक था, उस स्थान पर इस निगेटिव फोटो-प्लेट मे कालिमा अधिक नजर आएगी, कारण मसाला उस स्थान पर अधिक प्रभावित हुआ है। अब सही फोटो उतारने के लिए निगेटिव को मसाले से पुते हुए कागज से सटाकर दोनो को थोड़ी देर के लिए प्रकाश में रखते हैं। निगेटिव से छनकर प्रकाश उक्तकागज की सतह तक पहुँचता है। जहाँ निगेटिव मे ज्यादा काला था, उसके पीछे कम प्रकाश पहुँचता है, और जहाँ निगेटिव हल्का था, उसके पीछे अधिक प्रकाश पहुँच पाता है। इस प्रकार इस कागज पर मूल वस्तु की ही भाँति वस्तु की प्रतिच्छवि उभर आता है।

हमारी आँखों के अन्दर भी केमरे की भाँति ही बाह्य वस्तुओं का विम्ब बनता है। निकट और दूर की वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केमरे के लेन्स को हमें आगे-पीछे सरकाना होता है। यद्यपि आँख की पुतलियों को हम वैसे आगे-पीछे सरका नहीं सकते हैं, किन्तु इस मुश्किल को हल करने के लिए प्रकृति ने हमे यह शक्ति प्रदान की है कि हम आवश्यकतानुसार अपनी आँख के लेन्स की मुटाई घटा-बढ़ाकर उसकी नाभि-दूरी को इस प्रकार बदल दें कि हर दिशा मे दृष्टिपटल पर विम्ब स्पष्ट ही उभरे। हमारी इस शक्ति मे जब कभी ह्रास हो जाता है, तभी हमें ऐनक के रूप में काँच के लेन्स की सहायता लेनी पड़ती है।

मेजिक लैन्टर्न का सिद्धान्त

मेजिक लैन्टर्न में विम्ब-निर्माण की क्रिया केमरे की ठीक उल्टी होती है। लैन्टर्न का तीव्र प्रकाश दो लैन्सो की सहायता से समानान्तर रश्मिपुंज के रूप मे काँच की 'स्लाइड' को भेदता हुआ उपदृश्य लेन्स मे से होकर निकलता है। दृष्टव्य स्लाइड पर उल्टा चित्र अंकित रहता है। अतः बाहर सफेद पर्दे पर स्लाइड मे अंकित चित्र का सीधा विम्ब परिवर्द्धित आकार में दिखाई पड़ता है। उपदृश्य लेन्स को आगे-पीछे खिसकाकर विम्ब को पर्दे पर फोकस करना होता है।

सूक्ष्मदर्शक

उन्नतोदर लेन्स की इन विशेषताओं का वैज्ञानिकों ने भाँति-भाँति से फायदा उठाया है। घड़ी के बारीक पुर्जो का निरीक्षण करते समय घड़ीसाज झट एक उन्नतोदर लेन्स अपनी आँख के सामने लगा लेता है। तब वह घड़ी को लेन्स के समीप लाता है, ताकि घड़ी के पुर्जे लेन्स और उसकी नाभि के बीच में आ जायँ। घड़ीसाज को पुर्जे का अभिवर्द्धित विम्ब दिखाई देता है। इस प्रकार घड़ीसाज का यह ताल एक साधारण सूक्ष्मदर्शक यंत्र सा है। इस ढंग के एक लेन्सवाले सूक्ष्मदर्शक मे आकार पन्द्रह या वीस गुना तक परिवर्द्धित हो पाता है।

उन्नतोदरलेन्स साधारणतः कैसे चीजों का आकार हमें बढ़ाकर दिखाता है।

साधारण आकाशीय दूरदर्शक एवं गैलीलियो का दूरदर्शक
गैलीलियो के दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स के कारण बिम्ब 'क' पर न बनकर 'ख' पर बनता हुआ प्रतीत होता है। यह काल्पनिक बिम्ब सीधा होता है। (दे० पृ० १२८०-८१ का मैटर)।
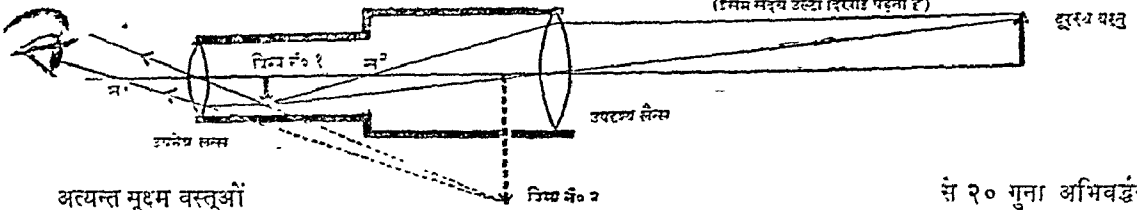
अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं को दृष्टिक्षेत्र में लाने के लिए उनके आकार को कई सौ गुना परिवर्द्धित करना आवश्यक हो जाता है। अकेले एक लेन्स से इतना अधिक परिवर्द्धन नहीं प्राप्त हो सकता। अतः बढ़िया जाति के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में कम से कम दो लेन्स लगे होते हैं। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु वास्तविक बिम्ब पहले एक लेंस द्वारा बनता है, फिर इस परिवर्द्धित बिम्ब को द्वितीय लेन्स द्वारा और भी परिवर्द्धित करते हैं। इस प्रकार बिम्ब के आकार का परिवर्द्धन दो किस्तों में होता है। दो या दो से अधिक लेन्स-युक्त सूक्ष्मदर्शक को यौगिक सूक्ष्मदर्शक के नाम से पुकारते हैं। यौगिक सूक्ष्मदर्शक में नीचेवाले लेन्स के नाभिबिंदु की दूरी बहुत ही कम रहती है—लगभग $\frac{1}{6}$ इंच, या इससे भी कम। इसे उपदृश्य लेन्स के नाम से पुकारते हैं। ऊपरवाले उपनेत्र लेन्स के नाभिबिंदु की दूरी उपदृश्य लेन्स की अपेक्षा अधिक होती है—लगभग एक इंच। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिबिंदु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर इस वस्तु का उल्टा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिम्ब बनता है। यह बिम्ब उपनेत्र लेन्स और उसके नाभिबिन्दु के दर्मियान पड़ता है, अतः उपनेत्र लेन्स में से देखने पर हमें काल्पनिक और परिवर्द्धित बिम्ब दिखाई पड़ता है। अवश्य ही यह बिम्ब मूल वस्तु के लिहाज से उल्टा बनता है। यदि प्रथम लेन्स से २० गुना अभिवर्द्धन हुआ और दूसरे से १० गुना, तो उस वस्तु के लिहाज से अन्तिम बिम्ब का अभिवर्द्धन २०० गुना उतरेगा। उपनेत्र लेन्स को स्क्रू की सहायता से ऊपर-नीचे सरकाकर ऐसी जगह रखते हैं कि अन्तिम बिम्ब आँख से १२ इंच की दूरी पर बने, क्योंकि स्वस्थ आँखें १२ इंच की दूरी पर रखी हुई वस्तुओं को स्पष्ट और निष्प्रयास देख सकती हैं। आजकल कुछ शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों में २० हजार गुना तक अभिवर्द्धन किया जा चुका है। किन्तु इन सूक्ष्मदर्शकों में आलोक-रश्मियों की जगह विद्युत्-कणों की बौछार का प्रयोग करते हैं। लेन्स के स्थान पर शक्तिशाली चुम्बक लगे होते हैं। ये चुम्बक विद्युत्-रश्मियों का केन्द्रीकरण ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार आलोक-रश्मियों का केन्द्रीकरण काँच के लेन्स द्वारा होता है।
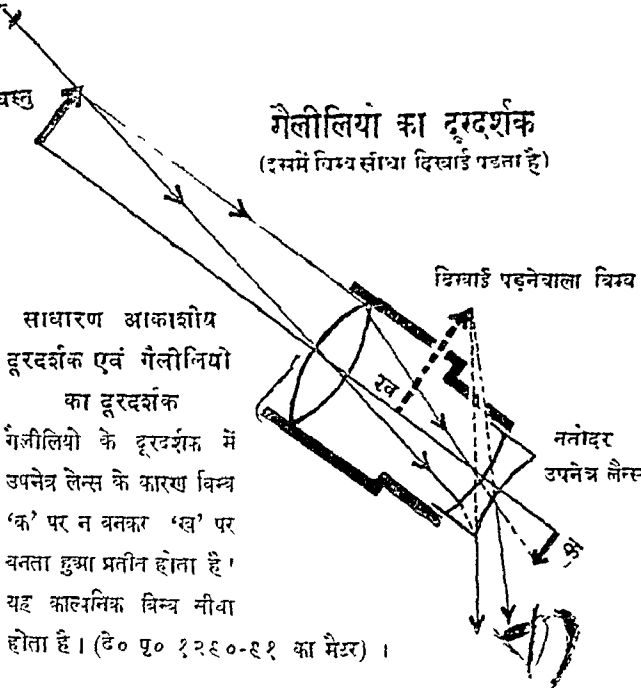
दूरदर्शक का सिद्धान्त

दूर की वस्तुएँ हमें स्पष्ट इसलिए नहीं दिखाई देतीं कि वे हमसे बहुत दूर हैं। इन वस्तुओं का आकार सचमुच छोटा नहीं होता, किन्तु दूरी के कारण वे हमें छोटी प्रतीत होती हैं। सूर्य कितना विशाल है, किन्तु वह हमसे इतनी अधिक दूरी पर स्थित है कि हमें एक नन्हा-सा गोला दिखाई पड़ता है। ऐसी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट देख सकने के लिए केवल इतना आवश्यक है कि या तो हम स्वयं इनके निकट चले जायँ, या किसी विधि से इन वस्तुओं के बिम्ब अपने निकट ले आएँ। दूरदर्शक यंत्र (दूरबीन)

में दूर की वस्तुएँ स्पष्ट इस कारण दिखाई देती है कि उसकी सहायता से दूर की वस्तुओं का बिम्ब आँख के सामने एकदम निकट बन जाता है। वास्तविकता तो यह है कि दूरबीन के अन्दर बना हुआ बिम्ब आकार के लिहाज से मूल वस्तु से छोटा ही होता है, किन्तु निकट होने के कारण मूल वस्तु से बड़ा जँचता है। अपनी आँख के सामने हथेली रखकर हम सूर्य को ढक लेते हैं--निकट होने के कारण हथेली का आकार सूर्य के आकार से भी बड़ा प्रतीत होता है!

हर प्रकार के बड़े-छोटे सूक्ष्मदर्शक यंत्र एक ही सिद्धान्त पर बने होते है--हाँ, किसी के उपदृश्य लेन्स में बीसियों लेन्स लगे रहते है, किसी में एक ही दो। किन्तु दूरदर्शक यंत्र भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं--किसी मे दूर की वस्तुएँ आपको उल्टी दिखलाई देंगी, किसी में सीधी।

आकाशीय दूरदर्शक एक लिहाज से सूक्ष्मदर्शक यंत्र से मिलता-जुलता है। इस श्रेणी के साधारण दूरदर्शक में भी सूक्ष्मदर्शक की भाँति दो उन्नतोदर लेन्सो का प्रयोग किया जाता है। हाँ, इतना अंतर अवश्य है--और यह एक भारी अन्तर है कि दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स की नाभि-दूरी लम्बी होती है, और उपनेत्र लेन्स की नाभि-दूरी कम। सूक्ष्मदर्शक में इसका ठीक उल्टा होता है।

उपदृश्य लेन्स से गुजरने पर उस दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोक-रश्मियाँ केन्द्रित होकर लेन्स के नाभिविन्दु से थोड़ा ही आगे विम्ब बनाती है। यह विम्ब आकार में मूल वस्तु की अपेक्षा छोटा होता है--साथ ही यह विम्ब वास्तविक और उल्टा बनता है। उपनेत्र लेन्स को इस तरह रखते है कि लेन्स और उसकी नाभि के बीच मे यह विम्ब आ जाय। अब उपनेत्र लेन्स द्वारा इस विम्ब का दूसरा विम्ब बनता है--यह विम्ब काल्पनिक और परिवर्द्धित होता है, किन्तु मूल वस्तु के लिहाज से यह विम्ब उल्टा ही रहा। परिवर्द्धित होने पर भी इस द्वितीय विम्ब का आकार मूल वस्तु के आकार से छोटा ही रहता है। अवश्य यह विम्ब हमारी आँखों के निकट बनता है। अतएव इसका व्यक्त आकार बड़ा दिखाई देता है।

आकाशीय दूरदर्शक मे सूर्य, चन्द्रमा, वृहस्पति तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रों के विम्ब उल्टे बनते है--किन्तु इसमें कोई बुराई नही है। इन आकाशपिण्डो के धरातल का निरीक्षण उल्टे विम्ब में भी आसानी के साथ किया जा सकता हैं। पृष्ठ १२८९ पर दिए गए दूरदर्शकों के सिद्धान्त को समझाने वाले चित्र मे आलोक-रश्मियों का पूरा मार्ग दिखलाने के लिए हमने वस्तु को लेन्स से उसकी नाभि-दूरी के दूने फासले से थोड़ा ही आगे रक्खा है। वास्तव में दूरदर्शक से देखी जानेवाली वस्तुएँ इतने अधिक फासले पर स्थित रहती हैं कि वहाँ से चलनेवाली आलोक-रश्मियाँ दूरदर्शक तक पहुँचते-पहुँचते एक दूसरे के समानान्तर हो जाती हैं। ऐसी दशा में प्रथम विम्ब उपदृश्य लेन्स के नाभिविन्दु पर ही बनता है। द्वितीय विम्ब बनाने के लिए उपनेत्र लेन्स को इस विम्ब से उसकी नाभि-दूरी के बराबर फासले पर रखते हैं। इस प्रकार दूरदर्शक की लम्बाई कम से कम दोनों लेन्स की नाभि-दूरी के योग के बराबर होती है। भौतिक विज्ञान की सहायता से यह साबित किया जा सकता है कि दूरदर्शक की परिवर्द्धन-शक्ति उसके उपदृश्य लेन्स और उपनेत्र की नाभि-दूरी के अनुपात पर निर्भर है। अतएव शक्तिशाली दूरदर्शकों में उपनेत्र लेन्स की नाभि-दूरी कभी बहुत बड़ी रखनी पड़ती है। इस कारण ऐसे दूरदर्शक यन्त्र की लम्बाई पहले कभी-कभी तो ६०० फीट तक पहुँचती थी!

प्रायः लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक साधारण दूरदर्शक भी हजारों-सैकड़ों ऐसे नक्षत्रों को हमारे दृष्टिक्षेत्र में कैसे ले आता है, जिन्हें अकेली अपनी आँखों से हम कभी भी नही देख सकते! वास्तव में बात यह है कि हमारी आँख की पुतली का व्यास $\frac{1}{3}$ इंच के लगभग होता है, जब कि एक मामूली दूरदर्शक का उपदृश्य लेन्स कम-से-कम १ इंच चौड़ा होगा। अर्थात् हमारी आँख की पुतली के धरातल की अपेक्षा दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का धरातल ९ गुना बड़ा है, अतएव यह दूरदर्शक हमारी आँखों मे पहले की अपेक्षा ९ गुना अधिक प्रकाश पहुँचता। मान लीजिए कि आकाश मे दो तारे हैं, जिनमे एकसे हमारी आँखों मे केवल इतना प्रकाश पहुँच पा रहा है कि उसे हम मुश्किल से देख भर पाते हैं। यदि इसका प्रकाश रत्ती भर भी और कम हुआ, तो फिर हमारी आँखें इसे देखने मे समर्थ न हो सकेंगी। दूसरा नक्षत्र पहले की तुलना मे केवल $\frac{1}{9}$ प्रकाश देता है। अतएव हमारी आँखों को यह बिलकुल ही नही दिखाई देता। दूरदर्शक मे से देखने पर यह दूसरा नक्षत्र भी हमे फौरन् दृष्टिगोचर हो जायगा।

अपना दूरदर्शक स्वयं बनाइए

स्वयं अपने घर पर आप साधारण दूरदर्शक तैयार कर सकते है। किसी पुराने चश्मे में से उन्नतोदर लेन्स निकाल लीजिए। इनकी नाभि-दूरी लगभग १२ इंच होनी चाहिए। कमरे के दूसरे कोने पर दीवाल पर एक तीर का चिन्ह

काले रंग से बना लीजिए। इस लेन्स द्वारा बने हुए उल्टे बिम्ब को धुंधले कांच के पर्दे पर फोकस कीजिए। अब पीछे हट-कर इस बिम्ब को एक छोटे उन्नतोदर लेन्स में से देखिए। लेन्स को आगे-पीछे सरकाकर ऐसी जगह रखिए कि कांच के पर्दे पर बनी हुई तीर की तसवीर का स्पाट और परिवर्द्धित बिम्ब लेन्स में से देखने पर दिखलाई देने लगे। हाँ, इस लेन्स की नाभि-दूरी दो इंच से अधिक नहीं होनी चाहिए। किसी पुराने केमरे में से ऐसा लेन्स आप निकाल सकते हैं। दोनों लेन्स की दूरी सध जाने पर कांच का पर्दा हटा लीजिए। बस आपका दूरदर्शक यंत्र तैयार हो गया।

इस श्रेणी के दूरदर्शक से धरती पर की वस्तुओं को देखने में बड़ी असु-विधा होती है, क्योंकि इसके अन्दर चीजें उल्टी नजर आती हैं। धरती की वस्तुओं के निरीक्षण के लिए ऐसे दूरदर्शक की आवश्यकता होती है, जिसमे चीजें बिल्कुल सीधी नजर आएँ। इस ढंग के दूरदर्शक के आवि-ष्कार का श्रेय सुप्रसिद्ध इटैलियन वैज्ञानिक गैली-लियो को प्राप्त है।
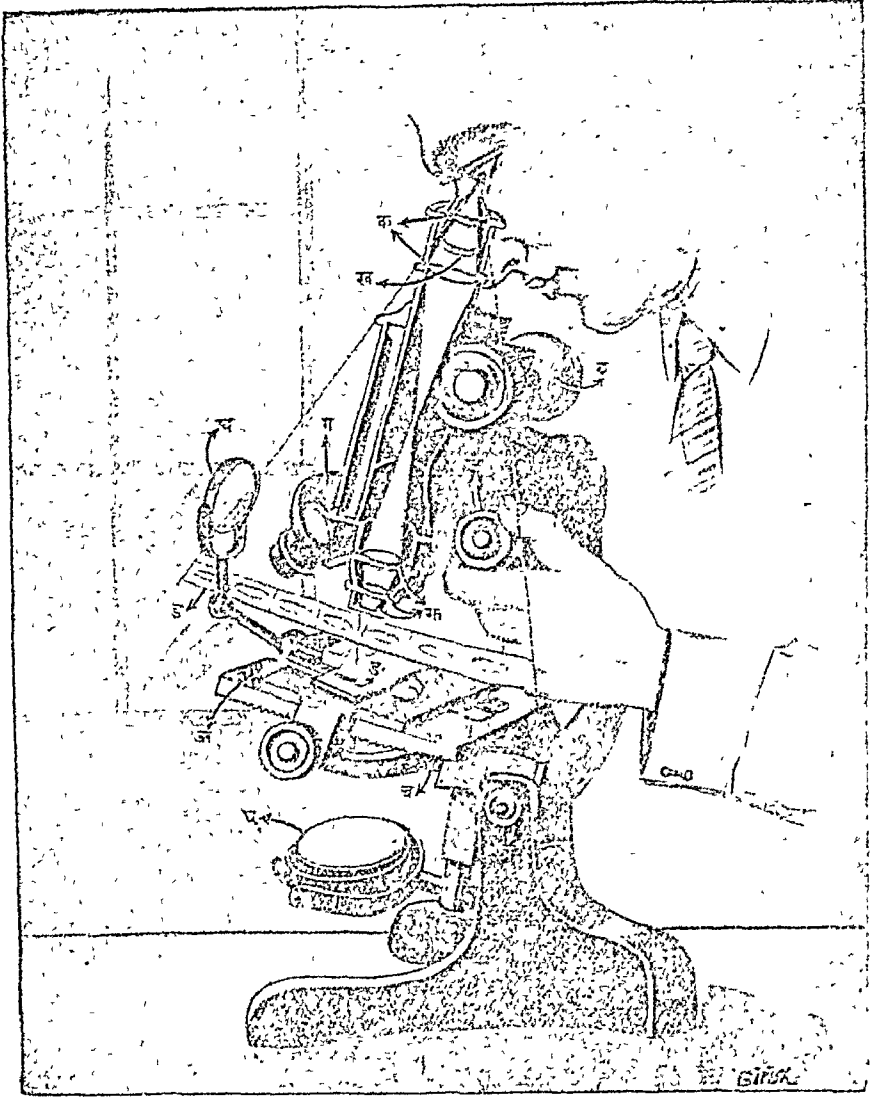
सूक्ष्मदर्शक यंत्र की रचना

यह अनेक लेन्सों से युक्त एक यौगिक सूक्ष्मदर्शक का नमूना है। इसकी मुख्य नली के भीतर की रचना समझाने के लिए उसे बगल से काटकर चित्र में भीतरी दृश्य भी दिखा दिया गया है। यंत्र के मुख्य-मुख्य भाग चित्र में इन संकेतों द्वारा सूचित हैं। क—उपनेत्र लेन्स; ख—उपदृश्य लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित बिंब; ग—विभिन्न व्यासों के फुटकर उपदृश्य लेन्सों को रखने के लिए एक उपांग; घ—वस्तु को प्रकाशित करनेवाला दर्पण; ङ—कॉच की नल्ली पर रखी हुई वस्तु, जिसका परिवर्द्धित बिंब प्राप्त करना है; च—कन्डेन्सर; छ—वस्तु पर नीचे से प्रकाश डालने वाला दर्पण, ज—स्टेज, अर्थात वह आधार, जिस पर वस्तु रखी जाती है; झ—उपदृश्य लेन्स. ञ—यंत्र की आड़ी धुरी; ट और ठ—फोकस मिलाने के लिए स्क्रू; ड—लेन्सों द्वारा परिवर्द्धित होने पर दर्शक को दिखाई देनेवाला बिंब। निरीक्षण की जानेवाली वस्तु को उपदृश्य लेन्स के निकट रखते हैं, किन्तु फिर भी यह वस्तु उस लेन्स के नाभिबिंदु से बाहर ही रहती है। अतः सूक्ष्मदर्शक यंत्र की नली के अन्दर उस वस्तु का उल्टा, वास्तविक और परिवर्द्धित बिंब बनता है।

गैलीलियो का दूरदर्शक

सन् १६०९ ई० मे गैलीलियो ने जब सुना कि हालैण्ड-निवासी दो व्यक्तियों ने चश्मे के लेन्सो की सहायता से एक ऐसा यंत्र तैयार किया है, जिसके अन्दर से देखने पर दूर की वस्तुएँ निकट दिखलाई पडती हैं, तो वह इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। फलतः उसने कई बढ़िया दूरदर्शक यंत्र स्वय तैयार किए। अपने दूरदर्शक की सहायता से बृहस्पति का निरीक्षण करके उसने ही पहली बार पता लगाया कि बृस्हपति के चार उपग्रह उसकी परिक्रमा लगाते हैं। इसी प्रकार उसने कार्पनिकस के इस मत की भी पुष्टि की कि चन्द्रमा भी पृथ्वी की परिक्रमा लगाता है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा लगाते हैं।

गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक में जिस उपदृश्य लेन्स का प्रयोग किया, वह उन्नतोदर ही था, किन्तु उपनेत्र लेन्स उन्नतोदर के बजाय नतोदर श्रेणी का लगाया। आकाशीय दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स को प्रथम बिम्ब के आगे रखते हैं। किन्तु गैलीलियो ने अपने दूरदर्शक में नतोदर लेन्स को उपदृश्य लेन्स और प्रथम बिम्ब के बीच मे रक्खा। ऐसा करने से उपदृश्य लेन्स से आई हुई रश्मियों को इतना मौका नही मिलता कि वे एक दूसरे को काटकर प्रथम बिम्ब 'क' का निर्माण कर सकें। इसके पहले वे नतोदर लेन्स द्वारा वर्तित होकर एक बार फिर उलट जाती हैं और हमें मूल वस्तु का परिवर्द्धित किन्तु सीधा बिम्ब नजर आता है (दे० पृष्ठ १२८९ का चित्र)। युद्धक्षेत्र तथा थियेटरो में काम मे आनेवाले दूरदर्शक गैलीलियो के सिद्धान्त पर ही बनते हैं।

हम ऊपर कह आए है कि शक्तिशाली दूरदर्शकों का लम्बा होना आवश्यक है। किन्तु युद्धक्षेत्र अथवा थियेटर में लम्बी दूरबीनों का प्रयोग करना असुविधाजनक होता है। समकोण त्रिपार्श्व की मदद से दूरदर्शक की नली के अन्दर ही आलोक-रश्मियों को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर कई बार परावर्त्तित कर लेते है। ऐसा करने से दूरदर्शक की लम्बाई तो कम हो जाती है, किन्तु उसकी परिवर्द्धन-शक्ति पहले जैसी ही बनी रहती है।

दर्पणवाले दूरदर्शक

दूरदर्शक के उपदृश्य लेन्स का व्यास जितना बड़ा होगा, उतना ही अधिक प्रकाश दूरदर्शक के अन्दर पहुँच सकेगा, अतः बिम्ब भी उतना ही अधिक स्पष्ट बनेगा। किन्तु बड़े आकार के लेन्स ढालने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। ४० इंच व्यास तक के लेन्स ढाले जा चुके थे, किन्तु जब इससे भी बड़ आकार के लेन्स ढालने का प्रयत्न किया गया, तो लेन्स मे अनेक दोष आने लगे। कभी लेन्स चटख जाता, कभी बीच से टेढा पड़ जाता, तो कभी उसके भीतर हवा के बबूले आ जाते। इन परेशानियों से बचने के उद्योग में दर्पणयुक्त दूरदर्शको का विकास हुआ। उपदृश्य लेन्स के स्थान पर सबसे पहले न्यूटन ने नतोदर दर्पण का प्रयोग किया। न्यूटन के दूरदर्शक मे दूरस्थ वस्तु से आई हुई आलोक-रश्मियाँ नतोदर दर्पण से परावर्त्तित होकर उसके नाभिबिन्दु पर मिलने के पहले ही एक समकोण काँच के त्रिपार्श्व द्वारा दूरदर्शक की नली की दीवाल की ओर मोड़ दी जाती हैं—इन रश्मियो द्वारा बने हुए वास्तविक बिम्ब को उपनेत्र लेन्स की मदद से देखने पर हमे परवर्द्धित बिम्ब दिखलाई पड़ता है।

आधुनिक युग के सभी शक्तिशाली दूरदर्शक यंत्रो मे नतोदर दर्पणों का प्रयोग होता है। माउण्ट विल्सन वेधशाला, अमेरिका, की दूरबीन के दर्पण का मुँह १०० इंच चौड़ा है। अनन्त अन्तरिक्ष मे और दूर तक प्रवेश करने के निमित्त अमेरिका के वैज्ञानिक पिछले दिनों इससे भी बड़े एक दूरदर्शक यंत्र की रचना की है, जिसके दर्पण का व्यास २०० इंच है। यह अमेरिका की माउन्ट पालोमर वेधशाला में प्रस्थापित है। इस दूरदर्शक के दर्पण की ढलाई का काम वर्षों में पूरा हुआ। यह दर्पण काँच के एक विशाल शिलाखण्ड से तैयार किया गया है, जिनका वजन २५ टन से ऊपर है। यह दूरदर्शक १० हजार मील पर रक्खी हुई मोमबत्ती के प्रकाश से भी प्रभावित हो सकता है?

पेरिस्कोप

पानी के अन्दर से सबमैरीन-संचालक पेरिस्कोप की सहायता से बाहर की वस्तुओ को भली भाँति देख सकता है। वास्तव में पेरिस्कोप दो दूरदर्शक यंत्रों के संयोग से बना है। पेरिस्कोप धातु की एक मजबूत नली के अन्दर बन्द रहता है। इस नली में पानी प्रवेश नही कर सकता। पेरिस्कोप के सिरे पर एक समकोण त्रिपार्श्व इस प्रकार फिट किया हुआ रहता है कि आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित होकर एकदम लम्बवत् नीचे को पेरिस्कोप की नली में प्रवेश करती हैं—नीचे मुडने पर पहले वे प्रथम दूरदर्शक से गुजरती हैं। इस दूरदर्शक के अन्दर दो अत्यन्त बारीक स्केल काँच के पर्दे पर खुदे हुए लगे होते है। इस प्रकार बाह्य दृश्य के बिम्ब पर इस स्केल का बिम्ब भी आरूढ़ करा दिया जाता है। प्रथम दूरदर्शक से बाहर निकलने पर आलोक-रश्मियाँ एक दूसरे के समानान्तर होती हैं।

अब ये पुनः द्वितीय दूरदर्शक में प्रवेश करती हैं। किन्तु इस दूरदर्शक में उपनेत्र लेन्स तक पहुँचने के पूर्व ये रश्मियाँ एक समकोण त्रिपार्श्व द्वारा बगल में मोड़ दी जाती हैं। सबमैरीन-निर्देशक इसी उपनेत्र लेन्स पर आँख लगाये बाह्य संसार की गति-विधि का अन्दाज लगाता रहता है। बिम्ब मे स्केल भी दिखलाई पडता है, अतः उपनेत्र लेन्स में दिखलाई देनेवाली वस्तुओं के आकार का भी पता लग जाता है।

आलोक-रश्मियों में इन्द्रधनुष के रंग

अभी तक हमने आलोक-रश्मियों के साधारण परावर्त्तन तथा वर्तन का ही अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम आलोक की श्वेत रश्मियों का विश्लेषण करेंगे और तब देखेंगे कि सूर्य के पथ में जुते हुए सात घोड़ों की कल्पना से हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों का क्या अभिप्राय था !

हमारे चारों तरफ रंग-बिरंगी वस्तुएँ दिखाई देती हैं। हरी-हरी दूब, रंग-बिरंगे फूल, चटकीले रंगोंवाली तितली और सुनहली रेखा से मण्डित सन्ध्या के बादल, सभी मन को मोह लेते हैं। किन्तु सूर्यास्त के उपरान्त रात्रि के अन्धकार में इनके चटकीले रंग पर भी जैसे कालिमा का आवरण पड़ जाता है। श्वेत आलोक में ही ये रंग देखे जा सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न वस्तुओं का रंग उन वस्तुओं पर पड़नेवाले प्रकाश पर निर्भर है। श्वेत आलोक में सभी रंग निखर आते हैं। किन्तु लैम्प में यदि लाल रंग की चिमनी फिट कर दी जाय, तो इस लाल रोशनी में सफेद वस्तु लाल दिखाई देगी, लाल वस्तु लाल, किन्तु हरी वस्तु एकदम काली। इससे स्पष्ट है कि रग स्वयं कोई पदार्थ नहीं है। अपारदर्शी वस्तुएँ अपने धरातल से विशेष आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित करती हैं—ये ही परावर्त्तित आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों में प्रवेश करने पर हमें विभिन्न रंगों का अनुभव कराती हैं। कुछ रश्मियाँ लाल रंग का अनुभव कराती हैं, कुछ हरे और कुछ पीले का। वैज्ञानिकों ने देखा कि श्वेत आलोक की सहायता से हरे रंग की वस्तुओं को हम देख सकते हैं, अतः उन्होंने यह अनुमान निकाला कि श्वेत आलोक में प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मियाँ मिली हुई जान पड़ती हैं, तभी तो हरे, पीले या लाल रंग के धरातल पर जब श्वेत आलोक पड़ता है, तो ठीक उसी रंग की आलोक-रश्मियाँ उस श्वेत प्रकाश में से परावर्त्तित होकर बाहर को लौट जाती हैं; शेष रंगों की आलोक-रश्मियाँ उस वस्तु में जज्ब हो जाती हैं। सफेद रंग की वस्तुएँ अवश्य ही समान रूप से तमाम रंग की आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करती हैं तथा काली दिखाई देनेवाली वस्तुएँ श्वेत प्रकाश के अन्तर्गत तमाम रंगों को अपने में पूर्णतया जज्ब कर लेती हैं।

न्यूटन की खोज

श्वेत रग के अन्तर्गत सभी विभिन्न रग मौजूद हैं—इस नई खोज का श्रेय सर आइजक न्यूटन को प्राप्त है। पिछले प्रकरण में लेन्स द्वारा आलोक-रश्मियो के वर्तन का उल्लेख हमने विस्तृत रूप से किया है। लेन्सयुक्त यंत्रों में तत्कालीन वैज्ञानिकों ने एक अद्भुत बात देखी। लेन्स द्वारा बने हुए तमाम चित्रों के हाशियों मे रग का पुट नजर आता था, यद्यपि मूल वस्तुओं में रग नाममात्र को भी न था। इस पर पहले तो न्यूटन ने सोचा कि लेन्स की गढन में दोष होने के कारण बिम्ब मे रंग का पुट आ गया है। अतः उसने बड़ी सावधानी के साथ लेन्स को पूर्णतया सही तौर पर खरादा। फिर भी बिम्ब का रग-दोष दूर न हुआ। अब सर आइजक न्यूटन ने मनोयोग-पूर्वक वर्तन के रगदोष की समस्या को हल करने का प्रयत्न आरम्भ किया। न्यूटन ने निम्नलिखित ढग पर अपना सुप्रसिद्ध प्रिज्म (त्रिपार्श्व) वाला प्रयोग किया था—

एक अँधेरे कमरे की खिड़की के दरवाजे में न्यूटन ने एक नन्हा-सा सूराख किया। इस सूराख के रास्ते से सूर्य की पतली-सी एक किरण अँधेरे कमरे में प्रवेश करती थी। कमरे में तख्ती 'स' पर वह रश्मि एक उजला-सा गोल बिम्ब बनाती थी। अब न्यूटन ने इस आलोक-रश्मि के मार्ग में काँच के त्रिपार्श्व को इस प्रकार रक्खा कि त्रिपार्श्व का शीर्ष नीचे की ओर पड़े। तुरन्त ही यह आलोक-रश्मि ऊपर को मुड़ गई; साथ ही अकेले एक धवलबिन्दु के बजाय उससे पाँच गुना लम्बा सतरंगी बिम्ब उस तख्ती पर मिला—सबसे नीचे लाल रग, फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और कासनी सबसे ऊपर। त्रिपार्श्व की स्थिति देखने से यही निष्कर्ष निकला कि नीले और कासनी रंग की रश्मियों में विचलन सबसे

अधिक था, तथा लाल में सबसे कम। (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)। अब देखिए, न्यूटन ने अपने इस प्रयोग के नतीजे का विश्लेपण किस योग्यता के साथ और कितने सुसंगठित तौर पर किया। सबसे पहले उसे इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना था—श्वेत रश्मि फैलकर भिन्न-भिन्न रंगों में कैसे व्यक्त हो सकी ? उसने सोचा कदाचित् ऐसा इसलिए दिखाई देता है कि त्रिपार्श्व से गुजरनेवाले श्वेत रश्मि-पुंज के निचले भाग को काँच की कम दूरी तय करनी पड़ती है, तथा ऊपरी भाग को अधिक। इसी कारण ऊपरवाली रश्मि में विचलन अधिक होता है तथा नीचेवाली मे कम। अपने इस विचार की जाँच करने के लिए उसने एक रश्मि को त्रिपार्श्व के पतले भाग में से गुजरने दिया और दूसरी को पेंदे के पासवाले भाग से। किन्तु दोनों ही दशा में रश्मियों का फैलाव बराबर रहा। अत. न्यूटन का उपर्युक्त विचार गलत निकला।

न्यूटन ने फिर सोचा कि सम्भव है, रश्मि में फैलाव तथा रंग-दोष त्रिपार्श्व (प्रिज्म) के काँच की खराबी के कारण हो। उसने भिन्न-भिन्न काँच के बने हुए त्रिपार्श्व के साथ प्रयोग किया, पर हर बार उसे उसी क्रम से सातों रंगों के बिंब मिले। उसने विचारा, यदि धवल प्रकाश का सतरंगी रश्मियों में परिवर्तित होना त्रिपार्श्व के काँच के दोष के कारण है, तो एक त्रिपार्श्व के बजाय दो त्रिपार्श्व के प्रयोग करने पर तो उपर्युक्त असर दूना हो जाना चाहिए। न्यूटन ने पहले त्रिपार्श्व के बगल में ठीक उसी आकार और उसी कोण का एक दूसरा त्रिपार्श्व उलटकर रक्खा। इन दोनों त्रिपार्श्वों में से गुजरने पर आलोक-रश्मि में न तो कोई रंग ही नजर आया और न उससे बने बिम्ब में फैलाव ही। यह बिम्ब बिन्दु 'स' से हटा अवश्य था, किन्तु आकार और रूपरंग में यह बिलकुल वैसा ही बिम्ब था, जैसा एक भी त्रिपार्श्व के न रहने पर तख्ती के 'स' बिन्दु पर बना था। अतः न्यूटन का यह खयाल भी प्रयोग की कसौटी पर सही न उतरा।

न्यूटन ने अब तीसरा हल निकाला। उसने सोचा कि संभव है, त्रिपार्श्व में से गुजरने पर आलोक-रश्मियों में वक्रता आ गई हो। भिन्न-भिन्न वक्रता के साथ ये तख्ती को छूती हैं, इस कारण उनके बिम्ब मे फैलाव आ गया है। न्यूटन ने
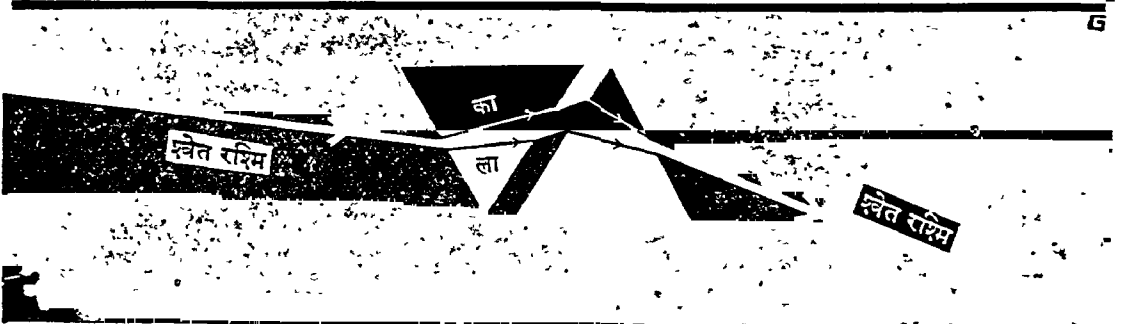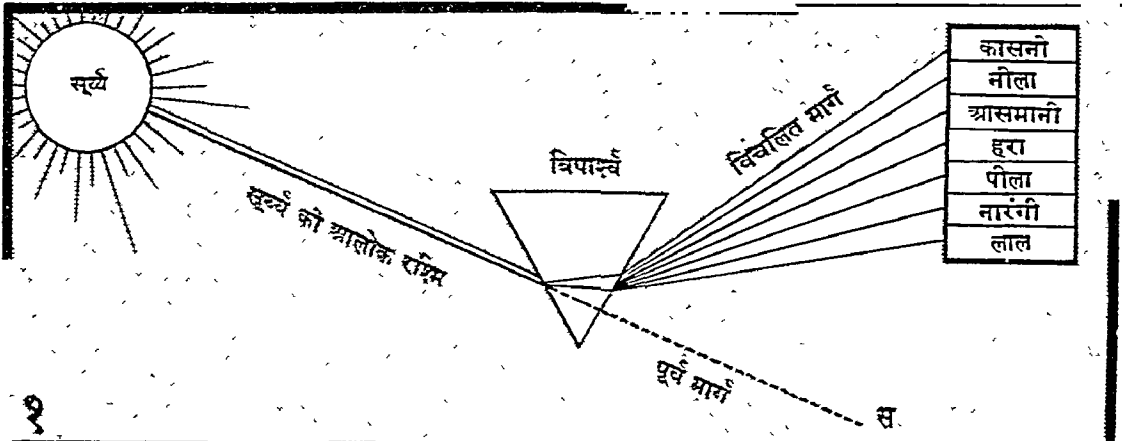
न्यूटन के आलोक-संबंधी प्रयोग

१. इस चित्र में काँच के त्रिपार्श्व द्वारा श्वेत आलोक-रश्मि का सात विभिन्न रंगों में बिखरना दिखलाया गया है। २. इस चित्र में प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा विस्तारित होने पर श्वेत रश्मि के विभिन्न रंग द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा पुनः एकत्रित हो जाते हैं और अंत में फिर श्वेत रश्मि ही मिलती है (पृष्ठ १२९५-१२९६ का मैटर देखिए)।

तख्ती को भिन्न-भिन्न दूरी पर रखकर सतरंगी बिम्ब की लम्बाई नापी, तो देखा कि दूरी के अनुपात में ही सतरंगी बिम्ब की लम्बाई भी घटती-बढ़ती है। इसका अर्थ हुआ कि वर्तित रश्मियाँ अब भी सीधी रेखाओं का मार्ग अनुसरण कर रही है—इनमें किसी प्रकार की वक्रता का समावेश लेशमात्र भी नहीं हो पाया है। न्यूटन का यह हल भी सही न साबित हो सका।

अन्त में न्यूटन ने त्रिपार्श्व द्वारा प्राप्त हुए सतरंगी बिंब के प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मि की परीक्षा करने की सोची। पहले उसने तख्ती में एक पतला सूराख उस स्थान पर बनाया जहाँ लाल रंग का बिम्ब बन रहा था—इस सूराख के रास्ते लाल रंग की आलोक-रश्मि तख्ती की दूसरी ओर निकली। इसे न्यूटन ने एक दूसरे त्रिपार्श्व में से होकर गुजरने दिया। उसने देखा कि लाल रश्मि उस त्रिपार्श्व के पेंदे की ओर मुड़ गई। सावधानी के साथ न्यूटन ने लाल रश्मि की विचलन की मात्रा नाप ली। तदुपरान्त एक-एक करके उसने सातों रंग की रश्मियों के साथ यही प्रयोग दुहराया। हर बार त्रिपार्श्व के उसी बिन्दु पर रश्मि आपतित कराई जाती, तथा आपतन-कोण भी वही रखा जाता-ताकि विचलन की मात्रा की तुलना ठीक रूप से की जा सके। इस प्रयोग के अन्त में यह निष्कर्ष निकला कि लाल रंग से पीले हरे रंग की ओर और फिर ज्यों-ज्यों कासनी रंग की ओर हम बढ़ते हैं, त्यों-त्यों इसका विचलन बढ़ता जाता है।

सात रंगों से संयोजन से श्वेत आलोक

फिरकी की सतह कई पट्टियों में बटी हुई है। ये पट्टियां इन्द्रधनुष के रंग में रंगी गई हैं। तेजी से नाचती हुई फिरकी सफेद दिखाई देती है।

अब न्यूटन को अपने इस विचित्र प्रयोग का रहस्य समझ में आया। उसने स्पष्टतः देखा कि श्वेत आलोक वास्तव में *भिन्न रंग की आलोक-रश्मियों के संयोग से बना है।* त्रिपार्श्व में से गुजरने पर भिन्न-भिन्न रंग की रश्मियों मे विचलन भी भिन्न मात्रा में होता है, फलस्वरूप विभिन्न रंग की ये रश्मियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करती है—इस क्रिया में इनका विश्लेषण हो जाता है। त्रिपार्श्व में से होकर निकलते समय वर्तित रश्मि इसी कारण सतरंगी रूप धारण करती है, तथा वह फैल भी जाती है।

प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा वर्तित होने के उपरान्त सात रंगों में विभाजित हो जाने पर ये रश्मियाँ जब द्वितीय त्रिपार्श्व में से गुजरती है, तो द्वितीय त्रिपार्श्व का शीर्ष उल्टा होने के कारण इन रश्मियों में पहले की विपरीत दिशा में विचलन होता है। चूँकि द्वितीय त्रिपार्श्व का कोण प्रथम त्रिपार्श्व के कोण के बराबर ही है, इस कारण द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा उत्पन्न हुआ विचलन प्रथम त्रिपार्श्व के विचलन के बराबर ही होता है। अतः सातों रंग की रश्मियाँ पुनः एक ही मार्ग पर आ जाती है—पुनः इनका संयोग होने पर हमें श्वेत आलोक की रश्मि मिल जाती है।

इस सिलसिले में हम एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। १२ इंच व्यास के नाप का वृत्ताकार दफ्ती का एक टुकड़ा लीजिए। केन्द्र से परिधि की ओर रेखाएँ खींचकर इस वृत्त को २८ बराबर भागों में बाँट दीजिए। अब प्रत्येक खाने को क्रम से लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और कासनी रंग में रंगिए। इस प्रकार वृत्त पर सतरंगी के चार सेट क्रम से दिखाई देंगे। इस दफ्ती को तेजी के साथ केन्द्रस्थित कीली के चारों ओर घुमाइए, जिस प्रकार कुम्हार का चाक घूमता है, ठीक उसी प्रकार। दफ्ती का वृत्ताकार टुकड़ा भूरा सफेद दिखाई देगा। दृष्टिस्थिरता के कारण ही सतरंगी दफ्ती हमें सफेद दिखलाई पड़ती है। हमारे दृष्टिपटल पर बाह्य वस्तुओं का बिम्ब $\frac{1}{10}$ सेकण्ड तक स्थिर रहता है। बिजली चमकती है, तो उसकी चमक हमारी आँखों में कुछ देर तक बनी रहती है। जिस समय दफ्ती तेजी के साथ घूमती है, लाल रंग का बिम्ब हमारी आँखों के दृष्टिपटल से मिटने नहीं पाता, कि पीला भाग सामने आ जाता है, फिर हरा। इस प्रकार $\frac{1}{10}$ सेकण्ड के अन्दर सातों रंग के बिम्ब हमारे दृष्टिपटल पर बन जाते हैं, और उनका संयोग होने पर हमें भूरे सफेद रंग का भान होता है। एकदम निर्मल श्वेत रंग इस प्रयोग में हमें कभी नहीं दिखलाई दे सकता, इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि दफ्ती पर पुते हुए रंग शुद्ध नहीं हैं, दूसरा यह कि वृत्त के भिन्न-भिन्न भागों से प्रकाश
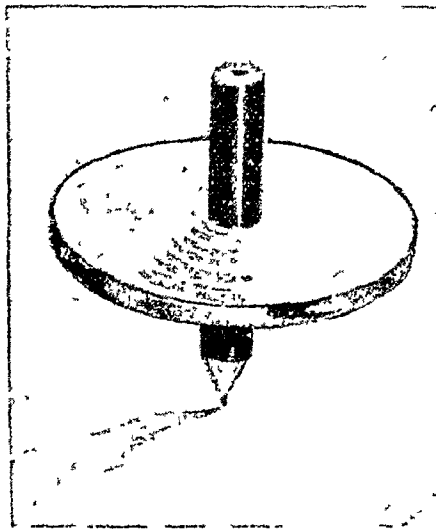
का एक अंग ही हमारी आँखों में पहुँचता है, जबकि निर्मल श्वेत धरातल के प्रत्येक भाग से आलोक की पूर्ण मात्रा हमारी आँखों में पहुँचती है।

इन प्रयोगों ने रंग-सम्बन्धी अनेक समस्याओं को भी सुलझाया है। हम देख चुके हैं कि अपारदर्शी वस्तुओं में रंग का भान उनके धरातल द्वारा परावर्त्तित रश्मियों द्वारा होना है। अब पारदर्शी वस्तुओं की भी व्याख्या की गई। पारदर्शी वस्तुओं को उनके अन्दर से गुजरनेवाली आलोक-रश्मियों की सहायता से हम देख पाते हैं। अतः रंगयुक्त पारदर्शी वस्तुएँ श्वेत रश्मियों में से केवल एक विशेष रंग की रश्मि को अपने में से गुजरने देती हैं, शेष को वे अपने अन्दर जज्ब कर लेती हैं। उनमें से गुजरकर जिस रंग की जो रश्मि आँखों में पहुँचती है, वैसा ही रंग उस वस्तु में दिखाई देता है। न्यूटन के प्रयोग में प्राप्त हुए सतरंगी पट्टी को यदि हम गहरे लाल रंग के शीशे में से देखें, तो सतरंगी पट्टी के अन्य भाग हमें न दिखाई देंगे—केवल लाल रंगवाला हिस्सा दिखाई देगा। क्योंकि लाल के अतिरिक्त शेष कोई भी रंग इस लाल शीशे को पार नहीं कर सकता।

लेन्स का रंग-दोष दूर करना

कासनी रश्मि में लाल की अपेक्षा विचलन अधिक होने के कारण उन्नतोदर लेन्स से गुजरने पर श्वेत रश्मि का कासनी रंग 'क' पर और लाल रंग 'ल' पर केन्द्रित हो जाता है। नतोदर में ठीक इसका उल्टा होता है। अतः दोनों को मिलाने पर ऐसा प्रबन्ध हो सकता है कि श्वेत किरणों की कासनी और लाल रंगों का विचलन समान हो। ऐसी दशा में लन्स से गुजरने पर किरणों मे रंग-दोष न आएगा।

अपारदर्शी वस्तुओं का रंग बहुत-कुछ उन पर पड़नेवाले प्रकाश पर निर्भर करता है। श्वेत वर्ण की वस्तु श्वेत आलोक में (दिन के प्रकाश में) सफेद दृष्टिगत होगी। लाल रोशनी में वह लाल, हरी में हरे रंग की और कासनी रंग के प्रकाश में कासनी रंग की दिखाई देगी। क्योंकि सफेद वस्तु हर रंग की आलोक-रश्मि को समान रूप से परावर्तित कर देती है।

सफेद कागज पर काली स्याही से मानव-आकृति का एक चित्र बनाइए। अब लाल रोशनाई से इस व्यक्ति की भौहें तथा दाढ़ी बना लीजिए। अँधेरे कमरे मे रक्त वर्ण के आलोक से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाल रंग की पृष्ठभूमि पर काले रंग की मानवाकृति बनी हुई है। इस बार दाढ़ी और भौहों का पता न होगा, क्योंकि कागज तथा दाढ़ी और भौहों दोनों से परावर्त्तित होनेवाली रश्मियों का रंग समान रूप से लाल है। रक्तवर्ण के आलोक के स्थान पर श्वेत वर्ण का आलोक इस चित्र पर डालिये—सफेद पृष्ठभूमि पर आकृति का चित्र काला दृष्टिगत होगा तथा दाढ़ी और भौहें लाल रंग की। यह प्रयोग हमें बतलाता है कि रात के कृत्रिम प्रकाश में विभिन्न रंगों का सही मिलान करना संभव नहीं है। सूर्य के आलोक की अपेक्षा दूकान की रात को चमकनेवाली नियॉन रोशनी में लालिमा यदि अधिक हुई, तो सफेद कपड़े का मिलान हम धोखे में आकर हलके गुलाबी रंग के कपड़े के साथ कर जाएँगे।

वायु रंगहीन पदार्थ है, फिर भी आकाश हमें नीला दिखलाई पड़ता है। वायुमण्डल में ऊँचे बहुत दूर तक धूल और

पानी के नन्हें-नन्हें कण लाखों-करोड़ों की संख्या में मौजूद है। ये कण सूर्य-रश्मियों में से नीले रंग की रश्मियों को लाल रंग की अपेक्षा अधिक परावर्त्तित करते है। फलस्वरूप परावर्त्तित प्रकाश में आसमान हमें नीला दिखलाई पड़ता है। किन्तु सूर्यास्त या सूर्योदय के समय सूर्य-रश्मियों को वायुस्तरों की एक मोटी तह को पार करना होता है। इस क्रिया में सूर्य के श्वेत आलोक का नीला अंश बहुत-कुछ इधर-उधर परावर्त्तित हो जाता है। अतः हमारी आँखों तक पहुँचनेवाले आलोक में रक्त वर्ण का ही बाहुल्य होता है। इसी कारण सूर्योदय और सूर्यास्त पर क्षितिज रक्त वर्ण का दिखाई देता है। ऊर्ध्वाकाश के अभियानकारियों का कहना है कि चौदह-पंद्रह मील की ऊँचाई पर आकाश मे दिन की दुपहरी के समय भी चारो ओर घना अँधेरा छाया रहता है। नील वर्ण का आकाश वहाँ कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ आकाश इतना निर्मल है कि वायुमण्डल में धूलि या जल का एक भी कण मुश्किल से पाया जाता है, जो नीले प्रकाश को परावर्त्तित कर सके।

प्रातःकाल यदि सूर्य की ओर पीठ करके आप धुएँ को देखें तो धुआँ आपको नीले वर्ण का दिखाई देगा। अब आगे बढ़कर सूर्य की ओर अपना मुँह कर लीजिए, इस प्रकार कि धुआँ आपके और सूर्य के बीच मे हो। धुआँ अब रक्त वर्ण का दिखाई देगा, क्योंकि उसमें से छनकर जो सूर्य-रश्मियाँ आपकी आँखों तक पहुँच रही है उनमें से नीला प्रकाश बहुत-कुछ अंशों मे इधर-उधर परावर्त्तित हो चुका है।
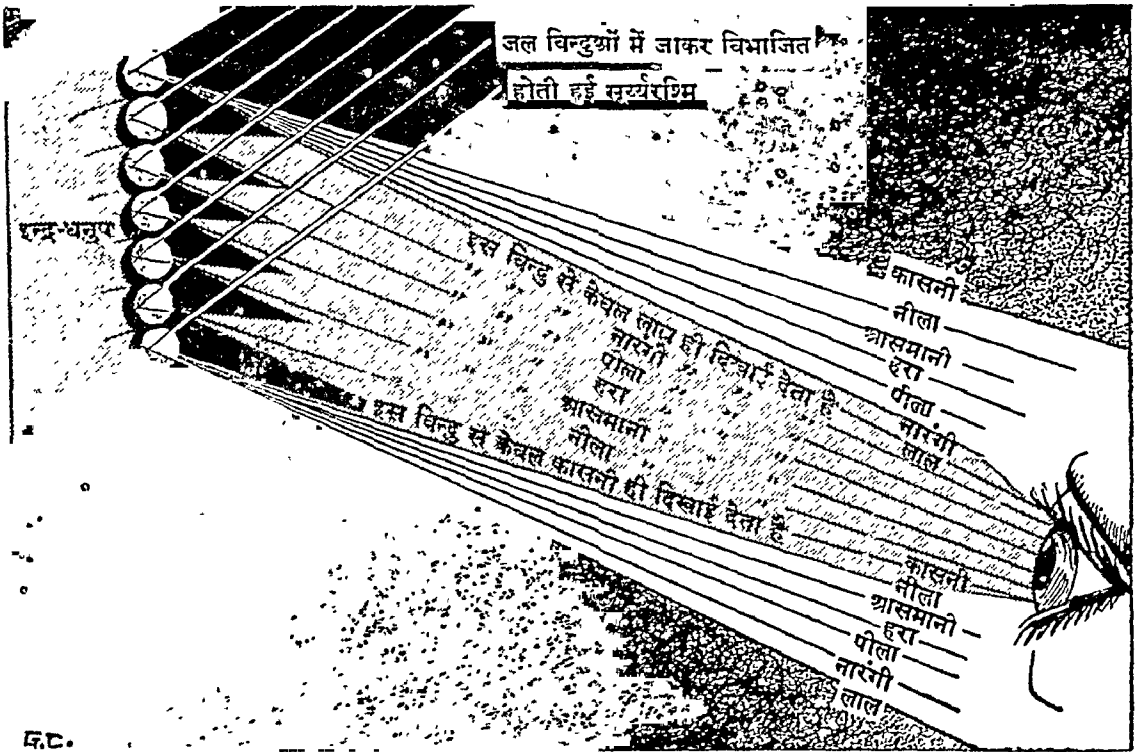
जलविन्दुओं द्वारा इन्द्रधनुष का निर्माण

प्रत्येक विन्दु से वर्तन तथा पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त जब आलोक की श्वेत रश्मि बाहर निकलती है, तो यह सात रंगों में विभाजित हो जाती है—सबसे ऊपर कासनी, फिर नीला, आसमानी आदि, और सबसे नीचे लाल। दर्शक की आंखों में एक ही बूंद से बिखरी हुई सातों रंग की रश्मियाँ प्रवेश नहीं कर पातीं। सबसे ऊपरवाली बूंद से लाल रंग, उससे नीचेवाली बूंद से नारंगी, उससे नीचेवाली से पीला, फिर हरा और सबसे नीचेवाली से कासनी रंग की किरणें दर्शक की आंखों में पहुंचती हैं। इस चित्र से हम समझ सकते हैं कि प्रत्येक दर्शक अपना निज का ही इन्द्रधनुष देखता है। दो व्यक्ति एक ही समय एक ही इन्द्रधनुष को नहीं देख सकते—दोनों भिन्न-भिन्न इन्द्रधनुष देखते हैं।
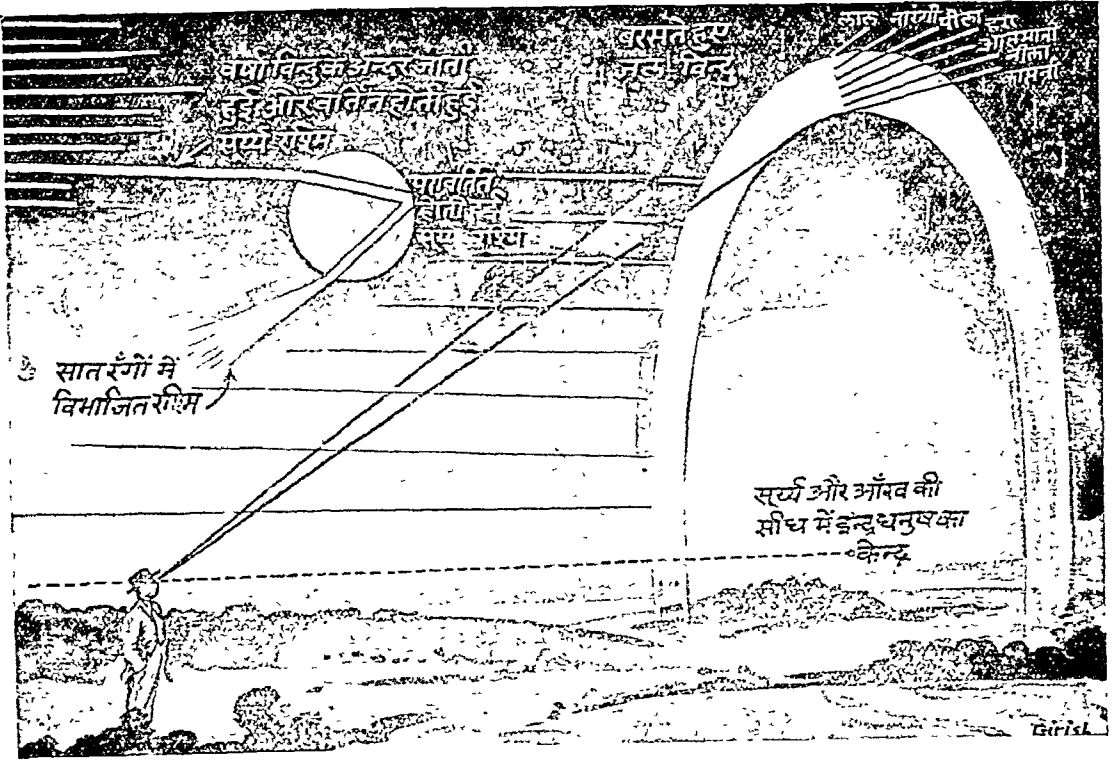
इन्द्रधनुष का निर्माण कैसे होता है

चित्र में ऊपर बाईं ओर परिवर्द्धित आकार मे एक जलबूँद दिखाकर यह दिग्दर्शित किया गया है कि किस प्रकार श्वेत रश्मि बूँद के अन्दर प्रवेश करने पर पहले वर्तन, फिर पूर्णतया परावर्तन और अन्त में वर्तन के फलस्वरूप सात रंगों मे बिखर पड़ती है।

कुहरे मे मोटर ड्राइवर तेज हेडलाइट के बावजूद भी सामने देख नहीं सकता। नीले रंग का बादल सामने नजर आता है, क्योंकि कुहरे के अन्दर के धूलि और पानी के कण नीले रंग की रश्मियों का परावर्त्तन प्रचुरता से करते हैं। इस परेशानी से बचने के लिए ड्राइवर अपनी हेडलाइट के सामने पीले रंग का काँच लगा देता है। हेडलाइट के प्रकाश में अब नीला रंग है ही नहीं, जो कुहरे से परावर्तित हो। अत: कुहरा नीले रंग के बादल के रूप में अब नही दीखता। यह अब पारदर्शी हो जाता है—ड्राइवर कुछ दूर तक सामने की चीजें देख सकता है, क्योंकि पीली और लाल किरणें कुहरे को आसानी के साथ भेद सकती हैं।

रंग-भेद की पहचान के सम्बन्ध मे अनेक मत प्रचलित हैं, किन्तु यंग-हेल्म-होल्ट्ज का मत ही विज्ञान-जगत् में मान्य समझा जाता है। इस मत के अनुसार हमारा दृष्टिपटल तीन मुख्य रंगों का अनुभव कर सकता है, नीला, हरा और लाल। अन्य रंगो की अनुभूति इन्हीं मुख्य रंगों के आपस में विभिन्न अनुपात में संयोग करने से प्राप्त होती है। शरीर-विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार हमारे दृष्टिपटल का सम्बन्ध तीन मुख्य स्नायुओं से है—इनमे से एक केवल लाल रंग की अनुभूति कर सकता है, दूसरा हरे रंग की और तीसरा नीले रंग की। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनके ये तीनों स्नायु के भली भाँति काम नही करते। यदि लाल रंग की अनुभूति करनेवाला स्नायु काम नहीं करता है, तो ऐसे व्यक्ति का रंग-ज्ञान केवल हरे और नीले रंगों के बल पर होगा।

लेन्सयुक्त यंत्रों के रंगदोष को दूर करने के लिए भी समुचित उपाय अब ज्ञात हो गए हैं। हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं कि उन्नतोदर लेन्स कई त्रिपार्श्वो से बना हुआ माना जा सकता है। श्वेत किरणें जब लेन्स द्वारा वर्तित होती है, तो श्वेत आलोक के सातों रंग की रश्मियाँ इस क्रिया में बिखर पड़ती हैं, क्योंकि इनमें प्रत्येक के विचलन की मात्रा भिन्न होती हैं। इसी कारण लेन्स द्वारा बने

हुए बिम्ब के किनारे रंगीन होते हैं। न्यूटन के प्रयोग में पहले त्रिपार्श्व के बाद ही दूसरा त्रिपार्श्व उलटी तरह लगाने से बिखरी हुई रश्मियाँ पुनः एकत्रित होकर श्वेत रश्मि में परिणत हो गई थीं। लेन्सयुक्त यंत्रों में रंग-दोष दूर करने के लिए इसी तरकीब को काम में लाते हैं—उन्नतोदर लेन्स से सटाकर नतोदर लेन्स रख देते हैं। इस नतोदर लेन्स का काँच तथा इसके धरातल की वक्रता ऐसी चुनते हैं कि आवर्त्तित रश्मि का रंग-दोष तो दूर हो जाय, किन्तु पूर्व मार्ग से वे विचलित अवश्य रहें। महँगे दाम के कैमरे और दूरबीन तथा सूक्ष्मदर्शक यंत्रों के उपदृश्य और उपनेत्र लेन्सों में से प्रत्येक चार-चार पाँच-पाँच लेन्सों को एक दूसरे से सटाकर तैयार किये जाते हैं, ताकि उनका रंग-दोष पूर्णतया दूर हो जाय।

आलोक-रश्मियों के बारे में हमने इतनी पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर ली है कि अब इन्द्रधनुष की भी हम भली भाँति व्याख्या कर सकते हैं। पानी की बूँदें जब आसमान से गिरती होती हैं, और सूर्य जब हमारी पीठ की ओर होता है, तभी हम इन्द्रधनुष देख पाते हैं। ऊँचे-ऊँचे झरनों से गिरते हुए पानी की फुहारों में भी इन्द्रधनुष के सातों रंग कभी-कभी दिखलाई पड़ते हैं। इलाहाबाद के विद्युत-पावर-हाउस में पानी को ठण्डा करने के लिए कई एक फौवारे बने हुए हैं। इन फौवारों में प्रायः इन्द्रधनुष के सातों रंग दिखलाई देते हैं।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष की स्थिति तथा उसका फैलाव दर्शक की स्थिति और सूर्य की क्षितिज में ऊँचाई पर निर्भर करते हैं। जल की बूँदों पर पड़नेवाली सभी सूर्य-रश्मियों से इन्द्रधनुष नहीं बनता। इन्द्रधनुष का निर्माण केवल उन रश्मियों द्वारा होता है, जो आवर्त्तन तथा सम्पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पानी की बूँदों से पुनः वापस लौटकर दर्शक की आँखों में प्रवेश करती हैं। १६७५ ई० में सर्वप्रथम न्यूटन ने ही इन्द्रधनुष की सही व्याख्या की थी। पिछले पृष्ठ के चित्र में पानी की बूँद परिवर्द्धित रूप में दिख-लाई गई है। श्वेत आलोक-रश्मि बूँद के भीतर प्रवेश करने पर आवर्त्तित होती है—चूँकि सातों रंग का आवर्त्तन समान मात्रा में नहीं होता, अतएव बूँद के भीतर प्रवेश करते ही श्वेत आलोक-रश्मि के सातों रंग बिखर पड़ते हैं। ये रंग की किरणें बूँद के भीतरी नतोदर धरातल पर इस प्रकार आपतित होती हैं कि इनका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है—वापस लौटते समय जब ये बूँद से बाहर निकलती हैं, तो एक बार फिर इनका आवर्त्तन होता है। एक के नीचे दूसरी बूँदों से निकली हुई रंग की किरणें दर्शक की आँखों में प्रवेश करने पर उसे इन्द्रधनुष का बोध कराती हैं। पृ० १२९७ के चित्र से प्रकट है कि दो दर्शक एक ही इन्द्रधनुष कभी भी देख नहीं पाते। प्रत्येक दर्शक अपना निज का इन्द्रधनुष देखता है।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष के वृत्त का केन्द्र उस रेखा पर पड़ता है, जो सूर्य और दर्शक की आँख को मिलाती है। वे तमाम बूँदें, जो उस रेखा के संग ४२ अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में कासनी रंग की रश्मियाँ भेजती हैं, तथा वे बूँदें, जो उक्त

आलोक-रश्मियों को इन्द्रधनुष की-सी विविध रंगीन रश्मियों की सतरंगी पट्टी में विश्लेषित करके दिखानेवाला 'स्पेक्ट्रोस्कोप' नामक यंत्र, जो ज्योतिष के क्षेत्र में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

इन्द्रधनुष का निर्माण कैसे होता है

चित्र में जल की बूंद और परिवर्धित आकार में एक जलबूंद दिखाकर यह निदर्शित किया गया है कि किस प्रकार श्वेत रश्मि बूंद के अन्दर प्रवेश करने पर पहले वर्तन, फिर पूर्णतया परावर्तन और अन्त में वर्तन के फलस्वरूप सात रंगों में बिखर पड़ती है।

कुहरे में मोटर ड्राइवर तेज हेडलाइट के बावजूद भी सामने देख नहीं सकता। नीले रंग का बादल सामने नजर आता है, क्योंकि कुहरे के अन्दर के धूलि और पानी के कण नीले रंग की रश्मियों का परावर्तन प्रचुरता से करते हैं। इस परेशानी से बचने के लिए ड्राइवर अपनी हेडलाइट के सामने पीले रंग का काँच लगा देता है। हेडलाइट के प्रकाश में अब नीला रंग है ही नहीं, जो कुहरे से परावर्तित हो। अतः कुहरा नीले रंग के बादल के रूप में अब नहीं दीखता। वह अब पारदर्शी हो जाता है—ड्राइवर कुछ दूर तक सामने की चीजें देख सकता है, क्योंकि पीली और लाल किरणें कुहरे को आसानी के साथ भेद सकती हैं।

रंग-भेद की पहचान के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं, किन्तु यंग-हेल्महोल्ट्ज का मत ही विज्ञान-जगत् में मान्य समझा जाता है। इस मत के अनुसार हमारा दृष्टिपटल तीन मुख्य रंगों का अनुभव कर सकता है, नीला, हरा और लाल। अन्य रंगों की अनुभूति इन्हीं मुख्य रंगों के आपस में विभिन्न अनुपात में संयोग करने से प्राप्त होती है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार हमारे दृष्टिपटल का सम्बन्ध तीन मुख्य स्नायुओं से है—इनमें से एक केवल लाल रंग की अनुभूति कर सकता है, दूसरा हरे रंग की और तीसरा नीले रंग की। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनके ये तीनों स्नायु के भली भाँति काम नहीं करते। यदि लाल रंग की अनुभूति करनेवाला स्नायु काम नहीं करता है, तो ऐसे व्यक्ति का रंग-ज्ञान केवल हरे और नीले रंगों के बल पर होगा।

लेन्सयुक्त यंत्रों के रंगदोष को दूर करने के लिए भी समुचित उपाय अब ज्ञात हो गए हैं। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उत्तोदर लेन्स कई प्रिज्मों से बना हुआ माना जा सकता है। श्वेत किरणें जब लेन्स द्वारा वर्तित होती हैं, तो श्वेत आलोक के सातों रंग की रश्मियाँ इस क्रिया में बिखर पड़ती हैं, क्योंकि इनमें प्रत्येक के विचलन की मात्रा भिन्न होती है। इसी कारण लेन्स द्वारा बने

हुए बिम्ब के किनारे रंगीन होते हैं। न्यूटन के प्रयोग में पहले त्रिपार्श्व के बाद ही दूसरा त्रिपार्श्व उलटी तरह लगाने से बिखरी हुई रश्मियाँ पुनः एकत्रित होकर श्वेत रश्मि में परिणत हो गई थी। लेन्सयुक्त यंत्रों में रंग-दोष दूर करने के लिए इसी तरकीब को काम में लाते हैं—उन्नतोदर लेन्स से सटाकर नतोदर लेन्स रख देते हैं। इस नतोदर लेन्स का काँच तथा इसके धरातल की वक्रता ऐसी चुनते हैं कि आवर्त्तित रश्मि का रंग-दोष तो दूर हो जाय, किन्तु पूर्व मार्ग से वे विचलित अवश्य रहें। महँगे दाम के केमरे और दूरबीन तथा सूक्ष्मदर्शक यंत्रों के उपदृश्य और उपनेत्र लेन्सों में से प्रत्येक चार-चार पाँच-पाँच लेन्सों को एक दूसरे से सटाकर तैयार किये जाते हैं, ताकि उनका रंग-दोष पूर्णतया दूर हो जाय।

आलोक-रश्मियों के बारे में हमने इतनी पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर ली है कि अब इन्द्रधनुष की भी हम भली भाँति व्याख्या कर सकते हैं। पानी की बूँदें जब आसमान से गिरती होती हैं, और सूर्य जब हमारी पीठ की ओर होता है, तभी हम इन्द्रधनुष देख पाते हैं। ऊँचे-ऊँचे झरनों से गिरते हुए पानी की फुहारों में भी इन्द्रधनुष के सातों रंग कभी-कभी दिखलाई पड़ते हैं। इलाहाबाद के विद्युत-पावर-हाउस में पानी को ठण्डा करने के लिए कई एक फौवारे बने हुए हैं। इन फौवारों में प्रायः इन्द्रधनुष के सातों रंग दिखलाई देते हैं।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष की स्थिति तथा उसका फैलाव दर्शक की स्थिति और सूर्य की क्षितिज में ऊँचाई पर निर्भर करते हैं। जल की बूँदों पर पड़नेवाली सभी सूर्य-रश्मियों से इन्द्रधनुष नहीं बनता। इन्द्रधनुष का निर्माण केवल उन रश्मियों द्वारा होता है, जो आवर्त्तन तथा सम्पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पानी की बूँदों से पुनः वापस लौटकर दर्शक की आँखों में प्रवेश करती हैं। १६७५ ई० में सर्वप्रथम न्यूटन ने ही इन्द्रधनुष की सही व्याख्या की थी। पिछले पृष्ठ के चित्र में पानी की बूँद परिवर्द्धित रूप में दिख-लाई गई है। श्वेत आलोक-रश्मि बूँद के भीतर प्रवेश करने पर आवर्त्तित होती है—चूँकि सातों रंग का आवर्त्तन समान मात्रा में नहीं होता, अतएव बूँद के भीतर प्रवेश करते ही श्वेत आलोक-रश्मि के सातों रंग बिखर पड़ते हैं। ये रंग की किरणें बूँद के भीतरी नतोदर धरातल पर इस प्रकार आपतित होती हैं कि इनका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है—वापस लौटते समय जब ये बूँद से बाहर निकलती हैं, तो एक बार फिर इनका आवर्त्तन होता है। एक के नीचे दूसरी बूँदों से निकली हुई रंग की किरणें दर्शक की आँखों में प्रवेश करने पर उसे इन्द्रधनुष का बोध कराती हैं। पृ० १२९७ के चित्र में प्रकट है कि दो दर्शक एक ही इन्द्रधनुष कभी भी देख नहीं पाते। प्रत्येक दर्शक अपना निज का इन्द्रधनुष देखता है।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष के वृत्त का केन्द्र उस रेखा पर पड़ता है, जो सूर्य और दर्शक की आँख को मिलाती है। वे तमाम बूँदें, जो इस रेखा के संग ४२ अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में कासनी रंग की रश्मियाँ भेजती हैं, तथा वे बूँदें, जो उक्त
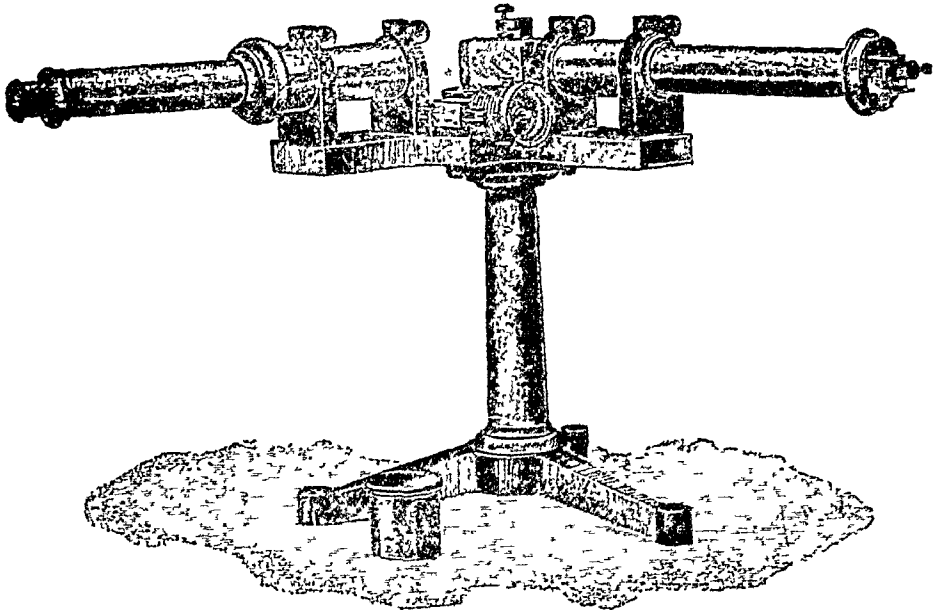
आलोक-रश्मियों को इन्द्रधनुष की-सी विविध रंगीन रश्मियों की सतरंगी पट्टी में विश्लेषित करके दिखानेवाला 'स्पेक्ट्रोस्कोप' नामक यंत्र, जो ज्योतिष के क्षेत्र में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

रेखा के संग ४० अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में रक्तवर्ण की रश्मियाँ पहुँचाती हैं। इन दोनों के दर्मियान की बूँदों से अन्य रंग की रश्मियाँ दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं। इस प्रकार इन्द्रधनुष के सातों रंग दर्शक को दिखाई दे जाते हैं—सबसे ऊपर लाल रंग, फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और सबसे नीचे कासनी रंग।

स्पष्ट है कि सूर्य क्षितिज के जितने निकट होगा, इन्द्रधनुष उतना ही बड़ा दीखेगा, और आकाश में सूर्य जितना ऊपर उठेगा, उतना ही क्षितिज से नीचे इन्द्रधनुष का केन्द्र भी गिरेगा, अतएव दर्शनीय इन्द्रधनुष का आकार भी छोटा होता जाएगा। यहाँ तक कि सूर्य की क्षितिज के ऊपर कोणीय ऊँचाई जब ४१ अंश पहुँच जाती है, तब इन्द्रधनुष बिलकुल अदृश्य हो जाता है। सन्ध्याकाल में जब सूर्य ढलते-ढलते क्षितिज के करीब पहुँचता है, तब पूर्व दिशा में फिर इन्द्रधनुष दिखलाई दे सकता है। इस समय सूर्य की ऊँचाई क्षितिज से ४१ अंश से कम होती है। यही कारण है कि इन्द्रधनुष प्रातः और सन्ध्या को ही दिखलाई देते हैं। दोपहर को इन्द्रधनुष पृथ्वी पर से कभी नहीं दिखलाई देते।

कभी-कभी मुख्य धनुष के ऊपर उसी के समानान्तर एक दूसरा इन्द्रधनुष भी दिखलाई पड़ता है। इस गौण इन्द्रधनुष के रंग उतने चटकीले नहीं होते, जितने मुख्य धनुष के। साथ ही इस धनुष में रंगों का क्रम भी उलटा होता है। गौण धनुष में सबसे बाहर कासनी, फिर नीला आसमानी और सबसे भीतर लाल रंग होता है। यह धनुष उन रश्मियों द्वारा बनता है, जो पानी की बूँद में दो बार पूर्ण परावर्त्तन प्राप्त करके बाहर निकलती हैं। बूँद की भीतरी सतह से दो परावर्त्तन होने के कारण ही रंगों का क्रम उलट जाता है, अतः लाल किरणें उन बूँदों से हमारी आँखों में पहुँचती हैं, जो सूर्य और हमारी आँख को मिलानेवाली रेखा के साथ ५१ अंश का कोण बनाती हैं, और कासनी रंग की रश्मियाँ ५३ अंश के कोण पर स्थित बूँदों से आती हैं। कभी-कभी पृथ्वी पर से एक तीसरा धनुष भी इन दोनों के ऊपर दिखाई दे जाता है, किन्तु उसमें चटकीलापन बहुत ही कम होता है।

प्रायः वायुयान-संचालक दिन में ऊँचे आकाश में जब उड़ते होते हैं तो उन्हें पूर्ण इन्द्रधनुष दिखाई दे जाता है, क्योंकि अब इस दशा में क्षितिज धनुष को भंग नहीं कर पाता। मुख्य इन्द्रधनुष, जो इस दशा में पूर्ण वृत्त-सा दीखता है, कभी-कभी गौण वृत्त द्वारा परिवेष्टित भी रहता है।

स्वयं कमरे के अन्दर आप इन्द्रधनुष के पूर्ण वृत्त का निर्माण कर सकते हैं। कमरे में एकदम अँधेरा कर दीजिए। अब खिड़की को खोलकर उसमें एक मोटी दफ्ती का टुकड़ा फिट कर दीजिए ताकि भीतर आलोक-रश्मियों के आ सकने के लिए साँस न रहे। दफ्ती के बीच में एक नन्हा-सा सूराख कर लीजिए और सूर्य की रश्मियों को दर्पण द्वारा कमरे के अन्दर इसी सूराख के रास्ते फेंकिये। इस प्रयोग के लिए गोल पेंदेवाली बोतल के अन्दर भरा हुआ पानी एक बड़ी बूँद-जैसा काम करेगा। आवर्त्तन और पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त वह आलोक-रश्मि विभिन्न रंगों में विभाजित हो जाती है, और दफ्ती पर इन्द्रधनुष का पूर्ण वृत्त हमें दिखलाई देता है। वृत्त के बाहरी हाशिये का रंग लाल रहता है। हम जाते हैं कि चन्द्रमा की किरणें वास्तव में सूर्य की ही रश्मियाँ हैं, जो चन्द्रमा के धरातल से परावर्तित होकर हम तक पहुँचती

प्रयोगशाला में इन्द्रधनुष का निर्माण

दफ्ती के पीछे से आनेवाली सूर्य-रश्मि पानी और फ्लास्क के अन्दर से दो आवर्त्तन तथा एक पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त जब पीछे लौटती है, तो वह इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजित हो चुकी होती है।

हैं। अतः सूर्य-रश्मियों के सभी नियम चन्द्रकिरणों पर भी लागू होंगे। अनुकूल परिस्थितियों में पूर्णिमा की रात को आकाश में कभी-कभी इन्द्रधनुष दिखलाई दे जाते हैं।

कभी-कभी सूर्य या चन्द्रमा को परिवेष्टित करता हुआ सतरंगी हैलो (Halo) भी आसमान में दिखलाई पड़ता है। ऊँचे आकाश में ओले के नन्हें-नन्हें कणों से गुजरने पर श्वेतरश्मि के रंगों का विस्तरण हो जाता है और पृथ्वी पर से हमें सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर इन्द्रधनुष के रंग का वृत्त दिखलाई पड़ता है।

आलोक-तरंगों का रहस्य

आलोक के विश्लेषण के फलस्वरूप जो सतरंगी पट्टी हमें दिखाई पड़ती है, वह केवल एक अंश तक ही उक्त रश्मि के अवयवों की एक झलक हमें दिखा पाती है। वस्तुतः उसके गर्भालय में और भी कई ऐसी रहस्यपूर्ण किरणें छिपी है, जो हमें अपने चर्म-चक्षुओं से तो नहीं दिखाई देतीं, पर वैज्ञानिक की आंखों ने निश्चित् रूप से जिनका पता पा लिया है। वे क्या हैं, आइए, इस लेख में समझने का प्रयत्न करें।

पिछले लेख में हमने देखा कि श्वेत रश्मि के विस्तरण-चित्र में सात रंगों के अतिरिक्त अन्य कुछ और तत्त्व है, जो हमारी आँखो को नही दिखलाई देता। हाँ, कासनी रंगवाले पट के छोर के आगे ही उपर्युक्त रश्मिचित्र के बाहर यदि हम एक फोटोग्राफी की प्लेट रखें तो इस प्लेट के मसाले में ठीक उसी प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं, जिस प्रकार उस पर दृश्य रश्मियों के पड़ने पर होते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवश्य रश्मि का विस्तरण इस सतरंगी पट्टी के कासनी छोर के आगे तक फैला हुआ है। इन अदृश्य किरणों को 'परा-कासनी' का नाम दिया गया है। अवश्य पराकासनी रश्मियाँ भी आलोक-रश्मि की ही जाति की है, केवल इनके गुण में अन्तर है। साधारण आलोक-रश्मियाँ हमारे दृष्टि-पटल को प्रभावित करती है, किन्तु पराकासनी किरणों की अनुभूति हमारी आँखें नही कर पाती। हाँ, फोटो की प्लेट इन किरणों से कहीं अधिक तीव्र रूप में प्रभावित होती है।

कासनी रंगवाले सिरे की भाँति दृश्य रश्मिचित्र के लाल सिरे के परे की पट्टी की ओर भी अन्वेषकों का ध्यान गया। सन् १८०० में विलियम हर्शेल ने एक थर्मामीटर की घुण्डी को काले रंग से रंग दिया, ताकि उस पर पडनेवाली रश्मियो को थर्मामीटर भली भाँति अपने में सोख सके। इस थर्मामीटर को उसने जब रश्मि-चित्र के लालवाले सिरे से कुछ दूर आगे रखा तो
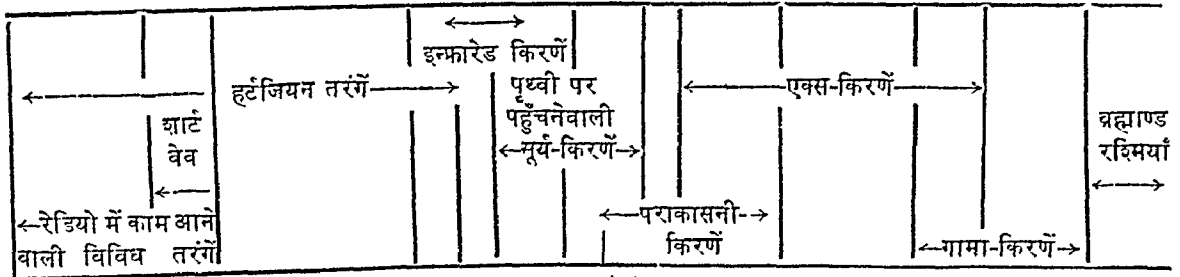
(ऊपर) आलोक का संपूर्ण वर्णपट।

(दाहिनी ओर) इसी के एक अंशरूप दृश्य वर्णपट का परिवर्द्धित मानचित्र।
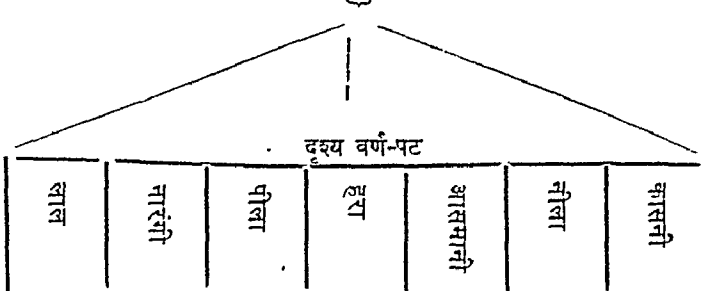
यह एक उल्लेखनीय बात है कि दृश्य वर्णपट संपूर्ण वर्णपट या 'ईथर स्पेक्ट्रम' का एक तुच्छ अंशमात्र ही है।
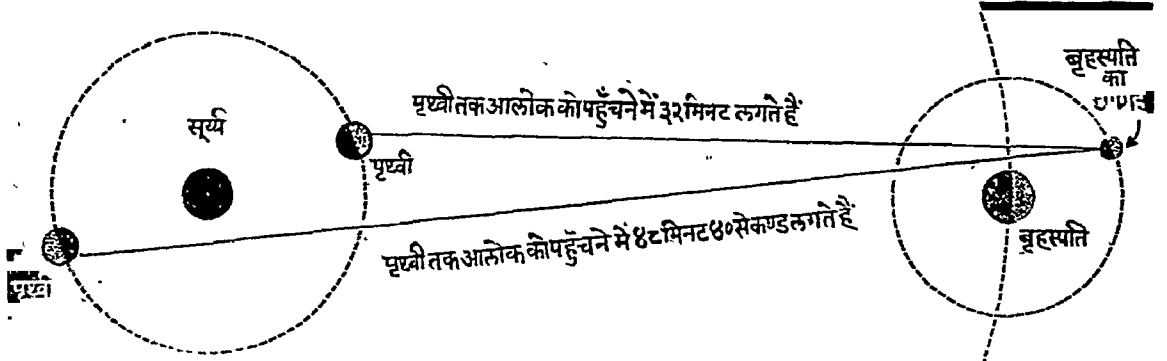
समय लगता है, उसका अंतर देखकर ही रोमर ने यह निश्चय किया था कि आलोक-रश्मि को दूरी तय करने में कुछ न कुछ समय लगता है और यह समय है प्रति १,८६,००० मील के लिए एक सेकंड (दे० पृ० १३०४ का मैटर) ।

थर्मामीटर में पारा ऊपर चढता हुआ दिखलाई दिया ! स्पष्ट था कि इस छोर पर भी रश्मि का विस्तरण दृश्य पट्टी से आगे तक पहुँचता है । इन किरणो को 'इन्फ्रारेड' रश्मियो के नाम से पुकारते हैं । रश्मिचित्र के इन्फ्रारेड प्रदेश के ताप की जाँच के लिए रेडियो-माइक्रोमीटर सरीखे सूक्ष्म थर्मामीटर ही काम में लाये जाते हैं ।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड प्रदेश की रश्मियो की जाँच करते समय साधारण काँच के त्रिपार्श्वो का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये रश्मियाँ काँच के माध्यम को मुश्किल से पार कर पाती हैं । वे प्रायः इनके अन्दर ही विलीन हो जाती है । अतः पराकासनी रश्मियो की जाँच के लिए स्फटिक काँच के त्रिपार्श्व तथा लेन्स और इन्फ्रारेड के लिए स्वच्छ पर्वतीय नमक (Rock salt) के त्रिपार्श्व तथा लेन्स काम में लाये जाते हैं । वायु भी पराकासनी किरणो को आसानी से सोख लेती है, अत. पराकासनी रश्मियो का चित्र प्राप्त करने के लिए रश्मि-विस्तरण का प्रयोग वायुरहित शून्य में करना होता है ।

इन अदृश्य रश्मियो के बारे में एक मनोरंजक बात यह मालूम हुई कि वर्णपट पर जितनी दूर तक दृश्य रश्मियों का फैलाव है, उनसे कही अधिक फैलाव पराकासनी तथा इन्फ्रारेड रश्मियों का है । फिर तो बरबस हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विभिन्न रश्मियों में से कुछ थोड़ी-सी ही रश्मियाँ हमें दृष्टिगोचर हो पाती है—शेष हमारे दृष्टिपल पर कुछ भी प्रभाव नही डाल सकती ।

रश्मि-जगत् की इस अनोखी बात का महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम आलोक की वास्तविकता को पहचानने का प्रयत्न करें । सुप्रसिद्ध अंग्रेज गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक न्यूटन ने इस प्रश्न के उत्तर में अपने निज का एक सिद्धान्त वैज्ञानिको के सामने रक्खा था । न्यूटन का कहना था कि प्रकाशोत्पादक से निकलकर पदार्थ के अत्यन्त ही नन्हे-नन्हें अदृश्य कण तीव्रतम गति से चारों ओर को विकीरित होते है—ये ही कण हमारी आँखो में प्रवेश कर हमें आलोक का अनुभव कराते है । ठीक इन्ही दिनो न्यूटन के समकालीन डच वैज्ञानिक हॉयगेन्स ने आलोक के प्रसार का एक प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त विज्ञान-जगत् के सामने रक्खा । उसके मत के अनुसार प्रकाशोत्पादक के कणो के कम्पन द्वारा एक विशेप प्रकार की तरंगे उत्पन्न होती हैं । इन्ही तरंगो के रूप मे प्रकाश अपने उद्गम से चारों ओर फैलता है । इन दोनो ही सिद्धान्तो को लेकर तत्कालीन वैज्ञानिकों में काफी वादविवाद चला । न्यूटन के समर्थको ने हॉयगेन्स से पूछा—"नई तरंगो के आगे बढने के लिए माध्यम अवश्य होना चाहिए । पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर सुदूर आकाश में एकदम वैकुअम (रिक्त प्रदेश) करोड़ों मील तक फैला हुआ है । फिर भी सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों से हमें प्रकाश प्राप्त हो जाता है, यह कैसे सम्भव है ?"

हॉयगेन्स ने फौरन् ही उत्तर दिया—"माध्यम है कैसे नही ! ईथर नाम का माध्यम सारे अंतरिक्ष (Space) मे फैला हुआ है । यह माध्यम विचित्र गुण रखता है । इसके अन्दर हद दर्जे का लचीलापन (elasticity) मौजूद है, साथ ही यह इतना विरल है कि ठोस वस्तुओ के अणुओं के बीच में से भी होकर अत्यन्त आसानी के साथ यह निकल जाता है ।"

फिर इस वाद-विवाद मे कुछ गणितज्ञों ने गणित के नियमों के आधार पर यह बात साबित की कि न्यूटन का सिद्धान्त यदि सही मान लिया जाय तो प्रकाश

फिजो का प्रयोग—प्रकाशोत्पादक 'प' से प्रकाश लेन्स में से होकर दपण 'द' पर पड़ता और परावर्त्तित हो विन्दु 'फ' पर केन्द्रित होता है। तव एक लेन्स द्वारा समानान्तर रश्मियों के पंज के रूप में आगे बढ़कर लम्बा फासला तय करके वह अन्य एक लेन्स द्वारा पुनः एक नतोदर दर्पण पर केन्द्रित हो जाता है। यहाँ से परावर्त्तित हो उसी पुराने मार्ग से पुनः उद्गम-स्थान 'प' पर पहुँच जाता है। दर्पण 'द' में एक सूराख है, जिसके रास्ते उस पार की रोशनी दिखाई पड़ती है। साथ ही जहाँ पर 'द' से परावर्त्तित हो रश्मियाँ एक विन्दु पर केन्द्रित होती हैं, वहाँ एक दाँतदार घूमनेवाला पहिया है। अव यदि पहिया इस रफ्तार से घुमाया जाय कि दो दाँतों के वीच की खाली जगह से जो आलोक-रश्मियाँ नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्त्तित होकर जव तक लौटें तव तक उस खाली जगह पर पहिये का एक दाँत पहुँच जाय, तो ऐसी हालत में 'द' के सूराख में से रोशनी विल्कुल नहीं दिखलाई पड़ेगी। यदि पहिए के दाँतों की संख्या मालूम हो तो इसके घूमने की रफ्तार मालूम करके हम हिसाब लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दाँत खिसककर वगलवाले खाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर में आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के वीच की दूरी का दूना फासला तय किया। (विशेष विवरण के लिए दे० पृ० १३०४-०५ का मैटर)।
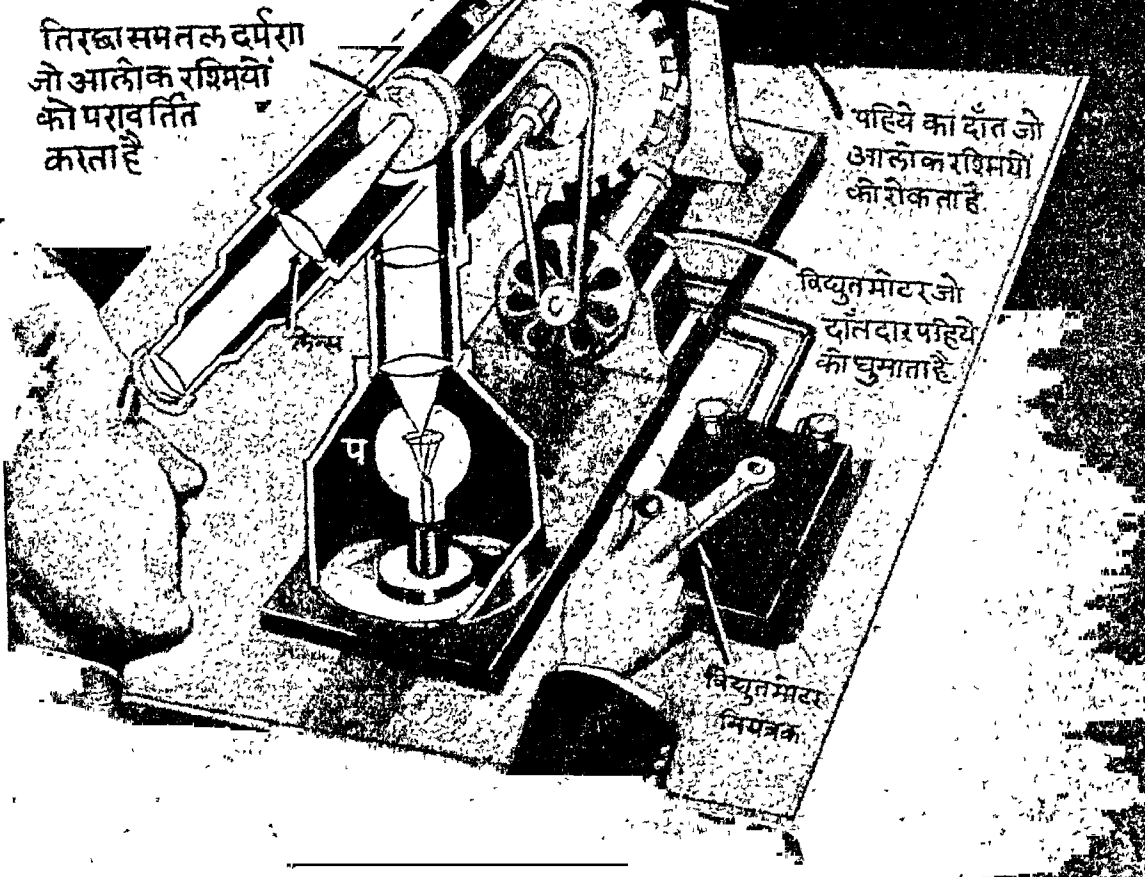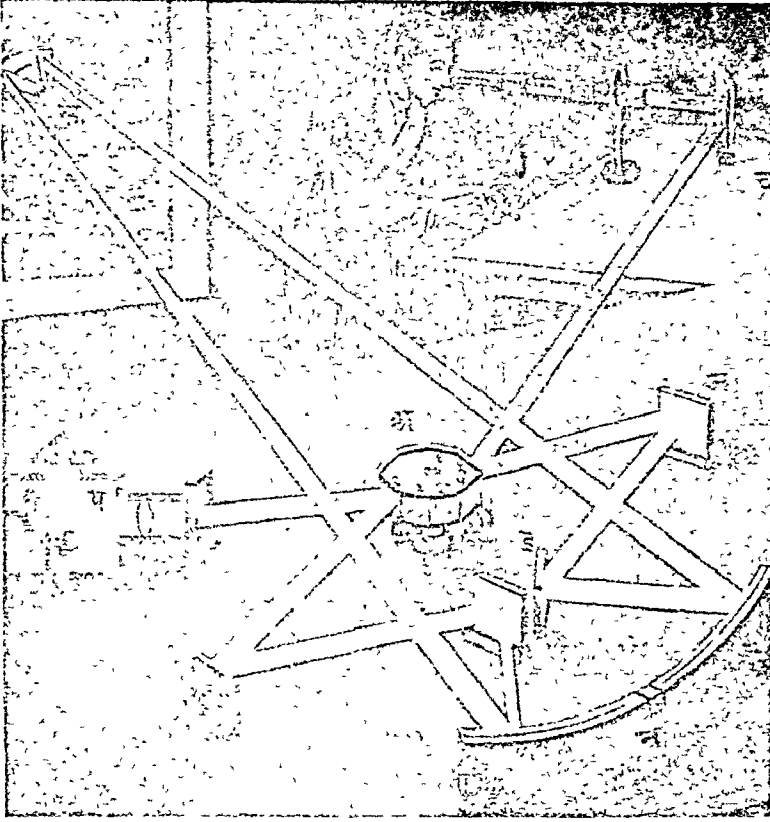
आलोक की गति जानने के लिए माइकेलसन का प्रयोग (विवरण के लिए दे० पृ० १३०६)

ग्रहण अब आगे कब लगेंगे । फिर उसने दूरदर्शक से देखा कि वास्तव मे गणना के अनुसार ठीक उन्हीं समयों परग्रहण लगते हैं या नहीं । उसने देखा कि आरम्भ में तो गणना द्वारा निर्धारित समय पर ही इन ग्रहणों की पुनरावृत्ति होती है। किन्तु ६ महीने बाद जब पृथ्वी अपनी कक्षा पर दूसरी ओर चली जाती है, तब ये ग्रहण गणना द्वारा नियुक्त समय पर नहीं लगते—वरन् अपने नियुक्त समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड बाद में लगते दिखलाई पड़ते हैं। रोमर पहले तो बहुत घबराया, फिर उसने इस प्रयोग पर सोचा-विचारा । अन्त में उसने यह गुत्थी सुलझा ही ली । उसने देखा कि जिन दिनों पृथ्वी अपनी कक्षा के उस छोर पर रहती है, जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों बृहस्पति के उपग्रहो के ग्रहण ठीक समय पर लगते दिखलाई पड़ते हैं, और जब पृथ्वी दूसरे छोर पर बृहस्पति से बहुत दूर पहुँच जाती है, तब इन दिनों ग्रहण अपने नियत समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड देर में लगते दिखलाई पड़ते हैं । उसने सोचा कि इन उपग्रहों में ग्रहण तो नियत समय पर ही लगता होगा, अवश्य समय की यह गड़बड़ी इस कारण है कि पृथ्वी अपनी कक्षा के दूसरे छोर पर अब आ गई है । जिन दिनों यह कक्षा के उस छोर पर थी, जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों की अपेक्षा अब वह लगभग ९ करोड़ २० लाख मील दूर हट आई है । स्पष्ट है कि ग्रहण का विलम्ब से होना केवल इसी कारण से है कि आलोक को इस ९ करोड़ २० लाख मील की लम्बी दूरी को तय करने में ६ मिनट ४० सेकण्ड लगते हैं । इस हिसाब से आलोक की

की आगे बढ़ने की गति घने माध्यम—अर्थात् जल या कांच—में हवा की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए । इसके प्रतिकूल यदि हॉयगेन्स का सिद्धांत सही माना जाय तो प्रकाश की गति हवा मे अधिक होनी चाहिए और जल या काँच में कम । किंतु इस चोखी कसौटी पर न्यूटन तथा हॉयगेन्स के सिद्धान्त उनके जीवन-काल मे न कसे जा सके । तत्कालीन वैज्ञानिकों को प्रकाश की गति नापने के तरीके ही नहीं मालूम थे । यह बात सत्रहवी शताब्दी की है । और सच तो यह है कि उस जमाने के लोगों की धारणा थी कि प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में समय लगता ही नही । इसकी गति अपरिमित समझी जाती थी ।

तब १६७५ में डेन्मार्क के एक ज्योतिषी रोमर ने बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण-काल का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके पहली बार यह साबित किया कि प्रकाश को भी दूरी तय करने मे समय लगता है । गणना के आधार पर उसने पहले ही मालूम कर लिया कि बृहस्पति के उपग्रहो के

गति प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील निश्चित् हो गई। तदुपरान्त प्रयोगशाला में भी आलोक की गति मालूम करने के निमित्त अनेक प्रयोग किए गए। इन सभी प्रयोगों में वह प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील ही निकली। इस ढंग का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय फिजो को प्राप्त है। फिजो के प्रयोग मे (दे० पृ० १३०३ का चित्र) प्रकाशोत्पादक 'प' से तीव्र प्रकाश लेन्स में से होकर एक तिरछे रखे हुए दर्पण 'द' पर पड़ता है। इस दर्पण से आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित होकर विन्दु 'फ' पर केन्द्रित होती हैं, फिर इसके आगे एक लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियों के पुञ्ज के रूप में परावर्त्तित होकर आगे बढ़ती हैं। एक लम्बे फासले को तय कर लेने के बाद एक दूसरे लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियाँ पुनः एक नतोदर दर्पण के धरातल पर केन्द्रित की जाती हैं। यह नतोदर दर्पण इन रश्मियों को परावर्त्तित करके उन्हें ठीक उसी पुराने मार्ग से वापस भेजता है। अतः परावर्त्तित रश्मियाँ फिर अपने उद्गम-स्थान 'प' पर पहुँच जाती हैं। इस प्रयोग मे दर्पण 'द' के वीचोवीच एक सूराख रहता है—ताकि उस पार की रोशनी दिखलाई दे। एक दाँतदार पहिया इन रश्मियों के मार्ग में उस स्थान पर रक्खा जाता है, जहाँ 'द' से परावर्त्तित हो ये एक विन्दु पर केन्द्रित होती हैं। यदि यह पहिया इस रफ्तार से घुमाया जाय कि दो दाँतों के बीच की खाली जगह से जो आलोक-रश्मियाँ उस नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्तित होकर जब तक लौटें, तब तक उस खाली जगह पर पहिए का एक दाँत पहुँच जाय, तो ऐसी हालत मे 'द' के सूराख मे से रोशनी विल्कुल नही दिखलाई पडेगी। स्पष्टत: इस समय पहिया ऐसी रफ्तार से घूम रहा है कि जितनी देर मे पहिए के खाली भाग की जगह पर वगलवाला दाँत घूमकर आ जाता है, उतनी देर मे आलोक-रश्मियाँ उस पहिए से चलकर नतोदर दर्पण तक जाकर वापस उसी जगह तक लौट आती हैं। यदि पहिए के दाँतो की संख्या मालूम हो तो इसके घूमने की रफ्तार मालूम करके हम हिसाव लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दाँत खिसक-

आलोक-रश्मि जव टूर्मलीन नामक पदार्थ के रवों (crystal) म से होकर गुजरती है, तो जिस समय रवे समानान्तर स्थिति में रहते हैं तव तो आलोक-रश्मि दूसरी ओर पहुंचती है, किन्तु दूसरा रवा जव पहले रवे से ९० अंश का कोण वनाता है, तो वह दूसरे रवे को पार नहीं कर पाती। इस प्रयोग से 'पोलराइजेशन' का सिद्धान्त समझ में आता है।
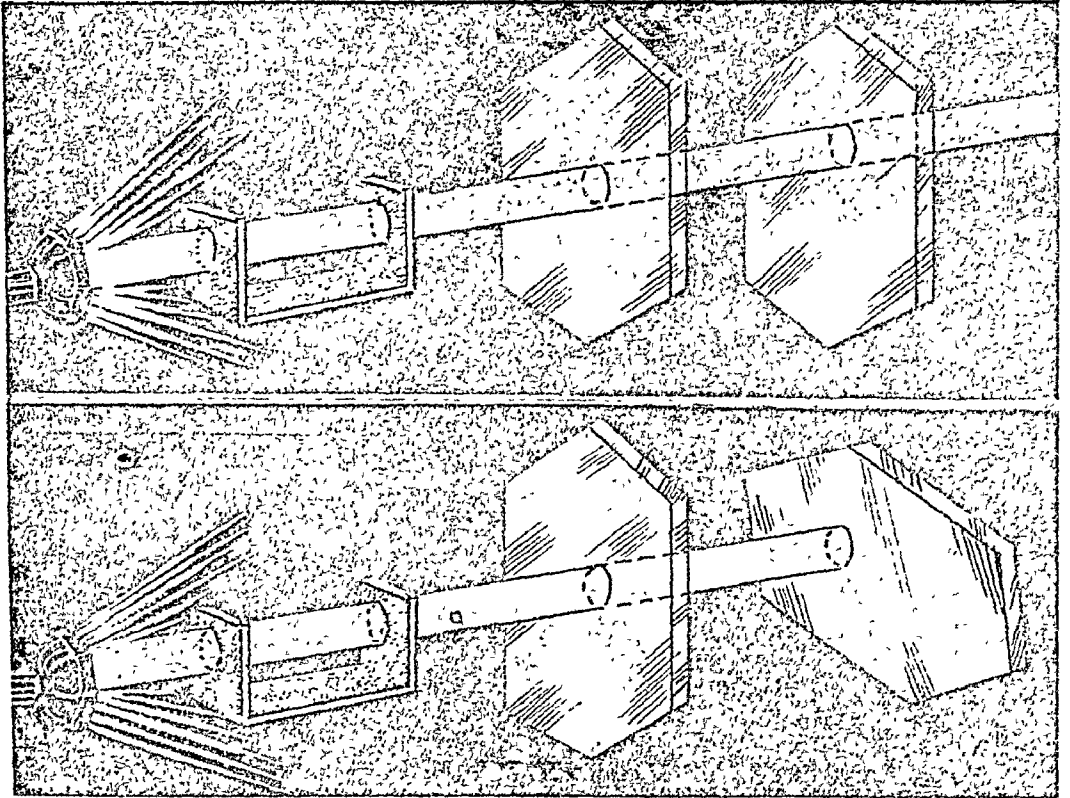
कर बगलवाले खाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर मे आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी का दूना फासला तय किया। अत. आसानी से इस रीति से आलोक की गति आँकी जा सकती है।

फिजो के पहिए मे ७२० दाँत थे। उसने देखा कि पहिए को उसे प्रति सेकण्ड १२६ बार घुमाना पड़ता था, तब दर्पण के सूराख मे पहली बार अँधेरा दिखाई देता था। इस समय पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी लगभग ५ मील थी। इस रीति से भी आलोक की गति १,८६,००० मील प्रति सेकेण्ड ही निकली।

१८८० के लगभग अमेरिका के नौसेना-विभाग के एक अफसर एल्बर्ट माइकेल्सन ने भी आलोक की गति नापने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए। माइकेल्सन के प्रयोग मे आलोक-रश्मि को जाते समय २२ मील की दूरी तय करनी पडती थी और उतनी ही दूरी लौटते समय। जैसा कि पृष्ठ १३०४ के चित्र से प्रकट है, प्रकाशोत्पादक 'प' से केन्द्रित होकर आलोक-रश्मियाँ एक पतली झिरी पर पड़ती है, यहाँ से ये रश्मियाँ एक घूमते हुए अठपहल दर्पण 'अ' पर पड़ती है। इस अठपहल दर्पण के एक दर्पण से परावर्त्तित होकर आलोक-रश्मि दो और समतल दर्पणो से परावर्त्तित होती है। तदुपरान्त नतोदर दर्पण 'न' से परावर्त्तित होकर खिड़की के रास्ते २२ मील की दूरी तय करने के लिए ये किरणे निकल जाती है। उस सिरे पर स्थित नतोदर दर्पण तथा समतल दर्पण 'स' से पुन. परावर्त्तित होकर ये किरणे प्रयोगशाला की मेज पर लौट आती है। पुनः ये नतोदर दर्पण 'न' तथा समतल दर्पण 'इ' और 'ज' से परावर्त्तित होकर अठपहल के एक दर्पण से परावर्त्तित हो 'द' पर पड़ती है। यहाँ से ये निरीक्षक की दूरबीन में प्रवेश करती है।

'पोलराइजेशन' संबंधी रस्सी और छड़ों का प्रयोग
(विवरण के लिए देखिए १३१० पृष्ठ का मैटर)

इस प्रयोग का सिद्धान्त समझना कुछ विशेष कठिन नही है। प्रयोग आरम्भ करते समय विभिन्न दर्पण तथा दूरदर्शक इस प्रकार रक्खे जाते है कि आलोक-रश्मि अठपहल के दर्पण नं० १ से परावर्त्तित होकर अन्य समतल तथा नतोदर दर्पणो द्वारा परावर्त्तित होती है। फिर अठपहल के दर्पण नं० ५ से परावर्त्तित होकर वह दूरबीन मे पहुँचती है। इस समय अठपहल स्थिर रहता है। अब अठपहल को लम्बवत् कीली के बल पर घुमाते है। इस दशा में दूरस्थ दर्पण से लौटकर आने पर रश्मि को अठपहल के दर्पण अपने पूर्ववत् स्थान पर नही मिलेगे। जिस समय रश्मि ने अठपहल के दर्पण नं० १ को छेदा था, उस समय की स्थिति के मुकाबले मे अठपहल के दर्पण अब कुछ आगे घूम गए होगे। अत. नं० ५ से परावर्त्तन होने पर रश्मि अब अपने पूर्व-मार्ग से थोड़ी विचलित हो जायगी। फलस्वरूप दूरबीन में अब यह आलोक-रश्मि न पहुँच पाएगी, क्योकि अब 'द' से परावर्त्तन होने के बाद रश्मि दूरबीन की झिरी पर ठीक नही पड़ेगी। यह एक ओर को हट कर पड़ेगी। किन्तु इस प्रयोग में एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि अठपहल की रफ्तार इतनी तेज कर दी जाय कि जितनी देर मे आलोक-रश्मि उस दूरस्थ दर्पण तक जाकर लौटे, तब तक अठपहल का दर्पण न० ४ आगे बढ़कर ठीक उसी स्थिति मे आ जाय जिस स्थिति में नं० ५ पहले था, तो ऐसी दशा मे

नं० ४ से परावर्तित होने पर रश्मि पुनः अपने पूर्व-मार्ग का ही अनुसरण करेगी और दूरबीन के अंदर प्रवेश करने में यह समर्थ हो सकेगी।

स्पष्ट ही है कि अठपहल को पूरा एक चक्कर लगाने मे जितना समय लगता है, उसका ठीक आठवाँ भाग नं० ४ दर्पण को नं० ५ की स्थिति में आने मे लगा। यह समय आसानी से मालूम किया जा सकता है। इतने ही समय में आलोक ने भी २२×२ मील का लम्बा फासला तय कर लिया। अत आलोक की गति आसानी से आँकी जा सकती है। इस प्रयोग से आलोक की गति १,८६,३२५ मील प्रति सेकण्ड निकली।

इन सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा यह भी प्रमाणित हो गया कि पानी तथा काँच अथवा अन्य किसी भी घने माध्यम में आलोक की गति हवा के अन्दर की इसकी गति से कम ही है। अतः न्यूटन तथा हॉयगेन्स दोनो के सिद्धान्त कसौटी पर कसे गए। इसके परिणामस्वरूप हॉयगेन्स का तरंगवाद खरा उतरा।

उपर्युक्त प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रयोगो ने भी आलोक के तरंगवाद का ही समर्थन किया है। यदि समान लहर-लम्बाई की दो तरगे एक ही दिशा मे गमन कर रही है, तो किसी एक तरंग का शिखर दूसरी के शिखर पर पड़ सकता है—अतः इस ठौर माध्यम मे बहुत तेज हरकत होगी, और यदि ये आलोक जाति की तरंगें हुईं तो इस ठौर आलोक की मात्रा भी बढ़ जायगी। या सम्भव है कि किसी स्थान पर एक तरंग का शिखर (crest) पड़े और दूसरी का कूँड़ या गड्ढा (trough)। ऐसी दशा मे माध्यम के उस स्थान पर दो बराबर शक्ति की विरोधात्मक गतियाँ उत्पन्न होंगी, जो एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी—उस स्थान पर माध्यम पूर्ववत् निश्चल बना रहेगा, दोनों तरंगों का सम्मिलित प्रभाव शून्य हो जायगा। किन्तु एक ही दिशा में गमन करनेवाले दो कण किसी भी स्थान पर शून्य प्रभाव उत्पन्न नही कर सकते। आलोक-रश्मियाँ यदि तरगे है तो अवश्य उपर्युक्त ढंग पर प्रयोग करने पर दो समान शक्ति की आलोक-तरंगों का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर शून्य हो सकता है, अर्थात् आलोक की दो तरगे विशेष परिस्थितियो में पूर्ण अन्धकार उत्पन्न करेगी। एक का शिखर ठीक उसी ठौर पडेगा, जहाँ दूसरे का कूँड। किंतु इसके प्रतिकूल आलोक-रश्मियाँ यदि आलोक-कणो की बनी है तो ये आलोक-रश्मियाँ मिलकर कभी अन्धकार उत्पन्न नही कर सकती।

प्रयोगशाला मे इस ढग के प्रयोग जब किए गए तो वास्तव में यह बात देखी गई कि पर्दे पर अकेली एक आलोक-रश्मि से सब जगह आलोक पहुँचता था, किन्तु जब दूसरी आलोक-रश्मि भी पर्दे पर भेजी गई तो पर्दे पर जहाँ-जहाँ दोनो आलोक-रश्मि की तरगो के शिखर साथ पहुँचे वहाँ तो आलोक तेज हो गया, और जहाँ एक का शिखर एव दूसरे का गड्ढा पहुँचा वहाँ पर अन्धकार हो गया। अतः इस प्रयोग ने भी आलोक को तरंगो की जाति का ही ठहराया। १८७३ मे प्रो० क्लार्क मैक्सवेल ने विधिवत् सिद्धान्तो द्वारा यह साबित किया कि आलोक वास्तव में विद्युत् तथा चुम्बकीय क्षेत्रो के कम्पन से उत्पन्न हुई तरग है। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरगें (Electro-Magnetic Waves) कहलाती है। १८८८ में हर्ट्ज ने प्रयोग द्वारा क्लार्क के इस नवीन अनुसंधान

पराकासनी-रश्मियों की स्वास्थ्य-प्रदायिनी उपयोगिता के कारण ही 'मर्करी आर्क लैम्पों' द्वारा अस्पतालों में कृत्रिम धूप उत्पन्न कर इन किरणों का सेवन कराया जाता है। चित्र में बालक सहित एक स्त्री इसी विधि से कृत्रिम धूप-स्नान कर रही है।

की पुष्टि की। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें 'ईथर' के माध्यम में उत्पन्न होती है।

इन तरंगों की लहर-लम्बाई नापने के लिए भी वैज्ञानिको ने सूक्ष्म ढंग के प्रयोगो से काम लिया, जिनसे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आलोक-रश्मियों मे रंग-भेद उनकी लहर-लम्बाई की भिन्नता के कारण है। कासनी रंग से आसमानी, फिर हरे तथा सतरंगी पट्टी के दूसरे छोर की ओर ज्यों-ज्यों हम बढते है, आलोक-रश्मियों की लहर-लम्बाई त्यों-ही-त्यों बढ़ती जाती है। लाल रंग से आगे बढने पर इन्फ्रारेड प्रदेश मे जाने पर हम देखते हैं कि इन्फ्रारेड रश्मियों की लहर-लम्बाई लाल रश्मियो की लहर-लम्बाई से अधिक है। उधर दूसरे छोर पर पराकासनी प्रदेश में पराकासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई कासनी रश्मियो की लहर-लम्बाई से कम उतरती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सतरंगी पट्टी के दोनों छोर के इधर-उधर पाई जानेवाली अदृश्य रश्मियाँ भी आलोक की जाति की ही तरंगें है।

इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियो को हम उष्णता की तरंगें भी कह सकते है। ये रश्मियाँ भी दृश्य आलोक-रश्मियों की भाँति वक्र और समतल धरातल से परावर्तित तथा आवर्तित होती है। भट्ठी में तपा हुआ गरम लोहे का एक गोला लीजिए। इसे एक नतोदर दर्पण के नाभि-विन्दु पर रखिए। उष्णता की रश्मियाँ परावर्तन के उपरान्त समानान्तर रश्मिपुंज के रूप में इस दर्पण से आगे को चलेंगी। सामने यदि दूसरा नतोदर दर्पण रखा जाय तो ये समानान्तर रश्मियाँ पुनः इस द्वितीय दर्पण के नाभिविन्दु पर केन्द्रित हो जायँगी। इस विन्दु पर रुई या तिनका रखिए तो वह तुरन्त जल उठेगा।

पराकासनी-रश्मियों के गुणों का उपयोग आधुनिक विज्ञान ने एक बड़े पैमाने पर किया है। डॉक्टर बतलाते हैं कि पराकासनी-रश्मियों का प्रभाव हमारे शरीर पर अत्यन्त स्वास्थ्यकर होता है। अतः ऐसे रोगी जिनका स्वास्थ्य गिर गया होता है, पराकासनी-रश्मियों का सेवन करते है। किन्तु साधारण धूप मे बैठने पर आपके शरीर तक पराकासनी-रश्मियाँ अधिक मात्रा मे नहीं पहुँच पाएँगी। कारण यह है कि ये रश्मियाँ आकाश के धूलि-कणों तथा जलवाष्प और बादलों में ही अधिकांश विलीन हो जाती है। अतः पर्वत के शिखर या समुद्र-तट पर, जहाँ आकाश बिलकुल निर्मल हो, लोग पराकासनी रश्मियों का सेवन करने के लिए जाते हैं। पतले से पतला कपड़ा भी इन रश्मियों को आपकी त्वचा तक नही पहुँचने देता, इसलिए नंगे बदन सूर्य की धूप में बैठने पर ही पराकासनी-रश्मियों से आप लाभ उठा सकते हैं। शरीर पर तेल आदि की चिकनाहट यदि मौजूद हुई तो भी इन रश्मियों के सेवन में आपको बाधा पहुँचेगी, अतः पराकासनी रश्मियों का सेवन करने के पूर्व अच्छी तरह नहा-धो लेना चाहिए। पराकासनी-रश्मियों की स्वास्थ्यदायिनी उपयोगिता के कारण पारे के आर्क-लैम्प (Mercury Arc Lamp) बनाए गए है, जिनके आलोक में पराकासनी-रश्मियों की मात्रा प्रतिशत अत्यधिक रहती है। रात के अँधेरे में या जिस समय आसमान में बादल घिरे हों, अस्पताल के अन्दर ही रोगी को प्रचुर मात्रा में ऐसे लैम्प से पराकासनी-रश्मियाँ मिल सकती है। पाश्चात्य देशों के लगभग सभी अस्पतालों मे पारे के ये आर्क लैम्प लगे हुए है।

(ऊपर) साधारण रश्मियों द्वारा लिया गया फोटो। (नीचे) उसी दृश्य का इन्फ्रारेड रश्मियों द्वारा लिया गया फोटो। अंतर पर ध्यान दीजिए।

कुछ कीटाणु आकार में इतने छोटे होते हैं कि वे बढ़िया से बढ़िया सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी नहीं देखे जा सकते। भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार अत्यन्त

शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकों से भी हम उन पदार्थों को नही देख सकते जिनका आकार आलोक-तरंगों की लहर-लम्बाई से कम हो। उपर्युक्त कीटाणु दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई से भी छोटे होते हैं। हाँ, यदि दृश्य आलोक के स्थान पर पराकासनी-रश्मियाँ उन कीटाणुओं पर डाली जायँ और तब हम उन्हें सूक्ष्मदर्शक के तले ले आएँ तो अवश्य वे हमें दृष्टि-गोचर हो जायँगे, क्योंकि पराकासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई इन कीटाणुओं के आकार से भी छोटी होती है। अतः आजकल सभी जीव-विज्ञानाचार्य कीटाणु-सम्बन्धी प्रयोगों मे पराकासनी रश्मिवाले सूक्ष्मदर्शकों का ही प्रयोग करते हैं। अवश्य ही ऐसे सूक्ष्मदर्शक में हमारी आँखों को ये कीटाणु न दिखाई देंगे, क्योंकि पराकासनी-रश्मियाँ हमारी आँखो को प्रभावित कर ही नहीं सकती। आँख के स्थान पर ऐसे सूक्ष्म-दर्शक में फोटो की प्लेट लगाते हैं। इसी प्लेट पर कीटाणु का परिवर्द्धित चित्र अंकित हो जाता है, जिसका अध्ययन वैज्ञानिक निश्चिन्ततापूर्वक सूक्ष्म रूप से कर सकता है। पराकासनी रश्मिवाले सूक्ष्म-दर्शकों में साधारण काँच के लेन्स काम में नही लाए जा सकते, क्योंकि ये पराकासनी रश्मियों के लिए पारदर्शक नही है। साधारण काँच के स्थान पर स्फटिक काँच के लेन्स इन सूक्ष्मदर्शकों में लगाए जाते हैं।

स्फटिक काँच के लेन्सों से युक्त फोटो लेने के यंत्र भी पराकासनी-रश्मि का चित्र लेने के लिए काम में लाए जाते हैं। पराकासनी-रश्मियों से पुराने रंगीन अथवा सादे चित्रों को आलोकित करके इन्ही यंत्रो से उनका फोटो लिया जाता है। पराकासनी-रश्मियो की सहायता से लिया गया फोटो साधारण फोटो से प्रायः भिन्न होता है। चित्र की अनेक बातें जो दृश्य आलोक मे दृष्टिगोचर नही होती; वे पराकासनी-रश्मि के फोटो में साफ उभर आती है। इस विधि से कितने ही प्राचीन चित्रो के नकल की जालसाजियाँ पकड़ी गई है। पासपोर्ट और चेक की अनेक जालसाजियाँ भी पराकासनी-रश्मियोंवाले फोटो से पकड़ी जा चुकी हैं।

ऊपर के चित्र में पोलरायड के लैम्पवाली एक मोटर दिखाई दे रही है। नीचे बिना पोलरायड के साधारण शीशेवाले लैम्प से युक्त मोटरकार का फोटो है। चकाचौंध में अंतर देखिए !

इन्फ्रारेड - रश्मियो मे पराकासनी - रश्मियो का विपरीत गुण मौजूद है। धूलिकणो या जलवाष्पकणो में इन्फ्रारेड-किरणें विलीन नही होती, इन्हे भेदकर ये आसानी से आर-पार चली जाती है। बीसियो मील की दूरी पर स्थित पहाड़ की चोटियाँ कुहरे और गर्द-गुबार के कारण दिन के समय भी हमे दिखलाई नही देती, क्योंकि दृश्य आलोक उन धूलि कणों से टकराकर इधर-उधर बिखर जाता है और हमारी आँखों तक पहुँच नहीं पाता। पर्वत-चोटी से चली हुई इन्फ्रारेड-रश्मियाँ रास्ते में बिना बिखरे हुए कुहरे आदि को भेदकर हम तक सीधी पहुँच जाती है, केवल हमारी आँखों को ये प्रभावित करने में समर्थ नही हो पाती। अतः इन किरणों को ग्रहण करने के लिए विशेष प्रकार की फोटो की प्लेटें बनाई गई है, ताकि कुहरे और गर्द-गुबार के समय भी दूर की चीजों का स्पष्ट फोटो लिया जा सके। इन्फ्रारेड-रश्मिवाले

केमरे में भी साधारण कांच के लेन्स नही लगाते, इनके स्थान पर खनिज नमक (Rock Salt) के वने लेन्स का प्रयोग किया जाता है। खनिज नमक के लेन्स इन्फ्रारेड-रश्मियो के लिए पारदर्शक होते हैं। दूरस्थ वस्तुओ का फोटो लेते समय कैमरे में दूरदर्शक यंत्र सरीखा एक साधन लगाना पडता है। इसे टेलीफोटो लेन्स कहते है। ऐसा करने से दूरदर्शक यत्र की तरह दूर की वस्तुएँ निकट प्रतीत होने लगती है।

आलोक-रश्मियो का एक और गुण उल्लेखनीय है। आलोक की तरगे ईथर के अन्दर उसके कणों में कम्पन उत्पन्न करती है। तरंग जिस दिशा मे अग्रसर होती है, उसकी आडी दिशा मे कणो का कम्पन होता है। किन्तु तरंग जिस ओर को वढती है, उससे समकोण वनाती हुई अनगिनत दिशाएँ हो सकती है, अतः ईथर के कण इनमे से किसी भी दिशा में कम्पन कर सकते हैं। ऐसी तरंगें, जिनमें माध्यम के कणो का कम्पन तरग के विस्तार की दिशा के समकोण पर होता है, अनुप्रस्थ (Transverse) तरंगे कहलाती है। प्रयोगों द्वारा आलोक-तरंगों के कम्पन को हम किसी भी एक धरातल में सीमित कर सकते हैं। इस क्रिया को 'पोलराइजेशन' (Polarization) कहते हैं।

समझने के लिए एक मनोरंजक प्रयोग का वर्णन करना अनुचित न होगा। दीवाल की कील में रस्सी का एक छोर वाँध दीजिए और दूसरा छोर अपने हाथ मे रखिए। कुछ दूरी पर खड़े होकर आप रस्सी को ऊपर-नीचे एकाध वार झटका दीजिए, रस्सी मे अनुप्रस्थ तरंगें उत्पन्न हो जायँगी। रस्सी के कणो का कम्पन ऊपर-नीचे हो रहा है। इसके प्रतिकूल यदि रस्सी मे आप दाहिने-बायें झटका दें तो इस दशा मे भी रस्सी में अनुप्रस्थ तरंगे उत्पन्न होंगी, किन्तु इस वार कम्पन ऊपर-नीचे न होकर दाहिने-वाँए पृथ्वी के समानान्तर धरातल मे होगा। इस रस्सी को यदि एक खिड़की मे से होकर गुजरना हो तो खिड़की में लगे हुए छड़ों की स्थिति के अनुसार रस्सी के कम्पन की तरंग भी उनके बीच में से होकर गुजर सकेगी। मान लीजिए कि खिडकी के छड़ ऊपर से नीचे को सीधे खड़े हैं। ऐसी दशा मे रस्सी में जव कम्पन ऊपर से नीचे को हो रहा है, तभी यह कम्पन खिडकी को पार कर आगे वढ सकेगा। इस खिड़की के वाद यदि दूसरी खिड़की रास्ते में रख दी जाय तो रस्सी की तरंगे इस खिड़की को भी पार कर आगे उस दशा में ही वढ सकेंगी, जवकि इस खिड़की के छड़ भी ऊपर से नीचे को खड़े हो। यदि दूसरी खिड़की को ९० अश के कोण मे घुमा दिया जाय तो इसके छड़ आड़े अर्थात् पृथ्वी के समानान्तर हो जायँगे। ऐसी दशा में रस्सी का कम्पन अव इस द्वितीय खिड़की मे से होकर आगे जरा भी नही वढ़ सकता (दे० पृ० १३०६ का चित्र)।

आलोक-तरंगों के लिए टूर्मलीन (Tourmaline) के रवे ठीक इन्हीं खिड़कियों-जैसा काम करते हैं। टूर्मलीन के एक रवे मे से गुजरने पर आलोक-तरंगों का कम्पन एक विशिष्ट धरातल मे ही सीमित हो जाता है, क्योंकि टूर्मलीन के रवे मे से होकर केवल एक धरातल के कम्पन गुजरने पाते हैं, अन्य दिशाओं मे होनेवाले कम्पन रवे मे ही विलीन हो जाते हैं। इस पोलराइज्ड (polarized) आलोक को जव हम द्वितीय टूर्मलीन के रवे में से गुजरने देते हैं, तव हम देखते है कि जिस समय दोनों रवे समानान्तर स्थिति मे रहते है उस समय तो आलोक-रश्मि दूसरी तरफ पहुँच पाती है, किंतु दूसरा रवा पहले रवे से जव ९० अंश का कोण वनाता है, तव आलोक-रश्मि दूसरी तरफ विल्कुल नहीं पहुँच पाती (दे० पृ० १३०५ का चित्र)।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियो मे भी दृश्य आलोक की ही भाँति पोलराइजेशन (Polarization) के गुण मौजूद है। प्रथम टूर्मलीन से गुजरने पर इन्फ्रारेड-रश्मियाँ थर्मामीटर को कम गरम कर पाती हैं, क्योंकि टूर्मलीन से गुजरने पर इस रश्मि के अन्य कम्पन मिट जाते है, केवल एक दिशा में होनेवाले कम्पन टूर्मलीन को पार कर पाते है। द्वितीय टूर्मलीन को पहले के ९० डिग्री पर रखने पर इन्फ्रारेड इस टूर्मलीन मे एकदम विलीन हो जाती है और अव थर्मामीटर पर कुछ भी असर नही पड़ता। द्वितीय टूर्मलीन को पुनः प्रथम टूर्मलीन के समानान्तर कर देने पर इन्फ्रारेड-रश्मि दोनों टूर्मलीनों को पार कर फिर थर्मामीटर को प्रभावित कर देती है।

पोलराइज्ड आलोक का प्रयोग अव हमारे दैनिक जीवन में भी किया जाने लगा है। सेलूलायड की जाति का एक पदार्थ तैयार किया गया है, जो सेलूलायड की तरह ही पारदर्शक होता है, किन्तु जिसका रंग अपेक्षाकृत गहरा होता है। इसे 'पोलरायड' के नाम से पुकारते हैं। पोलरायड के अन्दर आलोक-रश्मि को 'पोलराइज' करने की क्षमता होती है। केवल विशेष दिशा मे कम्पन करने-वाली आलोक-तरंगे इसमे से होकर गुजर सकती हैं। नए ढंग के होटल के कमरों मे खिड़कियों और रोशनदानों में काँच की जगह पोलरायड के दुहरे पर्दे लगे रहते हैं। इन पर्दो को एक दूसरे के लिहाज से घुमाने पर कमरे के

अन्दर बाहर से आलोक कम या अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है। जिस समय दोनों पर्दों के अणुओं की दिशा एक दूसरे के समानान्तर रहती है, दोनों को पार कर कमरे के अन्दर काफी रोशनी पहुँचती है। किन्तु इनमें से एक पर्दे को यदि घुमाया जाय तो इनमें से होकर गुजरनेवाले आलोक की मात्रा भी घटती जाती है, यहाँ तक कि जब दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ ९० अंश का कोण बनाते है, उस समय कमरे के अन्दर उनमें से छनकर जरा भी रोशनी नही पहुँचने पाती।

मोटरकार के लैम्प की चकाचौंध कम करने के लिए उसके आगे लैम्प मे शीशे की जगह पोलरायड का प्रयोग करते है, साथ ही गाड़ी मे ड्राइवर के सामने लगे हुए काँच के पर्दे की जगह भी पोलरायड ही लगाते है। ऐसा करने से सड़क पर चकाचौंध के कारण दुर्घटना नही होने पाती, क्योंकि पोलरायड में से होकर इधर-उधर की आलोक-रश्मियाँ गुजर नही पाती (दे० पृ० १३०९ का चित्र)। पोलराइज्ड रश्मियो की मदद से काँच के बर्त्तन की परीक्षा की जा सकती है, कि आया उसके सभी भाग समान रूप से ठण्डे हुए या नही। यदि बर्त्तन की दीवालों में अन्दर ही अन्दर कुछ बल हुआ तो वह हमें साधारण तौर से देखने पर न दिखलाई देगा। किन्तु परस्पर समकोण दिशा पर रखे हुए दो पोलरायड के पर्दो मे से देखने पर बर्त्तन की दीवालो में काली धारियाँ दिखलाई पडेंगी। ऊँचे दर्जे के कैमरे मे लेन्स के सामने पोलरायड का एक हलका-सा पर्दा लगा देते है, ताकि जिस वस्तु का फोटो लेना है, उसके आस-पास से व्यर्थ की चकाचौंध पैदा करनेवाला आलोक लेन्स तक पहुँचने न पाए। ऐसे कैमरे से लिये गए फोटो में प्रत्येक सूक्ष्म विवरण पूर्णतया स्पष्ट उभरता है।

एक्स-रे द्वारा लिया गया मनुष्य के हाथ का एक चित्र

यह किरणें हमें चक्षुओं से तो नहीं दिखलाई देतीं, पर उनका पता फोटो-प्लेट पर उनके प्रभाव से निश्चित् रूप से लग जाता है। देखिए, हाथ के मांस-रुधिर और ऊपरी आवरण को भेद-कर केवल हड्डियों का ही चित्र उभर आया है।

पोलरायड की ही बदौलत तथाकथित 'ठोस' चित्रपटो का बनना सम्भव हो सका है। ऐसे चित्रपट के लिए दुहरे लेन्स वाले कैमरे काम मे लाये जाते है। मनुष्य की दो आँखों की भाँति ये दोनों लेन्स उसी दृश्य के दो विभिन्न फोटो एक ही साथ लेते है। इस प्रकार दो फिल्म उसी दृश्य की तैयार कर ली जाती है, जो विभिन्न दृष्टिकोण से ली गई होती है।

सिनेमा-हाल मे दो प्रोजेक्टर-मशीनो मे इन दोनो फिल्मो को लगाकर पर्दे पर चित्र इस प्रकार फेंकते है कि दोनो ठीक एक दूसरे के ऊपर पडे। दोनो प्रोजेक्टर के लेन्सो के सामने एक-एक पोलरायड रख देते है। इन पोलरायडो की दिशा एक-दूसरे के साथ समकोण बनाती है। अतः बायें प्रोजेक्टर के दृश्य मे आलोक का कम्पन जिस दिशा मे होता है, दाहिने प्रोजेक्टर के चित्र में उस दिशा के साथ ९० अंश का कोण बनानेवाली दिशा में कम्पन होता है। दर्शकगण पोलरायड के बने चश्मे आँखों पर चढ़ाकर पर्दे की ओर देखते है। बाईं आँख के पोलरायड का झुकाव बायें प्रोजेक्टर के पोलरायड के झुकाव के समानान्तर होता है, और इसी प्रकार दाहिनी आँख के पोलराइड का झुकाव दाहिने प्रोजेक्टर के पोलराइड के झुकाव के समानान्तर होता है। अतः दर्शक की प्रत्येक आँख उन दो चित्रो मे से केवल एक चित्र देखती है, और उसे दृश्य मे लम्बाई-चौडाई के साथ ही मुटाई का भी भान हो जाता है।

विद्युत्-चुम्बकीय तरगों (Electro-Magnetic Waves) का सिलसिला इन्फ्रारेड तथा पराकासनी दोनों ओर बहुत दूर तक जारी है। इन्फ्रारेड से आगे बढने पर इन तरङ्गो की लहर-लम्बाई और भी अधिक बढ जाती है, यहाँ तक कि हम रेडियो-तरङ्गों तक पहुँच जाते है। इन तरङ्गो में कुछ की लहर-लम्बाई तो २० मील या कभी-कभी २००० मील तक भी पहुँचती है। पराकासनी-रश्मियों की ओर बढने पर इन तरङ्गों की लहर-लम्बाई निरन्तर कम होती जाती है। पहले सुदूर पराकासनी-रश्मियाँ मिलती है, फिर और आगे बढने पर हमें 'एक्स-रे' मिलती है। ये भी ठीक आलोक और उष्णता की जाति की तरङ्गें

हैं। इनकी लहर-लम्बाई दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई को $\frac{1}{1000}$ होती है।

किन्तु इन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की सूक्ष्मता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। एक्स-रे से भी और आगे बढ़ने पर रेडियम से निकलनेवाली तीव्रतर 'गामा-किरणें' मिलती है। इनकी भेदनशक्ति एक्स-रे के मुकाबले में कहीं अधिक होती है। थोड़ी देर तक भी यदि गामा-किरणे त्वचा पर पड़ें तो फौरन् गहरे घाव पड जाते हैं। एक्स-रे की भाँति गामा-किरणों का भी प्रयोग चिकित्सा-विज्ञान में अब प्रचुरता से किया जाने लगा है। शब्द-तरंगों की भाँति आलोक-तरंगों को भी उनकी लहर-लम्बाई के अनुसार सप्तकों मे बाँटते हैं। किसी विशेष लहर-लम्बाई से लेकर उसकी दूनी लहर-लम्बाई तक की तरंग एक सप्तक में आती है। इस हिसाब से हम देखते हैं कि दृश्य आलोक केवल एक सप्तक तक फैला है। इन्फ्रारेड-आलोक का क्षेत्र लगभग ९ सप्तको तक है, हर्ट्जियन तरंगों का २८ सप्तक तक, रेडियो-तरंगो का ११ सप्तक तक, पराकासनी का ५ सप्तक तक और एक्स-रे का १४ सप्तक तक है।

हजारों मील की दूरी से बेतार के संवाद भेजने के कार्य में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का प्रयोग। एक जहाज का वायरलेस ऑपरेटर अपनी बेतार की वर्की खटखटा रहा है।

आलोक की जाति की रश्मियों की विभिन्नता देखकर एक वैज्ञानिक ने एक बार कहा था कि "प्रकाश के अथाह सागर में हम अन्धे के सदृश हैं"। उसकी इस धारणा में सत्य का अंश कम नहीं है। गामा-किरणों से लेकर दूसरे छोर की रेडियो-तरंगों तक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की लम्बी शृंखला मौजूद है, किन्तु हमारी आँखों को इस शृंखला की एक नन्ही-सी कड़ी भर दिखलाई पड़ती है। अन्य किरणें हमारे दृष्टिपटल पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पातीं।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की विभिन्नता उनकी लहर-लम्बाई के अन्तर के कारण है। इसी कारण रेडियो-तरंगों को हम अपनी आँखो के दृष्टि-ज्ञान की सहायता से मालूम नहीं कर सकते हैं। इसका पता लगाने के लिए हमें विद्युत्-डिटेक्टर (detector) यंत्र का प्रयोग करना पड़ता है। पराकासनी-किरणें हमें दिखलाई नहीं देती, किन्तु फोटोग्राफी की प्लेट को वे प्रभावित कर सकती हैं। इन्फ्रारेड-रश्मियाँ केवल थर्मामीटर को प्रभावित कर सकती है। एक्स-रे वैसे हमें नहीं दीखती, किन्तु काँच तथा अन्य पदार्थ उसके स्पर्श से चमकने लगते हैं। गामा-किरणें भी अदृश्य होती है, किन्तु हमारी त्वचा को ये क्षण भर में ही जला डालती है। फिर विभिन्न गुणोंवाली ये तरंगें क्यों एक ही जाति (विद्युत्-चुम्बकीय) में रखी गई है? इसका कारण यह है कि कतिपय बाह्य गुणों की विभिन्नता को छोड़ उनके अनेक आभ्यन्तरिक गुण बिलकुल एक सरीखे है; जैसे, सभी विद्युत्-कणों की गति से उत्पन्न होती है, सभी बिना किसी भौतिक माध्यम के वैकुअम में भी गमन कर सकती है, और उन सब की गति प्रति सेकण्ड १,८६,३०० मील है।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की एक और विशेषता की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। विभिन्न लहर-लम्बाई की तरंगें विभिन्न आकार के पैकेट या 'क्वान्टम' (Quantum) के रूप में गमन करती है। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मैक्स प्लैङ्क ने विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान कर आलोक के 'क्वान्टम-वाद' का निर्माण किया है, जिससे अनेक गूढ़तम गुत्थियाँ सुलझ गई है, जो न तो न्यूटन के सिद्धान्त से समझ में आती थीं, और न तरंगवाद से ही। इस महत्वपूर्ण अनुसंधान के विषय में विशेष रूप से आप आगे चलकर जानकारी पा सकेंगे।

नमक का तेजाब और क्लोरीन गैस

आधुनिक जीवन में अनेक प्रकार से प्रयुक्त दो अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी रासायनिक पदार्थों का परिचय ।

एक परीक्षा-नली में थोड़ा-सा नमक ले लीजिए और उसमें कुछ सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड छोडकर मिश्रण को थोडा-सा गरम कीजिए। आप देखेंगे कि मिश्रण बुदबुदाने लगा और एक तीक्ष्ण गंधवाली अदृश्य गैस निकलकर श्वेत धूमों के रूप मे बाहर हवा में मिलने लगी। क्या आप जानते है कि यह गैस क्या है? इस गैस का नाम हाइड्रोजन क्लोराइड अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस है। 'हाइड्रोजन क्लोराइड' इसलिए कि यह गैस हाइड्रोजन और क्लोरीन नामक तत्वो के संयोग से बनती है, और 'हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस' इसलिए कि जब यह पानी में घुलती है तो नमक का तेजाब तैयार हो जाता है। इस गैस के एक अणु मे हाइड्रोजन और क्लोरीन का एक-एक परमाणु रहता है, इसीलिए इनका अणुसूत्र HCl लिखा जाता है। बतलाने के लिए तो हम बात-की-बात में इन सब तथ्यों को बतला गए; लेकिन शायद आप इसका अनुमान न कर सकेंगे कि मनुष्य को इन तथ्यों तक पहुँचने के लिए कितना समय लगा और कितना प्रयास करना पड़ा है!

उन्नीसवी शताब्दी के आरंभ तक, नमक का तेजाब क्या, नमक तक एक रासायनिक रहस्य रहा, यद्यपि मनुष्य द्वारा नमक का व्यवहार पूर्व-ऐतिहासिक काल से ही होता आ रहा है। लगभग आठवी शताब्दी मे अरब के कीमियागरों ने नमक, शोरा और फिटकरी के मिश्रण को गरम करके 'अम्लराज' तैयार किया। सत्रहवी शताब्दी के मध्य में बेसिल वैलेण्टाइन ने नमक और हरा कसीस के मिश्रण को, और फिर ग्लॉबर ने नमक और गंधकाम्ल के मिश्रण को गरम करके नमक का तेजाब बनाया। इन विधियों के आविष्कार के बाद एक शताब्दी और पच्चीस वर्ष और व्यतीत हो गए। सन् १७७४ ई० में स्वीडेन के रसायनज्ञ शीले ने पाइरोलुसाइट (मैङ्गनीज डाइऑक्साइड) नामक खनिज को नमक के तेजाब के साथ गरम किया। उसने देखा कि हरापन लिये हुए एक हलकी पीली गैस निकल रही थी। उसमें नाक, गले और फेफडो मे जलन सी पैदा करनेवाली एक बडी ही तीक्ष्ण गध थी और वनस्पति रंगों को वह सरलता से उड़ा देती थी। एक अनोखी वस्तु शीले के सामने उपस्थित थी। आखिर यह है क्या? फ्लोजिस्टनरहित नमक की तेजाब तो नही,--कारण, मैङ्गनीज डाइऑक्साइड ने अपनी ऑक्सिजन द्वारा फ्लोजिस्टन ही निकाल लिया होगा! लगभग ग्यारह वर्ष बाद बर्थोले ने देखा कि जब पानी में शीले की गैस का घोल प्रकाश मे रक्खा जाता है तो ऑक्सिजन निकलती है और पानी मे नमक का तेजाब बच रहता है। तो फिर यह हरी-सी गैस नमक के तेजाब और ऑक्सिजन के संयोग मे बना हुआ पदार्थ होना चाहिए! बर्थोले ने १७८५ में, लवायशिये ने १७८९ में, और गे-लूजक और थेनार्ड ने १८०६ में बार-बार यही राय दी। अतएव इस गैस का नाम ऑक्सीम्यूरिआटिक ऐसिड पड़ा, क्योंकि नमक के तेजाब का नाम म्यूरिआटिक ऐसिड था! म्यूरिआटिक ऐसिड का अर्थ 'समुद्र के नमक का तेजाब' होता है।

किन्तु ये सब धारणाएँ असत्य थी। नमक, उसके तेजाब और इस तेजाब से बनी हुई शीले की गैस की रासायनिक वास्तविकता को समझने के लिए ये सब वैज्ञानिक अंधकार में ही व्यर्थ भटक रहे थे। तब इंग्लैण्ड के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने १८१० में शीले की गैस पर अनेकों प्रयोग किये और यह सिद्ध कर दिया कि यह गैस ऑक्सिजन का यौगिक नही, एक नया मूल तत्त्व है! उसने इसका नाम क्लोरीन रक्खा, क्योंकि ग्रीक भाषा में 'क्लोरस' का अर्थ हरापन लिये हुए पीला होता है। सन् १८०७ में डेवी अपने अत्यंत मनोरंजक बिजली के प्रयोगों द्वारा सोडियम धातु का भी आविष्कार कर चुका

था। इन महत्वपूर्ण आविष्कारों के बाद ही नमक और नमक के तेजाब की ठीक रासायनिक रचना निर्धारित हो सकी। नमक सोडियम और क्लोरीन का यौगिक प्रमाणित हुआ, जिसके प्रत्येक अणु में सोडियम और क्लोरीन के एक-एक परमाणु रहते हैं। इसीलिए तो नमक का रासायनिक नाम सोडियम क्लोराइड है, और उसका अणु-सूत्र NaCI लिखा जाता है। Na सोडियम का और CI क्लोरीन का संकेत है।

हाइड्रोक्लोरिक एसिड अथवा नमक का तेजाब

नमक के तेजाब का उपयोग तो आपने कदाचित् कहीं-न-कहीं देखा ही होगा। धातुओं को साफ करने, कपड़ों से लोहे के धब्बों को निकालने और औषध-रूप में भी उसका उपयोग हुआ ही करता है। रसायनशाला के सबसे उपयोगी प्रतिकारकों (reagents) में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड भी है। पानी में न घुलनेवाले अधिकतर लवणों को वह घुलनशील क्लोराइडों में बदलकर घुला देती है। सुवर्ण, प्लैटिनम तथा कई अन्यथा अघुलनशील लवणों को घोलने के लिए 'अम्लराज' तैयार करने में भी इस अम्ल का उपयोग होता है। इसके अलावा प्रयोगशाला में हाइड्रोजन, क्लोरीन, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड आदि गैसों को बनाने में भी यह काम में लाई जाती है। व्यापारिक परिमाणों में वह क्लोराइड लवण, क्लोरीन, रंग, आदि के बनाने में तथा अन्य अनेक धंधों में भी व्यवहृत होती है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अब भी ग्लॉबर की ही क्रिया द्वारा बनाई जाती है। यदि आप अपनी प्रयोगशाला में उसे तैयार करना चाहते हैं तो एक फ्लास्क में थोड़ा सा नमक ले लीजिए और थिसिल कीप द्वारा उसमें कुछ सांद्र गंधक का तेजाब डालकर कीप के निचले सिरे को तेजाब के अंदर कर दीजिए। अब बालुकाकुंडी पर रखकर फ्लास्क को गरम कीजिए और गैस को इसी पृष्ठ के चित्र में दिखाए गए प्रबन्ध द्वारा इकट्ठा कर लीजिए। हाइड्रोजन क्लोराइड गैस हवा से सवागुनी से कुछ अधिक भारी होती है, अतएव वह जार में हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आपको इसे पानी में घोलकर नमक का तेजाब बनाना है तो निकास-नली के सिरे को पानी में भूलकर भी न डुबाइएगा; नहीं तो पानी गैस को घोलता हुआ एकाएक निकास-नली में चढ़कर फ्लास्क में पहुँच जायगा, और वहाँ उसके सांद्र गंधकाम्ल के संसर्ग में आते ही इतनी गरमी का उत्पादन होगा कि सारा मिश्रण एकाएक उबल पड़ेगा। इस उबल पड़ने में बहुधा फ्लास्क फट पड़ता है और शीशे के टुकड़ों और गरम सल्फ्यूरिक ऐसिड के उड़ने से प्रयोगकर्त्ता को गहरी चोट लगने का भय रहता है। अतएव, तेजाब बनाने के लिए आप चित्र में दिखाए गए चार उपायों में से किसी एक का उपयोग कर सकते हैं। इनमें से प्रत्येक उपकरण रबर की नली के टुकड़े द्वारा निकास-नली से सम्बन्धित किया जा सकता है, और पात्रों में रक्खे हुए पानी में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड निरापद घुलता रहता है। हाँ, पहले, दूसरे और तीसरे प्रबंध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रिटॉर्ट या कीप अथवा पिपेट के सिरों का थोड़ा-सा ही भाग पानी में डूबा रहे; नहीं तो इन पात्रों
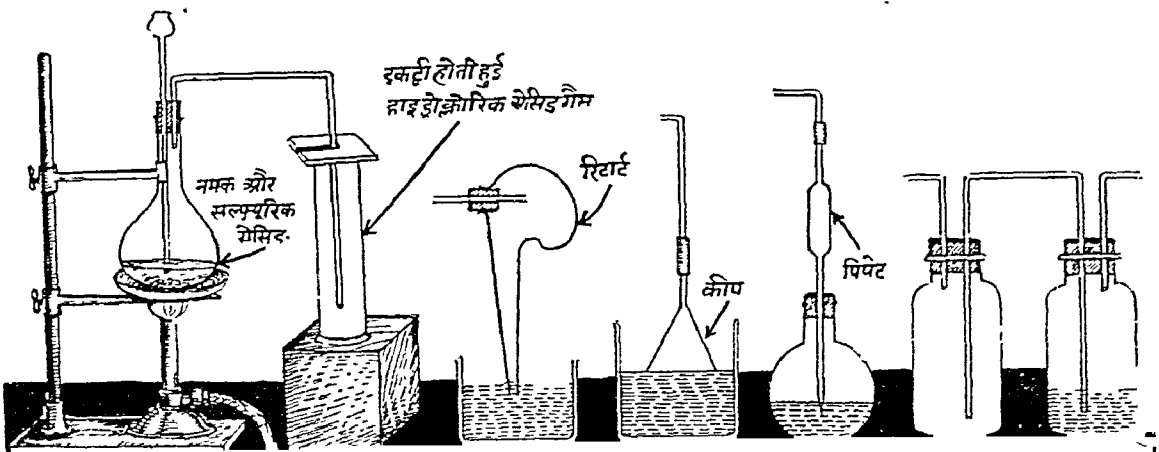
प्रयोगशाला में हाइड्रोजन क्लोराइड गैस अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड बनाने की विधि
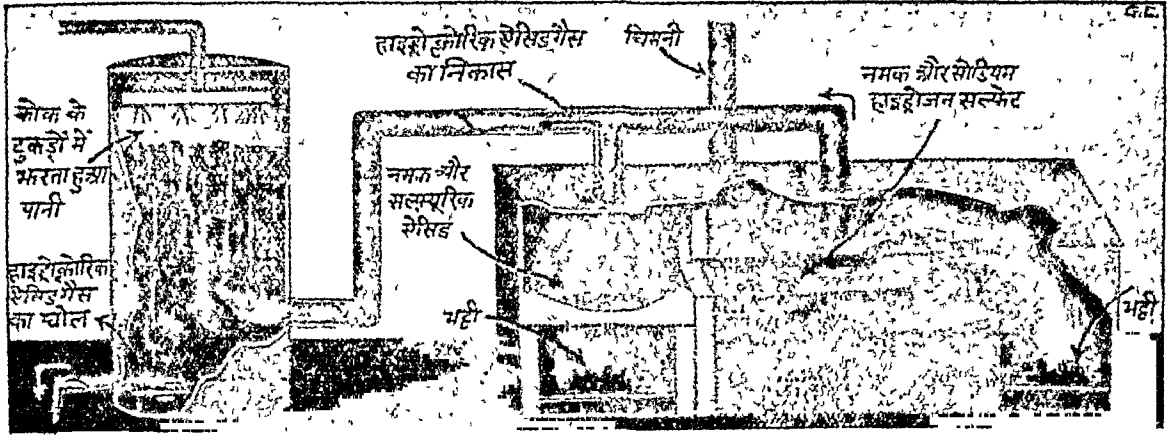
बड़े परिमाणों में नमक के तेजाब का निर्माण

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड उसके सबसे सस्ते और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण ही बनाई जाती है।

को भी भरकर पानी फ्लास्क में पहुँच सकता है। औद्योगिक पैमाने में भी अधिकतर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड नमक और सल्फ्यूरिक ऐसिड की ही प्रक्रिया द्वारा तैयार की जाती है। जिस भट्ठी में इन दोनों का मिश्रण गरम किया जाता है उसे 'साल्ट-केक फरनेस' (लवण पिण्ड भट्ठी) कहते हैं। ढलवाँ लोहे के एक कड़ाह में नमक और प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण गरम किया जाता है, जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है, और सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट (दूसरा नाम सोडियम बाइसल्फेट) और शेष नमक का मिश्रण कड़ाह में लेई के रूप में रह जाता है—

$$NaCl + H_2SO_4 = NaHSO_4 + HCl$$

सोडियम क्लोराइड (नमक) + सल्फ्यूरिक ऐसिड (गंधक का तेजाब) = सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट + हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस
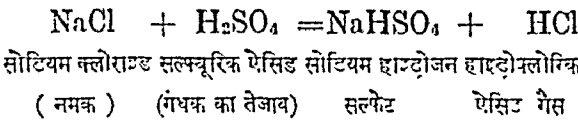
अधिक ऊँचे ताप पर नमक और सोडियम बाइसल्फेट की पारस्परिक क्रिया द्वारा और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, अतएव इनका मिश्रण कड़ाह से लोहे के एक संदूकनुमा स्थान में सकेल दिया जाता है। दूसरी ओर की भट्ठी द्वारा इसका ताप अधिक ऊँचा रक्खा जाता है। यहाँ से और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है और सामान्य सोडियम सल्फेट पिंड रूप में जमकर रह जाता है—

$$NaHSO_4 + NaCl = Na_2SO_4 + HCl$$
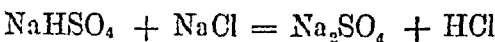
इसीलिए इस भट्ठी को लवण-पिण्ड भट्ठी कहते हैं। इस भट्ठी से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस कोक के टुकड़ों से भरी हुई एक ऐसी मीनार में ले जाई जाती है जिसमें पानी झरता रहता है। गैस पानी में घुल जाती है और तेजाब नीचे इकट्ठा हो जाता है और वहाँ से निकाल लिया जाता है। इस विधि में उत्पन्न होनेवाले सोडियम सल्फेट से धोनेवाला सोडा बहुत बनाया जाता है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड उसके सबसे सस्ते और प्रचुर होने के कारण ही बनाई जाती है। वैसे तो, किसी भी क्लोराइड पर सल्फ्यूरिक ऐसिड की प्रक्रिया द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, जिस प्रकार किसी भी नाइट्रेट पर उसकी प्रक्रिया द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बन जाती है।

बहुधा क्लोरीन को हाइड्रोजन में जलाकर भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का निर्माण कर लिया जाता है। किंतु, इस विधि का उपयोग वहीं होता है जहाँ बिजली की विधियों द्वारा हाइड्रोजन और क्लोरीन का उत्पादन आवश्यकता से भी अधिक होता रहता है।

हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के मनोरंजक प्रयोग

हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के साथ भी, उसके अत्यंत घुलनशील होने के कारण, फव्वारे का मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। अंतर केवल यही होगा कि इसके अम्ल होने के कारण बाहर अमोनिया अथवा किसी अन्य क्षार का पानी लेना पड़ेगा, और बाहर और भीतर के रंग उलट जायँगे। साधारण विधि में हाइड्रोक्लोरिक गैस के बंद जार को उलटकर उसके मुँह को पानी के भीतर खोलिए। पानी घुली हुई गैस की जगह को भरता हुआ शीघ्र ही ऊपर चढ़ जायगा।

एक चीथडे मे थोड़ा-सा हलका नमक का तेजाब ले लीजिए और उसे पीतल आदि किसी धातु पृष्ठ पर रगड़ दीजिए। वह साफ हो जायगा। इसका कारण यह है कि अधिकतर धातुओ की ऑक्साइडे अथवा हाइड्रॉक्साइडें अथवा कार्बोनेटें, जो जंग के रूप मे उनके पृष्ठों पर जम जाती है, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड मे क्लोराइडो में बदलकर सरलता से घुल जाती हैं। कपड़ों पर लोहे के दाग लोहे की ऑक्साइड (फेरिक ऑक्साइड) के होते है। हलके नमक के तेजाब की क्रिया द्वारा यह भी उसी प्रकार घुल कर साफ हो जाती है। नमक के तेजाब मे कई धातु, यथा जस्ता, लोहा, मैग्नेशियम, अलुमीनियम आदि सरलता से क्लोराइडो मे परिवर्तित होकर घुल जाते है, और उनकी हाइड्रोजन गैस रूप मे निकल जाती है। अम्लों मे हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड प्रबलतम होती है। क्षारो को वह तीव्रता से मारकर क्लोराइड लवणो मे परिणत कर देती है।

प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थो द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन ऑक्सीकारक द्वारा मिली हुई ऑक्सिजन मे संयुक्त होकर पानी मे परिवर्तित हो जाती है, और क्लोरीन मुक्त हो जाती है—

$$2HCl + O = H_2O + Cl_2$$
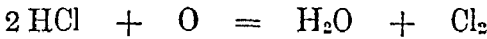
अम्लराज मे नाइट्रिक ऐसिड यही कार्य करती है। इस प्रकार नमक के तेजाब से क्लोरीन बनाने के लिए मैङ्गनीज डाइऑक्साइड और पोटैशियम परमैङ्गनेट (कुओ आदि मे डाला जानेवाला कीटाणुनाशक पदार्थ) नामक ऑक्सीकारकों का अधिकतर उपयोग होता है। शीले ने मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की ही इस क्रिया द्वारा क्लोरीन का आविष्कार किया था।

क्लोरीन

प्रकृति मे क्लोरीन का अस्तित्व न केवल नमक (सोडियम क्लोराइड) मे ही, वरन् मैग्नेशियम क्लोराइड और पोटैशियम क्लोराइड के रूप में भी रहता है। नमक के साथ-साथ ये अन्य दोनों लवण भी समुद्र-जल मे घुले रहते है। जर्मनी मे स्टासफर्ट के निक्षेपों मे पोटैशियम और मैग्नेशियम क्लोराइड वृहद् परिमाणों मे मिलते हैं। तथापि क्लोरीन का सबसे प्रचुर और सस्ता यौगिक नमक ही है। समुद्रो और अनेकों भीलो के अतिरिक्त धरती मे भी नमक की चट्टानों के स्तर पाये जाते है, और बहुधा वह मिट्टी मे मिला हुआ भी पाया जाता है। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड ज्वालामुखी पर्वतों से निकलती हुई गैसों में बहुधा रहती है, और न्यूनांशों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पेट के पाचक रस (gastric juice) में भी रहती है। इसकी कमी को पूरा करने लिए ही हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड की कुछ बूंदे पानी मे घोलकर औषध-रूप मे रोगी को दी जाती है। क्लोरीन के अत्यधिक संयोगशील होने के कारण प्रकृति में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व संभव नहीं होता।

क्लोरीन मनुष्य के लिए बहुत ही उपयोगी वस्तु सिद्ध हुई है। क्या आपने कभी सोचा है कि मिलों से निकले हुए दुग्ध-श्वेत कागज अथवा कपड़े किस प्रकार इतने साफ कर दिए जाते हैं? क्लोरीन के ही उपयोग से! नगरों में पीने का पानी प्रायः क्लोरीन द्वारा ही स्वच्छ और शुद्ध करके नलों द्वारा भेजा जाता है। ओजोन आदि से सस्ती होने के कारण वनस्पति रंग और कीटाणुओं की सबसे महत्वपूर्ण नाशक क्लोरीन ही है। सुवर्ण, ब्रोमीन, हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड, 'ब्लीचिंग पाउडर', क्लोराइड और क्लोरेट लवण, क्लोर-बेन्जीन, क्लोरल, विषाक्त गैसों तथा अनेक अन्य उपयोगी पदार्थों के निर्माण में क्लोरीन काम में लाई जाती है। प्रयोगशाला मे भी उसका उपयोग होता रहता है, और कीटाणुनाशक होने के कारण औषध-रूप में भी उसका व्यवहार होता है। क्लोरीन के विषाक्त होने के कारण इसका उपयोग विगत महायुद्ध मे हुआ था, और सम्भव है अन्य अवसर पर भी हो।

प्रयोगशाला में क्लोरीन का उत्पादन

रसायनशाला में क्लोरीन तैयार करने के लिए बहुधा नमक के तेजाब पर मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की प्रक्रिया का उपयोग होता है। इस विधि का प्रबंध यही अगले पृष्ठ के चित्र मे दिखाया गया है। गरम करने से कुछ हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस भी क्लोरीन मे मिल जाती है, अतएव गैस को थोड़े से पानी मे बुलबुला लेते हैं जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उसमे घुलकर पृथक् हो जाती है। फिर इसे सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड द्वारा शुष्क करके जारो में भर लेते हैं। क्लोरीन हवा से लगभग ढाई गुनी भारी होती है, अतएव वह हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आप इस विधि से नमक से ही क्लोरीन बनाना चाहे तो फ्लास्क मे नमक (५० ग्राम), मैङ्गनीज डाइऑक्साइड (२५ ग्राम) और सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड के मिश्रण को गरम कर लीजिए।

दूसरी रीति

प्रयोगशाला की दूसरी विधि मे मैङ्गनीज डाइ ऑक्साइड के स्थान पर पोटैशियम परमैङ्गनेट का उपयोग होता है।

पोटैशियम परमैङ्गनेट मैङ्गनीज डाइऑक्साइड से महँगा अवश्य होता है, किंतु यह विधि को अत्यंत सरल बना देता है। इसमें गरम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती (चित्र देखिए)। क्लोरीन पानी में काफी घुलती है, किंतु नमक के घोल में उसकी घुलनशीलता कम हो जाती है। अतएव वह नमक के घोल के ऊपर भी इकट्ठी की जा सकती है।

वेल्डन की प्रणाली

व्यापारिक परिमाणों में क्लोरीन का उत्पादन पहले वेल्डन और डेकन की रासायनिक विधियों में ही होता था। वेल्डन की विधि में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पर मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की प्रक्रिया द्वारा क्लोरीन तैयार की जाती थी और डेकन की विधि में ताम्रिक क्लोराइड के उत्प्रेरक प्रभाव से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के हवा द्वारा ऑक्सीकरण से क्लोरीन का उत्पादन होता था। बिजली का प्रचार होने पर क्लोरीन की तैयारी सीधे नमक से ही होने लगी, और इन विधियों से न केवल क्लोरीन ही किंतु साबुन बनाने का कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन भी साथ-ही-साथ बनने लगे। नमक-जैसी सस्ती वस्तु के उपयोग और 'एक पथ और तीन काज' के कारण इन तीनों वस्तुओं का निर्माण इन विद्युत्-विधियों द्वारा सस्ते में होने लगा। अतएव पुरानी विधियों का महत्व घट गया और आजकल तो उनका उपयोग बहुत ही कम हो गया है।

बिजली की दो मुख्य विधियाँ

बिजली की दो मुख्य विधियाँ यहाँ चित्रों में प्रदर्शित हैं। इन दोनों ही विधियों में नमक के घोल, जिसे अंग्रेजी में 'ब्राइन' कहते हैं, का उपयोग होता है। घोल में, अन्य घुलनशील लवणों की भाँति, नमक भी दो विद्युदाविष्ट भागों में टूट जाता है। इन भागों को 'आयन' कहते हैं। लवण का धातव भाग सदैव धन विद्युत् से और दूसरा भाग
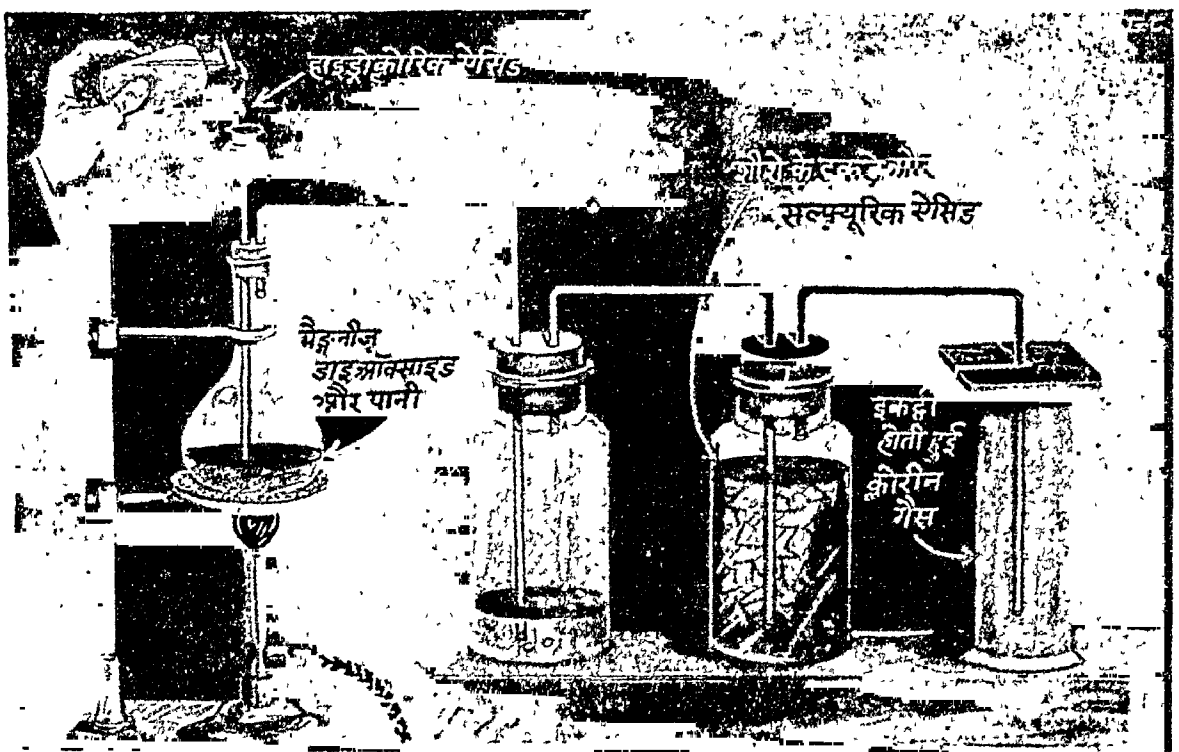
प्रयोगशाला में क्लोरीन गैस बनाने की साधारण विधि—फ्लास्क में पहले मैङ्गनीज डाइऑक्साइड पानी के पर्याप्त परिमाण के साथ हिलाकर मिला लिया जाता है, जिससे वह पेंदे पर जमा न रहे। ऐसा न करने पर फ्लास्क बहुधा चटक जाता है। सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़कर मिश्रण वालुकाकुंडी पर गरम किया जाता है, और क्लोरीन शुद्ध और शुष्क करके इकट्ठा कर ली जाती है। इसके विषाक्त होने के कारण इसे खुले स्थान अथवा हवादार कमरे अथवा धूम-कोष्ठ में तैयार करना चाहिए।

ऋण विद्युत् से आविष्ट हो जाता है। अतएव नमक सोडियम के धनविद्युत् से आविष्ट और क्लोरीन के ऋण-विद्युत् से आविष्ट कणो मे विभाजित हो जाता है। जब इन कणो पर बिजली का प्रभाव डाला जाता है तो सिद्धाता-नुसार सोडियम के धन कण 'कैथोड' (ऋण द्वार) के ऋण विद्युत् द्वारा और क्लोरीन के ऋण कण 'ऐनोड' (धन द्वार) के धन विद्युत् द्वारा खिंचकर उधर ही चल पडते हैं। कैथोड अथवा ऐनोड पर पहुँचते ही इन कणो की बिजली का विरुद्ध बिजली द्वारा विमर्जन हो जाता है, और वे साधारण परमाणुओ के रूप मे आ जाते है। क्लोरीन के परमाणु तो अणुओं के रूप (Cl_2) मे होकर निकल जाते है, किन्तु सोडियम पानी के संसर्ग के कारण तुरंत कास्टिक सोडा मे बदल जाता है और इस क्रिया मे बनी हुई हाइड्रोजन एक दूसरे मार्ग मे निकल जाती है। पहली विधि मे लोहे के टैङ्क मे स्थित बिजली के कोठे को नेल्सन का कोष्ठ और दूसरी मे उसे कैस्टनर-केलनर का कोष्ठ कहते है। दोनों ही विधियों मे क्लोरीन ऐनोडो पर मुक्त होकर ऊपर इकट्ठी हो जाती है और वहाँ से नली द्वारा बाहर निकालकर बाहर भेजने के लिए इस्पात के बेलनों मे शीत और दबाव के प्रवाव से द्रवीभूत करके भर ली जाती है। सोडियम ऐस्बस्टस के रंध्रों से होकर इस्पात की जाली तक पहुँचता है, और वहाँ पानी की प्रक्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होने लगता है। हाइड्रोजन ऊपर से बाहर निकल जाती है, और कास्टिक सोडा का घोल नीचे एक लंबे तसले मे इकट्ठा हो जाता है, जहाँ से बाद में वह निकाल लिया जाता है।

कैस्टिनर और केलनर की विधि मे लोहे का टैङ्क तीन खानों में बँटा होता है (पृष्ठ १३१९ का चित्र)। टैङ्क एक ओर नीचे बँधा रहता है, किन्तु दूसरी ओर उसके नीचे एक ऐसा पहिया घूमता रहता है, जिसमे धुरी केन्द्र से हटकर लगी होती है। घूमने से टैङ्क ऊपर-नीचे झूलता है और पेंदे पर भरी पारे की एक तह को एक कोठे से दूसरे कोठे में सरकाया करता है। इधर-उधर के कोठो में नमक के घोल से क्लोरीन ऐनोडों पर मुक्त होकर बाहर निकल जाती है और सोडियम पारे के कैथोड पर विसर्जित होकर उसी मे घुल जाता है। यह सोडियम-पारद मिश्रण टैङ्क के झूलने के कारण खिसक-कर बीच के खाने में पहुँचता है और वहाँ पानी की क्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होन लगता है। पारे की तह बाहरी खानों म कैथोड और बीच के खाने मे ऐनोड का काम करती है। बीच के खाने में लोहे के कैथोड और पारे के ऐनोड के प्रभाव से कास्टिक सोडा के घोल का भी विद्युत् विश्लेषण होने लगता है। कास्टिक सोडा का रासायनिक नाम सोडियम हाइड्रोजन और अणु-सूत्र NaOH है। वह बिजली के प्रभाव से सोडियम के धन कणों और हाइ-ड्रॉक्साइड (OH) के ऋण कणो में पृथक होने लगता है। सोडियम कण लोहे की छड़ों पर पहुँचकर कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन करने लगते है और OH कण पारद-सोडियम मिश्रण पर विसर्जित होकर सोडियम से संयुक्त हो जाते है। इस प्रकार लोहे और पारे दोनों ही पर
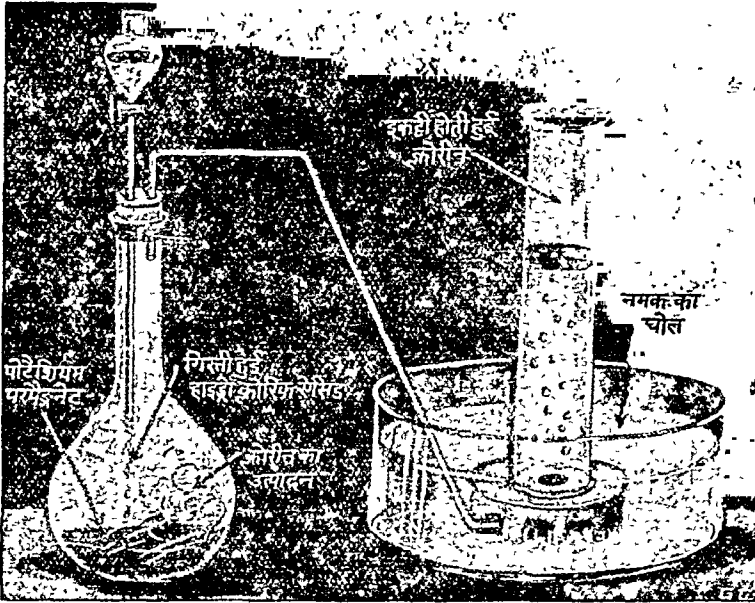
प्रयोगशाला में क्लोरीन तैयार करने की सरलतम विधि

फ्लास्क में रखे हुए पोटैशियम परमैंङ्गनेट पर थोड़ी-थोड़ी प्रबल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़ते जाइए। क्लोरीन गैस की धारा तेजी से लगातार निकलती रहेगी।

नमक से बिजली द्वारा कास्टिक सोडा, क्लोरीन और हाइड्रोजन का एक साथ निर्माण

नेल्सन की विधि

लोहे के एक टंकू में स्थित भीतर की ओर रंध्रमय ऐस्बस्टस से मढ़ा हुआ इस्पात की जाली के एक चूल्हाकार हौज में नमक का घोल भरा रहता है। इस्पात की जाली कैथोड और नमक के घोल में डूबे हुए ग्रैफाइड के छड़ ऐनोड का काम करते हैं। कास्टिक सोडा नीचे एक लंबे तसले में इकट्ठा होता है, जहाँ से वह नल द्वारा निकाल लिया जाता है। हाइड्रोजन और क्लोरीन ऊपर से नलों द्वारा निकाल ली जाती है। नमक के घोल की कमी नल द्वारा आते हुए घोल से पूरी होती रहती है।

कैस्टनर और केलनर की विधि
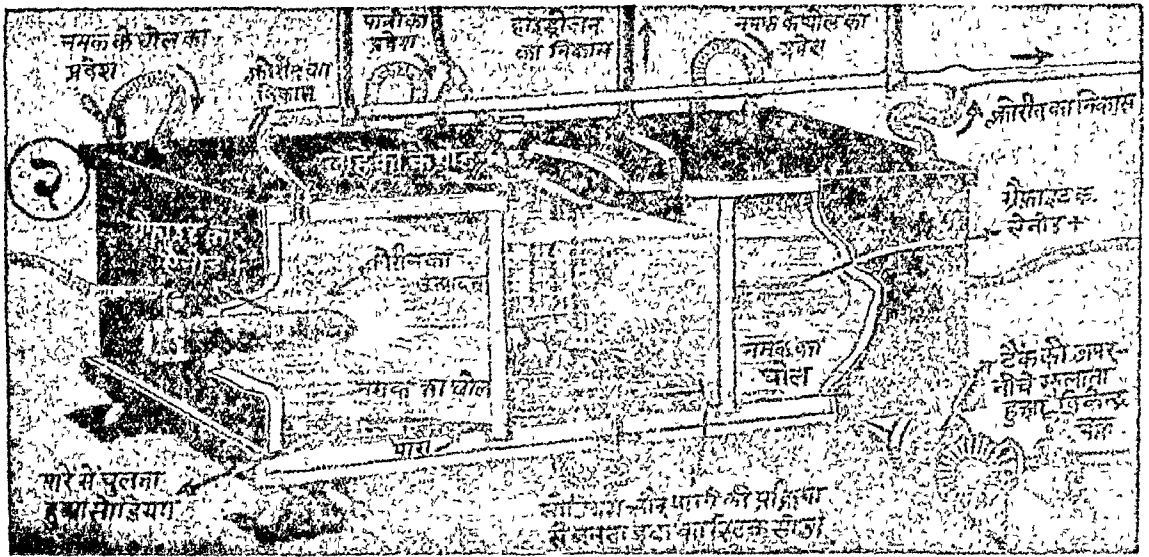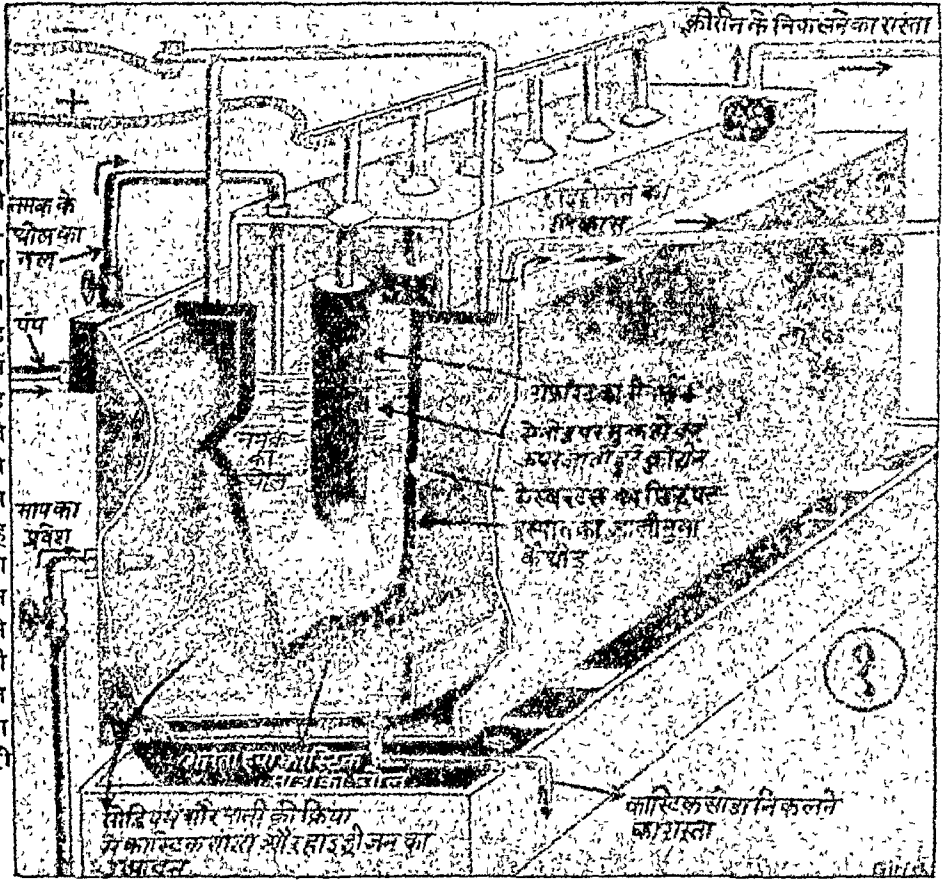
एक लोहे का टंकू, स्लेट की रंध्रहीन दीवालों द्वारा तीन खानों में बँटा रहता है। इन दीवालों और पेंदे के बीच में थोड़ी सी जगह छूटी रहती है जिसमें होकर पारे की एक तह एक खाने से दूसरे में जा सकती है। ग्रैफाइट के ऐनोड और नमक का घोल इधर-उधर के तथा लोहे की छड़ों का कैथोड और पानी बीच के खाने में रहते हैं। क्लोरीन गैस इधर-उधर के खानों में और कास्टिक सोडा तथा हाइड्रोजन बीच के खाने में बनते हैं।

कास्टिक सोडा बनकर पानी मे घुलता रहता है। पर्याप्त सीमा तक सांद्र हो जाने पर कास्टिक सोडा का घोल निकालते और पानी भरते रहते है।

साधारण अवस्थाओं मे पानी के एक आयतन मे क्लोरीन के दो आयतन घुल जाते है, और एक हलका पीला घोल तैयार हो जाता है, जिसे 'क्लोरीन-वाटर' कहते है। क्लोरीन-वाटर मे कीटाणुओं और रंग को नष्ट करने का गुण होता है। अतएव औषध अथवा रंगनाशक के रूप मे उसका व्यवहार होता है। मोतीझाला आदि रोगों मे उसका उपयोग हुआ करता है। यदि आपके कपड़े पर किसी कार्बनिक रंग का धब्बा पड़ गया है तो उसे पहले साबुन से धो डालिए, फिर रुई की एक फुरहरी द्वारा क्लोरीन-वाटर उस पर लगाइए। उसका रंग सदा के लिए उड़ जायगा। क्लोरीनवाटर मे कोई रंगीन फूल अथवा कपड़ा डाल कर देखिए। कुछ ही मिनटों मे वह सफेद हो जायगा। यदि आप क्लोरीन गैस द्वारा ही रंग उड़ाना चाहते हो तो उसमें रंगीन वस्तु को भिगाकर डालिए, नहीं तो रंग न उड़ेगा। वास्तव में रंगनाशक क्लोरीन नहीं, बल्कि क्लोरीन और पानी का मिश्रण ही होता है। इन दोनों की रासायनिक क्रिया द्वारा उत्पन्न नवजात ऑक्सिजन ही रंग को ऑक्सीकरण द्वारा नष्ट कर देती है। देखिए न—

$$H_2O + Cl_2 = 2HCl + O$$

पानी + क्लोरीन = हाइड्रोक्लोरिक एसिड + नवजात ऑक्सिजन
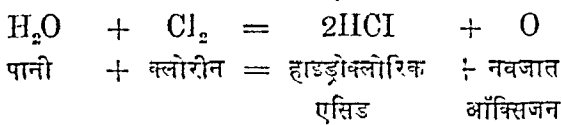
क्षारों पर क्लोरीन की क्रिया बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश और बुझे चूने के गरम घोल में क्लोरीन बुलबुलाने से क्लोरेट नामक लवण उत्पन्न होते है। इस प्रकार कास्टिक पोटाश से पोटैशियम क्लोरेट नामक महत्वपूर्ण लवण बनाया जाता है। दियासलाई, आतशबाजी के मसाले और विस्फोटकों को बनाने, और रसायनशाला में ऑक्सिजन तैयार करने, आदि मे इसका उपयोग होता है। गले की खराबी दूर करने के लिए गरारा करने की दवाइयों मे भी यह पड़ता है। इन्ही क्षारों के ठंडे घोल में क्लोरीन प्रवाहित करने से हाइपोक्लोराइट नामक यौगिक बनते है। ठंडे कास्टिक सोडा पर क्लोरीन की क्रिया से सोडियम हाइपोक्लोराइट ($NaOCl$) उत्पन्न हो जाता है। उसका घोल भी रंगनाशक होता है और इसका कपड़ों के कारखानों में बहुत उपयोग होता है। सूखे बुझे चूने पर क्लोरीन की क्रिया द्वारा 'ब्लीचिंग पाउडर' (रंगनाशक चूर्ण) नामक सस्ता और उपयोगी पदार्थ तैयार होता है। कपड़ों और कागज की मिलों में अधिकतर यही चूर्ण काम में लाया जाता है। जिस किसी मैली वस्तु को बिलकुल सफेद और साफ कर देना होता है उसे 'ब्लीचिंग पाउडर' ($CaOCl_2$) के घोल मे पहले डुबाते हैं। फिर उसे बहुत ही हलके गंधक अथवा नमक के तेजाब में डुबाते हैं। तेजाब की क्रिया से ब्लीचिंग पाउडर से क्लोरीन का उत्पादन हो जाता है और यह क्लोरीन पानी के साथ नवजात ऑक्सिजन को मुक्त करके कपड़े के मैल का नाश कर देती है। रेशों में बची हुई क्लोरीन के रह जाने से वे कमजोर हो जाते हैं, अतएव इस क्लोरीन का नाश सोडियम थाइसल्फेट अथवा 'हाइपो' के घोल द्वारा कर दिया जाता है। अंत मे यह क्लोरीन नाशक भी पानी से अच्छी तरह धोकर निकाल दिया जाता है। क्लोरोफॉर्म का निर्माण भी ब्लीचिंग पाउडर के ही उपयोग से होता है। पिछले महायुद्ध के छिड़ने पर भारतवर्ष मे बाहर से क्लोरीन के सिलिंडरों का आना कम हो गया। इसलिए हमारे देश के अनेक शहरों की म्यूनिसिपैलिटियों के सामने एक समस्या खड़ी हो गई। बहुतों ने तो जनता को यह सूचना दे दी थी कि उनके लिए पानी को शुद्ध करके भेजना असंभव है, अतएव जो लोग मोतीझाला (टाइफॉयड) आदि रोगों से अपने को पूर्णतया सुरक्षित रखना चाहे वे नल का पानी उबाल कर पिएँ। हमारे देश मे न नमक की कमी है और न गंधक के तेजाब अथवा मैङ्गनीज डाइऑक्साइड की ही। हिमालय की कृपा से बिजली भी कौड़ियों के दामों उत्पन्न की जा सकती है; फिर भी हमारे लिए इतना असहाय हो जाना वास्तव में शोचनीय था।

ऑक्सिजन की भाँति क्लोरीन से भी प्रायः सभी तत्त्व संयुक्त होकर क्लोराइड नामक यौगिकों में परिवर्तित हो जाते है। हाइड्रोजन क्लोरीन मे अथवा क्लोरीन हाइड्रोजन मे जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन करती है। हाइड्रोजन और क्लोरीन का मिश्रण धूप में अथवा मैग्नेशियम आदि के तेज प्रकाश में ही रखने से विस्फुटित होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस में बदल जाता है। फास्फोरस भी क्लोरीन में अपने आप ही पिघलकर जल उठता है। इसी प्रकार यदि सोडियम अथवा ताँबे का एक पत्तर गरम करके क्लोरीन में डाला जाता है तो जलने लगता है। ऐंटिमनी अथवा आर्सेनिक धातु का चूर्ण क्लोरीन के जार मे छिड़काने से अपने आप ही जलने लगता है। लोहा, अलुमीनियम, जस्ता आदि अनेकों धातु जब

क्लोरीन की धारा में गरम किये जाते है तो उसमें संयुक्त होकर क्लोराइडो में बदल जाते हैं। अनेक क्लोराइड लवण इसी प्रकार बनाए जाते हैं।

हाइड्रोजन और कार्बन के यौगिक यथा मोम, तारपीन का तेल आदि भी क्लोरीन में जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उत्पन्न करने और कार्बन काले धुएँ के रूप में निकालते हैं। इसे देखने के लिए जलती हुई मोमबत्ती को दीप-चमची द्वारा क्लोरीन के जार में डालिए। छन्ना कागज अथवा रुई को गरम तारपीन के तेल में भिगोकर क्लोरीन के जार में डालने में वह जल उठता है।

प्राणघातक क्लोरीन

रण-क्षेत्रों में काम में लाई जानेवाली भयंकर विषाक्त गैसों की कथा

एप्रिल, सन् १९२५। योरप में वसंत ऋतु यौवन पर था, किन्तु इस बार वहाँ के युद्धव्यस्त देशों की वासंती आह्लाद-किलकारियाँ ईप्रेस के समर-क्षेत्र में रक्खी हुई तोपों के भीषण गर्जन में बदली हुई थी। २२ तारीख की संध्या को एकाएक जर्मन तोपों का भयानक निर्घोष बंद हो गया। मित्र-राष्ट्रों के सिपाही, जिनमें ब्रिटिश, फ्रेन्च और कनाडियन सभी थे, इस मौन के रहस्य को न समझ सके। उन्होंने कुतूहलवश पैरापटो के ऊपर से उत्तर की ओर झाँककर देखा। जर्मन खाइयो के सामने-सामने बहुत दूर तक पृथ्वीतल एक विचित्र प्रकार के कोहरे से ढका हुआ था। नीचे वह हरा-सा और ऊपर, जहाँ से अस्त होते हुए सूर्य की रश्मियाँ परावर्तित हो रही थी, पीला दिखाई दे रहा था। इस अद्भुत बादल को देखकर मित्र-राष्ट्रो के दल विस्मित हो गए। किंतु इसे ही आग्नेय अस्त्रों के मौन का कारण समझकर उनकी निश्चितता और भी अधिक बढ गई। उत्तर-पवन द्वारा यह भूमिशायी बादल शीघ्रता से आगे बढता चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रीय सैनिक टकटकी लगाए हुए इस विलक्षण बादल की ओर देख रहे थे, मानो कोई तमाशा हो। एकाएक वे छटपटाते हुए अपने हाथो को ऊपर झटकने, गलों को चुगल में दबाने, और बहुत से तो दम घुटने के कारण तड़प-तड़पकर भूमि पर गिरने भी लगे। अन्य सैनिक, इस पैशाची कोहरे से नितान्त असहाय होने के कारण, पीछे खाइयो की कतारों को पार करते हुए बावलो की भाँति भागे। बहुतो ने ईप्रेस पहुँचने पर दम ली। वे इस विकराल वायव्य अस्त्र से घबड़ाकर इतने आचार-भ्रष्ट हो गए कि दूसरे दिन तक उन्हें एकत्र कर लेना संभव न हो सका। अफ्रीका के जादू में विश्वास करने-वाले सिपाहियो के भय का तो ठिकाना न रहा था! इस घटना के लगभग एक
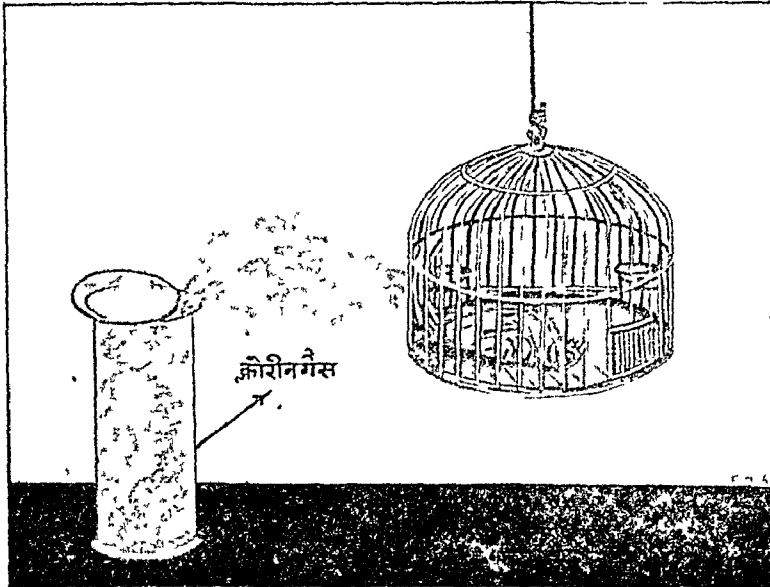
क्लोरीन गैस की विषाक्तता

कहीं आप धोखे से किसी पक्षी के समीप क्लोरीन से भरा कोई पात्र न खोल दें। नहीं तो—चिड़िया की-सी जान!—उसे ढुलकते देर न लगेगी। क्लोरीन की इसी विषाक्तता द्वारा मनुष्य विगत महायुद्ध में मानव प्राणियो को नष्ट करने पर उतारू हुआ था।

सप्ताह पहले जर्मनो ने आगे की खाइयों में क्लोरीन के सिलिण्डर लगभग एक-एक गज की दूरी पर लगाकर रख दिए थे। इन सिलिण्डरों की टोंटियो से सीसे की नलियाँ जोड़ दी गई थी, और इन नलियो के सिरे पैरापटो के ऊपर रख दिए गए थे। एक भागे हुए जर्मन सैनिक ने इस भावी गैसीय आक्रमण के सम्बन्ध मे मित्र-राष्ट्रो को सूचना दी; किन्तु किसी ने इसमे विश्वास न किया, कारण हेग के अंतर्राष्ट्रीय शाति-सम्मेलनो मे दो बार, अर्थात् १८६६ और १६०७ मे, विषैली गैसो के निषेध का निर्णय हो चुका था। जर्मनो ने इस निर्णय की जरा भी परवा न की। २२ तारीख को सध्या समय, जब हवा ठीक दक्षिण अर्थात् मित्र-राष्ट्रो की सेना की ओर बह रही थी, एक साथ सब सिलिण्डरो के वाल्व खोल दिए गए। सीसे की नलियो के सिरों से क्लोरीन गैस सुरसुराती हुई तेजी से निकलने लगी। चक्कर काटती हुई वह आगे बढती, और हवा से ढाई गुनी भारी होने के कारण, धरातल पर बादल के रूप मे एकत्र होकर उत्तर-पवन द्वारा आगे चल पड़ती। अभी थोड़े ही समय पहले तोपो के कराल मुँह से प्रचंड शब्द के साथ डेढ़-डेढ़ फीट व्यास के इस्पाती गोले छूट रहे थे, लेकिन जर्मनो को इनमें कुछ अधिक विश्वास न रहा था। यदि गोला निशाने पर बैठा भी, तब भी केवल स्थानीय संहार! और यदि चूका तो इधर उधर छितरे हुए केवल कुछ इस्पात के टुकडे! अतएव, जर्मनो ने वृहत्व को स्थगित करके लघुत्व की परीक्षा करनी चाही थी। एक इच के दस करोड़वें भाग व्यास के क्लोरीन के अणु को अब उन्होंने अपना अस्त्र बनाया था। इसी अस्त्र के झुन्ड के झुन्ड कल्पनातीत संख्याओ मे हवा में डोलते हुए चुपचाप आगे बढे चले जा रहे थे—सहसा चारो ओर से घेरकर सैनिको के फेफडों पर आक्रमण करने और दम घोटकर उनके प्राणों को हर लेने के लिए! कितना विचित्र विपर्यय था!

गैस छोड चुकने पर जर्मन सैनिक अपने नवीन प्रयोग के परिणाम को देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़े। एक-एक करके वे मित्र-राष्ट्रों की खाइयो पर कब्जा करते गए—उनका विरोध करनेवाला वहाँ कोई न था। हजारो मरे हुए सैनिक इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य पड़े थे। उनके ऐंठे हुए शरीरो, काले पड गए चेहरो, और फटे हुए फेफड़ो के रक्त और फेन से सने हुए होठो से अब भी यह प्रकट हो रहा था कि कितनी घोर यातना मे उनके प्राण निकले होंगे! मित्र-राष्ट्रीय सैनिकों द्वारा छोड़ी हुई बहुत सी फ्रेन्च और ब्रिटिश तोपे भी जर्मनों के हाथ लगी।* अपने दुर्भाग्यवश जर्मन और आगे आक्रमण करने के लिए पहले से ही तैयार न थे। कदाचित् उन्हें विश्वास ही न था कि क्लोरीन इतना गजब ढा देनेवाली गैस सिद्ध होगी। यदि वे पहले से ही तैयार होकर आगे बढ़ते जाते तो अमेरिकन लेखक डॉ स्लॉसन की राय में जर्मनी '१६१८ के अंत मे पराजित होने के स्थान मे १६१५ के वसंत मे ही लड़ाई जीत लेता'।

गैस के इस प्रथम आक्रमण मे १७० टन क्लोरीन लगभग चार मील की दूरी तक छोड़ी गई थी। आहतो की सख्या लगभग २०,००० थी, जिनमे लगभग ५,००० की मृत्यु हो गई थी।

गैसों की होड़

हेग के गैस-निषेधक निर्णय के भंग होते ही मित्र-राष्ट्र भी गैस के व्यवहार का प्रबन्ध जोरों से करने लगे। सितम्बर, १६१५ मे ब्रिटिश लोगो ने पहले-पहल क्लोरीन गैस का प्रयोग किया। किंतु जर्मन अपने गैस-संबंधी वैज्ञानिक अनुसंधानों मे आगे ही बढ़े रहे, और विषाक्ततर गैसों की खोज और उनका उपयोग करते गए। जैसे ही मित्र-राष्ट्र भी किसी नवाविष्कृत गैस का निर्माण और उपयोग कर पाते, वैसे ही जर्मनी कोई अधिक भयानक नवीन विष मित्र-राष्ट्रों के क्षेत्र मे छोड़ देता। इसीलिए युद्धक्षेत्रों में अधिकतर विषाक्त गैसो का प्रवेश जर्मनों द्वारा ही हुआ। इनमे प्राणनाशक गैसो का वर्गीकरण उनके विषाक्त प्रभाव के आधार पर निम्न तीन प्रकारों मे किया गया है—(१) फुफ्फुस-प्रदाहक गैसें (Acute Lung Irritants), (२) फफोला गैसे (Vesicants), और (३) स्नायुघातक गैसे (Paralysants)। एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः यह सभी विषाक्त पदार्थ क्लोरीन के ही यौगिक थे। जिस प्रकार नाइट्रोजन विस्फोटक पदार्थो का वीर-तत्त्व समझा जा सकता है, उसी प्रकार हम क्लोरीन को विषाक्त गैसों का वीर-तत्त्व कह सकते है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह थी कि प्रायः ये सभी विषाक्त पदार्थ कार्बनिक (Organic) ही थे, अकार्बनिक (Inorganic) नही। साधारण दशाओं में इनमे से अधिकतर पदार्थ द्रव और एक-आध ठोस भी होते है; तथापि आक्रमण के समय इन पदार्थो के वाष्प-

* यहाँ गैस के प्रथम आक्रमण की घटनाओं का वर्णन मुख्यतः सर आर्थर कॉनन-डॉयल कृत "हिस्ट्री आफ दि ग्रेट वार" के आधार पर किया गया है।

रूप अथवा छोटे-छोटे विंदुओं या धूलिकणों के रूप में उड़ने के कारण ये सब 'विपाक्त गैसें' (Poison gases) के नाम से ही विख्यात हैं। उनके द्रव या ठोस होने से एक सबसे बड़ी सुविधा यह रहती है कि बोतलों में भरकर वे गोलों और बमों में विस्फोटकों मे गाड़कर रख दिए जा सकते है, और ये गोले और बम तोपों और वायुयानो द्वारा शत्रुओ पर फेंके जा सकते हैं। कुछ तरल विष वायुयानों अथवा टैङ्कों से शत्रु-क्षेत्रों पर छिड़क भी दिए जाते हैं।

फुफ्फुस-प्रदाहक गैसें

इस प्रकार की गैसों के प्रभाव से श्वासेन्द्रियो मे अतीव जलन पैदा हो जाती है और फेफड़े खराब हो जाते हैं। इसीलिए इन्हें 'फुफ्फुस-प्रदाहक' कहते हैं। फुफ्फुस-प्रदाहकों से आक्रांत व्यक्ति की मृत्यु सीधे गैस के ही कारण नही होती; वरन् जलन होने के कारण फेफड़ों और श्वासमार्ग सूज जाते हैं जिससे, इनके बंद हो जाने के कारण, दम घुट जाता है। ऑक्सिजन गैस देने से रोगी को इसीलिए लाभ होता है। क्लोरीन की गणना इसी प्रकार की गैसों मे है। हवा के दस हजार आयतनिक भागों में क्लोरीन का यदि एक भाग भी मिला हो तो इस मिश्रण में एक-दो मिनट से अधिक सांस लेने से फेफड़े खराब हो जाते हैं।

क्लोरीन से प्रथम आक्रमण के बाद दो सप्ताहों के भीतर प्रत्येक ब्रिटिश सिपाही को गैस - मारक अथवा रेस्पिरेटर (आगे देखिए) से युक्त कर दिया गया था। इन रेस्पिरेटरों द्वारा उनकी क्लोरीन गैस से पूर्णतः रक्षा हो सकी। जब जर्मनों ने देखा कि उनके क्लोरीन के आक्रमण अपना प्रभाव खो बैठे हैं तो उनका ध्यान अन्य विपाक्त गैसों की ओर आकर्षित हुआ। अतएव उन्होने दिसंबर १९१५ से क्लोरीन गैस के साथ एक अन्य अत्यधिक विषैली गैस को अधिकाधिक परिमाणों मे मिलाकर छोड़ना शुरू कर दिया। इस गैस का नाम फॉस्जीन था। जैसा कि उसके अणु-सूत्र $COCl_2$ से प्रकट है, यह गैस दो विपाक्त गैसो अर्थात् कार्बन मोनॉक्साइड (CO) और क्लोरीन (Cl_2) के रासायनिक संयोग से बनती है। इन दोनों गैसों को सूर्यप्रकाश मे रखने पर वे तुरत संयुक्त होकर फॉस्जीन म परिणत हो जाती हैं। इसीलिए जॉन डेवी ने जिसने सन् १८११ में इस पदार्थ का आविष्कार किया था, इसका नाम फॉस्जीन रक्खा (फॉस=प्रकाश, जीन=उत्पन्न, अर्थात् प्रकाश द्वारा उत्पन्न)। तथापि इसके निर्माण की आधुनिक विधि मे सूर्य-प्रकाश नहीं, किंतु छिद्रमय कोयला काम मे लाया जाता है। कोक को अपर्याप्त ऑक्सिजन में जलाकर पहले कार्बन मोनॉक्साइड गैस बना लेते हैं फिर इस कार्बनमोनॉक्साइड में क्लोरीन गैस का उतना ही आयतन मिला कर मिश्रण को आठ - आठ फीट लोहे के बक्सों में भरे हुए छिद्रमय कार्बन (कोयले) से होकर प्रवा-

पिछले महायुद्ध में जर्मन रूसी सेनाओं की ओर विपाक्त गैसें छोड़ रहे हैं
आगे रक्खे हुए सिलिण्डरों से गैस चक्कर काटती हुई निकल रही है और बादल के रूप म एकत्र होकर आगे बढ़ रही है। पीछे तीन पंक्तियों में जर्मन सैनिक गैसाक्रमण के बाद धावा बोल देने की प्रतीक्षा में हैं। यह फोटोग्राफ वायुयान से एक रूसी उड़ाकू ने लिया था।

हित करते हैं। कार्बन अपने उत्प्रेरक प्रभाव से दोनों गैसों को संयुक्त कर देता है।

फॉस्जीन को रासायनिक भाषा मे कार्बोनिल क्लोराइड कहते है। यह एक रग-हीन, तीक्ष्ण गंधवाली और क्लोरीन से दस गुनी अधिक विषाक्त गैस होती है। तीन चौथाई क्लोरीन और एक चौथाई फॉस्जीन का मिश्रण युद्ध के लिए सबसे अधिक कार्यसाधक प्रमाणित हुआ है। सामान्य दबाव मे क्लोरीन केवल - ३४° C तक ही, किन्तु फॉस्जीन ८ ° C तक द्रवरूप मे रह सकती है। इसीलिए क्लोरीन और फॉस्जीन का मिश्रण क्लोरीन की अपेक्षा कम दबाव मे ही सकुचित करके द्रवीभूत किया जा सकता है। अतएव, यह मिश्रण न केवल सिलिण्डरो मे ही, किंतु गोलों और बमों मे भी बोतलो मे भर कर रक्खा जा सकता है। सिलिण्डरो से गैस छोड़ने पर सफलता हवा की दशा पर निर्भर रहती है। गोलो और बमो द्वारा दूर ही से वही की वही खबर ली जा सकी। एक-एक गोले मे तीस-तीस पौण्ड तक फॉस्जीन भरी रहती थी।

जो रेस्पिरेटर मित्र-राष्ट्रो की सेना मे क्लोरीन के आक्रमण के बाद उपयुक्त हुए थे, उनमे फॉस्जीन सरलतापूर्वक घुस सकती थी, अतएव फॉस्जीन छोड़ने के पहले जर्मनों ने यह आशा बाँध रक्खी थी कि यह गैस मित्रराष्ट्रीय सेना का सर्वनाश कर देगी। किंतु भाग्यवश ब्रिटिश लोगों को खुफिया तौर से जर्मनी के भावी फॉस्जीन के आक्रमण का पता लग गया था। उन्होंने यह सूचना युद्ध के रासायनिक विभाग को भेज दी। १९ दिसंबर १९१५ को प्रात.काल के समय जर्मनों ने ब्रिटिश क्षेत्रों पर पहले पहल १०० टन फॉस्जीन छोड दी। तथापि उनकी आकांक्षाएँ पूरी न हुई, और आक्रमण असफल रहा। ब्रिटिश सैनिकों ने पहले से ही ऐसे नए ढग के मास्क पहन रक्खे थे, जिनमे फॉस्जीन का शोषक 'हेक्सामेथिलीन टेट्रामाइन' भरा हुआ था। कुल आहतों की सख्या केवल १,०१७ थी, जिनमे केवल १२० ही मरे थे।

१९१६ में जर्मनों और फ्रेन्चों द्वारा एक अन्य विषाक्त द्रव का उपयोग हुआ। अणु के संगठन ($Cl.COOCCl_3$) के आधार पर इसका रासायनिक नाम 'ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरो फार्मेट' लिया जाता है। फार्मिक ऐसिड ($H.COOH$) के अणु में पहले हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर क्लोरीन का परमाणु, और दूसरे के स्थान पर 'ट्राइक्लोरमेथिल' (CCl_3) नामक परमाणु समूह को रासायनिक विधियों द्वारा बिठा देने से यह पदार्थ बनता है। इसीलिए इसका नाम यह पडा। कार्बनिक रसायन में इतने बड़े नाम असाधारण नही होते। यह पदार्थ १२८° C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है, अतएव इन गोलों और बमों में सफलतापूर्वक भरा जा सकता है। विषाक्तता मे फॉस्जीन से यह कुछ अधिक ही होता है।

इसी वर्ष से क्लोरीन के एक अन्य कार्बनिक यौगिक 'क्लोरो-पिक्रिन' ($CCl_3 NO_2$) का भी उपयोग, जर्मनों और मित्र राष्ट्रो दोनों की ओर से, प्रारंभ हुआ। क्लोरो-पिक्रिन ११२°C पर उबलनेवाला एक द्रव होता है। यह पिक्रिन ऐसिड पर क्लोरीन की रासायनिक क्रिया द्वारा बनता है, इसीलिए इसे क्लोरो-पिक्रिन कहते हैं। इसे बनाने के लिए क्लोरीन ब्लीचिंग पाउडर के रूप में और पिक्रिक ऐसिड कैल्शियम पिक्रेट के रूप मे ली जाती है। ब्लीचिंग पाउडर को पानी के साथ मिलाकर एक पतला लेप बना लेते है, और यह लगभग १८ फीट ऊँची और ८ फीट व्यास की एक डेग मे भर लिया जाता है। इसमें पंप द्वारा कैल्शियम पिक्रेट के घोल को ले जाकर मिला दिया जाता है। प्रतिक्रिया के आरंभ होते ही मिश्रण गरम होने लगता है, और फिर इतना गरम हो जाता है कि बाहर निकलती हुई भाप के साथ क्लोरो-पिक्रिन भी स्रवित होने लगता है। द्रवीभूत होने पर क्लोरो-पिक्रिन पानी से भारी होने के कारण नीचे की तह मे इकट्ठा हो जाता है और यहाँ से उसे निकालकर गोलों में भर लिया जाता है। विषाक्ता मे क्लोरो-पिक्रिन ट्राइक्लोरमेथिलक्लोरोफार्मेट के ही बराबर होता है। गोलों अथवा बमों मे क्लोरो-पिक्रिन के साथ बहुधा २० प्रतिशत टिनक्लोराइड (स्टैनिक क्लोराइड–$SnCl_4$) भी भर दिया जाता है, जिसके कारण हवा मे एक घना सफेद धुआँ फैल जाता है। यह धुआँ गैस-मास्क के भीतर भी पैठ जाता है। हवा मे रहनेवाली जलवाष्प की प्रतिक्रिया द्वारा टिन-क्लोराइड से स्टैनिक ऐसिड और हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन होता है, और यह अम्लीय गैस नाक, गले और फेफड़ों मे एक तीव्र जलन पैदा कर देती है। इसके अलावा क्लोरो-पिक्रिन के व्यवहार में विशेष बात यह होती है कि इसके प्रभाव से आक्रांत व्यक्ति का जी मतलाने लगता है और उसे कै होने लगती है। इससे उसे गैस-मास्क उतार देना पड़ता है, और उसे उतारते ही वह बाहर फैली हुई घोर विषाक्त गैसो का शिकार हो जाता है।

फफोला-गैसें

सन् १९१७ में जर्मनों ने युद्ध-क्षेत्र मे एक बिलकुल नए विषाक्त पदार्थ का प्रवर्त्तन किया। इसका लोकप्रिय नाम मस्टर्ड गैस है, क्योकि उसमे कुछ-कुछ सरसो (Mustard) की-सी गंध आती है। इसका दूसरा नाम ईपराइट (Yperite) भी है, क्योकि यह सबसे पहले ईप्रेस के क्षेत्र पर छोड़ा गया था। उसके अणु की रासायनिक रचना [$(CH_2ClCH_2)_2S$] के आधार पर उसे 'डाइक्लोरो-डाइ-एथिल सल्फाइड' भी कहते है। किन्तु स्वयं रसायनशास्त्री भी इस बड़े-से नाम से घबड़ाकर उसे अधिकतर 'मस्टर्ड गैस' ही कहा करते है। कहा जाता है कि गत महायुद्ध में सबसे अधिक मौते इसी पदार्थ द्वारा हुई थी। यह विषाक्त 'गैस' भी वस्तुतः गैस नही होती, वरन् २१७°C पर उबलनेवाला और १४°C के नीचे जमकर ठोस हो जानेवाला एक द्रव होता है। या तो वह गोलो और बमों में भरकर रख दिया जाता है, अथवा वायुयानों और टैङ्कों से फव्वारे के रूप मे शत्रु-क्षेत्र पर छिड़क दिया जाता है। यह बड़ा ही विश्वास-घातक विष होता है। मिट्टी मे मिला हुआ वह कई दिनो या हफ्तो तक पड़ा रहता है। अधिक सर्दी मे उसका वाष्पीकरण नही होता, किंतु थोड़ा ताप बढ़ते ही वह वाष्प में परिणत होकर हवा में मिलने लगता है। पानी की क्रिया से भी वह बहुत दिनो तक नष्ट नही होता। उसमे इतनी हल्की गध होती है कि मनुष्य मृत्यु के मुख मे जाते हुये भी उसका पता नही पा सकता। केवल गैस मास्क के ही द्वारा इस विष से पूर्णत. रक्षा नही हो सकती, कारण, त्वचा पर भी इसके लग जाने से फफोले पड़ आते है जिनसे बड़ी ही तीव्र पीडा होती है। अतएव, इससे बचने के लिये गैस-मास्क के अलावा रबर, मोम-जामा आदि अभेद्य कपडो के बने हुए वस्त्र भी पहनने
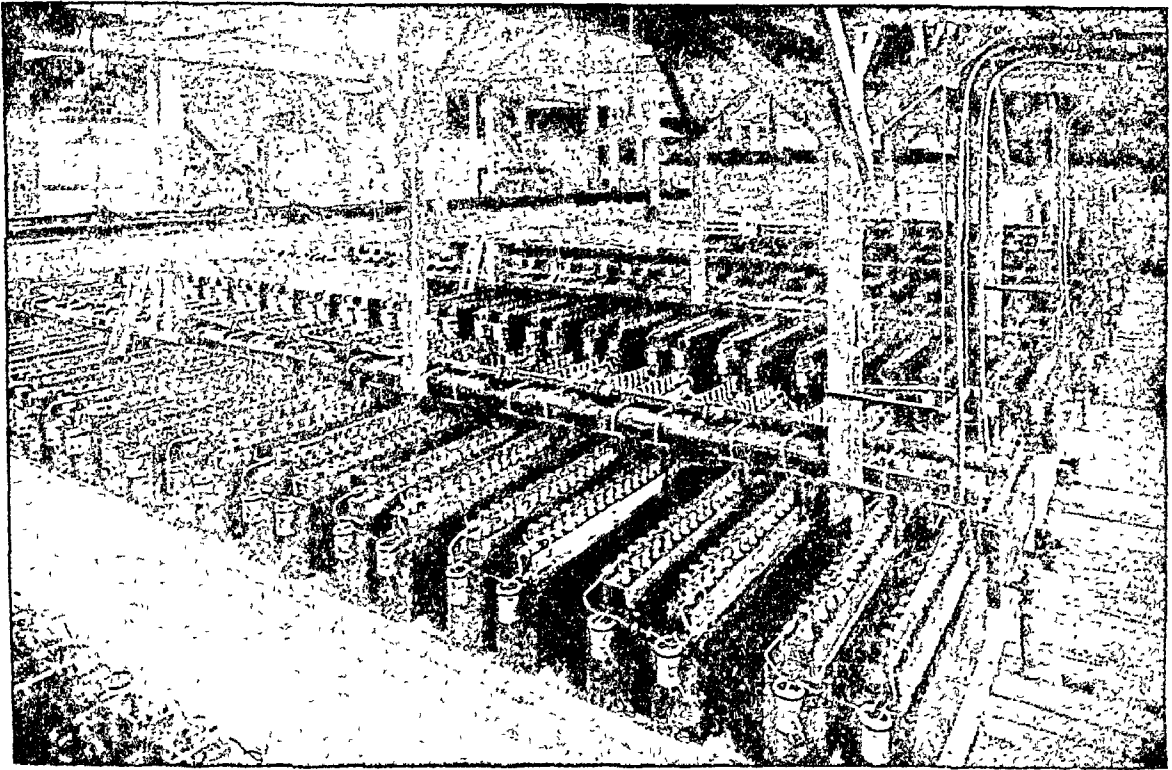
युद्ध के लिये क्लोरीन का वृहत् परिणामों में निर्माण

पिछले लेख में हम नमक के घोल से क्लोरीन, हाइड्रोजन और कॉस्टिक सोडा का निर्माण करनेवाले नेलसन के कोष्ठ का वर्णन कर चुके हैं। इस चित्र में प्रदर्शित एक अमेरिकन फैक्टरी में इसी प्रकार के सहस्रों कोष्ठ पंक्ति-बद्ध रक्खे हुए हैं। गत महायुद्ध के समय इस कार्यालय में इसी प्रकार के आठ कमरे थे और उसमें प्रतिदिन २,००,००० पौण्ड क्लोरीन तैयार की जा सकती थी। इस क्लोरीन से विभिन्न विषाक्त गैसों का निर्माण होता था।

पड़ते हैं। गैस-मास्क भी कब तक पहने रहना आवश्यक है, इसका भी अनुमान कर लेना कठिन रहता है। ऐसा भी हुआ है कि लगातार बारह घंटे तक गैस-मास्क पहनने के बाद भी जब सैनिकों ने उन्हें उतारा तब भी वह हवा में मौजूद थी और उन्हें उसका शिकार होना पड़ा। एक धोखे की बात यह भी होती है कि मस्टर्ड गैस का प्रभाव तुरंत ही प्रकट नहीं होता, जिससे मनुष्य इसमें अनजान में ही बहुत देर तक साँस लेते चले जाते हैं, अथवा इसका स्पर्श करते रहते हैं।

कहते हैं, यदि हवा के एक लाख आयतनिक भागों मे मस्टर्ड गैस का एक भाग रहे, तो इसमें एक घंटे तक साँस लेने के बाद ही इसका प्रभाव प्रकट होता है, अर्थात् आँखों, नाक, गले और फेफड़ों में जलन पैदा हो जाती है, और श्वासमार्ग और फेफड़ों के सूज जाने के कारण या तो आक्रांत की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है अथवा फेफड़ों के घायल और निर्बल हो जाने के कारण वह बाद में न्युमोनिया, ब्राकाइटिस आदि रोगों से ग्रस्त होकर बहुधा समाप्त हो जाता है। इसके अलावा, मस्टर्ड गैस का वाष्प चुपचाप सैनिकों के वस्त्रों में भी भिदता रहता है और जैसे ही कार्यव्यस्त होने के कारण उनके शरीर गरम हो जाते हैं, वह त्वचा पर विशेषतः बगलों में आक्रमण करके फफोले डाल देता है। इस पदार्थ के लग जाने पर उसे तुरंत ही साबुन से धो डालना और यदि आँखों पर भी असर पहुँचा है तो गुनगुने पानी से धोकर उनमें रेंड़ी का तेल डाल देना आवश्यक होता है।

'मस्टर्ड गैस' को सबसे पहले गुथ्री नामक एक अंग्रेज ने १८६० ई० में बनाया था। १८८६ मे जर्मन रासायनिक विक्टर मेयर ने उसका आविष्कार फिर से किया, किन्तु इस पदार्थ के साथ प्रयोग करना इतना संकटमय प्रमाणित हुआ कि उसे अपने इस अन्वेषण-संबंधी कार्य को त्याग ही देना पड़ा। इसके लगभग तीस वर्ष बाद १२ जुलाई, १९१७, के दिन, जर्मनों ने एकाएक इसे ईप्रेस के रण-क्षेत्र में ब्रिटिश सेना के ऊपर छोड़कर इसे विख्यात कर दिया। सब मिलाकर ५०,००० गोले ब्रिटिश खाइयों में फेंके गये थे, और इन सबमें कुल मिलाकर १३० टन मस्टर्ड गैस भरी हुई थी। इसके बाद मित्र-राष्ट्रों ने भी इसका उपयोग किया।

बड़े परिमाणों में यह विष क्लोरीन, अल्कोहोल और गंधक (सल्फर) से बनाया जाता है। एक लोहे का खड़ा हुआ नल चीनी मिट्टी के टुकड़ों से भरकर गरम किया जाता है, और उसमें भापमिश्रित अल्कोहोल-वाष्प प्रवाहित किया जाता है। अल्कोहोल (C_2H_5OH) इस प्रकार इथिलीन गैस (C_2H_4) और भाप (H_2O) में विच्छिन्न हो जाता है। इसके साथ-ही-साथ गंधक को पिघलाकर उसमें क्लोरीन गैस बुलबुलाई जाती है, जिससे दोनों तत्त्व संयुक्त होकर सल्फर मोनोक्लोराइड (S_2Cl_2) का उत्पादन करते हैं। यह सल्फर क्लोराइड एक तरल पदार्थ होता है और टैङ्कों की एक श्रेणी में इकट्ठा कर लिया जाता है। इस द्रव मे इथिलीन गैस महीन छिद्रों द्वारा बुलबुलाई जाती है और 'मस्टर्ड गैस' नामक द्रव बनकर इकट्ठा हो जाता है। जैसा कि इसके ऊपर उल्लिखित सूत्र से प्रकट है, इसके एक अणु मे इथिलीन गैस के दो अणु, गंधक का एक परमाणु और क्लोरीन के दो परमाणु संबद्ध रहते हैं।

गत महायुद्ध के अन्तिम वर्ष में अमेरिका के प्रोफेसर लीविस ने मस्टर्ड गैस से भी अधिक प्राणनाशक पदार्थ 'लीविसाइट' ($C_2H_2AsCl_3$) बहुत बड़े परिमाणों में ऐसेटिलीन गैस (C_2H_2) और आर्सेनिक ट्राइक्लोराइड ($AsCl_3$) की प्रक्रिया से बनाया था। इसका रासायनिक नाम मस्टर्ड गैस के नाम से भी अधिक बड़ा अर्थात् 'डाइ-क्लोरो-बीटा-क्लोरो-विनिल आर्सीन' है। द्वितीय महायुद्ध में, भी यह पदार्थ काम में लाया गया था।

स्नायुघातक गैस—हाइड्रोसायनिक ऐसिड

हाइड्रोसायनिक ऐसिड (HCN) का दूसरा नाम 'प्रूसिक ऐसिड' है। सबसे पहले इसका उपयोग मित्रराष्ट्रों ने गत महायुद्ध में १९१६ में किया था। नीचे ताप पर यह एक रंगहीन द्रव होती है, जो २६·५°C पर उबल कर गैस में परिणत हो जाती है। प्राणनाश के लिए २००० वायु-भागों में इसके एक भाग का रहना आवश्यक है। इससे यह प्रकट है कि अन्य विषाक्त गैसों की अपेक्षा इसका हवा में अत्यधिक मात्रा में मिश्रित रहना आवश्यक होता है। बहुधा इसका समाहरण इस सीमा तक नहीं पहुँच पाता, और आक्रमण बेकार हो जाता है। जर्मनों ने इसीलिए इसका उपयोग व्यर्थ समझा। किंतु, इस सीमा के पहुँचते ही आक्रांत कुछ ही क्षणों में मृत्यु का शिकार हो जाता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क के स्नायुमंडल पर पड़ता है, जिससे फेफड़ों और हृदय की गति एकाएक रुक जाती है।

इस घातक विष में कड़वे बादाम की-सी गंध होती है, किंतु हवा में प्राणघातक परिमाणों में भी मिली होने

पर कुछ देर बाद, नाक के परदों के प्रभावित हो जाने के कारण, उसकी गंध मालूम नहीं होती। इसीलिए मनुष्य उससे बचने के लिए ऐसे स्थान में हटकर जा सकता है जहाँ वह और भी अधिक अंशों में मौजूद हो और इस प्रकार मृत्यु का शिकार बन सकता है। इस विष के प्रति कुत्तों की घ्राण-शक्ति मनुष्य से कहीं अधिक प्रबल होती है, अतएव उसकी उपस्थिति को मालूम करने के लिए ये काम में लाये जा सकते हैं।

'गैसमास्क' या 'रेस्पिरेटर'

विषाक्त गैसों के उपयोग की संभावना होते ही उनसे प्राणों की रक्षा करने के लिए शीघ्र ही आवश्यक साधनों की खोज होने लगी। इसी के फलस्वरूप गैसमास्कों अथवा रेस्पिरेटरों का विकास हुआ। ये गैसमास्क एक ही सिद्धांत पर किन्तु भिन्न-भिन्न ढंगों के बने होते हैं। यहाँ उनके निर्माण के सिद्धांतों के समझाने के लिए एक बहुप्रचलित ढंग के रेस्पिरेटर का रेखा-चित्र (दे० पृ० १३२९) दिया हुआ है।

इसमें साँस लेने के लिए हवा एक ऐसे कनिस्टर से होकर पहुँचती है जिसमें विषाक्त धुओं को अलग कर देने के लिए यांत्रिक छन्नों और विषाक्त गैसों के रासायनिक शोषकों की तहें लगी रहती हैं। गैसों का एक बड़ा ही अच्छा और सस्ता शोषक कड़े काठ, यथा नारियल या अन्य फलों के खपटों अथवा बेंत की लकड़ी का कोयला होता है। यह कोयला बहुत ही छिद्रमय होता है। कड़े काठ को अपर्याप्त हवा में सुलगाकर इसे बनाते हैं, और कनिस्टरों में भरने के पहले अपर्याप्त हवा अथवा भाप में ६००°C पर गरम कर लेते हैं। ऐसा करने से उसके रंध्रों में अटके हुए हवा और अन्य पदार्थ निकल जाते हैं और उसकी शोषकता बढ़ जाती है। बहुधा, कोयला बनाने से पहले, काठ में जिंक क्लोराइड या मैग्नेशियम क्लोराइड

अमेरिका की क्लोरोपिक्रिन निर्माण करनेवाली एक फैक्टरी

विशाल बेलनाकार डेगों में पानी के साथ ब्लीचिंग पाउडर, चूना और पिक्रिन एसिड का मिश्रण भरा रहता है। इन पदार्थों की परस्पर प्रक्रिया द्वारा इतनी गरमी का उद्भव होता है कि पानी और क्लोरोपिक्रिन स्रवित होकर बाहर एकत्र होने लगते हैं। महायुद्ध के समय में इस कारखाने में प्रतिदिन ३१ टन क्लोरोपिक्रिन बनता था।

लवण शोषित कर लेते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले को नमक या गंधक के अम्ल के घोल और पानी से धोते हैं, जिससे यह लवण घुलकर छिद्रों से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार बने हुए कोयले की शोषकता साधारण रीति से बने हुए कोयले की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। कोयले में गैसों का शोषण किसी रासायनिक क्रिया द्वारा नहीं होता, उसके पृष्ठ में ही गैसाणुओं को संलग्न कर लेने का अद्भुत गुण रहता है। अत्यंत रंध्रमय होने के कारण थोड़े-से ही कोयले में बहुत-सा पृष्ठ उपलब्ध रहता है, अतएव कोयले का एक आयतन गैसों के सैकड़ों आयतनों तक को शोषित कर लेता है। इस प्रकार के शोषण को अंग्रेजी में ऐबसॉर्प्शन (Absorption) और हिन्दी में अधिशोषण अथवा अपशोषण कहते हैं। अपेक्षत., ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसें कोयले में बहुत कम अधिशोषित होती हैं। देखा तो यह गया है कि जो गैस जितनी ही सरलता से द्रवीभूत होती है, उतनी ही अधिक कोयले में शोषित होती है। सभी विषाक्त गैसें सरलतापूर्वक द्रवीभूत हो जानेवाली होती हैं, अतएव कोयला इन्हीं गैसों को शोषित करता है, हवा की ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को नहीं। इस प्रकार हवा रुकती नहीं, वरन् साँस लेने के लिए निरन्तर पहुँचती रहती है। धुएँ के कण गैसों के अणुओं से अत्यधिक बड़े होते हैं और इसीलिए वे गैसाणुओं की भाँति सवेग चलायमान नहीं होते। अतएव, विषाक्त पदार्थों के बहुत-से धूम्रकणों को कोयले के पृष्ठ को छूने का अवसर ही नहीं मिलता, और वे कोयले के टुकड़ों के बीच से होकर निकल जाते हैं। धुएँ को अलग कर देने के लिए यांत्रिक छन्ने की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। गैसों को शोषित करने के लिए कोयले के अलावा छ. रासायनिक शोषकों की भी आवश्यकता रहती है। बची हुई गैस को ये पदार्थ अपनी रासायनिक क्रिया द्वारा परिवर्त्तित करके शोषित कर लेते हैं। इन रासायनिक शोषकों के कुछ उदाहरण सोडालाइम, पोटैशियम परमैङ्गनेट, निकेल के लवण, हेक्सामेथिलीन-टेट्रामाइन, आदि पदार्थ हैं।

इस प्रकार प्रायः शुद्ध हवा गैसप्रूफ कपड़े के नल (होज) से होती हुई ऊपर पहुँचती है। चेहरा गैसप्रूफ कपड़े अथवा रबड़ की एक टोपी से ढका रहता है। इसमें आँखों के सामने, देखने के लिए, दो पारदर्शक चश्मे लगे रहते हैं। ऊपर चढ़ती हुई हवा इन्हीं टुकड़ों से टकराकर नीचे की ओर मुड़ जाती है और साँस के लिए पहुँचती रहती है। बाहर आती हुई साँस एक दूसरे रास्ते से निकलती जाती है। गैसमास्क पहने हुए सैनिक में उतनी कार्यक्षमता नहीं रहती। न वह खा-पी सकता है और न भली प्रकार देख या बोल ही सकता है, अतएव उसे पहने-पहने वह शीघ्र ही थक जाता है। तथापि समय पड़ने पर उसे पहने रहना ही प्राणों की रक्षा के लिए एक-मात्र साधन है।

रेस्पिरेटर के विकास के साथ ही साथ उसे पराजित करनेवाले पदार्थों की भी आवश्यकता पड़ी। अतएव ऐसे विषाक्त द्रव और ठोस ढूँढ़ निकाले गए जिनके धुएँ कोयले अथवा रासायनिक शोषकों द्वारा पूर्णतः शोषित नहीं होते, और जिनके प्रभाव से मनुष्य विवश होकर मास्क को उतार डालता है। इस प्रकार रेस्पिरेटरों के उतरते ही सैनिकों को हवा में मिली हुई विषाक्ततर गैसों का शिकार हो जाना पड़ता है। ये विषाक्त पदार्थ भी प्राय. या तो क्लोरीन के अथवा क्लोरीन के ही कुटुम्ब के अन्य तत्त्व ब्रोमीन और आयोडीन के कार्बनिक यौगिक होते हैं। अपने प्रभाव के अनुसार इनका विभाजन दो प्रकारों में हुआ है।

अश्रु-गैस और छींक-गैस

अश्रु-गैस को अंग्रेजी में 'टियर गैस' (Tear gas) या 'लैक्रिमेटर' (Lachrymator) कहते हैं। ये नाम इस लिए पड़े कि इस प्रकार की गैसों के प्रभाव से आँखों में जलन होकर उनसे पानी की धारा बहने लगती है। इस कष्ट के कारण आक्रांत व्यक्ति को गैस-मास्क उतार देना पड़ता है। जर्मनों ने सबसे पहले १९१५ में जाइलिल ब्रोमाइड (CH_3 C_6H_4 CH_2Br) और बेञ्जिल ब्रोमाइड ($C_6H_5CH_2Br$) नामक पदार्थों का 'अश्रु-गैसों' के रूप में प्रयोग किया। ये दोनों विषाक्त 'गैसें' शुद्ध दशा में रंगहीन और साधारणतया पीली-सी द्रव होती हैं, और क्रमश. उबलते हुए जाइलीन (CH_3 C_6H_4 CH_3) और टाल्वीन (C_6H_5 CH_3) नामक कार्बनिक द्रवों पर ब्रोमीन की क्रिया द्वारा तैयार की जाती हैं। ये दोनों कार्बनिक द्रव (जाइलीन और टाल्वीन) कोलतार से आंशिक लवण द्वारा निकाले जाते हैं।

हवा के बीस लाख आयतनिक भागों में यदि इन विषाक्त पदार्थों का एक भाग भी मिला रहे, तब भी जलन और आँसुओं के मारे आक्रांत व्यक्ति बेकार हो जाता है और देख तक भी नहीं सकता। अत्यधिक प्रभाव से वह अंधा भी हो सकता है। इससे पीड़ित आँखों को गुनगुने या नमकीन पानी से शीघ्र ही धो देना लाभप्रद होता है।

दंगे के समय अश्रु-गैस का प्रयोग

'फेनिल कार्बिलमाइन क्लोराइड' और 'एथिल आयडोऐसेटेट' नामक पदार्थों का भी उपयोग 'अश्रु-गैस' के रूप में हुआ है। एथिल आयडोऐसेटेट ($CH_2 ICOOC_2H_5$) द्रव का उपयोग सबसे पहले बृटिश लोगों ने १९१६ में किया था। हवा के पचास लाख आयतनिक भागों में यदि इस द्रव की वाष्प का एक भाग भी मिला हो तो यह अश्रु-गैस का काम देती है, और यदि उसकी मात्रा इससे सौ गुनी हो तो एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफड़े खराब हो जाते हैं।

युद्ध के बाद अश्रु-गैसें दंगों को दबाने के लिए बहुधा काम में लाई गईं। इनसे भरे हुए हलके बमों को बलवाइयों के बीच में फेंकने से वे इसके कष्टप्रद प्रभाव से बचने के लिए तितर-बितर हो जाते हैं। भारतवर्ष में भी इन गैसों का कुछ उपयोग सफलतापूर्वक हुआ था और कुछ समय हुआ इस बात का आंदोलन भी हुआ था कि गोली चलाने के स्थान पर अश्रुगैसों को ही काम में लाया जाय।

छींक-गैस को अंग्रेजी में 'स्नीज-गैस' (Sneeze Gas) अथवा स्टर्नुटेटर (Sternutator) कहते हैं। हवा में अत्यंत न्यूनांशों में भी मिल रहने से इस प्रकार के पदार्थ आँखों, नाक, श्वास-मार्ग तथा फेफड़ों को प्रभावित करते हैं, और एक विशेष बात यह होती है कि उनके प्रभाव से जोरों से छींकें आने लगती हैं। इनके अलावा आँख, नाक, और गले में बड़ी ही तीव्र पीड़ा होने लगती है और जी मतलाने लगता है। जर्मनों ने सबसे पहले १९१७ में डाइफेनिल-क्लोर-आर्सीन $[(C_6H_5)_2A_5CI)]$ नामक 'छींक-गैस' का उपयोग महायुद्ध में किया था।

जैसा कि अणुसूत्र से स्पष्ट है, यह पदार्थ कार्बनिक अणु भाग 'फेनिल' (phenyl, C_6H_5), संखिया के धातव तत्त्व आर्सेनिक (A_5), और क्लोरीन के संयोग से बना है। यह एक श्वेत, ठोस, लहसुन के समान गंधवाला पदार्थ होता है और ८३°C पर पिघलता और ३३३°C पर उबलता है। इसके प्रभाव के लक्षणों के प्रकट होने में थोड़ी-सी देर लगती है। डाइफैनिल सायनार्सीन $[(C_6P_5)_2 A_5CN)]$ इसी प्रकार का एक अन्य छींक-जनक ठोस पदार्थ है, जिसे जर्मनों ने सबसे पहले १९१८ में काम में लिया था। इसके और पहले पदार्थ के अणु में अंतर केवल यही है कि इसमें क्लोरीन के साथ में सायनाइड (CN) नामक अणु-भाग
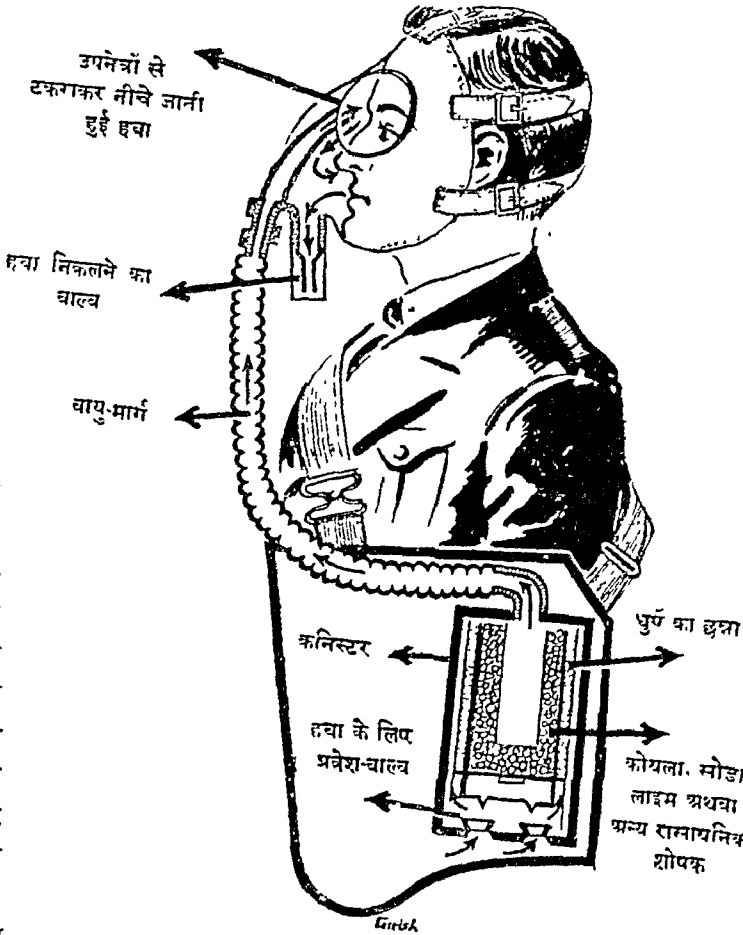
गैस-मास्क की बनावट

सांस अन्दर लेने पर कनिस्टर के प्रवेश-वाल्व खुल जाते हैं और हवा भीतर चली जाती है। कनिस्टर में वह छन्नों और शोषकों द्वारा शुद्ध होकर साँस के लिए ऊपर पहुँचती रहती है। साँस छोड़ने पर प्रवेश-वाल्व बंद हो जाते हैं, और निकलने के मार्ग का वाल्व खुल जाता है। इस प्रकार दूषित वायु कनिस्टर की ओर नहीं पहुँचती वरन् दूसरे ही मार्ग से बाहर निकलती रहती है।

रहता है। हवा के एक करोड़ आयतनिक भागों में इन दोनों पदार्थों में से किसी एक भाग से भी कम अंश मिला रहने पर मनुष्य इनके प्रभाव द्वारा बेकार हो जाता है, और यदि हवा के पचास हजार भागों में ही एक भाग मिल गया हो तो एक ही दो मिनट साँस लेने से फेफड़े भी विक्षिप्त हो जाते हैं। १९१८ में जर्मनों द्वारा एथिल डाइक्लोर-आर्सीन ($C_2H_5As Cl_2$) और मेथिल डाइक्लोर-आर्सीन (CH_3AsCl_2)नामक छींक गैसों का भी उपयोग पहले-पहल हुआ। साधारण अवस्थाओं में ये दोनों क्रमशः १५६°C और १३१°C पर उबालनेवाले द्रव होते है। ये उतने तीव्र स्टर्नुटेटर नहीं होते, और मनुष्य को अपने प्रभाव द्वारा बेकार कर देने के लिए ५०,००० वायु भागों मे ही इनका एक भाग रहना आवश्यक होता है। इससे ढाई गुने परिमाण में होने पर ये फेफडो को भी खराब कर देते है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छींकजनक पदार्थों में संखिया का तत्त्व 'आर्सेनिक' अवश्य ही रहता है। छींक-गैस द्वारा प्रभावित व्यक्ति को राहत देने के लिए साधारण खानेवाला सोडा या सोडियम बाइकार्बोनेट बड़ा उपयोगी है। इसके घोल को सुड़कने और उसी से गरारा करने से आराम मिलता है।

वृहद् परिमाणों में उपयोग

गत महायुद्ध में किन परिमाणों में विपाक्त गैसों का उपयोग हुआ था, इसका अनुमान निम्नांकों से लगाया जा सकता है। जितनी मस्टर्ड गैस का उपयोग हुआ था उसका बोझ १२,००० टन था। लड़ाई के समाप्त होने के पहले केवल अमेरिका युद्ध के लिए प्रतिमास लगभग १००० टन क्लोरीन, ८०० टन क्लोरोपिक्रिन, १००० टन फॉस्जीन, और ५५० टन मस्टर्ड गैस तैयार कर रहा था। कहते है कि ११ मार्च, १९१८, को जर्मनों ने मित्र-राष्ट्रों की खाइयो में एक ही दिन में विपाक्त गैसों के एक लाख पचास हजार गोले फेंके थे, जिनमें ४०० टन विपाक्त गैसे भरी हुई थी।

अनावश्यक भय

साधारण लोग गैस को बड़ा ही भयंकर और संहारक अस्त्र समझते है। कुछ कारणों से उनका भय ठीक भी है। वह अचानक धोखे से लोगों का शिकार कर सकती है, उसके लिए निशाना लगाने की भी आवश्यकता नहीं। गड्ढों, कोठों, खाइयों, आदि में, जहाँ गोली-गोलों की पहुँच नहीं हो सकती, वह बेरोक घुसती चली जा सकती है। हमारे ऐसे देश में, जहाँ जनता ने अभी तक गैस-मास्क आदि रक्षा के साधन देखे तक नहीं है, वह विकराल संहारक प्रमाणित हो सकती है। तथापि, महायुद्ध में गैस द्वारा मृत और आहत सैनिकों की संख्याओं को देखते हुए यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा उसकी संहार-शक्ति अधिक है। गैस की संहारकता के संबन्ध मे अनावश्यक भय बहुधा समाचार-पत्रों द्वार सर्वसाधारण में फैलता है। जुलाई १९२७ में न्यूयार्क के एक अखबार मे यह शीर्षक मोटे-मोटे अक्षरों में निकला था—

एक टन मस्टर्ड गैस ४,५०,००,००० मनुष्यों को मार डालने के लिए पर्याप्त !

लेकिन युद्ध में मास्टर्ड गैस द्वारा केवल ८,००० मनुष्यों की मृत्यु हुई थी, अर्थात् १॥ टन मस्टर्ड गैस केवल एक मृत्यु का कारण बन सकी थी। इससे आप हिसाब लगा सकते हैं कि समाचार-पत्रों के संवादों में बहुधा किस अनुपात में अतिशयोक्ति रहा करती है। हेग के प्रथम शांति-सम्मेलन में गैस-निषेधक प्रस्ताव का विरोध करके कैप्टेन महन ने, वास्तव में, दूरदर्शिता दिखाई थी; कारण, युद्ध में गैस द्वारा मृत व्यक्तियों की संख्याओं से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि अन्य अस्त्रों की अपेक्षा विपाक्त गैस कहीं कम प्राणनाशक है। अमेरिका के जनरल एमॉस ए० फ्राइज की रिपोर्ट के अनुसार १०० गैसाक्रांत व्यक्तियों में केवल ३ या ४ की ही मृत्यु हुई, किंतु विस्फोटकों द्वारा आहत सौ मनुष्यो में २० से २५ तक समाप्त हो जाने की संभावना रहती है। परमाणु-बम के विस्फोट से तो एक ही बार में लाखो व्यक्ति मर सकते है।

विगत द्वितीय संसारव्यापी महायुद्ध के अन्त मे तो रक्षा के साधनों के विकास के कारण, गैसीय आक्रमणों का महत्व बहुत कुछ क्षीण हो चुका था। अक्टूबर और नवम्बर के महीनों में पीछे हटते हुए जर्मनों ने आगे बढ़ते हुए ब्रिटिश दलों पर उन्हे रोकने के लिए ४००० टन विपाक्त गैसों को छोड़ा था, लेकिन केवल ५०० मनुष्य ही मरे थे। दूसरे शब्दों में, एक सैनिक को मारने के लिए आठ टन विपाक्त गैस का व्यय हुआ था। हाँ, गैस द्वारा मृत्यु अधिक छाद्मिक और क्लेशप्रद होती है। इस दृष्टि से इसका उपयोग अधिक अमानुपिक अवश्य है, मृत्यु-संख्या की दृष्टि से नहीं।

कहाँ से कहाँ

मैंने किसी वृद्ध से सुना था कि गदर के समय में कुछ लोगों ने आग में लाल मिर्च झोंककर अपनी और अपने

घरों की रक्षा की थी। प्राचीन योरप में गंधक जलाकर शत्रुओं को रोकना प्रचलित था। इन आद्य विधियों से चलकर मनुष्य विज्ञान द्वारा कितने भयंकर पदार्थों तक आ पहुँचा है! सर्वसाधारण को उपर्युक्त विषावत पदार्थों का रहस्य युद्ध के बाद ही ज्ञात हो सका था। दूसरे संसारव्यापी युद्ध के मध्य में भी विषावत गैसें प्रयोग में आई हैं। अब तो कई नए पदार्थ अब तक की 'गैसों' से कहीं अधिक विषाक्त और भयंकर—आविष्कृत कर लिये गए हैं। इनका भी उपयोग गत युद्ध में हुआ था, परन्तु इसका भेद महायुद्ध समाप्त होने पर ही खुला।

हैलोजन-कुटुम्ब

क्लोरीन के संबंधी—फ्लुओरीन, ब्रोमीन और आयोडीन

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में एक विचित्र बात वैज्ञानिक मनीषियों के देखने में आई। अब तक अधिकतर मूल तत्त्वों का अन्वेषण और उनके तथा उनके अनेकों यौगिकों के गुणों का निर्धारण हो चुका था। इन गुणों की तुलना करने पर मूल तत्त्वों के विभिन्न समुदायों में एक घनिष्ट कौटुम्बिक सादृश्य पाया गया। इसी गुण-संबंधी समानता के आधार पर समस्त मूल तत्त्व नौ प्रधान वर्गों, और उपवर्गों को भी मिलाकर सोलह समुदायों में, विभक्त कर दिए गए। मूल तत्त्वों के जिन समुदायों में सबसे अधिक कौटुम्बिक साम्य मिलता है, उनमें हैलोजन भी है। हैलोजन-कुटुम्ब में चार मूल तत्त्व हैं—फ्लुओरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन। ग्रीक भाषा में 'हैल्स' का अर्थ 'सामुद्रिक लवण' और 'जनाओ' का अर्थ 'मैं उत्पन्न करता हूँ' है। 'हैलोजन' इन्हीं दो शब्दों की संधि से बना है, और इसका अर्थ है 'सामुद्रिक लवणों को उत्पन्न करनेवाला'। फ्लुओरीन को छोड़कर अन्य तीनों मूल तत्त्व सामुद्रिक लवणों में पाये जाते हैं।

इन चारों मूल तत्त्वों में फ्लुओरीन अपनी आपेक्षिक अनुपयोगिता के कारण सबसे कम विख्यात है। लेकिन

हैलोजन-कुटुम्ब की ये चारों सदस्याएँ क्रियाशील हैं और एक ही प्रकार की सक्रियता प्रदर्शित करनेवाली हैं! फ्लुओरीन सबसे अधिक क्रियाशील, सबसे हलकी, सबसे गोरी, गैसरूप है और इस प्रकार गुणों में क्रमिक परिवर्तन होते हुए आयोडीन सबसे भारी, सबसे काली, ठोसरूप होती है! मूल तत्त्वों में भी कौटुम्बिक साम्य! कितनी सुंदर प्राकृतिक व्यवस्था है!

वह सबसे अधिक क्रियाशील मूल तत्त्व होने के कारण मनोरंजक है, और इसके अतिरिक्त उसका अम्ल हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड ही एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें रेत (सिलिका) और शीशा-जैसे पदार्थ सरलता से घुल जाते हैं। शीशे पर चित्रकारी आदि करने के लिए यही अम्ल काम में लाया जाता है। क्लोरीन का वर्णन हम पिछले दो प्रकरणों में कर चुके हैं। अंतिम प्रकरण में ब्रोमीन का भी उल्लेख हुआ है, कारण वह अश्रु-गैसों के निर्माण में उपयुक्त होती है। ब्रोमीन का नाम आपने फोटोग्राफी के संबंध में भी सुना होगा, कारण ब्रोमीन और चाँदी के योग से 'सिल्वर ब्रोमाइड' नामक महत्वपूर्ण फोटोग्राफिक पदार्थ बनता है। आयोडीन का नाम तो हमारे प्रायः सभी पाठकों ने सुना होगा। टिंक्चर ऑफ आयोडीन इसी तत्त्व का एक घोल है।

इन चारों मूल तत्त्वों में कौटुम्बिक समता इसलिए पाई जाती है कि इनके गुण या तो एक ही जैसे होते हैं, अथवा परमाणु के भारीपन के अनुसार उसी क्रम से उनमें शनैः शनैः परिवर्तन होता जाता है; उसी प्रकार जैसे एक ही कुटुम्ब के सदस्यों में समानता तो रहती ही है, किंतु अवस्था के अनुसार उनके गुणों और आचरण में अंतर भी पाया जाता है। फ्लुओरीन इन सबमें सबसे हलकी होती है। उसका परमाणु-भार केवल १९ है, अर्थात् उसका परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से, जो सबसे हलका होता है, १९ गुना भारी है। इसी प्रकार क्लोरीन का परमाणु-भार ३५·५, ब्रोमीन का ७९·९ और आयोडीन का १२६·९ होता है। इसी क्रम से अब इनके वाष्पों के रंगों को देखिए—फ्लुओरीन हलकी पीली, क्लोरीन हरापन लिये हुए पीली, ब्रोमीन भूरी लाल, और आयोडीन नीललोहित है। सभी रंगीन हैं, किंतु क्रमशः रंगों की गहराई बढ़ती जाती है। फिर साधारण दशाओं में अवस्था भी उसी प्रकार भिन्नता प्रदर्शित करती है—फ्लुओरीन और क्लोरीन गैस, ब्रोमीन धूमोत्पादक द्रव, आयोडीन ठोस! सभी में एक ही प्रकार की तीव्र गंध भी होती है। और देखिए, पानी से वे कितने गुनी भारी होती हैं, यानी उनके आपेक्षिक घनत्व ये हैं—फ्लुओरीन (द्रव) १·०८, क्लोरीन (द्रव) १·५५, ब्रोमीन (द्रव) ३·१९, आयोडीन (ठोस) ४·९३। इसी क्रम से उनके द्रवणांक और क्वथनांक भी बढ़ते जाते हैं। इसी प्रकार की समानता अथवा क्रमिक परिवर्तन हमें उनके रासायनिक गुणों में भी मिलते हैं। अत्यंत संयोगातुर होने के कारण इनमें से कोई भी तत्त्व प्रकृति में मुक्तावस्था में नहीं पाया जाता। सभी हाइड्रोजन से संयुक्त होकर अम्लों का उत्पादन करते हैं, किंतु फ्लुओरीन का हाइड्रोजन से संयोग सबसे तीव्र और आयोडीन का सबसे मंद होता है। यदि फ्लुओरीन और हाइड्रोजन का मिश्रण अँधेरे और ठण्डे में भी रख दिया जाय, तो वे तुरंत विस्फोटन के साथ संयुक्त होकर हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड (HF) को उत्पन्न कर देती हैं। छाया में फैले हुए सूर्य के प्रकाश में क्लोरीन और हाइड्रोजन का संयोजन धीरे-धीरे, किंतु सीधी पड़ती हुई धूप में विस्फोटन के साथ होता है, और इस प्रकार नमक का तेजाब यानी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (HCl) बनता है। ब्रोमीन और हाइड्रोजन के संयोग को संभव करने के लिए दोनों के मिश्रण को विशेषतः तप्त प्लैटिनम के उत्प्रेरक प्रभाव में गरम करना पड़ता है। इस प्रकार हाइड्रोब्रोमिक ऐसिड (HBr) नामक पदार्थ बनता है। आयोडीन और हाइड्रोजन भी इन्हीं अवस्थाओं में संयुक्त होते हैं, किंतु और भी कठिनता के साथ। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों से भी फ्लुओरीन का संयोग सबसे प्रबल, क्लोरीन का उससे कुछ कम प्रबल, ब्रोमीन का उससे भी कुछ कम प्रबल और आयोडीन का सबसे कम प्रबल होता है। तथापि तत्त्वों से संयुक्त होने में ये सभी सक्रियता प्रदर्शित करती हैं।

पानी के साथ इन तत्त्वों की प्रक्रिया में भी यही क्रम दिखाई देता है। पानी में फ्लुओरीन प्रवाहित करने पर अनायास ही ओजोनयुक्त ऑक्सिजन निकलने लगती है—

$$2H_2O + 2F_2 = 4HF + O_2$$
$$3H_2O + 3F_2 = 6HF + O_3$$
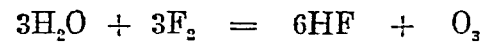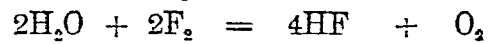
क्लोरीन गैस को पानी में मिलाने पर सूर्यप्रकाश में रखने से ही ऑक्सिजन गैस धीरे-धीरे निकलती है—

$$2H_2O + 2Cl_2 = HCl + O_2$$
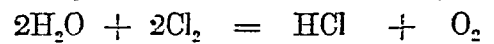
इन्हीं दशाओं में ब्रोमीन की पानी पर क्रिया और भी मंदतर होती है, और आयोडीन की पानी पर क्रिया नहीं के बराबर होती है। इसी कारण, फ्लुओरीन सबसे प्रबल ऑक्सीकारी और रंगनाशक तत्त्व, क्लोरीन उससे कम, ब्रोमीन उससे भी कम और आयोडीन इन सबसे कम है। कास्टिक सोडा आदि क्षारों के घोल पर क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन की रासायनिक क्रिया एक ही प्रकार की होती है। यदि क्षारों के ठंडे घोलों में ये तत्त्व मिलाए जाते हैं, तो दो लवण, यथा क्लोरीन की कास्टिक सोडा पर क्रिया से सोडियम क्लोराइड और सोडियम हाइपोक्लोराइट बनते हैं। किंतु गरम क्षारीय

घोलों में उनकी क्रिया द्वारा क्लोराइड आदि और क्लोरेट आदि बनते हैं। क्लोरीन से सोडियम हाइपोक्लोराइट और पोटैशियम क्लोरेट, ब्रोमीन से पोटैशियम ब्रोमाइड, और आयोडीन से पोटैशियम आयोडाइड आदि उपयोगी लवणों का निर्माण इन्ही रासायनिक क्रियाओं द्वारा होता है।

जब फ्लुओरीन अन्य तीन तत्त्वों के हैलाइड लवणो के घोलों में प्रवाहित की जाती है, तो क्रमशः क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन निकल पड़ती है, और फ्लुओराइड बन जाता है। यथा—

$$2KBr + F_2 = 2KF + Br_2$$

पोटैशियम ब्रोमाइड, फ्लुओरीन, पोटैशियम फ्लुओराइड, ब्रोमीन
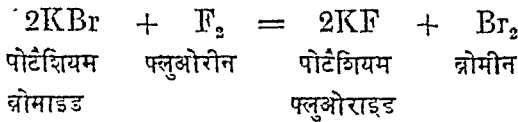
परंतु ये तीनों, इस प्रकार, फ्लुओरीन को स्थानांतरित नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन को, और ब्रोमीन आयोडीन को निकाल बाहर कर सकती है; लेकिन आयोडीन ब्रोमीन अथवा क्लोरीन को, और ब्रोमीन क्लोरीन को नही हटा सकती। सारांश यह है कि ये चारों मूल तत्त्व समान गुणोवाले होते हैं, किंतु रासायनिक सक्रियता की दृष्टि से फ्लुओरीन प्रबलतम, क्लोरीन उससे कम प्रबल, ब्रोमीन उससे भी कम प्रबल और आयोडीन सबसे कम प्रबल है। गुणों में इस प्रकार की समानता अथवा नियमित क्रम से परिवर्तन न केवल हम इन तत्त्वों बल्कि इनके यौगिकों में भी देखते है।

फ्लुओरीन

जिन खनिजों में फ्लुओरीन संयुक्तावस्था में रहती है, उनमें फ्लुओरीन और क्रायोलाइट प्रधान है। ये खनिज अनेक स्थानों में पाये जाते है, लेकिन प्रचुर परिमाणों में नहीं। फ्लुओरस्पार कैल्शियम और फ्लुओरीन का यौगिक, अर्थात् कैल्शियम फ्लुओराइड (CaF_2) होता है। यह एक मणिभीय खनिज होता है, जो रक्त-तप्त किए जाने पर गलकर बहने लगता है। चमकते हुए मणिभीय खनिजों को अंग्रेजी में बहुधा 'स्पार' कहते है, और लैटिन में 'फ्लुओ' का अर्थ है 'मै बहता हूँ'। इसीलिए इस खनिज का नाम 'फ्लुओरस्पार' हुआ। 'फ्लुओराइट' इसका दूसरा नाम है। फ्लुओरस्पार एक बड़ा ही मनोरंजक खनिज होता है। शुद्ध रूप मे इसके स्फटिक रंगहीन और पारदर्शक होते हैं, अन्यथा अत्यंत न्यूनांशों में धातव ऑक्साइडों आदि से मिश्रित होने के कारण वे लाल, भूरे, पीले, हरे, नीले, बैंगनी आदि बडे ही सुहावने रंगों के होते हैं। इसके कुछ स्फटिक, अत्यंत नयनाभिराम होने के कारण, रत्नों के रूप में भी व्यवहृत होते हैं। बहुधा एक ही स्फटिक के समानातर स्तरों में भिन्न-भिन्न सुदर रग हुआ करते हैं। फ्लुओरस्पार के स्फटिको में बहुधा यह गुण भी होता है कि उनके बीच से देखने से वे एक रंग के, किन्तु ऊपर से देखने से दूसरे रंग के प्रतीत होते हैं। इस घटना को
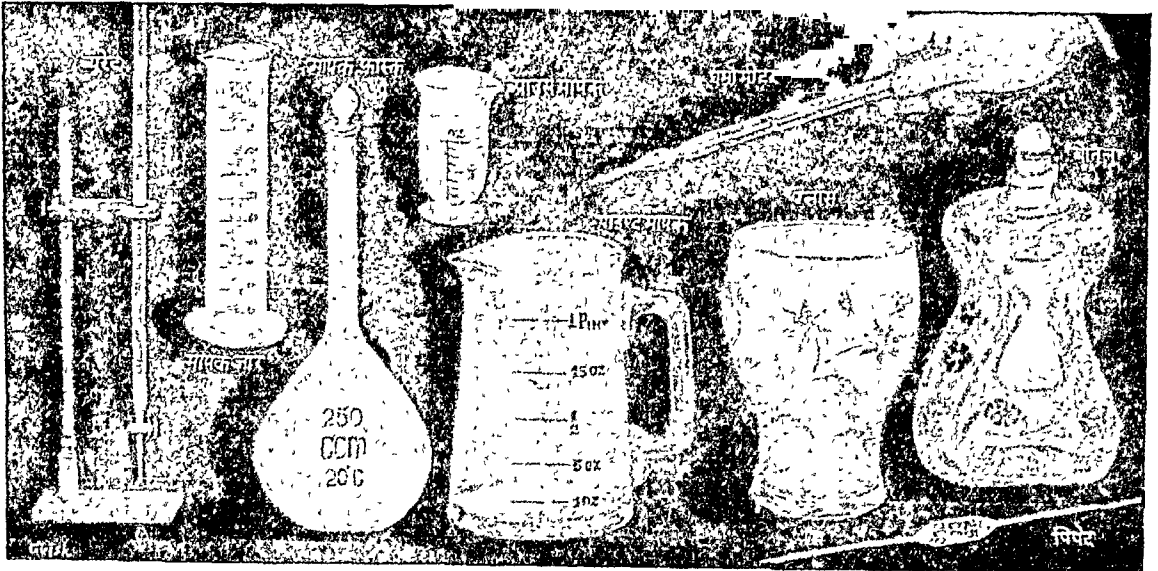
हाइड्रोफ्लुओरिक अम्ल का महत्व

शीशे के पात्रों पर की चित्रकारी तथा वैज्ञानिक उपकरणों पर यह अंकलेखन, क्या आपको ज्ञात है किसके द्वारा हुआ है ?

अंग्रेजी में फ्लुओरेसेन्स (Fluorescence) इसीलिए कहते हैं कि वह फ्लुओरस्पार मे पाई जाती है। अपनी भाषा में इस झलक को 'प्रतिदीप्ति' कहते हैं। कुछ अन्य पदार्थों में भी प्रतिदीप्ति का यह गुण पाया जाता है। फ्लुओरस्पार के स्फटिकों के छोटे-छोटे टुकड़े जब अँधेरे मे गरम किए जाते है तो वे हरे अथवा नारंगी रग के प्रकाश से झलक उठने है। इस प्रकार की झलक को तापदीप्ति (Thermo-luminescence) कहते है। जब ये स्फटिक अँधेरे में खरल में पीसे जाते है तो घूमते हुए मूसल के पीछे-पीछे रवे झलकते हुए दिखाई देते है। इसे घर्षण-दीप्ति (Tribo-luminescence) कहते है। फ्लुओरस्पार के सबसे अच्छे स्फटिक इगलैण्ड के उत्तर में सीसे की खानों में मिलते है। कार्नवाल की टीन की खानो में ग्रैनाइट पत्थर के साथ, और डर्बीशायर की खानो में सीसे के खनिज और चूने के पत्थर के साथ, ऐल्प्स पर्वतो के नाइस (Gneiss) पत्थर के साथ, और कभी-कभी वेसुवियस ज्वालामुखी के लावा में भी फ्लुओरस्पार मिलता है। धातु-निर्माण मे द्रावक (Flux) के रूप मे और शीशा, इनैमल, लुक, हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड, आदि के बनाने के लिए यह काम आता है।

फ्लुओरीन का दूसरा यौगिक क्रायोलाइट दक्षिणी ग्रीनलैण्ड मे पाया जाता है। यह एक सफेद शीशा-सा मणिभीय खनिज होता है, और देखने में वर्फ से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इसीलिए इसका नाम क्रायोलाइट पड़ा। ग्रीक में क्रायोस का अर्थ 'वर्फ' और लाइथॉस का 'पत्थर' है, अतएव क्रायोलाइट का अर्थ 'वर्फ का पत्थर' हुआ। रासायनिक दृष्टि से, क्रायोलाइट अलुमीनियम फ्लुओराइड और सोडियम फ्लुओराइड के संयोग से बना होता है, और इसका अणुसूत्र $AlF_3 . 3NaF$ होता है। क्रायोलाइट धातुओं के निर्माण मे द्रावक के रूप मे, और ओपल (दूधिया) पत्थर, लोहे के इनैमल, अलुमीनियम और उसके लवण, तथा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड के बनाने मे प्रयुक्त होता है। फ्लुओर-ऐपाटाइट [$CoF_2 . 3Ca_3 (PO_4)_2$] नामक खनिज मे भी कैल्शियम फास्फेट के साथ-साथ फ्लुओरीन कैल्शियम फ्लुओराइड के रूप में रहती है। न्यूनांशों मे फ्लुओरीन अनेक अन्य खनिजों तथा पत्थरो में, समुद्र और सोतों के जल मे तथा पेड़-पौधो, हड्डियों, दांतों के इनैमल, मस्तिष्क, रक्त, दूध, आदि मे भी रहती है। मनुष्य के मस्तिष्क में लगभग ३ मिलीग्राम फ्लुओरीन होती है। शरीर मे रहनेवाले आवश्यक लवणों में कैल्शियम फ्लुओराइड की भी गणना है, इसीलिए बायोकेमिक दवाओ में भी वह व्यवहृत होता है।

सन् १६७० ई० में श्वांखार्ड महोदय ने यह देखा कि फ्लुओरस्पार को सल्फ्यूरिक ऐसिड के साथ गरम करने पर ऐसा धूम उठता है, जिससे शीशे का क्षादन शीघ्रता से होने लगता है। तब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद अनेकों रासायनिकों के अनुसंधानो के फलस्वरूप, १८१३ ई० मे, यह निश्चित हो सका कि फ्लुओरस्पार एक नए ही तत्त्व फ्लुओरीन का यौगिक है। फ्लुओरस्पार मे उपस्थित और हैलोजन-कुटुम्ब के क्लोरीन आदि के समान होने के कारण इसका नाम फ्लुओरीन पड़ा। किंतु अभी तक फ्लुओरीन अपने तत्त्वरूप में पृथक् न की जा सकी थी। इस समय से १८८६ ई० तक, अर्थात् लगभग ७५ वर्ष तक, अनेकों वैज्ञानिक इसको विलग करने का निष्फल प्रयत्न करते रहे ! इसका कारण था फ्लुओरीन की अत्यधिक संयोगशीलता। अकेले रहना उसकी प्रकृति मे ही नही—हीलियम, आर्गन आदि क्लीव गैसो, आलसी नाइट्रोजन, और सर्वथा पुरुष-गुण-विहीन †.ऑक्सिजन को छोडकर किसी भी तत्त्व से संयुक्त हो जाने और अनेकों अणु-गृहों के निकट आने पर स्त्री-तत्त्वों को निकाल बाहर कर, पुरुष-तत्त्वों से संबंध स्थापित कर लेने में उसे देर नही लगती। ऐसी संयोगशील फ्लुओरीन को विछुड़ने के लिए बाध्य करने में यदि वैज्ञानिकों को ७५ वर्ष लगे तो कोई अधिक आश्चर्य नहीं। रास्को नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक तो यह कह उठा कि फ्लुओरीन को पृथक् करना "आधुनिक रसायन की कठिनतम समस्याओं मे से एक" है। किन्तु मानव-जिज्ञासा बड़ी बलवती होती है ; प्रकृति भी उसके सामने अपना सर झुकाती है—फ्लुओरीन को अपने एकाकी गैसीय रूप में मनुष्य के सामने आना ही पड़ा ! यह गैस मनुष्य के काम मे न आई ; किंतु उसका दर्शन और तत्संबंधी ज्ञान-लाभ ही उसके ७५ साल के प्रयास का क्या कुछ कम पुरस्कार था !

फ्लुओरीन के पृथक् करने में वैज्ञानिकों के सामने अनेकों समस्याएँ खड़ी हुई। किस पदार्थ से बने हुए पात्र में यह गैस तैयार की जाय ? अभी साधारण धातुओ पर, यहाँ तक कि गरम करने पर सुवर्ण और प्लैटिनम पर भी, वह तुरंत आक्रमण करके उनसे संयुक्त हो जाती है।

† यहाँ धातु-गुण-संपन्न तत्त्व के पुरुषरूप और अधातु गुणसंपन्न तत्त्व के स्त्रीरूप होने की कल्पना की गई है।

शीशा और क्वार्ट्ज पत्थर ऐसे स्थायी पदार्थ भी उससे, और विशेषत: उसके अम्ल हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से, नहीं बच सकते। अनेकों रासायनिक विधियों द्वारा फ्लोराइडों तथा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से फ्लुओरीन निकालने का प्रयत्न किया गया, किंतु सब निष्फल! प्रबल से प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थ हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से हाइड्रोजन को अलग करने में समर्थ न हुए। अनेक फ्लोराइडों को ताप, विद्युत् तथा अन्य रासायनिक उपायों द्वारा विच्छिन्न करने का भरसक प्रयत्न किया गया, किंतु फ्लुओरीन ने दर्शन न दिये। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड विद्युत्-विश्लेपण द्वारा अपने तत्त्वों, हाइड्रोजन और क्लोरीन में विच्छिन्न हो जाती है; तो क्या हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड भी हाइड्रोजन और फ्लुओरीन में न टूट जायगी? सर हम्फ्री डेवी ने बहुत पहले ही हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड के जलीय घोल में बिजली प्रवाहित की थी, किंतु विश्लेपण-पात्र के जिस अंग में फ्लुओरीन को एकत्र होना चाहिए था, उसमें ओजोन-मिश्रित ऑक्सिजन गैस निकलकर इकट्ठी हो रही थी। पानी की उपस्थिति में फ्लुओरीन का स्वतंत्र अस्तित्व संभव ही नहीं! बाद में वैज्ञानिकों ने सोचा कि शुद्ध द्रवीभूत हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड का ही विद्युत् विश्लेपण क्यों न किया जाय? लेकिन इसके उपयोग में भी अड़चन पड़ी। उसका वाष्प बड़ा ही विषाक्त प्रमाणित हुआ। उससे फ्लुओरीन को विलग करने के प्रयत्न में फ्रांस के पी० लूयेट ने १८५० में और जे० नैन्सी ने १८६९ में अपने प्राण गँवाए। तथापि बड़ी ही सावधानी के साथ वैज्ञानिकों ने उसे बंद विश्लेपण-पात्र में रक्खा, किंतु यह क्या? बिजली की धारा तो उसमें चली ही नहीं! शुद्ध पानी भी तो बिजली का चालक नहीं! किंतु जब लवण उसमें घुल जाते हैं तो वह अच्छा सचालक हो जाता है। पैरिस के तेजस्वी प्रोफेसर हेनरी मोयसाँ ने हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड द्रव में पोटैशियम फ्लुओराइड लवण घोलकर देखा तो बिजली उसमें चल रही थी। प्लैटिनम और इरीडयम की मिश्र धातु की उसने एक U-नली (चूल्हाकार नली) बनवाई, जिसमें दोनों ओर पार्श्व-नलियाँ लगी हुई थीं। इसीमें उसने इस घोल को भरा। इस मिश्रधातु पर फ्लुओरीन की क्रिया प्लैटिनम की अपेक्षा मंदतर होती है। इस नली के दोनों अंगों में उसने इसी मिश्रधातु के विद्युत्‌शिरों को डुबा दिया, और नली के दोनों मुँहों को फ्लुओरस्पार की ऐसी डाटों से बंद कर दिया, जिसमें से होकर विद्युत्-शिरे अंदर जा रहे थे। उन डाटों को उसने सीसे की चँदियों और चपड़े द्वारा

ब्रोमीन का निर्माण

जर्मनी के कार्नलाइट नामक खनिज के अवशिष्ट घोलों से ब्रोमीन क्लोरीन द्वारा मानव उपयोग के लिए इसी प्रकार निकाल बाहर कर दी जाती है!

बिल्कुल अभेद्य बना दिया। द्रवीभूत मेथिल क्लोराइड (क्वथनाक –२३°C) से यह नली निरंतर ठंडी रक्खी गई, और उसमें विद्युत्धारा प्रवाहित कर दी गई। दोनो ओर की निकास-नलियों से गैसें निकलने लगीं। एक ओर से हाइड्रोजन और दूसरी ओर से चुपचाप फ्लुओरीन निकलती चली आ रही थी। मोयसाँ के उपायों के सामने उसकी एक न चली—उसे आत्मसमर्पण कर देना ही पड़ा। तेरह वर्ष बाद, अर्थात् १८९९ में, मोयसाँ ने देखा कि प्लैटिनम-इरीडियम की नली के स्थान पर ताँबे की नली भी काम आ सकती है, क्योंकि ताँबे और फ्लुओरीन के संयुक्त होने से ताँबे का पृष्ठ कॉपर-फ्लुओराइड के पटल से आच्छादित हो जाता है, जो फ्लुओरीन के क्षादन-कार्य को रोक देता है। किंतु बिजली के सिरे अब भी उसी मिश्रधातु के थे। फ्लुओरीन निकालने की नवीनतम प्रणाली में, जो १९३१ में निकाली गई थी, ताँबे की ही V आकार की नली प्रयुक्त होती है। इसमें पोटेशियम हाइड्रोजन फ्लुओराइड (KF. HF) भर दिया जाता है, और इसी नली पर लिपटे हुए बिजली के तारो द्वारा गरम करके पिघला दिया जाता है। नली के दोनों अंग बैकलाइट सीमेण्ट की डाटों से बंद रहते है, और उनमे से आते हुए शुद्ध ग्रैफाइट के बिजली के सिरे पिघले हुए पोटैशियम हाइड्रोजन फ्लुओ-राइड मे डूबे रहते है। इस प्रकार यह विधि अधिक सस्ती और सुविधामय हो जाती है। नटी की भाँति अब फ्लुओरीन मोयसाँ तथा अन्य वैज्ञानिको के सामने अपनी संयोगशीलता के खेल दिखाने लगी। इन प्रयोगों को करते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया कि फ्लुओरीन पास न फटकने पावे, नही तो वह अपने अप-हरण करनेवालों से अपनी विषाक्तता द्वारा भीषण बदला लेती। थोड़ा-सा गंधक शीशे के पात्र में बंद गैस मे रक्खा गया। शीशे पर सूखी फ्लुओरीन की क्रिया तीव्र नही होती। वह पहले पिघला और फिर भक से जल उठा—गंधक और फ्लुओरीन के संयोग से सल्फर फ्लुओराइड तेजी से बन रहा था, और इसी संयोग द्वारा उत्पन्न ताप ज्वाला के रूप मे प्रदर्शित था। फॉस्फरस, पोटैशियम, सोडियम, कार्बन-चूर्ण, सिलिकन, आयोडीन, ब्रोमीन, सिलिकन, आर्सेनिक, ऐंटिमनी आदि अनेकों तत्त्व स्वतः फ्लुओरीन में जल उठते हुए देखे गए। चूर्ण अथवा पत्तुरो के रूप में लोहा, जस्ता, टीन, मैग्नेशियम, मैङ्गनीज, निकल, अलुमीनियम और चाँदी भी थोड़ा-सा गरम करने पर गैस में फ्लुओराइडों का उत्पादन करते हुए जल उठे। अलकोहोल, तारपीन, ईथर आदि कार्बनिक पदार्थ भी गैस के अंदर रखते ही भभक उठे। कितनी क्रियाशील थी फ्लुओरीन—प्रकृति के सबसे सक्रिय तत्त्व का परिचय मनुष्य को मिला था!

हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड फ्लुओरस्पार पर गंधकाम्ल की क्रिया से तैयार की जाती है। सीसे के एक रिटार्ट में शुद्ध पिसे हुए फ्लुओरस्पार और ९० प्रतिशत सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण गरम किया जाता है और निकलती हुई हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड गैस सीसे के पात्र मे रक्खे हुए पानी में शोषित कर ली जाती है। व्यापारिक घोल मे ४० प्रतिशत हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड रहती है। यह गटा-पर्चा अथवा मोम की अथवा भीतर मोम से मढ़ी हुई शीशे की बोतलो मे रक्खी जाती है। शीशे पर अक्षर अथवा चित्र आदि अंकित करने के लिए उस पर पहले पिघला हुआ मोम चढा दिया जाता है। ठंडा होते ही मोम का एक पतला पर्त शीशे पर जम जाता है। अब स्टाइलस (लोहे की नोकवाली कलम) अथवा सुई आदि किसी अन्य नोकदार वस्तु से इस तह को खुरचकर शीशे पर वाँछित चिह्न अंकित कर दिए जाते हैं। यदि खुदे हुए स्थान का पृष्ठ खुरदुरा अथवा धुँधला रखना होता है तो हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड वाष्प मे शीशे का पृष्ठ कुछ देर तक के लिए रख दिया जाता है। शीशे को साफ और चिकना खोदने के लिए हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड का जलीय घोल काम में लाया जाता है। मोम के पर्त पर खुरचे हुए नक्शों पर यह घोल, उससे तर किया हुआ ब्लाटिंग-पेपर रखकर अथवा किसी अन्य विधि से, लगा दिया जाता है। कुछ ही देर मे शीशे के घुल जाने से डिजाइन शीशे पर खुद जाता है। घोल में अमोनियम फ्लुओराइड भी मिला रहने से खुदाव साफ और चिकना नही किंतु अपारदर्शक रहता है। मोम पिघला कर अथवा तारपीन के तेल द्वारा पोंछ कर हटा दिया जाता है। शीशा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड में इसलिए घुल जाता है कि उसका विशेष अवयव सिलिका (सिलिकन डाइऑक्साइड) इस अम्ल मे सिलिकन फ्लुओराइड और पानी को उत्पन्न करता हुआ सरलता से घुल जाता है—

$$SiO_2 + 4HF = SiF_4 + 2H_2O$$

शीशे के अन्य अवयव सोडियम ऑक्साइड, कैल्शियम ऑक्साइड (चूना) आदि भी फ्लुओराइडों और पानी में परिणत होकर हट जाते हैं। कृत्रिम ग्रैफाइट, फिल्टर पेपर,

बेत, ढाली हुई वस्तुओं, आदि में से सिलिका निकाल डालने के लिए भी यह ऐसिड व्यवहृत होती है। यह अम्ल कीटाणुनाशक भी होता है, और शराब और रंग बनाने के कारखानों में वह और सोडियम फ्लुओराइड आदि उसके कुछ लवण हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट करने, अथवा उनकी बाढ़ रोकने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

ब्रोमीन

ब्रोमीन का आविष्कार फ्रेन्च वैज्ञानिक ए० जे० बेलर्ड ने १८२६ ई० में किया था। उसने अल्पांशों में सामुद्रिक लवणों में उसका अस्तित्व (मैग्निशियम ब्रोमाइड के रूप में) सिद्ध किया और यह प्रदर्शित किया कि वह क्लोरीन से ही मिलता-जुलता एक तत्त्व है। उसमें क्लोरीन के ही समान एक तीक्ष्ण दुर्गंध होती है, अतएव इसका नाम उसने ब्रोमीन रक्खा। ग्रीक भाषा में 'ब्रोमॅस' का अर्थ 'दुर्गंध' होता है। सिल्वर ब्रोमाइड के रूप में मेक्सिको और चिली की चाँदी की खानों में ब्रोमीन मिलती है; और मैग्नीशियम, कैल्शियम, सोडियम और पोटैशियम के ब्रोमाइडों के रूप में वह अल्पांशों में समुद्र, झीलों तथा जर्मनी और अमेरिका के कुछ सोतों के जल में, एवं स्टासफर्ट (जर्मनी) और मिचिगन (अमेरिका) के लवण-निक्षेपों में पाई जाती है।

कोलतार से टिरियन बैंगनो (डाइब्रोमोइंडिगो) आदि कुछ रंगों को बनाने में ब्रोमीन का बहुत उपयोग होता है। ब्रोमीन से ही उसका महत्वपूर्ण लवण पोटैशियम ब्रोमाइड का निर्माण होता है। इस पोटैशियम ब्रोमाइड से फोटोग्राफिक प्लेटों और फिल्मों पर चढ़ाए जानेवाले लवण सिल्वर ब्रोमाइड का निर्माण होता है। औषधरूप में भी वह रोगी के क्लेश का शमन करने के लिए प्रयुक्त होता है, और प्रयोगशाला में ब्रोमीन तैयार करने के काम आता है। गत महायुद्ध में "अश्रुगैसों" को बनाने में ब्रोमीन काफी बड़े परिमाणों में प्रयुक्त हुई थी। इथिलीन ब्रोमाइड आदि उपयोगी कार्बनिक पदार्थों को बनाने के लिए भी ब्रोमीन का उपयोग होता है। प्रयोगशाला में ऑक्सीकारक के रूप मे ब्रोमीन वॉटर का व्यवहार होता है। कीटाणुनाशक होने के कारण ब्रोमीन निःसंक्रामक के रूप मे भी प्रयुक्त होती है। इसके लिए वह कीज्लगूर नामक मिट्टी में शोषित कर ली जाती है और "ब्रोमम सॉलिडिफिकेटम" (ठोस ब्रोमीन) के नाम से बाजार में बिका करती है। कीज्लगूर मिट्टी ७५% तक ब्रोमीन शोषित कर लेती है। उपर्युक्त कामों के लिए ब्रोमीन प्रायः समुद्रजल से अथवा स्टासफर्ट निक्षेपों के कार्नेलाइट नामक खनिज से ही निकाली जाती है। इन दोनों से ब्रोमीन को पृथक् करने मे क्लोरीन गैस का ही उपयोग होता है। एक टन समुद्र-जल से प्राय. २॥ आउंस ब्रोमीन निकलती है। कार्नेलाइट ($KCl.MgCl_2.6H_2O$) मे अल्पांशो में (लगभग १ प्रतिशत) मैग्नेशियम, पोटैशियम और सोडियम ब्रोमाइड भी मिले रहते हैं। कार्नेलाइट के गरम संपृक्त घोल को ठंडा करने और फिर इसे सान्द्र करने से उसका सबसे अधिक अघुलनशील लवण पोटैशियम क्लोराइड रवों के रूप में अलग हो जाता है। बचे हुए घोल (मातृद्रव) में .2 से .3 प्रतिशत तक ब्रोमीन ब्रोमाइडो के रूप में रह जाती है। गरम बचा हुआ घोल एक मीनार में फव्वारे के रूप मे छोड़कर मिट्टी के गेंदों के बीच से होकर टपकाया जाता है, और नीचे से क्लोरीन और भाप ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती है। क्लोरीन ब्रोमीन को मुक्त कर देती है, और भाप उसे वाष्पीभूत करके बाहर निकाल देती है। बाहर आकर वह ठंडे पानी में डूबी हुई सर्पिल नलियों में प्रवाहित होती है, जिससे वह द्रवीभूत होकर एकत्र हो

रसायनशाला म ब्रोमीन का उत्पादन

ब्रोमाइड लवण से गंधकाम्ल और मैङ्गनीज डाइऑक्साइड द्वारा ब्रोमीन मुक्त करके तैयार कर ली जा सकती है। प्रयोगशाला में इस विधि का उपयोग होता है।

जाती है। जो ब्रोमीन द्रवीभूत नही हो पाती, वह एक मीनार मे भरे हुए भीगे लोहे के बुरादे में शोषित कर ली जाती है। लोहा फेरसोफेरिक ब्रोमाइड($FeBr_2.2Fe_2Br_3$) में बदल जाता है, और इस ब्रोमाइड से पोटैशियम ब्रोमाइड तैयार कर लिया जाता है। मुख्य मीनार से घोल नीचे झरकर एक टैंक में इकट्ठा होता है। इस टैंक के नीचे तक भाप की नली पहुँचती है। वहाँ से भाप निकलकर ऊपर टैंक में लगे हुए ताको के इधर-उधर टेढ़ी-मेढ़ी गति से ऊपर जाती है, और घोल में उपस्थित रही-सही ब्रोमीन को भी अपने साथ उड़ा ले जाती है। शेष घोल प्राय. ब्रोमीनशून्य होता है और बाहर निकल जाता है। इस प्रकार निकाली हुई ब्रोमीन में क्लोरीन और आयोडीन भी अल्पांशो में रहती है। अतएव उसका शोधन करने के लिए उसमें आवश्यक परिमाणों में पोटैशियम ब्रोमाइड और जिङ्क ऑक्साइड छोड़कर वह स्रवित कर लिया जाता है। क्लोरीन पोटैशियम ब्रोमाइड की और आयोडीन जिङ्क ऑक्साइड की क्रिया द्वारा शोषित हो जाती है,' और शुद्ध ब्रोमीन स्रवित होकर पृथक् हो जाती है।

मिचिगन के भूगर्भ मे स्थित निक्षेप-स्तरों मे नमक के साथ ०'१ प्रतिशत से कुछ अधिक ब्रोमीन सोडियम और मैग्नेशियम ब्रोमाइडों के रूप में मिली रहती है। इन स्तरों से नमक ब्राइन (जलीय घोल) के रूप मे पम्प द्वारा बाहर निकाला जाता है। ब्राइन से नमक मणिभीभूत करके पृथक् कर लेते हैं और शेष घोल का बिजली द्वारा विश्लेषण कर लेते हैं। इस प्रकार ब्रोमीन ऐनोड पर मुक्त होती रहती है और वहाँ से उसे इकट्ठा कर लेते हैं।

प्रयोगशाला मे ब्रोमोन प्राय: पोटैशियम ब्रोमाइड से तैयार की जाती है। दो भारांश पोटैशियम ब्रोमाइड और एक भारांश मैङ्गनीज डाइऑक्साइड को मिलाकर एक रिटार्ट मे रक्खा जाता है और इस मिश्रण में सांद्र गंधकाम्ल छोड़कर उसे ढक दिया जाता है। गरम करने पर ब्रोमीन का धूम बाहर निकलने लगता है, और पोटैसियम बाइसल्फेट और मैङ्गनीज सल्फेट नामक लवण बनकर रिटार्ट में रह जाते हैं—

$$2KBr + 3H_2SO_4 + MnO_2$$
$$= KHSO_4 + MnSO_4 + 2H_2O + Br_2$$
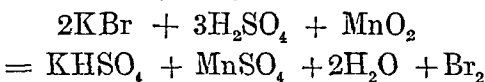
यह वाष्प ठंडे पानी मे डूबे हुए फ्लास्क में द्रवीभूत कर ली जाती है। तथापि कुछ-न-कुछ वाष्प बाहर भी निकलती है, किन्तु इसे बाहर हवा में नही मिलने दिया जाता, कारण ब्रोमीन गले, नामक और आँखो मे अतीव जलन पैदा कर देनेवाली और अधिक परिमाणों में विषाक्त होती है। अतएव फ्लास्क का मुँह बद रक्खा जाता है और उसकी पार्श्वनली को रबर-नली से संबद्ध करके उसके दूसरे सिरे को धूमकोष्ठ अथवा 'सिङ्क' के अदर डाल दिया जाता है। यह जान लेना भी मनोरजक है कि ब्रोमीन और पारा ये दो मूल तत्त्व ही ऐसे है, जो साधारण दशाओं में द्रवावस्था मे रहते है।

इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि तरल ब्रोमीन त्वचा के संसर्ग में न आने पावे, नही तो त्वचा के जल जाने से घाव तक हो जाते हैं, जो जल्दी अच्छे नही होते। यदि ब्रोमीन किसी प्रकार लग जावे तो उसे तुरंत पानी से और फिर खानेवाले सोडे (सोडियम बाइकार्बोनेट) के घोल से धो देना चाहिए और फिर जले हुए स्थान को वेसलीन से भली भाँति ढक देना चाहिए। यही बात सांद्र अम्लों मे जल जाने पर भी करना चाहिए।

आयोडीन

सन् १८१२ ई० मे पैरिस के कोरटॉय नामक एक शोरा बनानेवाले रसायनज्ञ ने समुद्र की घास की राख को सांद्र-गंधकाम्ल के साथ एक रिटार्ट में गरम किया। उसने देखा कि इस मिश्रण से बहुत ही सुंदर बैंगनी रग की एक वाष्प निकलकर रिटार्ट के ठंडे पृष्ठों पर काले चमकते हुए पत्तुरों के रूप मे जम रही है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक गेलूजक और डेवी ने १८१४ मे यह सिद्ध कर दिया कि यह पदार्थ एक नवीन तत्त्व है और उसका नाम आयोडीन रक्खा गया। ग्रीक भाषा मे 'आयोडेस' का अर्थ बैंगनी होता है। समुद्र-जल में आयोडीन आयोडाइडों के रूप मे न्यूनांशों में, अर्थात् एक लाख भारांशों मे एक अंश रहती है। गहरे समुद्रो में उगनेवाली कुछ घासें, विशेषत: लैमिनेरिया घास, समुद्र-जल से आयोडीन शोषित करती रहती हैं, अतएव उनके कलेवरो में अधिक आयोडीन होती है। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और जापान मे इन घासों की ही राख से आयोडीन निकाली जाती है। उष्ण कटिबंधों के कुछ स्पजो में तो १४ प्रतिशत तक आयोडीन रहती है। अनेक जल-जन्तुओं के कलेवरो मे कुछ-न-कुछ आयोडीन संयुक्तावस्था मे रहती है। 'कॉडलिवर आयॅल' मे उसका अस्तित्व सूक्ष्मांशों मे रहता है। कुछ खनिजों में भी आयोडीन का अस्तित्व संयुक्तावस्था में पाया जाता है। चिलियन खनिज कैलिचे में लगभग ·2 प्रतिशत आयोडीन का यौगिक सोडियम आयोडेट ($NaIO_3$)

मिला रहता है। आजकल अधिकतर आयोडीन कैलिचे से ही निकाली जाती है। खनिज से मणिभीकरण द्वारा शोरा पृथक् कर लिया जाता है, किंतु सोडियम आयोडेट अधिक घुलनशील होने के कारण बचे हुए घोल (मातृ-द्रव) में रह जाता है। इसमें आवश्यक परिमाणो में सोडियम बाइसलफाइट नामक लवण छोड़ा जाता है। इस लवण की क्रिया से सोडियम आयोडेट से आयोडीन मुक्त होकर नीचे बैठ जाती है। इसे अलग करके किरमिच कपड़े में दबाकर सुखा लेते हैं, और फिर उड़ाकर शुद्ध कर लेते हैं।

समुद्री घास से आयोडीन निकालने के पहले उसे इकट्ठा करके सुखाते हैं और फिर उसे छिछले गड्ढों में भरकर जला देते हैं। इस प्रकार जो राख बच रहती है, उसे 'केल्प' कहते हैं। केल्प में न केवल सोडियम और पोटैशियम के आयोडाइड वरन् उनके ब्रोमाइड, क्लोराइड और सल्फेट भी अशुद्धियों के रूप मे रहते हैं। केल्प को गरम पानी में मिलाकर उसके स्वच्छ घोल को अघुलनशील पदार्थो से अलग कर लेते हैं। इस घोल को सांद्र और ठंडा करने पर सल्फेट मणिभीभूत होकर अलग हो जाते है। बचे हुए घोल में सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड मिलाकर उसे लोहे के भपकों में भर लेते है, और उसमें मैङ्गनीज डाइ-आक्साइड का आवश्यक परिमाण मिला दिया जाता है। भपको को शीशे के बने हुए ढकनों से बंद करके नीचे भट्ठी द्वारा गरम करते है, और इस प्रकार निकलते हुए आयोडीन की वाष्पों को ढकने से संबद्ध नली से बाहर ले जाकर 'ऐलुडेल' नामक मिट्टी के पात्रों की पक्तियों में ठंडा और घनीभूत करने के लिए प्रवाहित करते है। आयोडीन ऐलुडेलों में जमकर रह जाती है और द्रवीभूत पानी बहकर बाहर चला जाता है। इन्हीं ऐलुडेलो के पृष्ठों से आयोडीन खुरच ली जाती है। केल्प के एक टन मे १० से १२ पौंड तक आयोडीन तैयार होती है। इस विधि में आयोडीन आयोडाइडो से उसी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा मुक्त होती है, जैसी ब्रोमीन की प्रयोगशाला मे तैयार करने की विधि मे पोटैशियम ब्रोमाइड से ब्रोमीन के मुक्त होने में होती है।

इस प्रकार प्राप्त आयोडीन मे प्राय: तीन पदार्थ—क्लोरीन, ब्रोमीन और पानी—अशुद्धि के रूप मे रहते हैं। अतएव इसका शोधन करने के लिए इसे थोड़े-से पोटैशियम आयोडाइड (क्लोरीन और ब्रोमीन अलग कर देने के लिए) और अनबुझे चूने (नमी हटा देने के लिए) के साथ पीस लेते है, और फिर इस मिश्रण को गरम करके आयोडीन को उड़ा लेते है। इस ऊर्ध्वपातन (उड़ाने) की प्रयोगशाला की विधि अगले पृष्ठ के चित्र मे प्रदर्शित है। अशुद्ध आयोडीन वालुकाकुंडी पर गरम की जाती है। आयोडीन के सुन्दर बैंगनी वाष्प उठते है और पानी से भरे हुए फ्लास्क के ठंडे पेंदे पर काले चमकते

आयोडीन के निर्माण की एक विधि

कुछ समुद्री घासों की राख में आयोडाइड लवण रहते हैं। इस राख के घोल को सांद्र गंधकाम्ल और मैङ्गनीज डाइऑक्साइड के साथ गरम करने पर आयोडीन मुक्त होकर वाष्पीभूत हो जाती है। इसे 'ऐलुडेल' नामक मिट्टी के पात्रों में घनीभूत कर लेते है।
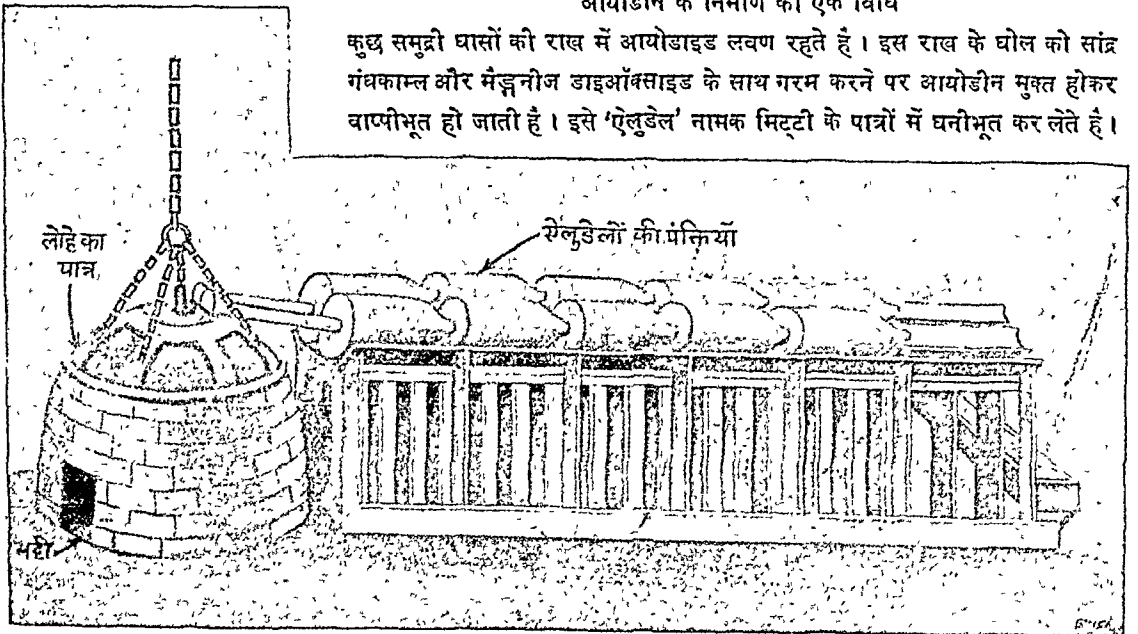
हुए पत्तुररूप में घनीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध आयोडीन ऊपर जम जाती है और अप-पदार्थ वीकर के पेंदे पर ही रह जाते हैं।

प्रयोगशाला में पोटैशियम आयोडाइड से आयोडीन उसी प्रकार तैयार की जाती है जैसे पोटैशियम ब्रोमाइड से ब्रोमीन। अंतर केवल यही होता है कि उसके उतने अधिक वाष्पशील और विषाक्त न होने के कारण उसके धूमों को कमरे की हवा में न मिलने देने के लिए प्रवध करने की कोई आवश्यकता नही होती। ग्राहक पत्र के भीतरी पृष्ठों से आयोडीन खुरच ली जाती है।

टिक्चर आयोडीन के रूप मे आयोडीन से हम भली भाँति परिचित हैं। यद्यपि इस टिंक्चर का व्यवहार त्वचा पर आयोडीन के क्षादक प्रभाव के कारण अव वहुत कुछ उठ गया है तथापि निसंक्रामक और कीटाणुनाशक होने के कारण इसका उपयोग होता ही है। यदि आपको टिंक्चर आयोडीन वनाना हो तो आधा आउंस आयोडीन, आधा आउंस पोटैशियम आयोडाइड और आधे आउंस पानी को एक शीशे के पात्र मे मिलाकर हिलाइए, तो एक गहरे रंग का घोल वन जायगा। इस घोल में मेथिलेटेड स्प्रिरिट (यदि वाहर लगाना हो,) अथवा रेक्टिफाइड स्पिरिट (यदि मुँह मे लगाना हो अथवा पानी आदि में डालकर पीना हो), मिलाकर उसे एक पाइंट भर अथवा लगभग डेढ वोतल कर लीजिए। आयोडीन पानी मे वहुत कम घुलती है, कितु पोटैशियम आयोडाइड के घोल में वह खूव घुलनशील है और इससे भूरा-लाल घोल तैयार होता है। कुछ द्रवों में यथा क्लोरोफार्म, कार्वन डाइसलफाइड आदि में आयोडीन के घुलने से सुन्दर वैंगनी रंग का घोल तैयार होता है। घावों पर लगाई जानेवाली 'आयडोफार्म' (CHI_3) नामक दवा क्षार (विशेषतः धोनेवाला सोडा) की उपस्थिति में अल्कोहोल पर आयोडीन की ही प्रक्रिया द्वारा वनती है। यह प्रक्रिया सरलता से देखी जा सकती है। एक परीक्षा नली में थोड़ा-सा गाढ़ा टिंक्चर आयोडीन ले लीजिए और उसे लगभग ७०°C तक गरम कर लीजिए। अव उसमें धोनेवाले सोडे का घोल उतना छोड़िए कि आयोडीन का रंग विसर्जित हो जाय। ठंडा करने पर आपको आयडोफार्म के पीले कण अवक्षिप्त होते दिखाई देंगे और आयडोफार्म की गंध भी मिलेगी। आयडोफार्म का व्यवहार भी उसकी दुर्गन्ध और त्वचा पर क्षादक प्रभाव के कारण वहुत-कुछ उठ गया है। पोटेशियम आयोडाइड और कोलतार से कुछ रंगों को वनाने में भी आयोडीन का उपयोग होता है। स्टार्च से संप्रक्त घोलों में भी आयोडीन मिलाने से घोल नीला हो जाता है। यह नीला रंग घोल के गरम करनेपर उड़ जाता है, किंतु ठंडा करने पर फिर लौट आता है। मैदा, चावल, आलू, आदि किसी को भी थोड़ा-सा पानी मे घोलकर उसमें टिंक्चर आयोडीन के कुछ वूंद मिला देने से यह रंग देखा जा सकता है। इस प्रकार स्टार्च की उपस्थिति की पहचान आयोडीन द्वारा और आयोडीन की स्टार्च द्वारा हो सकती है। प्रयोगशाला में भी आयोडीन के घोल का प्रयोग विश्लेषणात्मक प्रयोगों और परीक्षाओं में होता है।
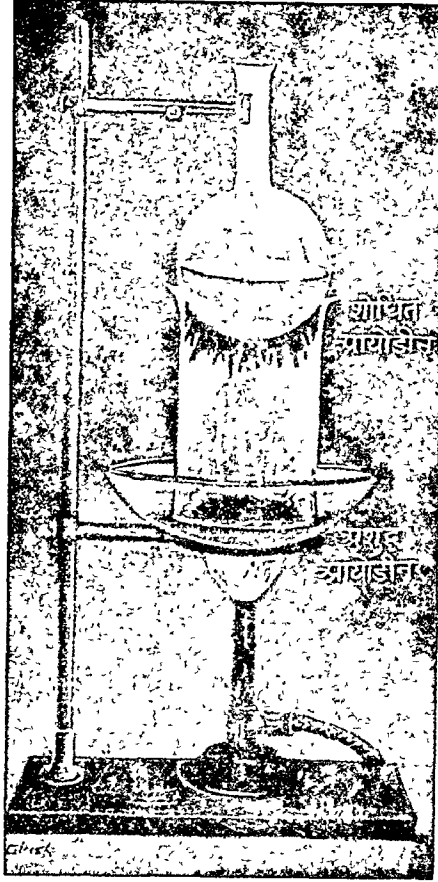
आयोडीन का शोधन
अशुद्ध आयोडीन को गरम करने पर शुद्ध आयोडीन वैंगनी रंग के वाष्प के रूप में उड़कर ऊपर के ठंडे पृष्ठ पर जम जाती है, और अशुद्धियाँ नीचे ही रह जाती हैं।

आयोडीन यद्यपि अपने कुटुम्ब में सवसे कम प्रवल होती है, तथापि उसकी सक्रियता भी प्रदर्शनीय है। पीले फास्फरस के एक टुकड़े पर आयोडीन के कुछ टुकड़े छोड़ दीजिए। फास्फोरस पिघलकर जलने लगता है। थोड़ा-सा पारा और आयोडीन के कुछ पत्तुर एक साथ खरल में घोटिए, ये दोनों तत्त्व संयुक्त हो जाते हैं। इन सव क्रियाओं में आयोडाइड नामक यौगिक वनते हैं।

ऋत

मनुष्य के सामने सृष्टि का अनन्त विस्तार फैला हुआ है। वैज्ञानिक और पौराणिक दोनो ही अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्टि की अनन्तता के विषय मे एकमत हैं। विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्माण्ड सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं के पारस्परिक संघटन और विघटन का परिणाम है। यज्ञ की परिभाषा में ये परमाणु कुछ-कुछ वेदिचयन की इष्टकाओं की भाँति जान पड़ते है, जिनको विधाता ने अत्यन्त स्थिर रीति से अपने स्थान में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। काल के संततवाही प्रवाह मे इनके ध्रुव विन्दु अविचाल रहकर सृष्टि की धुरी को पकड़े रहते है। परमाणु की आन्तरिक रचना अत्यन्त जटिल है। वस्तुत: उसके रहस्य के समक्ष विज्ञान के मनीषी उपासको की प्रतिभा भी आज तक पूरी विजय नही पा सकी। परमाणु का केन्द्र क्या है, उसकी परिधि पर चकराते हुए विद्युत् कणो का यथार्थ स्वरूप क्या है, यह एक पहेली है। क्या इन कणों का अन्तिम रूप भौतिक है, अथवा क्या ये केवल विद्युत् की तरंगें हैं, जिनके आन्दोलन की प्रतीति मात्र हमारे यन्त्रों के द्वारा होती है, इन प्रश्नों का संतोषप्रद समाधान विज्ञान को प्राप्त करना शेष है। हो सकता है, यह रहस्य मानवी मस्तिष्क के लिए इसी प्रकार दुरूह वना रहे, अथवा यह भी संभव है कि कुछ क्षणों के लिए प्रकृति अपने रहस्यमय प्रांगण की एक झाँकी मनुष्य के लिए सुलभ कर दे। यह उसके स्वयंवर की इच्छा पर निर्भर है। जो अज्ञात और अपरिचित है, वही रहस्यमय है। जो रहस्य है, वही आकर्षण से युक्त है। वैज्ञानिक तत्त्वों का अणोरणीयान् रूप एकान्ततः आकर्षण और सौन्दर्य भाव से संपन्न है।

विश्व का महत् रूप भी अत्यन्त विलक्षण है। कहाँ एक ओर हमारी यह पृथ्वी और कहाँ दूसरी ओर ऐसे-ऐसे दूरस्थ नक्षत्र और नीहारिकाएँ, जिनके प्रकाश को हमारी पृथ्वी तक पहुँचने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं! ब्रह्माण्ड की कुक्षि मे हमारी पृथ्वी-जैसे अगणित नक्षत्र-जगत् भरे हुए है। उनकी सख्या निर्धारित करने में गणित के अक हमारी सहायता करने से हिचकिचाते हैं। कैलास को तौलनेवाले दशग्रीव रावण के समान ये दशविध अक भी अन्ततः रो देते है। किन्ही वैज्ञानिकों का यह कहना कि निखिल ब्रह्माण्ड की तुलना मे यह पृथ्वी ऐसी है जैसे विश्व के महासागर में भरे हुए अनन्त वालू के कणो की तुलना मे एक नन्हा-सा सिकता-कण, किसकी सान्त्वना के लिए हो सकता है?

पुराणों की भाषा का प्रयोग करें तो अनन्त विश्व का यह रूप और भी काव्यमय प्रतीत होगा। विराट् विष्णु के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डो का समावेश कहा जाता है। परन्तु उन सबके पीछे जो महान् तत्त्व है, उसके नियमन से वहिर्गत कुछ नही है। सभवत. उस तत्त्व का एक रोआँ भी इस सृष्टि से पूरी तरह विपरिणाम या विकार को प्राप्त नही हो पाता। उसके एक अनिर्दिष्ट अंश में ही यह जगत् परिच्छिन्न है।

ऋत का तन्तु

सूक्ष्म और विराट् विश्व के इस अनन्त रूप को एक सूत्र मे ग्रथित करनेवाला रहस्य क्या है? चौदह कोटि प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित नक्षत्रो में परमाणु के विकास और विलय के जो नियम कार्य कर रहे है, वे ही हमारे समीप में भी है। ध्रुव नक्षत्र या अगस्त्य नक्षत्र मे जीवन और मृत्यु का जो अनुशासन है, वही इस पृथ्वी पर है। जो यहाँ है वही सर्वत्र है, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नही है। यही सरलतम वैज्ञानिक नियम है। किसी देश विशेष में ऐसी गुहा नहीं है, जहाँ प्राकृतिक रहस्यों की कुंजी छिपी हो। 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' यह शाश्वत अनुभव है। भूत-भविष्य-वर्तमान मे विश्वप्रवाह की एक अखंड धारा वह रही है। पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे सब दिशाओं में एक नियम की अखंड स्थिति

है। देश और काल के कोठे में ओर से छोर तक एक नियम व्याप्त है। यही ऋत का तन्तु है। यह धागा प्रत्येक परमाणु में पिरोया हुआ है। जड़-चेतन सबम ऋत का एक तन्तु ओत-प्रोत है। वैज्ञानिक का यही ध्रुव आधार है। एक परमाणु पर जिस प्रकार के प्रयोग का जो परिणाम एक शताब्दी पूर्व निकला था, वही आज अविकल रूप से किसी भी प्रयोगशाला में दोहराया जा सकता है। स्वर्ण के एक कण या विद्युत् की एक तरंग की जो भौतिक विशेषताएँ हमारे विज्ञान-मन्दिर में उपलब्ध होती हैं, वे सब हूबहू वैसे ही सूर्यमंडल में या उसमें भी दूर पर स्थित नक्षत्र-जगत् में विद्यमान हैं। ऋत की अखंडता देश और काल से परे की वस्तु है; दूरी और समय का कैसा भी व्यवधान ऋत के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी आश्वासन से प्रेरित होकर वैज्ञानिक अहर्निश अपने प्रयोग और अन्वेषण में निरत रहते हैं। प्रकाश और ताप, विद्युत् और चुम्बक, सृष्टि के इन बालखिल्यों की सर्वत्र एकरस गति पाई जाती है। सहस्रातिसहस्र परीक्षण करने पर भी इनके नर्तन की अस्खलित गति में आज तक किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया गया। उषा हमारे आकाश में नित्य प्रति संचरण करने आती है। ऋषि ने उसे 'पुराणी युवति' कहा है। सृष्टि के पहले दिन से जब उसके रूप को देखकर सूर्य भगवान् ठिठके होंगे, क्या आज तक उसके रमणीय ललाम भाव में किसी ने कुछ भी अन्तर देखा है ?

इसका कारण विश्व का अखंड नियम है जो सदा सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे Cosmic order कहकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। पूर्व ऋषियों ने इसे ऋत कहा है।‡ पृथ्वी जिस संचार-पथ (Orbit) से घूमती है, वह पथ विश्व के ऋत ने उसके लिए स्थिर किया है। सौरमंडल एवं संपूर्ण नक्षत्रसमूह के आकर्षण-प्रत्याकर्षणों का जो अन्तिम निर्णय हुआ, उसी ने पृथ्वी के लिए ऋत मार्ग की कल्पना की। सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह, सभी ऋत पथ के अनुयायी हैं। वेदों में देवों को 'ऋतावृधः' अर्थात् ऋत से बढ़नेवाला कहा गया है। ऋत को जानना ही सच्ची प्रज्ञा है। ऋतज्ञ और ऋतधी विशेषण ज्ञानी के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि ऋत से घिरा हुआ (ऋत-प्रवीत) है। ज्ञानाग्नि और ऋत का शाश्वत मेल है। ज्ञान-चक्षु जहाँ देखता है, उसे विश्व-नियन्ता के ऋत का दर्शन होता है। ऋषि ने कहा है—

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वः
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदभवत् तदपश्यत् तदासीत्॥

द्युलोक और पृथ्वी, लोकान्तर और दिशाएँ सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा। वह ऋत ही यह सब कुछ हुआ है। उस ऋत के सूत्र को देखने के लिए मैंने समस्त भुवनों की यात्रा की—

परि विश्वा भुवनान्यायम्
ऋतस्य तंतुं विततं दृशे कम्।† (अथर्व २।१५)

अर्थात्, मैं निखिल ब्रह्माण्ड के सब लोकों में ऋत के फैले हुए तन्तु को देखने के लिए घूम आया हूँ।

यही अनुभव कागभुशुंडि ने अवध से ब्रह्मलोक तक और शिवलोक से इन्द्रलोक पर्यन्त घूमकर प्राप्त किया था। सर्वत्र एक ही वैष्णवी माया का दर्शन हुआ। वे जहाँ गए, वही राम का हाथ उनके पीछे लगा रहा।

ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहि मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभुभुज निरखि व्याकुल भयउँ बहोरि॥

अर्थात् ब्रह्मलोक तक भागते हुए जब-जब मैंने पीछे मुड़कर देखा, अपने से दो ही अंगुल की दूरी पर राम का हाथ मुझे दीख पड़ा। विश्व के सात परदों को भेदकर जहाँ तक जा सका, मैं गया, परन्तु राम की भुजा ने मेरा पीछा न छोड़ा। राम की भुजा राम के नियम की प्रतीक मात्र है। देश और काल के साथ अन्य सब-कुछ परिवर्तन को प्राप्त हो जाता है परन्तु 'राम का नियम' सदा सर्वत्र एक-सा बना रहता है। राम का नियम स्वयं राम है। विधाता और उसका सृष्टिनियम एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। कागभुशुंडि ने सप्त आवरणों को पार करते हुए लोक-लोकान्तरों में और सब-कुछ बदलते हुए देखा, पर अकेले राम वैसे-के-वैसे बने रहे—

भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

(उत्तरकांड दो० ८१)

‡ऋत—Divine Law; Divine Order ऋत शब्द ऋ गतौ धातु से बना है। *Rita* is the Eternal Law of the Universe and *the first-born son* thereof is Prajapati, the Creator (ग्रिफिथ)।

†I round all these worlds have travelled to see the far-extended thread of Order.

राम के उदर में जो ये अनन्त ब्रह्मांड-निकाय है, उनमें सृष्टि की विचित्रता वर्णन से परे है। लोक-लोकान्तरो में पृथ्वी, नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, पशु और प्राणियों के प्रपंच को देखकर मानवी बुद्धि चकराने लगती है। वैज्ञानिक लोग सूम के धन की तरह एक-एक कोडी जोड़ते हुए इस विचित्र विश्व के विविध ज्ञान का संग्रह करते हैं। प्रशान्त महासागर की तलहटी में पडे हुए घोंघों की पाचन-प्रणाली और श्वास-नली की टटोल करते हुए उनके युग बीत जाते है। परन्तु इस बहुधा विस्तार का कही अन्त नही मिलता। इन सबके भीतर जो अन्तर्यामी सूत्रात्मा है, वही इस प्रपंच के उन्मत्त विस्तार को अर्थवान् बनाता है।

उस अन्तर्यामी सूत्र का वाचक ही ऋत है। जनकनन्दिनी सीता के चरणो में चोंच मारकर भागे हुए जयन्त की कथा का रहस्य भी यही है। ऋतावरी देवी के चरणों का जो अपराधी है, उसे ब्रह्माण्ड मे कही भी शरण नहीं मिल सकती।

ऋत और वरुण

ऋत का अधिष्ठाता वरुण है। ऋत के विपरीत जो आचरण करता है, उसे वरुण के पाश बांध लेते है। ऋत का उलटा अनृत है। अनृत ही पाप है। ऋत का मार्ग ऋजुमार्ग है, कुटिल या टेढा (अनृजु) मार्ग मृत्यु का पद है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।

मनुष्य ज्यों-ज्यो ऋतमार्ग की अवहेलना करता है और पाप में फँसता जाता है, वरुण के पाश उसके चारों ओर घेरा डालने लगते है। बन्धन में वरुण भाव है। मोक्ष वरुण-पाशों से छूटने का नाम है। वरुण का प्रतिस्पर्धी मित्र है। मित्र और वरुण ही देव और आसुर भाव है।

बहता हुआ पानी मित्र देवता का भाग है। ठहरा हुआ जल वारुण हो जाता है। ठहरने अर्थात् परिमित हो जाने से ही जलों मे दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। यही स्वभाव मन का है। ऋतगामी मन दिव्य होता है। अनृत से सनकर वही क्षुद्र हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम व्रत यही है कि हम अनागस् या पापो से मुक्त रहें—

हे वरुण, हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाशों को दूर करो। हे आदित्य, हम निष्पाप रहकर तुम्हारे व्रत मे दीक्षित होकर अमृत गति को प्राप्त करें।

(अथर्व ७।८३।३)

संसार में कई तरह के बन्धन हैं। कुछ रेशमी डोरे है, कुछ लोहे की शृंखलाएँ है। हैं दोनों पाश ही। दोनों से ही बचना आवश्यक है। जितने सूक्ष्म बन्धन है, उनसे मुक्ति भी उतनी ही कठिन है। मनुष्य की सफलता इसी में है कि वह शान्ति के साथ यह अनुभव कर सके कि हम इस लोक के और परलोक के जो ऋण है, उन सब से उऋण होकर अपना जीवन बिता सकें—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्
तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥

(अथर्व ६।११७।३)

जो देवों के और पितरों के मार्ग है, उन सब मार्गो में हम ऋणरहित होकर विचरे। प्रकृति की शक्तियाँ कभी ऋत का उल्लंघन नही करती। सूर्य, चन्द्र, रात और दिन, ऋतु और संवत्सर अपने दैवी मार्ग पर अमृत भाव से संचरण करते है। मनुष्य ही उस मार्ग से द्रोह करता है।

ऋत मार्ग का विरोध यदि मानव के स्वभाव से कदाचित् दूर हो जाय तो मनुष्य भी देव बन सकता है। यद्यपि ऋत अर्थात् विश्व के दुर्धर्ष नियम का संबंध चेतन और अचेतन सबसे है, तथापि मनुष्य-जीवन के लिए ही ऋत के साथ विद्रोह करने के कारण पाप की समस्या उत्पन्न होती है।

यही से विज्ञान और दर्शन के दृष्टि-पथों में अन्तर प्रारम्भ होता है। जीवन को ऋतात्मक बनाने का प्रयत्न ही ऋत का दार्शनिक अनुभव है।

ऋत की विश्व-व्यापी प्रभुता

वैदिक तत्त्वज्ञान की वह बड़ी विजय है कि उसके प्रज्ञावान् मनीषियों ने ऋत या विश्व-व्यापी अखंड नियम की दुर्धर्ष सत्ता का मानवी ज्ञान के उषःकाल में ही साक्षात् अनुभव प्राप्त कर लिया था। विश्व के वन्दनीय नियमों के लिए न कोई शत्रु है न कोई मित्र। यहाँ किसी प्रकार का निजी या प्रातिस्विक संबंध नहीं है। इस उदार राज्य में मानव का प्रतिकूल और अनुकूल आचार ही उसे ऋत पथ का विद्वेष्टा या अनुगामी बनाता है। चित्त की संकुचित वृत्तियों और क्षुद्र भावनाओं के लिए ऋत के जगत् में स्थान कहाँ है! ऋत का ससार वरुण के घेरों से स्वतंत्र है, उसमें सर्वत्र विराट् की ही प्रेरणा रहती है।

मनुष्य जब तक ऋत के तन्तु या महान् सूत्र से दूर रहकर उसकी प्रेरणा से वंचित है, तब तक भय और मृत्यु उस पर आक्रमण करके उसे क्षुद्र बनाए रहते है। जिस समय वह अपने ही केन्द्र को पहचानकर विराट् बनाता है, उसकी सीमाएँ या बन्धन स्वयं शिथिल होकर छूट पड़ते है।

शुनःशेप-प्रसंग

प्राचीन भारत की शुन.शेप-कथा मनुष्य और ऋत के संबंध को व्यक्त करती है। प्रत्येक मनुष्य देश और काल के सम्मिलन-बिंदु पर जीवन के मेरुदंड मे जकड़ा हुआ है। उसकी वर्तमान स्थिति समस्त पूर्वजन्मों के अर्जित संस्कारों का फल है। उन सस्कारो ने हमको जिस परिस्थिति मे लाकर खडा कर दिया है, उसी वातावरण में हम अपने को पाते है। यह जीवन का मेरुदंड ही लाक्षणिक रूप मे यज्ञ का यूपस्तम्भ है।

इस यूप मे सब प्राणी आबद्ध ह। शरीर-रचना मे भी सर्वप्रथम इसी यूप या मेरुदड को आधार बनाकर हमारे भौतिक परमाणुओ का सगठन प्रारम्भ होता है। बिना यूप के सृष्टि असम्भव है। इस जीवनयूप मे आबद्ध प्राण को अवश्य ही एक दिन मृत्यु के मुख मे जाना है। समय रहते हुए जो इस मृत्यु-बधन से छूटने का उपाय करता है वही मुक्त है।

मृत्यु और जीवन को समस्या को हममे से हर एक को अपने लिए स्वयं हल करना आवश्यक है। अन्य किसी प्रतिनिधि के द्वारा यह कार्य नही हो सकता। ऋत के अधिष्ठाता वरुण का तकाजा हरएक प्राणी पर है। वह हर एक के द्वार पर आकर उसे सचेत करता है कि उच्च जीवन का जो आवश्यक कर्त्तव्य है उसे पूर्ण करो। मनुष्य बराबर इस चेतावनी को सुनता हुआ अनसुनी कर देता है और ऋत के उत्तरदायित्व से बचकर भागने का प्रयत्न करता है।

हरिश्चन्द्र के पुत्र नही हुआ। क्यों ? उसके कर्मो के कारण अथवा यों कहें कि ऋताधिपति वरुण के कारण। वह वरुण के पास गया। मुझे जो पुत्र होगा उससे तुम्हारा यजन करूँगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। पुत्र हुआ। वरुण ने कहा—लाओ। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दस दिन का नही हुआ, नाम भी नही पड़ा। दस दिन का हो ले तब यज्ञ के योग्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। पुत्र दस दिन का हो गया। वरुण ने कहा—अब यजन करो। हरिश्चंद्र ने कहा—अभी दांत भी नही निकले। दांत निकल आने दो तब यजन करूँगा। वरुण न कहा—अच्छा।

उसके दांत निकल आए। तब वरुण फिर पहुँचा—अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—अभी निरा पशु है। जब दूध के दांत गिर जायँगे तब यज्ञीय होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके दूध के दांत भी गिर गए। वरुण ने कहा—अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—जब नये दांत जम आएँगे तब मेध्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके नये दांत भी जम आए। वरुण ने फिर टोका—नये दांत निकल आए, अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रियपुत्र जब कवच पहनता है तब काम मे आने लायक होता है। कवच पहनने दो तो यजन करूँ। वरुण ने कहा—अच्छा।

वह कवचहर भी हो गया। वरुण ने हरिश्चंद्र को छेका—कवचहर हो गया, अब यजन करो। हरिश्चंद्र ने कहा—अच्छा कल आना। इस प्रकार कल-कल करते हुए हरिचंद्र ने नियति से बचने के लिए उस पुत्र को जंगल में भगा दिया।

पर बचत की कोई राह न थी। वरुण के उग्र नियमों ने हरिश्चंद्र को पकड़ा। उसे जलंधर हो गया। उसने अपने कष्ट से बचने के लिए अजीगर्त के पुत्र शुनः-शेप को खरीदकर वरुण की भेंट करना चाहा। शुनः शेप यज्ञ-स्तम्भ मे बाँध दिया गया। अपन परित्राण का कोई उपाय न देखकर और मृत्यु को सामने निश्चित आई हुई जानकर वह वरुण की शरण में जाता है—हे वरुण, हम मनुष्य हैं, इसी से यह सम्भव है कि हमसे तुम्हारे व्रतो का प्रतिदिन उल्लंघन होता रहा हो। हे देव ! अनजान में जो हमने ऋत के पालन में त्रुटि की हो उसके कारण हमे वधिक मृत्यु की यंत्रणा न सहनी पड़े। हे सम्राट् ! तुम ही हमारे इन त्रिविध पाशों को दूर कर सकते हो। तुमने ही सूर्य के विचरने के लिए विपुल मार्ग कल्पित किया है। तुम ही मानव के लिए ऋजु मार्ग का प्रदर्शन करते हो। साधु-भाव के द्वारा मै ऋत के पथ का अनुसरण करता हूँ। जो दुष्कर्मो में लीन है वे ऋत के मार्ग के उस पार कभी नहीं पहुँच पाते—

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।

शुन: शेप प्राण का प्रतिनिधि है। प्रत्येक प्राणी प्राण का प्रकट चिह्न है। श्वा प्राण को कहते हैं। उसका जो शेप या चिह्न है वही शुन शेप है। यों तो विराट प्राण सर्वत्र व्यापक है,

पर वही चींटी से लेकर मनुष्य पर्यन्त शरीरों में स्फुट या प्रकट हो रहा है। मनुष्य-जीवन के लिए ऋत के ज्ञान का नैतिक फल क्या है, यही बताना शुनःशेप उपाख्यान का प्रयोजन है। दार्शनिक ज्ञान वही सच्चा है जिससे मनुष्य के नैतिक जीवन का, उसके सुकर्म और दुष्कर्मों का, नियंत्रण हो सके। भारतीय दार्शनिकों ने इसी दृष्टि को प्रधान रक्खा है।

बुद्ध भगवान् ने अपनी अखंड समाधि में प्रज्ञा के नेत्रों से जिस विश्व-व्यापी महान् 'धम्म' का साक्षात्कार किया। वह भी सृष्टि का उपर्युक्त नियम है। प्राचीन ऋत का ही नामान्तर 'धम्म' है। धम्म या धर्म का मनुष्य के नैतिक जीवन के साथ संबंध ही कम्म या कर्म है। धर्म और कर्म इन्ही दो पहियों से मानव जीवन का रथ गतिशील रहता है।

अमृत

उपनिषदों की निम्नलिखित प्रार्थना मानव-हृदय की चिरन्तन अभिलाषाओं को प्रकट करती है—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।

अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, एवं मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो। असत्-तम-मृत्यु जीवन का एक पक्ष हैं। सत्-ज्योति-अमृत यह उसका दूसरा पक्ष है। असत् और तम का अन्तर्भाव मृत्यु में और सत् और ज्योति का अन्तर्भाव अमृत में है। ऊपर लिखी हुई सुन्दर प्रार्थना का सारांश यही है कि मनुष्य मृत्यु से दूर हटकर अमृत पाना चाहता है। शतपथ ब्राह्मण मे इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—यह जो कहा गया कि हमको असत् से सत् की ओर ले चलो उसका तात्पर्य यह है कि हमको मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, क्योकि मृत्यु असत् है, अमृत सत् है। तम से ज्योति की ओर जाने का अर्थ भी मृत्यु से बचकर अमृत की प्राप्ति है; क्योकि मृत्यु ही तम है, अमृत ही ज्योति है। मृत्यु से हमें अमृत की ओर ले चलो, इसका भावार्थ स्पष्ट है।*

प्राचीन ऋषियों को अमृत अथवा विराट् जीवन से अत्यन्त प्रीति थी। नित्य प्रति के सन्ध्यावंदन मे भी सर्वप्रथम मनुष्य अपने आपसे यही कहता है:—

अमृतोपस्तरणमसि। अमृतापिधानमसि।

अर्थात् हे मानव, तेरा बिछौना और ओढ़ना दोनों अमृत के बने हुए हैं। मनुष्य का आदि और अन्त दोनो अमृत-भाव से युक्त हैं। इन शाश्वत प्रार्थनाओ के द्वारा मनुष्य ने अपने मर्त्य जीवन में अमृत का स्मरण रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि अमृत कहाँ है? क्या मर्त्य प्राणी को अमृत मिल सकता है? अमृत का क्या स्वरूप है और उसके प्राप्त करने की युक्ति क्या है? ये प्रश्न हमारे जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सुनते है कि केवल अमृत मे ही मृत्यु का भय हटाया जा सकता है। राजा भर्तृहरि को किसी योगी से अमृत-फल प्राप्त हो गया था। भर्तृहरि ने स्वय उसे न खाकर काम भाव से युक्त अपनी प्रिया को दे दिया। उसने किसी अन्य को दिया, और उसने फिर किसी अन्य को। इस प्रकार मर्त्य प्राणियों मे घूमता हुआ वह अमृत-फल भर्तृहरि के पास ही आ गया। भर्तृहरि ने उसे ले जाकर योगी के चरणो में रख दिया और 'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च' के अनुभव से भर्तृहरि अमर बन गए। भर्तृहरि के अमर फल को किसी वृक्ष पर पाने की अभिलाषा करना बुद्धि का तिरस्कार है। भर्तृहरि ने आत्मज्ञान के द्वारा अपने आपको मृत्यु के भय से मुक्त कर लिया, यही अमर फल का परम लाभ है।

हमारे मन में ही अमृत और मृत्यु के प्रथम अंक लिखे जाते है। मन मनुष्य के भीतर अमृत ज्योति है। मन पर जब विषाद, तम, पाप का आक्रमण होता है, तभी हमारा सम्बन्ध अमृत की धारा से टूट जाता है। मन एक कल्पवृक्ष है। हम सब इस कल्पवृक्ष के नीचे खड़े होकर जैसा सोचते हैं वैसा बन जाते हैं। उत्तम स्वस्थ आत्म-निवेदन (Auto-Suggestion) से मन की शक्तियाँ बढ़ती है, विषाद, चिन्ता, संशय से मन अपने वीर्य को खो देता है।

---

* स यदाहासतो मा सद्गमयेति। मृत्युर्वा असत्, सदमृतं, मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति। मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं, मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। (श० १४।४।३०-३२)

ज्ञानामृत

मानसिक परिवर्तन अमृत-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है। पुराणो मे दी हुई परीक्षित की कथा का रहस्य भी यही है। परीक्षित ने अज्ञान से तक्षक नाम का सांप शमीक ऋषि के गले मे डाल दिया था। ऋषि के शाप से उसी तक्षक ने सात दिन के भीतर ही परीक्षित को डसकर उनके जीवन का अन्त कर डाला। परीक्षित को जब यह मालूम हुआ कि उनके जीवन के केवल सात दिन शेष है तब उन्हे विषयो से वैराग्य हो गया। इस वैराग्य ने परीक्षित का दृष्टिकोण बदल दिया। उनका मन समाधिमान् हो गया। उन्होने कहा—मुझे अब तक्षक से भय नही। सात दिन तो क्या, यदि यह अभी डस ले तो भी मुझे कष्ट न होगा। इस कथा का तात्पर्य क्या है? काल वह तक्षक सर्प है जो हममे से प्रत्येक के गले में पड़ा हुआ है। सबके जीवन को शनैः-शनैः रन्दनेवाला चतुर तक्षक या बढ़ई काल है। इसके तक्षण से कोई मुक्त नही। इस महातक्षक का रन्दा एक सप्ताह है। इन सात दिनों की आवृत्ति से ही जीवन का आयु-सूत्र बना है। सप्ताह रूपी रन्दे से तक्षक सबको छील रहा है और रात-दिन के रूप मे आयु के परत हमारे सामने ढेर हो रहे हैं। तक्षक का कार्य कभी रुकता नही। ऋषि ने मृत्यु के रहस्य को जान लिया है, अतएव उसके गले मे तक्षक मरा हुआ है। परन्तु परीक्षित के लिए वही तक्षक महाभयंकर जीवित विषधर बन जाता है। ऋषि या ज्ञानी तक्षक काल को जीत चुका है, परीक्षित को वह अनुभव अभी प्राप्त नही हुआ। अतएव चक्रवर्ती राज्य का समस्त वैभव भी उसकी रक्षा नही कर सकता। गूढ़-से-गूढ राजभवनों में भी, जिनकी रचना मे मय का कौशल समाप्त हो गया था, परीक्षित के शरीर की रक्षा नही हो सकी। हर एक परीक्षित की जन्मपत्री में ऐसे ही मृत्यु के अटल अंक पड़े हुए हैं। उनको मेटने की शक्ति किसी भी आस्तीक में नही है। मय, आस्तीक, परीक्षित—तीनो का सम्मिलित उद्योग भी तक्षक को परास्त नही कर सकता। तक्षक रूपी काल को जीतने का केवल एक ही उपाय है—वह है आत्मज्ञान, विषयों से वैराग्य अथवा ससार के विषय मे मानसिक परिवर्तन। यह आध्यात्मिक अमृत की संप्राप्ति है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार के अमृततत्त्व की महिमा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से और विस्तार के साथ कही गई है। आत्मज्ञान की प्राप्ति जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है। जिसने जीते-जी आत्मा को देख लिया, वह निश्चयपूर्वक मृत्यु के भय से मुक्त हो गया। आत्मज्ञान कहने-सुनने की बात नहीं है। यह जीता-जागता अनुभव है। उस अनुभव के मिलने पर जीवन की धारा इतने वेग से बहने लगती है कि मनुष्य साक्षात् रूप से अमृततत्त्व को अपने चारों ओर भरा हुआ देखता है। वह सोते-जागते आनन्द के समुद्र में उतराने लगता है। इस प्रकार की ध्रुव प्रतीति अमृत का सेतु या पुल है, जिसके द्वारा मनुष्य मृत्यु से पार हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अमृतप्राप्ति की यह अवस्था बहुत ही सच्चे अर्थो में स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है, केवल कहने-सुनने से इसका कुछ सम्बन्ध नही है। और यह बात भी नही है कि अनुभव की इस दशा का मनुष्य के शरीर और मन पर कुछ प्रभाव न होता हो। इस प्रकार का सात्विक अनुभव सच्चे वैज्ञानिक अर्थो मे हमारे भौतिक शरीर और मन पर भी प्रभाव डालता है। सत्व गुण की वृद्धि से इन्द्रियों के दोष हटने लगते हैं। शरीर और मन दोनों निर्मल और दोषरहित हो जाते हैं। निर्मलता या पवित्रता अमृत का उत्कृष्ट रूप है। किसी ज्ञानी को देखिए, आनन्द उसके अन्दर से फूटकर निकलता हुआ दिखाई देगा। आनन्द का ही दूसरा नाम अमृत है। मृत्यु का रूप विषाद या दु.ख है।

योग और अमृत

योग-साधन को अमृत-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय माना गया है। योगशास्त्र में जिस जीवन-क्रम का उपदेश दिया गया है, उसके अनुसार यदि हम ब्रह्मचर्यादि यम-नियमों को प्राप्त कर सके और आसन-प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शुद्धि और प्राण की शक्ति को प्राप्त कर लें तो हम जीवन में अमृत-भाव को अधिकांश मे प्राप्त कर लेते हैं। शत-प्रतिशत जीवन की प्रतीति का नाम अमृत है। यदि हमारा मन बुझा हुआ है, यदि हमारी नाड़ियों मे शुद्ध उत्तम रक्त का प्रवाह नही है, तो हम जीते-जी भी मृत्यु के वशीभूत हो गये हैं। हमारे भीतर जो प्राण-शक्ति (Vital Force) है, उसी का नाम अमृत है। बच्चे के भीतर यह प्राण-शक्ति या जीवन की धारा इतनी बलवती होती है कि उसके मन.क्षेत्र मे मृत्यु का भाव कभी आता ही नही। यह असम्भव है कि बच्चे को हम मृत्यु का ज्ञान करा सकें। ऊर्जित प्राणधारा के कारण उसके मन में मृत्यु का भाव घुसता ही नही। किसी ने कहा है:—

'It is not death but departure of life that is painful'.

अर्थात् मृत्यु दु.ख का कारण नही है। प्राण या जीवन

का लोप वस्तुतः दुःखप्रद है। आयु के प्रथम भाग में प्राण या जीवन भरपूर रहता है। उसमें मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं व्यापता। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, मृत्यु का आक्रमण हमारे शरीर और मन पर प्रत्यक्ष होने लगता है। शरीर में मलों का सचय हो जाता है, नस-नाड़ियाँ कड़ी हो जाती है। मृत्यु के भौतिक रूप की मीमांसा करनेवाले पश्चिमी वैज्ञानिक नाड़ियों के क्षय और प्राणशक्ति के ह्रास को ही मृत्यु मानते है। यही जरावस्था है। जरा मृत्यु का पूर्व रूप है। 'मृत्यु और उसकी समस्याएँ' (Death and Its problems) पुस्तक के लेखक ने मृत्यु की परिभाषा करते हुए लिखा है-—

'I should thus, therefore, define natural death, or death from old age:

'*It is the inability of the Life-Force to* raise to the repuisite rate of vibration the nervous tissue upon which it acts, its manifestation thus being rendered impossible; अर्थात् मृत्यु उस अवस्था का नाम है जिसमे जीवनी शक्ति नाड़ियों को पर्याप्त मात्रा में संचालित करने में अशक्त हो जाती है, जिसके कारण जीवन की अभिव्यक्ति असम्भव बन जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि सशक्त शुद्ध नाड़ियाँ प्राण-शक्ति के लिए परम आवश्यक है। रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि इन सबसे अधिक मूल्यवान् नाड़ियाँ है। उपवास में सबसे पहले संचित दोष और मलों को जठराग्नि जलाती है। तब मेद, रुधिर आदि धातुएँ भस्म होने लगती है। परन्तु नाड़ियों को प्रकृति इतना मूल्यवान् समझती है कि चाहे उपवास के कारण मृत्यु भी हो जाय तब भी नाड़ियों का क्षय नहीं होता। अंग्रेजी में एक कहावत है—A man is as old as his arteries' अर्थात् मनुष्य की आयु की नाप उसकी नाड़ियाँ है। हमारी आयु हमारी नाड़ियों की शक्ति पर निर्भर है। जरावस्था या बुढ़ापा जिसका नाम है उसमें नाड़ियों के भीतर बहुत-सा काला और कड़ा तलछट सञ्चित हो जाता है। अस्वाभाविक आहार-विहार से रक्त में अनेक विष तैरने लगने है। मनु ने जो आचार-दोष, अन्न-दोष और आलस्य के कारण मृत्यु का आक्रमण होना लिखा है उसमे शत-प्रतिशत वैज्ञानिक सत्य है।†

इस प्रकार की स्नायु-जड़ता और रक्त की विषाक्तता ‡ को हटाना मृत्यु के आक्रमण से बचना है। प्राचीन भारतीय परिभाषा में इन सब उपायों का अन्तर्भाव योग-विद्या मे है। अर्वाचीन विज्ञान में भी आहार और प्राकृतिक जीवन से आयु और स्वास्थ्य की प्राप्ति के अनेक उपायों का आविष्कार किया गया है। अधिक-से-अधिक मात्रा मे प्राण-शक्ति का शरीर के द्वारा अनुभव करना यही दोनों का लक्ष्य है। आसनो के द्वारा नस-नाड़ियो की शुद्धि और प्राणायाम के द्वारा शरीरस्थ मलों का नाश दोनों ही जरावस्था को दूर करते है। जिस प्रकार अग्नि मे तपाने से धातुओं के मल दग्ध हो जाते है, उसी प्रकार प्राण को रोकने से इन्द्रियो के दोष शान्त हो जाते है—मनु की इस उक्ति मे वास्तविक सत्य है। प्राणायाम *के द्वारा शरीर की जो शुद्धि होती है वह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं।* रंग का निखर जाना, स्वर का सुधर जाना, पाचन-शक्ति का नियमित हो जाना और श्वास में तथा मुख में सुगन्धि का आना—ये सब योग के लक्षण कहे गए है। अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार प्राकृतिक जीवन, उपवास, दुग्ध, फल, शुद्ध वायु, सूर्य की उन्मुक्त धूप आदि का सेवन शरीर को पुनः स्वस्थ करने के सर्वोपरि साधन है। रेडियम के द्वारा नाड़ी-चिकित्सा की विधि अथवा हिरण्मय पदार्थों (Radio-active elements) से शरीर के संचित दोषो की प्रतिक्रिया का उद्देश्य भी वही है जो प्राण-चिकित्सा का है। वैदिक साहित्य में प्राण और वीर्य को अमृत कहा गया है। वीर्य या रेत से बढकर शरीर को पवित्र बनानेवाला अन्य कोई हिरण्यमय (Radio-active) तत्त्व नही है—

रेतो हिरण्यम्। (तै० ३।८।२।४)

इसीलिए ब्रह्मचर्य योग-साधन का मूलमंत्र कहा गया है। शरीर के भीतर पचाया हुआ रेत सूक्ष्म से सूक्ष्म कोशिका को शुद्ध करता हुआ उसे चेतना और स्फूर्ति देता है। वह रोम-रोम में भिद कर हमारी नाड़ियों में अपूर्व विद्युत् और आकर्षण का संचार करता है। विद्युत्, प्राण या ओज का अनुभव अमृत का अनुभव है। प्राण और जीवन की संप्राप्ति शुद्ध वायु, जल, एवं सूर्य की रश्मियों पर निर्भर है। सूर्य की उपासना प्रकाश या अमृत की उपासना है। कहा है—

उद्यन् सूर्यो मर्त्येभ्योऽमृतं रश्मिभिरातनोति।

---

†अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति।

‡ स्नायु-जड़ता—Ossification, Arterio-sclerosis hardening of the arteries by induration. विषाक्तता—Poisoning of the blood-stream,

अर्थात् निकलता हुआ सूर्य अपनी किरणों से मरनेवालों के लिए अमृत दखेरता है । वैदिक दृष्टि से संसार मृत्यु और अमृत के सम्मिलन से बना है । दिन अमृत, रात्रि मृत्यु का रूप है । दिन में भी प्रात.काल अमृत और मध्याह्न के बाद का समय मृत्यु का रूप है । इसका साक्षात् प्रमाण यह है कि प्रात.काल के सूर्य में प्रकाश की किरण और सायकाल के सूर्य में ताप की किरण बलवती होती है । प्रकाश और ताप (Light-Heat) इन्ही दोनों में सूर्य-रश्मियो का आविर्भाव है । प्रकाश की किरणें नीली, सूक्ष्म और जीवनप्रद होती हैं । ताप की किरणे लाल, लम्बी और जीवन का क्षय करनेवाली होती है । यही नीललोहित इन्द्र-धनुष है—

स धनुरादत्त, तदेवेन्द्रधनुः ।
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ।
(अथर्व० १५।१।७)

वैज्ञानिक भाषा मे कहें तो अल्ट्रा-वॉयलट और इन्फ्रा-रेड (पर-नील और पर-लोहित) के बीच का स्पेक्ट्रम (रश्मिपट्ट) ही वह धनुष है, जो जीवन और मृत्यु का विधायक बना हुआ है । वह जिसकी चिकित्सा करना चाहता है उसे नील रश्मियो से ढक देता है ; जिनका नाश करना चाहता है उसे लोहित रश्मियों मे बींध डालता है । नील और लोहित ज्ञान और कर्म के प्रतीक हैं । इन्ही के नामान्तर समाधि और व्याधि हैं । नील से शान्ति और लोहित से क्षोभ प्रकट होता है । इसीलिए ध्यान से हम शान्ति, अमृत और शक्ति की ओर अग्रसर होते हैं । कर्म मे क्षोभ, मृत्यु और व्याधि की ओर जाते हैं । योग का पर्यवसान ध्यान और समाधि है । चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहा गया है । चित्त को नाना प्रकार की खंडित वृत्तियों मे बाँटने से हम शक्ति और प्राण का अपव्यय करते हैं । प्राण का क्षय मृत्यु की प्राप्ति है । प्राण की रक्षा ही अमृत की प्राप्ति है । जिस मात्रा मे हम अमृत पर अधिकार कर लेते हैं उसी मात्रा में मृत्यु हमारे जीवन से दूर हट जाती है—

अमृतान्मृत्युः निवर्तते । (श० १०।२।६।१९)

अमृत और सोम

मनुष्य की कल्पना है कि देवता अमृत पीकर अमर हो गए हैं । देवो को अमृतप्राशन या अमृत खानेवाला कहा गया है । देवो ने सोम पिया और अमर हो गए—

अमृपाम सोमममृता अभूम ।

मनुष्य भी यदि सोम पी सके तो अमर बन सकता है । वैदिक परिभाषा के अनुसार रेत की संज्ञा सोम है । शरीर में रेत के पाचन मे अमरपन मिलता है । प्राण की संज्ञा सोम है । प्राण की रक्षा से अमृतत्व प्राप्त होता है । सोम की एक संज्ञा मधु है । जितना माधुर्य या मिठास है वह सोम है । शरीर की प्रत्येक घटक कोशिका (Cell) अपने भीतर मधु या सोम का संचय रखती है । जब मधु-संचय की यह शक्ति अस्त-व्यस्त हो जाती है और कोशिकाओं का मधु छीजने लगता है तभी शरीर की कोशिकाओं को मृत्यु अभिभूत कर लेती है। शरीर मे विष (Toxins) के संचय से मधु-संचय की प्रक्रिया बिगड जाती है । शरीरस्थ कोशिकाओं के निर्विषीकरण (detoxination) से पुनः सोम पीने या मधु को शरीर में पचाने की शक्ति उत्पन्न होती है । सोमपान ही अमृतपान है । शरीरस्थ सूक्ष्मतम रस (Cerebro-spinal fluid) हमारे भीतर सोम या अमृत है, जो केन्द्रीय नाड़ी-जाल का सिंचन करता है, जिससे मस्तिष्क की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शिराएँ पुष्ट और शुद्ध होती हैं। इस सोमपान से शरीर के भीतर जो पृथक्-पृथक् इन्द्रियों के देवता हैं वे बनते हैं ।

अमृत और देवता

अधिदैव जगत् मे जो नित्य पदार्थ हैं, उनके अनुकूल जो जीवन-क्रम है उसे अमृत-जीवन कहा गया है। सूर्य और चन्द्र, वायु और जल इनका जीवन अमर है। मनुष्य के जीवन का अन्त कर डालनेवाली मृत्यु इन विराट् शक्तियों पर आक्रमण नही करती । सृष्टि के आदि से अन्त तक सूर्य का जीवन उसी प्रकार एकरस और प्राणमय बना रहता है । अमर बनने के लिए आवश्यक है कि हम उस दैवी प्राण की उपासना करें जो सूर्य और चन्द्रमा में है अर्थात् जो विराट् है एवं मृत्यु से अतीत है । वह दैवी प्राण कहलाता है जो कभी व्यथित नहीं होता, जो कभी नहीं रिसता—

स वै दैवः प्राणा योः न व्यथतेऽयो न रिष्यति ।
(श० १४।४।३।६।२)

इसीलिए अमृत-प्राप्ति का एक अति आवश्यक विधान यह है कि हम इस सृष्टि की विराट् शक्तियों के साथ सम्पर्क प्राप्त करें । ये विराट् शक्तियाँ देव हैं। मनुष्यो से जिसका सम्बन्ध है वह मर्त्य या परिमित है। देवो से जिनका सम्बन्ध है वह अमृत और अपरिमित बन जाता है । उदाहरणार्थ मनुष्य की आयु केवल सौ वर्ष है अतएव परिमित और मर्त्यभाव से युक्त है । सूर्य आदि देव कल्पान्त तक एकरस रहते हैं, वे अमर हैं।

मनुष्य के भीतर स्वल्प प्राण रहता है, जो मर्त्य है। सूर्य में अनन्त प्राण-शक्ति है, उस पर मृत्यु का हमला नहीं हो सकता, इसलिए वह अमर है। मनुष्य के पास भी यदि प्राण का अखंड और अक्षय्य स्रोत हो जाय तो वह भी अमृत का उपभोग कर सकता है। इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने मन को विराट् भाव से युक्त बनाना चाहिए। बहते हुए जल के साथ जो तरङ्गित हो सकता है, स्वच्छन्द वायु में जो विहार कर सकता है, सूर्य-प्रकाश में खुले हुए आकाश के नीचे जो गहरी साँस ले सकता है उसने मानो जीवन की क्षुद्र चाहरदीवारी के बाहर विराट् के साथ तन्मय होने का मंत्र जान लिया है। अमृत जीवन के लिए नदियों के मुक्त जल में स्नान करने का, फूँस की कुटियों में रहने का महत्व राजप्रसाद के घिरे हुए जीवन से कहीं अधिक है। हमारे परम्परा-प्राप्त राष्ट्रीय जीवन में इस प्रकार की जो अनेक विशेषताएँ हैं और वार्षिक तिथिक्रम में प्रकृति के साथ मिलकर विचरने की जो सनातन योजनाएँ हैं उनका अध्ययन और पुनरुद्धार होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय नीलाम्बर के नीचे मलयानिल के साथ स्वच्छन्द सुपर्णों की तरह हमारे पूर्वजों ने जो रहना सीखा था उस अमूल्य जीवन-क्रम से पराङ्-मुख हो जाना मृत्यु का आवाहन करना होगा।

आयु-सूत्र

हमारे अन्दर जो आयुसूत्र है उसकी पूर्णता को ऋषियों ने अमृत कहा है। अर्थात् यदि हम सौ वर्ष की आयु तक देखते और सुनते हुए, बोलते और साँस लेते हुए, स्वस्थ और बलिष्ठ होकर जीवित रहें तो मानो हमने अमर जीवन को पा लिया—

एतद्वै मनुष्यस्य अमृतत्वं यत्सर्वमायुरेति।

(श० ९।५।१।१०; तांड्य २४।१९।२)

अर्थात् सारी आयु तक हम जीवित रहें, यही हमारा अमृतपना है। मनुष्य की आयु एक यज्ञ है—

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्।

हम चाहते हैं कि हमारी आयु में यज्ञ का भाव उत्पन्न हो, अर्थात् यह यज्ञ कहीं पर खंडित न हो। जैसे यज्ञ प्रातः, माध्यंदिन और सायंसवन के बाद पूर्ण होता है वैसे ही हमारी आयु भी पूर्ण हो यही दैवी विधान है। यज्ञ का बीच में खंडित होना आसुरी कहा जाता है। मनुष्य-जीवन में अमृत की कल्पना करनेवाले मनीषी यह जानते थे कि मानव-जीवन की स्वाभाविक मर्यादा सौ वर्ष की है—

शतायुः पुरुषः। (ताड्य २५।८।३)

सौ वर्ष की अवधि तक आयु के यज्ञ का चलते रहना ही दैवी विधान के अनुकूल है—

यावदेवायुस्तदवरुन्धते। न ह्यत्यायुषं सत्रमस्ति।

जब तक आयु है तब उसका उपभोग है। आयु के बाद यज्ञ चालू नहीं रह सकता।

इस दृष्टि से सौ वर्ष तक स्वस्थ जीवन का निर्वाह मनुष्य कर सके यही अमृत की प्राप्ति है—

य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतद-मृतमाप्नोति। (श० १०।२।६।८)

जो सौ वर्ष तक या उससे अधिक जीता है वह अमृत पा लेता है। सौ वर्ष की आयुष्य-मर्यादा के आधार पर ही चार आश्रमों का सुन्दर विधान रचा गया है। इस शत सांव-त्सरिक जीवन मे मुख्य बात है, आयु का सूत्र। आयु नाम है ओजस्वी, बलिष्ठ जीवन का। केवल जिस किसी तरह घिसटते रहकर जीते रहने का नाम आयु नहीं है। सैकड़ो मनुष्य ऐसे हैं जो साँस तो लेते हैं पर जीवित नही हैं। उनमें प्राण की धारा का लोप हो चुका है। उनका उत्साह और मानसिक तेज क्षीण हो गया है। उस जीवन को आयु नही कहा जा सकता। शत-प्रतिशत जीवन की अनुभूति ही वास्तविक आयु है, उसी का नाम अमृत है। जहाँ मन और प्राण का तेज जीर्ण नहीं हुआ, वहीं जीवन या अमृत का निवास समझना चाहिए। मनुष्य शरीर से मर्त्य होते हुए भी प्राण और मन से अमृत है। अमृत की प्राप्ति मनुष्य के लिए इसी जीवन में सम्भव है। प्रकृति में जो अमृत के स्रोत हैं उनकी उपासना करने से हम मृत्यु को वशीभूत करके अमृत का अनुभव करते हैं।

अमृत और प्राण

विश्व में जो प्राण के स्रोत हैं वे ही अमृत की प्राप्ति के स्थान है। अमृत कहाँ मिलता है, इस प्रश्न का उत्तर यही है—जहाँ-जहाँ प्राण है वहीं-वहीं अमृत को सच्चे अर्थों में प्राण का पर्याय कह सकते है।

अमृतम् वै प्राणाः। (श० ९। १। २। ३२।)

जिस वस्तु में और जिस मनुष्य में प्राण की जितनी अधिक मात्रा होगी उसमे अमृत भी उतना ही अधिक समझना चाहिए। अर्वाचीन विज्ञान में विटामिन की खोज प्राणतत्त्व की खोज है। विटामिन क्या पदार्थ है, इसके स्वरूप की निश्चित मीमांसा नहीं की जा सकती। परन्तु वह अवश्य ऐसा तत्त्व है जिसकी सत्ता जीवन के लिए परम उपयोगी और अति आवश्यक है। ताजे शाक और फलो में, शुद्ध दूध और जल में यही प्राण-शक्ति

अधिक मात्रा में पाई जाती है। इसीलिए जीवन के लिए इनका अधिक महत्व है। कमरे में बन्द होने के कारण जिस वायु का संचार रुक गया है, सरोवर में सीमित होने के कारण जिस जल का प्रवाह बँध गया है, उसमें प्राण की धारा का संपर्क लुप्त होने के कारण जीवनी-शक्ति उतनी ही मात्रा मे कम हो जाती है। यज्ञ की भाषा में कहें तो वहते हुए जल में मित्र का आधिपत्य रहता है। ठहरे हुए जलों मे वरुण अपना घेरा डालकर आसुरी भाव उत्पन्न कर देते हैं। जब मित्र का संबंध देवों से है, वरुण का असुरों से। जहाँ आसुरी भाव रहता है वहाँ क्षुद्रता और दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। शरीर में जो शुद्ध रक्त का प्रवाह है वह मित्र देवता के साथ संबद्ध है। अतएव वह दिव्य और अमृत है। जहाँ शुद्ध रक्त का संचार नही हो पाता वहीं मवाद या सड़न उत्पन्न हो जाती है। यही वरुण का आसुरी भाव है। असुरों में मृत्यु का भाव है। उसी व्रण को शल्य या औषधि के द्वारा जब प्राणमय रक्त के प्रवाह से संयुक्त कर देते है तब वह स्थान भी शरीर के अमृत-चक्र के साथ जुड जाता है। शरीर के भीतर शुद्ध और अशुद्ध रक्त तथा अन्य समस्त धातुओं के स्नायु-संस्थापन है। शुद्ध रसों का प्रवाह करनेवाली धमनियाँ अमृत की प्रणाली है। अशुद्ध रसों के स्रोत मृत्यु के निवासस्थान हैं। मृत्यु को अमृत में परिणत करने की क्रिया शरीर में प्रति क्षण चलती रहती है। बाहर विश्व में हमारे चारों ओर भरा हुआ जो अमृत या प्राण का भंडार है इससे हम अमृत पाकर या प्राण को अपने अन्दर पचाकर शरीरस्थ मृत्यु का निराकरण करते हैं। हमारे शरीर की रचना इसी मौलिक आधार पर खड़ी हुई है। फेफड़ों के द्वारा शुद्ध वायु के संसर्ग से रक्त के दोषों को दूर करने की क्रिया मानव के लिए कितनी महत्वपूर्ण है! यह अमृत और मृत्यु का सनातन द्वन्द्व है जो हमारे अस्तित्व के लिए परम आवश्यक है। इसीलिए वैदिक विज्ञान की दृष्टि से यह कहा जाता है कि अमृत और मृत्यु दोनों एक साथ हमारे शरीर में रहते हैं। दोनो के कार्य और क्षेत्र अलग-अलग बँटे हुए हैं। उनमें जब गडबड़ी हो जाती है तभी रोग उत्पन्न होता है, अर्थात् प्रकृति का सुन्दर प्रवर्तित चक्र बिगड़ जाता है। इसी का परिणाम मृत्यु है। यह सनातन वैज्ञानिक सत्य है कि सत्य और अनृत, श्री और पाप, ज्योति और तम, इनके मार्ग अलग-अलग है। दोनों को प्रजापति ने एक ही शरीर में रहने का स्थान दिया है। परन्तु हमारी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इनका संकर कभी न होने दें—

न इत् ज्योतिश्च तमश्च संसृजावेति। (श० ५।१।२।१७)

अमृत के साथ मृत्यु का संकर ही मृत्यु का आवाहन है।

अमृत और अश्विनी

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं। वे मृत्यु को हमसे परे हटाते हैं—

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्
देवानामग्ने भिषजा शचीभिः। (अथर्व ७।५३।१)

कथा है कि बूढ़े च्यवन ऋषि को अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा करके फिर से युवा बना दिया था। च्यवन क्या है, और अश्विनीकुमार कौन है? हमारी शरीरस्थ प्राणशक्ति (Metabolic force) बालपन में अत्यन्त शक्तिशाली रहती है। उस समय उसकी संवर्धनात्मक प्रवृत्ति (Anabolic rate) क्षयात्मक प्रवृत्ति (Katabolic rate) से अधिक बलवती रहती है। यौवन में ये दोनों बराबर तुली रहती है। आयु के तीसरे भाग या वृद्धावस्था में क्षयधर्म उग्र हो जाता है। यह अवस्था ह्रास या घटने की है। इसी का नाम च्यवन अवस्था है। शरीर में जब च्यवन धर्म घर कर ले, शरीर की शक्तियाँ बढ़ने के स्थान में घटने लगें, तब उसकी प्रतिक्रिया तीन उपायों से हो सकती है—१. आसुरी, २. मानुषी, ३. दैवी। शल्य चिकित्सा या ग्रन्थियो की चीरफाड़ के द्वारा जरा को हटाने का उपाय आसुरी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह स्वल्पकाल तक ही फल देता है। इससे शरीर को कुछ काल के लिए ही पुनर्यौवन प्राप्त हो सकता है। औषधि-वनस्पति आदि के द्वारा जो चिकित्सा-विधि है वह मानुषी विधान है। पृथ्वी पर नाना प्रकार की वीर्यवती औषधियाँ है। अमृत, रुद्रवन्ती, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, गोरखमुंडी आदि औषधियों में सूर्य-रश्मियों ने संचित प्राणशक्ति निहित है। उनके सेवन से पुनर्यौवन की प्राप्ति संभव है। परन्तु इससे भी उत्कृष्ट दैवी उपाय योग-उपासना या प्राण-चिकित्सा है। प्राण और अपान ही देवों के वैद्य है जो हर एक शरीर में विद्यमान है। प्राण-चिकित्सा से मन और शरीर का जो पुनर्निमाण हो सकता है वह अन्य किसी प्रकार से संभव नही। अश्विनीकुमार ही सच्चे रूप में च्यवन या क्षयिष्णु मनुष्य को फिर से युवा बनाकर अमृत का भोगी बना सकते हैं। ऊर्जित प्राण का अधिपति मनुष्य ही रह सकता है—

न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। (ऋ० १०। ४८। ५)

अर्थात्, मैं कभी भी मृत्यु के लिए नहीं बना।

पृथ्वी
की कहानी
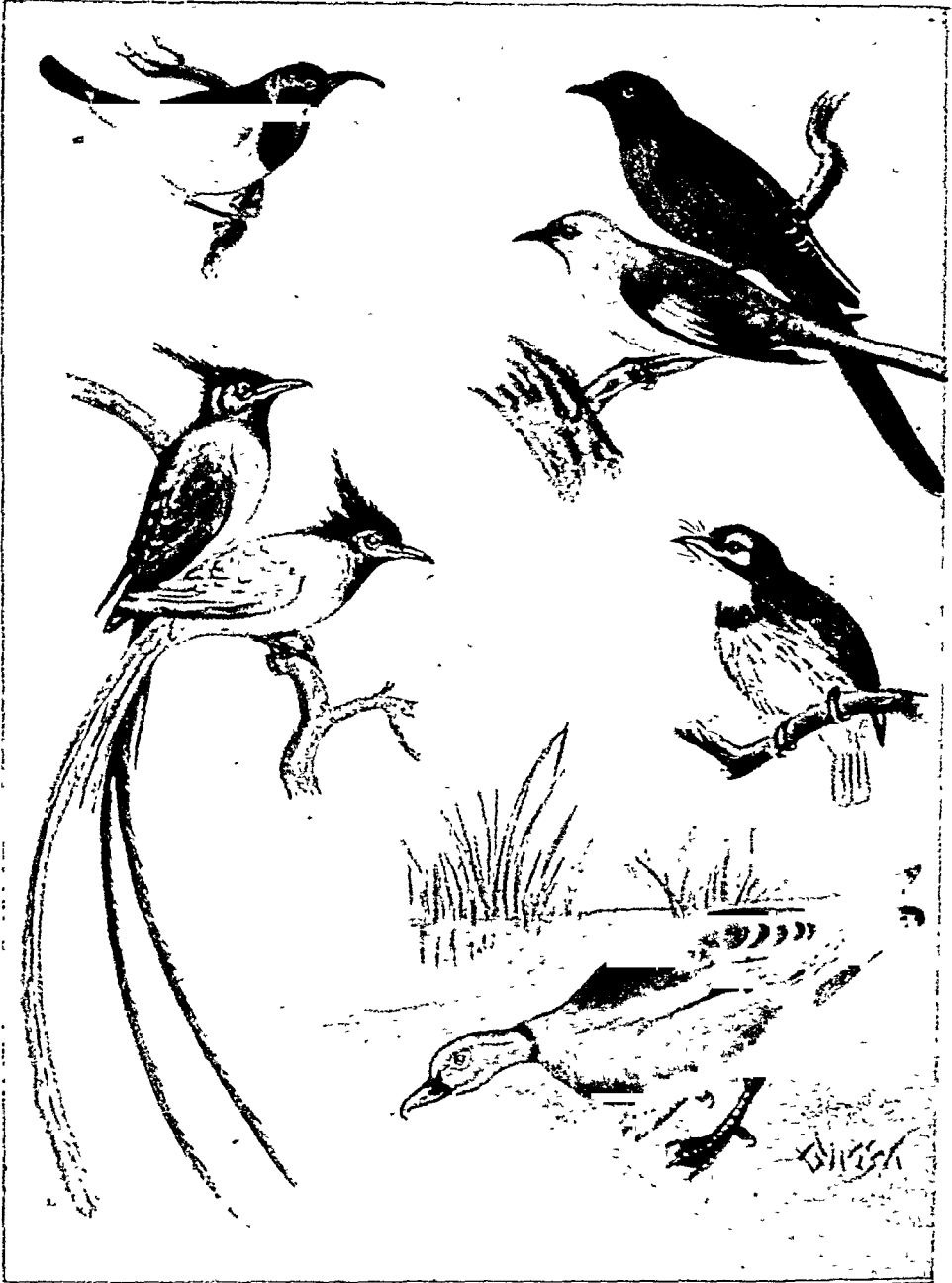
हमारे देश के कुछ प्रसिद्ध पखेरू

(कृपया वाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए)

सब से ऊपर की पंक्ति—शकरखोर और लाल मुनिया (नर तथा मादा);

बिचली पंक्ति—मछमरनी (नर और मादा) तथा ठठेरा;

निचली पंक्ति—चकवा या सुरखाव ।

भूपृष्ठ की चट्टानों का विखण्डन और क्षय

वायुमण्डल और मौसम का कार्य

यह जानने के लिए कि पृथ्वी में जन्म के उपरान्त क्या-क्या परिवर्तन हुए और कब, हम इस बात का मनन आरम्भ करते हैं कि पृथ्वी में नित्य क्या-क्या परिवर्तन होते रहते हैं और कैसे ? भूतत्त्वशास्त्र का सिद्धान्त है कि 'वर्त्तमान के हाथ में भूतकाल की कोठरी की कुञ्जी है' अर्थात् जो आज हो रहा है वैसा ही अतीत से घटित होता आया है । इसी सिद्धान्त से हम पृथ्वी की रचना तैयार करेंगे ।

प्रारम्भिक चिप्पड़

पृथ्वी की सृष्टि के आरम्भ में, जब चिप्पड़ की रचना नहीं हुई थी, पृथ्वी-पिण्ड के भीतर आग्नेय पदार्थ भरे थे, जो ज्वालामुखियों के रूप में निरन्तर उबलते रहते थे। धीरे-धीरे जब ज्वाला कुछ शान्त हुई, तो लावा (Lava) जैसा पदार्थ जमकर कठोर हो गया और आरम्भिक चिप्पड़ की रचना हुई । इस समय तक पृथ्वी पर भाप और वायुमण्डल का जन्म हो चुका था । नवजात चिप्पड़ अभी बिल्कुल आजकल जैसा ठण्डा न हो पाया था । भीषण वर्षा होती थी, बादल आते थे और कौंधा लपकता था । ऐसी दशा सहस्रों वर्षों तक रही । इसका प्रभाव यह हुआ कि नवजात चिप्पड़ ठण्डा होकर सिकुड़ने लगा और उसमें दरारें पड़ने लगीं । इन दरारों में वर्षा का जल समाने लगा और उसके प्रवाह के वेग से दरारें नालियों का और नालियाँ नदियों का रूप धारण करने लगी । कालान्तर में यह दरारें बड़ी-बड़ी घाटियों में परिणत हो गईं और उनके बीच में बहनेवाली तीव्र वेगगामी नदियों का पाट चौड़ा होता गया ।

इस समय तक प्रारम्भिक आग्नेय पदार्थ जमकर आज-कल-जैसा ही कठोर हो गया और हम उसको चट्टान के नाम से पुकार सकते हैं । हम पहले बता चुके हैं कि आज-कल के चिप्पड़ की रचना तीन प्रकार की चट्टानों से हुई है। प्रारम्भिक चट्टान आग्नेय चट्टान ही है । इसी के नष्ट-भ्रष्ट और क्षय होने से प्रस्तरबद्ध चट्टानों के निर्माण का मसाला तैयार हुआ । इसके उपरान्त भूगर्भ की ज्वाला और भीषण ताप तथा दबाव ने परिवर्तित चट्टानों की रचना की ।

प्रकृति के भूत और भौगर्भिक शक्तियाँ

आरम्भ में जब केवल आग्नेय चट्टानें ही थीं, प्रकृति के भूत इन्हीं को नष्ट-भ्रष्ट करके चिप्पड़ को समतल बनाने में संलग्न थे । आग्नेय चट्टानों के छीलन से जब प्रस्तरबद्ध चट्टानें बनकर सागर-गर्भ से ऊपर आने लगी, तब इनका भी क्षय आरम्भ हुआ और फिर नई चट्टानों की सृष्टि हुई । इधर प्रकृति के भूत चिप्पड़ को समतल बनाते रहे, उधर भूगर्भ की हलचलों ने चिप्पड़ को बराबर कहीं ऊँचा कहीं नीचा बनाये रखने की क्रिया जारी रक्खी । भौगर्भिक शक्तियों और प्राकृतिक शक्तियों की यह होड़ आज तक समाप्त होने को नहीं आई । चिप्पड़ के जितने ऊँचे-ऊँचे आकार हैं, चाहे वे आग्नेय चट्टानों के बने हों, चाहे स्तरबद्ध शिलाओं के अथवा परिवर्तित चट्टानों के, प्रकृति के भूत उन्हें छिन्न-भिन्न, खण्ड-खण्ड और नष्ट-भ्रष्ट करने में निरन्तर लगे रहते हैं, और कालान्तर में जहाँ ऊँची-ऊँची पर्वत-शृंखलाएँ दिखाई पड़ती थीं, वहाँ चौरस समतल मैदान दिखाई पड़ते हैं । परन्तु भौगर्भिक शक्तियाँ भी हार माननेवाली नहीं हैं । जब उनको अवसर मिलता है, वे अपना पराक्रम दिखाती हैं । फलस्वरूप पृथ्वी हिल उठती है, भूतल के आकार बदल जाते हैं और चिप्पड़ पर नई घटनाएँ होने लगती हैं । जहाँ जल होता है, वहाँ स्थल और जहाँ महासागर होते हैं, वहाँ हिमालय-जैसे पर्वत निकल आते हैं । यहाँ पर हम पहले यह दिखायेंगे कि पृथ्वी के प्रधान अवयव और चट्टानें किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट होती हैं और उनके क्षय में कौन शक्तियाँ लीन हैं ।

सूर्य का प्रभाव

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस परम तेजस्वी सूर्य से पृथ्वी का जन्म हुआ है, उसी की शक्ति से चिप्पड़ का क्षय होता है। पृथ्वी के चारो ओर जो वायुमण्डल का वेष्ठन है, उसी के द्वारा सूर्य-शक्ति चिप्पड़ का क्षय करती है। वायुमण्डल का परिवर्त्तन और मौसम का होना सूर्य पर ही निर्भर है, यह हम पहले बता चुके हैं। वायुमण्डल और मौसम के दूतो द्वारा ही चिप्पड़ का निरन्तर क्षय होता है। इन दूतो में वर्षा, बर्फ, वायु और ताप का घटना-बढ़ना प्रधान है। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार सूर्य इन दूतों को शक्ति प्रदान करता है। 'धरातल की रूप रेखा' के प्रकरण में हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि सूर्य के द्वारा किस प्रकार वर्षा आदि का जन्म होता है।

खण्डन और विश्लेषण

चिप्पड़ का क्षय दो प्रकार से होता है। प्रथम विखण्डन और दूसरे विश्लेषण द्वारा। कुछ परिस्थितियों मे चट्टानों की क्षति मे पहले रासायनिक विश्लेषण (Decomposition) होता है और फिर विखण्डन (Disintegration), तथा कभी-कभी चट्टाने अन्य शक्तियो के प्रभाव से पहले खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाती हैं और तब खण्डित और चूर्ण चट्टानें रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। कभी-कभी इनमें से एक ही क्रिया होती है।

वर्षा-जल का कार्य

वर्षा का प्रभाव चिप्पड़ के क्षय में दोहरा पड़ता है। वर्षा के जल से चिप्पड़ के अवयवों का रासायनिक परिवर्त्तन और विश्लेषण भी होता है तथा खण्डन भी। केवल जल ही एक ऐसा कार्यकर्त्ता है जिसके द्वारा चट्टानों में रासायनिक परिवर्तन होता है और उसके अवयवों का विश्लेषण होकर क्षय होता है। अन्य कार्यकर्त्ताओं का प्रभाव केवल विखण्डन तक ही सीमित है। यह अवश्य होता है कि अन्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा विखण्डित चट्टानों का भी जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रासायनिक विश्लेषण होकर क्षय हो जाता है।

वर्षा का रासायनिक प्रभाव चट्टानों के अवयवों पर तीन प्रकार से पडता है—(१) चट्टानो के अवयवों या खनिजों के जल में घुलने से; (२) खनिजों के साथ रासायनिक सम्मिलन से, जिसे अंग्रेजी मे हाइड्रेशन (Hydration) कहते हैं; (३) खनिजों के साथ ऑक्सिजन का रासायनिक सम्मिलन कराने मे, जिसे ऑक्सीडेशन कहते हैं।

खुली चट्टानों पर वर्षा का सीधा प्रहार तो होता ही है, साथ ही चट्टानों की प्राकृतिक दरारों और संधों अथवा अन्य क्रियाओं के प्रभाव से उत्पन्न दरारो के द्वारा जल चट्टानों के भीतर प्रवेश कर जाता है और वहाँ रासायनिक प्रतिक्रिया आरम्भ करता है। चट्टानो के बहुत से अवयव पानी में घुलकर बह जाते हैं। जो अंश शेष रह जाता है, वह बहुधा इतना शक्तिहीन होता है कि छूने से बिखर जाय। चूने का पत्थर (Limestone) तथा इसी प्रकार के अन्य पत्थर, जैसे सेलखड़ी आदि, पानी मे घुलकर बह जाते हैं और इनकी चट्टानों के स्थान पर केवल मिट्टी अथवा बालू की छाँछ रह जाती है। यह इतनी शक्तिहीन होती है कि हवा के वेग से ही स्थानान्तरित हो जाती है।

कुछ प्रस्तरबद्ध शिलाओ की रचना जल में न घुल सकनेवाले कठोर बालू के समान खनिज-कणों और मिट्टी तथा किसी संयोजक पदार्थ के एकत्रित होने से होती हैं। जल में इन संयोजक पदार्थो के घुलकर बह जाने से जो शेष रह जाता है, वह बालू का ढेर होता है। यह बिना शक्ति-प्रयोग के ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

हाइड्रेशन अथवा जल-सम्मिलन से खनिजो में जो प्रतिक्रिया होती है, उसका एक विशेष प्रभाव पड़ता है। हाइड्रेशन के फलस्वरूप चट्टानों के खनिजों का आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से चट्टान के भीतर इतना अधिक दबाव हो जाता है कि भीतर ही-भीतर खनिज-कण पिसकर चूर्ण हो जाते हैं। बहुत-सी बड़ी-बड़ी चट्टानें केवल इसी के प्रभाव से छिन्न-भिन्न होकर क्षत-विक्षत होती हैं। हाइड्रेशन के प्रभाव से कभी-कभी चट्टानों के पर्त इस प्रकार अलग होकर गिर जाते हैं, जिस प्रकार करमकल्ला गोभी के पत्ते एक दूसरे से अलग होते हैं। ग्रेनाइट नामक आग्नेय चट्टान मे यह विशेषता बहुधा पाई जाती है।

ऑक्साइड्रेशन का प्रभाव अधिकतर लोहे के खनिज पर पड़ता है। लोहे के खनिज वर्षा के प्रभाव से ऑक्साइड रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। इस परिवर्तन के फलस्वरूप इन खनिजो का रंग भी बदल जाता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही शिलाखण्ड मे ऊपर के अवयवों का रंग भीतर के अवयवो से, जहाँ जल का प्रभाव नही पड़ता, सर्वथा भिन्न होता है। अवयवों के इस रासायनिक परिवर्तन से चट्टानों की बनावट में एक प्रकार का ढीलापन आ जाता है, जिससे वे जल्दी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

जल के प्रभाव से खनिजों की रासायनिक विश्लेषण की जो क्रिया होती है, उसमे फेल्सपार (Feldspar) नामक

खनिज का विश्लेषण बहुत महत्व का है। लगभग सभी प्रमुख आग्नेय चट्टानों मे यह खनिज पाया जाता है। जल की प्रतिक्रिया से इसका रूप मिट्टी में बदल जाता है। इस मिट्टी को क्योलीन के नाम से पुकारते है। जबलपुर की पहाड़ियों में पाई जानेवाली मिट्टी का जन्म फेलसपार नामक खनिज के विश्लेषण से ही हुआ है। इसी प्रकार दक्षिण के पठार में पाये जानेवाले अल्युमीनियम के खनिज से बाक्साईड तथा लैटिराइट का जन्म हुआ है। लोहे के खनिज लियोनाइट का जन्म भी खनिजों के रासायनिक विश्लेषण के फलस्वरूप होता है।

वर्षा-जल द्वारा चट्टानों का विखण्डन

जल के द्वारा चट्टानों का विखण्डन कैसे होता है, यह प्रत्येक स्थान की स्थिति पर निर्भर है। वर्षा जिस वेग से होती है, वैसा ही उसका प्रभाव पड़ता है। नित्यप्रति वर्षा होते हुए भी यदि केवल बूंद-बूंद जल गिरता है, तो उसका प्रभाव साल मे एक दिन मूसलाधार वर्षा होने की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होगा। पहाड़ों पर रहनेवाले जानते है कि वर्षा के वेग से किस प्रकार चट्टाने बहुधा फट पड़ती है। वर्षा के जल से किस प्रकार नदियों का जन्म होता है और नदियों के द्वारा चट्टानों की किस प्रकार क्षति होती है, यह हम आगे बतावेगे। वर्षा के कारण ठण्डे प्रदेशों में किस प्रकार चट्टानों का खण्डन और क्षय होता है, यह उन लोगों की समझ मे सरलता से आ जायगा, जिन्होंने शीतकाल में पानी के नलों को फटते देखा है। यदि पानी संकुचित स्थान में बन्द करके ठण्डा किया जाय, यहाँ तक कि उसका ताप शून्यांश से २० या २२ अंश कम हो जाय, तो न केवल वह जमकर कठोर बर्फ बन जायगा वरन् उसका आयतन इतना अधिक बढ़ेगा कि उसके जोर से वह संकुचित स्थान या तो बढ़ जायगा अथवा फट जायगा। संकुचित स्थान मे जमनेवाले बर्फ का दवाव (Pressure) लगभग ४२० मन प्रति वर्गइंच तक बढ़ जाता है। यही कारण है कि पानी के नल कागज की भाँति फट जाते है।

हम पहले बता चुके है कि चट्टानों की प्राकृतिक बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि उनमे दरारे और संधे पाई जाती हैं। वर्षा का जल इन्हीं संधों में भर जाता है और रात को जब भीषण शीत पड़ती है तब जमकर बर्फ बन जाता है। बर्फ बन जाने से उसका आयतन बढ़ता है और उसके जोर से चट्टान फट जाती है। यह क्रिया केवल बड़ी चट्टानों तक ही परिमित नहीं है, वरन् बड़े-बड़े खण्डों के छिन्न-भिन्न होकर बिल्कुल बालूकणों में बिखर जाने तक जारी रहती है। बड़ी-बड़ी ठोस पहाड़ियाँ और चट्टानें एकाएक फूट की तरह खिल जाती है और उनकी बड़ी दरारों में जल, वायु और ताप आसानी से पहुँच जाते है और उनको क्षत करते रहते है। बर्फ के प्रभाव से नष्ट-भ्रष्ट चट्टानों के खण्ड देखने से यह प्रतीत होता है मानो बढ़ई जैसे फन्नी द्वारा लकड़ी के कुन्दे फाड़ता है, उसी प्रकार इन चट्टानो को चीरा गया है, अथवा किसी बड़े भारी देव ने हथौड़े से उन्हे छितरा दिया है।

गरमी सर्दी का प्रभाव

सूर्य की तप्त किरणो के पड़ने से चट्टानो का ऊपरी भाग एकदम तपने लगता है। परन्तु चट्टानें गरमी की अच्छी चालक न होने के कारण उनके भीतर का भाग ठण्डा ही रह जाता है। इसका फल यह होता है कि ऊपर का भाग गरम होने से बढ़ जाता है और भीतर का भाग उसका साथ नही दे पाता। चट्टानो का ऊपर का तप्त भाग भीतर के भाग से छिलके की भाँति अलग हो जाता है। अलग हो गये चट्टानों के पर्त खण्ड-विखण्ड होकर गिर जाते है। रेगिस्तानो मे, जहाँ दिन को सूर्य की तेजी से चट्टानें बहुत अधिक तपती है और रात्रि को अधिक शीत पड़ने से एकदम ठण्डी होकर सिकुड़ने लगती है, चट्टानों का विखण्डन बड़ी शीघ्रता से होता है। इसका कारण यह है कि इन चट्टानों के खनिज तपने से जितने बढ़ते है, ठण्डे होने पर उससे कम या अधिक संकुचित होते है। फलस्वरूप चट्टानों के अवयवो मे नित्य एक प्रकार की खींच-तान बनी रहती है, जिससे चट्टाने निर्बल और खण्डित हो जाती है। चट्टानो के इस प्रकार खण्डित और निर्बल होने में रासायनिक प्रतिक्रियाओं का भी प्रभाव पड़ता है और खण्डन के साथ-साथ चट्टानों का विश्लेषण भी होता रहता है। सूर्य की गरमी से स्तरबद्ध चट्टानों के पर्त गरम होकर मोटे आदमियो के पेट की तरह फूल जाते है और थोड़ा दबाव या झटका लगने से चूर-चूर हो जाते है। बर्फ के प्रभाव से चट्टानों के खण्डन और गरमी-सर्दी द्वारा क्षत-विक्षत होने में इतना अन्तर है कि बर्फ चट्टानों को तोड़-तोड़ कर खण्ड-खण्ड कर देता है और गरमी-सर्दी से चट्टानों के पर्त-पर्त अलग होते हैं तथा केवल उतने ही भाग मे इसका प्रभाव पड़ता है, जहाँ सूर्य की किरणें पहुँच पाती है। सहारा आदि रेगिस्तानों में गरमी-सर्दी से नष्ट हुई चट्टानों के चित्रित दृश्य देखने में आते है।

चट्टानें आदि को क्षति पहुँचाने मे मनुष्य और

वनस्पतियाँ भी अपना महत्व रखते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता के लिए चट्टानों को खोद-खोदकर तथा तोड़-फोड़कर छिन्न-भिन्न करता है। मनुष्य द्वारा विखण्डित चट्टानो पर वायुमण्डल के कार्यकर्त्ता आकर अपना कार्य आरम्भ कर देते है और विखण्डन और विश्लेपण की क्रिया से चट्टानो को नप्ट-भ्रप्ट कर डालते है। वृक्षों की जड़ें भी चट्टानो को नप्ट करने में सहायता पहुँचाती है। उनके द्वारा जल और वायु को चट्टानो के भीतर जाने की राह मिलती है और वे अपनी क्रिया करने का अवसर पाते है।

चट्टानो का विखण्डन और विश्लेपण प्रत्येक स्थान के जलवायु के अनुसार होता है। जलवायु के ऊपर ही क्षय का वेग और मात्रा निर्भर होते है। रासायनिक विश्लेपण के लिए अधिक मात्रा में गरमी और जल का होना आवश्यक है। इसलिए इस प्रकार से चट्टानो का क्षय ध्रुव-प्रदेशो में, चाहे वहाँ कितना ही पानी क्यो न बरसे तथा रेगिस्तानों में, चाहे वहाँ कितनी ही गरमी क्यो न पड़े, वहुत ही धीमे वेग से तथा कम मात्रा में होता है। जिन स्थानों में गरमी भी अधिक पड़ती है तथा वर्पा भी अधिक होती है, उन स्थलो की चट्टानों की क्षति रासायनिक विश्लेपण से ही अधिक होती है।

सूखे और रेगिस्तानी प्रदेशों में चट्टानों की क्षति विखण्डन द्वारा अधिक होती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि जिन स्थलों मे वर्पा अधिक होती है वहाँ चट्टानो का विखण्डन होता ही नहीं। होता है वहाँ भी, परन्तु वहाँ विश्लेपण की क्रिया का प्रभाव इतना व्यापक है कि विखण्डन का महत्व पीछे पड़ जाता है। विश्लेपण के प्रभाव से चट्टानों के जीर्ण-शीर्ण अंश चट्टानो को ढाँप लेते है और उन पर धरती का आवरण चढ जाता है। धरती (Soil) के द्वारा विखण्डन की क्रिया छिप जाती है। परन्तु विश्लेपण बरावर होता रहता है। सूखे रेगिस्तानी प्रदेशो में, जहाँ धरती का आवरण नही होता, चट्टानों के विखण्डन को क्रिया बरावर होती रहती है और उसका प्रभाव एकत्रित रूप से हमे दिखाई देता रहता है। रेगिस्तानों मे गरमी-सर्दी के प्रभाव से चट्टानो के अवयवों में विस्तार और संकुचन सबसे अधिक हो ा है। वृक्षों के द्वारा विखण्डन केवल उन्ही प्रदेशों मे होता है, जहाँ वर्पा अधिक होती है और वृक्षों की वहुतायत है।

चट्टानों के खण्डन में स्थल के आकार और ऊँचाई नीचाई का भी विशेप प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही चट्टानों का ढलवाँ होना भी महत्वपूर्ण है। अधिक ऊँची तथा वहुत खड़े ढालवाली चट्टानें वहुत शीघ्रता से खण्डित और जीर्ण-शीर्ण होती है। ऊँचाई के साथ-साथ ताप कम होता जाता है। इस कारण अधिक ऊँची चट्टानों का वर्फ के प्रभाव से विखण्डन होता है। ऊँचाई के साथ-साथ वर्पा की मात्रा भी वढ़ती है। इस कारण सूखे प्रदेशो में भी ऊँची पहाड़ियों पर इतना जल एकत्रित हो जाता है कि वर्फ अपना विखण्डन का कार्य कर सके। हाइड्रेशन भी इसी कारण सम्भव होता है। ऊँचे पहाड़ो पर ताप का उलट-फेर भी जल्दी और अधिक होता है। इसलिए गरमी-सर्दी से होनेवाली क्षति भी पहाड़ो की चोटियों पर वहुत व्यापक है। पहाड़ियो के ढलवाँ होने से चट्टानो के विखण्डित और जीर्ण-शीर्ण अंश लुढककर नीचे चले जाते है। इससे उनके चूर्ण होने में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही चट्टानों के नप्ट-भ्रप्ट अग साफ होते रहते है और नये पर्त सदैव मौसम के प्रहार के सामने आते रहते है।

चट्टानों के विखण्डन और विश्लेपण मे उनकी रासायनिक रचना का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। चट्टान के कोमल अवयव वर्पा आदि के वेग से शीघ्र जीर्ण-शीर्ण हो जाते है। कठोर स्फटिक-शिलाओ पर वर्पा के वेग का प्रभाव नही पड़ता। दवाव और वोझा अथवा अन्य कारणो से अवश्य ही ये स्फटिक-प्रस्तर छिन्न-भिन्न हो जाते है। परन्तु तव भी इनकी रासायनिक रचना में अन्तर नही पड़ता। नन्हा कण हो जाने पर भी वह स्फटिक-कण ही रहता है। इसी कारण से स्फटिक शिलाएँ अन्य शिलाखण्डों की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है। ग्रेनाइट नामक आग्नेय चट्टान वहुत शीघ्र नप्ट-भ्रप्ट होती है और फेल्सपार नामक खनिज का परिवर्तन जगत्-विख्यात है। चूने के पत्थर की चट्टानों की दरारों और संधों में होकर पानी चट्टानों के भीतर पहुँचकर उन्हें घुला डालता है। कभी-कभी चट्टानो के भीतर भारी गुफाएँ केवल चूने के पत्थर के पानी में घुलकर वह जाने से ही हो जाती है। जहाँ पानी अधिक वरसता है, वहाँ चूने की चट्टानें घुल घुलकर जल्दी क्षत होती है, परन्तु जहाँ पानी विलकुल नही वरसता, वहाँ क्षय होने मे ये स्फटिक मे भी अधिक कठोर सावित होती हैं।

मौसमी कार्यकर्ताओं के साथ-साथ प्रकृति के अन्य गण भी अपना कार्य करते रहते है। जल की धारा विखण्डन या विश्लेपण द्वारा क्षत वडे-वड़े चट्टानखण्डों को लुढकाकर छिन्न-भिन्न करते-करते वालू के समान कर डालती है। वायु छिन्न-भिन्न चट्टानों के महीन चूर्ण को उड़ाकर कहीं का कहीं पहुँचा देती है। इनका विस्तृत हाल हम आगे पढेंगे।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर उल्लिखित प्राकृतिक शक्तियों के अलावा मनुष्य भी अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए भाँति-भाँति से भूपृष्ठ की तोड़-फोड़ करके धरातल का रूप-परिवर्तन करने में महत्वपूर्ण योग देता रहता है। उदाहरण के लिए, एक ओर यदि वह खेती के लिए धरती को जोत-जोतकर उसे निरन्तर समतल बनाता रहा है, तो दूसरी ओर कोयला, चूना, इमारती पत्थर, खनिज तेल तथा लोहा, ताँबा, अभ्रक, सोना, चाँदी आदि धातुओं की प्राप्ति के लिए हजारों साल से चट्टानों को विखंडित करता रहा है और गहरी खानें खोद-खोदकर भूपृष्ठ की शक्ल बदलता रहा है। फिर युद्ध के दौरान में या परमाणु-शक्ति की खोज के सिलसिले में परमाणु बमों के विस्फोट आदि से जो धूलि-राशि उसने पिछले दिनों इस पृथ्वीतल पर से उड़ाई है, उसका अनुमान कौन करे?

जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

पृथ्वी के अनवरत रूप-परिवर्तन में जल का प्रमुख हाथ है, यह हम पिछले एक लेख म बतला चुके है। आइए, इस लेख में देखें कि किस प्रकार बहता हुआ पानी पृथ्वी के स्थल-भाग का निरन्तर क्षय करता हुआ धरातल का परिवर्तन करता रहता है।

बहते हुए पानी की क्रिया मौसमी कार्यकर्त्ताओं की क्रिया के साथ-साथ निरन्तर होती रहती है। एक ओर तो बहता हुआ पानी विखण्डित और जीर्ण-शीर्ण चट्टानों को बहा ले जाकर, उन्हें धारा के वेग से आपस में टकराकर और रगड़कर तथा अपने थपेड़ों की आघात-प्रतिघात की शक्ति से उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करके, चट्टानों का क्षय करता है। साथ ही अपनी धारा की प्रबल प्रवाह-शक्ति से उन चट्टानों को भी घिसता और रगड़ता है, जिन पर होकर वह बहता है। घिसने और रगड़ने की क्रिया जल-धारा की तलहटी और कगारों दोनों मे ही निरन्तर होती है। जलधारा के प्रवाह-वेग मे मार्ग की चट्टानें और धरती क्षय होकर विलीन होती जाती है और जलधारा अपना मार्ग गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है। इसी प्रकार जल-प्रवाह की शक्ति से घाटियाँ और गर्त बनते हैं।

चट्टानों का क्षय किस प्रकार होता है

मौसमी कार्यकर्त्ताओं द्वारा क्षत-विक्षत चट्टानों के खण्ड वर्षा-जल के वेग से धारा के प्रवाह में पड़कर चकनाचूर हो जाते है। जल की नैसर्गिक शक्ति ही इतनी प्रबल होती है कि बड़े-बड़े ढोके उसमे पड़कर शीघ्र ही नष्ट और विलीन हो जाते है। चट्टानो का क्षय तीन प्रकार से होता है। प्रथम तो आपस की रगड़ और घर्षण के परिणामस्वरूप क्षय होता है। चक्की के दो पाटों के बीच में पड़कर जैसे दाना आटा बन जाता है, उसी प्रकार वेग से बहनेवाली जल की धारा में बहते हुए दो विशाल शिलाखण्ड आपस में टकराते और रगड़ते हुए, जल के थपेड़ो से उत्तेजित होकर एक-दूसरे को पीस डालते है और खण्ड-विखण्ड होकर जल में बह जाते है। छोटे-छोटे शिलाखण्ड विशाल चट्टानों के नीचे पिसकर बालू हो जाते हैं। तुरंत के टूटे हुए शिलाखण्डों के किनारे बड़े पैने और धारवले होते हैं। इसलिए वे जब जलधारा के वेग से बहते है, तो किनारो और तलहटी की चट्टानों और धरती पर बढ़ई के रन्दे की भाँति खुरचने का काम करते हैं। पैनी और तीक्ष्ण धारवाले शिलाखण्ड आपस में टकराते, रगड़ते तथा तलहटी की चट्टानो को खुरचते हुए और कगारों को चोट पहुँचाते हुए जल की धारा के वेग से बराबर आगे बढ़ते रहते है। जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते है, इनका आकार गोल-मटोल, चिकना और छोटा होता जाता है। अन्त में नष्ट-भ्रष्ट होते-होते ये बालुकणों में परिणत हो जाते हैं। रोड़े और बजरी आदि बालुकण बनने से पहले का इनका ही रूप है।

घर्षण का प्रभाव

चट्टानों के जल में घुलने की क्रिया का हाल हम पहल बता चुके है। जलधारा के प्रभाव से वे ही चट्टानें घुलती है, जिन पर होकर जल बहता है। चूना-पत्थर की चट्टानें जलधारा के प्रभाव से शीघ्र ही घुलकर विलीन हो जाती हैं। जैसे-जैसे घुलकर चट्टान जलधारा मे मिलती जाती है, नीचे के नये पर्त्त जलधारा के संसर्ग में आते है और वे भी कालान्तर में जल मे घुलकर बह जाते है। हमें यह न भूलना चाहिए कि जल में घुलने की क्रिया के साथ घर्षण की क्रिया भी होती रहती है। इस प्रकार की चट्टानों पर दोहरी मार पड़ती है और वे शीघ्र ही रास्ता छोड़कर जल-धारा के मार्ग को गहरा कर देती हैं।

'स्थानान्तरीकरण'

वहते पानी की धाराओं द्वारा चट्टानों को काटने, पीसने, घिसने और रगड़ने से जो छीलन आदि वनती है, उसको जलधारा कभी स्थिर नही रहने देती। धारा की तरंगों की चपेट से वह निरन्तर जलमग्न होती रहती है और धारा-प्रवाह मे पड़कर धारा के साथ-साथ आगे वढती रहती है। यह धारा की 'स्थानान्तरित करने की क्रिया' कहलाती है। 'स्थानान्तरित छीलन' मार्ग के उन स्थानो मे रुकती है, जहाँ धारा का वेग कम हो जाता है। ये या तो निचले मैदान होते है अथवा नदी के सगम। स्थानान्तरित पदार्थ कुछ तो जल के वेग से वहते है और कुछ जल मे घुले होने के कारण। वर्षा ऋतु मे नदियो मे वहुधा अत्यधिक वालू, मिट्टी और कीचड़ वहकर आती है। इसीलिए पानी गदा और मटमैला रहता है। जल का वेग कम हो जाने से ये पदार्थ तलहटी और किनारो पर महीन चिकनी तहो के रूप में वैठ जाते है और पानी स्वच्छ हो जाता है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि जलधारा के वेग के अनुसार उसमें छीलन आदि पदार्थ वहते है।

स्थानान्तरित करने की शक्ति प्रधानत: जलधारा के स्वभाव पर निर्भर करती है। धारा का वहाव सदैव समान और नियमित नही रहता है। मध्य भाग किनारों की अपेक्षा अधिक वेग से वहता है और ऊपर का भाग तलहटी के भाग से आगे रहता है। धारा के स्थान-स्थान पर मुड जाने और नीची-ऊँची भूमि पर वहने से उसमे 'भँवर' और लहरो का विकास होता है। धारा की उत्ताल तरंगो और भँवरो के कारण भी चट्टानो के जीर्ण-शीर्ण अंश पानी मे उठकर नाचते हुए आगे वढते जाते है। इस प्रकार के स्थानान्तरित अंश हल्के और छोटे होते है। भारी और वड़े टुकड़े नीचे तलहटी मे ही लुढकते रह जाते है और धीरे-धीरे आगे वढ पाते है। पहाड़ी देशों की जलधारा मे उद्गम के निकट विशाल शिलाखण्ड धारा की थोड़ी गहराई में भी वड़े वेग से आगे वहते है। धारा के संगम तक पहुँचते-पहुँचते ये विशाल शिलाखण्ड वालू और मिट्टी में परिणत हो जाते है।

वहते पानी की चट्टान काटने, छीलने और घिसने तथा वहाने की शक्ति धारा के आकार (आयतन) और उसके वेग पर निर्भर होती है। धारा का वेग चट्टानो अथवा भूमि के ढाल, पानी की मात्रा, धारा की चौड़ाई तथा उसमे वहनेवाले वोझ के अनुसार होता है। ढाल की गहराई के साथ धारा का वेग भी वढ़ता है। ढलवाँ पहाड़ियों में वहनेवाली जलधाराएँ वड़े वेग से वहती है और उनकी शक्ति भी महान् होती है। मैदानों में धाराएँ धीरे-धीरे वहती है और उनका भूतत्त्वीय महत्व कम होता है।

धारा मे जल की मात्रा उसके उद्गम और आसपास के प्रवाहक्षेत्र में होनेवाली वर्षा के ऊपर निर्भर करती है। इसी कारण धारा का वेग और उसकी काटने-छाँटने की शक्ति सदैव वदलती रहती है। यद्यपि यह अन्तर प्रायः क्षुद्र-सा होता है तथापि कहीं-कहीं धारा किसी समय विल्कुल सूख जाती है और किसी समय उसमे वाढ़ आ जाती है। गंगाजी का जल वर्षा ऋतु मे ३२ फीट तक अधिक ऊँचा हो जाता है। मिसीसिपी नदी के जल मे प्रतिवर्ष लगभग १२-२० फीट वाढ़ आती है।

धारा का पाट यदि कम चौड़ा होता है तो जल की क्रियाशीलता अधिक होती है। चौड़े पाट की धारा में जल-शक्ति मन्द पड़ जाती है।

स्वच्छ जल मे काटने-छाँटने आदि की शक्ति विल्कुल नही होती, परन्तु इसमे अधिकतर चट्टाने आसानी से घुल जाती हैं।

जलधारा द्वारा मार्ग-निर्माण

जलधारा अपना मार्ग विविध रूप से वनाती है और फिर धीरे-धीरे काट-काटकर उसे गहरा कर देती है। धारा की शक्ति के अनुरूप ही उसका मार्ग और घाटी वनते हैं। निरन्तर एक ही वेग से प्रवाहित होनेवाली धारा की अपेक्षा उस धारा की मार्ग वनाने की शक्ति अधिक होती है, जिसमें कभी हहराती वाढ़ आती है और कभी जल का अभाव हो जाता है। यद्यपि धाराएँ अपना मार्ग स्वयं खोज निकालती है, तथापि वने-वनाये मार्ग अथवा सुगम पथ की ओर वे पहले आकर्षित होती है। चट्टानों, दरारो अथवा फटी चट्टानों के गर्त मे धाराएँ शीघ्र ही घुस जाती हैं और उन्हे चौड़ा कर डालती है।

तीव्र वेगवती धारा के जल और उसमे वहनेवाले वोझे की रगड़ से धारा की तलहटी वहुत शीघ्र घिस जाती है और उसका मार्ग अधिक गहरा होता जाता है। धारा का वेग जितना ही अधिक होता है, तलहटी की भूमि उतनी ही तीव्रता से क्षीण होती है। तलहटी और कगारों के काटने, छाँटने और घिसने से धारा का मार्ग अधिक गहरा होता है और पहाड़ी प्रदेश मे घाटी का रूप धारण कर लेता है। मैदान मे धारा चादर की भाँति फैल जाती है, परन्तु पर्वतों के वीच में वह घाटी को और अधिक गहरी करती हुई नीचे वहती जाती है।
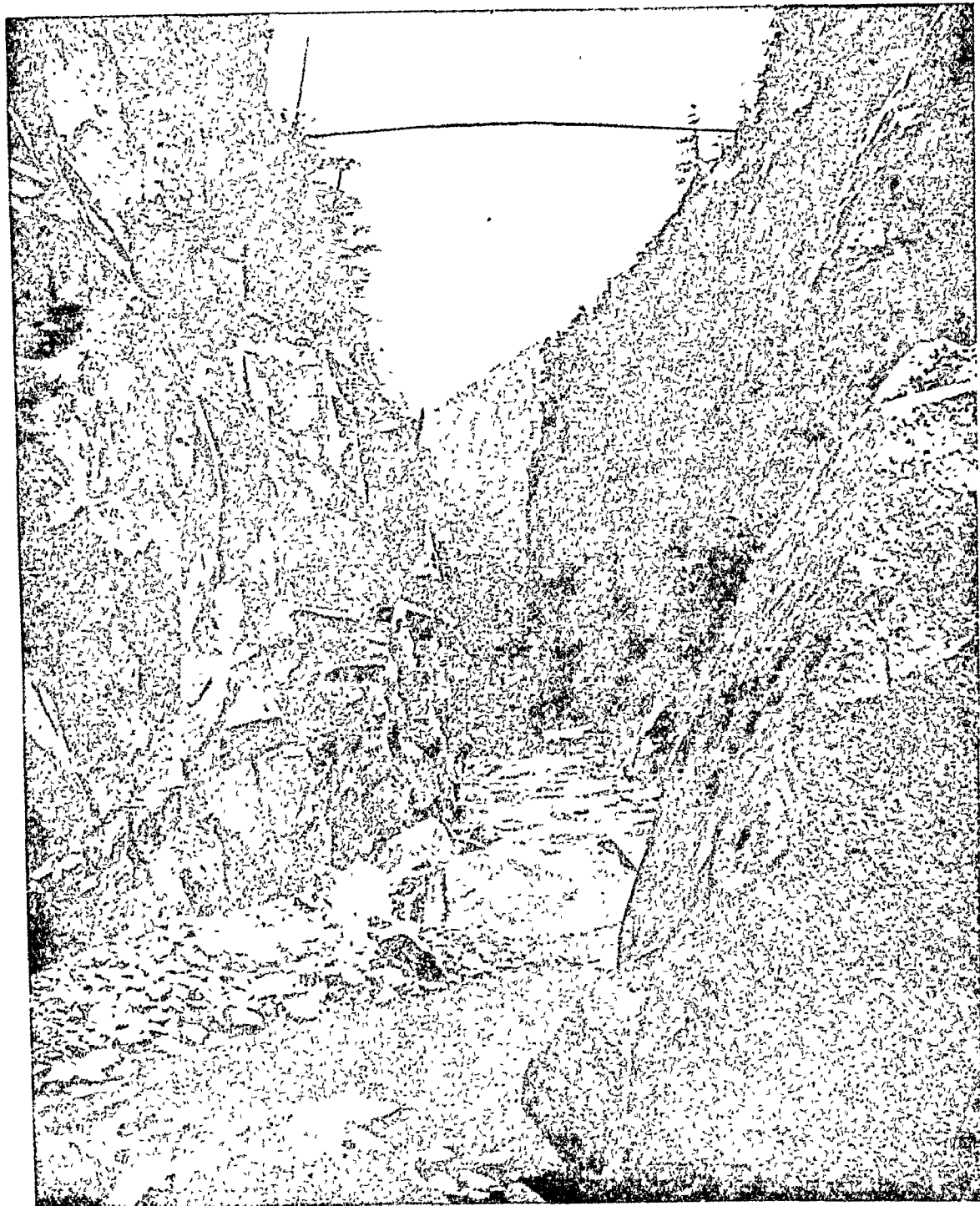
जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

इस चित्र में हिमालय की चट्टानों को अपने प्रवाह-वेग से काटते, घिसते और चूर्ण-विचूर्ण करते हुए नीचे उतरती हुई गंगा नदी का दृश्य है। इससे हम जान सकते है कि किस प्रकार जलधारा अपने प्रवाह-वेग से मार्ग को गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है और बड़े-बड़े शिलाखण्डों को आपस मे रगड़कर क्रमशः कंकड़-पत्थर और बालू बनाकर बहा ले जाती है।

प्रपात की रचना और घाटी का निर्माण

अपने मार्ग में यदि धारा ऊँची भूमि से एकाएक किसी गर्त में गिरती है तो प्रपात बन जाता है। प्रपात धारा के उद्गम की ओर हटता रहता है। प्रपात के पीछे हटने से धारा जिस गर्त मे गिरती है, उसकी लंबान बढ़ती है। कालान्तर में यह गर्त लम्बी और गहरी घाटी के रूप मे परिणत हो जाता है। प्रपात के ऊपर की चट्टानो अथवा नीचे की चट्टानो के नष्ट होने से ही प्रपात पीछे खिसकता है। जिस चट्टान पर प्रपात का जल ऊपर से नीचे गिरता है, वह यदि कड़ी होती है और ऊपर की चट्टान मुलायम अथवा भुरभुरी, तो धारा की तलहटी का मार्ग शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा घिस जाता है। ठीक उस स्थल की चट्टानो के घिसने और क्षय होने से, जहां से जल गर्त मे गिरता है, प्रपात के गिरने का स्थान भी पीछे हटता है। इस प्रकार पीछे हटता हुआ प्रपात अपने मार्ग मे गहरा आखात छोडता जाता है, जिसमें बहती हुई धारा आसपास की चट्टानो से छिपी हुई गहरी घाटी मे बहती ज्ञात होती है।

यदि प्रपात के ऊपर की चट्टानें कठोर होती हैं और नीचे की नरम, तो नीचे की चट्टाने चूर होकर, घुलकर, घिसकर अथवा जलवेग के आघात से नष्ट होकर विलीन हो जाती है और ऊपर की कड़ी चट्टान लटकी हुई रह जाती है। अधिक भारी होने से अथवा कोई झटका खाने से ये लटकी हुई चट्टाने गिर पड़ती है और प्रपात का जल थोड़ा पीछे हट जाता है।

पहली दशा मे घाटी बनाता हुआ प्रपात धीरे-धीरे विलुप्त हो जाता है, परन्तु दूसरी अवस्था में प्रपात बना रहता है और धारा के आरपार आरी की भांति काटता हुआ, घाटी बनाता धीरे-धीरे पीछे हटता है।

'भँवर गर्त'

धारा के जल में चक्र और भँवर उत्पन्न होने से भी धारा की तलहटी गहरी होती है। भँवर मे घूमनेवाले जल के वेग से तलहटी के पत्थर और रोड़े भी बड़ी तीव्रता से घूमते है। भँवर का वेग जितना ही तीव्र होता है, जलमग्न पत्थर और रोड़ो की शक्ति उतनी ही बढ़ती है। तेजी से नाचते हुए भँवर के कारण रोडे और पत्थर बढ़ई के बरमे की भांति धारा की तलहटी मे गहरे गोल गड्ढे करते है। इनको 'भँवर गर्त' कह सकते है, परन्तु इनका आकार बिल्कुल पेंदीदार वर्त्तन का-सा होने के कारण इन्हें अँगरेजी में 'पॉट होल' (Pot Hole) कहा जाता है। यदि बहुत से गर्त पास-पास हो जाते है, तो उनकी सीमा मिल जाने से तलहटी की गहराई बढ़ जाती है और धारा नीचे उतरती जाती है। पीछे हटनेवाले प्रपात के नीचे इस प्रकार के भँवर-गर्त असंख्य उत्पन्न होते हैं और धारा को नीचा करने मे सहायक होते है।

जलधारा बराबर अपनी तलहटी को घिसती और काटती जाती है। परन्तु इस गहराई की सीमा निश्चित है। अधिक-से-अधिक जिस गहराई तक धारा अपनी तलहटी को काट सकती है वह 'आधार-तल' कहलाता है। 'आधार-तल' और 'सागर-तल' सदैव समतल होते है; क्योकि सागर-तल के समीप पहुँचकर धारा अपनी तलहटी को गहरा करना छोड़ देती है। इसलिए आरम्भ से लेकर संगम तक धारा अपने मार्ग की तलहटी को उस समय तक बराबर गहरा किए जायगी, जब तक धारा की तलहटी 'आधार-तल' के बराबर न हो जाय। आरम्भ में धारा समुद्र-तल से जितने ऊँचे प्रदेशों पर बहती है, कालान्तर में वह उतनी ही गहरी घाटी बनाती है। जब तलहटी और सागर-तल बराबर हो जाते हैं, तब घाटी का गहरा होना भी बन्द हो जाता है। यदि धारा का संगम सागर से न होकर किसी झील मे होता है तो 'आधार-तल' झील के तल के समान होता है। परन्तु यह आधार-तल स्थानीय और अस्थाई होता है; क्योकि झील का जल जब सागर-तल से अधिक ऊँचा होगा, तो वह सागर की ओर बह निकलेगा और तब तक बहता रहेगा जब तक झील और सागर समतल न हो जाएँ।

स्थानान्तरित करना जलधारा का सबसे महत्वपूर्ण भूतत्त्वीय कार्य है। जलधारा अपनी क्रियाओ तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं से उत्पन्न शिलाखण्डों की छीलन और चूरचार को बहा ले जाती है। स्थल की इस चूरचार को सागर तक पहुँचाने का इसके अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन नही है। धारा के साथ कुछ पदार्थ तो जल में घुला रहता है और कुछ जल मे डूबा हुआ। भारी-भारी खण्ड तलहटी मे धारा के वेग से खिसकते है।

वेग और शक्ति

जलधारा के वेग और बोझा ढोने की शक्ति मे छठे घात (Sixth Power) का अनुपात है। इसके अनुसार यदि किसी नदी का वेग दूना हो जाय तो उसकी बोझा ढोने की शक्ति $२^६ (२ \times २ \times २ \times २ \times २ \times २) = ६४$ गुना हो जाएगी और वह पहले की अपेक्षा ६४ गुना भार सहन कर सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि धारा का वेग तनिक भी बढ़ जाने से वह अधिक भार बहा ले जाएगी

और तनिक भी कम हो जाने से अपने भार को तुरन्त पटक देती। अमेरिका की मिसीसिपी नदी का वेग निरंतर अस्थिर रहता है—कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी कारण वह कभी अपने मार्ग को काटती और किनारों को नष्ट करती चलती है; कभी किनारों पर बोझा पटकते-पटकते उन्हें ऊँचा कर देती है। कभी तलहटी में द्वीप बनाती और कभी उन्हें बहाती चलती है।

जल की 'उछलने की शक्ति'

जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसमें पड़ी हुई वस्तु उछलती है। जल की इस "उछलने की शक्ति" (Buoyancy) का बहनेवाले पदार्थ पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जल में पड़ने से पदार्थ हल्का हो जाता है। शिलाखण्डों के आकार का भी प्रभाव पड़ता है। गोल-मटोल कंकड़-पत्थर तलहटी में बड़ी सुगमता से लुढ़कते चलते हैं। चिपटे और लम्बे पतले खण्ड धाराओं से शीघ्रता से बह जाते हैं।

जलधारा का वेग बढ़ने से उसकी जो शक्ति बढ़ती है, उसी के परिणामस्वरूप नदियों में बाढ़ आने पर बाढ़वाले प्रदेश प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। बाढ़ लगभग सभी नदियों में आती है। परन्तु जिनका वेग अधिक होता है, उनकी बाढ़ प्रलयंकारी होती है। बाढ़ के समय में नदियों में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि साधारण बाँध आदि तो विलीन हो ही जाते हैं, साथ ही इस्पात के दानवीय पुल भी ऐसे तोड़े-मरोड़े जाते हैं जैसे बच्चे तिनकों को मुट्ठी से मरोड़ डालते हैं। भारी रेल की पटरियाँ कभी-कभी ऐंठी हुई रस्सी की तरह मरोड़ दी जाती हैं। मकान और वृक्ष भुनगों की तरह पिस जाते हैं। हमारे पाठक ऐसी बाढ़ों से अपरिचित नहीं हैं। ब्रह्मपुत्र, गंगा आदि में प्रायः ऐसी प्रलयंकारी बाढ़ आती है।

घिसाव की मात्रा

साधारण नदी अपने प्रवाहक्षेत्र को प्रतिवर्ष एक फुट का चार हजारवाँ भाग घिसती है। उससे समस्त स्थल-भाग ४००० वर्ष में १ फुट नीचा हो रहा है। भूमण्डल के स्थल-प्रदेश की औसत ऊँचाई २५०० फुट है। इसलिए यदि नदियों के काम में बाधा न पड़े, तो वे समस्त स्थलमण्डल को १ करोड़ वर्ष में पूरा घिसकर समुद्र में डुबा दें।

धारा के मार्ग के ढाल, प्रवाह-प्रदेश की वर्षा की मात्रा तथा अपने वेग के अनुसार ही नदी बोझा ले जाती है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा बहाया हुआ पदार्थ मिसीसिपी नदी द्वारा बहाकर लाये गए पदार्थ की अपेक्षा पाँच गुने से अधिक होता है। ब्रह्मपुत्र और गंगा प्रतिवर्ष लगभग ४०,०००,०००,००० घनफुट ठोस पदार्थ बहाकर लाती हैं। चीन की नदियाँ इतना अधिक ठोस पदार्थ प्रतिवर्ष बहाकर लाती हैं कि पीला सागर इस पदार्थ से बदरंग हो जाता है। अमेजन नदी द्वारा जितना बोझा समुद्र में पहुँचता है, वह भी आश्चर्यजनक है।

'डेल्टा', 'इस्चुरेरी' और 'बार'

पर्वतीय प्रदेश पीछे छूट जाने पर नदी का वेग कम हो जाता है। बोझा ढोने की शक्ति तो वहीं और भी कम हो जाती है। इसलिए नदी के मध्यवर्ती मार्ग में केवल रेत या मिट्टी के कण ही पानी के साथ आगे बढ़ते हैं। वेग तो ढाल के अनुसार होता है। इसलिए ढाल न होने से पानी का तेजी से बहना भी बन्द हो जाता है। मध्यवर्ती मार्ग में ढाल कम होने से नदी टेढ़ी चाल से धीरे-धीरे बहती है, और जहाँ-तहाँ कछार छोड़ती जाती है। बाढ़ के दिनों में काँप और भी दूर तक फैल जाती है। समुद्र के पास पहुँचकर नदी का जल शान्त-सा हो जाता है। यदि समुद्र में ज्वार-भाटा न हुआ तो कछारी मिट्टी नीचे बैठ जाती है। लगातार नई मिट्टी के आने से नदी के मुहाने पर मिट्टी का ढेर ऊँचा हो जाता है, जिससे नदी के मार्ग में बाधा पड़ती है और वह दो धाराओं में बँट जाती है। इन दोनों धाराओं के बीच में त्रिभुजाकार भूमि निकल आती है। इसको डेल्टा कहते हैं। प्रतिवर्ष यह डेल्टा बढ़ता ही रहता है।

जिन नदियों के मुहाने पर प्रबल ज्वार-भाटा आता है अथवा समुद्री धारा चला करती है, वहाँ नदियों की लाई हुई मिट्टी दूर जाकर समुद्र के भीतर पहुँचती रहती है। इसलिए नदियों का मुहाना खुला रहता है, अर्थात् वे 'इस्चुरेरी' बनाती हैं। कभी-कभी निर्बल भाटा अथवा अधूरी धाराओं के कारण मुहाने के एक सिरे पर बालू या मिट्टी की निमग्न या निकली हुई राशि इकट्ठा हो जाती है। इसे बाधा या 'बार' (Bar) कहते हैं।

इस प्रकार जलधारा भी निरन्तर धरातल के घिसने में लगी रहती है और वायुमण्डल के क्षयात्मक कार्य में सहायक होती है। जलधारा के प्रभाव से धरातल धीरे-धीरे घिसता है। भिन्न-भिन्न जलवायु के स्थानों में जलधारा का प्रभाव विभिन्न होता है। किसी प्रदेश का ढाल और उसमें होनेवाली वर्षा का विशेष महत्व है। गंगा नदी जिस प्रदेश में होकर बहती है, वहाँ वर्षा प्रचुर होती है। इसलिए मिसीसिपी नदी की अपेक्षा वह दूना पदार्थ समुद्र में बहा ले जाती

है और अपने प्रवाहक्षेत्र को दूने वेग से घिसती है।

धरातल की आजकल की दशा मे प्रति वर्गमील भूमि से ११,४०० घनफुट पदार्थ कटकर प्रति वर्ष समुद्र में पहुँचता है। पिछले दिनों की अपेक्षा यह पदार्थ बढता जाता है। स्थल-भाग के इस तरह निरंतर कट-कटकर समुद्र को पाटते रहने के कारण समुद्र छिछला होता जाता है और इस प्रकार कहीं-कहीं भू-भाग विस्तार में बढ़ता जाता है। छीलन की मात्रा किसी भी प्रदेश की नदियों की अवस्था के अनुसार होती है। नई नदियाँ प्रायः पुरानी नदियों की अपेक्षा अधिक वेगवती और अधिक हानि पहुँचानेवाली होती है। इस और आगे के अन्य लेखों में आप नदियों और झीलों आदि की कहानी पढ़ेंगे।

नदियों की कहानी

जलधारा द्वारा स्थल के निरन्तर क्षय में नदियों का सबसे बड़ा हाथ है। ये नदियाँ क्या है, कैसे उपजती हैं, किस प्रकार अपना मार्ग निर्धारित करती है, और किस तरह इस भूमंडल पर अपना कार्य करती है, यह इस प्रकरण में पढ़िए।

स्वाभाविक रूप से बहनेवाली विशाल जलधारा तथा उसके मार्ग को 'नदी' कहते हैं। जो जलधारा निरन्तर बहा करती है, केवल वही नदी कहलाती है। जो जलधारा केवल कभी-कभी बहने लगती है और अन्य ऋतुओं में सूख जाती है, उसे नाला कहते है। नदी या नाले में जो पानी बहता है, उसके तीन स्रोत हैं—बरफ का पिघला हुआ जल, वर्षा का जल तथा प्राकृतिक सोतों और झरनों का जल। जिन नदियों या नालो में केवल वर्षा का ही जल बहता है, वे ही प्रायः अन्य ऋतुओं में सूख जाते है। नदियों के उद्गमस्थान प्रायः सदा स्थायी बरफ के सोते या झरने होते हैं।

नदियों की उत्पत्ति

कल्पना कीजिये कि एक विशाल स्थलखण्ड हाल ही में सागर से ऊपर उठा है। इस काल्पनिक प्रदेश में न तो कोई नदी होगी न झील; न पहाड होंगे, न घाटियाँ ही। फिर भी भूमितल मे थोड़ा-बहुत अन्तर होगा ही और सारे प्रदेश का ढाल भी किसी ओर को ही होगा। जब वर्षा होगी तो थोड़ा-थोड़ा जल एकत्र होकर जिस ओर ढाल होगा, वह निकलेगा। धीरे-धीरे जलभरी गहरी खालें उत्पन्न होंगी। अधिक वर्षा होने पर कई गहरी खाइयां मिलकर एक लम्बी-चौड़ी नाली, और वह नाली नाले का रूप धारण कर लेगी। कई नाले मिलकर एक बडी धारा का रूप धारण करेंगे और कई धाराएँ मिल जाने से जो जलधारा बनेगी, वह नदी कहलायगी। आरम्भ मे ये जल-मार्ग केवल वर्षा ऋतु में ही भरे दिखाई देंगे, परन्तु ज्यों-ज्यों ये गहरे होते जायँगे, भूमि के स्रोत का जल इनमे बह निकलेगा और तब इनमें प्रत्येक ऋतु में पानी का भांडार भरा रहेगा।

ऊपर हमने समतल भूमि की कल्पना की; परन्तु सागर से बाहर होनेवाली पर्वत-श्रेणियों में नीचे-ऊँचे स्थल भी होते है। ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ बहुधा समानान्तर होती हैं और इनके बीच-बीच में नीची भूमि होती है। नीची भूमि दो समानान्तर श्रेणियों के बीच तो होती ही है, साथ ही एक ही श्रेणी में भी होती है। इन्हीं स्थलों के द्वारा दो समानान्तर श्रेणियों के बीच के स्थलों का सम्बन्ध होता है। जब इस स्थल पर वर्षा होगी, तो वर्षा का जल पर्वत-श्रेणियों के दोनों ओर के ढालों द्वारा नीचे की घाटियों में लुढ़ककर भर जायगा, और एक घाटी का जल घूमकर दूसरी तथा दूसरी का तीसरी में चला जायगा। समानान्तर घाटियों का जल एक दूसरे से सम्बन्धित होकर एक बड़ी धारा के रूप में निचले प्रदेश की ओर बह चलेगा। भिन्न-भिन्न धाराओं का बहाव प्रदेश के ढाल की ओर होगा और जिस धारा मे अधिक जल होगा, वही धारा आसपास के प्रदेश के जल को शीघ्र ही खींचकर अधिक वेग से बहा ले जायगी। यही जलधारा कालान्तर में जाकर सागर में मिल जायगी और नदी कहलाएगी।

पर्वत-श्रेणियों पर जितनी धाराएँ उत्पन्न होती हैं, सभी स्वतंत्र रूप से नहीं बहतीं। एक बड़ी धारा में कई धाराएँ मिलती है। निचली भूमि में प्रति दिशा के नाले व स्रोत आकर जलधारा के मार्ग को विस्तीर्ण करते रहते हैं। ये छोटे-छोटे धाराप्रवाह उपनदी अथवा सहायक नदी कहलाते हैं। जिस प्रदेश का जल बहकर नदी अथवा उसकी

सहायक नदियों में आता है, वह सारा प्रदेश नदी का 'बेसिन' कहलाता है।

नदी अपना कार्य उद्गमस्थान मे ही आरम्भ कर देती है। सबसे पहले नदी और उसकी सहायक धाराएँ अपनी घाटी को चौड़ा करना आरंभ करती हैं। दो समानान्तर घाटियो में बहनेवाली धाराएँ अपने बीच की उस पर्वत-शृंखला को, जो जल-विभाजक का काम करती है, नष्ट-भ्रष्ट करके आपस में मिल जाती हैं। दो से तीन और तीन से चार अर्थात् जितनी भी समानान्तर बहनेवाली धाराएँ होती हैं, वे सब मिलकर एक चौड़ी धारा बनने का उपक्रम करती हैं। जैसे-जैसे धारा चौड़ी होती जाती है, उसकी शक्ति और वेग बढ़ता जाता है।

उद्गमस्थल मे नदी की नीति विध्वंसक होती है, रचनात्मक नही। नदी किसी प्रकार अपना मार्ग निश्चित करना चाहती है, उसके लिए उसे चाहे कितना घूमना पड़े या चक्कर लगाना पड़े। जो कुछ भी अडचनें सामने पड़ें, उन्हे काटती, नष्ट करती हुई नदी अपना मार्ग विस्तीर्ण और गहरा करना चाहती है। पर्वत-श्रेणियों के बीच जहाँ भी उसे सुगम मार्ग मिलता है, उधर ही वह वह निकलती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि थोड़े ही प्रदेश में नदी को कई मील का चक्कर लगाना पड़ता है और तब कही वह उस प्रदेश से बाहर निकल पाती है। आरम्भ मे तो नदी की चेष्टा किसी प्रकार निचले प्रदेशों की ओर वह निकलने की ही होती है। साथ-ही-साथ घाटी को गहरा और चौडा करना भी जारी रहता है।

यह उद्गमस्थल से नीचे उतरती हुई गंगा नदी का चित्र है। यहीं से इसका विध्वंसात्मक कार्य आरंभ हो गया है। वड़े-बड़े शिलाखण्डों को गोल-मटोल बनाती हुई यह अपना मार्ग निकाल रही है!

इस समय नदी मे चट्टानों की चूर-चार तथा क्षत-विक्षत चट्टानो के बडे-बडे ढोके बहते हुए आगे बढ़ते हैं। यह किस प्रकार धारा को चौड़ा और गहरा करने मे सहायता पहुँचाते है, यह हम बता ही चुके है।

स्थायी मार्ग

नदी के मार्ग मे बाधा आ जाने से उसको मार्ग बदलना पडता है। यदि बाधा छोटी-मोटी चट्टानों के रूप में होती है, तो नदी उसको शीघ्र ही नष्ट कर डालती है और धारा का मार्ग निश्चित हो जाता है, परंतु यदि बाधा बडे पर्वतों के रूप मे होती है, तो नदी को घूमना पड़ता है। इस प्रकार प्रारम्भ में तो नदी उसी मार्ग से बहेगी, जो घाटी के ढाल तथा स्थल-प्रदेश के ढाल के कारण स्वयं उत्पन्न होगा।

जब नदी का एक अस्थायी मार्ग निश्चित हो जाता

है, तब वह अपनी घाटी चौड़ी करना आरम्भ करती है। जिस ओर की चट्टानें निर्बल होती हैं, उसी ओर को नदी का आक्रमण आरम्भ होता है। कहना न होगा कि इस आक्रमण में उसकी सहायता मौसमी तथा अन्य कार्य-कर्त्ता भी करते हैं। नदी के एक किनारे की चट्टानों पर आक्रमण होने से जल की सारी शक्ति का झुकाव उसी ओर किनारे की ओर हो जाता है और दूसरे किनारे का जल अशक्त तथा निश्चल-सा हो जाता है। फल यह होता है कि घाटी के एक ओर तो धारा पहाड़ों की जडो मे घुमने की चेष्टा करती है और दूसरे किनारे को बिल्कुल ही छोड़ देती है, जिससे उस ओर नदी मे बहकर आनेवाली मिट्टी और बालुकामय पदार्थ स्थिर होने लगता है। जब नदी एक ओर हट जाती है तब दूसरी ओर उसका कछार चिकनी मिट्टी और बालू से ढक जाता है। इसका एक प्रभाव यह भी होता है कि नदी का एक कगार तो ढालू और दूसरा सीधी चट्टानो का बन जाता है।

नदी का मार्ग वक्र रेखा के रूप में होता हुआ धीरे-धीरे अंग्रेजी के S अक्षर के आकार का हो जाता है। नदी के इस प्रकार बहने से उसके किनारे की चट्टाने भी समरूप से नही कट या घिस पाती। घुमाव के कारण नदी एक ओर की चट्टानों की जड मे घुस जाती है और बाहर की ओर के किनारे मे जल तीव्रता से चट्टानों को काटने लगता है। पीछे के किनारे मे जल की तेजी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के घुमाव से घाटी मे विचित्र दृश्य बन जाते हैं।

नदी ज्यो-ज्यो पुरानी होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी घाटी अधिकाधिक चौडी होती जाती है और घाटी की दीवाले सीधी खडी हो जाती है। नई नदी की घाटी वक्राकार और उसकी दीवालें थोड़ी दूर तक ढालदार, फिर सीधी और फिर ढालदार होती हैं। इस प्रकार नदी अपनी घाटी तो चौडी करती ही है, साथ ही अपना विस्तार भी बढ़ाती है और विस्तार बढ जाने पर गहराई बढाती है। क्रमश. घाटी की चौडाई इतनी बढ़ जाती है कि उसका एक किनारा दूसरे से मीलो दूर हो जाता है। इस प्रकार घाटी के बीच की भूमि समतल मैदान मे बदल जाती है, जिसमे नदी अपने इच्छानुसार कभी इधर कभी उधर बहती हुई आगे बढती है। इस समय नदी की चाल बडी इठलाती हुई और उसका मार्ग बड़ा घुमावदार (meandering) होता है। घाटी की दीवाले तो समानान्तर हो जाती है, परन्तु नदी अब घाटी की दीवालो के समानान्तर नही बहती, जैसे कि आरम्भ मे बहती थी। घाटी भी एकदम सीधी नही होती, जिससे नदी के घुमाव अपनी काटने-छाँटने की क्रिया जारी रखने हैं। कालांतर में घुमावदार नदी भी घाटी को अधिक चौड़ा कर देती है और उसे घुमावदार बना देती है।

जब नदी एकाएक ऐसी जगह पर आ पहुँचती है, जहाँ उसके मार्ग की सतह एकदम ढालू हो जाती है, तब उसका जल बड़े वेग से नीचे गिरने लगता है। यह नदी का जल-प्रपात कहलाता है।

घुमावदार नदी अब घाटी को गहरा करना आरम्भ करती है। चट्टानों के स्थान पर नदी को बालू और चिकनी मिट्टी बहानी और काटनी पड़ती है। नदी के मार्ग मे लगभग पूर्ण-चन्द्राकार घुमाव बन जाते है और कभी-कभी नदी पूरी गोल आकृति बनाती हुई जिस स्थल से मुड़ी थी, उसी स्थल के पास आकर बहने लगती है। इस प्रकार चन्द्राकार घुमाव बन जाते है। किसी समय बीच का स्थल कट जाता है, तो नदी घुमाव को छोडकर सीधी बहने लगती है। तब घुमाववाली चन्द्राकार जलभरी शाखा कटकर अलग हो जाती है। ऐसी शाखा को धनुपाकार झील कहते है। इस झील के बीच मे स्थल का टापू रहता है और टापू के किनारे-किनारे नदी की चौडी धारा। नदी की घुमावदार धारा के बहाव से ये झीलें कालान्तर में नष्ट हो जाती हैं। तब नदी अपनी चौड़ी

घाटी में इठलाते मार्ग से चलती हुई बड़ा विस्तीर्ण मैदान बना लेती है। इस मैदान में वह फिर एक पतली गहरी सीधी रेखा के रूप में बहती है। जब नदी पतली गहरी सीधी रेखा के रूप में बहती है तब उसकी आयु बहुत अधिक हो जाती है और वह पुरानी नदी कहलाती है। पुरानी नदियों का मार्ग निश्चित होता है और वे इधर-उधर भटककर नहीं बहती। नई और पुरानी नदियों की आयु साधारण दिन और वर्षों में नहीं नापी जा सकती। अधिकांश नदियाँ मनुष्य की स्मृति के पूर्व ही जन्म ले चुकी थीं। परन्तु नदियों की कार्य-प्रणाली और ढंग से यह अध्ययन किया गया है कि जैसे-जैसे नदियाँ पुरानी होती जाती हैं उन में क्या परिवर्तन होते जाते हैं। इसी अध्ययन के आधार पर नदियों की आयु का हिसाब लगाया जाता है।

पहाड़ी घाटी से मैदानों में

इस प्रकार नदियाँ अपना मार्ग गहरा, विस्तीर्ण और समतल बनाती जाती है। घाटियाँ चौड़ी होने से जल-विभाजक धीरे-धीरे पतला होता जाता है और फिर कालान्तर में बिल्कुल विलुप्त हो जाता है। जल और जलधारा के वेग और शक्ति से चट्टानें और पर्वत-श्रेणियाँ नष्ट होकर समतल घाटियों और मैदानों में परिणत हो जाती हैं। पहाड़ी प्रदेश छोड़कर नदी जब मैदान में आती है, तब उसकी क्षयात्मक क्रिया लगभग बन्द हो जाती है और रचनात्मक कार्य आरम्भ होता है। अब पहाड़ों से लाई हुई मिट्टी, बालू और बजरी मैदानों में जमा होने लगती है। मैदान में समतल भूमि में बहने के कारण नदी का वेग कम हो जाता है और उसे अपना पहाड़ों से लाया हुआ बोझा मैदान में किनारों पर फेंकना पड़ता है, क्योंकि जल में अब अधिक बोझा ले जाने की शक्ति नहीं रहती। मैदान में भी नदी एक किनारे पर मिट्टी, बालू आदि जमा करती है तो दूसरे किनारे की मिट्टी काट-काटकर गिराती और बहा ले जाती है।

बाढ़ के कारण होनेवाला फेरबदल

ग्रीष्म-ऋतु में बरफ पिघलने तथा वर्षा होने से नदियों में अथाह जल भर जाता है। पर्वत-शृंखलाओं में किसी आघात से जब बहुत अधिक जल संचित हो जाता है और अचानक उसका मार्ग खुल जाता है, तब जिस नदी में वह पहुँचता है, उसमें भीषण बाढ़ आ जाती है। वर्षा ऋतु में पर्वतों पर ऐसी घटनाएँ बहुधा हुआ करती हैं। फल यह होता है कि नदियों में छोटी-मोटी बाढ़ प्रति वर्ष आती रहती है। बाढ़ के द्वारा जो जन-धन की हानि होती है वह अकथनीय है। वैज्ञानिकों ने इसी कारण बाढ़ आने के कारणों और उनके रोकने के उपायों का विशेष रूप से अध्ययन किया है। हमारे देश में भी पूना में एक सरकारी समिति इस कार्य के अनुसन्धान में व्यस्त है।

बाढ़ के कारण नदियाँ विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं। बाढ़ के कारण जल की मात्रा तो बढ़ती ही है साथ ही उसकी गति और शक्ति भी बढ़ जाती है। इसका फल यह होता है कि नदी अपना मार्ग गहरा करती है और अपने किनारों का क्षय करती है। जब बाढ़ का पानी इतना अधिक हो जाता है कि नदी की धारा से निकलकर किनारों पर फैल जाता है तब किनारों पर फैले हुए पानी की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। जल एक प्रकार से स्थिर-सा हो जाता है और उसमें बहकर आनेवाला पदार्थ भूमि पर बैठने लगता है।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखने के लिए प्रयोगार्थ बाढ़ का जल एक बरतन में भर लिया जाय और उसे थोड़ी देर स्थिर रखकर देखा जाय। ऊपर स्वच्छ जल और नीचे गाद और बालू बैठ जायगी। इसी प्रकार बाढ़ के पश्चात् नदियों के किनारे गाद और मिट्टी की परतें जमा हो जाती हैं, जो खेती के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती हैं। इन परतों की मोटाई भिन्न-भिन्न नदियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न होती है। कभी-कभी ४ या ५ फीट से लेकर २० फीट तक की मोटी परतें पाई गई हैं।

चित्र-विचित्र दृश्य

बाढ़ के कारण किनारों पर कहीं-कहीं इतनी ऊँची मिट्टी जमा हो जाती है कि किनारों से बहकर आनेवाला जल नदी में नहीं पहुँच पाता और अधिक मात्रा में जमा होकर एक नवीन धारा के रूप में नदी के समानान्तर बहने लगता है। यह नई नदी प्रमुख धारा के समतल होते ही उसमें मिल जाती है।

बाढ़ आने से एक विचित्र समस्या और उत्पन्न होती है। बाढ़ के दिनों में तो नदी अपनी तलहटी को घिसती और गहरा करती जाती है, परन्तु बाढ़ का वेग शान्त होते ही जल में सुस्ती आ जाती है और उसमें बहनेवाला पदार्थ जल के वेगहीन होने से तलहटी में जमा

होने लगता है। इसके फलस्वरूप तलहटी ऊँची होने लगती है। नदी में पानी कम होने के कारण तलहटी के छिछला होने से भी नदी का जल किनारों की ओर नही जाता। इस प्रकार वार-वार वाढ़ आने से, वाढ़ के दिनों मे तो नदी किनारों पर मिट्टी जमा करती है और वाढ़ वीत जाने पर तलहटी मे। फल यह होता है कि कुछ दिनो मे नदी अपने आसपास के प्रदेश से ऊँची भूमि पर वहने लगती है। परन्तु किनारों पर वाढ़ के समय का पदार्थ जमा होते रहने से किनारे तलहटी और धारा के तल से सदैव ऊँचे रहते हैं। इस प्रकार नदी का जल उसी के वनाए वाँध से रुका रहता है। अमरीका की मिसीसिपी नदी मे इस प्रकार के विचित्र दृश्य अनेकों स्थलो पर मिलते है। उत्तरी इटली की पो नदी की तलहटी किनारो के मकानों की छतों से भी ऊँची है।

इस प्रकार के वाँध जव कभी टूट जाते है तव नदी के वाढ़-प्रदेश मे त्राहि-त्राहि मच जाती है। इसलिए प्राकृतिक वाँधों के ऊपर भी कृत्रिम वाँध वनाने की आवश्यकता पड़ती है। वाढ़ से प्रदेश को वचाने के लिए वाँध वनाने के साथ-साथ और नये उपाय भी करने पड़ते है। नदी के मार्ग को सीधा करना, नदी के नीचे गहरी नाली वनाकर नदी की वाढ़ का पानी वहा ले जाना आदि अन्य उपाय भी वाढ़ से देश को त्रसित होने से वचाने के लिए करने पड़ते है। प्राकृतिक वाँध टूट जाने से आसपास के प्रदेश के ऊँचे तल पर वहने-वाली नदियाँ कभी-कभी अपना मार्ग सदैव के लिए वदल डालती है। वाँध को तोड़कर सारा जल नीचे के प्रदेश में फैल जाता है और आगे वढना विल्कुल वन्द हो जाता है।

ऐसी घटना के फलस्वरूप आगे की धारा सूख जाती है और नदी अपना नया मार्ग वना लेती है। नदियो के इतिहास मे यह अनोखी और विचित्र घटना है, परन्तु ऐसा अधिकांश नदियो में हुआ है। चीन की ह्वांगो नदी के वाँध टूटने से १८८७ ई० में जो वाढ़ आई थी उसमे लगभग १० लाख से अधिक मनुष्य डूव गये थे।

नदी के इतिहास-निर्माण में परिस्थितियों का हाथ

प्रत्येक प्रदेश की जलवायु के अनुसार ही उस प्रदेश की नदियों का इतिहास वनता है। जिन प्रदेशों मे वर्षा अधिक होती है उनकी नदियों की कहानी, उन प्रदेशो की नदियों से भिन्न होती है जिनमें वर्षा साधारण अथवा वहुत कम होती है। इसलिए जो वात एक नदी के इतिहास मे लागू होती है वह सभी नदियों के इतिहास में लागू नही होती। यही कारण है कि पृथ्वी की समस्त नदियों की जीवन-कहानी इतनी भिन्न है। परन्तु नदियो के स्वभाव के अध्ययन से यह निश्चित हो गया है कि एक-सी जलवायु और एक-सी चट्टानोंवाले प्रदेशों की नदियों का इतिहास सदैव एक-सा ही होगा। इसी ज्ञान और अनुभव द्वारा किसी प्रदेश की आजकल की नदियों के स्वभाव के अध्ययन से यह भली भाँति वताया जा सकता है कि भूतकाल मे इन नदियों की क्या दशा रही होगी और भविष्य में उस प्रदेश पर नदियों का क्या प्रभाव पड़ेगा।

नई अवस्था की नदियों की अपेक्षा जीर्णावस्था की नदियाँ अधिक शांत और गंभीर होती है। उनकी चाल मन्द होती है और उनका मार्ग भी अधिक घुमावदार होता है, क्योंकि धारा में तेजी न होने से नदी किनारे और तलहटी काटना वन्द कर देती है। उसकी तलहटी के आधारतल के समतल होने के कारण उनके जल में वहने की शक्ति नही रहती। इस कारण नदी धीरे-धीरे जल को आगे वढ़ाती हुई जिधर तनिक भी ढाल प्रतीत हुआ उसी ओर को वहती है। फलस्वरूप उसका मार्ग अनिश्चित और चक्करदार होता है।

नदी के इतिहास में अचानक उथल-पुथल भी हो जाती है। इसका कारण प्रदेश में भूकम्प आना अथवा अन्य किसी भूतात्त्विक कारण से प्रदेश का नीचा-ऊँचा होना होता है। प्रदेश के तनिक भी नीचा-ऊँचा होने से पुरानी नदियों मे भी नवजीवन का संचार हो जाता है। कभी-कभी इन्ही कारणों से नदी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और नदी को पीछे लौटकर या घूमकर वहना पड़ता है। कभी-कभी नदी हजारों फीट गहरे खड्ड मे इस प्रकार फँस जाती है कि विना लम्वी-चौड़ी और हजारों फीट गहरी घाटी काटे उसका विस्तार नही होता। इस अवस्था से वहर निकलने के लिए नदी को हजारों वर्ष लग जाते है।

नदियों के विचित्र करिश्मे देखने के लिए उन पहाड़ी प्रदेशों की यात्रा करनी चाहिए, जहाँ से नदियो का उद्गम होता है। इस प्रदेश म नदियाँ विचित्र दृश्य दिखाती है— जीवन-यापन के लिए किस प्रकार एक नदी की सहायक नदियाँ दूसरी नदी की सहायक नदियों का पानी हड़प करने मे लगी रहती है, किस प्रकार एक ही स्थल से दो धाराएँ एकदम विपरीत दिशाओं की ओर वहती है,

किस प्रकार दो नदियाँ मिलकर विशाल पर्वत को काटकर विलुप्त कर देती हैं और दोनों धाराएँ एक में मिल जाती हैं। इसी प्रकार और अनेकों आश्चर्यजनक दृश्य देखने में आते हैं।

कहना न होगा कि भूतात्त्विक इतिहास में नदियों का बडा महत्व है। पृथ्वी के धरातल की रचना में नदियो ने वडी सहायता की है और पर्वतों के घिसने, घाटियों के बनने तथा मैदानो और वाढ-प्रदेशों के निर्माण का श्रेय भी अधिकांशत: नदियों को ही है। पृथ्वी पर होनेवाली घटनाओ के फलस्वरूप जो क्षय होता है, उससे क्षत-विक्षत पदार्थ जमा होते है। उन्हें नदियाँ बहा ले जाकर धरातलको साफ करती रहती है, साथ ही भूमि को उर्वरा बनाकर खेती और फलफूल की उत्पत्ति में भी सहायक होती है।

आभ्यन्तरिक जल की क्रिया-प्रक्रिया

वर्षा का जितना जल भूपटल पर गिरता है, उसके तीन भाग हो जाते हैं। एक अंश तो वाष्पीभूत हो पुन वायुमण्डल ही में मिल जाता है। दूसरा और अधिकांश भाग नदियों के द्वारा प्रवाहित होकर फिर सागर में जा मिलता है। तीसरा भाग वह है, जो धरती के भीतर समा जाता है। वही 'आभ्यन्तरिक जल' कहलाता है। चिप्पड़ के रूप-परिवर्तन में इस जल की क्रिया-प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण हाथ है।

जल का कितना अंश धरती में सोख लिया जाता है, यह बहुत-कुछ मिट्टी की बनावट पर निर्भर है। यदि धरती की चट्टानों पर की बनावट ऐसी होती है कि उसमे जल जल्दी सोख लिया जाय, अर्थात् चट्टाने अधिकांश छिद्रमय होती है, तो वर्षा का बहुत बड़ा भाग धरती में सोख लिया जायगा। परन्तु जहाँ धरती की बनावट ऐसे पदार्थो से होती है, जो अभेद्य होते हैं, अर्थात् जिनमें पानी सरलता से नही धँस सकता, वहाँ वर्षा का बहुत थोड़ा भाग धरती में सोख पाता है। उत्तर प्रदेश की धरती नदियों की लाई हुई मिट्टी से बनी है। इस कारण यहाँ वर्षा का लगभग दो-तिहाई जल धरती सोख लेती है। पथरीली भूमि और चिकनी मिट्टी के भीतर पानी कठिनाई से धँसता है, परन्तु बलुई मिट्टी और खड़िया के भीतर वह सरलता से सोख लिया जाता है।

'आभ्यन्तरिक जल' और उसका तल

सोखा गया जल नीचे वहाँ जाकर भर जाता है, जहाँ उसे पानी को न सोखनेवाली तह मिलती है। इस प्रकार सोखनेवाली भूमि एक स्पंज का काम देती है और न सोखनेवाली अर्थात् अभेद्य चट्टान तालाब के तल का-सा, जिसके नीचे सूखी भूमि रहती है और ऊपर पानी की जलराशि भरी रहती है। इस 'आभ्यन्तरिक जल' का ऊपरी तल, अर्थात् वह स्थान जहाँ पहुँचने पर हमें इस जल का स्थायी अस्तित्व मिलता है, 'आभ्यन्तरिक जलतल' कहलाता है। आभ्यन्तरिक जल का तालाब हर जगह ऐसा नहीं है कि उसमे आप गोता लगाकर स्नान कर ले। यह जलतल के नीचे और अभेद्य चट्टानों के ऊपर जो चट्टानें रहती है उनके भीतर, जहाँ भी मौका मिले वहाँ भरा रहता है। अर्थात् जलतल और अभेद्य चट्टानों के बीच की भेद्य चट्टानें जल से ओतप्रोत या सम्पृक्त रहती है। इस सम्पृक्त चट्टानो में यदि कोई खाली स्थान होता है, तो उसमे जल तालाब की भाँति भर जाता है।

जब हम भूमि मे कुआँ खोदते हैं, तब हमें उस समय तक पानी नही मिलता, जब तक हम आभ्यन्तरिक जलतल या जलरेखा तक नही पहुँचते। ज्योंही जलरेखा से नीचे की चट्टानों में कुएँ का छेद पहुँचा और स्थान खाली मिला, त्योंही चारों ओर की चट्टानों का जल उस रिक्त स्थान मे भर जाता है। तभी हम कहते हैं कि हमे स्थायी तल या स्रोत मिल गया। बहुधा ऐसा होता है कि वर्षा ऋतु में किसी-किसी स्थान में थोड़ी ही गहराई पर जल निकल आता है। परन्तु यह जलतल अस्थायी होता है और थोडे ही दिनों में ग्रीष्म ऋतु के आने के पूर्व ही कुआँ सूख जाता है। इस अस्थायी जल को अंग्रेजी में 'वैडोज' जल कहते हैं।

आभ्यन्तरिक जल एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रहता। वास्तव मे इस जल को धारा के नाम से पुकारना ही उचित है, क्योंकि इसकी भी गति तथा इसकी क्रिया लगभग उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार धरातल के ऊपर की धाराओं

की । यह धारा गुप्त ही रहती है, परन्तु कहीं-कहीं परिस्थितियाँ इसको धरती के ऊपर आने को भी विवश कर देती हैं। कहते हैं कि त्रिवेणी (प्रयाग) के स्थान पर तीन धाराओ का संगम होता है । गंगा और यमुना की धाराएँ तो प्रकट रूप से दिखाई पड़ती हैं और तीसरी धारा सरस्वती 'गुप्त धारा' के नाम से प्रसिद्ध है, जो अदृश्य रूप से इन दोनो धाराओं में मिलती है। बहुत संभव है, यह गुप्त धारा आभ्यंतरिक जल की कोई धारा हो, जो परिस्थितियो के कारण संगम के स्थान पर प्रकट होती हो। कुओं से निकलनेवाला जल इसी जलधारा का अंग है। किसी-किसी पहाड़ी की तलहटी में धीरे-धीरे रिसता हुआ जो जल पाया जाता है, वह भी इसी जलधारा का अंश होता है । विन्ध्याचल, देहरादून, मंसूरी आदि अनेकों स्थानों पर ऐसे प्राकृतिक जलस्रोतो का पानी लोग बड़े चाव से पीते हैं। कभी-कभी जब ऐसे स्रोतों से जल अधिक वेग से निकलने लगता है, तब वह झरने का रूप धारण कर लेता है ।

नदी-किनारे के कुओं की गहराई अधिक नहीं होती । उधर किसी-किसी प्रदेश में सैकड़ों फीट गहरे कुएँ खोदने पर भी जल के दर्शन नहीं होते। अत स्पष्ट है कि यह 'अदृश्य जलधारा' सब स्थानो मे एक ही गहराई पर नही पाई जाती। जिन स्थानों पर वर्षा की कमी है, वहाँ जलधारा की गहराई अधिक वर्षावाले प्रदेशों की अपेक्षा अधिक है ।

आभ्यन्तरिक जलधारा का प्रवाह

आभ्यन्तरिक जल की प्रवाह-गति धरातल के जल की अपेक्षा धीमी होती है; क्योंकि इसे चट्टानों के छिद्रो और सधों से होकर तथा शिलाओं को रगड़कर बहना पड़ता है। यदि चट्टानों की बाधा न होती, तो इसकी गति भी धरातल की नदियों की भाँति ही होती और प्रत्येक वर्षाकाल में धरातल पर उसकी बाढ़ आ जाती ।

आभ्यन्तरिक जल कितनी गहराई तक चला गया है, इसका पता अभी तक ठीक-ठीक नही लग सका है । कहा जाता है कि इस जल का विस्तार चिप्पड़ की गहराई तक है । इस मत मे बहुत-कुछ सन्देह भी हो सकता है, क्योंकि अनेको स्थानों की खानों की खुदाई में २,५००-३,००० फीट की गहराई के पश्चात् भी पानी का अस्तित्व नही मिलता और चट्टानें सूखी और भुरभुरी निकलती हैं। अधिक-से-अधिक गहरी खानों में प्रायः यह अनुभव हुआ है कि लगभग ३,००० फीट की गहराई के पश्चात् पानी निकलना बन्द हो जाता है । परन्तु कभी-कभी किसी चट्टान की तह से अथवा दरार से एकदम से पानी का रौला आ जाता है ! यह पानी है तो अवश्य ही आभ्यन्तरिक जल, परन्तु सम्भवतः इसे मुख्य आभ्यन्तरिक जलधारा नही कहा जा सकता, वरन् चट्टानों की दरारों से होकर उक्त जलधारा का पानी यहाँ आ गया है। निष्कर्ष यह है कि लगभग दो मील की गहराई के पश्चात् जलधारा का अस्तित्व नहीं है । कारण यह है कि अधिक गहराई में परतीली चट्टानों के बदले आग्नेय चटटाने मिलती है, जो अधिकतर अभेद्य है।

झरने और कुएँ

जहाँ-कहीं भी चिप्पड़ का धरातल आभ्यन्तरिक जलतल से नीचा हो जाता है, वहीं आभ्यन्तरिक जल धरातल पर प्रकट हो जाता है । इस सम्मेलन-स्थल पर जल का प्रवाह यदि बूँद-बूँद रिसकर होता है तो वह 'टपका' कहलाता है। धीरे-धीरे रिसनेवाले जलस्रोत इसी प्रकार उत्पन्न होते है । जब कुएँ की गहराई जलतल-रेखा के नीचे तक होती है, तो उसमें निरन्तर जल बना रहता है । जितना जल बाहर खींच लिया जाता है, वह चारों ओर की चट्टानों से आकर पुन. पूरा हो जाता है ।

भेद्य और अभेद्य चट्टानों के परतों मे पड़कर आभ्यन्तरिक जल की विचित्र दशा होती है । भेद्य चट्टानों से होकर नीचे जाता हुआ जल अभेद्य चट्टान के मिलते ही रुक जाता है। इस प्रकार अभेद्य चट्टान के ऊपर जल का तालाब बनने लगता है । यदि भेद्य चट्टानो के परतों में कोई बेतुकी अभेद्य चट्टान होती है, तो अभेद्य चट्टान के ऊपर तो पानी जमा हो जाता है, परन्तु उसके आसपास की भेद्य चट्टानों में पानी सोखता हुआ नीचे चला जाता है । अभेद्य चट्टान के ऊपर जमा हुआ पानी एक प्रकार से 'टँगा हुआ' रहता है। इसका जलतल-रेखा या 'पाताल' से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वरन् अपना निजी जलतल होता है । इसके फलस्वरूप यदि कुआँ इसी अभेद्य चट्टान के ऊपर खोदा गया तो वह थोडी ही गहराई मे पानी देने लगता है। परन्तु उसके आसपास थोडे ही अन्तर पर कुओं की गहराई बहुत अधिक होती है। इसके विपरीत यदि अभेद्य चट्टान का विस्तार ठेठ नीचे तक होता है, तो वहाँ कुआँ खोदने पर आसपास की भूमि से बहुत अधिक गहराई पर भी पानी नही निकलता ।

आकर्षणशक्ति के कारण आभ्यन्तरिक जल, जहाँ तक हो सकता है, ऊपर से नीचे की ओर जाने की कोशिश करता है। इसके सिवा ऊपरी जल की तरह यह भी भीतर ही भीतर ऊँचे ढाल से नीची भूमि की ओर बढ़ता है। इस प्रकार

पहाड़ी ढाल का पानी गुप्त धाराओं में परिणत हो जाता है। सछिद्र चट्टानों मे ऊँचे ढाल से नीचे ढाल की ओर यात्रा करते-करते कभी-कभी पानी के मार्ग में चिकनी मिट्टी या अन्य छिद्र-हीन पदार्थ की अभेद्य चट्टाने आ जाती है। इसलिए यह धीरे-धीरे ढाल की ओर रेगता है, क्योकि अभेद्य चट्टानो में वह घुस नही पाता। परन्तु रास्ते मे यदि कोई दरार मिल जाती है, तो जल उसके द्वारा बाहर धरातल पर आ जाता है। इस प्रकार झरनों की रचना होती है। दरार में से पानी निकलने का वेग पानी लानेवाली 'जल-वाहक' हुए जल से भरे रहते है। भारतवर्ष मे भी मुगेर, विन्ध्याचल, देहरादून आदि अनेकों स्थानो पर इस प्रकार के झरनों का जल बडी श्रद्धा से पिया जाता है।

पातालतोड़ कुएँ

कभी-कभी ऐसा होता है कि दो अभेद्य तहो के बीच मे एक सम्पृक्त भेद्य तह पाई जाती है। जब इन तहो की रचना कमान के समान होती है और भेद्य तहो की खुली मुंडेरो पर पर्याप्त वर्षा होती है, तब सारी तह पानी से भर
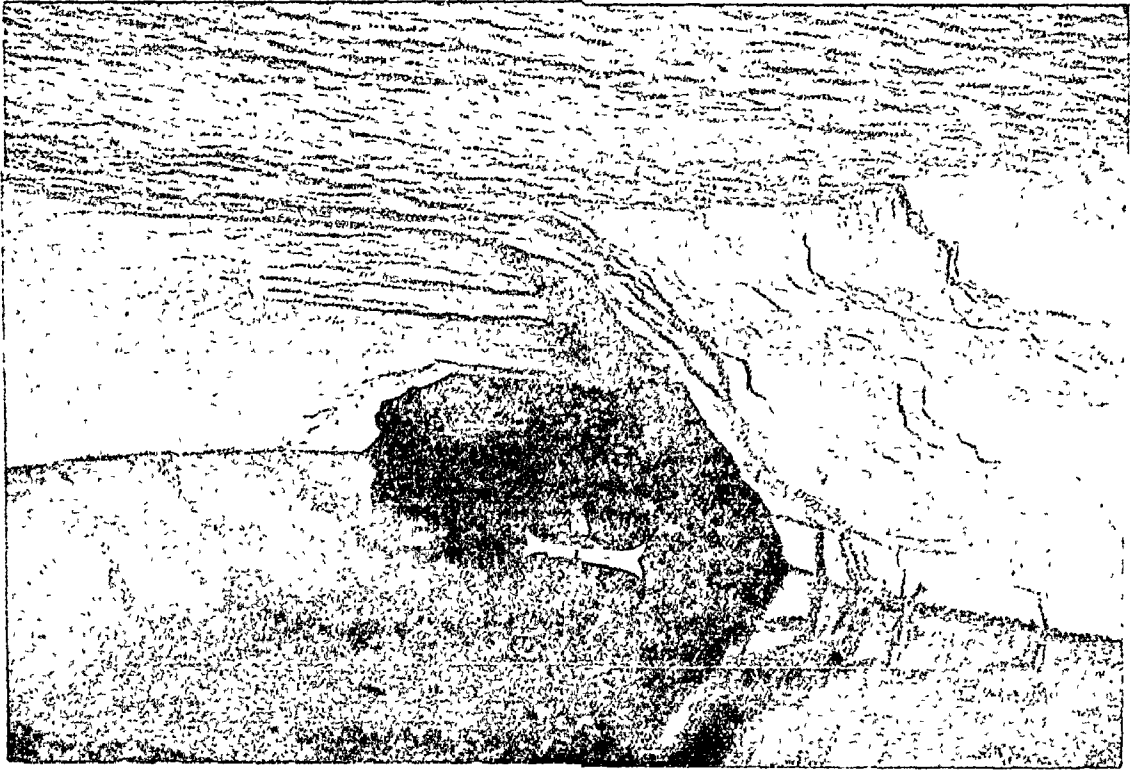
धरातल से ३०० फीट नीचे पानी की प्रतिक्रिया से बनी कंदरा में बहनेवाला आभ्यन्तरिक जल का एक सोता!

चट्टान के ढाल पर निर्भर होता है। यदि पानी बहुत ऊँचाई से बहकर नीचे आता है, तो झरनो का वेग भी तीव्र होता है। कभी झरनो से निकलनेवाला पानी फव्वारो के रूप मे भी बहता है। यह जल प्राय खनिज पदार्थों मे होकर आता है, इसलिए इसमें खनिज पदार्थों के घुलनशील अंश घुले रहते है। फलत. ऐसे जल मे विभिन्न खनिजों के गुण समा जाते हैं। सेराटोगा, न्यूयार्क, कार्लबाद, बाथ (इंगलैंड), विची (फ्रांस) आदि स्थानों में इस प्रकार के खनिज-गुण-सम्पन्न जलाशय पाए जाते है, जो प्राकृतिक रूप से धरती से निकले जाती है। इन तहों में से पानी निकलने का कोई प्राकृतिक मार्ग न होने पर यदि ढाल की गहराई मे कोई कुआँ खोदा जाय, तो दोनों ओर की चट्टानों मे भरे जलभार के कारण बीच के छेद में से होकर पानी तेजी से फव्वारे की भाँति ऊपर उछलेगा। ऐसे कुओं को 'आर्टीजन वेल' कहते है। भारत में इस प्रकार के स्वयंचालित कुएँ अधिक नही है, तथापि नवसारी, वीरमगाँव, माही, पाण्डीचेरी आदि स्थानो में इस प्रकार के कुछ कुएँ बनाए गए हैं। हिमालय की तलहटी के प्रदेश में भी इस प्रकार के कुएँ सफलतापूर्वक बन सकते है।

एक और प्रकार के कुएँ, जो 'ट्यूब वेल' के नाम से पुकारे जाते हैं, इधर हमारे देश में काफी बने हैं। इन कुओं को विशेष प्रकार की बरमी द्वारा चिप्पड़ को छेदकर और उनमे नल उतारकर बनाया जाता है। इन पातालतोड़ कुओं के लिए गहरी खुदाई करनी पड़ती है। बर्लिन, सेंट लुई और पिट्सबर्ग में ४,००० फीट की गहराई पर ऐसा पानी निकला है। परंतु अधिकांश स्थानो पर १०० से ३०० फीट की गहराई पर इस प्रकार का जल प्राप्त हो जाता है। किसी-किसी कुएँ से निकलनेवाले जल की मात्रा बहुत अधिक होती है। फ्लोरिडा में सेंट आगस्टीन नामक स्थान के एक कुएँ से १,४०० फीट की गहराई से १,००,००,००० घड़े जल प्रतिदिन निकलता है! एक ही स्थान पर पास-पास कई कुएँ खोदने से जल के निकलने के वेग और मात्रा दोनो ही में कमी पड़ जाती है।

आभ्यन्तरिक जल द्वारा चट्टानों की रचना में उलट-फेर

आभ्यन्तरिक जल द्वारा भी उसी प्रकार के तीन महत्वपूर्ण कार्य होते है, जो अन्य भूतत्त्वीय कार्यकर्त्ता करते हैं— अर्थात् घुलाकर या रगड़कर चट्टानों को विनष्ट करना, विनष्ट चट्टान के अंशो को दूसरे स्थानों पर ले जाकर जमा करना तथा नई चट्टानों की रचना करना। चिप्पड़ की चट्टान मे जितना भी घुल सकनेवाला अश है उसको आभ्यन्तरिक जल निरन्तर घुलाता रहता है। जल की प्रतिक्रिया का सब से अधिक प्रभाव चूने की चट्टानों, खडिया तथा सेलखरी आदि पर पडता है। ये सभी चट्टाने चूने के ही विभिन्न रूप हैं। चूने की चट्टाने पृथ्वी के चिप्पड़ मे बहुतायत से पाई जाती है और लगभग सभी स्थानो पर लाखो मील का क्षेत्रफल इन्ही चट्टानो से घिरा है। कार्बन डाइऑक्साइड से मिश्रित जल की इन चट्टानो पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ये चट्टाने शीघ्र घुल जाती है। जिन प्रदेशो में वर्षा बहुत अधिक होती है और जल सूखने नही पाता, वहाँ बडी तीव्रता से यह प्रतिक्रिया होती है। चट्टानो के घुलने से खोखली भूमि निकल आती है और इससे धरातल में बड़े-बडे गर्त उत्पन्न हो जाते है। ये गर्त धरती के धँसने से उत्पन्न होते है। आभ्यन्तरिक जल की प्रतिक्रिया से धरती के भीतर अदृश्य रूप से चट्टाने घुलती रहती है और परत-के-परत घुलकर सफाचट हो जाते हैं। इन गर्तो मे वर्षा ऋतु मे जल भर जाता है और कभी-कभी वह बड़ी तेजी से विलीन होता जाता है। कभी-कभी नदी की धारा के नीचे ऐसे गर्त उत्पन्न होने की नौबत आ जाने से पूरी धारा का प्रवाह उसी गर्त में होने लगता है और नदी की आगे की यात्रा का सर्वथा अन्त हो जाता है। ये धाराएँ धरातल से विलुप्त होकर चिप्पड़ की चट्टानों के भीतर-ही-भीतर बहती हुई 'पाताली नदियों' के रूप में सागर तक भी पहुँच जाती हैं!

दृढ़ और अच्छी परतीली चट्टानों में पानी परतों के जोड़ों से होकर नीचे उतरता और दो तहो के बीच में फैलता रहता है। यदि तहों के बीच मे संधिस्थलों पर इस जल के प्रवाह के लिए कुछ स्थान मिल जाता है, तो इसे तिक्रिया के लिए अधिक स्वतत्रता प्राप्त हो जाती है। जहाँ जल का वेग अधिक होता है, वहाँ के जोड़ अधिक शीघ्रता से खुल जाते है और संधिस्थल अधिक चौड़े हो जाते हैं। नीचे उतरते-उतरते जल का वेग कम हो जाता है और उसमें घुले हुए रासायनिक पदार्थ भी क्षीण हो जाते हैं। तब जल की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र नहीं होती है; फलस्वरूप धरती के भीतर जो खोखला स्थान उत्पन्न होता है, वह ऊपर तो चौड़ा और नीचे सुराहीदार गर्दन की भाँति पतला होता जाता है। ऐसे गर्त का आकार उल्टी सुराही जैसा हो जाता है। इस प्रकार के गर्त कुछ इंच से लेकर कई हजार फीट लम्बाई-चौड़ाई तक के होते हैं।

धरातल के भीतर जल की प्रतिक्रिया से बने कुण्ड या गर्त का तल जब पाताल की जल-रेखा से नीचे होता है, तो उस प्रदेश मे जल-तल जब तक उसी रेखा पर रहेगा, तब तक कुण्ड मे जल बना रहेगा। यदि किसी कारण से जल-तल-नीचा हो जाता है, तो कुण्ड भी सूख जाता है। कभी कभी इन कुण्डों का तल चिकनी तथा छिद्रहीन मिट्टी और लता-वृक्षो की पत्तियों आदि से ढक जाता है और जल का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उस समय जल नीचे रिस नही पाता। यदि अचानक ऐसे कुण्डो की तली में पानी रिसने का मार्ग हो जाता है, तो सब पानी जादू की भाँति अदृश्य हो जाता है। इस तरह कभी-कभी पूरी झीले सूख जाती है।

प्राकृतिक कन्दराएँ

धरातल के नीचे जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए खोखले स्थान की छत की चट्टान यदि कड़ी और मोटी होती है, तो वह धँसती नही। परन्तु रिक्त स्थान की लम्बाई-चौडाई बराबर बढती ही जाती है। इन रिक्त स्थानो मे अगल-बगल गलियो की भी रचना आरम्भ हो जाती है, जो कभी-कभी इतनी लम्बी-चौड़ी हो जाती है

कि गढ़कर बनाई गई-सी जान पड़ती है। इन रिक्त स्थानों को कन्दरा के नाम से पुकारते है। चूने की चट्टानों के प्रदेश में इन गुफाओं की बहुतायत होती है। ये गुफाएँ प्राकृतिक होती है, गढकर नही बनाई जातीं। १००-२०० फीट से लेकर आठ-दस मील तक लम्बी और दो-तीन मील तक की चौडाई की ऐसी गुफाएँ पाई गई हैं! इनकी गहराई भी दस-पाँच फीट से लेकर १,०००-१,२०० फीट तक पाई गई है। अमेरिका में केन्चुकी की गुफाएँ प्रसिद्ध है। यहाँ की एक गुफा की लम्बाई ८ मील से भी अधिक है तथा इसके भीतर कई छोटे-छोटे कक्ष हैं, जिनकी ऊँचाई ७५ फीट और चौड़ाई १५० फीट से कम नही है! न्यू मेक्सिको की कार्लबाद नामक स्थान की गुफा में तो एक कक्ष आधा मील लम्बा, २०० फीट चौड़ा तथा १,००० फीट गहरा है! इन गुफाओं में कभी-कभी जल की धाराएँ बहती पाई जाती है, जो चट्टानों की उसी प्रकार निरन्तर काट-छाँट किया करती हैं, जिस प्रकार स्थल की धाराएँ। इन कन्दराओं का आजकल मनुष्य के लिए कोई उपयोग नही रहा है, परन्तु पुरातन काल के मनुष्य अपने निवास के लिए इनका उपयोग करते थे। बहुत-सी कन्दराओं में पुरातन मनुष्य के स्मारक-अवशेष भी पाए जाते हैं।

कार्लबाद की सुप्रसिद्ध गुफा का एक दृश्य :: ऊपर से 'स्टेलैक्टाइट' नामक पाषाण-स्तंभ लटक रहे है।

कन्दराओं में पिण्ड-रचना

आभ्यन्तरिक जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कन्दराओं में छत से लटकते हुए 'स्टेलैक्टाइट्स' तथा भूमि से उठे हुए 'स्टेलैग्माइट्स' नामक विचित्र पिण्ड बनते रहते है। इन पिंडों की रचना आभ्यन्तरिक जल में घुले हुए पदार्थों के अवक्षेपण से होती है। आभ्यन्तरिक जल में घुले हुए पदार्थो से अवक्षिप्त खनिजों के जमने के कई कारण हैं। इनमें प्रधान कारण कन्दराओं तथा सूक्ष्म छिद्रों में निरन्तर होते रहनेवाला वाष्पीकरण, कार्बन डाइऑक्साइड की विलीनता, ठण्ड

का बढ़ना, दवाव का घटना, खनिजपूर्ण जल की प्रक्रिया और जिन चट्टानो से होकर वह नीचे उतरता है, उसकी रासायनिक प्रतिक्रिया तथा अत्यन्त सूक्ष्म काई आदि की क्रियाएँ है। ये पिंड कई रूपों के होते है। छत से लटके हुए झाड़-फानूसों की तरह चमकदार पदार्थो के गुच्छों से लेकर विस्तृत मोटाई के खम्भो तथा चौड़ी चमकदार शिलाओं के ढेर आदि अनेक रूपों मे इनकी रचना होती है। सच तो यह है कि विना इन्हे देखे इनका ठीक-ठीक वर्णन करना कठिन है। इनके रूप का अन्दाज जली हुई मोमवत्ती के आसपास जमी हुई मोम की विचित्र आकृतियों से किया जा सकता है। इन पिडो की लम्वाई-चौड़ाई विशाल स्तम्भो की भाँति होती है।

कन्दराओं मे सेलखड़ी के आगार टपके पत्थर के रूप के पाए जाते है और लगभग सभी कन्दराओ को वे सुशोभित करते है। टपके पत्थर की रचना उन्ही कन्दराओ मे होती है, जो जलतल के ऊपर स्थित है। इनमे वायु भरी रहती है। चूने का खनिज घुलाए रहनेवाला आभ्यन्तरिक जल चट्टानो से छनता हुआ कन्दरा की छत तक पहुँचता है और छत से बूँद-बूँदकर रिसता है एवं नीचे भूमि पर टपकता है। जितनी देर बूँद छत से चिपकी हुई रहती है, उसमे अवक्षेपण होता रहता है, जिससे कुछ कार्वन डाइऑक्साइड वायु में विलीन हो जाती है और इसके फलस्वरूप थोड़ा चूने का खनिज छत से चिपका जमा रह जाता है। जव बूँद वड़ी हो जाती है, तव वह नीचे टपक पडती है और उसके स्थान पर दूसरी बूँद वनने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक बूँद कुछ-न-कुछ खनिज जमा करती जाती है, जो धीरे-धीरे वढ़ते-वढ़ते ठोस पिण्ड के रूप मे लटकने लगता है। इस प्रकार धीरे-धीरे कन्दरा इन्ही लटके हुए कन्दरा-पिण्डों से सुशोभित हो जाती है।

टपकती हुई बूँदे नीचे गिरकर भाप बनकर वायु में विलीन हो जाती है और घुला हुआ पदार्थ भूमि पर ही जमा होता जाता है। जिस प्रकार छत से लटकनेवाला पिण्ड बूँद-बूँद टपकने से वढ़ता है, उसी प्रकार तथा उसके साथ-ही-साथ, उसी के नीचे की भूमि का पिण्ड भी कण-कण करके वड़ा होता जाता है और ऊपर उठता जाता है। कभी-कभी दोनों पिंडों के अधिक समीप आ जाने से वड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है। दोनों पिण्डो के जुड़ जाने से दर्शनीय कन्दरास्तम्भ वन जाया करते हैं। आभ्यन्तरिक जल के द्वारा चट्टानो की दरारों में चूनामय, वालुकामय और लौहमय पदार्थ तो धरातल की चट्टानो के घुलने से जमा होते ही है, परन्तु कही-कही चट्टानों की दरारो में धातुओ के आगार भी पाए जाते है। आभ्यन्तरिक जल मे घुल जाने से चट्टानो में जो रिक्त स्थान उत्पन्न होते है, उनमे जल की प्रतिक्रिया से दूसरे पदार्थ भी जमा होने लगते है, जो अवक्षेपण की क्रिया से फिर भर जाते है। इस प्रकार साथ-ही-साथ खनिजो की अदला-वदली भी होती रहती है। एक खनिज का जितना अंश घुलता है, उतना ही उसी के स्थान पर दूसरा खनिज जमा हो जाता है। इस परिवर्तन की क्रिया इतनी पूर्ण और नियमित होती है कि जव पुराना खनिज घुलकर विलुप्त

कार्लवाद की गुफा की अन्य एक झाँकी :: पाषाण-स्तंभों पर गौर कीजिए।

हो जाता है और नया खनिज उसके स्थान पर आरूढ़ हो जाता है, तो उसकी बनावट तथा आकार-प्रकार में रत्ती भर भी अन्तर नहीं पड़ता। बहुधा लोहे और चूने के खनिजों के स्थान पर बालुकामय पदार्थ जमा होते हुए देखा जाता है।

इस विचित्र क्रिया की पूर्णता इसी से सिद्ध होती है कि धरातल में दबे हुए वृक्षों के तनों, पत्तों आदि पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। वृक्ष के एक-एक कण के स्थान पर बालू के कण इस प्रकार जमा होते हैं कि सम्पूर्ण वृक्ष पाषाण का हो जाता है, परंतु उसकी आकृति वैसी ही बनी रहती है। उसकी ऊपर की मोटी छाल की बनावट, उसके कटे हुए सिरे में पड़ी हुई वृत्त-रेखाएँ आदि सब ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं। इस प्रकार के वृक्ष 'पाषाण-वृक्ष' कहलाते हैं। ये जल की प्रतिक्रिया के ही प्रमाद हैं। इस प्रक्रिया से वृक्षों की भाँति फल-फूल भी पाषाणावस्था को प्राप्त होते हैं।

सागर की क्रिया-प्रक्रिया

पृथ्वी का महान् जलभांडार—सागर—एक ओर जहाँ बादलों की वाष्पपूर्ति करके वर्षा, तुषारपात आदि द्वारा स्थल को दूर-दूर तक परिप्लावित करता एवं नदियों, हिमानियों आदि द्वारा उसका रूप-परिवर्तन करने में योग देता है, वहाँ अपनी लहरों की थपेड़ से तटवर्ती भूभाग को काट-छाँटकर एक और मोर्चे पर भी धरती के रूप-परिवर्तन के अनुष्ठान में वह निरन्तर लीन है। किस प्रकार ? आइए, देखें !

सागर का निजी क्षयात्मक कार्य तट की भूमि तक ही सीमित है। लहरों के आक्रमण के फलस्वरूप सागर-जल की रेखा क्रमश स्थल की ओर बढ़ती जाती है। स्थल की ओर बढने की गति विभिन्न परिस्थितियो पर निर्भर है। बलुई नीची भूमि शीघ्र ही सागर के अधीन हो जाती है। ऊँचे कठोर शिलाखण्डोवाले कगार धीरे-धीरे नष्ट हो पाते है।

लहरों की विध्वंस-शक्ति

तट की विध्वंस-गति सागर की तरगो की शक्ति पर निर्भर है। सागर की तरंगे निरन्तर तट की भूमि से टकराती हैं, परन्तु विभिन्न स्थानो और समयों पर उनकी शक्ति मे अन्तर रहता है। अटलांटिक तट की तरंगों का दबाव ग्रीष्म के पाँच महीनो में औसत ६११ पौड प्रति वर्ग-फीट रहता है। यही शक्ति शीतकाल के ६ महीनों मे २०८६ पौड प्रति वर्गफीट हो जाती है। सब से अधिक जोर ६,०८३ पौंड प्रति वर्गफीट नापा गया है। इतनी शक्तिशाली तरंगो की चोटों का प्रभाव भी बड़ा अद्भुत होता है। १८३६ ई० में एक भीषण आँधी के वेग से उठनेवाली तरंगो ने फ्रास के तट पर २० फीट ऊँची दीवार के ऊपर से ३½ टन भारवाले पत्थर बहा दिए थे ! स्कॉटलैंड के उत्तरी-पूर्वीय छोर के विक नामक स्थान पर सागर-जल के थपेड़ों से रक्षा करने के लिए बन्दरगाह के सामने कंकरीट का एक विशाल स्तूप-सा बनाया गया था। इस स्तूप को स्थिर रखने के लिए भारी-भारी शिलाखण्डों को साढ़े तीन इंच मोटी लोहे की छड़ी से बाँधकर लंगर डाला गया था। १८७३ ई० के दिसम्बर मास में कंकरीट का यह विशाल पिंड, जिसका भार १,३५० टन से अधिक था, सागर की लहरो द्वारा फूल की भाँति उठाकर फेंक दिया गया ! बाद मे उसके स्थान पर २,६०० टन का पिंड रक्खा गया, परन्तु यह भी लहरों द्वारा बहा दिया गया।

भीषण तूफान के दिनों मे समुद्र की लहरो की पहुँच ज्वार की सर्वोच्च जलरेखा से भी परे तक होना साधारण सी बात है। स्कॉटलैंड के पश्चिमी तट पर एक बार तूफान से उत्पन्न लहरों ने एक प्रकाश-स्तम्भ से १४ टन के भार-वाले पत्थर तोड़कर बहा दिए, और वह भी उस स्थान से जो ज्वार के सर्वोच्च स्थान से ३७ फीट अधिक ऊँचा था ! इसी प्रकार इंगलिश चैनेल के एक प्रकाश-स्तम्भ से ३२५ पौंड का घंटा लहरों द्वारा सागर के जल से १०० फीट ऊँचे स्थान से तोड़कर बहा दिया गया था।

लहरों के विध्वंस-कार्य में सब से अधिक सहायता चट्टानों में पाई जानेवाली दरारों और जोड़ों से मिलती है। चट्टानों की इन दरारों तथा जोड़ो में जल या वायु भरी रहती है। तूफान के साथ उठनेवाली लहरें जब तटवर्ती चट्टानों से टकराती है, तब उनकी दरारों में भरी वायु तथा जल दोनों ही संकुचित हो जाते हैं। जिस प्रकार लकड़ी चीरने में

जहाँ-जहाँ जलमंडल और स्थलमंडल की सीमाएँ मिलती है, वहाँ-वहाँ हम उन्हें एक दूसरे के साथ संघर्ष कर अपना-अपना साम्राज्य-विस्तार करने में निरंतर प्रयत्नशील पाते है। उधर उन्मत्त सागर अपनी उत्ताल तरंगों द्वारा तट की भूमि पर आक्रमण कर उसे काटने-छाँटते हुए अधिकाधिक स्थल में घुसने की कोशिश करता है; इधर भूमि चट्टानों की चूरचार और नदियों द्वारा वहाकर लाई हुई मिट्टी से सागर को पाटने का अनवरत प्रयास करती रहती है!

फन्नी काम किया करती है, उसी प्रकार चट्टानों की दरारों में प्रविष्ट यह संकुचित वायु उन्हे छिन्न-भिन्न करने में उपयोगी होती है। लहरों के वेग से उत्पन्न अत्यधिक भार के कारण दरारों की वायु दवकर वहुत संकुचित हो जाती है। जैसे ही लहरे हटती है, दवी हुई वायु एकदम फूल जाती है और उससे जो विकट शक्ति उत्पन्न होती है, वह चट्टानों को चूर-चूर करने के लिए पर्याप्त होती है।

तटवर्ती भूमि के क्षय की प्रक्रिया

किसी प्रदेश का सागरतटवर्त्ती स्थल कितनी शीघ्रता से नष्ट हो सकता है, यह किनारे की चट्टानों की कठोरता पर निर्भर है। इसके साथ ही यह वात भी अत्यन्त महत्व रखती है कि चट्टानों के परत खड़े है अथवा आड़े-तिर्छे। सागर की लहरों के साथ आनेवाले पत्थर-रोड़े आदि भी किनारों की चट्टानों पर आघात करने मे वड़ी सहायता पहुँचाते है। लहरों के आक्रमण का आघात सब से अधिक आधारवाली शिलाओं पर होता है। इस आघात के कारण चट्टानों के आधार के अंश शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और ऊपर का भाग धीरे-धीरे आगे वढ़कर लटकने-सा लगता है। कालान्तर मे वह अपने ही भार के कारण विखण्डित होकर गिर जाता है। ऊँची-ऊँची चट्टानोंवाले कगारो पर लहरों की मारसे कभी-कभी चट्टानों के निचले भाग एकदम खोखले हो जाते हैं, जिससे एक प्रकार की गुफाओं की रचना हो जाती है। कभी-कभी इस प्रक्रिया से विखंडित कगार में आरपार एक सुरंग-सी तैयार हो जाती है, जिस पर चट्टानों के अवशिष्ट अंश का प्राकृतिक पुल लटका रहता है। इस प्रकार से वनी सुरंगें कहीं-कहीं आधा मील से एक मील तक की लम्बाई की पाई जाती हैं!

तट पर चोट करनेवाली लहरें जव एक कोने से आकर टकराती हैं, तव उनकी चोट उतना असर नहीं करती, जितना सीधे समकोण पर आनेवाली लहरें। सागर-तट की चट्टानों के क्षय हो जाने से तट की रेखा पीछे हट जाती है। परन्तु सागर के जल मे कही-कहीं पुरानी तट-रेखा के कठोर अंश पिरामिडनुमा टीलों के रूप में वचे रह जाते हैं, जो पुराने तट
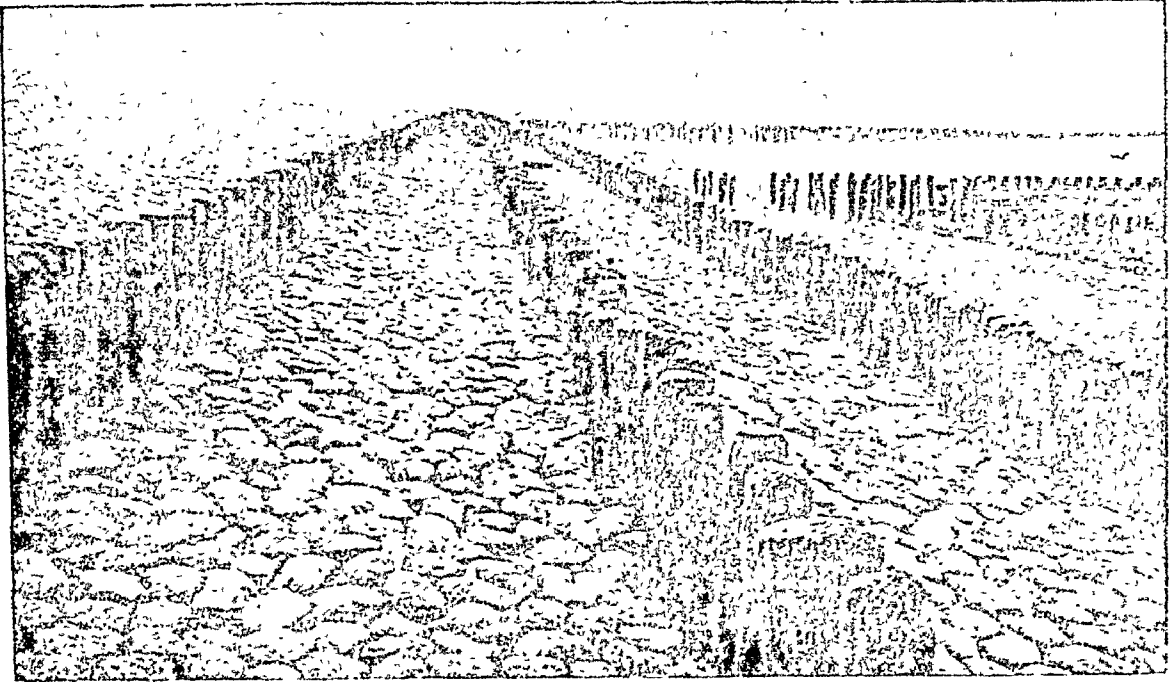
सागर के प्रचण्ड प्रहार से तटवर्त्ती भूभाग को बचाने के लिए कहीं-कहीं मनुष्य को भारी प्रयत्न करना पड़ा है। इस चित्र में हालैंड देश में लट्ठों और पत्थरों द्वारा निर्मित किए गए उन विशाल बांधों में से एक का दृश्य है, जिनके द्वारा तटवर्त्ती नीची भूमि को समुद्र के आक्रमण से बचाने का प्रबन्ध वहां के निवासियों ने किया है।

के अस्तित्व की याद दिलाते हैं। कहीं-कहीं सागर की लहरो के द्वारा तटवर्त्ती स्थल कट-पिटकर एकदम मैदान बन जाता है। इस प्रकार के मैदान बहुधा संकीर्ण होते हैं। नार्वे के पश्चिमी तट पर इसी प्रकार का ऊँचा मैदान है जिसकी चौड़ाई लगभग पचीस मील है। स्पेन के उत्तरीतट पर भी इसी प्रकार का दस मील चौंडा एक मैदान है। भारत के पूर्वीय तट पर भी ऐसे मैदान की साठ मील चौड़ी एक पट्टी है।

सपाट और नीचे तटवर्त्ती स्थल पर सागर का क्षयात्मक प्रभाव कम होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के स्थल बहुधा नदियों के मुहानों पर उन नदियों की लाई हुई मिट्टी और बालू से बने होते हैं। परन्तु तूफान के द्वारा उठी हुई लहरों के प्रभाव से ऐसी भूमि भी नष्ट होने से नहीं बचती। हालैण्ड और जर्मनी की उत्तरी तटवर्त्ती रेखा इस प्रकार के तूफानो के प्रभाव से बराबर पीछे हटती चली जाती, यदि उसे रोकने के उचित उपाय न किये गये होते। अमेरिका का बालुकामय तट तो कहीं-कही कट-कटकर आज कही-का-कही पहुँच गया है!

सागर-तट से विखण्डित हुए शिलाखण्ड लहरों द्वारा उछाले, पटके और बहाये जाकर चूर-चूर तो होते ही रहते हैं, साथ ही तट के स्थल पर चोट करते हुये उसे क्षत-विक्षत भी करते हैं। विशाल-से-विशाल शिलाखण्ड भी सागर की विकराल लहरो द्वारा निगल लिए जाते हैं और शीघ्र ही लहरो की गर्जन-तर्जन के साथ गेंद की भाँति उछलते हुए किनारे से आकर टकराते है। इस प्रकार के आघातो-प्रतिघातों के फलस्वरूप विशाल शिलाखण्ड छोटे-छोटे खण्डों में बिखर जाते हैं और इन खण्डों का धीरे-धीरे रोड़ो के रूप मे चूर्ण हो जाता है। रोडे कालान्तर म बालू और बजरी मे बिखर जाते है। स्फटिक को छोड़कर अन्य सभी खनिज तथा स्फटिक का भी कुछ अंश पिसकर कीचड़-सा बन जाता है और बहकर गहरे जल की तह में बैठ जाता है।

सागर की लहरों की मार और उसके साथ ही रोड़े-पत्थरों की गोलियों की दौछार का निरन्तर प्रहार होते रहने पर भी समस्त स्थल जलमग्न क्यों नही हो जाता, इसका कारण यह है कि सागर की क्षयात्मक और विनष्टकारी लीला के साथ-ही-साथ प्रकृति उसके प्रभाव को कम करन के उपाय भी रचती जाती है। सागर की लहरें किनारों की चट्टानों को काट-काटकर इतना नीचा कर देती है कि समुद्री जल उस स्थल पर बिना प्रयत्न किये ही बह सकता है, अर्थात

समुद्र द्वारा स्थल के क्षय का एक उदाहरण :: ये अजीब शक्लें समुद्र की लहरों द्वारा तटवर्त्ती कगारों की चट्टानों के चाट लिए जाने से ही ऐसी बन गई हैं।

की ओर जाता रहता है। मोटी बजरी और कंकड़ को तो समुद्र की ओर से आने वाली लहर स्थल पर ला पटकती है, परन्तु महीन बालू और मिट्टी लौटते हुए पानी के साथ बहकर जल की ओर चली जाती है। यही कारण है कि समुद्रतट के अधिकांश स्थानों पर मोटे रोड़े और बजरी आदि बिछे मिलते हैं। परन्तु जब चट्टानों की चूर-चार और छीलन प्रचुर होती है और लौटनेवाले पानी के साथ बहकर आनेवाली सामग्री की अपेक्षा स्थल की ओर जानेवाली सामग्री अधिक होती है, तब महीन बालू भी तट की ओर इकट्ठा होने लगती और वहाँ की भूमि पर बिछ जाती है। इस प्रकार तटवर्त्ती भूमि पर जमा होनेवाली बालू और बजरी तथा कंकड़ के परत अस्थायी होते हैं, क्योंकि तट पर अधिक सामग्री जमा हो जाने से तट की भूमि ऊँची होने लगती है और फलतः किनारे पर जल की गहराई अधिक हो जाती है। इस कारण जल की लहरों में बहाकर लाने की शक्ति कम हो जाती है और लौटनेवाले जल की प्रतिक्रिया से तट की जमा सामग्री फिर धीरे-धीरे कट-कटकर गहरे जल में पहुँच जाती है।

इस प्रकार धीरे-धीरे स्थायी रूप से जमा हुई चट्टानों की चूर-चार फिर समुद्र के इतने गहरे जल में जमा हो जाती है कि वहाँ पर लहरों का प्रभाव असम्भव-सा हो जाता है। इस स्थान पर पहुँचकर इस पदार्थ की यात्रा समाप्त हो जाती है। इस स्थान से इसका एक प्रकार से नया जीवन-चक्र आरम्भ होता है।

समुद्रतट की रचना समुद्र की लहरों की प्रतिक्रिया के साथ-साथ चिप्पड़ के नीचे दबने या ऊपर उठने से भी होती है। तटवर्त्ती भूमि के अचानक नीचे हो जाने से नीची

स्थल का तल सागर के जलतल के लगभग समतल हो जाता है। इस अवस्था पर पहुँच जाने पर तटवर्त्ती भूमि पर लहरों का आक्रमण समाप्त हो जाता है और इस भूमि पर बजरी, बालू और मोटे कणवाली भुरभुरी कीच जमा हो जाती है। यह तह तटवर्त्ती भूमि का अधिक क्षय होने से रोकती है।

समुद्र की लहरों के हमले के फलस्वरूप चट्टानों के क्षत-विक्षत होने से जो चूर-चार बनती है, उसका हटना भी आवश्यक है। यदि वह न हटाई जाय, तो चट्टान के ऊपर परत के रूप में जमा होकर वे उन्हें अधिक क्षतविक्षत होने से बचाती रहेगी। अतः लहरें पीछे हटते समय इस चूर-चार को गहरे समुद्र की ओर बढ़ाती रहती हैं। भाटा भी चट्टानों की चूर-चार को किनारे से खींचकर गहरे सागर में पहुँचा देता है।

छिछले पानी में लहरों की प्रतिक्रिया तलहटी में जमी बालू और बजरी पर भी होती रहती है। प्रायः जल का रेला बालू-मिट्टी और बजरी को स्थल की ओर ले दौड़ता है, परन्तु उसी क्षण लौटनेवाली लहर इस सामग्री को समुद्र की ओर बहा ले जाती है। इस प्रकार हिलने-डुलने की प्रतिक्रिया होते रहने पर भी अधिकांश पदार्थ समुद्र की गहराई

भूमि पर जल का आधिपत्य हो जाता है। यदि तट की चट्टानें नरम और भुरभुरी हुई, तब तो शीघ्र ही समुद्र के जल के वेग से तट की भूमि कट-कटकर सागर में समा जायगी। इस प्रकार सागर-तट का आकार निरन्तर बदलता रहता है। नरम चट्टानें शीघ्र ही कट-कटकर पानी के साथ बह जाती हैं, परन्तु नदियों द्वारा बहाकर लाया गया पदार्थ उनके मुहानों में जमा होकर सागर को पाटता रहता है। परन्तु यदि तट की भूमि की चट्टानें कठोर और संकीर्ण घाटियोंवाली होती हैं, तब उनको काटना सहज नहीं होता। नार्वे और पश्चिमी स्कॉटलैण्ड का तट इसी प्रकार धीरे-धीरे नीचा होता जाता है।

तट के समीप कहीं-कहीं भूमि ऊपर उठने लगती है। जब भूमि ऊपर उठने लगती है, तो समुद्र में दबा हुआ स्थल भाग जल के ऊपर निकल आता है और पुराने तट के समीप इस भूमि पर दलदल की पट्टी हो जाती है। कालान्तर में यह जमीन संकीर्ण मैदान की पट्टी के रूप में तट की भूमि का निर्माण करती है। ऐसे मैदान समुद्र की ओर तो ढालू होते हैं और स्थल की ओर ऊँची चट्टान से घिरे रहते हैं। इन मैदानों को नदियाँ शीघ्र ही अपनी धाराओं से काट-काटकर बहा देती हैं अथवा इनमें इस्चुएरी बना देती हैं।

पृथ्वी के चिप्पड़ की तोड़-मरोड़ तथा सिकुड़न से भी समुद्र-तट की बनावट में काफी अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार की क्रिया के फलस्वरूप समुद्र की तलहटी के कुछ अंश के अचानक ऊपर उठ जाने से पर्वतों का जन्म होता है। इन पर्वतों की चोटियाँ जल के बाहर निकलकर द्वीपों के रूप में दिखाई देती हैं। पश्चिमी द्वीप-समूह तथा एशिया के पूर्वीय तट पर इस प्रकार के कई द्वीप पाए जाते हैं।
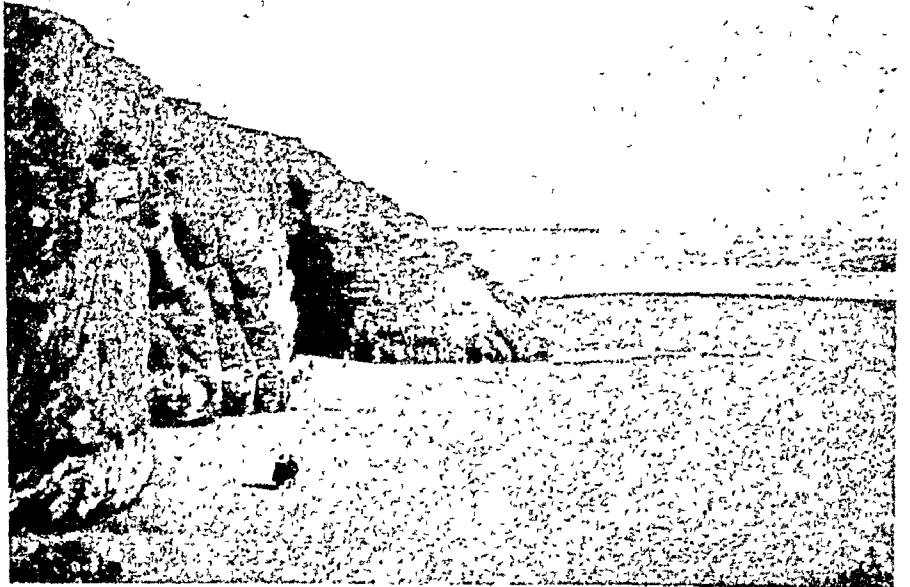
समुद्र की लहरों द्वारा क्षयात्मक कार्य करने की शक्ति केवल तटवर्त्ती स्थल की चट्टानों तक ही सीमित रहती है। जल की गहराई के बढ़ने के साथ-साथ लहरों की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। कितनी गहराई पर लहरों की क्रियाशीलता एकदम नष्ट हो जाती है, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की एक राय नहीं है। कुछ लोग समझते हैं कि ६००–६५० फीट की गहराई पर लहरों का प्रभाव तनिक भी नहीं होता है।

सागर का रचनात्मक कार्य

सागर की तरंगों और ज्वार-भाटा के वेग से सागरतटवर्त्ती चट्टानों का विखण्डन और क्षय होने के कारण जो चूर-चार बनती है, वह तो सागर में पहुँचती ही है, साथ ही दुर्गम्य स्थल की चट्टानों की छीलन की भी अपार राशि नदियों द्वारा सागर में प्रतिदिन पहुँचती रहती है। नदी के मुहाने पर पहुँचते ही बालू-मिट्टी, कंकड़ और बजरी-रूपी चट्टानों की छीलन और चूर-चार को सागर का जल अपनी तरंगों के वेग से बहाकर अधिक गहराई में ले जाने की चेष्टा में संलग्न हो जाता है। जिस प्रकार सूप द्वारा अनाज के छोटे-बड़े दाने अलग छँट जाते हैं, उसी प्रकार सागर की लहरें जल द्वारा बहाए गए पदार्थ के कणों की छँटनी करती रहती हैं। ज्वार-भाटा के आने से जल में काफी उथल-पुथल मच जाती है,

तटवर्त्ती चट्टानों का क्षय करके सागर की लहरें जो चूरचार बहा ले जाती हैं, वह बालू, बजरी, मिट्टी और कीचड़ के रूप में किनारे के छिछले भाग में जमा होता रहता है। इस प्रकार सागर की तट-रेखा दूर हटती जाती है, जैसी की इस चित्र में दिखाई दे रही है।

जिससे तली में बैठते हुए कण अशान्त हो जाते है और वे वहाँ बैठ नही पाते। परन्तु इस काल में नीचे बैठे हुए कणों की तली पर परत लग जाती हैं। जब जल फिर शान्त होता है, तब तली में दूसरी परत का पदार्थ एकत्रित होता है। इस प्रकार परत पर परत जमती जाती हैं। कालान्तर में यही परतें एक दूसरे पर सटकर ठोस रूप धारण कर लेती हैं और 'परतीली चट्टानें' कहलाती हैं।

स्थल से आए हुए पदार्थ को जमा करने के लिए सागर की तह में पृथक्-पृथक् तीन कोषागार हैं। इनमें से प्रत्येक की सीमा जल की गहराई के अनुसार निश्चित-सी है और प्रत्येक में जमा होनेवाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। सर्वप्रथम कोषागार सागर का वह भाग है, जो स्थल को छूता है और 'समुद्र-तट' कहलाता है। यह भाग ज्वार-जल की सर्वोच्च और भाटा की निम्नतम जलरेखाओं के बीच का प्रदेश है। दिन में दो बार यह भाग जल के बाहर धूप और वायु में झाँकने लगता है और दो बार ज्वार के जल के नीचे डुबकी लगा जाता है। समुद्र-तट के नीचा-ऊँचा होने तथा आगे-पीछे हटने से इसका क्षेत्रफल घटता-बढ़ता रहता है। दूसरा कोषागार है तट के समीपवाले इस प्रदेश के बाद का 'छिछले जलवाला प्रदेश'। इसकी सीमा निम्नतम जल-रेखा से लेकर १०० पौरस गहरे जल तक होती है। इसके अनन्तर 'गहरे जलवाला प्रदेश' है, जो महाद्वीपीय ढाल से आरम्भ होकर सागर की महत्तम गहराई तक फैला है।

समुद्र में बहकर आनेवाली राशि में विभिन्न प्रकार के पदार्थ रहते है। लहरो की क्रिया यह है कि इनमें से भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों को अलग-अलग करके भिन्न-भिन्न स्थलों में जमा करे। कौन-सा पदार्थ किस स्थान विशेष पर जमा होगा, यह कई बातो पर निर्भर है। स्थल की दूरी, तट के पास ही नदी के मुहाने का होना, तट के समीप सागर की तली की बनावट, तटवर्त्ती चट्टानों की अवस्था तथा जल की गहराई आदि इस पर विशेष प्रभाव डालती है। समुद्र-तट का किनारेवाला भाग अधिकतर बालू के कणों से ढका पाया जाता है। बजरी और कंकड़ की यह राशि बहुधा महा-कठोर स्फटिक-कणों की बनी होती है। विशेष परिस्थितियों मे कहीं-कहीं तट के पास महीन मिट्टी भी जमा हो जाती है, परन्तु ऐसा यदा-कदा ही होता है। सागर-तट का यह भाग अधिकतर स्थल और जल की सीमा को जोड़नेवाली एक सँकरी पट्टी के रूप मे होता है। समस्त धरातल पर इस प्रकार की भूमि का कुल क्षेत्रफल ३२,००० वर्गमील है। जहाँ तट का ढाल बहुत ही कम होता है, वहाँ बहुधा भाटा के समय बजरी से ढकी हुई दो या तीन मील चौड़ी भूमि जल के बाहर दिखाई पड़ती है।

इस प्रदेश से महीन बालूकण तथा बजरी और मिट्टी लहरों द्वारा छिछले जलतल में पहुँचा दी जाती है। वहाँ पर तहों के रूप में यह तली में जमा होती रहती है। तट की रचना, जलवायु तथा ज्वार-भाटा की लहरों का वेग छिछले जल की तली में जमा होनेवाले पदार्थ पर अपना प्रभाव डालते हैं। स्थल से आए हुए तथा तटवर्त्ती चट्टानों के विखं-डित कणों के अतिरिक्त छिछले जल की तली में कहीं-कहीं जीवों तथा जलोद्भिजों के अवशेष भी पाए जाते हैं। अनुकूल परिस्थितियो में जलजीवों और शैवालादि जलोद्भिजों का जमाव अधिक भी हो जाता है। इन जीवों के द्वारा सागर की तली में चूने के पदार्थ का क्षरण होता है। कालान्तर में यही द्रव्य चूने का पत्थर बन जाता है। इसमें जल-स्थित जीव-जन्तुओं के बाह्य अवशेष और ढाँचे समूचे के समूचे दब जाते हैं और चूने के पाषाण का रूप धारण कर लेते हैं। चूने के पाषाण के स्तर, कुछ तो स्थल से बहकर आनेवाले जल में घुले हुए कैल्शियम सल्फेट और कैल्शियम कार्बोनेट नामक लवणों के अपक्षेपण से और कुछ जलोद्भिजों और जल-जन्तुओं के अवशेषों से बनते हैं।

छिछले सागर की तली तथा गहरे जल की तली, दोनों ही स्थानों में असंख्य जीव पाए जाते हैं। कुछ जीव-जन्तु केवल गरम छिछले जल की तली में ही रह सकते हैं। ऐसे जीवों में मूँगा या प्रवाल प्रमुख है। इसके द्वारा छिछले जल-तल में असंख्य द्वीपो की रचना होती है। इन द्वीपों को 'प्रवाल द्वीप' कहते हैं। ऐसी प्रवाल-श्रेणियाँ उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों के सागर-जल मे अनेकों द्वीपों को घेरे हुए पाई जाती हैं। समस्त प्रवाल-श्रेणियों का विस्तार लग-भग ५०,००,००० वर्गमील है।

प्रवाल-श्रेणियाँ

प्रवाल एक प्रकार का सूक्ष्मशरीरी अनेकजातीय जल-जन्तु विशेष होता है। अपने शरीर के निचले भाग में यह चूने के पदार्थ का एक बाह्य आवरण अपने जैव रस के निस्सरण से बनाता है। शीघ्र ही यह आवरण कठोर हो जाता है। जिस प्रकार पौधों में नए-नए अंकुर निकलते रहते हैं, उसी प्रकार प्रवाल-जन्तु के बाह्य आवरण में भी नए-नए अंकुर निकलते हैं और उनके भीतर वे अपने को सुरक्षित रूप से बन्द किए रहते हैं। इस प्रकार एक प्रवाल-जन्तु के शरीर से अनेक जन्तुओं का विकास होता है
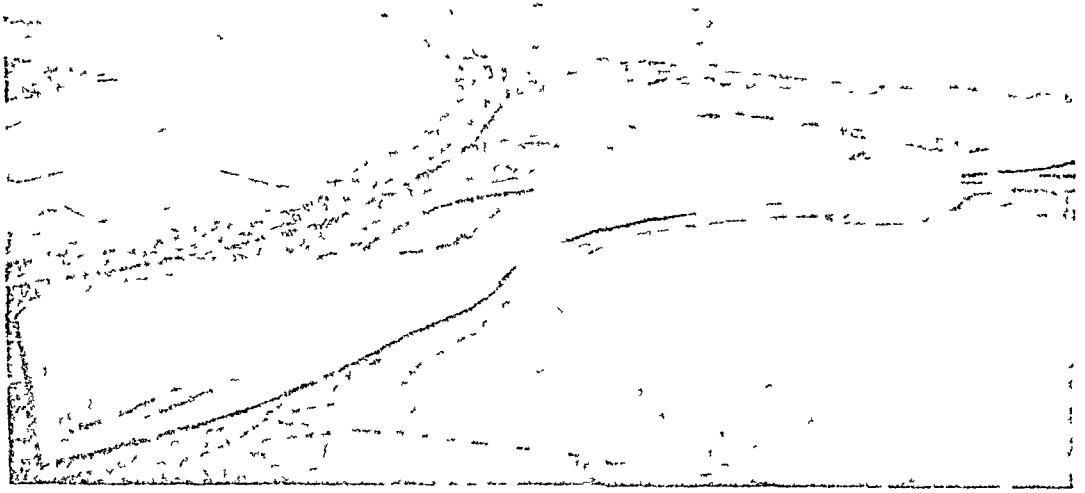
स्थल के विखंडित पदार्थ की अपार राशि नदियों द्वारा सागर में प्रतिदिन पहुँचती रहती है। बालू, मिट्टी कंकण-पत्थर आदि का इस प्रकार का ढेर उनके मुहानों पर जमा होता रहता है और ज्वार-भाटे की क्रिया से सागर-तल में पहुँचता रहता है। यह द्रव्य समुद्र को पाटने में मदद देता है। चित्र में एक ऐसे ही मुहाने का दृश्य है।

और ये नए जन्तु भी नित्य नए जन्तुओ को जन्म देते रहते हैं। इस कारण प्रवाल का बाह्य आवरण छत्तो के रूप मे बहुत बड़े आकार का हो जाता है, जिसमे असंख्य शाखाएँ निकलती रहती है। जैसे-जैसे प्रवाल का ढाँचा बढता जाता है, उसके पुराने जन्तु मरते जाते हैं। मरे हुए जीवो के ढाँचे नवीन प्रवाल-जन्तुओ के नीचे दबे रहते है तथा जल के बाहर निकले हुए प्रवाल-शरीरो के विखण्डन और क्षय से उत्पन्न चूरचार के तली मे गिरने से वे ढकते जाते है। तली मे सचित यह पदार्थ कालान्तर मे श्वेत रूपजयुक्त चूना-पाषाण का रूप धारण कर लेता है, जिसके ऊपर प्रवाल-जन्तु अपने नए-नए ढाँचे बनाते जाते हैं।

इन अवशेषो पर जलतरंगें चूने के महीन कण और पंक इकट्ठा करना आरम्भ कर देती है, जिसके फलस्वरूप प्रवाल-श्रेणी-शिखर शीघ्र ही एक चबूतरे या प्लेटफार्म मे परिणत हो जाता है, जिस पर निरंतर बालूकण और महीन पंक सरीखा पदार्थ जमा होने लगता है। इस प्रकार जल मे स्थल की रचना का आरभ होने लगता है। यदा कदा लहरो के साथ बहकर जानेवाले नारियल आदि के बीज यहाँ जमा हो जाते है। इस प्रकार इन प्रवाल-श्रेणियो पर वृक्षो का जन्म हो जाता है, जिन पर पक्षी अपने घोसले बना लेते है। कही-कही यह प्रवाल-श्रेणी स्थल मे जुड जाती है और कही स्वतत्र द्वीप के रूप मे बीच सागर मे मस्तक उठाए दिखाई देती रहती है।

स्थिति और बनावट के अनुसार तीन प्रकार की प्रवाल-श्रेणियाँ देखने मे आती हैं। एक तो वे हे, जो तट से जुड़ी-सी रहती है। ये 'सीमान्तक प्रवाल-श्रेणियाँ' कहलाती है। बहुत-से प्रदेशो मे इनका ऊपरी भाग तट से थोडी दूरी पर अलग दिखाई देता है और उनके बीच मे छिछले पानी की एक खाई रहती है, जिसकी तली मूँगे की चट्टान की बनी होती है। दूसरी प्रवाल-श्रेणियाँ 'बाधक श्रेणियो' के नाम से प्रसिद्ध है। ये तट के समानान्तर कुछ दूरी पर, गहरी और कही-कही विशेष चौडी खाई द्वारा तट से विभक्त होती है और तट की रक्षा करती प्रतीत होती है। कही-कही सीमान्तक श्रेणियाँ बाधक श्रेणियो का रूप धारण कर लेती हैं और कही बाधक श्रेणियाँ सीमान्तक श्रेणियो का।

उपर्युक्त प्रकार की प्रवाल-श्रेणियो की लम्बाई कही-कही सैकड़ों मील तक पाई जाती है। क्यूबा के उत्तरी तट के समानान्तर तट की पूरी लम्बाई भर एक बड़ी प्रवाल-श्रेणी बनी है। हिन्द महासागर मे न्यू कैलिडोनिया की प्रवाल-श्रेणी भी ४०० मील लम्बी है। ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी पूर्वी तट के समानान्तर बनी प्रवाल-श्रेणी तो सब से अधिक महत्व की है। यह तट से २० से ८० मील तक की दूरी पर है। इसकी लम्बाई १,२०० मील है। बीच मे इसकी शृंखला कही-कही भग हो गई है। इस श्रेणी की चौड़ाई १० से ६० मील तक है। इसका सर्वोच्च भाग कही-कही सागर की तली से १,८०० फीट तक ऊँचा पाया जाता है।

तीसरे प्रकार की प्रवाल-श्रेणियाँ वलयाकार (एटॉल) होती है। इनके बीच मे छिछले जल की झील होती है। प्रवाल-श्रेणी मे इस आवद्ध जल का बीच मे पाए जानेवाले खुले अंशों द्वारा सागर के जल से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार की वलयाकार श्रेणियो की रचना बड़ी रहस्यमय प्रतीत होती है। दक्षिणी पैसिफिक महासागर के द्वीप-समूह मे इनको बहुतायत है।

डार्विन के अनुसार प्रवाल-द्वीपों की रचना इस प्रकार से हुई होगी। पहले ज्वालामुखीय चट्टानों का कोई अंश समुद्र-जल में से ऊपर उठ आया होगा। तदनंतर इस नवनिर्मित द्वीप पर प्रवाल-जंतुओं ने वलयाकार प्रवाल-श्रेणी बनाना शुरू किया होगा। द्वीप के अधिकांश भूभाग के पुन: धँसकर जलमग्न हो जाने से प्रवाल-श्रेणी तथा द्वीप के बचे हुए भाग के बीच छिछला सागर का जल आबद्ध हो गया होगा। इस प्रकार बाधक-श्रेणी बनी होगी। इस बीच प्रवाल-श्रेणी का क्रमश: ऊपर उठाने का क्रम जारी रहा होगा। तब पुन: धँसाव के कारण द्वीप का लोप हो गया होगा और केवल प्रवाल की वलयाकार झालर के अंश 'एटॉल' के रूप में यहाँ-वहाँ बच रहे होंगे, ऊपर के तीन चित्रों में मूँगे के द्वीप का यही क्रमिक विकास प्रदर्शित है। कालान्तर में महासागर से घिरे हुए इन एकाकी मूँगे के टापुओं पर वृक्ष आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अद्भुत दृश्य प्रस्तुत हो जाता है।

यद्यपि प्रवाल-जन्तुओं के खोल कठोर होते है, तथापि लहरों की चोटो के आगे इनका भी भुरकुस निकल जाता है। इनका चूरा समुद्र की तह मे बैठता जाता है, जिसके स्तर-के-स्तर समुद्र की तली मे जमते जाते है। प्रवाल की चट्टानो के कण छोटे-छोटे बालूकणों से लेकर बड़े कंकड तक के बने होते है। इन छोटे-बड़े कणो को आपस मे बाँधने के लिए प्रवाल का महीन चूरा, जो पंक-सरीखा होता है, काम आता है। यह कोमल पंक इन कणो को आपस मे उसी प्रकार बाँध देता है, जैसे 'सीमेंट' बालू और कंकड को। अन्य असंख्य लघु जन्तु तथा जलोद्भिज भी इन्हें बाँधने की क्रिया तथा चूर-चार उत्पन्न करने में सहायक होते है। जल मे घुला कैल्शियम कार्बोनेट भी इस चूर-चार के छिद्रों मे भरकर उनको बाँधने मे सहायक होता है। प्रवाल-श्रेणियो के अतिरिक्त छिछले पानी के किनारे की ओर कही-कही एक विचित्र प्रकार के पत्थर की रचना होती है, जो दानेदार चूना कहलाता है। यह देखने में मछली के असंख्य अंडसमूह-सा लगता है।

प्रवाल के अतिरिक्त अन्य जलजन्तुओं की ठठरियो के कणो से भी चूना-पाषाण की रचना होती है। इनमे फौरैमिनीफेरा, ब्रायोजोआ, एकिनोडर्म्स, केर्लापोर और ऋस्टीशिया नामक जन्तु और जलोद्भिज प्रधान हैं। इन जन्तुओं के असंख्य वाह्य आवरण चिकनी मिट्टी और पंक तथा महीन बालू-कणो मे दबे पाए जाते है। कही-कही छिछले जल की तह इन्ही के मृत अवशेषों से भरी रहती है। लहरो के वेग से ये चूर-चार हो जाते है और इनकी महीन बालू बन जाती है, जो शान्त तली मे पतले स्तर के रूप में जम जाती है।

गहरे जल में जमा होनेवाला पदार्थ

गहराई के कारण गहरे जल की तह में लहरो का तनिक भी प्रभाव नही पडता। इस कारण स्थल से बहकर आए हुए पदार्थ का केवल वही अंश, जो अति सूक्ष्म कणोवाला है, यहाँ पर आ पाता है। यह पदार्थ कोमल पंक के रूप में जमा होता है। पंक बहुधा अधिक गहराई की तह मे जमा पाया जाता है और धरातलीय पदार्थ (वह पदार्थ जो स्थल से बहकर आया है), ज्वालामुखीय धूल तथा सागर के जल-तल पर रहनेवाले असंख्य आदिजीवों की ठठरियो के कणों से मिलकर बना होता है। जिस पंक मे जीवो की ठठरियो के कणो की बहुतायत होती है, वह 'चूने का पंक' कहलाता

सागर द्वारा स्थल की रचना के कार्य में अनेकों समुद्री जीवों का भी हाथ है। इनमें मूंगा या प्रवाल-जंतु प्रमुख है। इन नन्हें-नन्हें जीवों की टापूनुमा रचनाएँ कुल मिलाकर लगभग ५० लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में फैली हुई हैं, जिनमें सब से महत्वपूर्ण ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट के समानान्तर १,२०० मील तक फैली हुई वह प्रवाल-श्रेणी है, जो 'ग्रेट बेरियर रीफ' कहलाती है। प्रस्तुत चित्र में इसी अनोखी प्रवाल-श्रेणी के एक भाग का दृश्य है।

है और जिसमें ज्वालामुखीय धूल की अधिकता होती है, वह 'ज्वालामुखीय पंक' कहलाता है। धरातल से बहकर आया हुआ पदार्थ 'स्थलीय' कहलाता है। विभिन्न गहराइयों में इन पंकों के रंगों मे विभिन्नता पाई जाती है। इनमे नील पंक, हरित पंक और लाल पंक विशेष उल्लेखनीय है।

नील पंक समुद्र की तह मे पाए जानेवाले सूक्ष्मकणीय पदार्थों मे सब से अधिक विस्तृत है। इसका विस्तार लगभग १,४५,००,००० वर्गमील के क्षेत्रफल मे है। लगभग सभी समुद्र-तटों के आगे की गहराई की तह की एक सँकरी पट्टी नील पंक से ढकी पाई जाती है। आर्कटिक और भूमध्यसागर सरीखे बन्द सागरों की तह में यही पंक बिछा है। यह १२५ पौरसों की गहराई की तह से लेकर २,८०० पौरस की गहराई की तह तक पाया जाता है। इसके नीले रंग का प्रधान कारण इसमें पाए जानेवाले लोहे के गंधकीय खनिज कणों की प्रचुरता है।

लाल पंक विशेषकर ब्रेजिल के अटलांटिक तट पर तथा चीन के पीले सागर में पाया जाता है। यह बहुधा गरम प्रदेशों मे अधिक होता है। इसका लाल रंग गेरू के कारण होता है, जिसके कण इसमे बहुत अधिक रहते हैं। इस पंक में 'फौरैमिनीफेरा' नामक आदिजीवों की ठठरियाँ विशेष रूप से पाई जाती हैं।

चूने के पदार्थ का पंक अधिकतर प्रवाल एवं अन्य जंतुओं तथा वनस्पतियों के कठोर खोलों के घिसने, टूटने और पिसने से बनता है। इनके सूक्ष्म कण गहरे जल की तह की ओर बह जाते हैं।

ज्वालामुखीय पंक बहुधा उन गहरे समुद्रों की तली में जमा होता पाया गया है, जिसके आसपास ज्वालामुखी पर्वत तथा द्वीप है। ज्वालामुखी की राख समुद्र के जल में गिरती है और धीरे-धीरे बैठती हुई उन स्थानों पर जमा हो जाती है, जहाँ की तह पर लहरों का प्रभाव नहीं होता।

लाल मिट्टी सरीखा असीम गहराई के जल की तह में पाया जानेवाला पदार्थ कुछ अंश तो ज्वालामुखी की राख के ही विश्लेषण से उत्पन्न हुआ है और कुछ जल में घुले पदार्थों के जीवों द्वारा परिवर्तित किए गए पदार्थ से। लाल मिट्टी से ढकी तली का क्षेत्रफल लगभग ५,१५,००,००० वर्गमील है। इसका ⅘ भाग प्रशान्त महासागर में है।
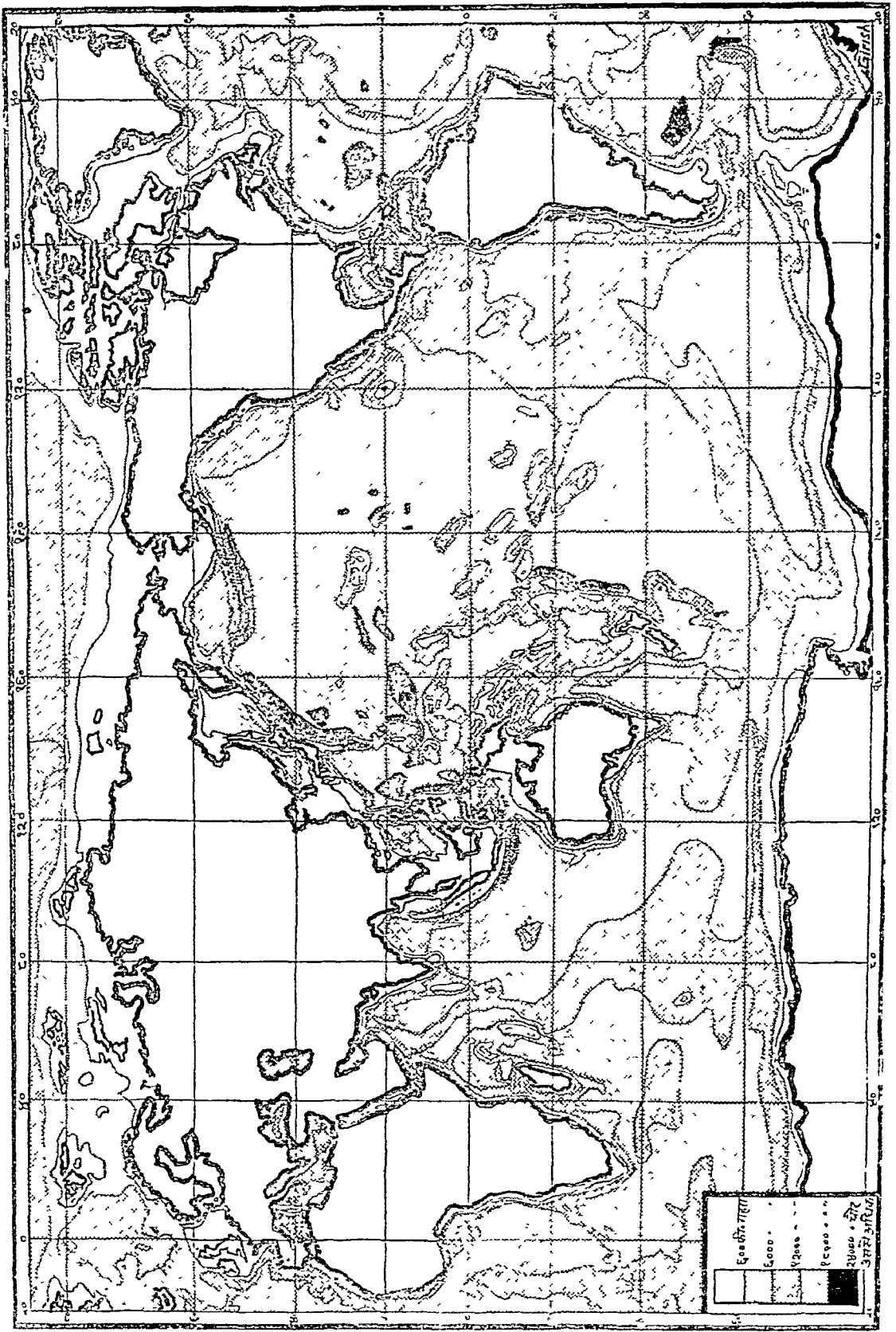
जलमंडल का स्वरूप और उसकी हलचलें

समुद्री धाराएँ

पृथ्वी का धरातल जिन दो बड़े भागों से बना है, उनमें से एक 'स्थलमण्डल' है, जिसका वर्णन हम कर चुके हैं, दूसरा 'जलमण्डल' है, जो सम्पूर्ण धरातल के तीन-चौथाई से कुछ कम (लगभग ७१ प्रति शत) भाग को ढके हुए है। इसे साधारणतः 'समुद्र' या 'सागर' के नाम से पुकारा जाता है। जो भूभाग जल के बाहर है, उन्हें ही हम महाद्वीपों और द्वीपों के नाम से पुकारते है। वास्तव में समस्त स्थल एक विशाल समुद्र में (जिसे हम भूमहासागर का नाम दे सकते है) द्वीप की भाँति ऊपर उठा हुआ है। पृथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध अधिकांशतः स्थल भाग से बना है और दक्षिणी भाग में अधिकांशतः जल का विस्तार है। इसी कारण पृथ्वी को बहुधा दो भागों में विभाजित किया जाता है—एक को 'स्थल-गोलार्द्ध' और दूसरे को 'जल-गोलार्द्ध' कहते है।

ऊपर से देखने पर सागर की सतह एकदम सपाट जान पड़ती है। इससे यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही है कि सागर की तलहटी भी मैदान की भाँति सपाट ही होगी। पर बात कुछ और ही है। यदि मनुष्य किसी प्रकार समस्त जलमण्डल या सागर के किसी एक विशाल खण्ड को सुखा पाता या उसका जल उलीचकर बाहर कर पाता, तो उसे दिखाई देता कि सागरतल भी उसी प्रकार ऊँचा-नीचा है, जिस प्रकार धरातल का स्थलभाग है। सागरतल में भी अनेकों पहाड़ियाँ, गड्ढे और घाटियाँ है। प्रशान्त महासागर में तो इतने गहरे गर्त हैं कि यदि हिमालय का सर्वोच्च शिखर भी उनमें रख दिया जाय, तो उसके ऊपर भी मील डेढ-मील से अधिक ऊँचाई तक जल बना रहेगा, अर्थात् १।। मील की गहराई तक गोता लगाने पर ही कहीं उसकी थाह मिलना संभव होगा !

सागरतल की गहराई जाँचने के लिए विशेष प्रकार के यंत्र रचे गए है, जो न केवल जल की गहराई का ही पता लगाते हैं, वरन् विभिन्न गहराइयों के जल और मिट्टी तथा जीवों का नमूना भी ले आते है और विभिन्न स्तरों के ताप का भी पता लगाते है। स्थल के समीप जलखण्ड अधिकतर छिछला है और स्थल से समुद्र की गहराई तक वह ढाल के रूप में चला गया है। इस ढाल को 'महाद्वीपीय ढाल' (कॉन्टीनेन्टल शेल्फ) कहते है। जहाँ कहीं स्थल और जल की सीमा पर उच्च पर्वत-शिखर हैं, वहाँ इस ढाल का अभाव है और स्थल के समीप ही गहरा सागर आरम्भ हो जाता है। इस ढाल का बडा भारी उपयोग यह है कि चूँकि समुद्र के अधिकांश जीव, जिनमें मछलियाँ प्रमुख हैं, छिछले सागर ही में रहते है, इसलिए वे इस ढाल पर बहुतायत से पाए जाते है। इसीलिए समस्त जलमण्डल मे जहाँ-जहाँ ये ढाल है वहाँ मछली पकड़ने का व्यवसाय बहुतायत मे होता है।

पाँच महासागर

सारे जलमण्डल को हम 'भूमहासागर' कह सकते है, क्योंकि वह समस्त भूमण्डल पर फैला हुआ जल का एक ही विशाल आगार है। परन्तु मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए इस विशाल महासागर को कई खण्डों में विभाजित करके प्रत्येक की सीमा निर्धारित कर दी है। इन खण्डों में से जो अधिक विस्तीर्ण है, उनका नाम 'महासागर' रक्खा गया है। शेष खण्डों को 'सागर' या 'उपसागर' कहते है। परन्तु अधिकतर सभी जलखण्डों को सागर या समुद्र के

नाम से पुकारा जाता है। महासागर पाँच माने जाते हैं। इनका विस्तार दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक है। दक्षिणी ध्रुव को घेरे हुए जो जलखण्ड है, उसे 'दक्षिणी महासागर' कहते है। दक्षिणी महासागर से मिले हुए तीन विशाल जलखण्ड उत्तर की ओर फैले है। इनमे से सव से अधिक विस्तृत खण्ड का नाम 'प्रशान्त महासागर' है। इसका क्षेत्र-फल लगभग साढे छ. करोड वर्गमील है और यह पृथ्वी के समस्त क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग घेरे हुए है। यह महा-सागर तीन ओर से स्थल से घिरा है। प्रशान्त महासागर की स्थल-सीमा के तट पर ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ वनी है, जिनके भीतर यह एक झील-सा प्रतीत होता है। भूतत्त्व-शास्त्रवेत्ताओ के मतानुसार चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने मे जो विशाल गर्त उत्पन्न हुआ था, उसी मे जल भर जाने से यह सागर उत्पन्न हुआ है। इस महासागर मे असंख्य टापू पाए जाते है, जिनमें से अधिकांश मूँगे के टापू है।

तीसरा विशाल जलखण्ड 'अटलाण्टिक महासागर' कह-लाता है। यह योरप और अफ्रीका को अमेरिका से अलग करता है। यदि नक्शे मे इसकी पूर्वीय और पश्चिमी सीमाएँ सटा दी जाएँ, तो वे इस प्रकार संयुक्त हो जाएँगी कि जल के लिए कोई स्थान कठिनाई से ही मिलेगा। चौथे महा-सागर का नाम 'हिन्द महासागर' है। उत्तर मे एशिया स्थलखण्ड इसकी सीमा है, पूर्व में यह ऑस्ट्रेलिया तथा पूर्वीय द्वीपपुञ्ज से और पश्चिम में अफ्रीका से घिरा है।

उत्तरी ध्रुव को जो जलखण्ड घेरे हुए है, उसे उत्तरी महासागर' अथवा 'हिम सागर' कहते है। इस सागर का जल अधिकांश दिनो में वरफ से ढका रहता है।

सागर का जल खारी क्यों है ?

सागर और धरातल के अन्य जलाशयो का पानी सूर्य की गरमी से निरन्तर भाप वनकर उड़ता रहता है। भाप से वादल वनते है और जितना पानी भाप वनकर ऊपर जाता है, वह सव ओस, वर्षा व ओले वनकर वरस जाता है और वहकर सोतों व नालो से होकर नदियों में तथा नदियो से होकर सागर मे पहुँच जाता है। यह जलवहन-चक्र निरं-तर जारी रहता है, जिससे समुद्र देखने में न तो घटता है, न वढता है, वरन् अपनी मर्यादा वनाए रखता है।

वर्षा-जल जव सागर में पहुँचाता है, तव उसमें अनेको खनिज लवण तथा क्षार मिले होते है, जो धरती मे मिट्टी और चट्टानों के स्तरों मे होकर वहने के कारण जल मे घुल-मिल गए है। पृथ्वी के जन्म से ही पहाडों और चट्टानो के घुलनशील अंग घुल-घुलकर समुद्र के भीतर पहुँचते रहे है। इस तरह समुद्र मे नमक का अंश वरावर वढता रहा है। पानी के भाप वनकर उड़ जाने से उसका नमक ठोस होने के कारण समुद्र में ही रह जाता है। इस कारण समुद्र में नमक नितप्रति वढता रहता है, वह किसी प्रकार कम नहीं होता। यही कारण है कि समुद्र का जल खारी है और यह खारीपन नितप्रति वढता ही जाता है। इस समय समुद्र-जल के सौ अंगों में विविध नमको के साढे तीन अंश आँके जाते हैं। परन्तु यह औसत मान ही है। भिन्न-भिन्न भागो के समुद्र मे नमक की मात्रा न्यूनाधिक भी पाई जाती है। जहाँ वर्षा अधिक होती है, वहाँ का जल कम खारी होता है और जहाँ वर्षा कम होती है, वहाँ का जल अत्यन्त खारी पाया जाता है।

समुद्र-जल का दवाव

खनिज पदार्थों के मिश्रण के कारण सागर का जल साधारण जल की अपेक्षा भारी होता है, इसलिए उसमें तैराव की शक्ति स्वच्छ जल की अपेक्षा अधिक होती है। १,००० मन स्वच्छ पानी के आयतनवाले खारी पानी का वजन १,२०६ मन होता है। समुद्र के सव से गहरे तल मे प्रति वर्ग-इंच पर ८ टन (८ × २७$\frac{१}{२}$ मन) का दवाव रहता है। यदि कोई वोतल डाट लगाकर समुद्र की गहराई में पहुँचा दी जाय, तो या तो उसकी डाट भीतर चली जायगी या वोतल पिचक जायगी। हम ज्यों-ज्यों अधिक गहराई मे जाते है, दवाव वढता जाता है। यही कारण है कि अधिक गहराई के जीव-जन्तु यदि किसी प्रकार ऊपर उठ आते है, तो कम दवाव को वर्दाश्त करने के लिए उन्हे अपने शरीर को फुलाना पडता है। कभी-कभी जव वे इतने ऊपर आ जाते है कि अधिक शरीर फुलाना असंभव हो जाता है; तव दवाव की कमी के कारण उनका शरीर फटकर चिथड़े-चिथडे हो जाता है!

सागर-जल का ताप

समुद्र के जल का ताप विविध अक्षांशो और गहराई के अनुसार विभिन्न पाया जाता है। जिस प्रकार वायुमंडल का ताप ऊपर चढ़ने से गिरता जाता है, उसी प्रकार जल-मंडल का ताप भी अधिकाधिक गहराई में पहुँचने से कम होता जाता है। तीन-चार मील की गहराई पर तो पानी का ताप हिमांक मे कुछ ही ऊपर होता है। इस तापांक पर पानी सव से अधिक घनी दशा में होता है, इसलिए दक्षिणी ध्रुव की ओर से हिम सागर का अत्यंत ठण्डा जल अपने भार के

कारण तली में से ही धीरे-धीरे रेंगता हुआ सारे सागर मे फैल जाता है। यह जल प्रायः बरफ जैसा शीतल होता है। इसके गरम होने की कभी नौबत ही नही आ सकती। निदान गहरे सागर में सदैव शाश्वत शीत का साम्राज्य है!

जल के धरातल का ताप अधिकतर अक्षांश और वायु-मण्डल के ताप के अनुसार न्यूनाधिक होता है। भूमध्यरेखा के आसपास समुद्र-जल का ताप वायु के ताप से कुछ अधिक होता है। जल का ताप भूमध्यरेखा के पास प्रायः ८०° फा० होता है। परन्तु ध्रुवो के पास धरातल के पानी का ताप--२८° या २९° फा० रहता है। खारीपन के कारण इतने ताप पर भी पानी जमता नही है। अटलांटिक और भूमध्यसागर के ऊपरी धरातल के पानी का ताप एक-सा है, परन्तु जिब्राल्टर-प्रणाली के पास एक निमग्न पहाडी की स्थिति के कारण दो मील की गहराई पर अटलाटिक का ताप ४०° फा० हो जाता है। परन्तु इसी गहराई पर भू-मध्यसागर का ताप ५५° फा० से कम नही होता। इसी प्रकार हिन्द महासागर और लाल सागर के ताप में भी विभिन्नता है। लाल सागर का ताप ७०° फा० से कही कम नही होता है, परन्तु हिन्द महासागर का ताप बराबर कम होता जाता है। लेकिन दोनों के धरातल का ताप प्राय. समान है।

कर्क और मकर रेखाओं के समीप जल की अपेक्षा वायु का ताप अधिक रहता है। ४०° अक्षांश से आगे ध्रुव तक समुद्र-जल की गरमी वायु की गरमी की अपेक्षा फिर अधिक हो जाती है, जिससे ध्रुव के निकटवाले प्रान्तो को लाभ पहुँचता है। जाड़े में समुद्र स्थल की अपेक्षा सभी स्थानो पर अधिक गरम रहता है -- विशेषतया उत्तरी अटलाटिक में। किन्तु गरमी में हिन्द महासागर को छोड़कर शेष सभी जगह सागर अधिक ठण्डा रहता है।

समुद्र-जल का ताप बहुत-कुछ उसमे घुले नमक की मात्रा पर भी निर्भर है। प्रायः जहाँ-जहाँ समुद्र-जल मे नमक की मात्रा अधिक रहती है, वही ताप भी अधिक रहता है। जहाँ यह मात्रा कम रहती है, वहाँ ताप कम रहता है। इसके साथ ही साथ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ जल में गरमी अधिक होगी, वहा का जल अधिक मात्रा मे भाप बनकर उड़ेगा। इस प्रकार ऐसे स्थानो पर जल मे नमक की मात्रा भी अधिक होगी। किन्तु भूमध्यरेखा के आसपास भाप बनकर उड़नेवाले जल की मात्रा अधिक होते हुए भी नमक की मात्रा अधिक नही हो पाती, क्योंकि वहाँ पर वर्षा के अधिक होने से जल की मात्रा बढ़ जाती है। समुद्र-जल में सब से अधिक नमक कर्क और मकर रेखाओं के आसपास मिलता है, जहाँ वर्षा कम होती है और गरम हवा पानी को भाप बनाकर अधिक उड़ाती है। ध्रुव-प्रान्तों के समुद्र-जल मे नमक बहुत कम रहता है, क्योंकि वहाँ शीत होने के कारण जल भाप नहीं बन पाता। समुद्र-जल के खारीपन और ताप मे विभिन्नता होते हुए भी, तरलावस्था में होने से, इस खारीपन और ताप की विभिन्नता एकाएक हमें नही मालूम होती। खारीपन और ताप दोनो ही एक से दूसरे स्थान तक जाने में शनैः-शनैः घटते-बढ़ते है।

सागर-जल की गति--तरंगें या लहरें

सागर का जल बहुत कम शात रहता है। एक साधारण तालाब में पत्थर फेंकने से भी भाँति-भाँति की लहरें उठती हैं। फिर सागर-जल मे तो बड़े-बड़े उपद्रव हुआ करते है, जिनमें सब से प्रमुख नदियों का गिरना तथा वायुमण्डल की गतिविधि से उत्पन्न हलचलें है।

ऊपर से नीचे की ओर वेग से बहती हुई वायु के प्रबल धक्कों से जल दबकर गहरा हो जाता है, फलत जिधर धक्के की गति होती है, उस ओर को दबा हुआ जल ऊँची लहर का रूप ग्रहण करता है और धक्के के कारण वह आगे को बढता है। उत्तुग तरगमाला के जन्म का यही कारण है। ऐसी लहर का शिखर जितना ही आगे बढता है, उतना ही उसका गर्त पीछे को हटता है। जब यही तरंगमाला छिछले जल मे पहुँचती है, तो गर्त की गति धरती से लगकर शिथिल हो जाती है और शिखर का भाग टूटकर विद्रुसीकरमाला का रूप ग्रहण कर लेता है। ये टूटनेवाली लहरें ऐसा धक्का देती हैं कि चट्टानें आखिर उसे सह नही पाती और वे चूर-चूर होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। लहर के एक शिखर से दूसरे की दूरी पाव मील तक तथा शिखर की ऊँचाई पचास फीट से भी अधिक तक होती है। परन्तु इन लहरो का प्रभाव -- चाहे वे कितनी ही ऊँची और वेगवाली क्यों न हों -- अधिक गहराई तक नही होता।

जहाँ-कहीं तूफान आता है, वहाँ तूफान के बीत जाने पर भी कई घण्टे तक समुद्र के जल मे बराबर थरथराहट बनी रहती है, क्योकि जल बड़ा ही लचीला या स्थितिस्थापक होता है। तूफान का कम्पन शात होने मे देर लगती है और यह कम्पन बहुत दूर तक फैलता है। कहीं-कहीं तो तूफान के फलस्वरूप बडी ऊँची-ऊँची लहरे उठती हैं। अधिक वेग से चलनेवाली वायु बड़ी-बड़ी विशाल लहरे उठाकर इसी तरह तूफान पैदा करती हैं। कभी-कभी छिछले सागर पर चलनेवाली आँधी जल की एक पतली तह को वेग से अपने आगे उठाकर बहा

जलमंडल की नदियाँ अर्थात् मुख्य-मुख्य समुद्री धाराओं की गतिविधि का मानचित्र।

ले जाती है, जो स्थल पर या तो एकाएक बाढ़ ले आती है अथवा जल को समुद्र की ओर खीच ले जाकर किनारे को खाली छोड़ देती है। भूकम्प और समुद्र की तलहटी के उपद्रवो से भी विशाल लहरे उठती है। दो विरोधी दिशाओ में जानेवाली वायुधारा के वेग से मिलने पर ववण्डर या वायु का भ्रमरा-वर्त्त (भँवर) वनता है। समुद्र मे वायु के इस भँवर से जल का फव्वारा उठता है। यदि लहरो का वेग अधिक हुआ, तो यह फव्वारा वडी तेजी से आगे वढता है और साकार दानव-सा प्रतीत होता है। जल का यह भँवर सब से भयानक होता है। इसमें पड़कर कोई वच नही सकता। इसका चक्कर साक्षात् मृत्यु का फेर होता है।

समुद्र का जल कही आसमानी, कही नीला, कहीं गाढ़ा नीला, कही काला या घोर काला और ध्रुव-प्रदेश आदि में हरा भी देख पड़ता है। स्वच्छ जल का रंग आसमानी दिखाई देता है, जो समुद्र की धाराओं में अधिक निखरा रहता है। इसी कारण समुद्र-जल मे धारा वड़ी सुगमता से पहचानी जा सकती है। ध्रुव-प्रदेशो मे पानी में घुलित लवण तथा प्रकाश-किरण आदि के विशिष्ट प्रभाव से पानी का रंग हरा दिखाई देता है। आकाश के प्रतिविम्व के कारण भी सागर का जल नीला, काला आदि भाँति-भाँति के वर्ण का जान पडता है।

समुद्र में जीवन

समुद्र असंख्य जीवों से भरा है। भूतत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ समुद्र मे ही हुआ। स्थलचरों, नभचरों और उद्भिजो आदि सवको मिलाकर देखा जाय, तो भी गिनती में जल के प्राणियो की अपेक्षा वे कम ही ठहरेगे। सूर्य की प्रत्यक्ष किरणे पाँच सौ पोरसो (फादम) तक सागर मे पहुँच जाती हैं और अप्रत्यक्ष किरणें और अधिक गहराई तक पहुँचती है। इस प्रकार सूर्य का उत्पादक प्रभाव वहुत वडे क्षेत्र तक पहुँचता है। शैवाल आदि समुद्री वनस्पतियो के वहते उद्यानो से लेकर अणुरूप जलोद्भिज तक सभी इन्हीं किरणों के आश्रित है। इनमें प्रकाश द्वारा रासायनिक क्रिया से निरन्तर असंख्य प्रकार के यौगिक वनते रहते है। कार्वन डाइऑक्साइड के विच्छेद और जल में ऑक्सिजन के घुलते रहने से ऊपरी तल मे अनन्त प्रकार के जलचर प्राणी जीवनयापन करते है। एक ओर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के लिए भी दुर्भेद्य कोटि-कोटि की संख्या मे रहनेवाले अनन्त प्राणी समुद्र में है, दूसरी ओर विशालकाय दानवीय जीव-जन्तु भी उसमें रहते है, जिनमें ह्वेल, ऑक्टोपस, वालरस, सील और भाँति-भाँति के मत्स्य आदि विचित्र आकृति के जीव सम्मिलित हैं।

सागर जलचर जीवों का तो सहायक है ही, साथ ही हमारे सांसारिक जीवन की रक्षा में भी इससे बहुत सहायता मिलती है। जलवायु के उत्पादन में जिस प्रकार वायुमण्डल की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार जलमण्डल की भी आवश्यकता है। हमारे लिए तो जलमण्डल का एक दृष्टि से इसलिए भी बहुत महत्व है कि सागर और महासागर एक भूभाग से दूसरे भूभाग को जाने-आने के हमारे महान् व्यापारिक मार्गों का भी काम देते हैं।

जलमंडल की नदियाँ या समुद्री धाराएँ

सागर के जल में नीचे-ऊपर की गति तथा हवा के झकोरों से तरंगों की गति तो होती ही रहती है, साथ ही विविध दिशाओं में वेग से धारा-प्रवाह भी होता रहता है। महाद्वीपों को घेरते हुए सागर के भागों में नदियों की धारा की भाँति पचासों मील के पाट मे सागर में धाराएँ वहती हैं। विशाल विस्तृत जल के फैलाव के भीतर ऐसी धारा साफ दिखाई देती है और उसके दोनों किनारे भी साफ अलग-अलग मालूम पडते है। ये धाराएँ निश्चित मार्गों द्वारा सागर के एक भाग से दूसरे भाग की ओर निरन्तर वहती रहती हैं और घूम-फिरकर एवं लौटकर फिर उसी चक्र मे पड जाती हैं। इनके प्रवाह का वेग स्थलमंडल की धाराओं की अपेक्षा तीव्र होता है और इनकी चौड़ाई और गहराई भी स्थल पर की धाराओं की अपेक्षा कई गुनी अधिक होती है। पर सम्पूर्ण सागर मे सर्वत्र ऐसी धाराओं की गति नहीं है।

इन धाराओं का उपयोग पुराने जमाने में नाविक लोग जहाजों को चलाने में करते थे, कारण इन धाराओं के प्रवाह में पड़कर जहाज सुगमता से आगे वढता था। परन्तु इन धाराओं का सब से अधिक महत्व धरातल की जलवायु पर पड़ता है। इन्हीं धाराओं के कारण धरातल के एक ही अक्षांश के प्रदेशों में एक ही ऋतु और समय मे विभिन्न जलवायु होती है।

समुद्री धाराओं का जन्म

स्थल से आवद्ध सागरों के जल के भीतर इन धाराओं का जन्म पानी की खारीपन की विभिन्नता के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली जल की गति से होता है। परन्तु महासागरों मे इन धाराओं का जन्म धरातल के विभिन्न स्थलों पर असमान गरमी पड़ने से होता है।

जल के खारीपन की विभिन्नता से जो गति उत्पन्न होती है, उसका कारण यह है कि जल जितना ही अधिक खारी होता है, उतना ही भारी होता है और इसलिए सागर मे अधिक खारी पानी तली में बैठता है और कम खारी पानी ऊपर वना रहता है। भूमध्यसागर की ऊपरी सतह, अधिक भाप बनने और नदियों द्वारा बहुत कम जल लाने से, खुले हुए अटलाण्टिक महासागर की ऊपरी सतह से नीची होती रहती है। इसलिए अटलांटिक महासागर मे जल का प्रवाह जिब्राल्टर-प्रणाली द्वारा भूमध्यसागर की ओर होता रहता है। इस पानी के आ जाने का फल यह होता है कि भूमध्यसागर का अधिक भारी पानी नीचे बैठ जाता है और नीचे-नीचे इसकी एक धारा जिब्राल्टर-प्रणाली ही के द्वारा वापस अटलाण्टिक की ओर वहती है, जिसमे समघनत्व हो जाय। इसके विपरीत कृष्णसागर में नदियो द्वारा बहकर आनेवाले जल की मात्रा अधिक होने से इसकी सतह भूमध्यसागर के जलतल से ऊँची रहती है। इसलिए इस सागर से भी हलका पानी भूमध्यसागर की ओर ऊपर-ऊपर वहकर आता है। यहाँ से अधिक खारी और भारी पानी नीचे ही नीचे वहता हुआ कृष्णसागर मे पहुँचता है। इसी प्रकार लाल सागर मे ऊपरी पानी हिन्द महासागर की ओर से आता है, परन्तु तली के जल का प्रवाह लाल सागर से हिन्द महासागर की ओर रहता है।

वाल्टिक सागर में अनेकों नदियाँ अपार जल लाती हैं। उच्च अक्षांशों मे शीत के कारण भाप कम बनने से इस सागर का जलतल सदैव ऊँचा रहता है। इसलिए इसका ऊपरी जल 'स्केगर रैक' के मार्ग से उत्तरी सागर मे पहुँचता है, पर तली के जल का प्रवाह विपरीत दिशा में होता है।

महासागरों में धाराओं के जन्म का प्रधान कारण भूमध्यरेखा के आसपास की भीषण गरमी और ध्रुव-प्रदेशों में पड़नेवाली शीत है। गरमी के कारण भूमध्यरेखा के आसपास का जल गरम होकर फैलने लगता है। गरम पानी ठंडे पानी की अपेक्षा हल्का होता है। इस कारण जैसे-जैसे गरमी बढती जाती है, वैसे-वैसे पानी अधिक हल्का होता जाता है और ऊपर के स्तर मे फैलता जाता है। जब ऊपर के स्तर का पानी इधर-उधर फैलता है, तब नीचे का पानी उसके स्थान पर आ जाता है और वह भी अपने समय पर गरम होता है और जिस ओर प्रवाह पाता है, उस ओर वह जाता है। प्रवाह का मार्ग उस ओर को होता है, जिस ओर का पानी भारी होता है, और इस जल के नीचे बैठता जाता है। ठण्डा पानी इस जल की अपेक्षा भारी होता है। ध्रुव-प्रदेशों का जल अधिक शीत के कारण ठंडा होता है और भूमध्य-प्रदेशों के जल की अपेक्षा बहुत भारी होता है। इस कारण

भूमध्य-प्रदेशों का जल गरम होकर ध्रुव-प्रदेशों की ओर प्रवाहित होता है, क्योंकि वहाँ का जल ठण्डा होकर तली की ओर बैठता है। जब भूमध्य-प्रदेशों के जल का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है, तब विपुवत् रेखा के आसपास की जल की कमी को पूरा करने के लिए हल्के पानी के ऊपर उठते ही भारी पानी उसकी जगह लेने दौड़ता है। भारी पानी ध्रुव-प्रदेशों से आता है। भारी होने के कारण इसका प्रवाह तली ही में होता है। इस प्रकार गरम जल की धारा भूमध्य-प्रदेशीय सागरों से ध्रुवों की ओर के जल के ऊपर-ऊपर बहती है और ठण्डे जल की शीतल धारा तली-ही-तली मे ध्रुव-प्रदेशों से भूमध्य-प्रदेशीय सागरो की ओर आती है। इन धाराओं के प्रवाहमार्ग को बनाने मे सागर के जल के खारीपन की असमानता का भी प्रभाव पड़ता है। सागर के सभी स्थानों का खारीपन एक-सा नहीं होता। जल का प्रवाह इस असमानता को मिटाने के लिए भी होता है।

पृथ्वी का आवर्तन समुद्री धाराओं की दिशा को भी उसी प्रकार बदल देता है, जिस प्रकार पवन की दिशा को। उत्तरी गोलार्द्ध मे यदि धारा विपुवत् रेखा की ओर बहती होती है, तो यह दाहिने हाथ की ओर घूम जाती है। यदि धारा का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है, तब भी इसको दाहिनी ओर को घूमना पड़ता है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इसके विपरीत धाराओं का प्रवाह बाईं ओर को होता है।

यदि धारा के प्रवाह-मार्ग में कोई अड़चन (समुद्रतट आदि) पड जाती है, तो यह उस मार्ग से आगे नहीं बढ पाती। उस स्थान पर उसे या तो इससे विपरीत दिशा की ओर घूमना पड़ता है अथवा कई भागों मे बँटकर किनारों के साथ-साथ आगे बढना पडता है।

पृ० १३८६ पर दिए गए समुद्री धाराओं के मानचित्र को देखने से ज्ञात होगा कि विपुवत् रेखा के उत्तर के तीनों समुद्रों में धाराओं के प्रवाह की दिशा घड़ी की सुइयों की घूमने की दिशा की भाँति होती है। केवल हिन्द महासागर मे उत्तरी-पूर्वी मानसून पवन के चलने के समय इनका धारा-प्रवाह इसके विपरीत होता है। विपुवत् रेखा के दक्षिण मे तो तीनों सागरों में धारा का प्रवाह घड़ी की सुइयों के विपरीत होता है। दक्षिणी समुद्र मे पछुआ हवाओं के कारण धाराओं का प्रवाह भी पश्चिम से पूर्व की ओर होता है।

अटलांटिक महासागर की धाराएँ

अटलांटिक महासागर मे दो धाराओं का जन्म होता है। एक विपुवत् रेखा के उत्तर मे, जो 'उत्तरी विपुवत्-धारा' कहलाती और पूर्व से पश्चिम की ओर चलती है; दूसरी भूमध्यरेखा के दक्षिण में, जो 'दक्षिणी विपुवत्-धारा' कहलाती और दक्षिण-पूर्व से भूमध्यरेखा की ओर आती है। ये दोनों धाराएँ एक दूसरे से अधिक दूर नहीं रहतीं, परन्तु भूमध्य-रेखा के पास दोनों दो विपरीत दिशाओं में घूम जाती हैं। उत्तरी विपुवत्-धारा अटलाण्टिक महासागर में अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास से प्रवाहित होकर अटलाण्टिक के पार बहती हुई दक्षिणी अमेरिका के पूर्वीय तट के उत्तरी भाग की ओर जाती है। पश्चिमी द्वीपपुञ्ज के पास इसके दो भाग हो जाते हैं। अधिकांश भाग इस द्वीपसमूह के उत्तर मे फ्लोरिडा की ओर बह जाता है। दूसरा भाग द्वीपों की ओर भीतर होता हुआ मेक्सिको की खाड़ी में चला जाता है और वहाँ जल की अधिकता के कारण लौट पड़ता है। इसी मेक्सिको की खाड़ी मे प्रसिद्ध 'खाड़ी नदी' या 'गल्फस्ट्रीम' का जन्म होता है। यह तीव्र वेगवती प्रख्यात गरम धारा दो धाराओं के जल से उत्पन्न होती है। इनमें दूसरी धारा का हाल हम आगे बताएँगे।

गल्फस्ट्रीम एक मील के लगभग चौड़ी धारा है, जो पाँच मील प्रति घंटे के वेग से बहती है। यह मेक्सिको की खाड़ी से चलकर अत्यंत नमकीन गरम पानी की नदी के रूप में फ्लोरिडा के जलडमरूमध्य से होकर निकलती है और अमेरिका के तट को छोड़कर पूरब की ओर बल खाती हुई अटलांटिक महासागर मे फैल जाती है। यहाँ इस धारा का जल ठण्डा और छिछला हो जाता है और इसका नाम 'अटलांटिक प्रवाह' पड़ जाता है। अब इसे पछुआ हवाएँ बहा ले जाती हैं और इसकी शाखाएँ उत्तर की ओर फैल जाती हैं। वे नार्वे के तट को छूती हुई, हिमसागर की ओर, ब्रिटिश द्वीपसमूह का चक्कर लगाती है और उनका मुख्यांश दक्षिण की ओर घूम जाता है तथा स्पेन और अफ्रीका के तट को छूता हुआ फिर उत्तरी विपुवत्-धारा मे कनारी द्वीपों से कुछ दूरी पर मिल जाता है। यहाँ से इस धारा की यात्रा फिर उल्लिखित मार्ग पर आरम्भ होती है। इस प्रकार उत्तरी अटलांटिक मे आकर इसका वृत्त पूरा हो जाता है।

गल्फस्ट्रीम और अटलांटिक धाराएँ बड़ी महत्वपूर्ण धाराएँ है। इनके द्वारा गरम प्रदेशों से गरम जल का असीम स्रोत शीतल प्रदेशों की ओर बह जाता है। गल्फस्ट्रीम की गरमी लगभग उतनी ही है, जितनी सम्पूर्ण भारतवर्ष मे सूर्य से आती है। यद्यपि इसका गरम पानी स्वयं योरप के तट तक नहीं पहुँच पाता तथापि इसके ऊपर से बहनेवाली पछुआ और दक्षिण-पश्चिम की हवाएँ इसकी गरमी पर्याप्त मात्रा
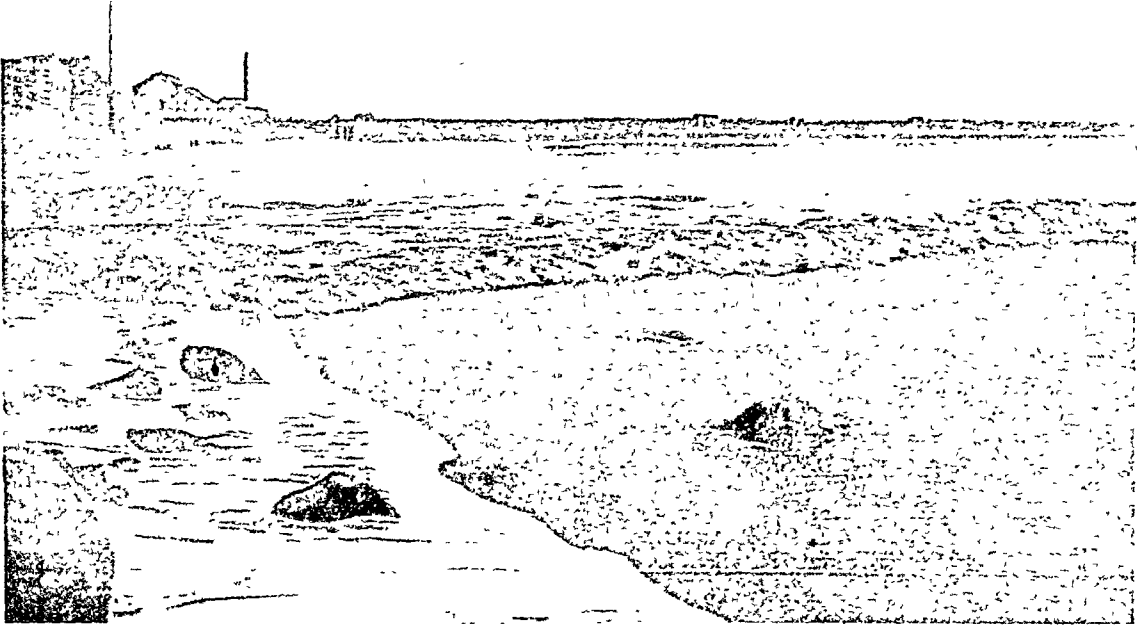
संसार में सब से ऊँचा समुद्री ज्वार उत्तरी अमेरिका के पूर्वीय तट पर स्थित नोवास्कोशिया प्रदेश की फंडी की खाड़ी में आता है। यहाँ ज्वार की लहरें ७० फीट तक ऊँची उठ जाती है! प्रस्तुत चित्र में इसी खाड़ी का दृश्य है। सामने समुद्र के जल की कई फीट ऊँची बाढ़ बढ़ती चली आती दिखाई पड़ रही है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर मे भी दक्षिणी अटलांटिक की सी ही धाराएँ बहती है। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर ठण्डी 'हम्बोल्ट-धारा' बहती है। दक्षिणी विपुवत्-धारा अपनी एक गरम शाखा ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट को भेजती है, जो धीरे-धीरे ठण्डी होकर दक्षिणी ध्रुव में मिलकर पछुवा हवाओं के मार्ग में पहुँचती है। इसके और उत्तरी विपुवत्-धारा के बीच मे भी प्रति-विपुवत्-धारा है।

हिन्द महासागर की धाराएँ

हिन्द महासागर के दक्षिणी भाग मे दक्षिणी अटलांटिक या प्रशान्त महासागर के ही समान धाराएँ बहती है। ऑस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर बेंग्वेला और हबोल्ट-धाराओं के समान ही एक ठण्डी धारा बहती है। दक्षिणी विपुवत्-धारा पश्चिम की ओर अपनी 'मुजबीक-धारा' द्वारा मेडागास्टर द्वीप के दोनों तटों को धोती है और दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वीय तट को गरम बनाती है।

भूमध्यरेखा के उत्तर में हिन्द महासागर की धाराएँ मानसूनी हवाओं पर निर्भर है। शीतकाल में उत्तरी-पूर्वी मानसूनी हवा बंगाल की खाडी और अरब-सागर की धाराओं को दक्षिण-पश्चिम की ओर ढकेल लाती है। प्रति-विपुवत्-धारा पूर्व की ओर ही बहती है। ग्रीष्म ऋतु में इसकी दिशा विपरीत हो जाती है और यह धारा भारतीय तट की ओर जाती है। पुराने समय में पुर्तगाल के मल्लाह भारत को आते समय दक्षिणी-पश्चिमी और लौटते समय उत्तरी-पूर्वी मानसून धाराओं ही की मदद लेते थे।

सागर की इन धाराओं से ऐसा जान पड़ता है, मानो समुद्र का मंथन हो रहा है, जिसमें मथानी उत्तर की ओर तो घड़ी की सुइयों की दिशा में चलती है और दक्षिण की ओर उल्टी दिशा मे। अवश्य ही इस मंथन के दौरान में समुद्र मे बीच की शान्त जगह भी कोई होनी चाहिए। ऐसी पाँच जगहे सागर में पाई जाती है। इनमें मुख्य 'सर्गास्सा समुद्र' है, जो अटलांटिक महासागर में उत्तरी भाग में स्थित है। यहाँ जल प्रशान्त होने के कारण लाखों वर्ष से टूटे जहाज, बहते पेड़ आदि के साथ सामुद्रिक सेवार इकट्ठा होता आता है।

जलमंडल की बाढ़ या ज्वार-भाटा

समुद्र-तट के निकट रहनेवाले लोग प्रायः प्रत्येक छः घण्टे के उपरान्त समुद्र-जल के धीरे-धीरे तट की ओर बढ़ने और

सूखी भूमि को जलमग्न कर देने की क्रिया से भली-भाँति परिचित हैं। तट की भूमि को यह जल अधिक काल तक निमग्न नहीं रखता। जिस प्रकार शनैः-शनैः लहरें ऊपर चढ़ाई करती हैं, उसी प्रकार वे धीरे-धीरे नीचे भी उतरती जाती हैं और जल के सर्वोच्च स्थान पर पहुँचने के लगभग छः घण्टे पश्चात् समुद्र का जल सब से अधिक नीचाई पर पहुँच जाता है। यह क्रम लगातार चलता रहता है। समुद्र-तट पर हर कहीं इस प्रकार की बाढ आती है। यह बाढ़ नदियों की भाँति ऋतु विशेष में नहीं, वरन् प्रत्येक २४ घण्टे ५२ मिनट में दो-दो बार आती है, अर्थात् दिन-रात के भीतर दो बार समुद्र का जल-तल सर्वोच्च स्थान को छूता है और दो बार सब से नीचे हो जाता है। समुद्र के जल-तल के ऊपर उठने को 'ज्वार' और नीचे बैठने को 'भाटा' के नाम से पुकारा जाता है।

सब स्थानों में एक ही समय पर ज्वार-भाटा नहीं आता। भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्वार और भाटे का समय भिन्न-भिन्न होता है। परन्तु प्रत्येक स्थान पर ज्वार और भाटा आने का समय पूर्वनिश्चित होता है, उसमें अन्तर नही पड़ता। ज्वार की लहरे क्रमानुसार पृथ्वी के सब स्थानों पर पहुँचती है और इस प्रकार ज्वार-भाटा का चक्र पृथ्वी की परिक्रमा-सी करता रहता है। इस चक्र का कभी अन्त नही होता। समुद्र-तट के प्रत्येक स्थान पर हर घड़ी ज्वार या भाटा का दौरा रहता है। किनारो के निवासी जानते है कि साधारणतः ज्वार का पानी कितनी दूर तक चढेगा और भाटा उसको कितना नीचा कर देगा। वे यह भी जानते है कि नियमानुसार पूर्णिमा और अमावस्या के दिनो में ज्वार का पानी साधारण नियत उच्च स्थान से कही अधिक आगे चढ़ता है और नियत अधःस्थान से भी कुछ और नीचे उतरता है। इसके विपरीत शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिनों मे ज्वार साधारण उच्च स्थान तक नहीं पहुँचता, वरन् इससे बहुत नीचे से ही लौट जाता है और इसी तरह अधःस्थान के भी बहुत ऊपर ठहर जाता है।

ज्वार-भाटा क्यों होता है?

ज्वार-भाटा क्यों होता है, इस प्रश्न ने लोगों को बहुत दिनों तक उलझाये रक्खा। धीरे-धीरे लोगो ने ज्वार-भाटा की गति और वेग का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि उसका सम्बन्ध अवश्य चन्द्रमा से है।

चन्द्रमा और ज्वार-भाटा में क्या सम्बन्ध है, इसकी खोज करनेवालों ने पता लगाया कि ज्वार-भाटा की उत्पत्ति पृथ्वी और चन्द्रमा की पारस्परिक 'गुरुत्वाकर्षण-शक्ति' से होती है। पृथ्वी का व्यास लगभग ८,००० मील होने के कारण पृथ्वी का वह भाग, जो ठीक चन्द्रमा के सामने पड़ता रहता है, पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से ४,००० मील और पिछले पृष्ठ की अपेक्षा ८,०००मील अधिक समीप है। फलस्वरूप चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति का प्रभाव पृथ्वी के उस भाग पर, जो ठीक उसके सामने पड़ता है, केन्द्र तथा पृष्ठ-भाग की अपेक्षा अधिक होता है। अर्थात् चन्द्रमा जितने वेग से पिछले भाग को अपनी ओर खींचता है, उससे अधिक वेग से केन्द्र को और उससे भी अधिक वेग से सामनेवाले पृष्ठ को खींचता रहता है।

पृथ्वी पर जल का एक प्रकार से आवरण-सा चढ़ा हुआ है। यदि हम थोड़ी देर के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी को जलमग्न मान ले, तो चन्द्रमा के खिचाव का प्रभाव सरलता से समझ में आ जाएगा। तरल होने के कारण जल बड़ी सरलता से विचलित हो जाता है। यदि हम कपड़े की चादर को फैलाकर चारों कोने बाँध ले और उसके बीच मे डोरी बाँधकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचें, तो जिस प्रकार बीच का भाग ऊपर खिचता है और किनारे सिमट जाते है, लगभग वही दशा पृथ्वी के जलमण्डल की होती है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के कारण जल का आवरण पृथ्वी पर बँधा-सा है, परन्तु चन्द्रमा का आकर्षण उसको अपनी ओर खींचता है। फल वही होना है, जो चादर के साथ हुआ, ठीक चन्द्रमा के सामने पडनेवाले प्रदेश मे, जहाँ उसका खिचाव सब से अधिक होता है, जल चन्द्रमा की ओर खिचता है और आस-पास के जल-तल से ऊँचा हो जाता है। जो स्थान चन्द्रमा से दूर हैं, वहाँ उसका खिचाव कम होता है और जो स्थान चन्द्रमा के सामने नही होते, वहाँ बिलकुल खिचाव नही होता है। इसलिए वहाँ का जल चन्द्रमा की ओर नही खिचता। परन्तु वहाँ दूसरी ही समस्या उपस्थित होती है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि पृथ्वी के उस स्थल के जलमण्डल की अपेक्षा, जो चन्द्रमा के सामने नहीं पड़ता, पृथ्वी का केन्द्र चन्द्रमा से ४,००० मील अधिक समीप है। इसलिए पृथ्वी के केन्द्र पर पिछले स्थल के जलमण्डल की अपेक्षा अधिक खिचाव पड़ता है। फल यह होता है कि जल की अपेक्षा सम्पूर्ण पृथ्वी चन्द्रमा की ओर अधिक खिच जाती है और जल-तल अपने स्थान पर बना रहता है। पृथ्वी के चन्द्रमा की ओर खिच जाने से जल की गहराई बढ़ जाती है और यहाँ भी फल वही होता है, जो चन्द्रमा के सामनेवाले जलमण्डल पर होता है, अर्थात् ज्वार की लहरें आती हैं और भाटा होता है।
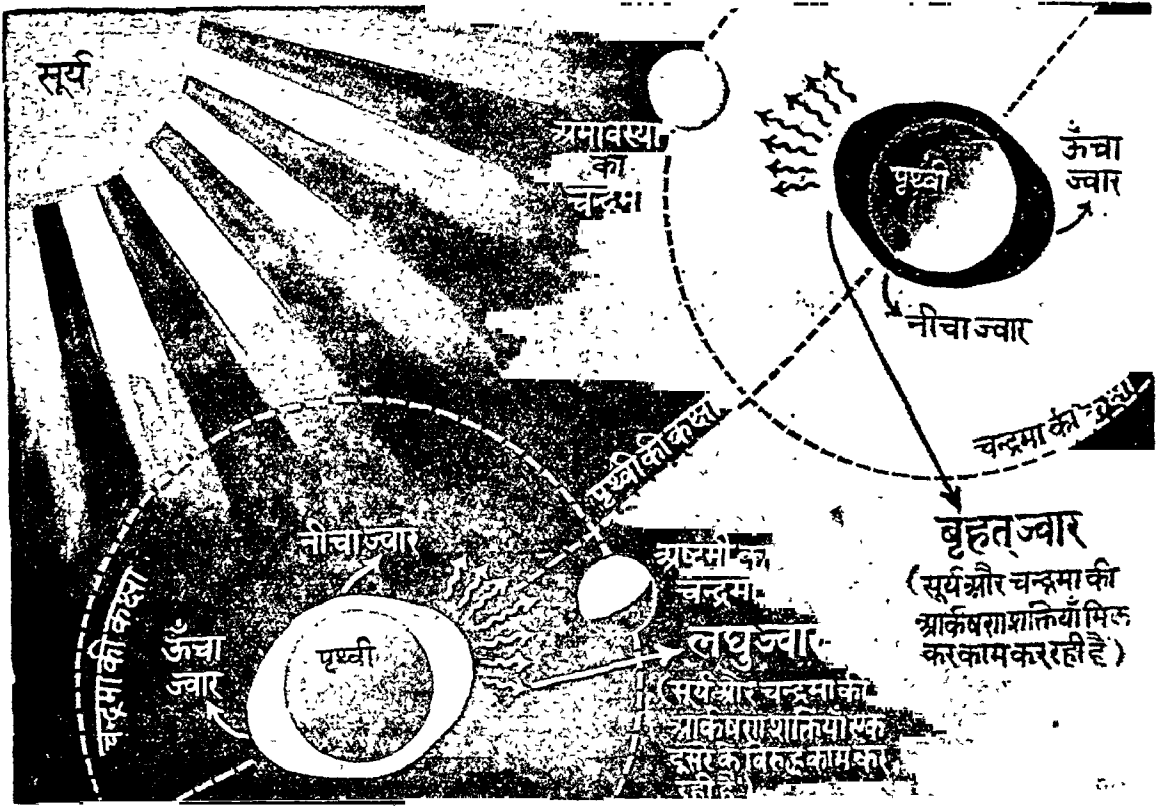
ज्वार का सिद्धान्त--लघु और बृहत् अथवा ऊँचा और नीचा ज्वार किस प्रकार होता है (पृथ्वी की आकृति के आस-पास श्वेत आवरण द्वारा जलमण्डल का खिचाव दिखाया गया है)।

इस प्रकार पृथ्वी पर एक ही समय पर दो स्थानो पर एक साथ ज्वार आता है। ज्वार आने मे पृथ्वी पर जल की मात्रा तो वढ नही पाती, केवल सब स्थानों का जल सिमट-कर ठीक चन्द्रमा के नीचे खिच जाने की चेष्टा करता है। हम वता ही चुके है कि पृथ्वी पर एक समय मे ऐसे दो स्थान होते है, जहाँ जल की मात्रा सिमटकर सब से ऊँची लहरो के रूप मे जमा हो जाती है। जब जल चारो ओर से सिमट-कर दो स्थानो की ओर चलता है, तब उसी समय दो स्थान ऐसे भी उत्पन्न होते हैं, जहाँ का जल सबसे अधिक खिचकर ज्वारवाले स्थानों की ओर वढ़ गया है। इन स्थानो पर जल का तल सब से नीचा होता है और यहाँ पर इस समय-'भाटा' आता है।

वाले) स्थानो के जल-तल के ऊँचा हो जाने से इन स्थानो का जल-तल नीचा हो जाता है। ज्वार के स्थानो से भाटे के स्थानों की ओर जल-तल का ढाल वनता है, जिनसे एक ही समय में विभिन्न स्थानो पर ज्वार की ऊँचाई तथा भाटे की नीचाई वरावर नहीं होती।

प्रति दिन दो वार ज्वार क्यों आते हैं?

चन्द्रमा प्रति २४ घंटे ५२ मिनट मे पृथ्वी की परिक्रमा करता है (अर्थात् जो स्थान आज ७ वजे चन्द्रमा के सामने है, वह कल ७ वजकर ५२ मिनट पर फिर चन्द्रमा के सामने पड़ेगा)। इस बीच मे जो-जो भाग चन्द्रमा के सामने पड़ता जायगा, वहाँ पर तथा उसके ठीक दूसरी ओर के स्थानों पर ज्वार आता जायगा और इस प्रकार ज्वार की लहर और उसके साथ-साथ भाटा की लहर, चन्द्रमा के साथ-साथ २४ घंटे ५२ मिनट में प्रत्येक स्थान पर दो वार चक्कर लगा लेगी (एक वार तो जब वह स्थान चन्द्रमा के सामने आएगा और दूसरी वार जब चन्द्रमा पृथ्वी के दूसरी ओर होगा)।

इसलिए प्रत्येक स्थान पर प्रति दिन और रात में दो बार ज्वार और दो बार भाटा आता है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक स्थान दो वार ज्वार की स्थिति में होता है, उसी प्रकार दो बार भाटा की स्थिति में भी आता है। भाटा का समय दो ज्वारों के ठीक मध्य मे पडता है ; अर्थात् किसी स्थान पर ज्वार आने के ठीक ६ घंटा १३ मिनट के पश्चात् भाटा आता है।

यदि पृथ्वी स्थिर होती या बहुत धीरे-धीरे घूमती, तो जब कोई जलभाग चन्द्रमा के ठीक नीचे होता, तभी वहाँ सर्वोच्च ज्वार होता। परन्तु वर्तमान दशा मे जब जलभाग को चन्द्रमा के ठीक नीचे होकर गुजरे कुछ घंटे बीत जाते हैं और चन्द्रमा नीचे की ओर हो जाता है, तब वहाँ ज्वार आता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानो मे भिन्न-भिन्न समय पर ज्वार होता है। यदि पृथ्वी अपनी कीली पर न घूमती, तो एक-एक पक्ष के पश्चात् ज्वार-भाटा आता। यदि पृथ्वी केवल अपनी कीली पर ही घूमती और चन्द्रमा स्थिर रहता तथा पृथ्वी की परिक्रमा न करता, तो ठीक २४ घंटे में दो ज्वार और दो भाटा होते !

बृहत् और लघु ज्वार

चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति के साथ-साथ पृथ्वी पर सूर्य की भी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का प्रभाव पड़ता है। इसलिए केवल चन्द्रमा की ओर ही जल नहीं खिचता, वरन् सूर्य भी जल को अपनी ओर आकर्षित करता है। ज्वार-भाटे में प्राय: चन्द्रमा की ही आकर्षण-शक्ति प्रधान रहती है। परन्तु सूर्य का प्रभाव भी पड़ता ही है। जिन दिनों में सूर्य और चन्द्रमा दोनो पृथ्वी की एक ही दिशा में होते है, उन दिनों में दोनों की आकर्षण-शक्तियो का संयुक्त प्रभाव पड़ता है। इसलिए उन दिनो ज्वार का वेग अधिक होता है और समुद्र का जल अधिक ऊँचा उठता है। यही कारण है कि पूर्णिमा और अमावस्या के दिनो में समुद्र मे 'ऊँचा' या 'बृहत् ज्वार' आता है, क्योकि इन दिनो चन्द्रमा और सूर्य दोनो का प्रभाव संयुक्तावस्था में ज्वार उत्पन्न करता है। इसके विपरीत शुक्ल और कृष्ण पक्ष की अष्टमियों को सब से नीचा ज्वार होता है, जिसे 'नीचा' या 'लघु ज्वार' कहते है। इन दिनो सूर्य और चन्द्रमा समकोण की स्थिति मे होते हैं और दोनों की आकर्षण-शक्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध काम करती है।

ज्वार-भाटा मुख्यतः चन्द्रमा के कारण क्यों होता है ?

हमने ऊपर बताया है कि ज्वार-भाटे मे अधिकतर चन्द्रमा की ही शक्ति काम करती है, सूर्य की नहीं। सूर्य की महान् आकर्षण-शक्ति को देखते हुए यह सचमुच आश्चर्य-जनक है कि उससे कहीं नगण्य चन्द्रमा की शक्ति पृथ्वी पर सूर्य से अधिक प्रभाव डालती है ! इसका कारण यह है कि पृथ्वी का वह भाग, जो सूर्य के सामने पड़ता है और वह भाग जो सब से दूर पडता है, दोनों मे पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा साढे नौ करोड मील का अन्तर है। इतनी विशाल दूरी मे ४,००० मील का अन्तर क्या प्रभाव डाल सकता है ? चन्द्रमा और पृथ्वी की दूरी केवल लगभग ढाई लाख मील है, जिसमें ४,००० मील की दूरी का प्रभाव बहुत ही प्रत्यक्ष होता है। अत सूर्य पृथ्वी के केन्द्र और उसके सम्मुख तथा पीछे-वाले भाग को जितने जोर से अपनी ओर खीचता है, उसमे उतना अन्तर नही होता, जितना चन्द्रमा के इन भागों के खिचाव मे होता है। यही कारण है कि चन्द्रमा के आकर्षण का ज्वार-भाटा पर अधिक नगवत प्रभाव पडता है।

गणितज्ञो के अनुसार चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति जल को अपनी ओर ५६ सेन्टीमीटर खीचती है, और सूर्य की आकर्षण-शक्ति २५ सेन्टीमीटर। इस प्रकार ऊँचे ज्वार के दिनों में तो ५६ + २५ = ८१ सेन्टीमीटर का खिचाव होता है, किन्तु नीचे ज्वार के दिनो मे ५६ – २५ = ३१ सेन्टी-मीटर का ही खिचाव रह जाता है।

ज्वार-भाटा की ऊँचाई-नीचाई

ज्वार-भाटा की ऊँचाई-नीचाई अधिकतर समुद्रतट की बनावट पर ही निर्भर रहती है। नीचे और समतल तटो पर लहरो की ऊँचाई अधिक होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ समुद्र के संकीर्ण भाग स्थल मे आ घुसते है और उनमें कोई नदी आ मिलती है (अर्थात् इस्चुअरी बन जाती है), वहाँ भी ज्वार की ऊँचाई अधिक होती है। इसी प्रकार समुद्र की खाड़ियों में भी ऊँची लहरे आती है। संसार में सब से ऊँचा ज्वार अमेरिका के तट पर नोवास्कोशिया में फंडी की खाड़ी मे आता है। यहाँ पर ज्वार की लहरे लग-भग ७० फीट ऊँची हो जाती हैं ! खुले महासागरो मे ज्वार प्राय: एक गज ऊँचा उठता मालूम होता है, परन्तु भूमध्य-सागर के समान स्थल से घिरे हुए समुद्रों में ज्वार बहुत ही कम ऊँचा उठता है। छोटी झीलों में तो ज्वार का प्रभाव मालूम ही नही होता, परन्तु बड़ी-बड़ी झीलों में कभी-कभी हल्का ज्वार आता मालूम होता है। अमेरिका की मिचिगन झील में २ इंच ज्वार आया करता है ! ब्रिटिश द्वीपसमूह के निकटवर्ती समुद्रों में, जो खुले हुए प्लेटफार्म पर स्थित हैं, ज्वार अधिक ऊँचे आते हैं।

ज्वार-लहर

जब ज्वार किसी नदी की धारा से टकराता है, तो नदी के ऊपर पानी की धारा उलटी बढ़ती है। इसकी ऊँचाई कभी-कभी बहुत अधिक होती है। पानी की इस ऊँची दीवार को 'टाइडल बोर' कहते है। ज्वार के वेग से चढ़ा हुआ जल नदी के प्रवाह के कारण ऊपर चढ़ने से रुकता है और एक प्रकार से जल की भीत खड़ी हो जाती है। गंगा और यांग-सीक्यांग नदियों में यह ज्वार-लहर बहुधा आया करती है। इंगलैंड की सेवर्न नदी की इस्टुअरी में जल की भीत कभी-कभी ९ फीट ऊँची हो जाती है! जब बोर की ऊँचाई बहुत अधिक होती है, तब इससे बड़ी हानि होती है। दक्षिणी अमेरिका की अमेजन नदी मे भी ज्वार का जल इसी प्रकार दीवार के रूप में ऊपर चढ़ता है। फ्रांस की सोन नदी में भी ज्वार-लहर आती है। चीन की यांगसी-क्याग नदी से तो बोर की ऊँचाई कभी-कभी २५ फीट तक हो जाती है! प्रत्येक ज्वार के समय बोर नही आता। बोर की उत्पत्ति में पवन का भी प्रभाव पड़ता है। बहुधा बृहत् ज्वार के समय बोर आते हैं। बोर का वेग कभी-कभी इतना अधिक होता है कि लंगर डाले हुए जहाजों के इस्पात के मजबूत रस्से कच्चे सूत की भाँति टूट जाते है और जहाज अपने स्थान से न केवल इधर-उधर हो जाता है, वरन् उनके नष्ट हो जाने की भी अत्यधिक सम्भावना रहती है! इस-लिए माझी लोग बोर आने के समय लंगर के रस्से ढीले रखते हैं, जिससे खिचाव नही पड़ता और जहाज हिल-डुलकर अपने स्थान पर ही बना रहता है।

ज्वार-भाटा पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की स्थितियों के अनुसार नीचा-ऊँचा होता है। इस कारण उसके वेग का हाल बहुत पहले से ठीक-ठीक बताया जा सकता है। संसार के लगभग प्रत्येक स्थान पर ज्वार का समय और जल की ऊँचाई तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में जल कितना समय लेता है, इन सब का ज्ञान अनुभव द्वारा प्राप्त कर लिया गया है और उनकी निश्चित तालिकाएँ बना ली गई हैं, जो नाविकों के लिए उपयोगी है।

ज्वार के वेग से कई नदियों में मुहान की ओर से पानी की धारा उलटी बढ़ने लगती है और एक तरह से नदी के प्रवाह के विरुद्ध एक पानी की दीवार-सी खड़ी हो जाती है। इसे ज्वार-लहर (टाइडल बोर) कहते है। इस चित्र में चीन की एक नदी में इसी तरह २५ मील प्रति घंटे के वेग से बढ़ती आ रही एक ज्वार-लहर का वायुयान से लिया गया दृश्य अंकित है। यह लहरें कभी-कभी पचीस फीट तक ऊँची हो जाती हैं!

ज्वार की गति

ज्वार के जल की गति कई बातों के अनुसार न्यूनाधिक होती है। जल की गहराई और थल की दूरी इस पर विशेष प्रभाव डालती है। जहाँ जल बहुत अधिक गहरा होता है, वहाँ ज्वार की लहरें बड़ी तेजी से आगे बढ़ती हैं। यदि मार्ग में कोई बाधा नहीं होती, तो ज्वार की लहरों का वेग कम नहीं होता, परन्तु मार्ग में स्थल आदि के पड़ जाने से वेग कम हो जाता है। अटलांटिक महासागर के विषुवत् रेखा के समीपवाले स्थानों से ज्वार की बाढ़ ५०० मील प्रति घंटे के हिसाब से आगे बढ़ती है। १४ या १५ घंटों के भीतर यह बाढ़ दक्षिणी अफ्रीका से दक्षिण-पश्चिमी योरप तक पहुँच जाती है। परन्तु यहाँ पर जल उथला होने से इसकी तेजी नष्ट हो जाती है और बाढ़ की लहर को कई भागों में बँट जाना पड़ता है तथा संकीर्ण मार्गों द्वारा आगे बढ़ना पड़ता है। भूमध्यरेखा से चला हुआ ज्वार जब आयरलैंड के निकट छिछले सागर में पहुँचता है, तब इसकी गति लगभग १०० मील प्रति घंटा रह जाती है। परन्तु लहरों की ऊँचाई केवल दो या तीन फीट होने की अपेक्षा लगभग ४० फीट हो जाती है। इस प्रकार ब्रिटिश समुद्रों में ज्वार अधिक ऊँचाई के आते हैं।

ब्रिटिश द्वीपसमूह में बहुत-से द्वीपों और प्रायद्वीपों के होने के कारण इस ज्वार की कई शाखाएँ हो जाती हैं, जो भिन्न-भिन्न समयों में ब्रिटिश द्वीपसमूह के विभिन्न बन्दरगाहों में पहुँचती हैं। एक शाखा आयरलैंड के पश्चिमी तट की ओर से उत्तर को जाती है और स्कॉटलैंड के पास पूर्वी किनारे के साथ दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। दूसरी शाखा आयरलैंड के दक्षिण-पश्चिम से पूर्व की ओर घूमकर इंगलिश चैनल में चली जाती है। पहली शाखा १६ घंटे में पूरे ब्रिटिश द्वीपसमूह की परिक्रमा कर लेती है और टेम्स नदी के मुहाने पर दूसरी शाखा से टकराकर उसी में मिल जाती है। यह दूसरी शाखा पहली शाखा के १२ घंटे बाद की चली हुई होती है और केवल ७ घंटे में इंगलिश चैनल से होकर टेम्स के मुहाने पर पहुँच जाती है। इस दूसरी शाखा के मार्ग में वाइट नामक द्वीप पड़ता है, जो इसको दो शाखाओं में विभाजित करके साउथैम्पटन के बन्दरगाह में दो बार भेजता है। इससे इस बन्दरगाह में दिन-रात में दो-दो के स्थान पर चार-चार ज्वार और चार-चार भाटा आते हैं!

पृथ्वी अपनी कीली पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। इससे चन्द्रमा पूरब से पश्चिम की ओर चलता प्रतीत होता है। इसी से हमें ज्वार भी पूर्व से पश्चिमी क्षितिज की ओर चलता मालूम होता है। जहाँ जल की अधिकता है, वहाँ चन्द्रमा का खिंचाव अधिक प्रत्यक्ष मालूम होता है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध के उस जलखण्ड में, जहाँ केवल ऑस्ट्रेलिया ही अकेला विशाल स्थलखण्ड है, चन्द्रमा का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी जलखण्ड में हमें पूर्व से पश्चिमी की ओर बहता हुआ वेगपूर्ण ज्वार दिखाई देता है।

अटलांटिक और पैसिफिक महासागरों में ज्वार के पूर्वी-पश्चिमी प्रवाह का प्रभाव अधिक नहीं मालूम होता, क्योंकि दक्षिणी महासागर का पूर्वी-पश्चिमी प्रवाह जब केप ऑफ गुड्होप तथा केप हार्न से टकराता है, तब अपना मार्ग बदल देता है। यहाँ से ज्वार का प्रवाह दक्षिणी और उत्तरी अटलांटिक की ओर हो जाता है तथा दक्षिणी अमेरिका के तट का चक्कर लगाता हुआ पश्चिमी तट की ओर जाकर पैसिफिक सागर के किनारे चला जाता है।

इंगलिश चैनल से होकर ऊपर जानेवाला ज्वार नियम-विरुद्ध पश्चिम से पूर्व की ओर बहता है! इसका कारण ब्रिटिश द्वीपसमूह की बनावट है।

ताहिती द्वीप के पास ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि ज्वार की शक्ति नष्ट हो जाती है और वहाँ पर चन्द्रमा की शक्ति से कभी भी ज्वार नहीं आता। केवल सौर शक्ति से प्रति १२ घंटे के पश्चात् एक नगण्य-सी बाढ़ आ जाती है। इस स्थान पर साल भर बराबर एक-सा ही ज्वार आता है, न बृहत् ज्वार होता है न लघु ज्वार और प्रत्येक ज्वार १२ घंटे ५६ मिनट के बदले १२ घंटों के बाद ही होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्वार-भाटा के कारण सागर का जल कभी ऊँचा और कभी नीचा होता रहता है, वह कभी भी स्थिर नहीं रह पाता। स्थल की ऊँचाई-नीचाई की तुलना सदैव 'सागर की सतह' से की जाती है। परंतु जब सागर-तल स्थिर नहीं है, तब तुलना करने के लिए किस तल को काम में लाया जाता है? 'सागर की सतह' से तात्पर्य न तो ज्वार के सर्वोच्च तल से और न भाटा के सब से नीचे तल से, वरन् इन दोनों तलों की औसत ऊँचाई से होता है।

ज्वार-भाटा मनुष्य के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुआ है। आधुनिक काल में ज्वार-भाटा का उपयोग अधिकतर बन्दरगाहों में जल बढ़ जाने से तट तक जहाजों को लाने में किया जाता है। इससे समुद्रों, खाड़ियों और मुहानों पर बसे हुए बन्दरगाहों के लिए ज्वार-भाटा बड़े काम का होता है।

ज्वार आने पर बदरगाह के जहाज-घाट का पानी काफी गहरा हो जाता है। फलत. जहाज सुगमता से वहाँ तक आ जाते है। जब भाटा होता है, तब लौटती हुई पानी की धारा के साथ ये जलपोत वापस गहरे समुद्र की ओर लौट जाते हैं। दुनिया के कई बडे बंदरगाह—जैसे लंदन, हाम्बुर्ग, कलकत्ता आदि—नदियो के मुहाने पर स्थित है। वे समुद्र से काफी दूर हैं। फिर भी ज्वार-भाटे की बदौलत बड़े-बड़े जहाज उन तक पहुँच जाते हैं। ज्वार के समय उन नदियो मे, जिनके तट पर ये स्थित हैं, पानी का स्तर काफी ऊँचा हो जाता है। इससे बड़े-बड़े जलपोत सुगमता से उन तक आ जाते हैं। ज्वार-भाटा इन बंदरगाहों की नदियों के मुहाने को खुला रखने मे भी पर्याप्त सहायक होता है। कारण, भाटे के समय समुद्री पानी की लहर नदियों के मुहाने पर जमा होनेवाली मिट्टी और बालू को गहरे समुद्र मे बहा ले जाती है। इस प्रकार ज्वार-भाटा हमारे लिए अनेक प्रकार से उपयोगी है।

वायुमण्डल का वरदान

हवा, बादल, वर्षा, मौसम आदि

जल और स्थलमण्डल की भाँति पृथ्वी का एक और अंग है। वह है हमारे ऊपर छाया हुआ वायुमण्डल का वेष्ठन! वायव्यावस्था में होने के कारण यह वेष्ठन जल और स्थल दोनों से हल्का है और ऊपर उठा हुआ है। इसकी ऊँचाई तीन सौ मील से भी अधिक समझी जाती है। पृथ्वी के इस अद्भुत वेष्ठन के बारे में विज्ञान क्या कहता है, आइए, देखें!

वायुमण्डलरूपी महासागर के तले में हम उसी प्रकार रहते है, जिस प्रकार जल के महासागर में मछलियाँ तथा अन्य जीव रहते है। वायुमण्डल पृथ्वी के समीप अधिक घना है और जैसे-जैसे हम ऊपर चढते है, वायु हल्की और पतली होती जाती है, यहाँ तक कि अंत में जाकर शून्य आकाश आ जाता है और वहाँ वायु बिल्कुल गायब हो जाती है।

वायुमण्डल का दबाव और उसके अवयव

धरातल के समीप वायुमण्डल के घने होने का कारण उसके ऊपर की वायु का दबाव है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढते जाते हैं, वायु का परिमाण कम होता जाता है और दबाव भी कम हो जाता है। प्रति ३॥ मील की ऊँचाई पर ऊपरी वायुमण्डल भार में प्राय आधा रह जाता है। समुद्र-तट की अपेक्षा ३॥ मील ऊँचे स्थानों में वायु का भार आधा होता है।

यही कारण है कि ज्यो-ज्यों हम अधिक ऊँचे पर्वतो पर चढते है, हवा का भार कम होता जाता है। हवा का भार नापने के लिए हम जिस यंत्र का प्रयोग करते है, उसे 'बैरोमीटर' कहते है। पर्वतारोहण करनेवाले जानते है कि ऊँचे पर्वतों पर चढते समय किस प्रकार साँस लेने मे कठिनाई होती है और यह कठिनाई ऊँचाई के साथ बढती ही जाती है।

वायुमण्डल का निर्माण कई अवयवो से मिलकर हुआ है। इनमे प्रमुख नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, आर्गन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड और हाइड्रोजन हैं। इनके अतिरिक्त जल-वाष्प और धूलिकण (त्रसरेणु) भी वायु में मिले रहते हैं। यद्यपि जल-वाष्प और त्रसरेणु वायुमण्डल के अंश नहीं हैं और धरातल तथा जलमण्डल से आकर इनमे सम्मलित हो गए हैं, तथापि इनका महत्व धरातल के ऋतु-परिवर्तन, ताप, प्रकाश और वर्षा आदि के लिए बहुत अधिक है। वायुमण्डल के निचले भाग में भारी वायव्य और त्रसरेणु पाए जाते हैं। ऊपरी भाग में सम्भवतः ओजोन और हीलियम आदि हल्के वायव्य हैं। विभिन्न अवयव वायुमण्डल मे प्रतिशत इन अनुपात में हैं—नाइट्रोजन ७८·०३ ; ऑक्सिजन २०·९९ ; आर्गन ०·९४; कार्बन डाइऑक्साइड ·०३ और हाईड्रोजन ०·०१।

यद्यपि वायुमण्डल के सभी अवयव मनुष्य के लिए परम उपयोगी है तथापि ऑक्सिजन और कार्बन डाइऑक्साइड का विशेष महत्व है। ऑक्सिजन जीवमात्र के लिए जीवन-प्रदायिनी है, कार्बन डाइऑक्साइड वनस्पति-जगत् के लिए उपयोगी है। दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार से है कि एक के क्षय से दूसरे वायव्य की उत्पत्ति और दूसरे के प्रयोग से पहले की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि वायुमण्डल में इन दोनों वायव्यों का कभी अभाव नही हो सकता। नाइट्रोजन वायुमण्डल मे ऑक्सिजन को घुलाए रखती है।

वायुमण्डल का ताप

गुब्बारों द्वारा प्राप्त विवरण से पता लगता है कि वायुमण्डल के ऊपरी भाग के चाप और भार में तो अंतर है ही, साथ ही ताप में भी महान् परिवर्तन होता है। वायुमंडल के ऊँचे भागों में निचले भागों की अपेक्षा गरमी कम है और ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचाई की ओर उठते जायँ, त्यों-त्यों हमें अधिक ठण्डा वायुमण्डल मिलता जाता है। अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक १०० गज की ऊँचाई के पश्चात् १ अंश फारनहाइट ताप कम हो जाता है। यदि वायु में भाप और धूलि के कण न हों, तो प्रति ६० गज की चढ़ाई के बाद ताप १ अंश कम हो जाता है। आठ-दस मील की ऊँचाई तक हवा का ताप इसी क्रम से घटता रहता है। इसी ऊँचाई तक की हवा में ताप अक्षांश के अनुसार भिन्न-भिन्न रहता है। इसी ऊँचाई तक दिन और रात्रि तथा ग्रीष्म और शीत के ताप में भी अन्तर पाया जाता है। आँधी, तूफान और बादल आदि सब की सीमा इसी ऊँचाई तक है। इसलिए इसे वायुमण्डल का 'चंचल' या 'परिवर्तन-मण्डल' (ट्रापोस्फीयर) कहते हैं।

इस से ऊपरी वायुमण्डल की जाँच से पता चला है कि १० मील से अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डल का ताप सभी अक्षांशों, सभी ऋतुओं, तथा दिन-रात के सभी घंटों में लगभग १०० अंश फारनहाइट रहता है। ठण्डक स्थायी रहती है, न घटती है न बढती है। यहाँ वायुमण्डल शान्त और क्षीण है। इसीलिए इस भाग को 'स्थिर' अथवा 'अचल मण्डल' (स्ट्रेटोस्फीयर) कहते हैं।

वायुमण्डल के त्रसरेणु

वायुमण्डल सब स्थानों पर रजकण से लदा हुआ है। इन्हें 'त्रसरेणु' के नाम से पुकारा जाता है। 'त्रसरेणु' मिट्टी, धुएँ, रेत, सामुद्रिक सीकर, नमक, ज्वालामुखी की राख, उल्कापात की धूल, फूलों के पराग आदि के नन्हें-नन्हें कणों की अनन्त राशि से निर्मित हैं, जो वायुमण्डल में सर्वत्र व्याप्त है। धरातल के चारों ओर इनका एक परदा-सा पड़ा हुआ है। आकाश की नीलिमा इन्हीं की बदौलत दिखाई पड़ती है, नहीं तो आकाश घोर काला और भयानक लगता! सूर्य से आनेवाले प्रकाश की किरणों का पता हमें तभी लगता है, जब कोई वस्तु उनके मार्ग में आ जाती है और इससे टकराने के कारण उन्हें लौटना या मार्ग बदलना पड़ता है। प्रकाश जब धरातल की ओर आता है, तब इन रजकण-राशि पर पड़ता है और उससे टकराकर लौट जाता है। इसी से हमें वायुमण्डल प्रकाशित लगता है। यदि त्रसरेणु न होते, तो प्रकाश के धरातल पर आने पर केवल वही वस्तु हमें दिखाई पड़ती, जिनसे उसकी किरणें टकराती। शेष सब स्थान अंधकारपूर्ण होता। आकाश भी काला दिखाई देता और दिन में भी तारे दिखाई पड़ते।

भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों में त्रसरेणुओं की संख्या न्यूनाधिक होती रही है। खुले प्रदेशों की अपेक्षा नगरों में इनकी संख्या कई गुना अधिक होती है। नगरों के वायुमण्डल में धूलि के कण अधिक बड़े होते हैं। इसलिए नगरों में आकाश धुँधला या भूरा दिखाई पड़ता है। जहाँ ये त्रसरेणु महीन और कम होते हैं, वहाँ आकाश नीला और स्वच्छ दिखाई पड़ता है। आर्द्र वायु में त्रसरेणु भारी होकर धरातल की ओर गिरने लगते है। यही कारण है कि बरसात में वायुमण्डल शुद्ध और स्वच्छ प्रतीत होता है।

उषा और गोधूलि-वेला की मनोहारिणी अरुणिमा एवं मनोहर रंग इन्हीं कणों के प्रभाव से दिखाई देते हैं और वास्तविक बात तो यह है कि यदि धूल और धुएँ के कण न हों तो न वर्षा हो और न ओस गिरे और न बादलों के बनने की ही नौबत आए। जलसीकर और हिमसीकर इन्हीं त्रसरेणुओं के कारण बन पाते हैं।

नन्हें-नन्हें जलसीकर की राशि पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं और यह राशि सारे नभमण्डल में एक ही धरातल में होती है, तो प्रत्येक सीकर एक त्रिपार्श्व काँच का काम करता है और नभमण्डल में इन्द्रधनुष की छवि देखने में आती है।

सूर्य की गरमी और वायुमण्डल

धरातल पर होनेवाली विभिन्न ऋतुओं का कारण पृथ्वी का 'वर्तन' और 'परिभ्रमण' तो है ही, साथ ही वायुमण्डल के ताप और चाप के निरन्तर होते रहनेवाले परिवर्तन का भी उसमें गहरा हाथ है। एक तो धरती में भीतरी गरमी है, दूसरे सूर्य का तेज उसे बाहर से गरम किए रहता है। धरातल की बनावट भी भिन्न-भिन्न है। कहीं मिट्टी है, कहीं रेत; कहीं पत्थर है, कहीं जल; कहीं हरियाली है, कहीं उजाड़ बंजर भूमि। इसका फल यह होता है कि सूर्य का तेज कहीं तो धरती में सोख लिया जाता है और कहीं से लौटा दिया जाता है। कहीं-कहीं दोनों ही बातें होती हैं। जल पर पड़नेवाली धूप उसे गरमा देती है। ऊपरी तह भाप बनकर उड़ जाती है और वायुमण्डल में मिल जाती

है। सूखी धरती जल की अपेक्षा जल्दी गरम होती है और तपती है। इसी कारण समुद्रतट से दूर के प्रदेश ग्रीष्म-ऋतु में अधिक गरम और तप्त होते हैं। जाड़ों में भी समुद्र-तट के प्रदेश अधिक ठण्डे नहीं हो पाते; क्योंकि जल से गरमी निकलती भी देर में है। धरती से गरमी जल्दी निकल जाती है, इसीलिए शीतकाल की रात्रि मे समुद्र-तट से दूर के स्थान अधिक ठण्डे होते है।

गरमी से वायु चारो ओर फैलती है और उसका आयतन वढ जाता है। आयतन वढ़ने से वायु ठण्डी पड़ जाती है और तापांश घट जाता है। ठण्डक से संकोच होता है। दवाव से आयतन घटता है और गरमी वढ जाती है। दवाव घटा देने से आयतन वढ जाता है और साथ ही ठण्डक भी वढ़ जाती है। जव आयतन घट जाता है, तो उस ओर से हवा वह आती है। इस तरह से वायु में वहाव पैदा होता है। हवा अधिक दवाववाले प्रदेश से कम दवाववाले प्रदेश की ओर वहती है। इसी प्रकार हवा की धारा वनती है।

सूर्य की गरमी से धरातल के पास की वायु गरम होकर ऊपर उठ जाती है और उसका स्थान अन्य वायु ले लेती है। कारण यह है कि गरम होने से हवा अधिक फैल जाती है और इससे उसके ऊपर की हवा वहुत दव जाती है। इस स्थान की हवा मे, इसके चारो ओर की हवा की अपेक्षा अधिक दवाव होने के कारण, जहाँ दवाव कम है उस ओर हवा की धारा वहने लगती है। परन्तु इस धारा के वहने से आगे की तथा नीचे की तहों की हवा दवती जाती है। इसका फल यह होता है कि जिस स्थान पर हवा मे अधिक तपन उत्पन्न हुई थी, उसके चारो ओर की हवा मे अधिक दवाव उत्पन्न हो जाता है और चारो ओर से उमड़कर गरम हवा की ओर धारा वहने लगती है। इस प्रकार वायु के प्रवाह का एक चक्र-सा वन जाता है। इस प्रकार वायु का प्रवाह प्रत्येक जगह होता है, परन्तु वह केवल स्थानीय ही होता है, संसारव्यापक नही। वायुमण्डल में कभी-कभी भीषण ववण्डर और तूफान आदि आते है। इनको चक्रवात और प्रतिचक्रवात कहते है। ये असाधारण कारणो से वायु-मण्डल में एकाएक उत्पन्न होते हैं।

घन या मेघ

धरातल पर सूर्य की गरमी के कारण निरन्तर भाप वना करती है। समुद्र, झील, ताल, नद, नदी, तालाव, कुएँ आदि सभी जलाशयो से भाप के रूप मे परिणत होकर जल वायुमण्डल में मिलता रहता है। यह भाप वायु में मिल-कर उसे आर्द्र वनाती रहती है। गरम हवा भाप को वायव्य रूप मे अपने में मिलाए रहती है; परन्तु जव वह ठण्डी होती है, तो भाप जम जाती है। वायु में भाप उस समय तक वायव्य दशा मे रहती है, जव तक वायु सम्पृक्त नहीं हो जाती है। जव किसी तापवाली हवा मे इतनी भाप हो कि विना ताप वढ़ाए उससे अधिक भाप उसमें नहीं समा सकती, तो वह वायु 'सम्पृक्त' वायु कह-लाती है। जव वायु सम्पृक्त हो जाती है और उसमे अधिक भाप समाने की गुंजायश नही रहती, तव भाप सघन होकर प्रकट हो जाती है और वादल, कोहरा, वर्षा, हिम अथवा ओस का रूप धारण कर लेती है।

वायुमण्डल में भाप

ठंडी वायु विल्कुल अनार्द्र तो नही हो जाती, परन्तु वह गरम होकर जिस मात्रा मे आर्द्रता को धारण करती थी, ठंडी होकर उतनी आर्द्रता नहीं धारण कर सकती। अन्तरिक्ष देश में अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर या हिमसीकर, जो वायु की शीतलता के कारण अलग-अलग जम जाते है, वायु में भाप की ही तरह अवलम्वित रहकर कोहरे या कुहासे का रूप धारण करते हैं। इनके समूह का विस्तार और गहराई दोनों अत्यधिक होने के कारण ये वहुत घने होकर हमें जिस रूप में दिखाई देते है, उसे हम 'घन',' मेघ' या 'वादल' कहते हैं। धरातल से ये अनेक रूप के दिखाई देते हैं। ऊँचाई-निचाई, प्रकाश के सीधे या आड़े-तिरछे पड़ने या न पड़ने, तथा धूप-छाँह के तारतम्य से इनमें तरह-तरह के रूप देख पड़ते हैं और इस कारण इनके नाम भी तरह-तरह के रक्खे गए है। सव से ऊँचे वहुत पतले परों के समूह की भाँति जो घुंघ-राले वादल दिखाई पड़ते हैं, उन्हें 'कुन्तल मेघ' (सायरस) कहते हैं। ये लगभग पाँच मील की ऊँचाई तक होते हैं और नन्हे हिमकणों से वने होते है। इन पर प्रकाश पड़ने से वड़े विचित्र दृश्य देखने में आते है।

इनसे कुछ ही नीचे उतरकर ऊँचे कुंज और उनीले मेघ (क्युमुलस) होते है। ये सव से सुन्दर मेघ होते हैं। ये वड़े विचित्र क्रम से तहों अथवा धारियों में फौज के सिपाहियों की भाँति छाए रहते हैं। ये वर्फ की भाँति शुभ्र, व्यापक और सीधे समानान्तर रुई के गाले जैसे छोटे-छोटे लहरीले वादलों की अनन्त राशि के रूप में देख पड़ते है। कभी-कभी जव आकाश थोड़ी देर को खुला रहता है, तव इन्हीं वादलों की राशि से सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर छोटा रंगीन प्रभामंडल दिखाई पड़ता है। इनकी जगह कभी-कभी ऊँचे परतीले मेघ

(स्ट्रेटस) भी दिखाई पड़ते हैं। ये धरती से एक या दो मील से अधिक ऊँचाई पर नहीं होते, पर बहुधा आकाश का बहुत बड़ा भाग ये घेरे रहते हैं।

धरती से लगभग एक मील की ऊँचाई पर काले मेघों की बहुत भारी राशि देख पड़ती है, जिसके किनारे चाँदी की भाँति चमकते हैं और सफेद होते हैं। ये 'कुंज मेघ' कहलाते हैं। ऊपर चढती हुई, धरती के स्पर्श से गरमाई हुई वायु की धाराओं से जो भाप ऊपर को उठती जाती है, उसी के ठंडे पड़ जाने से यह कुंज मेघमाला वन जाती है। प्राय: इन्हीं मेघों के ऊपर 'घन' या 'जलद' (निम्बस) मेघ की भारी खाकी या काली चीथड़ों से वनी हुई एक चाँदनी-सी दिखाई पड़ती है। कभी-कभी मिलकर बढ़ते-बढ़ते ये कुंज बादल डेढ़-डेढ़ कोस तक की गहराई की मेघराशि या कादम्बिनी वन जाते हैं। कुंज रूप के ये घने जलद शीघ्र बरसते हैं, वे अधिक देर तक छाए नहीं रह सकते। अति घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमें प्रवेश नहीं कर पाती। इसलिए ये हमें काले वर्ण के दिखाई पड़ते हैं। दूसरे बादलों में सूर्य की किरणें घुसकर फैल जाती हैं, इसलिए उनका रंग सफेद हो जाता है। वायुमण्डल की भाप और रेणु पर सूर्य-किरणों के बिखरने से सूर्यास्त के बादल लाल, पीले तथा विचित्र रंग के वन जाते हैं। सूर्य की किरणों में इन्द्रधनुष के सभी रंग विद्यमान हैं और जब वे मेघकणों में विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती हैं, तो प्रकाश के वर्ण पृथक हो जाते हैं। इसलिए हम सूर्यास्त के समय सुन्दर रंग देखा करते हैं। इसी प्रकार जब कभी चन्द्रकिरणें उनीले बादलों के हिमकणों पर विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती है, तो चन्द्रमा के चारों ओर 'प्रभामण्डल' दिखाई पड़ता है।

कोहरा और पाला

कोहरा भी बादल का ही एक रूप है। वस्तुतः कोहरा या कुहासा वह बादल है, जो धरती को छूता हुआ रहता है। यह जलसीकरों का समूह है, जो अत्यन्त दूर से देखने पर बादलों-सा ही देख पड़ता है। जब वह बहुत घना होकर पहाड़ों पर जलदवाले कुहासे के रूप में रहता है, तो इसमें से गुजरकर चलने-फिरनेवाले, चाहे वे छाता लगाए हों, बिना वर्षा के ही पानी से भीग जाते हैं।

रात में जब धरती बहुत जल्दी ठंडी हो जाती है, तब वायु की आर्द्रता उसके सम्पर्क में आकर जलसीकर बनकर ठंडी चीजों पर ओस के रूप में जम जाती हैं। शीतकाल में जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, कुहासे के जलसीकर जमकर हिमसीकर वन जाते हैं। ये हिमसीकर इकट्ठे होकर रुई के गाले की भाँति छतों, पेड़ों आदि पर जम जाते हैं। यही 'पाला' कहलाता है। प्रायः टपकता हुआ जल भी जमकर पाला वन जाता है। इनके भाँति-भाँति के अद्भुत रूप और आकार वन जाते हैं।

ओला और बिजली

वायुमण्डल में जितना जल व्याप्त है, उसके उपर्युक्त वर्णित रूपों के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण रूप हमें देखने को मिलता है। यह है 'ओला'। बडे-बड़े ओलो की परीक्षा करने से पता लगा है कि ओले बरफ के पतले-पतले परतों से मिलकर प्याज की भाँति बने होते हैं। ओले कैसे बनते हैं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता; परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि बिजली की कड़क और ओले के बनने में कुछ सम्बन्ध अवश्य है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि प्रायः ओलों की वर्षा बिजली की कड़क के साथ होती है। ओलों के बनने और धरती तक आने के विषय में विश्वास किया जाता है कि जहाँ हिमसीकर बन जाते हैं, वहाँ बड़ी वेगवती वायु की धाराएँ ऊपर-नीचे की दिशा में बहती हैं और ये धाराएँ हिमसीकरों को ऊपर-नीचे नचाती हैं। इस यात्रा के चक्कर में हिमसीकर एक दूसरे से टकराकर बढ़ते जाते हैं। जब ये इतने बड़े हो जाते हैं कि वायु के झोंकों में अधिक नहीं ठहर सकते, तो धरती के अधिक समीप आ जाने के कारण उससे आकृष्ट हो वेग के साथ नीचे गिर पड़ते हैं।

ओले मेघराशि या कादम्बिनी में अर्थात् घने जलदों में ही उत्पन्न होते हैं। आकाश में बिजली भी यहीं से चमकती है। बादल के भीतर जलसीकर विद्युदाविष्ट हो जाते हैं। जब बादल बड़े वेग से एकत्रित होते हैं, तब बहुत-से छोटे-छोटे बूंद संयुक्त होकर बड़े हो जाते हैं। इसलिए इनकी विद्युत्-शक्ति भी इतनी बढ जाती है कि उनके बीच की हवा अलग हो जाती है और बिजली चिनगारी के रूप में बादल के एक सिरे पर टूटती है। यह क्रिया बार-बार होती है और इसी क्रिया में कड़क होती है। जब बिजली लम्बी धारी के आकार में चमकती है, तब उसके बाद निनाद या गरजना नहीं सुनाई देता। पर मुद्राकार और सर्पाकार बिजली अचानक बार-बार चमककर अपने आगे की हवा को हटा देती है। तब दूसरी हवाएँ उसका खाली स्थान भरने दौड़ती हैं। इसीलिए गंभीर शब्द उत्पन्न होता है। इसकी प्रतिध्वनि बादलों में पीछे भी होती रहती है।

बिजली की चमक और कड़क में सदैव अन्तर रहता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश का वेग शब्द के वेग की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक है। इसीलिए हमें पहले बिजली की चमक दिखाई देती है और गरज उसके कुछ देर बाद सुनाई देती है।

वायुमण्डल निरंतर परिवर्तनशील और अस्थिर है। हल्केपन के कारण वायु को इधर - उधर आने-जाने में बड़ी स्वतंत्रता है। वह जल और स्थल के बीच सदा सम्बन्ध बनाए रखती है, क्योंकि वह स्थल से जल और जल से स्थल की ओर सदा आया - जाया करती है। इस बात का हमारे जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे प्रत्येक स्थान की वायु बदलती रहती है। हम देखते हैं कि वायु कभी ठण्डी रहती है, कभी बहुत गरम और कभी साधारण तापवाली। वह कभी तेजी से चलती है और कभी मन्द। कभी उत्तर की ओर से वायु के झोंके आते है, कभी पूर्व या पश्चिम से। कभी सूखी हवा चलती है, तो कभी आर्द्र। वायुमण्डल में इस प्रकार के अनेकों परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं, परन्तु हम उन सब को जान भी नहीं पाते। केवल उन्हीं परिवर्तनों से हम अधिकतर परिचित रहते और उनमें दिलचस्पी रखते हैं जिनका हमारे जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

४ मील की ऊँचाई पर शीतल जल-बिन्दुओं का हिम--सीकरों में परिणत होना।

निरंतर ठंडे होते एवं ऊँचे उठते हुए जल-बिंदु (३ मील)।

छोटे जल-बिन्दुओं से संपृक्त बादल (२ मील)

ऊपर उठती हुई नम हवा आधे मील की ऊँचाई पर बादलों का रूप ले लेती है।

गिरते हुए हिम–सीकरों के साथ उठते हुए जल-बिंदुओं के संमिलन से ओलों की उत्पत्ति।

जल – बिंदुओं के संसर्ग से नीचे गिरते हुए ओलों का आकार बढ़ता जाता है।

ओले जमीन पर गिर रहे हैं।

ओलों की उत्पत्ति की कहानी

वायुमण्डल की प्रतिक्षण बदलने वाली दशा को ही हम 'मौसम' कहते हैं। जब हम कहते हैं कि मौसम बदल गया है, अथवा एक स्थान का मौसम दूसरे स्थान के मौसम से भिन्न है, तब हमारा तात्पर्य वायुमण्डल की भौतिक दशा के अन्तर से ही होता है। मौसम कभी भी स्थिर नहीं रहता। मौसम के विराट् परिवर्तनों को यद्यपि हम आँखों से देखकर, कानों से सुनकर तथा शरीर से अनुभव करके जान सकते हैं, तथापि सूक्ष्म परिवर्तनों का हाल जानने के लिए हमारे अंग इतने दक्ष नहीं हैं। इसके लिए हमें यंत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। वायुमण्डल की दशा का हाल जिन तत्त्वों से ज्ञात करके हम मौसम निर्धारित करते हैं, उनमें वायु की गरमी-सरदी,

भार, आर्द्रता, वेग, दिशा तथा वर्षा के परिमाण का विशेष महत्त्व है। हवा का भार, ताप आदि प्रति घंटे बदलते रहते हैं। उनको अलग-अलग जोड़कर दिन भर के घंटों की संख्या से भाग देने पर दैनिक आनुपातिक मौसम निकल सकता है। लेकिन जिस प्रकार किसी एक दिन का कोई प्रहर अधिक ठण्डा और कोई अधिक गरम होता है, उसी प्रकार महीने में कुछ दिन विशेष ठण्डे और कुछ विशेष गरम होते हैं। अतः महीने भर के मौसम को देखकर आनुपातिक मासिक मौसम निकाला जाता है। इसी प्रकार महीनों के मौसम को देखकर आनुपातिक वार्षिक मौसम निकाला जा सकता है। कई वर्षों के मौसमों के आनुपातिक मौसम की दशा को ही उस स्थान की 'जलवायु' कहा जाता है। इस प्रकार किसी स्थान के वायुमण्डल की तात्कालिक अवस्था *को 'मौसम' और स्थायी अवस्था को 'जलवायु' कहते हैं।*

मौसम और जलवायु के निर्माण में सूर्य का हाथ

धरातल पर मौसम का उत्पादक परम तेजस्वी सूर्य है। सूर्य की किरणों से ही धरातल पर गरमी-सरदी होती है। इसमें धरातल की बनावट (ऊँचाई-निचाई), जल और स्थल तथा अक्षांश आदि भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। वायु के अधिकांश परिवर्तन ऊष्मा द्वारा उत्पन्न होते हैं। धरातल पर ताप कम होने से वायु ठण्डी हो जाती है। इसका प्रभाव वायु के भार पर पड़ता है। वायु-भार से पवन की गति मे अन्तर आता है। पवन की गति का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। इस प्रकार ताप द्वारा मौसम के अधिकांश अंगों की दशा मे अन्तर पड़ता है।

यद्यपि सूर्य की किरणें वायुमण्डल से होकर पृथ्वी पर पड़ती है, तथापि इससे वायु के ताप में अन्तर नही पड़ पाता। वायु का केवल वही अंश इससे प्रभावित होता है, जो धरातल के संसर्ग में आता है। इसी अंश के प्रभाव से सम्पूर्ण वायुमण्डल में गरमी का संचार होता है। धरातल के गरम होने से वायु भी गरम हो जाती है और ठण्डा होने से ठण्डी। पृथ्वी की आकृति के कारण तथा उसकी सूर्य सम्बन्धी स्थिति के कारण धरातल के विभिन्न स्थलों पर सूर्य की किरणें समान रूप से नहीं पहुँच पाती हैं। वह प्रदेश जहाँ किरणें सीधी पड़ती है, उस भाग की अपेक्षा शीघ्र और अधिक गरम होता है, जहाँ किरणें तिरछी पड़ती है। इसका कारण यह है कि तिरछी किरणों को सीधी किरणों की अपेक्षा अपनी परिमित गरमी अधिक क्षेत्र में फैलानी पड़ती है। धरातल पर इसका प्रभाव यह पड़ता है कि जैसे-जैसे हम भूमध्यरेखा से दूर हटते जाएँ, वैसे ही धरातल का ताप कम होता जाता है। भूमध्यरेखा या शून्य अक्षांश के प्रदेश में सब से अधिक गरमी होनी चाहिए और ध्रुव-प्रदेशों में सब से कम! पर पृथ्वी की बनावट में विभिन्नता के कारण कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखने को मिलता है।

ताप जल की अपेक्षा स्थलभाग पर शीघ्र बढ़ता और शीघ्र ही कम हो जाता है। यही कारण है कि रात को स्थल-भागों के ठण्डा हो जाने के बहुत देर बाद तक भी जल में सूर्य की गरमी बनी रहती है। इसी प्रकार प्रातःकाल धरती की अपेक्षा सागर बहुत देर तक ठण्डा बना रहता है; इसी कारण स्थलभागों की अपेक्षा जलभाग गरमी में अधिक गरम नहीं होते और जाडों मे अधिक ठण्डे नही हो पाते। ऊँचाई का भी प्रभाव ताप पर पड़ता है। हम पृथ्वी से जितने ही ऊँचे *चढ़ते जाएँगे, ताप उतना ही कम होता जायगा। यह देखा* गया है कि प्रति १०० गज की चढाई पर १° फा० ताप कम हो जाता है। यही कारण है कि जब आगरा और लखनऊ में लू चलती है, तब शिमला और काश्मीर मे लोग ऊनी कपड़ों में लिपटे रहते है। ताप और वायु के भार अथवा चाप में भी गहरा सम्बन्ध है। यह कहना भी उचित होगा कि वायु का भार बहुत-कुछ ताप के अनुसार घटता-बढ़ता है। गरमी से वायु फैलती और अधिक स्थान को घेरती है। इसलिए प्रति वर्गइंच पर उसका भार कम हो जाता है। इसके विपरीत शीतलता के कारण वायु भारी हो जाती है। इसीलिए अधिक तापवाले प्रदेशों का वायु-भार कम तापवाले प्रदेशों के वायु-भार से कम होता है।

वायु-भार का तुलनात्मक अध्ययन

किसी एक स्थान के ताप अथवा वायु-भार से ही उस स्थान के मौसम की रचना नही हुआ करती। उस स्थान की वायु के ताप और भार के साथ-ही-साथ उसके आसपास के प्रदेश के ताप और भार का भी अध्ययन आवश्यक होता है। इसीलिए एक ही समय पर विभिन्न स्थानों के ताप और भार की जाँच की जाती है। समस्त धरातल के उन स्थानों को, जहाँ एक ही समय मे ताप और वायु-भार समान होते हैं, नक्शे में कतिपय रेखाओं द्वारा सम्बन्धित कर देते हैं। ऐसी रेखाओं को 'समताप' और 'समभार' रेखाएँ कहते हैं। इन दोनों रेखाओं मे भी आपस में गहरा सम्बन्ध है। समताप और समभार रेखाओं के नक्शों में उच्चभार और अल्पताप-वाली रेखाएँ तथा लघुभार और सर्वोच्च तापवाली रेखाएँ पास-पास पाई जाती है।
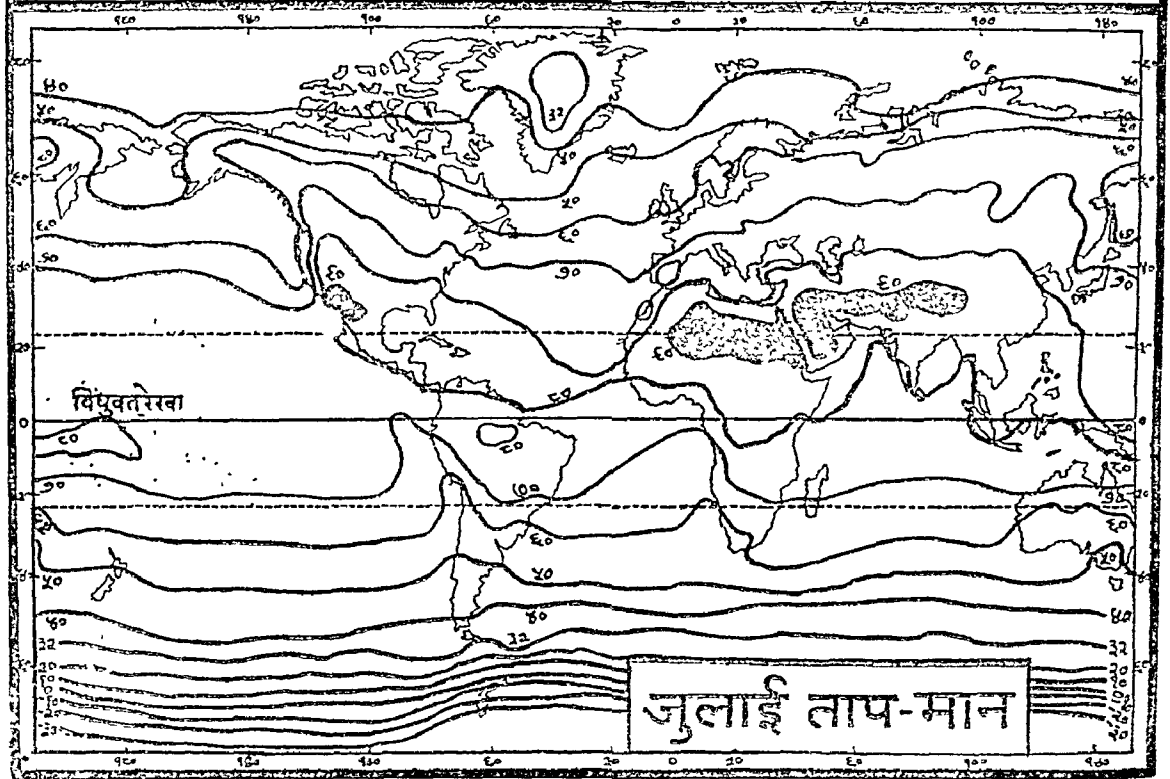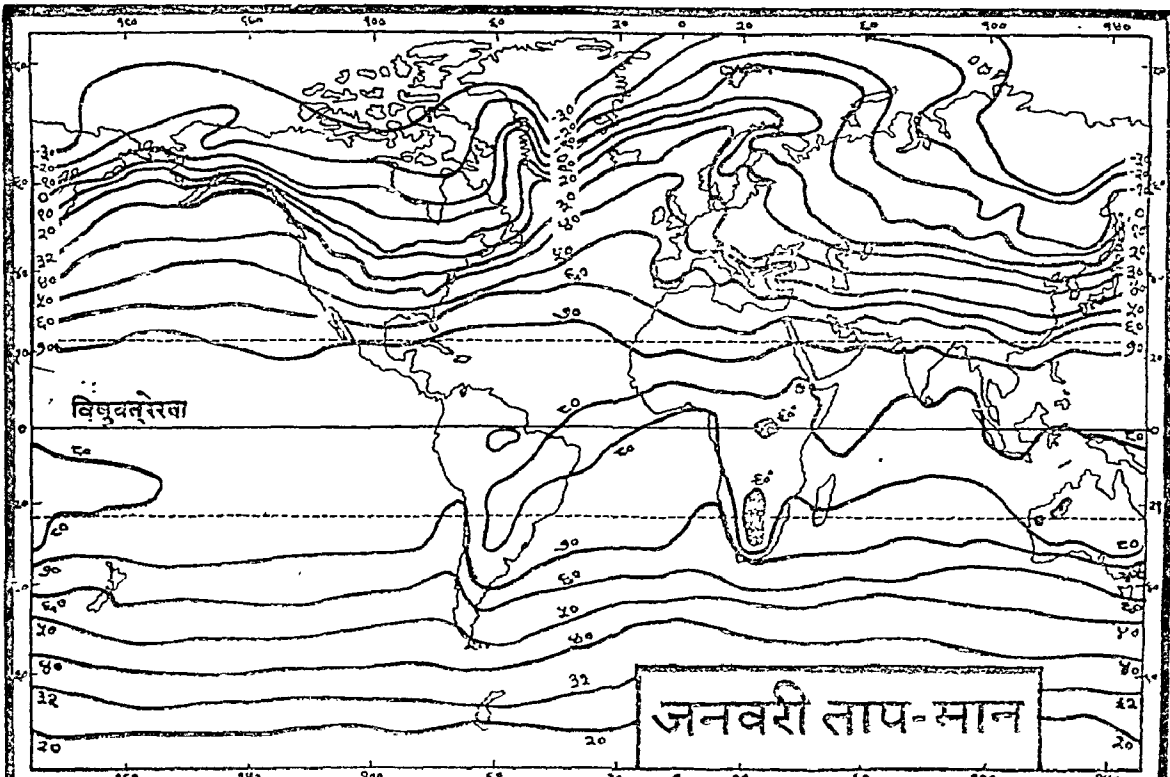
सब से अधिक ताप के प्रदेश इन मानचित्रों में काले दिखाए गए हैं। आड़ी रेखाओं द्वारा ताप के विभिन्न कटिबन्ध सूचित किए गए हैं। इन समताप रेखाओं के साथ सूचित अंक फाहरेनाइट स्केल के अनुसार ताप का निर्देश करते हैं।
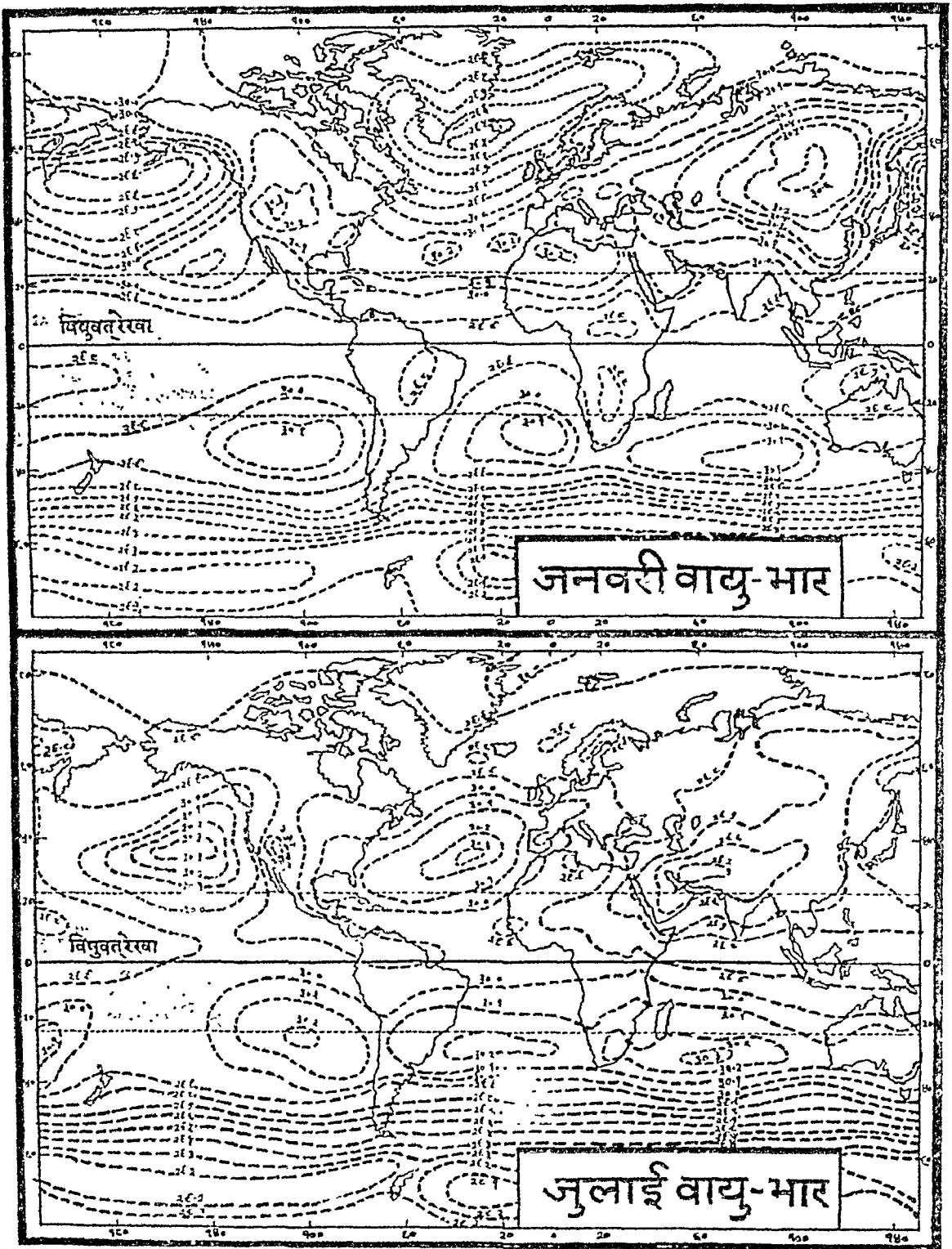
कटावदार रेखाएँ सम वायु-भार के भिन्न-भिन्न कटिबन्धों को सूचित करती है और उनके साथ सूचित अंक इंचों में उक्त कटिबन्धों के वायु-भार का निर्देश करते हैं।

पृ० १४०२ के मानचित्र को देखिए। जनवरी मास में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध मे सर्वोच्च होता है, इसलिए यहाँ ग्रीष्म ऋतु होती है। इसी से इस समय सर्वोच्च ताप दक्षिणी अफ्रीका के मध्य मे तथा उत्तरी ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। दोनों ही स्थानों मे ६०° फा० ताप का घेरा है। समुद्र अधिक पास होने के कारण दक्षिणी अमेरिका के इन्हीं अक्षांशों मे ताप कम है। स्थल के ऊपर की समताप रेखाएँ टेढ़ी है। पश्चिमी तट पर ठंडी धारा होने से तीनों दक्षिणी महाद्वीपों मे समताप रेखाएँ अधिक उत्तर से आरम्भ हो जाती हैं, पर पूर्वी सिरे पर दक्षिण की ओर वे बहुत नीची हो जाती हैं। समुद्र के मध्य मे समताप रेखाओं मे कोई विशेष अंतर नही है। ३०° फा० की समताप रेखा अन्टार्क्टिक वृत्त को प्रायः ढक-सी रही है। उत्तरी गोलार्द्ध मे सब से अधिक शीत एशिया तथा अमेरिका के घुर उत्तरी प्रदेश में पाई जाती है। साइबेरिया के वेर्खायॉस्क नगर के आसपास ताप —६०° फा० हो गया है। यही संसार के बसे हुए भागों मे सब से अधिक ठण्डा स्थल है। ३०° फा० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को ५५° अक्षांश मे पार करके उत्तरी अमेरिका मे प्रवेश करती है। फिर यह रेखा दक्षिण की ओर अधिक मुड़ जाती है। झीलो के प्रदेश के दक्षिण मे न्यूयार्क के पास वह अटलाण्टिक महासागर में निकलती है। गल्फस्ट्रीम इस रेखा को एकदम उत्तर की ओर ढकेल देती है। इसलिए आइसलैंड को छूती हुई यह रेखा नार्वे के प्राय. उत्तर मे पहुँचती है। यहाँ पहुँचने पर ठण्डे देश फिर इसे दक्षिण की ओर झुका देते हैं। मध्य जर्मनी, ऑस्ट्रिया, कृष्ण सागर, कास्पियन सागर और मध्य एशिया में होती हुई यह रेखा जापान के उत्तर मे निकलती है।

जनवरी मास की समभार रेखाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उच्चताप और लघुभार रेखाएँ साथ-साथ चलती है। लघुभार रेखा भूमध्यरेखा की प्रायः समस्त लम्बाई पर फैल जाती है, परन्तु अति लघुभार भूमध्यरेखा के दक्षिण मे दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया के मध्य मे स्थिर रहता है। इस लघुभार कटिबन्ध के दोनों ओर २० और ४० अक्षाशो के बीच मे अयन रेखाओं के उच्चभार कटिबन्ध हैं। उत्तरी गोलार्द्ध मे उच्चभार कटिबन्ध समुद्र मे बनते है और महाद्वीपो के मध्य में वे अति-उच्चभार बन जाते हैं। इन उच्चभार कटिबन्धो से ध्रुव की ओर पहुँचने पर विशेष लघुभार के प्रदेश मिलते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध मे लघुभार के प्रदेश महासागर में पृथक्-पृथक पाए जाते हैं। लघुभार का एक प्रदेश एल्यूशियन द्वीप के पास ८२° उ० अक्षांश मे है। दूसरा लघुभार प्रदेश आइसलैण्ड के दक्षिण-पश्चिम में ६०° उ० अक्षांश में होता है। लम्बी जिह्वा के समान इसका आकार नार्वे और स्पिट्सबर्ग के बीच में आर्क्टिक वृत्त की ओर चला गया है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ६०° द० अक्षांश से मिला हुआ लघुभार का एक कटिबन्ध पृथ्वी की लगातार परिक्रमा करता है।

अब पृ० १४०२ का निचला मानचित्र देखिए। जुलाई के महीने मे सूर्य कर्क-रेखा के ऊपर पहुँच जाता है। इसके साथ-साथ ताप भी बढ़ चलता है। ९०° फा० से अधिक गरमी मध्य एशिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र में पड़ती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ३२° फा० की समताप रेखा ऊपर बढ़कर प्रायः हार्न अन्तरीप के पास पहुँच गई है। उत्तरी गोलार्द्ध में इस ऋतु मे जल से स्थल अधिक गरम रहता है। इसलिए समताप रेखाएँ उत्तर की ओर मुड़ती हुई महाद्वीपों को पार करती हैं। इस प्रकार ६०° फा० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को तो ३०° फा० पर पार करती हैं, परन्तु कनाडा में पहुँचने पर इसका झुकाव उत्तर की ओर हो जाता है और यह प्रायः आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। वहाँ से यह बाल्टिक और श्वेत सागर की ओर बढ़ती हैं। साइबेरिया मे फिर यह आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। पर शीतल प्रशान्त महासागर के पास पहुँचकर फिर यह एकदम दक्षिण की ओर मुड़ती है।

समताप रेखाओं की भाँति समभार रेखाएँ भी जुलाई मे जनवरी से भिन्न रहती हैं। भूमध्य रेखा का लघुभार लगभग उतना ही रहता है। परन्तु सब से कम वायुभार ३०° उ० अक्षांश के निकट जैकबाबाद (पश्चिमी पाकिस्तान) में पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क-रेखा का उच्चभार कटिबन्ध प्रशान्त और अटलाण्टिक महासागरो तक परिमित है, परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध मे २५° द० अक्षांश के आसपास यह उच्चभार कटिबन्ध प्रायः अविच्छिन्न-सा है। आइसलैण्ड का लघुभार-प्रदेश अब भी कुछ-कुछ शेष है, पर एल्यूशियन लघुभार-प्रदेश बिल्कुल लुप्त हो गया है। इसके विपरीत दक्षिणी महासागर मे लघुभार-प्रदेश काफी बढ गया है। नकशे में वास्तविक ताप और भूमि की ऊँचाई-निचाई को एक साथ दिखलाने मे बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए ऊँचे-नीचे सभी स्थानो को समुद्रतल पर बसा हुआ मानकर आनुपातिक ताप निकाल लिया जाता है और तब समान ताप-वाले स्थानों को समताप रेखाओं से जोड़ दिया जाता है। वायुभार की सूचनाओं को घटा-बढ़ाकर इस प्रकार सुधार लिया जाता है, मानो वे ३२° फा० ताप पर प्राप्त की गई हों!

समवायुभार रेखाओं का नकशा हवा की दिशा और वेग जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। वायुभार के भेद से ही पवन चलता है। उच्चभार के प्रदेश की वायु लघुभार के प्रदेश की ओर दौड़ती है। यदि पृथ्वी भर में वायु का भार सब कहीं एक-सा ही हो, तो हवाओं का चलना भी बन्द हो जाय। इसके विपरीत यदि स्थानों के वायुभार में महान् अन्तर हो, जिससे भिन्न-भिन्न समभार रेखाएँ पास-पास चलती हों, तो उनसे प्रचण्ड वायु के चलने की संभावना रहती है। समभार रेखाओं का दूर-दूर होना मन्द वायु का परिचय देता है।

पृथ्वी के विविध ताप-कटिबन्ध

समताप रेखाओं के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि धरातल का कुछ प्रदेश तो ऐसा है, जहाँ पर गरमी और जाड़े के ताप में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रदेश में पूरे वर्ष भर तक एक-सा ही ताप बना रहता है। केवल रात और दिन के ताप में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए इस प्रदेश की रात ही जाड़ा की सूचक है और दिन गरमी का, क्योंकि रात और दिन के ताप में जाड़े और गरमी की ऋतु की अपेक्षा अधिक अन्तर रहता है। इस प्रदेश में कोई भी ऐसा महीना नहीं होता है, जिसमें ताप ६८° फा० से कभी नीचे आता हो। इस प्रदेश को 'अत्युष्ण कटिबन्ध' कहते हैं। धरातल के नक्शे में इस प्रदेश की सीमा ६८° फा० की वार्षिक 'आनुपातिक समताप रेखा' तक दोनों गोलार्द्धों में है। इस प्रदेश के केवल उन भागों में, जो भूमध्यरेखा से दूर हैं, जाड़े और गरमी के ताप में अन्तर पड़ने लगता है।

पृथ्वी के विविध ताप-कटिबन्ध।

'अत्युष्ण कटिबन्ध' की भाँति ही उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों में 'शीतोष्ण कटिबन्ध' की सीमा ५०° फा० की गरमी की समताप रेखा तक है। इस कटिबन्ध के प्रदेश में जाड़े और गरमी के ताप में विशेष अन्तर पड़ जाता है। ध्रुवों की ओर चलने से जाड़ा अधिक होता जाता है। इस कटिबन्ध में वर्ष में आठ महीने ताप ६८° फा० से नीचे रहता है। इस कटिबन्ध के समुद्र-तटीय प्रान्तों में जाड़े और गरमी के अतिरिक्त 'वसंत' और 'पतझड़' की दो और ऋतुएँ होती हैं।

धरातल का एक तीसरा भाग ऐसा भी है, जहाँ वर्ष के अधिकांश भाग में ताप ५०° फा० से भी कम रहता है। इसको 'शीत कटिबन्ध' कहते हैं। शीत कटिबन्ध में केवल चार ही महीने ऐसे होते हैं, जब ताप ५०° से ऊपर रहता है। यहाँ गरमी बहुत कम होती है, किन्तु जाड़ा कड़ाके का पड़ता है तथा जाड़े और गरमी के तापों में बहुत अधिक अन्तर रहता है। पृथ्वी की गोलाई के कारण इस कटिबन्ध में स्थल का बहुत थोड़ा भाग पड़ता है। इस कटिबन्ध में स्थित साइबेरिया के वेर्खयाँस्क नगर में संसार भर में सब से अधिक जाड़ा पड़ता है।

धरातल के नक्शे में ताप-कटिबन्धों को दिखाने की एक दूसरी रीति भी है। यह सूर्य की किरणों के कोणों अर्थात् अक्षांश रेखाओं के आधार पर है। इसके अनुसार अत्युष्ण कटिबन्ध भूमध्यरेखा के दोनों ओर २३½° अक्षांश तक फैला है। इसकी सीमातक रेखा को उत्तरी गोलार्द्ध में 'कर्क रेखा' और दक्षिणी गोलार्द्ध में 'मकर रेखा' कहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध की सीमा अत्युष्ण कटिबन्ध के बाद ६६½° के उत्तरी तथा उतने ही अंश के दक्षिणी अक्षांश तक है। इसकी सीमान्तक रेखा को उत्तरी गोलार्द्ध में 'आर्कटिक वृत्त' और दक्षिणी गोलार्द्ध में 'एन्टार्कटिक वृत्त' कहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध के बाद उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों तक शीत कटिबन्ध है। धरातल का सब से अधिक भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में ही है तथा अधिक-से-अधिक और न्यून-से-न्यून ताप के क्षेत्र स्थलभाग पर ही पाए जाते हैं। जनवरी और जुलाई के ताप का अन्तर सब से अधिक एशिया में है।

धरातल पर चलनेवाली धाराएँ—क्यों और कैसे?

वायुमण्डल का वह अंश, जो धरातल के सन्निकट है, चंचल और अस्थिर है। यह धरातल के साथ-साथ गरम होता है

और धरातल के ठण्डा होने से ठण्डा। धरातल का जो प्रदेश अधिक गरम हो जाता है, उसके पास की वायु भी अधिक गरम हो जाती है। वायु अधिक गरम होने से फैलती है और फैलने से उसका भार कम हो जाता है। हल्की हो जाने से वायु ऊपर उठने लगती है और उसके स्थान पर आसपास की ठंडी और अधिक भारवाली वायु आ जाती है। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब वायु गरम होकर फैलने लगती है, तो उसके हल्केपन के कारण आसपास की ठण्डी और भारी वायु अधिक दबाव डालकर उसे ऊपर उठाकर आप उसके स्थान पर पहुँच जाती है। उसके वहाँ पहुँचते ही धरातल की गरमी उसको भी शीघ्र गरम कर देती है और फलतः उसे भी ऊपर उठ जाना पड़ता है एवं ठंडे प्रदेशो से और भारी वायु उसके स्थान पर आती है। इस प्रकार वायु के आने और ऊपर उठने का चक्र बराबर चलता रहता है। गरम प्रदेश की ओर ठण्डी वायु की धारा आती रहती है और गरम होकर ऊपर उठती रहती है। ऊपर उठकर यह वायु विलुप्त नही हो जाती, वरन् अधिक ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते वह फिर ठण्डी हो जाती है और ठण्डी होकर संकुचित होने से भारी हो जाती है, जिससे उसे धरातल पर लौटना पड़ता है। परन्तु लौटकर यह उसी स्थान पर नही पहुँचती, जहाँ से ऊपर उठी थी, वरन् उसके आसपास के प्रदेश पर उतरकर धरातलीय वायु को दबाती हुई उसे लघुभार-प्रदेश की ओर बहा देती है।

समुद्र-तट की हवा का प्रवाह-चक्र

समुद्र-तट के निकट वायु के चलने की दिशा दिन और रात में भिन्न रहती है। समुद्र-तट के निकट १०-१५ मील तक वायु की दिशा मे दिन और रात मे लगातार फेरबदल या परिवर्तन होता रहता है। दिन मे पवन के झोंके समुद्र की ओर से आते हैं, परन्तु रात मे स्थल की ओर से समुद्र की ओर हवा चलती है। इस हवाओं का नाम उस दिशा के अनुसार पड़ गया है, जिस ओर वे चलती है। समुद्र-तट पर दिन मे चलनेवाली हवा 'समुद्री हवा' कहलाती है और रात में चलनेवाली 'स्थल-पवन'। समुद्र-तट की हवा के इस फेर-बदल का कारण यह है कि स्थल जल की अपेक्षा शीघ्र गरम होता है। दिन में सूर्य की किरणे स्थल को समुद्र की अपेक्षा अधिक गरम कर देती है। इससे स्थल के ऊपर वायु का भार समुद्र की अपेक्षा कम हो जाता है, जिससे जल की ओर से हवा स्थल की ओर चलने लगती है। रात में शीत पड़ने से स्थल की अपेक्षा जल देर मे ठण्डा हो पाता है। फलतः समुद्री वायु की अपेक्षा स्थल-वायु अधिक ठण्डी होती है। अतः रात मे हवा का प्रवाह स्थल से समुद्र की ओर होता है।

धरातलीय हवाओं का स्थायी प्रवाह-चक्र

धरातल पर भी हवाओं का चक्र लगभग इसी प्रकार उच्च-भार-प्रदेशों से लघुभार-प्रदेशों की ओर चलता रहता है। परन्तु धरातल के विभिन्न प्रदेशों में बहनेवाली हवाओं की दिशा मे समुद्री पवन की भाँति रात और दिन में भिन्नता नहीं होती। ये हवाएँ स्थायी होती हैं। केवल ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ इनके प्रवाह-क्षेत्र में थोड़ा-बहुत अंतर पड़ जाता है। यह बात नहीं है कि धरातल पर ऐसी हवाएँ हैं ही नहीं, जिनकी स्थिति और दिशा बिल्कुल अनिश्चित हो। परन्तु अधिकांश भागों में स्थायी हवाएँ ही चलती हैं।

हम जानते है कि भूमध्यरेखा के आसपास सूर्य की गरमी उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों की अपेक्षा अधिक पड़ती है। इस कारण भूमध्यरेखा के ऊपर की वायु अधिक गरम होकर ऊपर उठती है और ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुवों की दिशा में होता है, क्योंकि ध्रुवों पर अधिक ठण्डक होने से वहाँ की वायु संकुचित होती है। ऊपर की वायु का प्रवाह ध्रुव-प्रदेशों की ओर होने से भूमध्यरेखा तथा अत्युष्ण कटिबन्ध के अक्षांशों पर वायुभार कम हो जाता है। इस प्रकार अत्युष्ण कटिबन्ध में लघुभार की स्थिति उत्पन्न होने से उसके उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों की ओर से ठण्डी और अधिक भारवाली वायु चलने लगती हैं। इस प्रकार साधारण अवस्था में वायु का प्रवाह शीतोष्ण कटिबन्धों की ओर से भूमध्यप्रदेश की ओर हुआ करता है।

भूमध्यप्रदेश के ऊपर उठी हुई वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है और सिकुड़ने लगती है। इस कारण उसका भार बढ़ जाता है। भार बढ़ जाने से उसे फिर नीचे उतरना पड़ता है। परन्तु नीचे उतरते समय वह वायु लौटकर उसी स्थान पर नही पहुँचती, जहाँ से ऊपर उठी थी, वरन् उसके उत्तर और दक्षिण में कर्क और मकर रेखाओं के समीप वह धरातलीय वायु बन जाती है।

भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण में जिन प्रदेशों पर वायु ऊपर से नीचे आती है, वहाँ उच्चभार-प्रदेशों की रचना होती है, क्योंकि ऊपर से आनेवाली वायु का भार धरातलीय वायु से कहीं अधिक होता है। इन उच्चभार प्रदेशों से वायु का प्रवाह इनके उत्तर और दक्षिण अर्थात् ध्रुव तथा भूमध्यरेखा दोनों ही ओर होता है, क्योंकि इन प्रदेशों के दोनों ओर ही लघुभार-प्रदेश हो जाते हैं।

पत्ती, फूल, फल, आदि को धारण करनेवाला अंग—तना

पहले वर्णन किया जा चुका है, कि तना पौधे का वह अंग है, जो पत्ती, फूल और फल को धारण करता है। इसी में होकर जड़ द्वारा संचित पदार्थ पत्तियों तक पहुँचते हैं और उनमें उपार्जित द्रव्य जड़ों में आते हैं। इसके अतिरिक्त किसी-किसी पौधे में तने दूसरे काम भी देते हैं। ऐसे तने साधारण तनों से कुछ भिन्न होते हैं। आइए, पहले साधारण तने की कुछ बातें आपको बताएँ।

जब हम तने के अन्य अंगों को धारण करने के कर्त्तव्य पर विचार करते हैं, तो हमारा ध्यान कई बातो की ओर जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि तना ही इन सबका आधार है। इसी के सहारे पत्ती, फूल, फल अपनी-अपनी जगह पर लगे रहते हैं। यही नहीं, इसी के प्रभाव से ये सब वायुमण्डल में ऐसे पसरे रहते हैं कि इन्हें अपने-अपने कामकाज मे अधिक-से-अधिक सुविधा मिलती है। उदाहरण के लिए पत्तियो को ही लीजिए। गौर करने से आपको इस बात का पता लग जायगा कि बहुधा आसपास की पत्तियाँ एक दूसरे के ऊपर नहीं रहतीं। पत्तियो की यह विशेषता पेड़ के लिए बड़ी लाभदायक है, क्योंकि इस प्रकार सारी पत्तियों को रोशनी मिलती रहती है, जिसकी सहायता से वे हवा की कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जड़ों से संचित जल से स्टार्च जैसा अमूल्य पदार्थ तैयार करती है। इसी तरह यदि हम फूलों की ओर ध्यान दें, तो तुरंत पता लग जायगा कि ये अपनी-अपनी टहनियो पर ऐसे लगे होते हैं कि इनके परागकण योनिछत्र तक सुविधा से पहुँच जाते हैं। वे फूल जिनमे पतिंगो द्वारा सेचन होता है, इस ढंग से लगे होते है कि पतिंगे उन्हें सुगमता से देख सकते है। जिन फूलों में यह क्रिया हवा के जरिए से होती है, वे ऐसे फैले रहते है कि हवा का झोंका लगते ही पराग झड़कर एक फूल से दूसरे फूल तक आसानी से पहुँच जाता है। इसी तरह हवा के सहारे छितरनेवाले फल और बीज भी डालों से प्रायः इस प्रकार निकले रहते है, जिसमें तनिक झोंका लगने पर ही वे आसानी से हवा में उड़ सकें। जड़ों की भाँति कभी-कभी तने भी कोठार का काम देते है। चिरस्थायी अंग होने के कारण इस काम के लिए ये कही अधिक उपयुक्त अंग है। यदि साधारण पत्तियों में संचित पदार्थ जमा होते रहें, तो खाद्य पदार्थ बनने में बड़ी अडचन पड़ सकती है, जिससे स्टार्च जैसी परम आवश्यक वस्तु की कमी रह जाने और इस तरह पौधों को बडी हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

तने की पहचान

साधारण तने जमीन के ऊपर निकले होते हैं और इसलिए प्रायः इन्हे पेड के अन्य अंगों से पहचानने में कठिनाई नही होती। किसी-किसी पौधे मे तने पृथ्वी के अन्दर-ही-अंदर रहते है (देखो पृ० १४०८ के चित्र)। ऐसे तने प्रायः देखने में जड़ों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते भी होते हैं। लेकिन फिर भी अक्सर इन्हें जड़ों से आसानी से पृथक् किया जा सकता है; क्योंकि ऐसे तनों पर भी प्रायः वल्क-पत्र (स्केल लीव्ज) या इनके चिह्न और आंखे मिल जाती है (पृ० १४०८ का ऊपरी चित्र)। इसके अतिरिक्त जड़ और तने की आन्तरिक रचना में भी बड़ा अन्तर होता हैं।
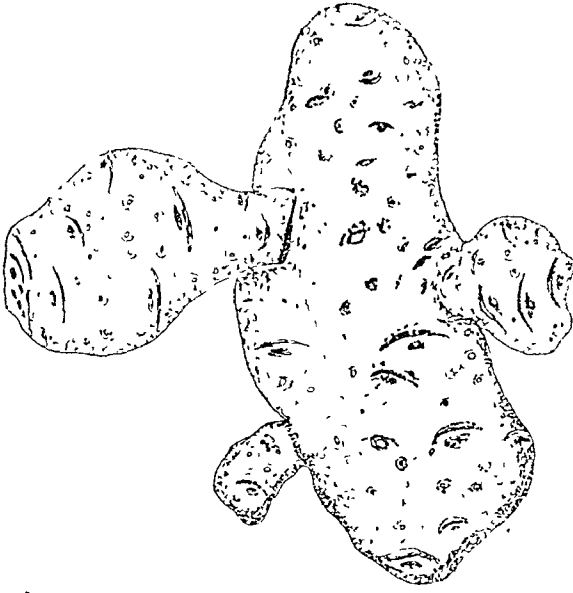
आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आलू जड़ नहीं, बल्कि तना है। उसकी गणना विशेष प्रकार के तनों में की जाती है।

तने की आन्तरिक रचना

जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है, पौधे के अंग अनेक तन्तुओं से बने है। साधारण द्विदली पौधे के तने मे तीन प्रधान तन्तु-संस्थान होते है। ये अधित्वक्-तन्तु, प्रवाहक-तन्तु और आधार-तन्तु है। इन तन्तुओं में ही परिवर्तन से कई प्रकार के अन्य तन्तु उत्पन्न होते है। ऐसे तनो में ये तन्तु किस प्रकार बटे रहते है, इसका ठीक-ठीक पता हमें पृष्ठ १४०९ के चित्र की जाँच से चल सकता है। ये तने उस मोमबत्ती के समान हैं, जिसमे मोम के बाहर एक कागजी खोल चढा हो और मोम के अन्दर, एक ही परिधि पर, एक-दूसरे से कुछ-कुछ फासले पर कई वत्तियाँ हों। इस कल्पित मोमबत्ती मे कागजी खोल अधित्वक् की जगह, मोम आधार-तन्तु के स्थान पर और अन्दर की वत्तियाँ नसों की जगह होगी। आगे चलकर हम ऐसे तने की आन्तरिक रचना की फिर चर्चा करेंगे।

जड़ और तने की नसों में अन्तर

सभी नसोंवाले पौधो के तनों की रचना एक-सी नहीं होती। हर समूह के पौधों में कोई-न-कोई विशेपता रहती है और प्राय: इसी विशिष्ट विशेपता के सहारे ही उनके प्रधान समूह तक का पता हमें चल सकता है।

जैसा हम पहले देख चुके है, प्रवाहक-तन्तुक्रम या नसों में दो प्रकार के तन्तु होते है—काष्ठ और फ्लोयम या 'अन्तर छाल'। प्राय: अन्तर छाल में लोग छाल के अन्दर और काष्ठ के वाहर के सभी तन्तुओं को शामिल करते हैं। इस तरह इसमें केम्वियम, फ्लोयम, पेरीसाइकिल और कुछ भाग वल्क का भी आ जाता है। लेकिन हम इस शव्द का प्रयोग केवल फ्लोयम के लिए ही करेगे। जड़ और तने की नसो में काष्ठ और फ्लोयम का स्थान भिन्न-भिन्न होता है। जड़ की नसों मे ये अगल-वगल एक ही परिधि पर, परन्तु भिन्न-भिन्न अर्द्धव्यास पर होते है (पृ० १४१० के चित्र में अ), परन्तु तने मे ये ऊपर-नीचे, एक ही अर्द्धव्यास पर, लेकिन भिन्न-भिन्न परिधि पर होते है (पृ० १४१० के चित्र में व)। जड़ और तने की रचना में यह प्रधान अन्तर है।

परन्तु इनमें एक और भी अन्तर होता है। जैसा आपको मालूम है, नसों मे काष्ठ ही प्रधान तन्तु है। काष्ठ मे कई प्रकार की कोशिकाएँ और नलिकाएँ होती हैं। इनकी भित्तिकाओ पर भिन्न-भिन्न प्रकार से काष्ठोज की तह जमा रहती है, जिससे इन नलिकाओ की भित्तिकाएँ छल्लेदार, पेंचदार या गर्तमय हो जाती है (पृ० ५५७ का चित्र)। सव से प्रथम वननेवाली नलिकाओं मे काष्ठोज की तह छल्लेदार या पेंचदार होती है। तनों की नसों मे ऐसी नलिकाएँ सव से भीतर तने के केन्द्र की ओर रहती है और जड़ों में, सव से वाहर, तने की परिधि की ओर (पृ० १४१० का चित्र)। इस तरह सव से प्रथम वनने

अदरक भी एक विशेष प्रकार का तना है। यद्यपि देखने में यह जड़ जैसा होता है, पर यथार्थ में यह जड़ नहीं है।

वाले काष्ठ 'प्रोटोजाइलेम' का स्थान तने और जड़ों में भिन्न-भिन्न होता है। तने की नसों को एन्डार्क और जड़ों की नसों को एक्जार्क कहते हैं।

गुप्त-बीजी पौधों के दो प्रधान समूह

गुप्त-बीजी पौधों के दो प्रधान समूह हैं—एकदली और द्विदली। इन पौधों में कई वातों में विभिन्नता है। द्विदली पौधे के बीज मे दो दालें या "बीज-पत्र" होते हैं। बीज अंकुरित होने पर यही दोनों बीज-पत्र सब से प्रथम पत्तियों के रूप में बाहर निकलते है। इस समूह के पौधों की संख्या बहुत बड़ी है। इनमें बूटे, झाड़ और वृक्ष सभी प्रकार के पेड़-पौधे हैं। आम, जामुन, महुवा, मटर, चना, सेव, गुलाब आदि हजारों जाति के पौधे इस समूह में हैं। एकदली पौधे में बीज अंकुरित होने पर पहले एक ही पत्ती या "बीज-पत्र" बाहर निकलता है। इस समूह में विशेषकर बूटे और झाड़ होते हैं। ताड़, खजूर, नारियल, गेहूँ, जुआर और अनेक प्रकार की घास वगैरह इस समूह में हैं। इन दोनों समूहों के पौधों के तने की आन्तरिक रचना भी एक-सी नहीं होती।
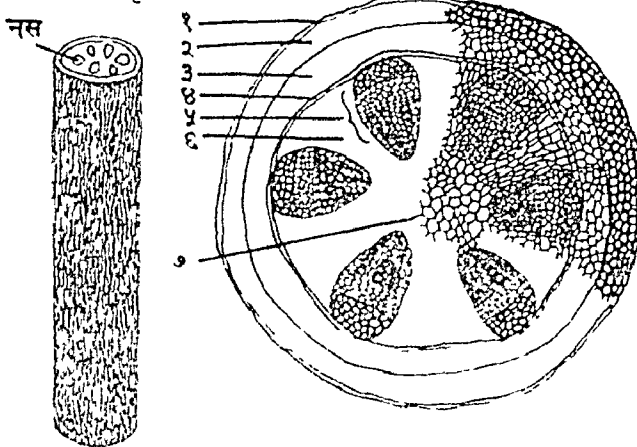
(बाईं ओर अ) साधारण द्विदली पौधे की टहनी। (दाहिनी ओर) इसी साधारण टहनी के वेंड़े कत्तल का गौण वृद्धि से पूर्व का अणुवीक्षणीय चित्र। १—अधित्वक्; २—कोलेनकाइमा; ३—साधारण पैरेनकाइमा; ४—एन्डोडरमिस; ५—प्रवाहक तन्तु; ६—मड्डलरी रेंज; ७—हीर।

द्विदली पौधे के तने की आन्तरिक रचना

मटर या सूरजमुखी जैसे किसी साधारण पौधे की टहनी के महीन कत्तल को सूक्ष्मदर्शक में देखकर हम द्विदली पौधे के तने की आन्तरिक अवस्था का ठीक भाँति से पता लगा सकते है (पृ० १४०६-१४१२ के चित्र)। ऐसे तने में सब से बाहर अधित्वक्, फिर वल्क और इसके अन्दर नसे या प्रवाहक तन्तु और हीर होते है।

अधित्वक्—इस पर्त्त की मोटान केवल एक कोशिका होती है। इन कोशिकाओं की बाहरी भित्तिकाओं मे अक्सर चर्मोज की तह जमी रहती है, जो पौधों से वाष्प-त्याग की ज्यादती को रोकती है। कभी-कभी अधित्वक् में रंध्र भी होते हैं। अनेक प्रकार के रक्षक-तन्तु भी अधित्वक् की कोशिकाओं में ही परिवर्त्तन से उत्पन्न होते हैं।

वल्क—अधित्वक् के भीतर वल्क होता है। इसमें कई पर्त्त और अनेक प्रकार के तन्तु होते हैं। अन्दर की ओर के अन्तिम पर्त्त को 'एन्डोडरमिस' कहते हैं। अधित्वक् की भाँति एन्डोडरमिस भी एक ही कोशिका जितना गहरा होता है। इसकी कोशिकाओं में प्रायः स्टार्च होता है। एन्डोडरमिस के भीतर पेरीसाइकिल होता है। यह तन्तु नसों और वल्क के बीच में होता है। प्रायः इसके कई पर्त होते है और इनमें अक्सर पैरेनकाइमा और पाषाण-तन्तु दोनो ही होते हैं। कभी-कभी पाषाण-तंतु नही भी होता है। पाषाण-तन्तु तने को मजबूती पहुँचाता है। किसी-किसी पौधे के पेरीसाइकिल मे यह अविच्छिन्न रूप से नली की भाँति नसो के बाहर फैला होता है और कभी-कभी इसके अलग-अलग रेशे होते है। दोनों ही अवस्था में पेरीसाइकिल तनों को सुदृढ़ बनाता है। कभी-कभी पेरीसाइकिल में केवल पैरेनकाइमा ही होता है।

प्रवाहक-तन्तु (नसें)—हीर के बाहरी भाग में चारों ओर नसे होती है (इसी पृ० के चित्र में अ)। द्विदली पौधे के तने मे नसे एक घेरे मे, एक-दूसरे से कुछ फासले पर बँटी रहती है। इन नसों में तीन तन्तु होते हैं—अन्दर की ओर काष्ठ, बाहर की ओर फ्लोयम और इन दोनों के बीच में केम्बियम (पृ० १४१० का चित्र)। काष्ठ में काष्ठ-कोश, काष्ठ-नलिका और काष्ठ-पैरेनकाइमा होता है। फ्लोयम में झाँझर-नलिका, झाँझर-पट्ट, सहायक कोशिका और फ्लोयम पैरेनकाइमा होता है। केम्बियम की कोशिकाएँ सदैव सजीव और मौलिक अवस्था में बनी रहती हैं। इनमें विभाजन की

शक्ति भी बराबर बनी रहती है, और इस प्रकार इनसे एक ओर काष्ठ और दूसरी ओर फ्लोयम की उत्पत्ति होती रहती है।

आसपास की नसों के बीच के तन्तु को 'मेडुलरी रेज' कहते है (पृ० १४०९-१४१२ के चित्र)। इस तन्तु की कोशिकाओं की सब से अधिक चौड़ान प्राय: तने के व्यास के सिधान में होती है। ये तन्तु उपार्जित वस्तुओं के कोठार का भी काम देते है। कदाचित् इस तन्तु ही में होकर काष्ठ-नन्निकाओ से जल तने के बाहरी तन्तुओं मे पहुँचता है।

हीर—हीर तने के बीच का भाग है। इसकी कोशिकाएँ प्राय. वल्क की कोशिकाओं के समान होती हैं। हीर और वल्क को आधार-तन्तु कहते है।

तने की मोटान कैसे बढ़ती है—गौण वृद्धि

आप देख चुके हैं कि पौधों में जड़ों और शाखों के सिरे पर बढ़नेवाले भाग होते है। यहाँ की कोशिकाएँ विभाजित होती रहती है। इस तरह इन कोशिकाओ से नवीन कोशिकाएँ निरन्तर बनती रहती है, जिससे पौधे बढ़ते रहते हैं।
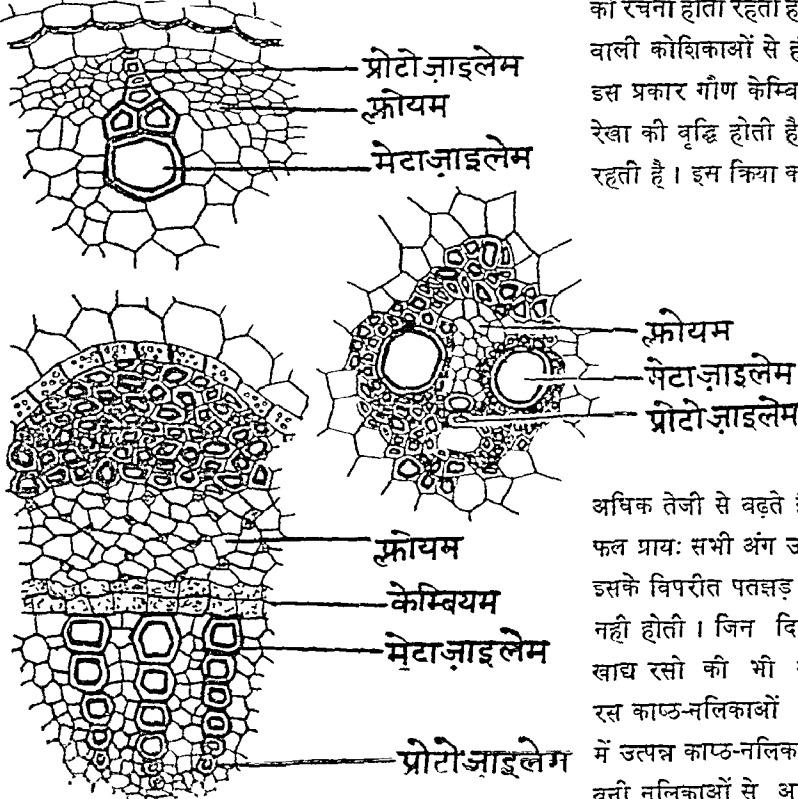
(अ) जड़ की नसों में तंतुक्रम; (ब) द्विदली पौधे के तने की नसों में तंतुक्रम; (स) एकदली पौधे की नसों में तंतुक्रम।

परन्तु इसके साथ-ही-साथ आम, जामुन, चीड़, देवदार, मनोकामिनी की भाँति के हजारों वृक्ष और झाड़ हैं, जो ज्यों-ज्यों पुराने होते है, उनके तने भी मोटे होते रहते हैं। यह क्रिया कैसे होती है, हम यहाँ इसी पर विचार करेंगे।

जैसा अभी कह चुके है, सारे द्विदली पौधो की नसों में काष्ठ और फ्लोयम के बीच मे केम्बियम होता है, जिसकी कोशिकाएँ सदैव विभाजित होती रहती है। इस क्रिया से जो कोशिकाएँ केम्बियम के बाहर की तरफ बनती है, वे फ्लोयम मे और जो अन्दर की ओर बनती हैं, वे काष्ठ मे बदल जाती है। इस तरह केम्बियम से एक ओर काष्ठ और दूसरी ओर अन्तर-छाल या फ्लोयम की रचना होती रहती है और ज्यों-ज्यों वृक्ष पुराने होते है, उनकी नसो की मोटान बढ़ती जाती है। क्रमश: ऐसे पौधों की नसों के केम्बियम की सिधानवाली दूसरी कोशिकाएँ भी मौलिक अवस्था में आ जाती है और कुछ समय पश्चात् नवजात केम्बियम और पूर्ववर्त्ती केम्बियम की कोशिकाएँ मिल जाती हैं, जिससे केम्बियम का एक अविच्छिन्न चक्र बन जाता है (पृ० १४११ का चित्र)। इस तरह लगातार काष्ठ और फ्लोयम की रचना होती रहती है। केम्बियम की हीर-रेखा की सिधानवाली कोशिकाओं से हीर-रेखा की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार गौण केम्बियम से काष्ठ, अन्तर-छाल और हीर रेखा की वृद्धि होती है और तने की मोटान बराबर बढ़ती रहती है। इस क्रिया को 'गौणवृद्धि' कहते हैं। इसी के प्रभाव से द्विदली समूह के झाड़ों और वृक्षों के तने अत्यन्त कोमल डंठल से बढ़कर इतने दृढ़ और मोटे हो जाते है।

पौधों की बाढ़ साल के प्रत्येक-मौसम में एक समान नही रहती। वसंत के दिनों में पौधे अधिक तेजी से बढ़ते है। इन दिनो नवीन पत्तियाँ, फूल, फल प्राय: सभी अंग उत्पन्न होते और वृद्धि पर रहते है। इसके विपरीत पतझड़ के दिनों मे बाढ़ इतनी तेजी से नही होती। जिन दिनों पौधे बाढ पर होते है, उनमें खाद्य रसो की भी अधिक आवश्यकता रहती है। ये रस काष्ठ-नलिकाओं में होकर आते है। इसलिए वसंत में उत्पन्न काष्ठ-नलिकाएँ पतझड या सर्दी के दिनों में बनी नलिकाओं से अधिक चौड़ी होती है। इस प्रकार, जिन देशों में वसंत और पतझड़ के मौसम मे विशेष अन्तर होता है, वहाँ तनों में प्रत्येक साल एक घेरा चौड़ी

नलिकाओं का और दूसरा तंग नलिकाओं का उत्पन्न होता है। इस पूर्ण चक्र को 'वार्षिक चक्र' या 'वृद्धिचक्र' कहते हैं। इनको गिनकर प्रायः हम ऐसे वृक्षों की आयु का भी पता लगा सकते हैं। ऐसे वृद्धिचक्र प्रायः हम आसानी से तने या शाखों को काटकर सफाई से रंदने पर देख सकते हैं। सर्दी या पतझड़ के दिनों के घेरे तंग और गहरे रंग के तथा वसंत ऋतु के दिनों के बने घेरे हल्के रंग के और चौड़े होते हैं (पृ० १४१२-१४१३ के चित्र)। किसी-किसी देश में तमाम साल मौसम एक-सा रहता है। ऐसी दशा में वृद्धिचक्रों का पता नहीं चल सकता। इसके अलावा जिन देशों में साल में कई बार सर्दी-गरमी का उलट-फेर होता है, वहाँ ऐसे कई चक्र बन जाते हैं। इन दोनों ही दशाओं में वृद्धिचक्र गिनकर वृक्षों की ठीक-ठीक आयु का पता हमें नहीं लग सकता।

तने में जैसे-जैसे फ्लोयम और काष्ठ की वृद्धि होती है, उसके बाहरी तन्तुओं पर तनाव पड़ता है, जिससे वे खिचने लगते हैं। अधित्वक् लचीला होता है, इसलिए उसकी कोशिकाएँ कुछ समय तक इस तनाव को किसी हद तक बरदाश्त कर सकती हैं, परन्तु अन्त में वे इस दबाव के कारण फट जाती हैं। अधित्वक् के फट जाने से इसके अन्दर की वल्क-कोशिकाएँ, जो पहले अधित्वक् से ढकी थी, खुल जाती हैं। इन कोशिकाओं में अधित्वक् की भाँति चर्मोज की तह नहीं होती, इसलिए हवा और गरमी के कारण वे सूखने लगती हैं। यदि इस प्रकार वल्क की खुली कोशिकाओं में इसकी बचत का कोई-न-कोई साधन न हो जाता, तो वृक्ष को बडी हानि पहुँचती; मगर ऐसा नहीं होने पाता। ऐसी दशा में वल्क की बाहरी कोशिकाएँ मौलिक अवस्था में आ जाती हैं। इनमें तुरन्त ही विभाजन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार यहाँ एक दूसरा केम्बियम बन जाता है। इसे 'काग-केम्बियम' कहते हैं (पृ० १४१३ का चित्र)। इस केम्बियम से बाहर की ओर काग और अन्दर की ओर वल्क की उत्पत्ति होने लगती है। काग की कोशिकाएँ मुर्दा होती हैं और आपस में एक दूसरे से सटी रहती हैं, जिससे इनके बीच में अन्तर-तान्तविक स्थान नहीं रहते।

साधारण द्विदली पौधे की टहनी के आड़े कत्तल का गौणवृद्धि प्रारंभ होते समय का चित्र। केम्बियन का पूर्ण चक्र बन गया है।

काग की भित्तिकाओं में कागजन होता है, जिसमें होकर जल प्रवेश नहीं कर सकता। इस प्रकार अधित्वक् की भाँति, गौणवृद्धि होने पर, काग तने के तन्तुओं को सूखने से बचाता है। वह कीडे-मकोड़ों तथा दूसरे हानिकारक जीवों के आक्रमण से भी इनकी रक्षा करता है।

जिस समय गौणवृद्धि के कारण तने अधिक मोटे हो जाते हैं, काग के पर्त पर भी दबाव पडता है और कुछ दिन बाद यह भी फट जाता है, जिससे फिर वल्क की कोशिकाओं को सूखने से बचाने की समस्या उठ खड़ी होती है। इसके रोकने के लिए अन्दर के दूसरे पर्तों से भी काग-केम्बियम उत्पन्न होता है। इस प्रकार अन्त में काग-केम्बियम गौण फ्लोयम की कोशिकाओं तक से उत्पन्न हो सकता है। वनस्पति-शास्त्र के अनुसार काग-केम्बियम के बाहर के सारे तन्तुओं को "छाल" कहते हैं।

लेन्टीसेल्स — जैसा ऊपर कह चुके हैं, काग में होकर पानी और हवा नहीं जा सकते, मगर पौधों में सभी अंगों को साँस लेने के लिए हवा की जरूरत पडती है। इसलिए तने को भी वायु चाहिए। काग की इस कमी को पूरा करने के लिए तने की छाल में 'लेन्टीसेल्स' होते हैं। ये एक विशेष प्रकार के स्थान हैं, जो रंध्र के नीचे उत्पन्न होते हैं। यहाँ की कोशिकाएँ एक दूसरे से सटी नहीं होतीं। बल्कि इनके बीच में अन्तर-तान्तविक स्थान होते हैं। लेन्टीसेल्स के बीच में जो स्थान होते हैं उन्हीं में होकर वायु आ-जा सकती है। साधारण काग में जो गोल, आडे या अन्य भाँति के चिह्न दिखाई देते हैं, वे लेन्टीसेल्स ही हैं।

एकदली पौधे के तने की आन्तरिक रचना

एकदली पौधे के तने में द्विदली पौधों की अपेक्षा नसों की संख्या ज्यादा होती है। ये नस द्विदली पौधों की नसों की भाँति तने में चारों ओर एक घेरे में नहीं होती, बल्कि

यह पृ० १४१० के चित्र के एक भाग का विस्तृत चित्र है।

पैरेनकाइमा होते हैं। प्रत्येक नस में दो काष्ठ-नालिकाओं को छोड़ शेष अत्यन्त महीन होती हैं।

कभी-कभी एकदली पौधे के तने के बीच के भाग मे नसे नहीं होतीं। इस प्रकार के पौधों के बीच के तन्तु में केवल पैरेनकाइमा होता है, जो अक्सर प्रारम्भ में भी गल जाता है, जिससे ये तने खोखले हो जाते है। बाँस और कितनी ही दूसरी घासों में ऐसे तने होते है।

प्रत्येक नस के चारों ओर प्रायः पाषाण-तन्तु का घेरा होता है, जो विशेषकर तने की परिधि और केन्द्र की तरफ अधिक होता है।

किसी-किसी एकदली पौधे मे गौण-वृद्धि भी होती है। ड्रैसीना और यक्का इसी प्रकार के पौवे है।

पौधों में नसो में होकर खाद्य रस संचरित होते है। फ्लोयम में होकर पत्तियों मे उपार्जित वस्तुएँ पौधो के दूसरे अंगों में जाती है और काष्ठ में होकर जड़ों द्वारा संचित जल और दूसरी वस्तुएँ पत्तियों मे पहुँचती है।

समस्त तने के अन्दर फैली रहती है (पृ० १४१० का चित्र)। गन्ने या जुआर के लट्ठे, सरकन्डे अथवा बाँस या वेंत के रेशे, यही नसें हैं। सावधानी से आप इन्हें अलग भी कर सकते है। इस समूह के पौधों की नसों में केम्बियम नहीं होता, इसलिए इनमें गौणवृद्धि नही होती।

एकदली पौधे की रचना का पता हमे जुआर या मकई के आड़े या वेडे कत्तल को सूक्ष्मदर्शक मे देखने से लग सकता है (पृष्ठ ५५८ का ऊपरी चित्र)।

ऐसे तने में सब से बाहर अधित्वक् फिर एक दो पर्त पैरेनकाइमा के, इसके बाद पाषाण-तन्तु और फिर बहुत-सी नसें मिलेंगी। नसे आधार-तन्तु में फैली रहती है। नसों मे काष्ठ और फ्लोयम होता है। लेकिन केम्बियम नही होता (पृ० १४१० का निचला चित्र)। ऐसे तनों में कोई खास एन्डोडरमिस और हीर नहीं होता। फ्लोयम मे यहाँ भी झाँझर-नलिका, झाँझर-पट्ट, सहायक कोशिका और फ्लोयम-

तीन वर्ष पुरानी द्विदली शाख का चित्र। बसंत और पतझड़ में बने काष्ठ का अंतर स्पष्ट है।

कितने ही पौधों के पाषाण-तन्तु के रेशे बड़े काम के होते हैं। रामबाँस और भाँग की जटा रस्सी वगैरह के लिए प्रयुक्त होती है। इस जटा के रेशे पाषाण-तन्तु के रेशे ही हैं।

पौधों में मजबूती कैसे पैदा होती है ?

पौधों को दृढ़ करनेवाले तन्तु—प्रत्येक पौधा कोशिकाओं का ही समूह है। ये कोशिकाएँ प्रारम्भ में एक सरीखी और अत्यन्त कोमल होती हैं। परन्तु पुरानी होने के साथ-साथ इनमें अनेक परिवर्तन होते हैं, जिनसे आवश्यकतानुसार अनेक तन्तु बन जाते हैं। मनुष्य तथा दूसरे रीढ़वाले पशु-पक्षियों में हड्डियों के ढाँचे होते हैं, जिससे उनके अंग दृढ़ बने रहते हैं। पौधों के अंगों को दृढ़ता विशेषकर कोशिकाभित्ति से मिलती है। नसों-वाले पौधों में यह काम प्रायः नसों से ही होता है, परन्तु अन्य तन्तु भी पौधों के अंगों को सुदृढ़ करते हैं।

बाईं ओर अंकों द्वारा तीन वार्षिक वृद्धिचक्र प्रदर्शित हैं।

पैरेनकाइमा—इनमें मजबूती केवल निःसारक दबाव से रहती है। जब इनकी कोशिकाएँ रसों से भरकर फूलती हैं, वे तन जाती हैं। इस तन्तु की कोशिकाएँ नाजुक होती हैं, इसलिए जब तक ये अधिक संख्या में न हों, इनसे यथार्थ मजबूती नहीं मिल सकती।

कोलेनकाइमा—कोलेनकाइमा की कोशिकाएँ सजीव होती हैं। इनमें जीव-द्रव्य और नाभिक होता है। इन कोशिकाओं के घेरे विशेष मोटे होते हैं। इस तरह इस तन्तु को मजबूत बनानेवाली दो वस्तुएँ हैं। एक तो उसकी सुदृढ़ कोशिकाएँ और दूसरे इन कोशिकाओं की फूलने की क्रिया। इसलिए ये तन्तु पैरेनकाइमा की बनिस्बत इस काम के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इसी कारण कोलेनकाइमा पौधे के बढ़नेवाले अंगों को मजबूती पहुँचाने में विशेष लाभदायक हैं। इस तन्तु की कोशिका-भित्तियाँ तनाव से फैल सकती हैं।

कठीली मृत कोशिकाएँ—इनमें पाषाण-तन्तु, काष्ठ और काष्ठ-रेशे होते हैं। पाषाण-तन्तु पैरेनकाइमा और कोलेनकाइमा दोनों ही से मजबूत होता है। पुरानी शाखों को मजबूत करनेवाले तन्तुओं में इसका प्रधान स्थान है। इस तन्तु की कोशिकाएँ सजीव नहीं होतीं, इसलिए ये नवीन बढ़ते अंगों को दृढ़ बनाने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। काष्ठ-नलिकाएँ भी इस गुण में पाषाण-तन्तु ही सरीखी होती हैं।

पौधों के भिन्न-भिन्न अंगों में आवश्यकतानुसार दृढ़ करनेवाले तन्तुओं का क्रम जुदा-जुदा होता है। हम जानते हैं कि गर्डर या शहतीर पर जब भारी बोझ पड़ता है, तब उसके ऊपरी भाग पर दबाव और निचले भाग पर तनाव पड़ता है। सबसे अधिक चाप या तनाव ऊपर और नीचे पड़ता है और मध्य भाग में वह सबसे कम रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार गर्डर प्रायः I की शक्ल में बनाए जाते हैं। अब आप अनुमान कीजिए कि सैकड़ों हाथ ऊँचे वृक्षों के तनों पर भला कितना बोझ पड़ता होगा! इस बोझ को सँभालने के लिए दृढ़ तन्तुओं की आवश्यकता होती है। अगर यह दबाव तने पर चारों ओर से समान ऊपर से नीचे को होता, तो दृढ़कर पदार्थ चाहे जैसे बँटे होते विशेष अन्तर न पड़ता। मगर वृक्षों के तने बराबर सीधे, बिना हिले-डुले, कब खड़े रह पाते हैं ? आँधी, तूफान, और शाखों के बोझ के कारण इनको समय-समय पर एक-न-एक ओर झुकना पड़ता है। ऐसी दशा में इनके तनों में एक ओर तनाव और दूसरी ओर दबाव पड़ता है। या यों कहिए कि तने बराबर खिंचते और दबते रहते हैं, जिसके सबब से दृढ़ करनेवाले पदार्थों का बाहर की ओर होना परम आवश्यक है। इसलिए यहाँ भी I की शक्ल के गर्डर के रूप में दृढ़कर पदार्थ जमा होना चाहिए। पौधों को हर ओर झुकना पड़ता है, इसलिए इस प्रकार के कई

तुलसी के समूह के पौधे के तने में दृढ़कर तंतुओं का स्थान। इसमें नसें और कोलेनकाइमा I भाँति के गर्डर बनाते हैं। चित्र में १, २, ३, ४ आदि अंक पृष्ठ १४०६ के चित्र की तरह अधित्वक्, कोलेनकाइमा आदि सूचित करते हैं।

गर्डर का चारों ओर होना जरूरी है। तुलसी, देवना और पुदीना की भाँति के चौकोर तनेवाले पौधों में ये दृढ़कर पदार्थ कोलेनकाइमा के रूप में चारों कोनों मे होते हैं (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र)। बहुतेरे पौधों में दृढ़ करनेवाले पाषाण-तन्तु के रेशे नसों के बाहर होते हैं और ऐसी दशा मे आमने-सामने की नसे एक भाँति के गर्डर का काम देती हैं (इसी पृष्ठ के निचले चित्र मे अ)। नसों के बाहर पाषाण-तन्तु के रेशे पौधों को मजबूत करने के साथ-ही-साथ कोमल अन्तर-छाल या फ्लोयम को कुचलने से भी बचाते हैं। बहुतेरे पौधों में पाषाण-तन्तु अक्सर पोली नली की भाँति नसों के बाहर होता है (इसी पृष्ठ के निचले चित्र में ब)। बढ़नेवाले अंगो को दृढ़ करनेवाला तन्तु कोलेनकाइमा है। यह प्रायः खोखली नली के रूप मे अधित्वक् के नीचे होता है।

दृढ करनेवाले तन्तुओं की जैसी अवस्था ऊपर वर्णन की गई है, वह केवल मृदुल और नवीन तनों मे ही रहती है। वृक्षों मे इन दृढकर तन्तुओं के स्थान पर लम्बे-चौड़े काष्ठ के स्तम्भ बन जाते हैं। ऐसे वृक्षो में तने का अधिकांश भाग काष्ठ ही होता है, परन्तु याद रखने की बात है कि ये भी कोशिकाओं में परिवर्तन से ही उत्पन्न हुए है।

तन्तु-तनाव—तने में दृढ़ करनेवाले तन्तु बाहर की ओर होते हैं और पैरेनकाइमा अन्दर की ओर। तन्तुओं के इस क्रम से तने को एक और भाँति से भी मजबूती मिल जाती है। पाषाण-तन्तु की मृत कोशिकाएँ मोटी भित्तिका के कारण खिचकर अधिक नहीं बढ़ सकती; लेकिन पतली भित्तिकाओंवाले पैरेनकाइमा की कोशिकाएँ रसों के भरने से फूलकर अन्दर से बढ़ना चाहती हैं। यह ठीक वैसी ही दशा है, जैसी हवा भरने पर फुटबाल की होती है। पैरेनकाइमा रबर की झिल्ली की भाँति हवा से फूलकर बढ़ना चाहता है, मगर पाषाण-तन्तु उसे बाहरी चमड़े के खोल की तरह बढने से रोकता है। इन दोनों दबावों का एक दूसरे पर असर पड़ता है, जिससे कोशिकाएँ तनी रहती हैं। इसके सबब से पौधे के अंगो मे तनाव रहता है। एकदली पौधे के तनों मे नसें चारों ओर पैरेनकाइमा में बिखरी रहती हैं। नसो के चारों ओर पाषाण-तन्तु होते हैं। इन पौधों मे दबाव के भार को पैरेनकाइमा सहन करता है और तनाव को पाषाण-तन्तु।
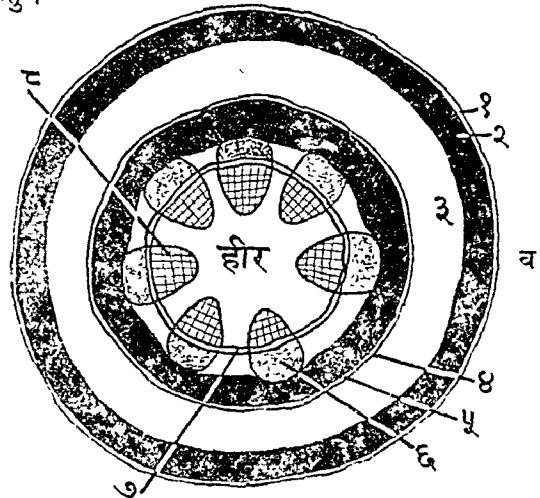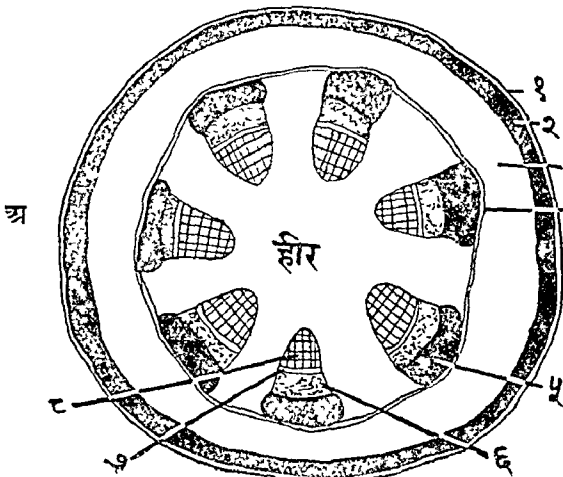
अ—सूरजमुखी की भाँति के पौधे के तने में दृढ़कर तंतु। नसें और पाषाण-तंतु मिलकर I गर्डर की तरह काम देते हैं।
ब— यह भी एक द्विदली तने के बेड़े कत्तल का चित्र है। इसमें बाहर कोलेनकाइमा की नली है; फिर पाषाण-तंतु की नली है और सब से अंदर की ओर नसें। १, २, ३, ४ आदि अंक अधित्वक् आदि सूचित करते हैं।

तो आपने देखा कि तना पौधे का कितना महत्वपूर्ण अंग है। उसी के आधार पर पौधे का कलेवर अपना टनों बोझ लिए खड़ा रहता है! वही पौधे के विविध अंगों को धारण किए रहता है! वही भूमि में से जड़ों द्वारा संचित खाद्य द्रव्यों को पौधे की पत्ती-रूपी रसायनशालाओं तक पहुँचाने और उन रसायनशालाओं में उपार्जित पदार्थों को पुन. विभिन्न अगों को भेजने के प्रधान परिवहन-मार्ग एवं संचार-साधन का भी काम करता है। यही नहीं, अधित्वक् या छाल की दृढ़ भित्तिका की बदौलत वह आँधी-पानी और शत्रु जीव-जन्तुओं से पौधे की रक्षा भी करता है। साथ ही विशेष परिस्थितियों में अनोखे ढंग से अपने आपको रूपान्तरित करके वह कुछ ऐसे विशिष्ट कर्त्तव्यों का भी पालन करता है, जो कि आगे के प्रकरण में बताए गए हैं।

तने के विशेष रूप और कर्त्तव्य—विचित्र तने

पिछले प्रकरण में तने की सामान्य रचना और उसके साधारण कर्त्तव्यों का विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। किन्तु कतिपय ऐसे तने भी पाए जाते हैं, जिनके रूप और कर्त्तव्य दोनों ही असामान्य और असाधारण हैं। प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं विचित्र तनों का परिचय दिया जा रहा है।

जैसा कि आप देख चुके है, पौधों की जड़ें उनमें बाहर से खाद्य रस और जल पहुँचाती है। आगे चलकर आप देखेंगे कि इनकी पत्तियाँ वायु से कार्बन संचित करती हैं और इन्ही के नन्हें-नन्हें कारखानों मे स्टार्च जैसे अमूल्य पदार्थ की रचना होती है। फूलों से फल और बीज बनते है और बीजों से नवीन पौधों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पौधों के इन अंगों मे कामकाज की धूम रहती है। परंतु तनों और शाखों को इसकी बेगार भुगतनी पड़ती है। उन्हें अन्य अंगो को धारण करना, उनका सैकड़ो मन बोझ अपने ऊपर लिए रहना, जड़ों द्वारा संचित पदार्थों को पत्तियों तक पहुँचाना और उनमें उपार्जित द्रव्यों को अन्य अंगो में ले जाना पड़ता है। यही इनके मुख्य कर्त्तव्य कहे जाते है। इस अधम टहल के अतिरिक्त किसी-किसी पौधे के तने कुछ ऐसे कामकाज करने लगे है, जिन्हें हम तनों के साधारण कार्य नहीं कह सकते। आवश्यकतानुसार ऐसे तनों के रूप-रूपान्तर भी साधारण तनों से पृथक् हो गए है। इन तनों को हम 'विचित्र तने' कहेगे। कर्त्तव्यानुसार इनमें अनेक परिवर्तन उत्पन्न हो गए हैं। इनके निम्नोक्त पाँच मुख्य भेद है—

१. **लिपटने और चौड़नेवाले तने**—ऐसे तने कमजोर होते हैं; परन्तु विशेष प्रकार से परिवर्तित होकर वे अन्य अंगों के आधार का काम देते हैं।

२. **जड़ों की भाँति रोहण और शोषण का काम करनेवाले तने।**

३. **बीज की भाँति पौधों की उत्पत्ति और कोठार का काम देनेवाले तने।**

४. **कांडपत्र अथवा पत्रीभूत या पत्रवत् तने**—वे तने जो पत्तियों की भाँति हरे और प्रायः महीन होते है। ये साधारण पत्तियों की तरह स्टार्च-संश्लेषण का काम करते है।

लिपटने और चौड़नेवाले तने

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तना ही अन्य अंगों का आधार है। इसी के सहारे पत्ती, फूल, फल, आदि यथास्थान टिके रहते हैं। फिर भी कितने ही पौधों के तने ऐसे परिवर्तित हो गए है, जिनसे इस काम में विशेष सुविधा मिल जाती है। ऐसे पौधों मे सबसे बड़ी प्रधानता यह है कि विशेष मोटे और दृढ तनो के अभाव मे भी ये प्रकाश तक जा पहुँचते है।

चौड़ने और लिपटनेवाले पौधे दूसरी वस्तुओं के सहारे अपने अंगों के बोझ को सँभाले रहते है। ऐसे पौधों मे बहुत लम्बे परन्तु पतले और कमजोर तने होते है। इसीलिए इसमे विशेष मोटे तने बनने मे खाद्य रस खर्च नही होते। इसी कारण वे बड़ी तेजी से बढते है और घने-से-घने जंगलों के अन्दर उगने पर भी थोड़े ही समय मे बढकर बाहर प्रकाश में पहुँच जाते है। कद्दू, लौकी, अंगूर आदि की बेल को आपने बड़ी तेजी से बढते देखा होगा।

ऐसी बेलें शीघ्र ही बढ़कर ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ों की चोटी पर पहुँच जाती हैं; परन्तु इतनी सुविधा रहते हुए भी उन्हें

नुकसान पहुँचने की सम्भावना रहती है। जिन पौधो के सहारे ऐसी बेलें वायुमंडल में पसरी होती है, यदि किसी प्रकार वे नष्ट हो जाएँ, तो आश्रय न रहने से ये बेले भी नीचे गिर जाती हैं और उन्हें बहुत हानि पहुँचती है। कभी-कभी तो दौड़नेवाले पौधे स्वयं इतना जोर पकड़ते है कि जिन पौधों पर वे फैलते हैं, उनको प्रकाश मिलना कठिन हो जाता है, जिसके कारण वे सूख जाते है। ऐसी दशा मे भी दौड़नेवाले पौधो का आश्रय जाता रहता है और प्राय. उन्हें बड़ी हानि पहुँचती है।

आधार के सहारे ऊपर चढ़नेवाले पौधो के चार मुख्य भेद है—(क) लिपटनेवाले पौधे, (ख) सूत्रारोही या दौड़ो के सहारे फैलनेवाले पौधे, (ग) जड़ों के द्वारा चढ़नेवाले पौधे और (घ) अटक - भटककर चढ़नेवाले पौधे।

(क) लिपटकर फैलनेवाले पौधे— ऐसे पौधे आधार के चारों ओर अपनी शाखों द्वारा लिपटकर फैलते है। इस प्रकार की अनेक लतायें है, जिन्हें लोग बगीचों मे लगाते है। अपराजिता या कृष्णकान्ती (इसी पृष्ठ का चित्र), रेलवे क्रीपर इश्कपेचा, इत्यादि इन्ही मे है। पोय, सेम, लोबिया, गुर्च वगैरह भी इसी प्रकार फैलती है। इन बेलो की शाखों के उस भाग में, जो आश्रय को स्पर्श करता है, बाढ कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके विपरीत उसी के सामने के बाहरी भाग मे कुछ अधिक बाढ होने लगती है, जिससे बेल अवलम्ब की ओर झुककर उससे लिपटने लगती है, और ज्यो-ज्यों बेल बढ़ती है, वह बराबर लिपटती जाती है। प्रकृति मे प्राय: ऐसी बेलों को दूसरे पेड़-पौधों से ही सहारा मिलता है, परंतु हमारे बाग-बगीचों में वे तार और रस्सी आदि के सहारे फैलती है। इस काम के लिए बहुधा महीन तार और रस्सी को ही काम मे लाते है, क्योकि अधिक मोटे आधार से ऐसी बेले भली भाँति नही लिपट पाती। एकवर्षीय लताओ के लिए तो प्राय: ८-१० इंच मोटानवाले झाड़ भी उपयुक्त नही होते। परन्तु बहुवर्षीय लताएँ कभी-कभी फीट डेढ़ फीट मोटानवाले वृक्षों से भी सुगमता से लिपट जाती है। भूमध्य रेखा के निकटतम घने जंगलों मे उगनेवाली कोई-कोई बहुवर्षीय लताएँ दो फीट मोटानवाले वृक्षों से भी लिपट कर ऊपर चढ जाती है।

अपराजिता या कृष्णकान्ती, जो हमारे बगीचों में प्राय: लगाई जाती है।

आरम्भ में प्राय: इन वृक्षों के तने इतने मोटे नही होते, फिर भी साधारण बेलें उनसे नही लिपटतीं; क्योकि जिस समय वे गौण वृद्धि होने पर मोटे होने लगते है, इन बेलो के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। तने की मोटान बढ़ने के कारण उन पर अन्दर से तनाव पड़ता है, जिससे वे खिचने लगती है और यदि कही वह वृक्ष तेजी से बढता गया, तो अन्त में बेल इस तनाव को सहन नही कर पाती और इसलिए वह सूख जाती है। इसके विपरीत यदि कहीं वह झाड़, जिससे ऐसी बेले लिपटती हैं, कमजोर हुआ और ये
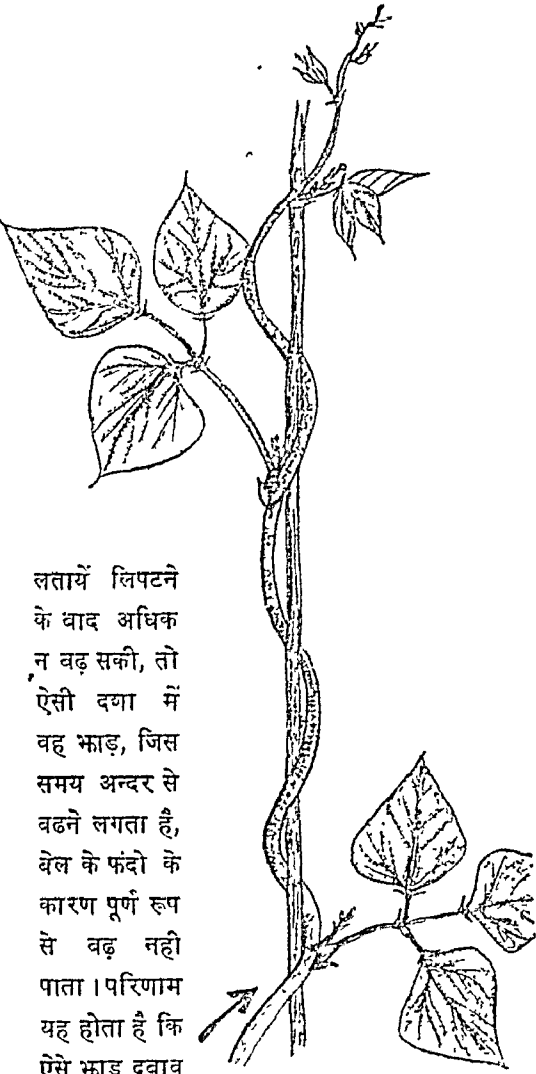
लतायें लिपटने के बाद अधिक न बढ़ सकी, तो ऐसी दशा में वह झाड़, जिस समय अन्दर से बढने लगता है, बेल के फंदो के कारण पूर्ण रूप से बढ़ नही पाता। परिणाम यह होता है कि ऐसे झाड़ दबाव के कारण प्रायः सूख जाया करते है।

साधारण तनों की भाँति लिपटनेवाले तने भी पहले सीध ऊपर को बढ़ते है। कुछ समय बाद उनका ऊपरी भाग एक ओर को झुक पडता है, परन्तु इनके निचले भाग सीधे बने रहते है। कुछ समय पश्चात् बेल के निचले भाग के आधार पर झुका ऊपरी हिस्सा चक्कर काटने लगता है। किसी-किसी पौधे में यह गति घड़ी की सुई की तरह होती है। (इसी पृष्ठ का ऊपर का चित्र), किसी में इसके विपरीत (दाहिनी ओर का चित्र)। पूर्ण चक्कर लगाने में किसी पौधे में कम समय लगता है और किसी मे अधिक। बेल के घूमते हुए भाग को यदि किसी वस्तु का सहारा मिल गया, तो वह उसमे लिपटने लगता है; परन्तु यदि कोई आधार न मिला, तो वह उसी प्रकार घूमता रहता है, मानो आधार की खोज मे हो। यदि फिर भी कोई वस्तु पकड़ मे न आई, तो बेल का निचला भाग जमीन पर झुक पड़ता है और आगे को बढ़ता है। अब यह फिर ऊपर को उठता है और पुन. उसी प्रकार अवलम्ब की खोज करता है। यदि अब भी किसी आधार का सहारा न मिला, तो बेल फिर आगे को बढ़ती है। किसी समय मे लोगो की धारणा थी कि ऐसी बेलो के तनो में आधार की ओर बढने की विशेषता होती है, परन्तु यह बात ठीक नही है। फिर भी इसमे सन्देह नही कि बेल का इस प्रकार झुकना, आगे को बढना और घूमना उसके आधार मे मिलने मे कारगर अवश्य होता है। अनुकूल आधार का सहारा पाकर बेल उसके चारो ओर लिपटने लगती है। ऐसी लताओ के लिए पतले झाडो से ही लिपटना लाभकर होता है। यही सबब है कि ऐसी बेले अधिक मोटे वृक्षो से नही लिपटती।

कभी-कभी लिपटनेवाली बेलों मे भाँति-भाँति के रोम, काँटे या अन्य ऐसी रचनाएँ होती है, जिनसे उन्हें ऊपर चढ़ने मे विशेष सहारा मिलता है। जब कभी लिपटनेवाली लताओं को सहारा नही मिलता, तो उनकी शाखें एक-दूसरे से लिपट जाती है

(ऊपर) लता घड़ी की सुई की गति से घूमती हुई ऊपर चढ़ रही है। (नीचे) विपरीत दिशा में घूमती हुई बेल।

अंगूर की लता, जो सूत्रारोही बेल का नमूना है।
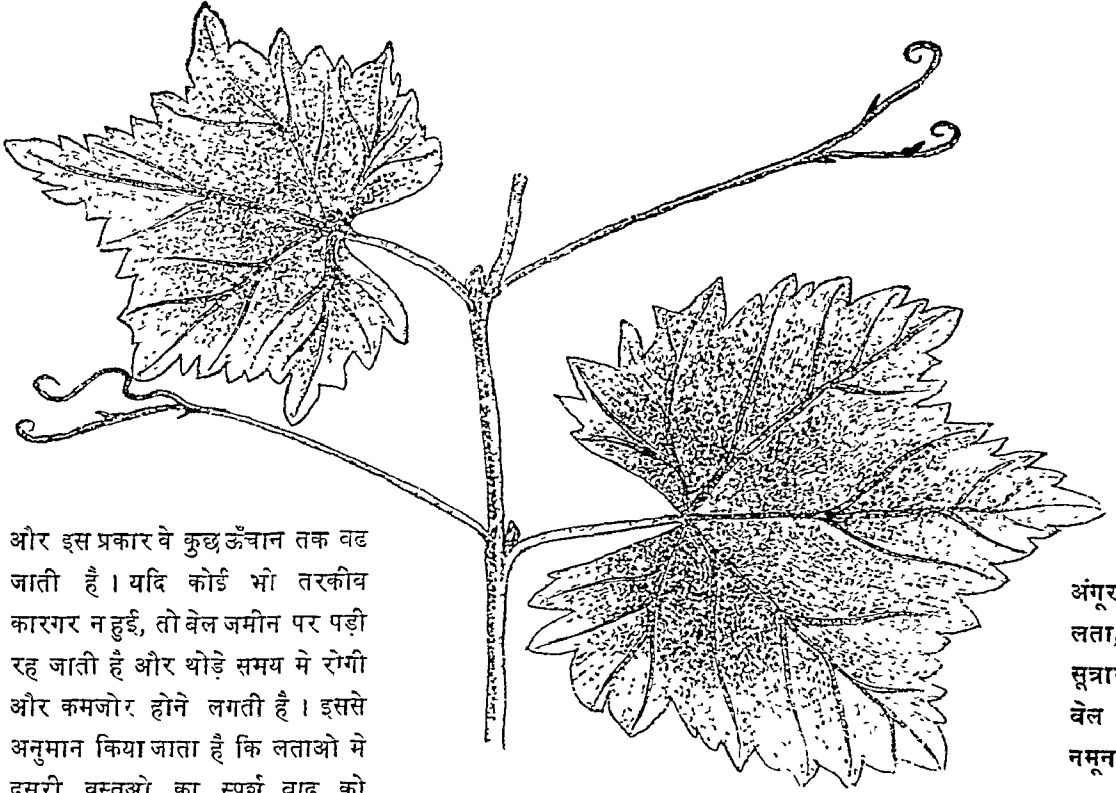
और इस प्रकार वे कुछ ऊँचाई तक बढ़ जाती हैं। यदि कोई भी तरकीब कारगर न हुई, तो बेल जमीन पर पड़ी रह जाती है और थोड़े समय मे रोगी और कमजोर होने लगती है। इससे अनुमान किया जाता है कि लताओ मे दूसरी वस्तुओ का स्पर्श बाढ़ को उत्तेजित करता है।

(ख) **सूत्रारोही बेलें** — ऐसी लताएँ बौड़ों के सहारे अवलम्ब पर फैलती हैं। बौड़े विशेष प्रकार के अंग है, जो पौधे के दूसरे अंगो के परिवर्तन से उत्पन्न होते है। साधारण मटर मे ये पत्रिकाओ के रूपान्तर है। कुमारिका या सार्सापरीला (स्माइलैक्स) के बौड़े पुखपत्र माने जाते है। अंगूर के बौड़े (इसी पृष्ठ का चित्र) टहनी हैं। कद्दू, लौकी, खीरा आदि के बौड़े भी टहनी ही माने जाते है। किसी-किसी पौधे में जड़े बौडने का काम देती है। ऐसे कुछ पौधो का जड़ो के प्रकरण मे वर्णन किया जा चुका है।

प्रारम्भ में बौड़े डोरे-सरीखे नाजुक और महीन होते है। कभी तो वे अत्यन्त कोमल होते है, परन्तु कभी-कभी वे कुछ मोटे और दृढ़ होते है। प्रायः बौड़े सादे होते है; परन्तु कभी-कभी उनमे कई शाखाएँ होती है। कभी-कभी बौड़ों मे किसी अंश मे चेतनशक्ति होती है, जिसके कारण वे आधार का स्पर्श करते ही उससे लिपटने लगते है और थोड़े ही समय मे उसे मजबूती से जकड़ लेते है। आधार को पकड़ने के पूर्व बौड़े करीब-करीब सीध रहते हैं; परंतु जैसे ही आधार का स्पर्श हुआ, इनकी नोक उसके चारों ओर लिपट जाती है। अब बौड़े का पिछला हिस्सा घूमकर सिकुड़ जाता है, जिससे वह शाख, जिससे बौड़े निकले है, आधार के पास खिच जाती है। अब बेल के लिए और भी सुभीता हो जाता है। उसके अन्य बौडे भी आधार तक पहुँच जाते है और बेल तेजी से फैलने लगती है। कद्दू तथा उसी वर्ग के अन्य पौधे — लौकी, तरोई, कुँदरू, परवल, चचेडा — अंगूर, (इसी पृष्ठ का चित्र), ऐम्पीलाप्सिस (पृ० १४१९ का ऊपरी चित्र), ऐन्टीगोनन इत्यादि सूत्रारोही बेले हैं।

बौड़ों के सहारे फैलनेवाली बेलों मे अन्य प्रकार से फैलनेवाली बेलो की अपेक्षा विशेष सुविधा रहती है। इनमे अनेक बौड़े होते है, जिनसे उन्हे आधार का सहारा प्राप्त करने में सुगमता रहती है। ये मोटे-से-मोटे वृक्षो और टूटी-फूटी चट्टानों के सहारे भी ऊपर चढ़ जाती हैं। लिपटनेवाली लताओं का ऐसी दशा मे सफल होना कठिन ही नही असंभव है।

किसी किसी लता में बौड़ों के सिरे पर लसदार चक्र या मंडल होते है (पृ० १४१९ का ऊपरी चित्र)। इनके सहारे वे चिकनी-से-चिकनी चट्टानों और दीवालो पर भी चढ़ जाती हैं। बौड़नेवाली बेले प्रायः वृक्षो की चोटी तक पहुँचकर नीचे

को लटक पड़ती है और हवा से हिल-डुलकर पास-पड़ोस के दूसरे वृक्षों तक पहुँच जाती है तथा उन पर फैलने लगती है। ऐसी बेलों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें आधार से लिपटनेवाले अंग अर्थात् वौड़े मोटे नही होते, जिससे इनकी रचना में अधिक खाद्य रस व्यय नहीं होते। इस बचत के कारण ऐसी लताएँ विशेष तेजी से बढ़ती हैं।

(ग) जड़ों के द्वारा फैलनेवाले पौधे–जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कई पौधों में जड़े वौड़े का काम देती हैं।

(घ) अटक-भटककर ऊपर चढ़नेवाले पौधे—कोई-कोई पौधे अन्य वृक्षों तथा चट्टानों और दीवालों पर शूल अथवा अन्य रचनाओं के सहारे ऊपर चढ़ते है। कभी-कभी ऐसे शूल शाखाओं का रूपान्तर होते हैं। वागेनविलास या वोगेनविलिया लता (इसी पृष्ठ का निचला चित्र) ऐसे ही कंटकों द्वारा ऊपर को चढ़ती है।

ऐम्पीलाप्सिस नामक लता—वौड़ों के सिरों पर चिपकनेवाले चक्र दिखाई दे रहे हैं।

किसी-किसी पौधे में ऐसे कंटक अन्य अंगो के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं।

अवलम्ब के सहारे ऊपर चढ़नेवाले पौधों का हाल पढ़कर आपको विदित हो गया होगा कि यद्यपि तने और शाखों का मुख्य उद्देश्य ऊपर को बढ़ना और सीधे खड़े रहना है, फिर भी कितने ही ऐसे द्रुम और लताएँ हैं, जो स्वयं ऐसा नही कर सकते। ऐसे नाजुक तनोंवाले पौधे या तो अन्य वस्तुओं के सहारे (जैसा अभी वर्णन किया जा चुका है) ऊपर चढ़ते है, या यो ही जमीन के ऊपर-नीचे रेंगते रहते है। इन दूसरी श्रेणीवालो मे कुछ तो ऐसे हैं, जो तनो तथा शाखों के सभी प्राकृतिक नियमो का उल्लंघन कर, अपनी सीमा छोड़, जड़ों के प्रदेश मे प्रवेश करके अधिकार जमाते है। इतना ही नही, वे जड़ों का वेष भी धारण कर लेते हैं और कभी कभी उन्ही के काम-काज भी करने लगते हैं, जिससे यदि आपको इनकी विशेष जानकारी न हो, तो धोखा होने की सम्भावना है। लेकिन फिर भी ऐसे जड़वत् तनों में भी कुछ ऐसे लक्षण हैं, जिन्हे वे पृथ्वी के अन्दर जड़ों के साथ रहने पर भी परित्याग नही कर सकते। इसी से उनका सारा भेद खुल जाता है और रूप

वागेनविलास (वोगेनविलिया) - नामक लता, जो अपने तने पर के शूल के सहारे ऊपर चढ़ती है।

बदल जाने पर भी हम इन तनों को जड़ों से पृथक् कर सकते है। इन लक्षणों मे सवसे विशेष वात है इन पर कलिकाओ और पत्तियो की उपस्थिति। पत्तियाँ और कलिकाएँ तनों और शाखों पर ही होती हैं, इसलिए ऐसे तनों को ध्यानपूर्वक देखने से हमें इनके यथार्थ रूप का पता चल जाता है।

जड़ की भाँति रोपण-शोषण का काम करनेवाले तने

भूम्यान्तर्गत तने रोपण-शोषण का काम करते है। सर्वजया या 'कैना' (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र) और अनेक घासो के तने पृथ्वी के अन्दर-ही-अन्दर फैले रहते हैं और जड की भाँति उपर्युक्त दोनो ही कर्त्तव्यो का पालन करते है। जल के अन्दर उगनेवाले कितने ही पौधों के तने शोषण का काम करते है।

सर्वजया या 'कैना'। इसका तना धरती के अन्दर-ही-अन्दर रहता है।

बीज की भाँति पौधों की उत्पत्ति का काम देनेवाले तने

कितने ही ऐसे पौधे है, जिनमें रोपण के साथ ही साथ धरती में रहनेवाले तने बीज की भाँति पौधे की नस्ल कायम रखने का काम भी करते हैं। फूलवाले पौधों में अलिंगिक (एसेक्शुअल) वंश-वृद्धि की यह साधारण रीति है। ऐसे तनों में कितने ही कोठार का काम भी देते हैं और ऐसी दशा मे वे पृथ्वी के अन्दर ही रहते है। इन तनों के अनेक रूपान्तर हैं।

भूम्यान्तर्गत तनों में भी छोटी-छोटी पत्तियाँ होती है; परन्तु ये कभी हरी नही होतीं। इन्हे 'वल्कपत्र' कहते है। इन वल्कपत्रों के अक्ष में कलिकाएँ होती है, जिनसे वायुवर्त्ती शाखे उत्पन्न होती है। ये प्रति वर्ष पल्लवित हो फूलने-फलने के पश्चात सूख जाती हैं;

हमारे तालाबों की शोभा बढ़ानेवाले कमल की डंडी (भसीड़) भी तने का ही रूपान्तर है।
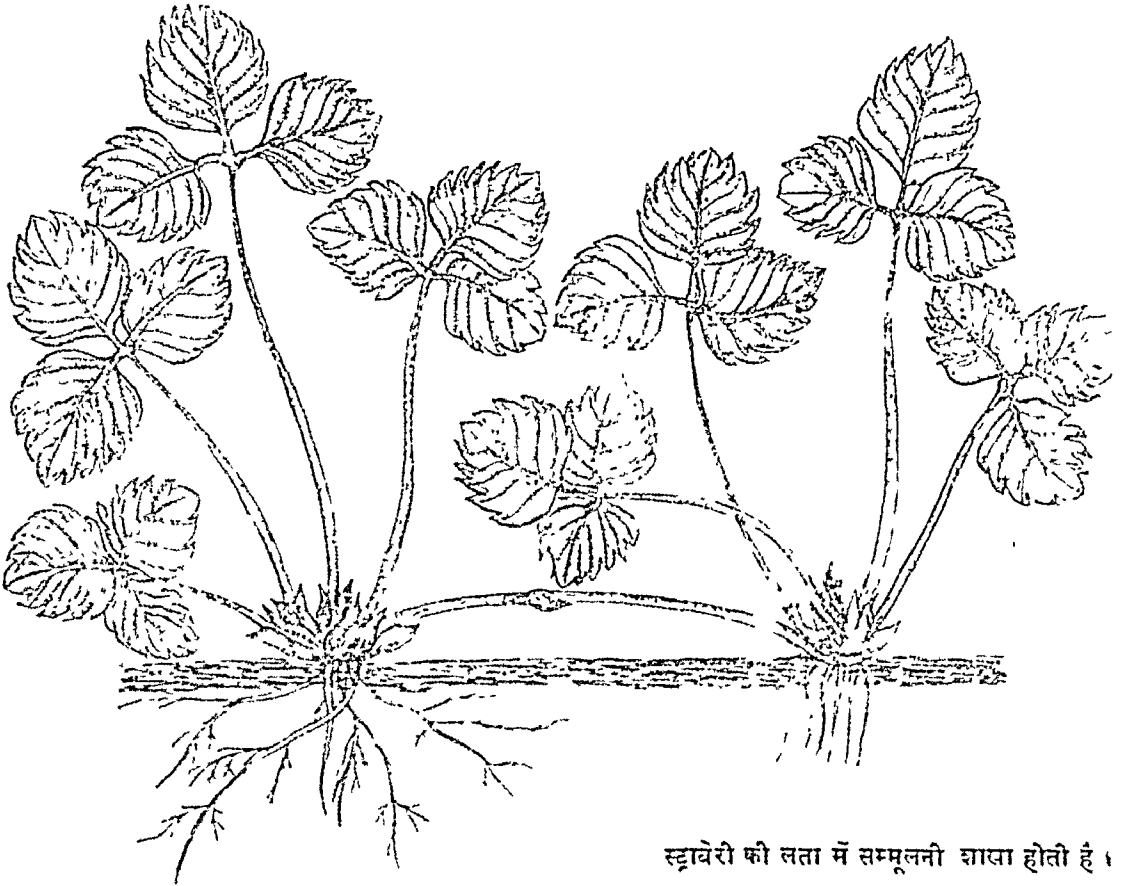
स्ट्राबेरी की लता में सम्मूलनी शाखा होती है।

परन्तु पृथ्वी के अन्दर उपस्थित तने, जिनसे ये उत्पन्न होती हैं, वर्षों सजीव बने रहते हैं। इस स्थिति में रहनेवाले तने अथवा उनके वल्कपत्र खाद्य पदार्थ संचित होने के कारण मोटे तथा दलदार हो जाते हैं। जिस समय वर्षीय शाखाएँ निकलती हैं, यही संगृहीत पदार्थ काम आते हैं। जिन पौधों में ऐसे तने होते हैं, उनमें उत्पत्ति का काम प्रायः इन्हीं तनों से होता है।

खाद्य पदार्थों का मोटी मांसल जड़ों और भूम्यान्तर्गत तनों में संगृहीत होना पौधों की दूरदर्शिता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। पौधों के अंगों में संगृहीत यही खाद्य कोश हमारे आहार के काम आते हैं। इन तनों के अनेक भेद हैं।

मूलस्कंध और सम्मूलनी शाखा

मूलस्कंध (ह्लाइजोम) पृथ्वी के अन्दर ही अन्दर फैलता है, परन्तु सम्मूलनी शाखा (रनर्स) ऊपर रहती है। इन दोनों में ही गाँठें (नॉड्स) और पोर (इंटरनॉड्स) होते हैं। गाँठों से जड़ें निकलती हैं। किसी-किसी पौधे में गाँठों के बीच के पोर या पर्व थोड़े ही समय में गल जाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक गांठ से नवीन पौधे उत्पन्न हो जाते हैं। किसी-किसी पौधे में मूलस्कंध से अनेक शाखें फूटती हैं और अन्त में बीच का पुराना भाग गल जाता है और इस प्रकार अलग-अलग कई पौधे हो जाते हैं। मूलस्कंध और सम्मूलनी शाखा दोनों ही से उत्पन्न होनेवाले पौधे थोड़े ही स्थान के अन्दर फैल सकते हैं। अदरक, हल्दी, सर्वजया और कमल (पृ० १४२० के चित्र), आदि में मूलस्कंध होते हैं। दूब, घास और स्ट्राबेरी (इसी पृष्ठ का चित्र) आदि में सम्मूलनी शाखा होती है।

कंद, ग्रन्थिकंद और वज्रकंद

कद (बल्ब), वज्रकद (कॉर्म) और ग्रन्थिकद (ट्यूबर) तीनों ही चिरस्थायी तने हैं, जिनमें खाद्य पदार्थ संचित रहते हैं और जो मूलस्कंध और सम्मूलनी शाखा की भाँति पौधों की उत्पत्ति का काम देते हैं।

कंद—कंद में तने का भाग अत्यन्त छोटा और चिपटा होता है। प्याज, हायासिंथ, ट्यूलिप, नरगिस आदि के कंदों में चारों ओर मांसल वल्कपत्र होते हैं।

ग्रन्थिकंद—ग्रन्थिकंद जड़ तथा तना दोनो ही अंगो मे परिवर्तन से उत्पन्न होते है। इनमे खाद्य पदार्थ संचित रहते हैं और इसलिए ये मांसल और मोटे होते है। शाखग्रंथिकंद भूमि के अन्दर फैली विशेष प्रकार के तनो की गाँठ सरीखी शाखें है। आलू इनका एक उदाहरण है। आलू मे कितनी ही आँखे होती है, जो वल्कपत्र के अक्ष में निकलती है। (चि० पृ० १४०८) समय आने पर इन्ही आँखों से शाखे उत्पन्न होती है। एक प्रकार की सूर्यमुखी की जाति के पौधे 'हेलियान्थस ट्यूबेरोसस' या जेरूसेलम आर्टीचोक में भी आलू की भाँति ग्रन्थिकंद होते है। कोई - कोई रतालू में भी ऐसे ग्रन्थिकंद होते है।

हाथीचिग्घार के पत्रकंद जो इधर-उधर फैलकर अन्य पौधे उत्पन्न करते है।
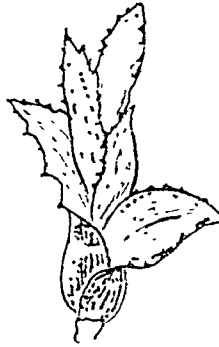
वज्रकंद—वज्रकंद भी भूम्यान्तर्गत मांसल तनों में है। इसमे और ग्रन्थिकंद में बहुत-कुछ समानता होती है, परन्तु इसमे अग्रस्थ कलिका (टर्मिनल वड) की पत्तियाँ ग्रन्थिकंद की इस जैसी कलिका की पत्तियों की बनिस्वत बड़ी होती है। सूरन या जिमीकन्द और बण्डे और केसर की गाँठ वज्रकन्द हैं। वज्रकन्द के समस्त भाग पर वल्कपत्र होते है। नवीन कंद या तो नीचे या पार्श्व में निकलते है। कंद और वज्रकंद मे यह अन्तर है कि कन्द मे मांसल वल्कपत्र और साधारण वल्कपत्र दोनो ही होते है, परन्तु वज्रकन्द मे केवल साधारण वल्कपत्र ही होते है।

पत्रकंद (वल्विल्स)—ये पार्श्विक कलिकाएँ हैं। इनकी पत्तियों मे खाद्य पदार्थ संगृहीत रहते है, इसलिए ये मांसल होते है। वृक्ष से पृथक् हो पत्रकन्द नवीन पौधे उत्पन्न करते है। किसी-किसी पौधे मे पत्रकन्द साधारण पुष्पकलिकाओं से उत्पन्न होते है। रामबाँस या हाथीचिग्घार में ऐसी अनेक कलिकाएँ होती है (इसी पृष्ठ का चित्र)। ये पुष्पव्यूह पर लगी होती हैं और इधर-उधर फैलकर अनेक पौधे उत्पन्न करती हैं।

कांडपत्र या पत्रवत् तने

पत्तियों का प्रधान कर्त्तव्य स्टार्च का संश्लेपण है। इनमें यह विशेपता पर्णहरिम से है। जिस समय पौधे उगते हैं उनके नवल तने हरे होते हैं। इस समय वे किसी-न-किसी अंश मे स्टार्च-संश्लेपण का भी कार्य करते है। बूटों के तने तो सदैव ही हरे वने रहते है, जिससे वे वरावर कुछ-न-कुछ स्टार्च बनाते ही रहते है। इसके अतिरिक्त कुछ पौधे ऐसे है, जिनके तने विशेप ढंग से परिवर्तित हो पत्ती का काम करते हैं। ऐसे तने को काण्डपत्र (फायलोक्लैड्स) कहते हैं। इनमें से कोई गोल, कोई चपटे मोटे और कोई पत्तियों-सरीखे महीन और चपटे होते है। रस्कस मे ये हरे, पतले और देखने में सरासर पत्ती के समान होते है। फिर भी ये शाखों का ही रूपान्तर है। परन्तु इस वात को सिद्ध करने के लिए हमको काण्डपत्र का भली भाँति निरीक्षण करना होगा।

शाखों की प्रधान विशेपता यह है कि वे पत्तियों के अक्ष मे निकलती है और पत्ती तथा फूल-फल को धारण करती हैं। रस्कस की पत्रवत् रचना पर ध्यान देने से पता लग जायगा कि शाखों की भाँति ये भी पत्तियों की अक्ष मे ही होते है और इन पर वल्कपत्र और फूल होते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी आन्तरिक रचना भी तनों जैसी होती है। इससे स्पष्ट है कि रस्कस की पत्रवत् रचना पत्ती नही, वरन् तने का ही रूपान्तर है।

जिस समय रस्कस मे नवल किल्ले निकलते है, इनमे छोटी-छोटी पीले रंग की अवृन्त पत्तियाँ होती है। काण्डपत्र इन्हीं पत्तियों की अक्ष मे होते है। ये प्रारम्भ से ही रंग मे गहरे और साधारण पत्तियों से जोरदार होते है। थोड़े ही समय पश्चात् वे बढ़कर पत्ती सरीखे हो जाते है। वास्तविक पत्तियाँ ज्यों-ज्यों पुरानी होती है, वे सूखकर मुरझा

जाती है। अन्त में इनके निशान का भी पता लगना कठिन हो जाता है। काण्डपत्र प्राय: ऐसे देशों में होते हैं, जहाँ जल की कमी रहती है। इन स्थानों में जल का अधिकांश भाग पौधों की पत्तियों द्वारा वाष्पत्याग से वायु में चला जाता है। जल की इस कमी को जड़ों द्वारा पूर्ण करना पौधों के लिए कठिन होता है। इसलिए पौधों की महीन पत्तियों के स्थान पर मांसल हरे-भरे तने का होना इस वाष्पत्याग के आधिक्य को रोकने के लिए प्रतीत होता है।

संरक्षक तने--शूल और कंटक

पेड़-पौधों में अनेक भाँति के शूल और कंटक होते हैं। ये रचनाएँ विविध अंगों के परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। बबूल, थूहड़ तथा बेर में काँटे पुखपत्र के परिवर्त्तन से उत्पन्न होते हैं। किसी-किसी पौधे में ये पत्तियों के रूपान्तर हैं। करूआ और कंटकारी अथवा भटकटइया में ये रोमों का रूपान्तर हैं। बागेनाविलास तथा बेल आदि में ये शाखों का रूपान्तर हैं। ये जानवरों आदि से पेड़ों की रक्षा करते हैं।

बृहदाकार तने

जन्तु-संसार के लाखों वर्ष पूर्व के दैत्याकार सदस्यों का परिचय अन्य एक विभाग में आप पा चुके हैं। उनके तो आज केवल शिलीभूत अवशेष मात्र रह गए हैं; परंतु आपको यह जानकर अचरज होगा कि वनस्पति-संसार में आज भी सैकड़ों दानवाकार रचनाएँ जीवित दशा में उपस्थित हैं।

जरा कैलीफोर्निया की घाटियों में उगनेवाले सिकोया वृक्षों की ओर ध्यान दीजिए। २००—३०० फीट ऊँचे और १००—१२५ फीट तक के घेरे के तनेवाले ये वृक्ष वनस्पति-संसार के दानव नहीं तो क्या हैं? हमारी आपकी कौन कहे, जन्तु-संसार के बड़े-से-बड़े डाइनोसॉर जैसे दानव को भी यदि पूँछ की नोक पर सीधा खड़ा किया जाय, तो वह भी सिकोया की निचली-से-निचली शाख को नहीं छू पायगा। डाइनोसॉर जैसे दानवों के अनेक परिवार मिलकर यदि एक-दूसरे से हाथ मिलाकर प्रयत्न करें, तो भी इन वृक्षों के तने को आलिंगन करने में असमर्थ होंगे। फिर भी सिकोया वनस्पति संसार के न सबसे ऊँचे, न सबसे अधिक आयुवाले ही वृक्ष हैं। जहाँ तक पता चलता है, इनमें का शायद ही कोई वृक्ष चार हजार वर्ष से अधिक आयुवाला हो।

मेक्सिको में चीड़ के समूह के एक सरो की जाति के वृक्ष की आयु ६ हजार वर्ष से भी अधिक अनुमान की जाती है। जिस समय कैलीफोर्निया के कितने ही सिकोया प्रगाढ निद्रा छोड़ बीज से बाहर ही अंकुरित हो रहे थे, तभी इन सरो में से कितने ही इतने पुरातन हो चुके थे, जितने कि वर्तमान समय में कैलीफोर्नियावाले सिकोया हैं। परन्तु आयु में इतने बड़े होने पर भी ये ऊँचान में सिकोया से बहुत कम हैं। फिर भी इनके तने का घेरा सिकोया से अधिक है। इनमें से किसी-किसी की मोटान तो सौ-सवा-सौ फीट से भी अधिक होगी। इन वृक्षों की लकड़ी बड़ी मजबूत होती है।

हमारे देश में बरगद की बड़े वृक्षों में गिनती है। ये थोड़े ही समय में बहुत बढ़ जाते हैं। सिकोया और सरो को इतना बढ़ने में हजारों वर्ष लग जाते होंगे, परन्तु बरगद तो सौ-दो-सौ वर्ष में ही अति दीर्घकाय हो जाता है। कलकत्ते के बोटैनिकल गार्डेन्स में एक ऐसा ही बरगद का वृक्ष है। इसकी आयु कुछ ही सौ वर्ष होगी, फिर भी इसमें २५० से अधिक ऐसी बरोहियाँ हैं, जिनका व्यास ७-८ फीट से अधिक है और कुल बरोहियों की संख्या तो ३,२५० से भी अधिक है। इस वृक्ष के साये में सात-आठ हजार मनुष्य बैठ सकते हैं। यह बरगद का पेड़ नहीं, बल्कि अच्छा खासा बगीचा है। इसके अतिरिक्त अन्य दीर्घकाय वृक्ष भी हैं। ऑस्ट्रेलिया में उगनेवाले यूकैलिप्टस के वृक्ष प्राय: ४००—५०० फीट ऊँचे होते हैं। पर्वत-श्रेणियों पर उगनेवाले इन वृक्षों के साये में दुनिया की ऊँची-से-ऊँची इमारत आ सकती है। यूकैटान में सेमल की जाति के बॉम्बाक्स सीबा नामक वृक्ष हैं, जिनमें से किसी-किसी का तना इतना मोटा है कि यदि चौदह-पंद्रह आदमी भी एक दूसरे का हाथ पकड़ बाँहों में भरकर इसे घेरना चाहें, तो कठिनाई होगी।

जंगलों में उगनेवाले कितने ही वृक्ष हजारों वर्ष तक जीवित रहते हैं। शाहबलूत एक ऐसा ही वृक्ष है। वेलवेक नामक स्थान पर उगनेवाले इस जाति के एक वृक्ष के संबंध में कहा जाता है कि यह १,५०० साल से भी पुराना है। १६० साल से ऊपर हुए, इसके अधिकारी ने इसके तने के भीतर से एक रास्ता निकाला, जिससे होकर मोटर, घोड़ा-गाड़ी और छकड़े तक आ-जा सकते हैं। यह सुरंग ४ फीट से अधिक चौड़ी और १० फीट के लगभग ऊँची है। इस मार्ग में तीन घुड़सवार बराबर-बराबर घोड़े दौड़ा सकते हैं।

फूल-फलवाले वृक्षों के अतिरिक्त वनस्पति-जगत् के अन्य पेड़-पौधे भी दीर्घजीवी और बृहत्काय होते हैं। कितने ही समुद्री शैवाल बड़े लम्बे होते हैं। इनमें से 'मैक्रोसिस्टिस पाइरीफेरा,' जो दक्षिणी समुद्रों में उगता है, ४०० फीट से भी अधिक लंबा होता है, यद्यपि इसके तने की मोटान आध इंच से भी कम होती है।

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ सुन्दर नमूने—(बाईं ओर से दाहिनी ओर को) प्रथम पंक्ति—सुनहली पीलक और हुदहुद। द्वितीय पंक्ति—बया और नीलकंठ। तृतीय पंक्ति—कौड़िल्ला, पोदना और जंगली कबूतर। अन्य कुछ प्रसिद्ध नमूने पृ० १३५३ के रंगीन चित्र में देखिए। प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित चिड़ियों में पीलक अपने सुनहले पीले और काले वर्ण के लिए तथा पतेने आसमानी, हरे और लाल रंग की वेशभूषा के लिए सराहे जाते हैं। उधर नीलकंठ तथा कौड़िल्ला नील-हरित वर्ण के अपने परों की छटा के लिए सुविख्यात हैं। इसी प्रकार हुदहुद की शोभा उसकी मनोरम कलँगी में है और बया घोंसला बनाने की अपनी कला के लिए प्रख्यात है।
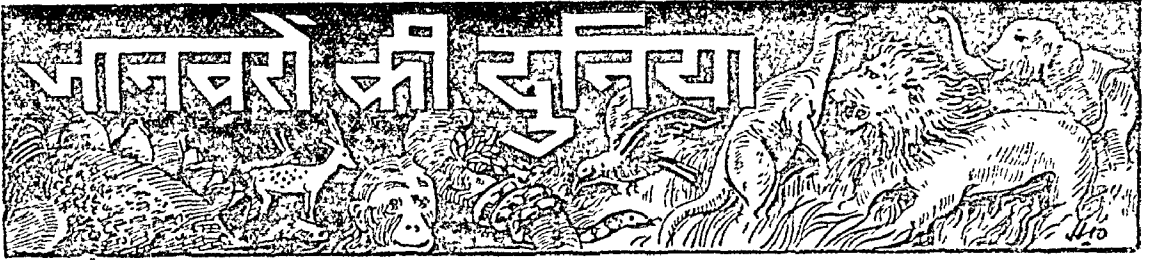
पक्षियों का संसार—(१)

उपयोगी पक्षी

आकाश की दुनिया में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरनेवाले पक्षीगण न केवल इस सृष्टि का सौन्दर्य ही बढ़ाते, वरन् अनेक क्षेत्रों में मनुष्य के लिए वे परम उपयोगी भी प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत और आगे के कतिपय अध्यायों में जंतु-जगत् के इसी महत्वपूर्ण समुदाय के रंग-बिरंगे प्राणियों के रोचक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

केवल वे ही व्यक्ति, जो पक्षियों के सम्पर्क में आ चुके हैं, इस बात को समझ सकते हैं कि उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने से हमारे जीवन की सरसता और उल्लास में कितनी वृद्धि हो सकती है। पक्षियों के निरीक्षण तथा उनकी संगीत-सुधा के पान में हमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग के थियेटर, सिनेमा आदि के आमोद-प्रमोद की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध और स्थायी आनन्द है।

उन पर कवि और कलाकार दोनों ही लट्टू हैं

कौन-सा ऐसा कवि है, जो पक्षियों के मधुर संगीत तथा उनके रंग-बिरंगे परिधान से प्रभावित न हुआ हो? उधर कितने ही कलाकारों ने भी पक्षियों के जीवन से संबंधित चित्रों का सोल्लास निर्माण किया है। पक्षी-अनुराग से उत्पन्न आह्लाद तथा उनका सौन्दर्य ये दोनों ही वर्णनातीत हैं—

चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥

(महाकवि गो० तुलसीदास)

पक्षियों के सौन्दर्य का वर्णन कवियों की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। हर देश और हर भाषा के ग्रन्थकार, कवि और लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पक्षियों के बारे में लिखा है और कविताएँ बनाई हैं। भारतीय पक्षियों का गहन अध्ययन करनेवाले सुप्रसिद्ध लेखक डगलस डेवार एक स्थान पर कहते हैं—"पक्षियों से मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अपेक्षाकृत इतना अधिक उल्लासमय है, उसमें ऐसी ताजगी की पुट है कि वह प्रायः परिहास और विनोद की भावना में परिणत हो जाता है। इसका श्रेय विशेषतया भारतीय पक्षियों को प्राप्त है। भारत के कौओं की चहल-पहल को आधे घण्टे तक देखने के उपरान्त भी यदि किसी व्यक्ति को विनोद न प्राप्त हो, तो अवश्य उसे छः महीने के लिए पागलखाने में भरती हो जाना चाहिए।"

हमारे देश के कवि तो सदा ही से पक्षियों के सौंदर्य पर लट्टू होते रहे हैं और उनकी काव्यधारा इन रंग-बिरंगे मनोहर प्राणियों की सुषमा का वर्णन करने में ज्वार की तरह उमड़ती रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥

× × ×

चातक-कोकिल-कीर-चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा॥
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गूंजत भृङ्गा॥

पक्षियों की मनमोहकता के पीछे इनकी चपलता, इनकी जागरूकता तथा इनका लालित्य छिपा है। श्री एफ० डब्ल्यू० हेडले ने एक स्थान पर कहा है कि 'अन्य जीवों के मुकाबले में पक्षियों के अन्दर सबसे अधिक जीवन भरा हुआ मालूम देता है। एक लिहाज से पक्षियों को सृष्टि के समस्त जीवों

मे सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। नभचर होने के नाते स्थल-जीवों के मुकाबले मे पक्षियों को योंही प्रधानता प्राप्त है।

पक्षियों की उपयोगिता

सौन्दर्य और भावुकता के विचार से तो पक्षीगण अनुपम हैं ही, साथ ही साथ हमारे लिए वे भाँति-भाँति से अति उपयोगी भी है। जहाँ वे अपने मधुर संगीत से हमारे हृदय को आह्लादित करते और अपने चटकीले रंग से हमारे नयनों को प्रफुल्लित कर देते है, वहाँ वे न केवल कृषि मे ही हमें सहायता पहुँचाते है, प्रत्युत अन्य क्षेत्रों मे भी हमारे लिए उपयोगी साबित होते है। अवश्य अनेक पक्षी ऐसे भी है, जो अनाज और फल खाते है तथा उनसे हमे लाभ के बदले हानि ही होती है। किन्तु इनमे से अनेक ऐसे भी तो है, जो अन्य तरीको से हमें फायदा भी पहुँचाते है। सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि समष्टि रूप से पक्षियों की जाति मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मनुष्य सोचता है कि वही सृष्टि का सर्वशक्तिमान प्राणी है, किन्तु बात सचमुच ऐसी नही है। सृष्टि का प्रभुत्व वास्तव मे जंतु-जगत् के एक अत्यन्त निम्न कोटि के प्राणियों—कीड़े-मकोड़ों—को प्राप्त है। मनुष्य ने सब से खूँख्वार स्तनपोषी जीवो तथा सब से घातक उरंगमों तक को अपने काबू में कर लिया है, किन्तु कीड़े-मकोड़ो के आक्रमण के सामने मनुष्य तथा उसकी कृतियाँ दोनों ही आज भी हार खा जाती है। किसे नही मालूम कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में टिड्डियों का उपद्रव अथवा पिस्सुओं द्वारा जनित प्लेग कितनी क्षति मनुष्य को पहुँचाता है? कीड़े-मकोड़ो की उत्पत्ति इतनी तीव्र गति से और असख्य परिमाण मे होती है और वे इतना अधिक खाते है कि यदि उन्हे तथा उनकी सन्तान को नष्ट करनेवाले पक्षी इस सृष्टि मे न होते, तो समस्त भूमंडल के पेड़-पौधे कभी के साफ हो गए होते। अकेला एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—गणना करके देखा गया है कि आलू को नष्ट करनेवाले एक जाति के कीड़े का एक जोड़ा, यदि बिना किसी बाधा के सन्तानोत्पत्ति करता चला जाय, तो एक ऋतु में ही उससे छः करोड़ कीड़े उत्पन्न हो जायँगे! इस गति से उन कीड़ो की जो संख्या बढ सकती है, वे आलू की समूची फसल को खत्म करने मे कितनी देर लगाएँगे? इसी तरह एक तरह का कीड़ा दिन भर में अपनी तौल की तीन गुनी पत्तियाँ खा जाता है। केवल इस बात से ही आप इनकी भक्षण-शक्ति की भीषणता का अन्दाज लगा सकते है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि यदि इसी हिसाब से घोड़ा अपना रातिब खाने लगे, तो उसे प्रति २४ घण्टे मे एक टन घास खानी पड़ेगी! रेशम का कीड़ा ५६ दिनो मे जितनी पत्तियाँ खा जाता है, उसका वजन उक्त कीड़े के अण्डे में से निकलने के समय के वजन का ८६,००० गुना होता है!

भला, इन सर्वभक्षी कीड़ों को पृथ्वीतल पर अपरिमित संख्या मे बढ़ने देने तथा अन्य जीवों की समग्र खाद्य-सामग्री को चट कर जाने से कौन रोकता है? यह मनुष्य के तो बस की बात है नहीं। उसने अनेक तरकीबों से अपने उद्यानों तथा बाग-बगीचों को इनके विनष्टकारी प्रभाव से बहुत कुछ अंशों में सुरक्षित बनाने का प्रयत्न तो किया है, फिर भी बाहर के खुले खेतों और वनो मे उसका कोई बस नही चलता। कीड़े-मकोड़ों के भयानक आक्रमण के सामने उसे युद्ध के मैदान से भागे हुए भयभीत व्यक्ति की तरह सदैव भाग खड़ा होना पड़ता है। इस विपदा से न कोई बीमारी, न मौसम, न अन्य कीड़े या कोई जानवर ही हमें त्राण दिला सकते है।

सारांश यह है कि इन कीड़ों के उपद्रव को रोकने मे हम नितान्त असमर्थ है। फिर वह कौन-सी शक्ति है, जो इस विपदा से हमारी रक्षा करती है? वह शक्ति है यही पक्षी, जिनकी खूराक के प्रधान अंग कीड़े-मकोड़े होते है। वे ही प्रकृति में कीड़े-मकोड़ों की संख्या का समतुलन बनाए रखते है। इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद है कि पक्षियों के उन्मूलन के कारण अनेक देशों को कितनी ही भयंकर आपदाओं का सामना करना पड़ा। स्थानाभाव के कारण उनका जिक्र करना यहाँ सम्भव नही है। किन्तु फल उगानेवाले गरीब कृषक यदि अपने इन परदार शुभचिन्तकों की सेवाओं से वंचित कर दिए जाएँ, तो उन पर क्या बीतेगी, इसका दृष्टांत हमें सम्राट् फ्रेडरिक महान् की एक घटना से मिलता है। उसकी वाटिका के कुछ फलों पर कुछ चिड़ियों ने चोंच मार दी थी। बस, आपे से बाहर होकर फ्रेडरिक ने फरमान निकाला कि जहाँ कहीं भी छोटी चिड़ियाँ मिलें, उन्हें मार डाला जाय। दो साल के भीतर ही उक्त वाटिका के वृक्ष, जो फलों से सर्वथा रहित थे, केटरपिलर नामक कृमि की बाढ़ से ढक गए! यदि पक्षियों को नेस्तनाबूद कर दिया जाय, तो निस्संदेह ठीक यही हाल हमारे अमरूद, आम तथा अन्य सभी फलवाले वृक्षों का होगा!

उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह

ऊपर हमने केवल उन पक्षियों का ही जिक्र किया है, जो कीड़े-मकोड़े खाते हैं। इनके अलावा अन्य कई ऐसे पक्षी

भी हैं, जो नन्हें-नन्हें घास के बीज या चुहिया आदि जीवों को खाते हैं, अथवा जो मनुष्य के आहार के काम में आते हैं अथवा गन्दगी को साफ करते हैं। आइए, इनमें से प्रत्येक श्रेणी के पक्षियों का उनकी सेवाओं सहित सविस्तार अध्ययन करें।

१. कीड़े-मकोड़े खानेवाले पक्षी

मिट्टी में रहनेवाले उन छोटे-छोटे कृमियो से लेकर, जो कि पौधों की जड़ें काटते रहते हैं, वृक्षों पर पाए जानेवाले पतिंगों तक सहस्रों प्रकार क कीड़े-मकोड़े इस धरती पर पाए जाते हैं। इनमें से कई शत्रुवत् निरन्तर हमारी फसलों और बाग-बगीचों को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे हर श्रेणी के कीड़े के लिए प्रकृति ने विशेष जाति के पक्षी बनाए हैं, जो उनकी विनष्टकारी बाढ़ को रोकते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ पक्षी मिट्टी में इन कीड़ों की तलाश किया करते हैं। लवा तथा गौरैय्या इनके लिए सूखी पत्तियों और घास को कुरेदा करते हैं। 'फुदकियाँ' झाड़-झंखाड़ की नित्य तलाशी लिया करती हैं। कठफोड़ की जाति का एक प्रसिद्ध पक्षी 'ठठेरा' वृक्षों की छालों की जाँच करता रहता है। स्वयं कठफोड़ भी छाल में सूराख करके अपना आहार खोजते हैं और अबाबील और मक्खीभक्षी पक्षी वायु के कीड़े-मकोड़ों पर ही हाथ साफ करते हैं।

जहाँ ऐसे कीटभक्षी पक्षियों की संख्या अधिक होती है, वहाँ विरले ही किसी भाग्यशाली कीड़े की जान बच पाती होगी। उधर जहाँ ऐसी चिड़ियों की कमी है, वहाँ विरले ही पौधों के भाग्य इतने प्रबल होते हैं कि वे अपनी जीवनलीला निर्विघ्न समाप्त कर सकें। कनाडा और संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने बहुत दिनों पहले ही कीटभक्षी पक्षियों को प्रोत्साहन देने की जरूरत महसूस कर ली थी। अतः उनकी पूर्ण रक्षा के लिए वर्षों पूर्व वहाँ राज्य की ओर से कड़े कानून बन गए। हमारे

कीड़े-मकोड़े खानेवाली कतिपय चिड़ियों का एक समूह :: अपने खेतों और बगीचों के परम शत्रु कीड़े-मकोड़ों के विरुद्ध संघर्ष में मनुष्य के सब से बड़े सहायक इसी श्रेणी के पक्षी हैं।

देश में चिड़ियों के शिकार का कोई निषेध नहीं है। इसी से कहीं-कहीं उनकी संख्या बेहद घट चली है।

२. घासपात के बीज खानेवाले पक्षी

द्वितीय श्रेणी में वे पक्षी आते हैं, जिन्हें अपनी खूराक का समूचा या आंशिक भाग घासपात के बीजों से प्राप्त होता है। विभिन्न जाति के गौरैय्या, बटेर और साधारणत. शिकार के सभी पक्षी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। शिकार के तमाम पक्षियों में कदाचित् बटेर घासपात को नष्ट करने में अग्रगण्य है। अमेरिका के न्यूयार्क राज्य में हर जाड़े की ऋतु में घास के जितने बीज एक प्रकार के गौरैय्या खा डालते हैं, उनका अनुमान ६०० टन से भी अधिक लगाया गया है! जब किसी कारण से इन बीजभक्षी पक्षियों की एक बड़ी संख्या किसी छोटे प्रदेश पर अपनी खाद्य-सामग्री के लिए आकर जुट जाती है, तो अवश्य वहाँ की कृषि पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ता है। किन्तु देश के तमाम खेतों को घासपात से मुक्त करने के लिए मौजूदा संख्या से पाँच गुना अधिक पक्षियों की आवश्यकता होगी।

३. वे पक्षी, जो चूहे आदि नन्हें जीवों का भक्षण करते हैं

चूहे, गिलहरी आदि जीवों की विनष्टकारी प्रवृत्तियों का उल्लेख पिछले एक प्रकरण में हम कर ही चुके हैं। खेत की खड़ी फसल या खलिहान का अनाज सभी पर इनका वार होता रहता है। आलू-शकरकन्द की जाति के पौधों को (जब कि वे उग रहे हों या जमीन पर इकट्ठे किए गए हों), फल के बगीचों और जंगल के वृक्षों को, भाँति-भाँति के अनाजों को और फलों एवं तरकारी सभी को ये अपरिमित क्षति पहुँचाते हैं। कुछ जीव तो बीमारियों के फैलाने के भी प्रधान साधन हैं। ये क्षुद्र जंतु साल में कई बार बच्चे देते हैं, और हर बार उनके ५ से लेकर १० बच्चे तक पैदा होते हैं। यदि तमाम बच्चे जिन्दा रहें, तो इस रफ्तार से कुछ ही वर्षों में अकेले एक जोड़े चूहे से करोड़ों सन्ताने-उपसंतानें उत्पन्न हो जायँगी! इनकी उक्त संख्या को कम रखने का दायित्व प्रकृति ने कुछ पक्षियों को सिपुर्द किया है। इस संबंध में बाज और उल्लू हमारे प्रमुख सहायक हैं। इन दोनों जाति के पक्षियों को काफी दिनों तक घोंसले के अन्दर अपने बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है और इस दर्मियान उनके लिए प्रचुर मात्रा में खाद्य-सामग्री जुटानी होती है। अतः वे अपने खाद्य-जन्तुओं पर खूब हाथ साफ करते हैं। एक बार एक खंडहर में अकेले एक जोड़े उल्लू ने चूहों की ४५४ खोपड़ियाँ अपने घोंसले में रख छोड़ी थीं! उल्लू की कुछ जातियाँ समय-समय पर उड़कर ऐसे स्थानों पर पहुँच जाती हैं, जहाँ चुहियों की संख्या विशेष रूप से बढ़ गई होती है। वहाँ पर ये अपने शिकार का काम उस समय तक जारी रखते हैं, जब तक कि चुहियों की संख्या पुनः औसत स्तर पर नहीं पहुँच जाती। बड़े आकार का सींगदार उल्लू तथा दो या तीन जाति के बाज नियमित रूप से छोटी चिड़ियों और मुर्गी तथा कबूतर के बच्चों का भी शिकार करते रहते हैं। इस लिहाज से ये हमें हानि भी पहुँचाते हैं। पर इस श्रेणी के पक्षियों को नष्ट करने के पहले उनकी आदतों के बारे में हमें पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए—क्योंकि दो-चार मुर्गी तथा कबूतरों का नष्ट होना उतना बुरा नहीं है, जितना खेत में चूहों और गिलहरियों की अपरिमित बाढ़ का नियमित रूप से बढ़ते चले जाना। इस तरह हम देखते हैं कि हेय दृष्टि से देखा जानेवाला उल्लू भी उपयोगिता से खाली नहीं है।

चुहियों और गिलहरियों आदि के भक्षक उल्लू भी हमारे लिए किसी दर्जे तक बड़े उपयोगी हैं।

४. वे पक्षी, जो शिकार के काम में आते हैं

हमारे देश में विभिन्न जाति की बत्तखें जाड़े के दिनों में दूर-दूर से आकर तालाबों पर उतरती हैं और लोग उनका बन्दूक से शिकार करते हैं। इनके अलावा भी शिकार के कुछ पक्षी बारहों महीने पाए जाते हैं—उदाहरणार्थ, जंगली कबूतर, बटेर, तवा तथा तीतर। यद्यपि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत में मांसाहारियों की संख्या कम है, किन्तु फिर भी

प्रति वर्ष यहाँ शिकार के पक्षियों की संख्या घटती जा रही है। वस्तुतः अब इन पक्षियों के बेतहाशा शिकार पर रोक होना चाहिए। विदेशों तक मे राज्य के अधिकारियों तथा जीव-वैज्ञानिकों, दोनों ही के सामने यह समस्या प्रस्तुत है कि शिकार के पक्षियों की संख्या को घटने से कैसे बचाये। संसार के अधिकतर भागों में शिकार के कारण पक्षियों की भारी कमी पैदा हो गई है। शिकारियों, पेशेवर बहेलियों तथा फर और पंख के एजेन्टों ने लाखों की संख्या में पक्षियों की जानें ली है, फलस्वरूप पहले के-से वे दिन अब बाकी नही रहे, जब कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का इतमीनान रहता था कि उसे अपने बन्दूक के सलामत रहते हुए खाने के लिए शिकार के पक्षियों की कभी भी कमी नही हो सकेगी। इस प्रकार गत ५० वर्षो में जंगली पक्षियों का महत्व खाद्य-द्रव्य की दृष्टि से बेतरह गिर गया है। कहा जाता है कि ५० वर्ष पहले उत्तरी अमेरिका मे जंगली बत्तखों की संख्या अगणित थी, किन्तु अब हडसन की खाड़ी के तट पर इनकी संख्या इतनी कम हो गई है कि वहाँ के निवासियों को जाड़े में मुश्किल मे खाने भर को बत्तखें आदि मिल पाती हैं।

५. वे पक्षी, जो मेहतर का काम करते हैं

पाँचवी श्रेणी उन पक्षियों की है, जो हमारे आसपास के कूड़ा-कर्कट और गलीज पदार्थों को साफ करते हैं। इस सिलसिले मे गिद्ध तथा चील की कुछ जातियाँ विशेष उपयोगी हैं। राज-गिद्ध को सभी जानते हैं। बड़े गिद्ध जानवरों के मृत शरीर को देखते ही उसे चट कर जाते हैं। मरे हुए साँप भी इनकी दृष्टि से नही बचने पाते। कहा जाता है कि अपनी तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से ये कही पर भी पड़े हुए मृत-शरीर का दूर से ही पता लगा लेते है। बगुले की जाति के कुछ पक्षी और जंगली कौए भी मृत शरीर की सड़न से वायु को मुक्त रखते है। बगुले मरी हुई मछलियों को, जो पानी में उतराती रहती है, खा जाते है, और इस प्रकार समुद्र-तट, नदियों और तालाबो को गन्दगी से बचाते है।

ग्रीफन गिद्ध नामक यह पक्षी दक्षिणी योरप में बहुतायत से पाया जाता है। इसकी खाने की क्षमता अद्भुत है। यह कई दिनों तक भूखा रह सकता है, और फिर जब उसके सामने सड़ा-गला मुर्दा पड़ता है, तो वह बेहद ठूँस-ठूँसकर उसे खा लेता है। आकस्मिक महामारी आदि में यह पक्षी मानो मेहतर का काम करता है।

६. वे पक्षी, जो संदेशवाहक का काम करते हैं

कुछ पक्षियो से उपर्युक्त कामों से सर्वथा भिन्न एक कार्य—संदेशवाहन का काम—भी लिया जाता है। युद्धकाल मे इस कार्य की उपयोगिता को बहुत महत्व मिला है। रेडियो और तार के इस युग में भी पक्षियों, विशेषतया कबूतरो को एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश ले जाने की शिक्षा दी जाती है। ये 'संदेशवाहक कबूतर' के नाम से पुकारे जाते है। शत्रुसेना से घिरे हुए स्थानों से बाहर के स्थानों तक महत्वपूर्ण संदेश या आज्ञा के समाचार प्रायः इन परिन्दे सेवकों द्वारा ही पहुँचाए जाते हैं, जब कि अन्य किसी साधन से खबरें नही आ-जा सकती हैं। आश्चर्य की बात है कि ऐसे कार्य को करने वाले संदेशवाहक पक्षी लम्बे फासले पार करके बिना किसी प्रकार की भूल किए अपने विशेष दिशाज्ञान के बल पर (जिसे हम उनकी छठी इन्द्रिय कह सकते है और जिससे हम साधारण वञ्चित रखे गए है) अपने पैरों में बँधे हुए समाचार को ठीक पते पर पहुँचा देते है।

तो आपने देखा कि सारे जन्तु-जगत् में पक्षी हमारे लिए कितने उपकारी मित्र हैं। वस्तुतः यदि ये पक्षी दुनिया में न रहे, तो हमारे लिए यहाँ पर रह पाना दूभर हो जायगा।

उनको अनुपस्थिति में भाँति-भाँति के हानिकारक कीड़ों एवं चूहे आदि नुकसान पहुँचानेवाले जीवों की इस धरती पर मानो वाढ़-सी आ जाएगी, जिसके फलस्वरूप हमारे वाग-वगीचों की फसलें चौपट हो जाएँगी और हमारे खेत-खलिहान तथा गोदाम-खत्तियों में विनाश के इन दूतों द्वारा इस समय जो हानि होती है, वह कदाचित् सैकड़ों गुना अधिक होने लगेगी। फिर उनके अभाव में हमारे वन-उपवन और नदी-तालावों के तट गंदगी से भर जाएँगे। साथ ही यदि इस भूमंडल पर से पक्षियों का डेरा-तंबू उठ जाय, तो हमारी यह रंग-विरंगी दुनिया कितनी फीकी और नीरस हो जायगी, इसकी कल्पना हर सौन्दर्य-पिपासु व्यक्ति कर सकता है।

पक्षियों का संसार—(२)

सब से वड़े पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ हैं

पिछले प्रकरण में पक्षियों की उपयोगिता तथा उनमें से कुछ की महान् सेवाओं पर प्रकाश डालते हुए जंतु-संसार के इन रंग-विरंगे प्राणियों का सामान्य परिचय हम आपको दे चुके हैं। आइए अब उनके कुछ विशिष्ट वर्गो की जानकारी आपको कराएँ। सवसे पहले हम पक्षी-संसार के कतिपय सव से वड़े सदस्यों का परिचय आपको कराना चाहते हैं, जिनकी एक खूवी यह है कि वे जहाँ डीलडौल में सव से वड़े हैं, वहाँ पक्षी होते हुए भी उड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं!

पक्षी से तात्पर्य ही यह है कि वह एक उड़नेवाला प्राणी है। किन्तु कुछ पक्षी ऐसे भी है, जो उड़न मे सर्वथा असमर्थ हैं। इनमें से कुछ ने — जैसे अण्टार्विटका के सुप्रसिद्ध पेन्गुइन पक्षी तथा आर्कटिक प्रदेशों के ऑक ने, जो अभी १०० वर्ष पहले तक वहाँ वहुतायत से पाए जाते थे—पानी के अन्दर विचरण करने की योग्यता अपने मे पैदा कर ली। उधर शुतुर्मुर्ग जैसे कुछ स्थल-पक्षी ऐसे है, जिनके पंखों का विकास भली तरह नहीं हो पाया और फलत: जो जमीन पर तेजी से दौड़ लगाने में समर्थ वन गए।

इन दौड़ लगानेवाले पक्षियो मे अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के पाँच-छ: जाति के शुतुर्मुर्ग, एवं ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के ऐमू, कैसोवरी और किवी आदि ही आज के दिन जीवित हैं। पर इन्ही के वर्ग मे मोआ और डोडो नामक पक्षियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो अब पृथ्वीतल से विल्कुल विलुप्त हो गए है।

भला, इन उड़ने मे असमर्थ पक्षियो के विकास का क्या कारण हो सकता है? हमे स्मरण रखना चाहिए कि जानवर सदैव आहार की तलाश मे ही लगे रहते हैं, और इनमे से अधिकतर को मांसाहारी जानवरों के आक्रमण का खतरा वना रहता है। इनसे वचने के लिए उन्हें अपने फुर्तीलेपन, लड़ने की शक्ति या भागने की शक्ति पर ही भरोसा रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त चूँकि आसपास का वातावरण निरन्तर वदलता रहता है, अत: वे प्राणी, जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं वना पाते है, देर-सवेर इस भूमण्डल से विलुप्त हो जाते हैं। पक्षियों द्वारा उड़ने की शक्ति प्राप्त करने के पीछे भी उपर्युक्त दोनों आदिम आवश्यकताएँ कारगर रही है। इस शक्ति ने ही पक्षियो को इस योग्य वनाया कि वे स्थलचर मांसाहारी जानवरों से अपनी रक्षा कर सकें। साथ ही इसी की वदौलत उनके लिए यह भी सम्भव हो सका कि प्रचुरता से पाए जानेवाले उड़ाकू कीट-पतिगों का शिकार कर सकें।

चूँकि सभी प्राणी सव से सरल तरीके द्वारा आहार प्राप्त करने के आदी होते है, अत: संसार के कुछ प्रदेशों मे कतिपय पक्षियो ने सहूलियत के विचार से उड़ना छोडकर जलचर या स्थलचर प्राणियो की आदतें ग्रहण कर ली, यद्यपि वे सव थे मूलत: उड़नेवाले पक्षियों की ही संतान। अनेक पक्षियों ने, जिन्होंने मछुओं का पेशा अपना लिया, डुवकी लगाने के साथ-साथ अपनी परंपरागत उड़ने को क्षमता को भी वनाए रक्खा—जैसे गोताखोर गल और अल्वैट्रास नामक पक्षियों ने। किन्तु कुछ ने उड़ने की अपनी वह शक्ति पूर्णतया खो दी। ऑक इसी श्रेणी का एक पक्षी था (दे० पृ० १४३१ का चित्र)। यह पक्षी आइसलैण्ड, स्कैन्डैनेविया, व्रिटेन, न्यूफाउँडलैंड और आर्कटिक समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों में कभी प्रचुरता से पाया जाता था, किन्तु विगत सौ साल के अन्दर ही मनुष्य

ने पृथ्वी से इसका नामोनिशान ही मिटा दिया। मनुष्य की अज्ञानता तथा अदूरदर्शिता ने भूमण्डल के उस विशिष्ट प्रदेश को एक रोचक प्राणी से ही वञ्चित नही कर दिया, वरन् वहाँ के निवासियो से सकट के समय काम में आ सकनेवाली एक मूल्यवान् खाद्य-सामग्री भी सदा के लिए छीन ली। इस प्राणी के अन्तिम दो जीवित सदस्य १८४४ ई० मे पकड़े गए थे। उनके शव तथा अंडे कुछ संग्रहालयों में बहुमूल्य प्रदर्शन की वस्तुओं के रूप मे आज भी सुरक्षित है।

मनुष्य के अविचार और अदूरदर्शिता के शिकार का एक उदाहरण उत्तरी ध्रुवप्रदेशों का 'ऑक' नामक यह विलुप्त पक्षी है। छोटे-से डैनोंवाला यह बड़ा-सा पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ था, केवल सौ साल पहले उत्तरी ध्रुवप्रदेश में बहुतायत से पाया जाता था। किन्तु इसी अवधि में मांस तथा परों के लोभ में मनुष्य द्वारा इसका बेतरह शिकार किया गया—यहाँ तक कि लोगों ने उसके अंडे भी चुरा लिए! फलस्वरूप पृथ्वी से इसका वंश ही मिट गया और आज के दिन अजायबघरों के लिए उसका शव हजारो रुपयों में बिकता है!

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन

अब हम भूमण्डल के दूसरे छोर पर रहनेवाले एक ऐसे पक्षी का हाल आपको सुनाने जा रहे है, जिसने आकाश में विचरना छोड़कर स्थल और जल के साथ अपना घना सम्बन्ध जोड़ लिया है: हमारा अभिप्राय दक्षिणी ध्रुवक्षेत्र के पेन्गुइन पक्षी से है। इस प्राणी की खूबी यह है कि सूखी भूमि या पानी की सतह की अपेक्षा पानी के अन्दर रहना ही इसे अधिक सुहाता है। पेन्गुइन बढ़िया तैराक होते है, बल्कि यह कहना गलत न होगा कि ये पानी के अन्दर मानो उड़ते हैं! ये अपने चपटे डैनो का बढ़िया डाँड़ की तरह प्रयोग करते हैं और इन डैनो को तेजी के साथ डुलाते हुए तीर की गति से ठीक मछली की तरह पानी के अन्दर तेज भागते चले जाते हैं! अपने डैनो की मदद से ये पानी के अन्दर इतनी फुर्ती के साथ इधर-उधर मुड सकते है, जितनी तेजी से आकाश में विचरनेवाले पक्षी भी नही मुड़ पाते। तैरते समय इनकी टाँगे एकदम ढीली होकर शरीर के साथ ठीक एक ही सीध में सध जाती है तथा अधिक गहराई तक नीचे उतरने के लिए रह-रहकर वे ऊपर को झटका देती रहती है। इनके डैनों के छोटे-छोटे पंख सिमटकर मछलियों के बदन पर के स्केलों जैसे बन गए है। उनमे पतली डाँड़ियाँ तो बिलकुल ही नही होती। इस प्रकार इनके डैने सील या ह्वेल के तैरने मे सहायक डैनो की भाँति दिखाई पड़ते है। भूमि पर पेन्गुइन पक्षी मनुष्य की तरह एकदम सीधा टटार खड़ा हो जाता है। उसके सामनेवाले डैने मनुष्य की भुजाओं की तरह शरीर से सटे हुए बाजू में लटकते रहते है। जैसा कि चित्र से प्रकट है, जब इन विचित्र प्राणियो का झुण्ड (जिनमे से कई जातियाँ कद में ३-३॥ फीट तक ऊँची होती है) समुद्र-तट पर खड़ा होता है, तो दूर से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आदमियों ही की भीड़ जमा हो! किन्तु जब वे अपने भारी शरीर का बोझ छोटी-छोटी टाँगों के बल पर सँभालते हुए जमीन पर चलने का प्रयत्न करते है, तो ऐसे डगमगाने लगते है, जैसे अब गिरे, तब गिरे! उनका यह प्रयास नितान्त हास्यजनक प्रतीत होता है। वस्तुत: जमीन पर तेज चल पाना उनके लिए सम्भव नही है।

उनकी कुछ आदतें और भी अधिक दिलचस्प हैं। कहा जाता है कि ये किसी से डरना तो जानते ही नहीं! अक्सर ये यात्रियों के पालतू कुत्तों के इतने निकट तक चले आते हैं कि अनायास उनका कलेवा बन जाते है। इन रोचक पक्षियो का झुण्ड बर्फ-शिलाओ पर खड़ा होकर शिकार की टोह पाने

के लिए पानी मे घूरता रहता है। इतने में यदि इनमे से कोई पानी के बहुत ही निकट पहुँच गया, तो उसे उसके साथी अचानक पानी मे ढकेल देते है। यदि वह विना किसी वाधा या खतरे के कुछ देर तक सकुशल तैरता रह गया, तव तो उसके अन्य साथी भी पानी मे उतरते है, परन्तु यदि उसे ह्वेल या सील ने पानी में जाते ही चट कर डाला, तो फिर भीड़ के अन्य सदस्य पानी मे प्रवेश करने का विचार त्याग देते है। ये प्राणी अन्टार्कटिक प्रदेश की नितान्त ठंडी जलवायु मे भी अपने अंडे से लेते हैं, यह कोई कम आश्चर्यजनक वात नहीं है। इनके घोंसलो में पंख या इस तरह की अन्य मुलायम चीज नही लगी रहती, वरन् अपने पंजे को पेन्गुइन मादाएँ अपने पेट की खाल की शिकन के वीच दबाकर गरम रखती हैं और अपने पैर तथा चोंच से उन्हें फेरती रहती है, ताकि उनके हर भाग में शरीर की गरमी पहुँचती रहे। एम्परर पेन्गुइन किसी प्रकार के घोंसले नहीं वनाते, वल्कि वर्फशिलाओं पर ही वे अपने अंडे से लेते हैं! सर्दी में अपने एकमात्र अंडे को ठंड से वचाने के लिए वे उसे अपने पैरो पर लिए रहते है।

दक्षिणी ध्रुवप्रदेश के मनोरंजक निवासी—पेन्गुइन। क्या पहली निगाह में इन्हें देखने पर आपको यह भ्रम नहीं होता कि यह पक्षियों का झुंड नहीं, वरन् सफेद कुर्ता पर काले कोट पहने हुए मनुष्यों का ही एक मेला है? ये अद्भुत प्राणी मनुष्यों की तरह ही पैरों पर सीधे खड़े रहते हैं और इनके अजीव डैने हाथों की तरह दोनों ओर लटकते रहते हैं। ये उड़ने में तो नितान्त असमर्थ है, किन्तु परों को कुछ-कुछ फैलाकर तथा गर्दन को आगे निकालकर एक अजीव ढंग से एक चट्टान से दूसरी पर दो-तीन फीट के फासले तक ये फुदक सकते हैं। मनुष्य से ये विल्कुल नहीं डरते और कभी-कभी उत्सुकतापूर्वक उनके एकदम समीप चले आते हैं। दाहिनी ओर ऊपर के कोने में इस अद्भुत जीव का वड़ा-सा चित्र दिया गया है।

इस रोचक तथा विचित्र पक्षी की कई एक जातियाँ दक्षिणी गोलार्द्ध के अन्टार्कटिक प्रदेश में पाई जाती हैं। विशेषतया न्यूजीलैण्ड में इनकी विविध जातियाँ पाई जाती हैं, और कुछ एक हिन्द महासागर के इक्के-दुक्के द्वीपों तथा दक्षिणी अफ्रीका के तट पर भी मिलती है। अवश्य ही इनके पूर्वज कभी उड़कर इन दूरस्थ द्वीपों मे पहुँचे होंगे। वहाँ पर जव किसी शक्तिशाली शत्रु की अनुपस्थिति में उनके लिए उड़ने की जरूरत शेष न रही होगी, तव कालान्तर मे अपनी उड़ने की शक्ति को वे पूर्णतया खो वैठे होंगे, साथ ही समुद्र ही से प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री लभ्य होने के कारण धीरे-धीरे वे नभचर से जलचर प्राणी वन गए होंगे।

जमीन पर दौड़नेवाले पक्षी

आइए, अब दौड़नेवाले पक्षियों के वर्ग के कतिपय प्राणियों का भी परिचय आपको दें, जिसके एक सदस्य शुतुर्मुर्ग को हम सभी भली भाँति जानते हैं। ये प्राणी विशेष तौर से दक्षिणी गोलार्द्ध में ही पाए जाते हैं, यद्यपि सच्चे शुतुर्मुर्ग विषुवत् रेखा के उत्तर मे ही मिलते हैं। इन सभी पक्षियों के डैने या तो अत्यन्त छोटे होते हैं, या वे बिलकुल ही नही होते। इनके पंख बहुत ही मुलायम बाल जैसे होते हैं। इनके डैने की डाँडियाँ उड़नेवाली चिड़ियों की डाँडियो से एक बात में खास तौर से भिन्न होती हैं। वह भेद यह है कि इन दौड़नेवाले पक्षियों के डैने के पर एक दूसरे से गुँथे नहीं होते। इसी वर्ग का एक पक्षी था मोआ, जिसकी लगभग २० जातियाँ किसी जमाने मे न्यूजीलैंड में प्रचुरता से पाई जाती थीं। तीन-चार सौ वर्ष हुए माओरी लोगों ने इसके वंश का बिलकुल उन्मूलन कर डाला। उसका जिक्र आगे किया गया है। इस वर्ग का अन्य एक विचित्र पक्षी—किवी—अभी वहाँ विद्यमान है, जिसकी कई एक जातियाँ न्यूजीलैंड में इन दिनों भी पाई जाती हैं। इन पक्षियों के पैरों में केवल चार उँगलियाँ होती है और डैने इतने छोटे होते हैं कि वे इनके बाल-सदृश पंख के अन्दर ही छिपे रहते हैं। चित्र मे देखिए, ये प्राणी पक्षी मालूम ही नही होते। इनके नथुने भी अजीब जगह पर होते हैं। वे इनकी चोंच के सिरे पर स्थित होते हैं, जिससे इन्हे केंचुए आदि कीड़े (जो इनका मुख्य भोजन है) तलाश करने में बड़ी सहायता मिलती है। ये प्राणी हरी-भरी जगहों मे रहते और रात को डोलते फिरते हैं तथा खतरे के समय तीव्र गति से दौड़ लगाकर भाग सकते हैं। इनकी आवाज सीटी के शब्द सरीखी होती है। इसी कारण इनका नाम 'किवी' पड़ा है। इनके अण्डे ५ इंच लम्बे और ३ इंच चौड़े होते हैं। किवी साधारणतः एक बड़ी मुर्गी के आकार का पक्षी होता है।

न्यूजीलेंड का यह अद्भुत प्राणी—किवी—सेही जैसा दिखाई देने पर भी वस्तुतः एक पक्षी है, यद्यपि न तो इसकी सूरत-शक्ल ही पक्षियों जैसी है, न यह उड़ ही पाता है। इसकी लम्बी चोंच पर ध्यान दीजिए, जिसके सिरे पर इसके नथुने होते हैं। ये नथुने इसे केंचुए आदि पकड़ने में खास मदद पहुँचाते हैं। इस प्राणी की आवाज सीटी जैसी होती है, इसीलिए इसका नाम 'किवी' पड़ गया है। सेही की तरह यह भी निशाचरी जीवन बिताता है।

कैसोवरी और एमू

उड़ने मे असमर्थ पक्षियो के वर्ग मे ऑस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों से पाए जानेवाले कैसोवरी और ऐमू नामक पक्षी शुतुर्मुर्ग को छोड़कर संभवतः जमीन पर दौड़ लगानेवाले पक्षियों में सबसे बड़े है। इनकी गर्दन लम्बी होती है और इनके पैरों में केवल तीन ही उँगलियाँ होती हैं। दुम नही के बराबर होती है तथा डैने भी अत्यन्त छोटे होते है। इनके पंख एकदम बालों जैसे मुलायम और डैने दुहरे मालूम पड़ते हैं। इनके छोटे डैने, जिनमे पख की डाँडियाँ पतली तीलियों की तरह लगी होती है, तेजी से भागने मे इन्हें काफी सहायता पहुँचाते हैं।

कैसोवरी की लगभग १० जातियाँ होती हैं। इनमे उत्तर-पूर्वीय ऑस्ट्रेलिया मे पाए जानेवाले कैसोवरी आकार में सबसे बड़े अर्थात् लगभग ५ फीट ऊँचे होते हैं! अन्य जातियाँ न्यू-गिनी तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तर के कुछ द्वीपो में पाई जाती है। ये पक्षी अत्यन्त फुर्तीले तथा शीघ्रगामी होते हैं। अपनी मजबूत टाँगों से शत्रु को ठोकर मारकर ये अपनी रक्षा करते हैं। इनके सिर पर शिरस्त्राण जैसी एक विचित्र कलगी-सी लगी रहती है तथा सिर और गरदन दोनों ही निर्लोम एवं चटकीले रंग के होते है। दौड़नेवाले पक्षियों की सौन्दर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी को निस्सन्देह प्रथम पुरस्कार मिलेगा,

क्योकि उसकी आसमानी, लाल एवं हरे रग की चिकनी सपाट गरदन और सिर की शोभा निलौहे काले चमकदार पंखो के सयोग से एक विचित्र सौंदर्य की छटा बाँध देती है। ये प्राणी साधारणतया सघन वनों मे रहते है।

कैसोवरी की भाँति ऑस्ट्रेलिया का सुप्रसिद्ध पक्षिराज ऐमू भी अत्यत शीघ्रगामी और बड़ी मजबूत टाँगोंवाला प्राणी होता है। किन्तु उसके सिर पर कैसोवरी जैसी कलँगी नहीं होती, न उसका रूप-रंग ही उतना सुन्दर होता है। ऐमू की दो जातियाँ पाई जाती है, जिनमे से एक ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्वीय और दूसरी पश्चिमीय प्रदेश मे मिलती हैं। दोनो का कद पाँच फीट से अधिक होता है। ये प्राणी खुले मैदानों मे रहते है और बड़ी तेज दौड़ लगाते है। किसी शत्रु से पाला पडने पर ये भी कैसोवरी या शुतुर्मुर्ग की तरह टाँगो से ठोकर मारकर अपनी रक्षा करने का प्रयास करते है। इनके संवध मे एक उल्लेखनीय वात यह है कि इनमे नर से मादा आकार मे वड़ी होती है और नर वहुगामी न होकर केवल एक ही मादा के प्रति अनुरक्त रहता है। शिकारियों के चंगुल से वचने के लिए अव यह प्राणी भीतरी जंगलो की शरण लेने लगा है।

जमीन पर दौड़नेवाले पक्षियों में सब से सुन्दर 'कैसोवरी' नामक यह जीव है, जो ऑस्ट्रेलिया के समीप के न्यूगिनी आदि द्वीपों में पाया जाता है। यह बड़ा ही फुर्तीला तथा मजवूत पाँव का जानवर होता है। इसके सिर पर एक विचित्र कलँगी लगी रहती है और गरदन निर्लोम तथा चटकीले रंग की होती है। निश्चय ही पक्षियों की सौंदर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी पुरस्कार पाने योग्य है।

अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग

अमेरिकन शुतुर्मुर्गो की तीन प्रमुख जातियाँ हैं। इनके पैर मे केवल तीन उँगलियाँ होती है और ये अधिकांशतः दक्षिणी अमेरिका के घास के मैदानों में पाए जाते है। इनके डैने काफी वडे होते है। यद्यपि ये उड़ने के मतलव के नही होते, फिर भी हवा मे आगे वढ़ने के लिए ये पाल का काम देते है। ये पक्षी अफ्रीकी शुतुर्मुर्गो से आकार में वहुत छोटे होते हैं और इनके पंख भी उतने सुन्दर नहीं होते। इस जाति का प्रमुख शुतुर्मुर्ग ह्री है।

प्राचीन काल में दक्षिणी अमेरिका एक टापूनुमा महाद्वीप था। जव उत्तरी गोलार्द्ध के भूमिखड पर मांसाहारी स्तनपोषियों का विकास हुआ, तो दक्षिणी भूभाग उनसे वचा रह गया। इसी कारण दक्षिणी अमेरिका मे मांसाहारी स्तनपोषी जीव कम पाए जाते है। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैड की भाँति दक्षिणी अमेरिका में भी परिस्थितियाँ इसी ढंग की वनती गई कि पक्षियों ने उड़ना छोड़कर स्थल-जीवन अपना लिया। प्रस्तर-विकल्पो से पता चलता है कि पूर्वकाल मे इस महाद्वीप के धुर दक्षिणी पेटेगोनिया

प्रदेश में न उड़नेवाले पक्षियों की अनेक जातियाँ मौजूद थी। इनमे से एक की खोपड़ी तो लगभग दो फीट चौड़ी मिली है!

यही है ऑस्ट्रेलिया का पक्षिराज ऐमू, जो कद में लगभग ५ फीट तक ऊँचा होता है और शुतुर्मुर्ग को छोड़कर संसार का सब से बड़ा पक्षी कहा जा सकता है। शुतुर्मुर्ग की तरह यह भी खुले मैदान में रहता, तीव्र गति से दौड़ लगाता और शत्रु से घिर जाने पर टाँगों से आगे-पीछे मारकर अपनी रक्षा कर लेता है।

अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग की भी तीन जातियाँ है-- एक दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती है, दूसरी पूर्वी अफ्रीका में और तीसरी (साधारण शुतुर्मुर्ग) उत्तर की ओर अरब, सीरिया और मसोपटामिया में। किसी जमाने में मध्य एशिया में भी यह पक्षी पाया जाता था। यह प्राणी कद में सभी पक्षियों से ऊँचा होता है---कभी-कभी इसकी ऊँचाई आठ फीट तक जा पहुँचती है! अफ्रीका का अन्य कोई भी जानवर इसके बराबर तेज दौड़ नही लगा सकता। दौड़ते समय यह अपने डैनों का पाल की तरह प्रयोग करता है और एक छलाँग में २५ फीट तक का फासला पार कर लेता हैं! अन्य दौड़नेवाले पक्षियों के मुकाबले में इसके पैर विशेष रूप से विकसित होते है। इसके पैरों में केवल दो ही उँगलियाँ होती है, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ी होती है। मरुभूमि या खुले मैदान में अपनी रक्षा के निमित्त अपनी जन्मजात सामाजिक सहज वृत्ति के अनुसार ये पक्षी छोटी-छोटी टोलियों में रहते है। इनकी तीव्र घ्राण-शक्ति तथा तीक्ष्ण दृष्टि भी शत्रुओं से सचेत करने मे इन्हे काफी सहायता पहुँचाती हैं। दुश्मनों से घिर जाने पर इनके लिए जब अन्य कोई चारा नही रहता, तो ये अपनी टाँगों से दाहिने-बाएँ ठोकर लगाया करते है।

शुतुर्मुर्ग-फार्म

शुतुर्मुर्ग के पर मुलायमियत के कारण बड़े कीमती होते हैं और वे धनाढ्य लोगो द्वारा तकिए, गद्दी आदि में भरने तथा सजावट के लिए काम में लाए जाते है। इन्ही परों के लिए अफ्रीका के चरागाहो मे शुतुर्मुर्ग काफी बड़ी संख्या में पाले भी जाते हैं—वे प्रायः बड़े-बड़े घेरो या अहातों मे घेरकर रक्खे जाते है। कहते है, किसी समय शुतुर्मुर्ग के परों का यह व्यवसाय इतना बढ-चढ गया था कि प्रति वर्ष लगभग तीन से पाँच करोड़ रुपए तक के मूल्य के उनके पर बिकने लगे थे! अफ्रीका के अलावा अमेरिका मे भी केलिफोर्निया, अरीजोना, फ्लोरिडा, उत्तरी कैरोलीना एव अर्कान्सास नामक राज्यों में शुतुर्मुर्ग को पालने का व्यवसाय सफलतापूर्वक किया जाने लगा है। इन शुतुर्मुर्ग-फार्मों में हजारों पक्षी एक साथ रक्खे जाते है। जिस समय इन पक्षियों के पर काटे जाते हैं, उनके सिर पर एक टोपी-सी पहना दी जाती है। पर कतरते समय पक्षियों को कोई दर्द नही होता। एक बार की कतरन मे प्रति शुतुर्मुर्ग लगभग एक पौंड वजन के बराबर पर प्राप्त हो जाते हैं।

अद्भुत प्रणयलीला

क्या आप यह विश्वास करेंगे कि आठ फीट ऊँचे इस पक्षिराज का वजन लगभग २॥ मन तक होता है ? इसकी टाँगे देखने मे किसी साधारण टट्टू की टाँगो से कम मोटी नहीं होती । वे इतनी सशक्त होती हैं कि उन पर अपना मनो वजनी शरीर साधे हुए यह पक्षी तीस मील प्रति घटा की चाल से सरपट दौड़ता चला जाता है । दौड़ते समय वह अपने पख दोनो वाजू इस तरह उठाए रखता है कि जिससे वे वायुयान के पख की भाँति हवा मे उसका तौल उठाए रखने मे निस्संदेह मदद देते होगे । उसकी तीव्र गति के बारे मे अनेक किवदन्तियाँ है । कोई-कोई तो उसकी

अमेरिकन शुतुर्मुर्ग—ह्री—जो अफ्रीका के शुतुर्मुर्गों से आकार में छोटा होता है । इसके पंजों में तीन उँगलियाँ होती है, जबकि अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग में सिर्फ दो ही होती है ।

रफ्तार पचास मील प्रति घंटा, अर्थात् पंजाव-मेल की गति के वरावर आँकने का भी दावा करते है ।

शुतुर्मुर्ग की छटा उस समय देखने लायक होती है, जव कि वह अपने प्रणय-व्यापार में लीन होकर मादा को प्रसन्न करने का यत्न करता है । एक जंतु-वैज्ञानिक ने इस समय के उसके आचरण का वड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन किया है । कहते है, जब मादा के प्रति नर आकर्षित होता है, तो वह अपने पैरों की उँगलियो पर टटार खड़ा होकर धीरे-धीरे वड़ी अदा के साथ उसकी ओर उचकता हुआ-सा अग्रसर होता है । उस समय उसकी गर्दन कुछ फूल-सी जाती है । वह अकड़ी हुई-सी जान पड़ती है । दुम कुछ झुक जाती है । वदन के तमाम छोटे-छोटे पर मानो रोएँ की तरह उठ-से जाते है । बड़े पंख एक विशाल पंखे की-सी झाँकी प्रस्तुत करते हुए सिर के पीछे उठे रहते है । यह अद्भुत स्वाँग प्रस्तुत करके प्रणयातुर नर तव अपनी प्रेयसी से अनुनय-विनय करता हुआ एक विचित्र क्रीड़ा प्रदर्शित करता है ! वह एकाएक अपने घुटने मोड़कर धरती पर उकड़ूँ-उकड़ूँ-सा हो जाता है, और अपने विशाल पंख को पूर्ण रूप से खोलकर वारी-वारी से एक के उपरान्त दूसरा पंखे की तरह आगे-पीछे फहराने लगता है । इस समय वह अपनी गर्दन को हंस की ग्रीवा की भाँति मोड़कर शरीर के अधिक समीप ले आता है और उसमे काफी हवा भर लेता है । उक्त वायु को रह-रहकर वह जोर से मुँह की ओर से निकालता है, जिससे 'क्लिक्'-'क्लिक्' की एक तीखी आवाज निकलती है । सचमुच ही उसकी यह क्रीडा देखते वनती है ।

डेढ़-डेढ़ सेर के अण्डे

शुतुर्मुर्ग का प्रत्येक अडा तौल मे लगभग डेढ़ सेर का होता है ! ऐसे पंद्रह तक अडे एक घोंसले मे रक्खे हुए पाए जाते हैं । ये घोसले धरती मे गड्ढा खोदकर वनाए जाते हैं, जिसे नर खोद लेता है । आपको यह जानकर अचम्भा होगा कि अडों को सेने के लिए दिन मे तो मादाएँ उन पर वैठती हैं और रात्रि के समय वेचारे नर को उन पर वैठकर उन्हें गरमी पहुँचाना पड़ता है । ये अडे प्रायः छः हफ्ते में पक जाते है । उन्हें फोड़कर शुतुर्मुर्ग के चोजे ज्योंही वाहर निकलते है, वे धरती पर दौड़ने लग जाते है ।

अफ्रीकी शुतुर्मुर्ग की भाँति ह्री नामक अमेरिकन शुतुर्मुर्गों मे भी अंडो के सेने की क्रिया मे नर को पर्याप्त भाग लेना पड़ता है । कहते है, एक वार मे ५० तक अडे सेने

का भार उस बेचारे के पल्ले पड़ा करता है ! पर अपना यह कर्त्तव्य वह पूरी तरह अदा करता है ।

मोआ, डोडो और रॉक

उड़ने में असमर्थ विशालकाय पक्षियों की इस चर्चा के सिलसले में पृथ्वी पर से विलुप्त हो जानेवाले इसी तरह के पंखदार, किन्तु उड़ने में लाचार कतिपय प्राणियों के बारे में भी दो-एक अनोखी बातों का उल्लेख यहाँ कर देना अप्रासंगिक न होगा । इनमें से मोआ और डोडो का तो नामोल्लेख इस प्रकरण के आरंभ ही में किया जा चुका है, तीसरा पक्षिराज 'रॉक' के नाम से कहानी-किस्सों में मशहूर है । मोआ लगभग ६ फीट ऊँचा एक दौड़नेवाला पक्षी था । वह न्यूज़ीलैंड में पाया जाता था, पर मनुष्य के अत्याचारों का शिकार बनकर उसका वंश ३०० वर्षों से पृथ्वी से सदा के लिए उठ गया । उसकी ठठरियाँ, अंडों के छिलके आदि मिलते हैं । 'डोडो' मॉरीशस द्वीप पर पाया जानेवाला एक बड़ा काहिल और मूर्ख जाति का पक्षी था, जो अपनी उड़ने की शक्ति खो बैठा था । तीन सौ वर्ष पूर्व वह भी इस धरती से विलुप्त हो गया । उसके बारे में यह मशहूर है कि जब शिकारी उसे पकड़ने के लिए उसके प्रति अग्रसर होते थे, तब भी वह बचाव की कोई कोशिश नहीं करता था—वह न उड़ पाने के लिए तो विवश था ही, साथ ही अकर्मण्यता के कारण शायद वह दौड़कर भागने से भी मजबूर हो गया था । एक डच नौसेनापति ने इन पक्षियों को पहले पहल सन् १५९८ ई० में मारीशस द्वीप पर देखा था और इस जाति का अंतिम नमूना १६८१ ई० में वहाँ आखिरी बार देखा गया था । 'रॉक' भी नौ-दस फीट ऊँचा एक विशालकाय पक्षी था, जो मेडागास्कर द्वीप में पाया जाता था । यह भी अपनी उड़ने की सामर्थ्य खो बैठा था । इसके अंडे लगभग एक फुट लंबे होते थे ! मोआ और डोडो की तरह यह प्राणी भी आज संसार से विलुप्त हो चुका है । मेडागास्कर द्वीपवासी इसे 'हाथी-पक्षी' के नाम से याद करते हैं । उधर सुप्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने लिखा है कि अरब की लोककथाओं में प्रख्यात विशालकाय 'रॉक' पक्षी मेडागास्कर द्वीप में रहता था । अतः प्रायः

संसार का सब से बड़ा पक्षी—अफ्रीका का शुतुर्मुर्ग—जिसकी ऊँचाई कभी-कभी आठ फीट तक पहुँचती है । कहते हैं, जानवरों में इससे अधिक तीव्र गति से दौड़ने वाला प्राणी शायद ही कोई होगा ! वह पचीस-पचीस फीट तक की छलाँग भर सकता है !

अद्भुत प्रणयलीला

क्या आप यह विश्वास करेंगे कि आठ फीट ऊँचे इस पक्षिराज का वजन लगभग २॥ मन तक होता है? इसकी टाँगें देखने में किसी साधारण टट्टू की टाँगों से कम मोटी नहीं होती। वे इतनी सशक्त होती है कि उन पर अपना मनों वजनी शरीर साधे हुए यह पक्षी तीस मील प्रति घंटा की चाल से सरपट दौडता चला जाता है। दौड़ते समय वह अपने पंख दोनों बाजू इस तरह उठाए रखता है कि जिससे वे वायुयान के पंख की भाँति हवा में उसका तौल उठाए रखने में निस्संदेह मदद देते होंगे। उसकी तीव्र गति के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ है। कोई-कोई तो उसकी रफ्तार पचास मील प्रति घंटा, अर्थात् पंजाब-मेल की गति के बराबर आँकने का भी दावा करते है।

अमेरिकन शुतुर्मुर्ग—र्‍ही—जो अफ्रीका के शुतुर्मुर्गों से आकार में छोटा होता है। इसके पंजों में तीन उँगलियाँ होती है, जबकि अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग में सिर्फ दो ही होती हैं।

शुतुर्मुर्ग की छटा उस समय देखने लायक होती है, जब कि वह अपने प्रणय-व्यापार में लीन होकर मादा को प्रसन्न करने का यत्न करता है। एक जंतु-वैज्ञानिक ने इस समय के उसके आचरण का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। कहते है, जब मादा के प्रति नर आकर्षित होता है, तो वह अपने पैरों की उँगलियों पर टटार खड़ा होकर धीरे-धीरे बड़ी अदा के साथ उसकी ओर उचकता हुआ-सा अग्रसर होता है। उस समय उसकी गर्दन कुछ फूल-सी जाती है। वह अकड़ी हुई-सी जान पड़ती है। दुम कुछ झुक जाती है। बदन के तमाम छोटे-छोटे पर मानो रोएँ की तरह उठ-से जाते है। बड़े पंख एक विशाल पंखे की-सी झाँकी प्रस्तुत करते हुए सिर के पीछे उठे रहते है। यह अद्भुत स्वाँग प्रस्तुत करके प्रणयातुर नर तब अपनी प्रेयसी से अनुनय-विनय करता हुआ एक विचित्र क्रीड़ा प्रदर्शित करता है! वह एकाएक अपने घुटने मोड़कर धरती पर उकड़ूँ-उकड़ूँ-सा हो जाता है, और अपने विशाल पंख को पूर्ण रूप से खोलकर बारी-बारी से एक के उपरान्त दूसरा पंखे की तरह आगे-पीछे फहराने लगता है। इस समय वह अपनी गर्दन को हंस की ग्रीवा की भाँति मोड़कर शरीर के अधिक समीप ले आता है और उसमें काफी हवा भर लेता है। उक्त वायु को रह-रहकर वह जोर से मुँह की ओर से निकालता है, जिससे 'क्लिक्'-'क्लिक्' की एक तीखी आवाज निकलती है। सचमुच ही उसकी यह क्रीड़ा देखते बनती है।

डेढ़-डेढ़ सेर के अण्डे

शुतुर्मुर्ग का प्रत्येक अंडा तौल में लगभग डेढ़ सेर का होता है! ऐसे पंद्रह तक अंडे एक घोंसले में रक्खे हुए पाए जाते है। ये घोंसले धरती में गड्ढा खोदकर बनाए जाते हैं, जिसे नर खोद लेता है। आपको यह जानकर अचम्भा होगा कि अंडों को सेने के लिए दिन में तो मादाएँ उन पर बैठती है और रात्रि के समय बेचारे नर को उन पर बैठकर उन्हें गरमी पहुँचाना पड़ता है। ये अंडे प्रायः छः हफ्ते में पक जाते हैं। उन्हें फोड़कर शुतुर्मुर्ग के चोजे ज्योंही बाहर निकलते है, वे धरती पर दौड़ने लग जाते है।

अफ्रीकी शुतुर्मुर्ग की भाँति र्‍ही नामक अमेरिकन शुतुर्मुर्गों में भी अंडों के सेने की क्रिया में नर को पर्याप्त भाग लेना पड़ता है। कहते हैं, एक बार में ५० तक अंडे सेने

का भार उस बेचारे के पल्ले पड़ा करना है ! पर अपना यह कर्त्तव्य वह पूरी तरह अदा करता है।

मोआ, डोडो और रॉक

उड़ने में असमर्थ विशालकाय पक्षियों की इस चर्चा के सिलसिले में पृथ्वी पर से विलुप्त हो जानेवाले इसी तरह के पंखदार, किन्तु उड़ने से लाचार कतिपय प्राणियों के बारे में भी दो-एक अनोखी बातों का उल्लेख यहाँ कर देना अप्रासंगिक न होगा। इनमें से मोआ और डोडो का तो नामोल्लेख इस प्रकरण के आरंभ ही में किया जा चुका है, तीसरा पक्षिराज 'रॉक' के नाम से कहानी-किस्सों में मशहूर है। मोआ लगभग ६ फीट ऊँचा एक दौड़नेवाला पक्षी था। वह न्यूजीलैंड में पाया जाता था, पर मनुष्य के अत्याचारों का शिकार बनकर उसका वंश ३०० वर्षों से पृथ्वी से सदा के लिए उठ गया। उसकी ठठरियाँ, अंडों के छिलके आदि मिलते हैं। 'डोडो' मॉरीशस द्वीप पर पाया जानेवाला एक बड़ा काहिल और मूर्ख जाति का पक्षी था, जो अपनी उड़ने की शक्ति खो बैठा था। तीन सौ वर्ष पूर्व वह भी इस धरती से विलुप्त हो गया। उसके बारे में यह मशहूर है कि जब शिकारी उसे पकड़ने के लिए उसके प्रति अग्रसर होते थे, तब भी वह बचाव की कोई कोशिश नहीं करता था—वह न उड़ पाने के लिए तो विवश था ही, साथ ही अकर्मण्यता के कारण शायद वह दौड़कर भागने में भी मजबूर हो गया था। एक डच नौसेनापति ने इन पक्षियों को पहले पहल सन् १५९८ ई० में मारीशस द्वीप पर देखा था और इस जाति का अंतिम नमूना १६८१ ई० में वहाँ आखिरी बार देखा गया था। 'रॉक' भी नौ-दस फीट ऊँचा एक विशालकाय पक्षी था, जो मेडागास्कर द्वीप में पाया जाता था। वह भी अपनी उड़ने की सामर्थ्य खो बैठा था। इसके अंडे लगभग एक फुट लंबे होते थे ! मोआ और डोडो की तरह यह प्राणी भी आज संसार से विलुप्त हो चुका है। मेडागास्कर द्वीपवासी इसे 'हाथी-पक्षी' के नाम से याद करते हैं। उधर सुप्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने लिखा है कि अरब की लोककथाओं में प्रख्यात विशालकाय 'रॉक' पक्षी मेडागास्कर द्वीप में रहता था। अतः प्रायः
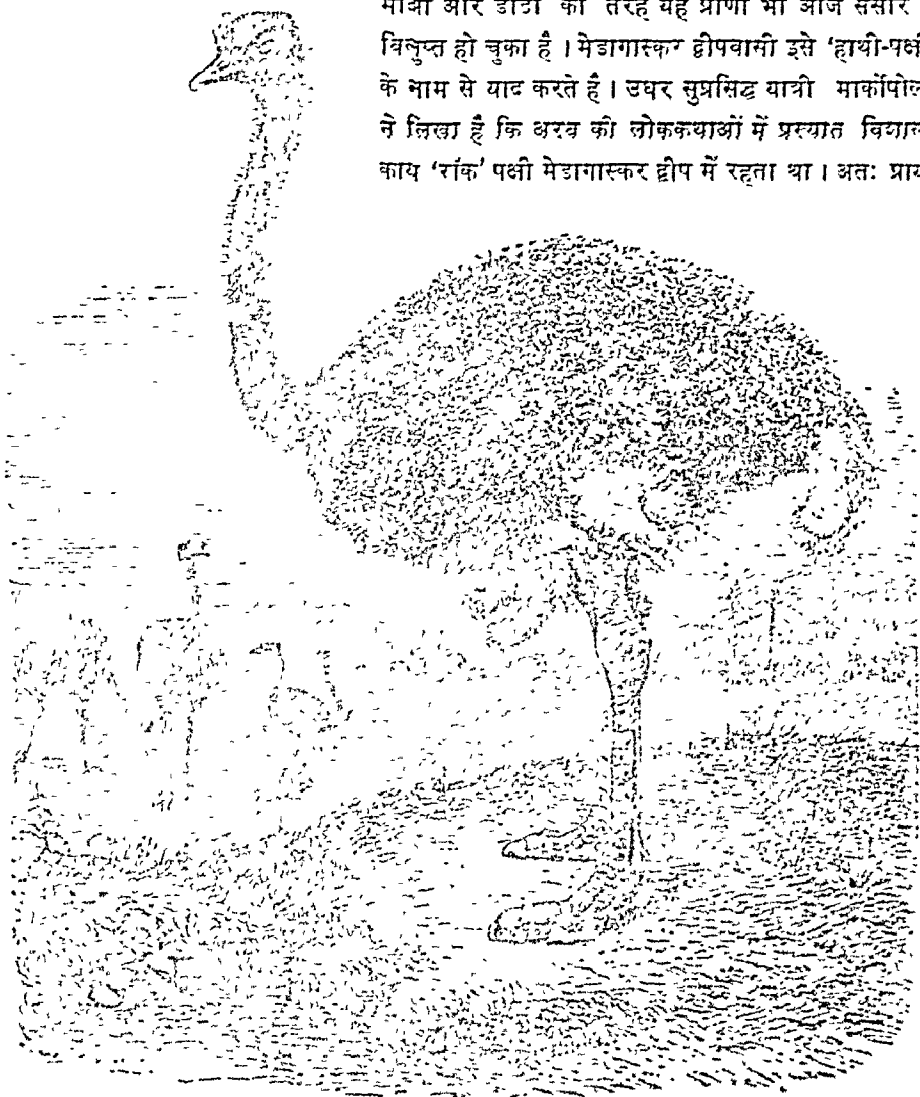
संसार का सब से बड़ा पक्षी—अफ्रीका का शुतुर्मुर्ग—जिसकी ऊँचाई कभी-कभी आठ फीट तक पहुँचती है। कहते हैं, जानवरों में इससे अधिक तीव्र गति से दौड़ने वाला प्राणी शायद ही कोई होगा ! वह पचीस-पचीस फीट तक की छलांगें भर सकता है !

यही अनुमान किया जाता है कि पौराणिक 'रॉक' पक्षी और मेडागास्कर का 'हाथी-पक्षी' (जिसके अडे मिले है) एक ही जीव था। इस पक्षी की जो हड्डियाँ मिली है, उनसे ज्ञात होता है कि उसकी कोई दर्जन-भर जातियाँ उक्त द्वीप मे पाई जाती थीं। सचमुच ही उसका 'हाथी-पक्षी' नाम सार्थक था, क्योकि उसकी कतिपय हड्डियो का घेरा डेढ़ फीट तक का पाया गया है! उसके अंडे की समाई तो इतनी बढ़ी-चढी थी कि उसमे दो गैलन पानी आ सकता था!

पक्षियों का संसार—(३)

सब से सुन्दर और सब से भौंडे पखेरू

पक्षियों के उस वर्ग में, जो अपने चटकीले जगमगाते हुए रंगों के लिए प्रसिद्ध है, सब मे उल्लेखनीय हैं दक्षिणी और मध्य अमेरिका में फैले हुए नई दुनिया के वे अत्यन्त छोटे पखेरू, जिन्हे अंग्रेजी में 'हमिङ्ग बर्ड्स' या 'भनभनानेवाले पक्षी' के नाम से पुकारते है। ये जीव पक्षी-जगत् के सब से छोटे प्राणी है।

'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न'

जगमगाते हुए सजीव रत्नों जैसे इन मनोरम पखेरुओं की पाँच सौ से भी अधिक जातियाँ है। उनमे से कुछ, जो सब से अधिक भडकीली होती है, आकार में केवल सवा दो इंच ही होती हैं! इनके अंडो का आकार एक-चौथाई इंच से लेकर इंच के पाँचवे भाग तक और घोसलों की भीतरी समाई का व्यास मुश्किल से तीन-चौथाई इंच के लगभग होता है! पक्षी-जगत् के अन्य सभी सदस्यों की भाँति इनमें भी नर पक्षी विशेष सजधजवाले होते है—उनके पंखों के रंगो की तुलना यदि किसी से की जा सकती है, तो केवल नीलम, पन्ना, माणिक, पुखराज आदि रत्नों से ही। वस्तुत. उनके सम्बन्ध मे कुछ भी लिखते समय अत्युक्ति से बच पाना असम्भव-सा है—इतने अधिक सुन्दर और चटकीले होते है वे! आडोबान नामक एक लेखक ने इस पक्षी का परिचय 'इन्द्रधनुष का एक चमचमाता हुआ अंश' कहकर दिया है और बफन नामक अन्य एक लेखक ने उसकी प्रशंसा मे लिखा है कि 'उसके परों के परिधान में मानो पन्ना, माणिक और पुखराज नामक रत्नो की द्युति जगमगाती है!' सचमुच ही इन चिड़ियों को 'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न' की जो उपाधि दी गई है, वह सर्वथा उचित ही है। कारण, उनके रंगों की मनोरमता के साथ-साथ यहाँ से वहाँ उड़ते समय की उनकी गति भी कम आकर्षक नहीं होती। हमारे देश के 'लाल' या 'शकरखोर' नामक पक्षियों की भाँति—जिन्हे हम इनके सब से नजदीकी रिश्तेदार कह सकते है—ये पक्षी भी विशेष रूप से फूलों के ग्राहक होते हैं और उन पर भौंरों की तरह मँडराया करते है। लाल या शकरखोर की तरह ये भी अपनी नलिकाकार चोंचों और लम्बी जीभों द्वारा फूलों का मधु चूसते और उस पर ही जीवन-निर्वाह करते है, यद्यपि कुछ कीट-पतिङ्गों पर भी वे बसर करते है। वास्तव मे इन प्राणियों के उड़ने का ढंग पक्षियों की अपेक्षा पतिंगों से अधिक मिलता-जुलता है। उनके पंख एक मिनट मे लगभग पाँच सौ बार फड़फड़ा उठते हैं, जिससे एक विशिष्ट प्रकार की मधुर गुंजार या भनभन ध्वनि निकलती रहती है। इसीलिये इनका नाम 'भनभनानेवाल पक्षी' पड़ गया है। इन विचित्र पक्षियों का क्या रंग, क्या उड़ान और क्या गुंजान सभी कुछ मनमुग्धकर है, और उनकी सब से आकर्षक विशेषता तो है उनकी अत्यन्त लघु आकृति! वस्तुत वे चिड़ियाँ नही, बल्कि परी-देश की स्वप्निल वस्तु के समान है! उनके अण्डे छोटे-छोटे सफेद मनके जैसे होते हैं!

'स्वर्ग के पक्षी'

ऊपर जिन सुन्दर पखेरुओं का परिचय हमने दिया है, उन्हीं जैसे तड़कभड़कदार, किन्तु आकार में उनसे कही बड़े और अधिक आकर्षक एक और जाति के पक्षी हैं, जो इतने अधिक सुन्दर होते हैं कि जिन लोगों ने पहलेपहल उन्हें देखा, उन्हे विश्वास ही नहीं हुआ कि ये इस मृत्युलोक के जीव हो सकते हैं! इसीलिए उनका नाम 'स्वर्ग के पक्षी' पड़ गया। ये चिड़ियाँ पूर्वीय द्वीप-समूह, न्यूगिनी के टापू और उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के वनों में पाई जाती है। इनमे सब से सुन्दर जाति का पक्षी 'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी' कहकर पुकारा जाता है, जिसके रंग-बिरंगे परो का मूल्य उतने ही वजन के सोने से
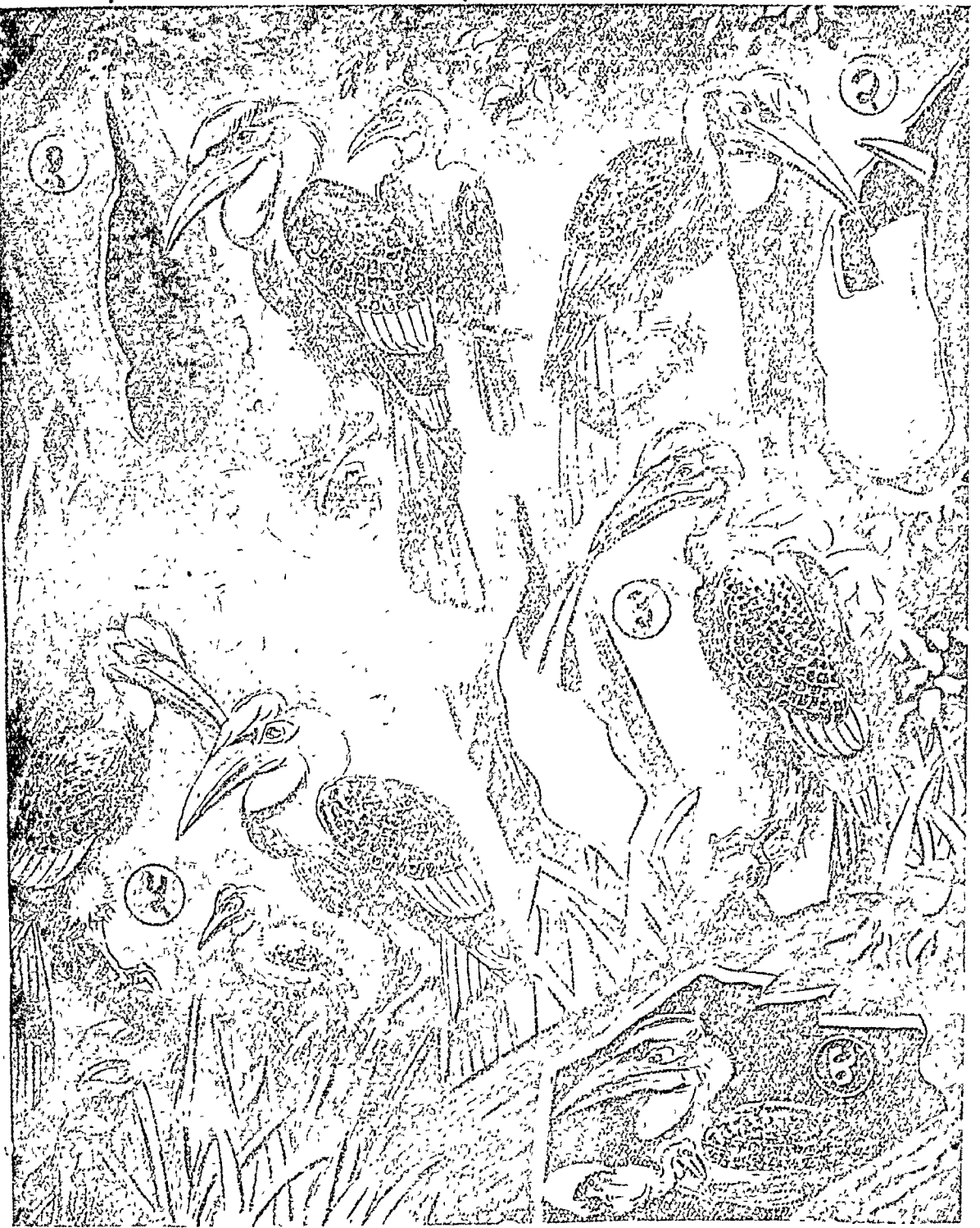
यह 'हार्नबिल' पक्षी के गृह-जीवन की विचित्र कहानी है ! जब मादा हार्नबिल अंडा देने को होती है, तो नर किसी वृक्ष के तने को अपनी मजबूत चोंच से कुरेदकर (नं० १) उसके खोखले में मादा को बिठाकर मिट्टी से द्वार बंद कर देता है (नं० २) । सिर्फ एक दरार वह छोड़ देता है, जिसके रास्ते मातृत्व की पूरी अवधि तक वह मादा को भोजन पहुँचाता रहता है (नं० ३) । बच्चा पैदा हो जाने पर (नं० ४) पुनः मादा इस घोंसले की कैद से मुक्त हो जाती है (नं० ५) ।

बीस या तीस गुना तक होता है। इस पक्षी के झिलमिलाते हुए मोरछल या चँवरनुमा पंख एक जमाने में पश्चिम में महिलाओं की मूल्यवान् टोपियों की सजावट के काम में लाये जाते रहे, अतएव उन दिनों उनकी बहुत माँग रहती थी। बाद में लोकमत उक्त प्रथा के विरुद्ध हो जाने पर उनका इस काम के लिये व्यवहार बंद हो गया और संभवतः इसी से ये प्राणी असमय ही शीघ्रतापूर्वक पृथ्वी से विलुप्त होने से बच गए। इस चिड़िया के सिर और गरदन पर मुलायम पंखों की एक चौड़ी झालर-सी होती है और गले में चटकीले पन्ने की नाई हरित वर्ण का अयाल-सा होता है। उसकी दुम के शेष पंख मिश्रित रक्तिम लाल, कत्थई और गहरे हरे रंग के होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी मादा से नर ही अधिक तड़कभड़क और शान-शौकतवाला होता है, और जब वह प्रेमलीन होकर अपनी शृंगार-विहीना भूरे रंग की प्रियतमा के आगे थिरकते हुए अपनी भव्य पंखमाला का प्रदर्शन करता है, उस समय का उसका सौंदर्य वर्णनातीत हो जाता है। यह पक्षी प्रायः वृक्षों की डालियों पर अपना प्रणयाभिनय-नृत्य करता है। उस समय जब वह अपने पंख थरथराता है तो उसके बदन के आसपास के पर ऐसे झिलमिला उठते हैं मानो सोने के तार चमचमा रहे हों!

पक्षी-जगत् के कुछ सब से भौंडे सदस्य

प्रकृति के चिड़ियाखाने में जहाँ ऊपर उल्लिखित पक्षियों जैसे अत्यंत सुन्दर और मनोहर प्राणी देखने को मिलते हैं, वहाँ साथ-ही-साथ उसके संग्रहालय में ऐसे पखेरुओं की भी कमी नहीं है जो कुरूपता और भौंड़ेपन में भी सबको मात कर सकते हैं। सुन्दर पक्षियों की तरह इन भौंड़ी चिड़ियों की भी अनेक जातियाँ हैं। किन्तु यहाँ हम केवल दो नमूनों का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। ये हैं—हार्नबिल (Hornbill) या धनेश और एडजूटण्ट स्टार्क (Adjutant Stork) या लगलग, जो अजीब वस्तुओं की किसी भी प्रदर्शनी में निश्चित रूप से ऊँचा इनाम पा सकते हैं।

हार्नबिल

यह एक बहुत बड़ा पक्षी है, जो लंबाई में ४½ फीट के लगभग होता है। किन्तु इसकी इस लंबाई में असली बदन का हिस्सा बहुत ही कम अर्थात् केवल १४ इंच होता है—वस्तुतः वह उसकी बहुत लंबी वृहदाकार चोंच तथा ढीली-ढाली भारी दुम को एक-दूसरे से संलग्न करने में मानो एक कड़ी का काम देता है। उसकी यह चोंच लगभग एक फीट लंबी होती है और ऊपर की ओर उभरे हुए अपने शृंगवत् भाग की वजह से विशेष रूप से दर्शक का ध्यान खींचती है। इस उभरे हुए भाग के कारण यह पक्षी ऐसा दिखाई देता है मानो वह टोप पहने हुए हो, जिसे मजाक के लिये उसने अपने सिर पर रखने के बजाय अपनी भारी चोंच पर ही रख लिया हो! उसकी लाल-लाल आँखें, जिनमें ऊपरी पलक की कोर पर बरौनियाँ भी होती हैं, उसकी अजीब शक्ल को और भी अधिक विचित्र बनाने में विशेष योग देती हैं। इस पक्षी की तस्वीर पर जरा गौर कीजिए—क्या यह आपको जंगल का मसखरा जैसा नहीं प्रतीत होता? पर यही नहीं, केवल शक्ल-सूरत ही नहीं, बल्कि इसकी करतूतों में भी निरालापन है। उदाहरण के लिये जब वह खाता है तो वह निगलने के पहले प्रत्येक कौर को पहले हवा में ऊँचे उछालता है और तब उसे चोंच में झेलकर गटक जाता है। अपने इस अभ्यास के कारण कितनी भी दूर से कोई चीज उसके पास क्यों न फेंकी जाय वह उसे पकड़ने में कभी भी नहीं चूकता। वस्तुतः यह पक्षी क्रिकेट के खेल में गेंद झेलनेवाले का काम बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है! किन्तु इसकी सब से अधिक उल्लेखनीय विचित्रता तो है उनके घोंसले की अद्भुत निर्माणक्रिया, जिसका जिक्र हम पिछले एक प्रकरण में कर चुके हैं।

हम यह बता चुके हैं कि इसकी चोंच असाधारणतया बड़ी होती है। पर वह केवल बड़े आकार की ही नहीं होती, बल्कि उतनी ही ताकतवर भी होती है। उसके द्वारा वह एक ही चोट में कड़ी से कड़ी लकड़ी में आधा इंच तक गहरा छेद कर सकता है! इस पक्षी की मादा चिड़िया जब अंडा देने को होती है तो किसी वृक्ष के तने या डाल में एक सुरक्षित खोखला स्थान तलाश किया जाता है और चोंच से कुरेदकर ये पक्षी उसे इतना बड़ा कर लेते हैं कि मादा उसमें आराम से बैठ सके। जब वह इस घोंसले में अंडे देने के लिए प्रवेश करती है तो नर अपनी चोंच में भर-भरकर मिट्टी लाता है और उसे लसलसी बना क्रमशः राज की तरह चुनचुनकर उससे खोखले का द्वार मजबूती से बंद कर देता है—केवल मादा पक्षी की चोंच बाहर निकलने-भर की एक दरार वह उसमें छोड़ देता है। इसी में से चोंच निकालकर बंदिनी मादा अपने मातृत्व-काल की पूरी अवधि-भर नर से भोजन पाती

रहती है। जब अंडे से बच्चा पैदा हो जाता है और बाहर उड़ने लायक हो जाता है तो खोखले के द्वार का मिट्टी का प्लास्टर कुरेदकर हटा दिया जाता है और मादा बच्चे-सहित पुनः बाहर निकल आती है।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस चिड़िया की चोंच पर जो उभरी हुई टोपी-सी पाई जाती है, वह शैशवावस्था में नहीं रहती, बल्कि वयस्क होने पर ही पैदा होती है। यह क्यों ? संभवतः इसका एकमात्र प्रयोजन यही दिखाई देता है कि घोसला बनाते वक्त चोंच द्वारा वृक्षों के तने की लकड़ी कुरेदते समय उसके मस्तिष्क को ठेस या हानि से बचाने के लिए यह एक प्रकार के लाग का काम देती है, अर्थात् चोंच से चोट करने पर जो धक्का लगता है उसे यह जज्ब कर लेती है और इस प्रकार मस्तिष्क सुरक्षित रहता है।

टूकन

अजीब चोंचवाले पक्षियों में एक और उल्लेखनीय पखेरू अमेरिका के उष्ण प्रदेशों का निवासी टूकन (Toucan) है, जिसकी नारंगी रंग की बृहत् चोंच आजू-बाजू से चपटी होती है और आकार में लॉब्स्टर (Lobster) के आँकड़े जैसी मुड़ी होती है। यह चोंच बेहद बड़ी होने पर भी इतनी भारी नहीं होती कि जिससे पक्षी की उड़ान में बाधा पड़े। बल्कि उससे उसे कई तरह की सहायता ही मिलती है। उदाहरण के लिए यह भारी-भरकम पक्षी किसी एक डाली पर बैठे-बैठे ही चारों ओर की छोटी-छोटी टहनियों के फलों को अपनी इस चोंच की नोक से बड़े मजे में बटोर लेता है—उसे यहाँ से वहाँ फुदकना नहीं पड़ता।

एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग

हार्नबिल या टूकन से भी अधिक भोंडी शक्ल का एक पक्षी हमारे देश में ही होता है, जिसे अंग्रेजी में एडजूटण्ट स्टार्क (Adjutant Stork) का नाम दिया गया है और जो हमारे यहाँ की बोली में लगलग कहलाता है। इस पक्षी की डरावनी लंबी चोंच बहुत ही गंदे पिलौहे रंग की होती है और इसी तरह उसकी लंबी टाँगें भी मटमैले भूरे रंग की होती हैं। इस पक्षी की प्रायः यह आदत होती है कि खड़ा रहते समय वह मसखरे की तरह अपने सिर को अपने कंधों में दबा-सा लेता है, जिससे पीठ की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है मानो विलायती ढंग का कोट पहने हुए कोई कुबड़ा बूढ़ा सिकुड़कर खड़ा हो! इससे भी अधिक हास्यास्पद तो वह तब प्रतीत होता है जबकि खड़े-खड़े ऊब जाने पर वह घुटने मोड़ देता है। उस समय उसकी टाँगों के निचले भाग आगे की ओर निकलकर ऐसे दिखाई देने लगते हैं मानो गलती से वे उलटे लगा दिए गए हों! बगल का चित्र देखिए। निस्संदेह डगलस डेवार नामक विद्वान् के शब्दों में 'यदि हार्नबिल या धनेश जंगल का मसखरा है तो एडजूटण्ट या लगलग खुले मैदानों का विदूषक है।' उसके चलने का ढंग देखकर तो कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता।
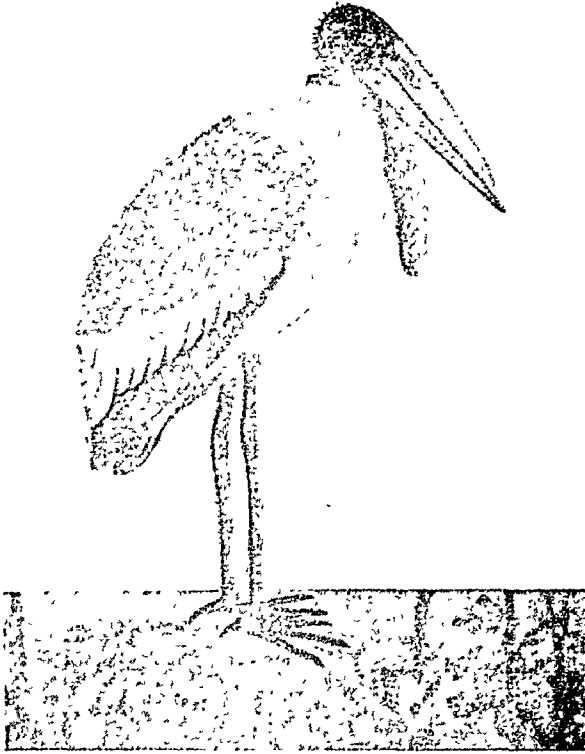
पक्षी जगत् का सब से भोंडा प्राणी— एडजूटण्ट स्टार्क
(परिचय इसी पृष्ठ के मैटर में देखिए)

अद्भुत होत्जिन पक्षी

आज दिन संसार में जितने भी पखेरू मिलते हैं उनमें दक्षिणी अमेरिका का होत्जिन (Hoatzin) पक्षी अपने ढंग का एक ही प्राणी है। यह पक्षी अपना घोंसला प्रायः कमल से आच्छादित दलदल के किनारे अथवा नदी-तट

के वृक्षों पर पानी से छः से पंद्रह फीट की ऊँचाई पर बनाता है। इसका घोंसला सूखी टहनियों को बटोरकर बनाया गया एक निरा चबूतरा-सा होता है, जिसे ये पक्षी ब्रिटिश गायना के पिम्पलर नामक कँटीले वृक्षों की दो डालियों के जोड़ पर रखते हैं। इन वृक्षों की कोमल हरी पत्तियाँ ही इन पक्षियों का प्रमुख आहार हैं। ये पखेरू बहुत अधिक निडर और पालतू-जैसे होते हैं और जब तक कि उनके घोंसलेवाली डाली एकबारगी ही हिला-डुला नहीं दी जाती, तब तक छेड़-छाड़ करने पर भी वे अपना घोंसला नहीं छोड़ते।

होत्जिन आकार में फाख्ते से कुछ छोटा होता है और उसके सिर पर एक हिलती हुई कलँगी होती है। इस पक्षी की उड़ने की सामर्थ्य परिमित होती है और उसके बदन की निचली बाजू यानी पेट की ओर की चमड़ी का एक अंग कड़ा होता है, जिसके सहारे टिककर वह प्रायः विश्राम करता है। इस अद्भुत चिड़िया का बच्चा अपने डैनों के दो-दो पंजों की सहायता से छिपकिली की भाँति चारों पैरों पर रेंगते हुए वृक्ष आदि पर चढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त वह उतनी ही कुशलतापूर्वक ऊपर से सिर के बल पानी में कूदकर डुबकी भी मार सकता है और सील नामक जलजंतु की तरह बड़े मजे में तैर भी सकता है। कुछ ही मिनटों में इस छोटी-सी चिड़िया को अपने जीवन में पहली बार एक साथ ही वृक्ष पर चढ़ते, वहाँ से पानी में कूदकर डुबकी लगाते और मजे के साथ तैरते हुए देखकर बीव नामक एक प्रकृति-वैज्ञानिक आश्चर्य में पड़ गया था—निस्संदेह यह किसी भी दर्शक के लिए एक चकरा देनेवाली बात थी!

स्टार्क पक्षियों की अनेक उपजातियाँ होती हैं, और वे सभी बदसूरती के लिए नामांकित हैं। यह 'ओपनबिल स्टार्क' का चित्र है। यद्यपि यह भोंड़ेपन में 'एडजूटण्ट स्टार्क' का मुकाबला नहीं कर सकता, फिर भी इसे देखकर भला किसको उसके प्रति आकर्षण हो सकता है?

इस पक्षी की बोली बड़ी ही विचित्र होती है—वह मेंढक की आवाज जैसी फटी और भर्राई हुई होती है, विशेषकर मादा पक्षी की आवाज नर से भी अधिक गंभीर और गुड़गुड़ाने-जैसी होती है। उरंगमों जैसे अपने विविध लक्षणों के कारण यह अजीब पखेरू आज के दिन प्रकृति-वैज्ञानिकों के लिए जंगलों या दलदलों की अन्य किसी भी चिड़िया से कहीं अधिक दिलचस्प और विस्मयोत्पादक है—उसे हम प्रकृति की एक जीती-जागती पहेली कह सकते हैं।

वस्तुतः यह अनोखा प्राणी उरंगमों और पक्षियों के बीच की शृंखला की एक कड़ी जैसा है। अपने कई गुणों में तो वह पक्षियों से कहीं अधिक उरंगमों का ही निकट सम्बन्धी प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जहाँ तक इस पक्षी का सम्बन्ध है, विकास-चक्र की गति अन्य प्राणियों की बनिस्बत मंदतर रही, तभी तो क्या बोली, क्या हरकत और क्या आदतों में वह हमें पक्षी-जीवन के आरंभिक दिनों के विगत युग की याद दिलाता है!

पक्षी-जगत् के विचित्रवेशधारी सदस्यों में 'पेलिकन' नामक यह बृहदाकार लंबी चोंचवाला अनोखा पखेरू भी अपने ढंग का एक ही प्राणी है! इनकी एक अद्भुत विशेषता इनके निचले जबड़े के साथ संलग्न एक विचित्र थैलीनुमा फैलाव होता है, जिसमें ये मछलियों का शिकार करते समय उन्हें चोंच में लेकर जमा करते जाते हैं।

हमारे देश के पक्षी

भारतवर्ष के पक्षियों की जातियाँ इतनी अधिक हैं कि उनकी गिनती हजारों में लगाई जा सकती है। अतएव स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनमें से कुछ चुने हुए खास-खास पक्षियों का ही उल्लेख करेंगे। भारतवर्ष के संबंध में यह कहा जा सकता है कि इस देश में विशेष रूप से ऐसे पक्षियों का बाहुल्य है, जो अपनी निजी खास विशेषता के लिये अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिए यहीं उस अनोखे पंछी साधारण कौए के एक भाई-बन्धु भुजगा की आवासभूमि है, जिसे हम निस्संकोच पक्षियों की दुनिया का 'काला नवाब' कह सकते हैं। यह पक्षी साहस की तो मानो साकार मूर्त्ति होता है—अभी तक किसी भी ऐसे परिन्दे का पता नहीं लगा है, जिससे यह महाशय भय खाते हों! इसी तरह बाह्य सौन्दर्य और रूप-रंग के लिहाज से जब हम नजर दौड़ाते हैं, तो रंग-बिरंगे परोंवाले मोर, नीलकंठ, सुनहली पीलक, किलकिला, [illegible], हुद-हुद, पतेना तथा उन्हीं जैसी न जाने कितनी चिड़ियों की तस्वीरें हमारी
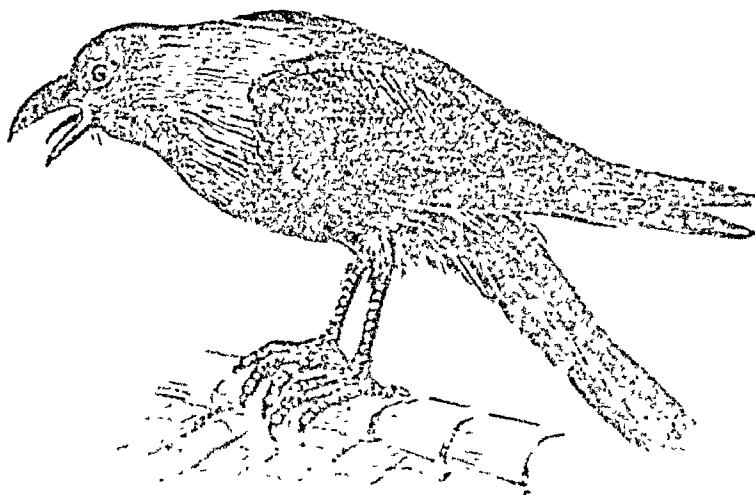
भारतीय कौआ, जो सतर्कता, निर्भीकता और चालाकी में पक्षियों की दुनिया में अपना सानी नहीं रखता!

सुन्दरता की दृष्टि से भारतीय पक्षियों का शिरोमणि—मोर। दाहिनी ओर इस पक्षी की मादा है, जिसको न तो इतने सुन्दर पंख ही प्रकृति ने दिए हैं न नृत्य करने की प्रेरणा ही।

उड़ान का जादू देखिए कि जब अपने बड़े-बड़े डैनों को फैलाकर यह भद्दा पक्षी आकाश मे ऊँचे मँड़राता है तो दूर से वह भी सुन्दर ही लगता है! इन हद दर्जे के कुरूप तथा सुन्दर पक्षियो की चरम श्रेणियो के बीच हमें अपने देश मे एक और वर्ग के पक्षी मिलते है जो भौड़ेपन मे अन्य सब चिड़ियो को मात करते है। सुप्रसिद्ध हार्नबिल या धनेश और एड्जूटण्ट स्टार्क या लग-लग, जिनका परिचय पिछले पृष्ठों मे आपको मिल चुका है, इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो किसी भी अनोखी नुमाइश में भौड़ेपन के लिए इनाम पा सकते हैं। आइए, इन सभी वर्गो के दो-चार नमूनों को लेकर विशिष्ट परिचय दे।

आँखों के आगे नाच सी जाती है। इनमे से कुछ तो देखने मे इतने अधिक भड़कीले और चमक-दमकवाले होते है कि हम चाहे, या न चाहे किन्तु हमारा ध्यान बरबस ही उनकी ओर खिच जाता है, तो दूसरे ऐसे झिलमिल रंग-वाले होते है कि उनके सौन्दर्य का ज्ञान हमे तभी होता है जब हम हाथों मे लेकर सूक्ष्म रूप से उनका निरीक्षण करते है।

यह तो हुआ भारतीय पक्षी-जगत् के चित्र का एक पहलू—उसके दूसरे छोर पर हम देखते है पखेरुओ मे घिनौनेपन की पराकाष्ठा की उस साकार मूर्ति गिद्ध को, जो संसार का सब से कुरूप पक्षी कहा जा सकता है तथा जो प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम करता है। उसकी आकृति कितनी भद्दी और लड़खड़ाकर चलने का उसका ढंग कैसा घृणास्पद-सा होता है! फिर भी

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ अत्यंत सुन्दर पक्षी

अन्य उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो की भाँति भारत के भी अनेक पखेरू असाधारण रूप से भड़कीले और चमक-दमकवाले होते है। इनमे से कुछ सुन्दर चिड़ियो का परिचय आप इस लेख के साथ दिए गए विविध चित्रों मे पा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस देश की और भी न जाने कितनी सुन्दर चिड़ियों के नाम कोई भी पक्षियों का प्रेमी आसानी से गिना सकता है। इनमें से अनेक नित्यप्रति अपनी रंग-विरंगी वेशभूषा और सुरीली बोलियों से हमारे देहात के वातावरण की शोभा बढाते हुए खेतों पर काम करनेवाले सीधे-सादे ग्रामीण लोगों का श्रम हरते और उनके जीवन मे मानो मिठास घोलते रहते है। मोर ही को लीजिए। कौन भारतवासी ऐसा होगा,

जिनके लिए यह एक अपरिचित पक्षी हो ! कम से कम उसके लंबे सुन्दर पंखों को तो सभी ने देखा होगा, जो छोटे-छोटे पंखों, टोकरियों आदि को बनाने और सजावट के बीसियों अन्य कामों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। किसका मन उमड़-घुमड़कर आकाश में चढ़े हुए वर्षाकाल के बादलों के वितान के नीचे वन में थिरकते हुए मोर के मादक नृत्य का दृश्य देखकर मुग्ध न हुआ होगा ? निश्चय ही उस दृश्य की गणना संसार के गिने-चुने मनोरम दृश्यों में की जा सकती है। कैसा जादूभरा वह दृश्य होता है, कैसा उल्लासजनक और मनोहर ! जब मोर अपने चटकीले रंगवाले परों को एक विशाल पंखे की नाईं फैलाकर नाचता है तो उसकी दुम के लगभग पांच फीट लंबे ये अनोखे मोरछल अपने इन्द्रधनुष जैसे विविध रंगों और अनुपम चित्रकारी के कारण न केवल हमारी आंखों में चकाचौंध ही पैदा करते हैं, प्रत्युत् जब उन्हें हवा में ऊपर उठाकर यह अद्भुत् पक्षी अपनी प्रेयसी के सम्मुख इठलाता हुआ उन्हें झिलमिलाकर कँपाता है तो एक ऐसी छटा छा जाती है जिसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असंभव है। मोर के ये पंख जब फैले नहीं रहते तब भी बड़े ही कमनीय और मनोहर प्रतीत होते हैं। अपनी इस अद्वितीय दुम को पाकर गर्व करता हुआ जब वह चलता है तो उसके पर जमीन पर मानो झाड़ू सी लगाते जाते हैं। आपको जानकर अचरज होगा कि उसकी यह दुम हर साल गिर जाती है और पुनः उसके स्थान में नए पंख निकल आते हैं। उसके इस सौन्दर्य के अलावा मोर में शायद ही कोई और प्रशंसाजनक बात पायी जाती हो। स्वभाव से यह पक्षी बड़ा ही कुटिल होता है और प्रायः छेड़ने पर चोंच मार दिया करता है। उसकी बोली कितनी कर्कश होती है यह तो सभी जानते ही हैं, साथ ही विशेष रूप से सांप खाने की उसकी गंदी लत भी मशहूर ही है—किसी ने कहा ही है कि 'अहि कराल केकी भर्क, मधुर अलापनि हारि।' संभवतः उसकी प्रेयसी (मोरनी) कभी-कभी सोचती होगी कि इसका स्वभाव इतना चिड़चिड़ा न होता तो अच्छा था, चाहे इसके सौन्दर्य में कमी ही हो जाती। किन्तु जब मोर अपने अद्भुत परों को फैलाकर उसके सामने नृत्य करने लगता है तो वह इसके चिड़चिड़े स्वभाव की बात भूलकर इसके अनुपम सौन्दर्य से विस्मय विमुग्ध हो जाती है।

मोरनी न तो मोर की तरह विविध रंगों से सुशोभित होती है और न उसके पास वैसे शानदार लम्बे पर ही होते हैं। उसका बाह्य रूप-रंग संजीदा होता है और स्वाभाविक ऐसा होना उचित भी है, क्योंकि उसी को अण्डों की देख-रेख करनी होती है। यदि उसका रंग भी उतना ही चटकीला होता तो अण्डों की खबरदारी करना उसके लिए निरापद न हो सकता ! 'उसकी आवाज भी मधुर तथा मद होती है, जो प्रकृति से स्त्री-जाति की एक विशेषता है'—कम-से-कम उसके बारे में यह बात मोर के मुकाबले से तो कही जा ही सकती है, जो प्रतिदिन प्रातः और संध्या को कर्णभेदी आवाज से चीखा करता है। अपने बच्चों के प्रति मोरनी के हृदय में प्रगाढ़ ममता होती है—इससे अधिक ममत्वपूर्ण माता का उदाहरण अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। उसके नन्हे बच्चे जब पहलेपहल चलने योग्य होते हैं तो टेनिस की गेंद के आकार के होते हैं और उनकी लम्बी गर्दन के छोर पर पतली-सी ऊँची उठी हुई कलंगी

सारस—जो कद में आदमी के करीब पहुँचता है।

सुन्दरता की दृष्टि से भारतीय पक्षियों का शिरोमणि——मोर। दाहिनी ओर इस पक्षी की मादा है, जिसको न तो इतने सुन्दर पंख ही प्रकृति ने दिए हैं न नृत्य करने की प्रेरणा ही।

उड़ान का जादू देखिए कि जब अपने बड़े-बड़े डैनो को फैलाकर यह भद्दा पक्षी आकाश मे ऊँचे मँड़राता है तो दूर से वह भी सुन्दर ही लगता है! इन हद दर्जे के कुरूप तथा सुन्दर पक्षियो की चरम श्रेणियों के बीच हमे अपने देश मे एक और वर्ग के पक्षी मिलते है जो भौंड़ेपन में अन्य सब चिड़ियो को मात करते है। सुप्रसिद्ध हार्नबिल या धनेश और एड्जूटण्ट स्टार्क या लग-लग, जिनका परिचय पिछले पृष्ठों मे आपको मिल चुका है, इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो किसी भी अनोखी नुमाइश मे भौंड़ेपन के लिए इनाम पा सकते है। आइए, इन सभी वर्गों के दो-चार नमूनों को लेकर विशिष्ट परिचय दे।

आँखो के आगे नाच सी जाती है। इनमे से कुछ तो देखने मे इतने अधिक भड़कीले और चमक-दमकवाले होते है कि हम चाहे, या न चाहे किन्तु हमारा ध्यान बरबस ही उनकी ओर खिच जाता है, तो दूसरे ऐसे झिलमिल रग-वाले होते हैं कि उनके सौन्दर्य का ज्ञान हमे तभी होता है जब हम हाथों मे लेकर सूक्ष्म रूप से उनका निरीक्षण करते है।

यह तो हुआ भारतीय पक्षी-जगत् के चित्र का एक पहलू——उसके दूसरे छोर पर हम देखते है पखेरुओ मे घिनौनेपन की पराकाष्ठा की उस साकार मूर्ति गिद्ध को, जो संसार का सब से कुरूप पक्षी कहा जा सकता है तथा जो प्रकृति की दुनिया मे मेहतर का काम करता है। उसकी आकृति कितनी भद्दी और लड़खड़ाकर चलने का उसका ढंग कैसा घृणास्पद-सा होता है! फिर भी

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ अत्यंत सुन्दर पक्षी

अन्य उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों की भाँति भारत के भी अनेक पखेरू असाधारण रूप से भड़कीले और चमक-दमकवाले होते हैं। इनमे से कुछ सुन्दर चिड़ियों का परिचय आप इस लेख के साथ दिए गए विविध चित्रों मे पा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस देश की और भी न जाने कितनी सुन्दर चिड़ियों के नाम कोई भी पक्षियो का प्रेमी आसानी से गिना सकता है। इनमें से अनेक नित्यप्रति अपनी रंग-बिरंगी वेशभूषा और सुरीली बोलियो से हमारे देहात के वातावरण की शोभा बढ़ाते हुए खेतो पर काम करनेवाले सीधे-सादे ग्रामीण लोगों का श्रम हरते और उनके जीवन मे मानो मिठास घोलते रहते हैं। मोर ही को लीजिए। कौन भारतवासी ऐसा होगा,

जिसके लिए यह एक अपरिचित पक्षी हो! कम से कम उसके लंबे सुन्दर पंखों को तो सभी ने देखा होगा, जो छोटे-छोटे पंखों, टोकरियों आदि को बनाने और सजावट के बीसियों अन्य कामों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। किसका मन उमड़-घुमड़कर आकाश में चढ़े हुए वर्षाकाल के बादलों के वितान के नीचे वन में थिरकते हुए मोर के मादक नृत्य का दृश्य देखकर मुग्ध न हुआ होगा? निश्चय ही उस दृश्य की गणना संसार के गिने-चुने मनोरम दृश्यों में की जा सकती है। कैसा जादूभरा वह दृश्य होता है, कैसा उल्लासजनक और मनोहर! जब मोर अपने चटकीले रंगवाले परों को एक विशाल पंखे की नाईं फैलाकर नाचता है तो उसकी दुम के लगभग पांच फीट लंबे वे अनोखे मोरछल अपने इन्द्रधनुष जैसे विविध रंगों और अनुपम चित्रकारी के कारण न केवल हमारी आंखों में चकाचौंध ही पैदा करते हैं, प्रत्युत् जब उन्हें हवा में ऊपर उठाकर वह अद्भुत पक्षी अपनी प्रेयसी के सम्मुख इठलाता हुआ उन्हें झिलमिलाकर कँपाता है तो एक ऐसी छटा छा जाती है जिसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। मोर के ये पंख जब फैले नहीं रहते तब भी बड़े ही कमनीय और मनोहर प्रतीत होते हैं। अपनी इस अद्वितीय दुम को पाकर गर्व करता हुआ जब वह चलता है तो उसके पर जमीन पर मानो झाड़ू सी लगाते जाते हैं। आपको जानकर अचरज होगा कि उसकी यह दुम हर साल गिर जाती है और पुनः उसके स्थान में नए पंख निकल आते हैं। उसके इस सौन्दर्य के अलावा मोर में शायद ही कोई और प्रशंसाजनक बात पायी जाती हो। स्वभाव से यह पक्षी बड़ा ही कुटिल होता है और प्रायः छोड़ने पर चोंच मार दिया करता है। उसकी बोली कितनी कर्कश होती है यह तो सभी जानते ही हैं, साथ ही विशेष रूप से सांप खाने की उसकी गंदी लत भी मशहूर ही है—किसी ने कहा ही है कि 'अहि कराल केकी भखै, मधुर अलापनि हारि।' संभवतः उसकी प्रेयसी (मोरनी) कभी-कभी सोचती होगी कि इसका स्वभाव इतना चिड़चिड़ा न होता तो अच्छा था, चाहे इसके सौन्दर्य में कमी ही हो जाती। किन्तु जब मोर अपने अद्भुत परों को फैलाकर उसके सामने नृत्य करने लगता है तो वह इसके चिड़चिड़े स्वभाव की बात भूलकर उसके अनुपम सौन्दर्य में विस्मय विमुग्ध हो जाती है।

मोरनी न तो मोर की तरह विविध रंगों से सुशोभित होती है और न उसके पास वैसे शानदार लम्बे पर ही होते हैं। उसका वाह्य रूप-रंग संजीदा होता है और कदाचित् ऐसा होना उचित भी है, क्योंकि उसी को अण्डों की देख-रेख करनी होती है। यदि उसका रंग भी उतना ही चट-कीला होता तो अण्डों की खबरदारी करना उसके लिए निरापद न हो सकता! 'उसकी आवाज भी मधुर तथा मंद होती है, जो प्रकृति में स्त्री-जाति की एक विशेषता है'—कम-से-कम उसके बारे में यह बात मोर के मुकाबले में तो कही जा ही सकती है, जो प्रतिदिन प्रात और संध्या को कर्णभेदी आवाज से चीत्कार करता है। अपने बच्चों के प्रति मोरनी के हृदय में प्रगाढ़ ममता होती है—उससे अधिक ममत्वपूर्ण माता का उदाहरण अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। उसके नन्हे बच्चे जब पहलेपहल चलने योग्य होते हैं तो टेनिस की गेंद के आकार के होते हैं और उनकी लम्बी गर्दन के छोर पर पतली-सी ऊँची उठी हुई कलंगी

सारस—जो कद में आदमी के करीब पहुँचता है।

पक्षियों की दुनिया में कुरूपता और घिनौनेपन की पराकाष्ठा—गिद्ध
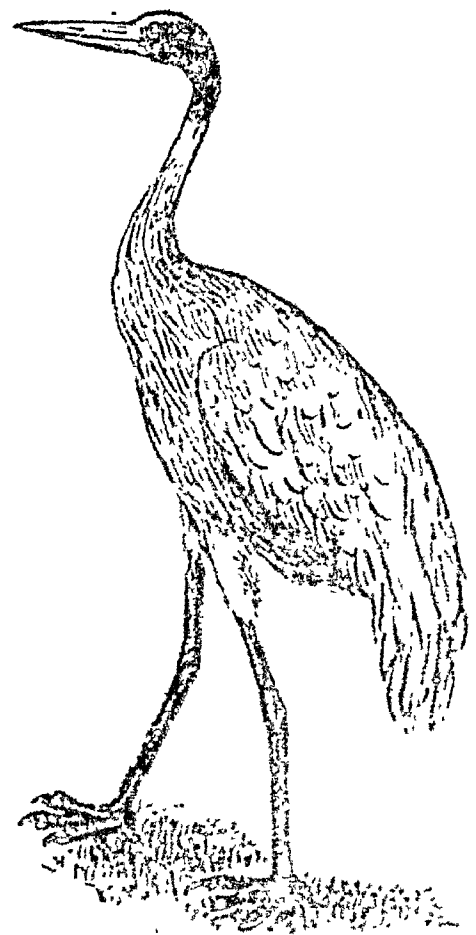
फ्लेमिंगो या हंसावर

भारत के अन्य बड़े भड़कीले पक्षियों में फ्लेमिगो (Flamingo) और सारस उल्लेखनीय हैं। फ्लेमिगो अपने चमकीले गुलाबी तथा श्वेत रंग के परों, लम्बी लाल रंग की टाँगों, हद दर्जे की मुलायम और लचकदार गर्दन, तथा दन्दानेदार किनारेवाली मुड़ी हुई चोंच के लिए विख्यात है। एक लेखक ने इसकी दन्दानेदार चोच की तुलना आलू कतरनेवाले आलूकस से की है। खाते समय यह अपने सिर को मोड़कर उलटा कर लेता है ताकि अपनी चोच का ऊपरी भाग भूमि को छूता रहता है—इस प्रकार दलदल के कीचड़ सहित यह नन्हें-नन्हे जीव-जन्तुओं को आसानी से चोंच मे भर लेता है। चोच के दवाने पर कीचड आदि तो उसके दन्दानेदार हाशियों में से छनकर निकल जाते हैं और इस प्रकार साफ किये हुए घोंघे आदि जीव मुँह में रह जाते हैं, जिन्हें वह निगल जाता है। हंसावर अक्सर झीलों के किनारे देखे जा सकते हैं, किन्तु ये होते हैं वड़े सतर्क। जिस समय इनका समूह कीचड़ में शिकार ढूँढ़ने में व्यस्त रहता है, उनमे से एक पहरेदार का काम करता है और खतरे की आहट पाते ही विपद की सूचना देने के लिए जोर से आवाज करता है, जिससे तुरन्त ही सारा झुण्ड पंख फैलाकर उड़ जाता है।
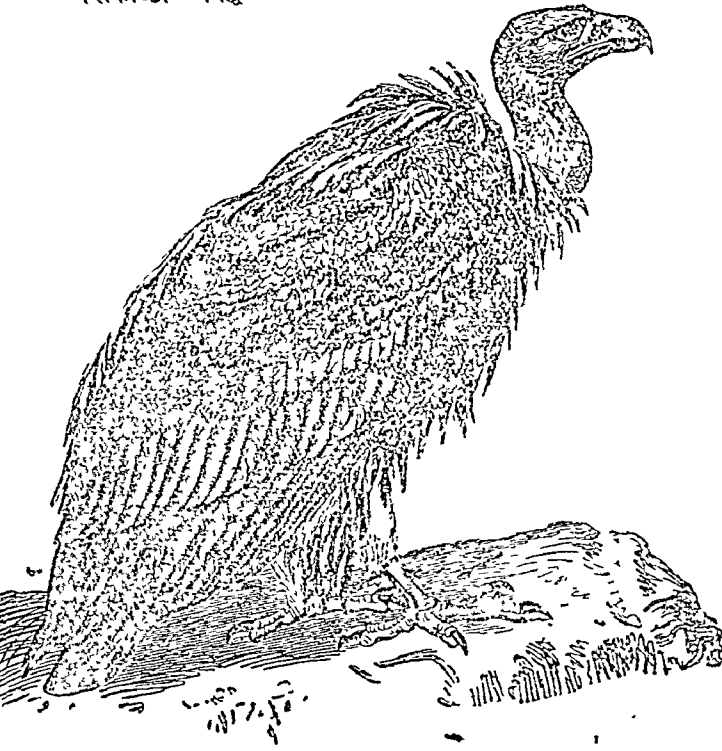
इन पक्षियों को एक टाँग पर खड़ा होना वड़ा प्रिय है। उस समय ये अपनी लम्बी गर्दन को उलटे मोड़कर परों के नरम लवादे से ढकी हुई पीठ में चोंच गडा लेते हैं और तव वड़ी वेफिक्री व आराम के साथ सुस्ताते रहते हैं। इनकी अत्यधिक लम्बी टाँगे केवल छिछले पानी में चलने के ही काम आती हैं, दौडने के लिए नहीं। फ्लेमिगो वडे अनोखे पक्षी होते हैं। ये अण्डे के रखने के लिए गीली मिट्टी के विचित्र घोसले वनाते हैं। कभी-कभी ये ढूहनुमा घोंसले दो-दो हजार के झुण्ड में एक ही जगह वनाए जाते हैं। जिन दिनों ये पक्षी अपने मिट्टी के घोंसलों की नगरी में वसते हैं, उस समय वहाँ का दृश्य अतीव मनोरम होता है—वहुत कम भाग्यवान् व्यक्तियों को यह सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है। आम जनता के लिए इस दृश्य को सुलभ करने के लिए वंवई के प्रिन्स-आफ-वेल्स म्यूजियम

लगी होती है। किन्तु ये वढते हैं वड़ी तेज रफ्तार से, ऐसी तेजी से कि हम मानों इन्हें वढ़ते हुए अपनी आँखो से देख सकते हैं! कुछ ही दिनों मे इनकी अजीव-सी भौंड़ी शक्ल वदल जाती है और माँ की तरह उनका भी शरीर सुडौल हो जाता है। विविध प्रकार के 'फीजेन्ट' (Pheasants) भी मोर की जाति के ही पक्षी हैं, और इनमे से अनेक तो विविध प्रकार के सुन्दर रंगों से विभूषित रहते हैं (जैसे Monaul Pheasant और Golden Pheasant)। लाल और भूरी वन-मुर्गियाँ भी चटकीले रंगोंवाली होती हैं। मुर्गे की कुछ किस्में अपनी लम्बी दुम के लिए प्रसिद्ध हैं, जो कभी-कभी ६ फीट से भी अधिक लम्बी होती है। सच तो यह है कि दक्षिण अमेरिका और पश्चिमी द्वीप-समूह के नन्हें सुरीली आवाजवाले भनभनानेवाले पक्षियों और ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा पूर्वी द्वीप-समूह के आश्चर्योत्पादक वड़े आकार के 'स्वर्ग के पक्षियों' (Birds of Paradise) के वाद सुन्दरता में मोर की जाति के 'फीजेन्ट' वर्ग के पक्षियो तथा उनके भाई-वन्धुओं का ही नम्वर आता है।

में पक्षियों के विभाग में बाम्बे नेचरल हिस्ट्री सोसाइटी ने इस प्रकार के अनेक घिरौंदों का एक नकली नमूना बनाया है जिसकी तस्वीर इसी लेख के साथ (पृ० १४४२ पर) दी गई है। हमें आशा करता है कि हमारे पाठकगण बम्बई जाने पर उस म्यूज़ियम में पक्षियों के सौन्दर्य के अन्य पहलुओं के साथ इस अनुपम दृश्य को देखना न भूलेंगे।

सारस

यद्यपि यह पक्षी अपने सौन्दर्य के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध नहीं, किन्तु अपनी जाति का यह सबसे ऊँचा पक्षी है—यह लगभग आदमी के कद को पहुँचता है। देहातों में इधर-उधर विचरता हुआ यह पक्षी हमें अकसर देखने को मिलता रहता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अकेला शायद ही दिखाई देता हो, हमेशा इसका जोड़ा ही दिखाई देता है और प्रायः मैदानों में इसके संग इसके एकाध बच्चे भी घूमते रहते हैं। सारस के नर-मादा अपने दाम्पत्य प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। सम्राट् जहाँगीर ने इन पक्षियों का विशेष अध्ययन किया था और वह इनके 'दाम्पत्य प्रेम से विशेष रूप से प्रभावित हुआ था।' उसने दो उदाहरण ऐसी मादा सारस के दिए हैं जो अपने जोड़े के मार डाले जाने पर स्वयं भी वियोग में घुल-घुलकर मर गई थी। साधारणतः ऐसा विचार किया जाता है कि जब इनके जोड़े में से एक की मृत्यु हो जाती है तो दूसरा भी खाना-पीना छोड़ देता है और फलतः अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह पाता। विवाह के सूत्र में बँधे हुए दम्पति के लिए सारस एक अनुकरणीय आदर्श समझा जाता है। इसी कारण हिन्दुओं में यह पक्षी पवित्र माना जाता है और इसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचने दी जाती। सारस अपनी प्रणय-लीला के लिए भी प्रसिद्ध है, जिसकी ऋतु वर्षाकाल है। यही उनके गर्भाधान का भी समय होता है। इसकी प्रणयक्रिया विचित्र और दर्शनीय होती है। उस समय नर-मादा दोनों उल्लास से भरे हुए एक-दूसरे के आस-पास उछलते हुए चक्कर लगाते हैं और अपने चौड़े पंख फैलाकर तथा गर्दन नीची करके हवा में ऊँची कुदानें भरते हैं। बीच-बीच में अनुस्वारयुक्त स्वर में वे बड़े जोर से तुरही की-सी आवाज भी लगाते रहते हैं। उनके स्वर-रज्जु बड़े शक्तिशाली होते हैं।

हुदहुद और नीलकंठ

हमारे यहाँ के सभी ग्रामीण तथा अधिकांश नगर-निवासी इन दोनों पक्षियों और उनके चटकीले मनोहर रंग से इतने अधिक परिचित होते हैं कि इनके बारे में विस्तारपूर्वक यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि

योरप का सबसे बड़ा शिकारी पक्षी—सुनहला उकाब—जिसे ह... बाघ की उपमा दे सकते हैं। यह बहुत ऊँचाई पर घोंसला बन... के यह भेड़ों तक को उस ऊँचाई तक उड़ा ले जाता है ... हैं,

पक्षियों की दुनिया का मशहूर निशाचर—उल्लू

प्रचलित है जो नीचे लिखे अनुसार है :—

'"अपना पंख फैलाये हुए प्रथम आगन्तुक नीलकंठ एक ऊँचे वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ इतना सुन्दर दिखलाई दे रहा था कि उधर से गुजरते हुए एक यात्री ने उसे मार डाला और देवी दुर्गा के चरणों पर उसकी पूजा चढ़ा दी। देवी बहुत ही क्रुद्ध हुई। भला उन्हे प्रसन्न करने के लिए इतने सुन्दर जीव की हत्या क्यों की गई ? अतः तुरन्त ही उस मृत पक्षी के शरीर में प्राणों का सञ्चार कर उन्होंने उसे अपनी शरण में लेते हुए आशीर्वाद दिया कि 'जीवन के उल्लास से पूर्ण होकर तुम मेरे गुणगान करना।' तभी से नीलकंठ दुर्गा का प्रिय पक्षी होने के नाते पूजा जाने लगा। और आज तक सहवासकाल में जब वह प्रणयलीला में संलग्न होकर तरह-तरह की केलि-क्रीड़ा करता है तो निरंतर अपनी इष्टदेवी के नाम का उच्चारण करता रहता है। उसकी अतिशय चहचहाट का यही रहस्य है।"

मछमरनी और कौड़िल्ला

कौड़िल्ला (Kingfisher) और मछमरनी (Paradise flycatcher) की अनेक जातियाँ होती है। चित्र में मछमरनी के नर और मादा दो पक्षी दिखलाए गए है। नर के पर चमकदार रेशम सरीखे श्वेत रंग के, तुषार की भाँति निर्मल है। उसकी दुम के बीचवाले दो पंख एक फीट की लम्बाई तक उल्टे मुड़े हुए रेशम की चँवर की तरह लटके हुए है। मादा मछमरनी का परिधान इस खूबी से वञ्चित होता है—इसका समूचा शरीर गहरे कत्थई रंग के पर से ढका होता है। हमारे बगीचे और खेतों की कीड़े-पतिंगो से रक्षा करने में ये बहुत उपयोगी होते है और इस प्रकार मानव जाति का ये बड़ा उपकार करते है।

कौड़िल्ला या किलकिला भी हमारे देश मे नदी-तालाब और झीलों के किनारे आम तौर से पाया जाता है। इसकी भी अनेक उपजातियाँ होती है। चमकीले रंगवाला छोटा नीला किलकिला या मछरंगा हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करता है जब वह तीखे स्वर से 'चेकी' 'चेकी' की आवाज लगाता है। हम आश्चर्यचकित हो जाते है जब नीले मछरंगे को हम चुप्पी साधे हुए, नन्हीं मछलियो की टोह में एकटक ध्यान लगाए पानी से कुछ ही ऊपर एक ही स्थान मे पर फैलाये, टकटकी बाँधे अपने आपको साधते हुए देखते है; और तब अचानक अपनी ध्याना-

इन दोनों पक्षियों के रूप-रंग मे अन्तर होता है, तथापि वास्तव में ये एक दूसरे के भाई-बन्धु ही है और एक ही श्रेणी मे रक्खे जा सकते है। हुदहुद (Hoopoe) की लम्बी चोंच पेड़ की छालों के अन्दर से कीड़े-मकोड़ों को ढूँढ निकालने के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है। यदि आपने इसे जीवित हालत मे फुदकते हुए नही देखा है तो चित्र मे इसका निरीक्षण कीजिए। देखिए, इसकी कलँगी कितनी शानदार है! बावजूद अपनी लम्बी और भयानक चोंच के यह एक शान्त प्रकृति की चिड़िया है।

नीलकंठ (Roller or Blue Jay) भी कीड़ों को नष्ट करने के दृष्टिकोण से एक उपयोगी चिड़िया है— 'नीलकंठ कीरा भखै, करै बधिक को काम।' यह पक्षी अच्छे सगुन का परिचायक है, किन्तु इसकी प्रकृति दुष्ट होती है! इसे पवित्र मानते है और भारत के कुछ भागो इसे दुर्गा का आश्रित पक्षी मानकर उसकी पूजा भी करते है। बंगाल में इस पक्षी के सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती

वस्थित मुद्रा छोड़कर वह पानी में फुर्ती से डुबकी लगाकर चोंच मे शिकार दावे हुए निकलता है या दांव चूक जाने पर यूँ ही खाली वापस आता है। इसकी फुर्ती को देखकर गोताखोर वायुयान भी लज्जित रह जायँगे। साधारण किलकिला प्राय: पुरानी दुनिया मे सब कही पाया जाता है। मध्यम आकार का सफेद सीनेवाला किलकिला एशिया माइनर से लेकर भारत और दक्षिणी चीन तक के प्रदेशों मे पाया जाता है। इन पक्षियों के सम्बन्ध में यह एक बड़ी रोचक वात है कि ये मछलियों को इनके सिरे के बल निगलते है ताकि मछली के चोइँटे उनके गले में लगे नहीं, क्योकि इन चोइँटो का सिरा मछली की दुम की ओर निकला होता है। किन्तु जब किलकिला मछली को अपने बच्चो को खिलाने के लिए ले जाता है तो उस समय उसे वह दुम के बल पकडता है ताकि बच्चे जव उसे निगलें तो उसके चोंइँटे उलटे पड़कर उनके गले मे न अटके। क्या इससे इन पक्षियो की बुद्धिमानी नहीं प्रकट होती?

पीलक और पतेने

सुनहली पीलक वड़ी सुन्दर चिड़ियाँ होती है। ये अपने चमकीले पीले और काले रंग के परो की छटा से हमारे वाग-वगीचे और हरे खेतो की शोभा वढाती है। यही पतेनों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, जो चटकीले आसमानी, हरे तथा लाल रंग की अपनी पंखमाला से हमारे देहात की शोभा में वृद्धि करते है। कीड़े-मकोड़ों को नष्ट करने के लिए ये भी विख्यात है। इनकी विचित्र कुहुक, चटकीले रंग तथा जोड़े से अलग होने पर अजीव वेचैनी और उदासी इनकी खास विशेषताएँ हैं। जब जोड़े साथ रहते है तो ये वडे खुशदिल दीखते है। सुनहली पीलक 'आम्र पक्षी' के नाम से भी जानी जाती है, और इनकी मधुर आवाज से इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। नर पक्षी की आँखें चमकीली सुर्ख और मादा की भूरी होती हैं।

कठफोड़े और शकरखोर

अन्त में इस देश के सुन्दर पक्षियों की तालिका के अन्तिम छोर पर कठफोड़े (Woodpeckers) और शकरखोर (Sunbirds) को हम पाते हैं। आपने इन सुन्दर पक्षियो को अनेक बार देखा होगा, और आप यह भी जानते होंगे कि सुनहले चोंच वाली यह चिड़िया, जिसकी पीठ पर रंग-विरंगे धब्बे रहते है, कठफोड़ा क्यो कहलाती है। अपनी मजबूत चोंच से वृक्षों की कड़ी छाल पर जोर की ठोकरें मारकर यह उनके अन्दर छिपे हुए कीड़े-मकोड़ो और उनके भुनगों को निकाल लेती है, इसीलिए इसे यह नाम मिला है। सौन्दर्य में कठफोड़ो को भी मात करनेवाले गहरे लाल, पीले, जामुनियाँ और चटकीले रंग की चित्तियोंवाले शकरखोर नामक पक्षी, जो नगीनो जैसे चमचमाते है अक्सर हमारे वगीचो के पौधो पर बैठे हुए फूलों तथा उन पर आनेवाले कीडे पतिंगो को खाते दिखाई देते हैं

कुरूप पक्षी

सुन्दरतम पक्षियों की झाँकी देखने के वाद, आइए, अव हम कुरुप पक्षियो का अवलोकन करे। यो तो संसार का सव से कुरुप पक्षी गलीज माँस खानेवाला गिद्ध है, किन्तु गिद्ध के साथ-साथ हम चील, उल्लू और कौए का भी उल्लेख करेंगे जो इसी कोटि मे रक्खे जा सकते है।

गिद्ध और चील

प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम करनेवाला गिद्ध अपनी मनहूस पीली चोच, अनावृत्त चेहरे और टाँगों तथा गन्दे मटमैले सफेद डैनो (जिनके केवल छोर काले
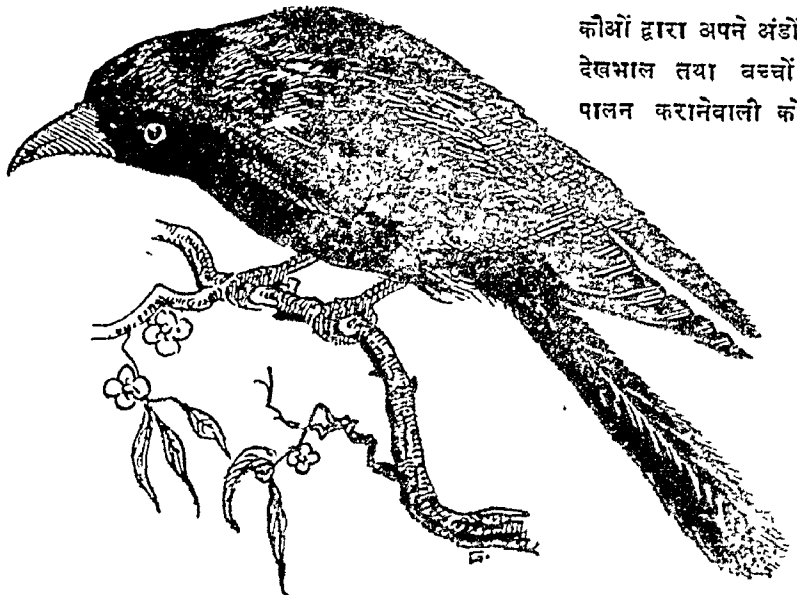
कौओं द्वारा अपने अंडों की देखभाल तथा वच्चों का पालन करानेवाली कोयल

होते हैं) की सहायता से अपनी जाति के अन्य पक्षियों में आसानी से पहचाना जा सकता है। आदमियों से यह बहुत कम डरता है। हमारे देश में सब कोई इससे परिचित है—यह हमारे यहाँ मेहतर का काम बखूबी करता है। दूर से ही अपनी पैनी दृष्टि और कदाचित् तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से यह मुर्दे का पता लगा लेता है। साहित्य में यह अपनी पैनी दृष्टि के लिए प्रसिद्ध है—**"मै देखौं तुम नाहि गिद्धहि दृष्टि अपार।"** बस्ती के जानवरो के मृत शरीर तथा गलीज मांस को खाकर यह गन्दगी दूर करता है। इसी कारण प्रत्येक म्यूनिसिपैलिटी में इसे मारना कानून की दृष्टि से वर्जित है। इस आज्ञा का उल्लघन करनेवाले को जुर्माना देना पड़ता है।

गिद्ध की भी अनेक उपजातियाँ है। राजगिद्ध को हम उसके विस्तृत रूप से फैले हुए विशाल डैने, लाल सिर, गर्दन तथा टाँगों और जंघों के सफेद धब्बों से पहचान सकते है। सफेद पीठवाला गिद्ध सबसे बड़े आकार के गिद्धों में से है। बम्बई में पारसियों के कब्रिस्तान मे (जहाँ उनके शव रखे जाते है) ये बहुतेरे बैठे पाये जाते है।

कुरूप पक्षियों मे चील की भी गिनती होती है। यह समस्त भारत में पायी जाती है और भूरे रंग की बहुत बड़े आकार की चिड़िया होती है, जिसकी दुम फटी सी रहती है। यह बड़ी ढीठ चिड़िया होती है और प्रायः बाजार में बेखबर व्यक्तियों के हाथ से खाने की चीजे और टोकरियाँ झपट्टा मारकर ले जाती है। इसकी झपट प्रसिद्ध है।

चील और गिद्ध जबर्दस्त उड़ाके होते है और प्रायः आकाश में बादलों के बीच प्रातः और संध्या को ऊँचे मँडराते हुए देखे जा सकते है। इनके घोंसलों में कोई खास विशेषता नही होती। ये ऊँचे वृक्षों पर सूखी टहनियों को रचकर बनाये गये होते हैं।

उकाब और बाज

उकाब (Eagle) और बाज (Hawk) गिद्ध जैसे कुरूप तो नही, किन्तु स्वभाव मे उनसे कही अधिक हिंसक होते है। ये अन्य चिड़ियों का शिकार करने के लिए प्रसिद्ध है। इनमे से कुछ खेतों के चूहों आदि को नष्ट करने के लिए विशेष उपयोगी होते हैं, जिसका जिक्र हम इसी स्तम्भ के पिछले एक प्रकरण में कर चुके है। लम्बी टाँगोंवाला बजार्ड (Buzzrd) या टीसा केवल जाड़ों की ऋतु में भारत में आता है। लोदे की तरह भद्दी शक्ल के इस पक्षी का रंग हलके पीले भूरे रंग से लेकर एकदम काला तक हो सकता है। इसकी दुम विशेष रूप से गोल गावदुम होती है और नीचे से देखने पर इसके डैने पारदर्शक दीखते है। कलँगीदार बजार्ड के चेहरे पर मछली के चोइँटे की तरह हलके पर होते है तथा इसकी टाँगे भी आधी दूर तक परो से ढकी होती है। नारंगी रंग के उकाब (Tawny Eagle) का सिर चिपटा और डरावना होता है।

इनके अतिरिक्त शिकार की टोह में झपट्टा मारने के लिए आसमान में उड़नेवाली चिड़ियो मे बाज की जाति के उन विविध पक्षियों की भी गणना है, जिनमें अबाबील का शिकार करनेवाले 'शिकरा' से हम अधिक परिचित है। सिखाने पर यह आसानी के साथ अपने स्वामी के लिए तीतर और बटेर तथा छोटी जाति के अन्य पक्षियो को पकड़ ले आता है। एक पालतू शिकरे ने तो वास्तव में अपने पिंजड़े से निकलकर एक बार बन्दूक से दगी गोली तक को पकड़ लिया था! यह भूरे रंग का पक्षी लगभग १२ इंच लम्बा होता है। इसकी दुम पर चटकीली काली पट्टियाँ होती हैं, तथा इसकी पिलौंही आँखें भयोत्पादक होती है।

आकार में शिकरा से कुछ बड़े 'हेरियर' (Harrier) बाज होते है। इनमें साधाण हेरियर पीले रंग का होता है। सुबुक-बदन, भूरे-सफेद रंग का यह पक्षी लगभग १८ इंच लम्बा होता है। इसके डैनों की शक्ल बहुत कुछ अबाबील के डैनो की तरह होती है और इसकी दुम लम्बी तथा पतली होती है। अपने उड़ने के विचित्र तरीके से, जो उतना तेज नहीं होता, यह पहचाना जा सकता है जो पहले तो कुछ दूर दो-चार गज तक वह अपने पंख डुलाता है, फिर उन्हें निश्चल तानकर बेमन-सा मँडराता रहता है और फिर उन्हें दो-चार बार फड़फड़ा देता है। यह कबूतरों और फाख्ता का जानी दुश्मन है।

उकाब, जो भेड़ों तक को उड़ा ले जाते हैं!

भारतवर्ष से बाहर कुछ बड़े आकार के उकाबों की जातियाँ पाई जाती है, जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'सुनहला उकाब' (Golden Eagle) है, जिसका एक चित्र पृष्ठ १४४७ पर इस लेख के साथ दिया गया है। देखने में वह ऐसा मालूम देता है मानों कोई बड़ी-सी चील हो। यह योरप और इंगलैण्ड का सबसे बड़ा शिकारी पक्षी है और उम्र के लिहाज से सबसे अधिक आयु पानेवाले पक्षियो में से एक है। चित्र में उसकी तीक्ष्णभेदी आँखों और बड़ी-सी नुकीली चोंच पर ध्यान दीजिए। देखते ही

आपको उसकी शक्ति का कुछ अंदाज हो जाता है। यह कितना ताकतवर पक्षी होता है, इसकी एक झलक आप एक दर्शक द्वारा दिए गए निम्न आँखों-देखे विवरण में पा सकते हैं—"ऊँचे आसमान में एक उकाब मँडरा रहा था—वह लगातार चक्कर लगाते हुए निरंतर ऊँचे उठता चला जा रहा था। तब एकाएक उसकी दृष्टि नीचे जमीन पर खेतों में विचरते हुए एक मेमने पर पड़ी—तुरन्त ही सर्राटे से नीचे उतरना उसने शुरू किया और झपटकर अपने अँकुए जैसे पंजों में उस बेचारे असहाय जानवर को पकड़ बात की बात में ऊपर उड़ा ले गया। वहाँ पर्वत की ऊँची चोटी पर अपने घोंसले में अंडों पर बैठी उसकी साथिन—मादा उकाब—मानो उसकी राह देख रही थी। दोनों ने तुरंत ही शिकार का सफाया कर दिया!" यह एक उल्लेखनीय बात है कि सभी उकाबों की यह आदत होती है कि जब वे अपने शिकार को मारते हैं तो उसे पंख फैलाकर छिपाये रहते हैं। सुनहला उकाब इतना भयंकर और निर्भीक शिकारी होता है कि एक बार एक उकाब के घोंसले में करीब ३०० बत्तखों और ५० खरगोशों की हड्डियों की ठठरियों के अलावा कई भेड़ों के भी अस्थिपंजर मिले थे! यह पक्षी बेहद दूरी से अपने शिकार की टोह लगा लेता है और इसके द्वारा मनुष्य के बच्चों तक को उठा ले जाने के जो किस्से सुनने को मिलते हैं, वे एकदम गप्पें नहीं हैं।

बड़ा समुद्री उकाब भी लगभग उतने ही बड़े आकार का तथा उतना ही शक्तिशाली होता है जितना कि सुनहला उकाब। वह लगभग अपने ही वजन के मेमने तक को उड़ा ले जा सकता है। उष्ण कटिबन्धों के निवासी छोटी दुमवाले उकाब की चोंच बड़ी जबर्दस्त होती है। कहते हैं कि वह छोटे-छोटे वानरों का शिकार कर अपना भरण-पोषण किया करता है।
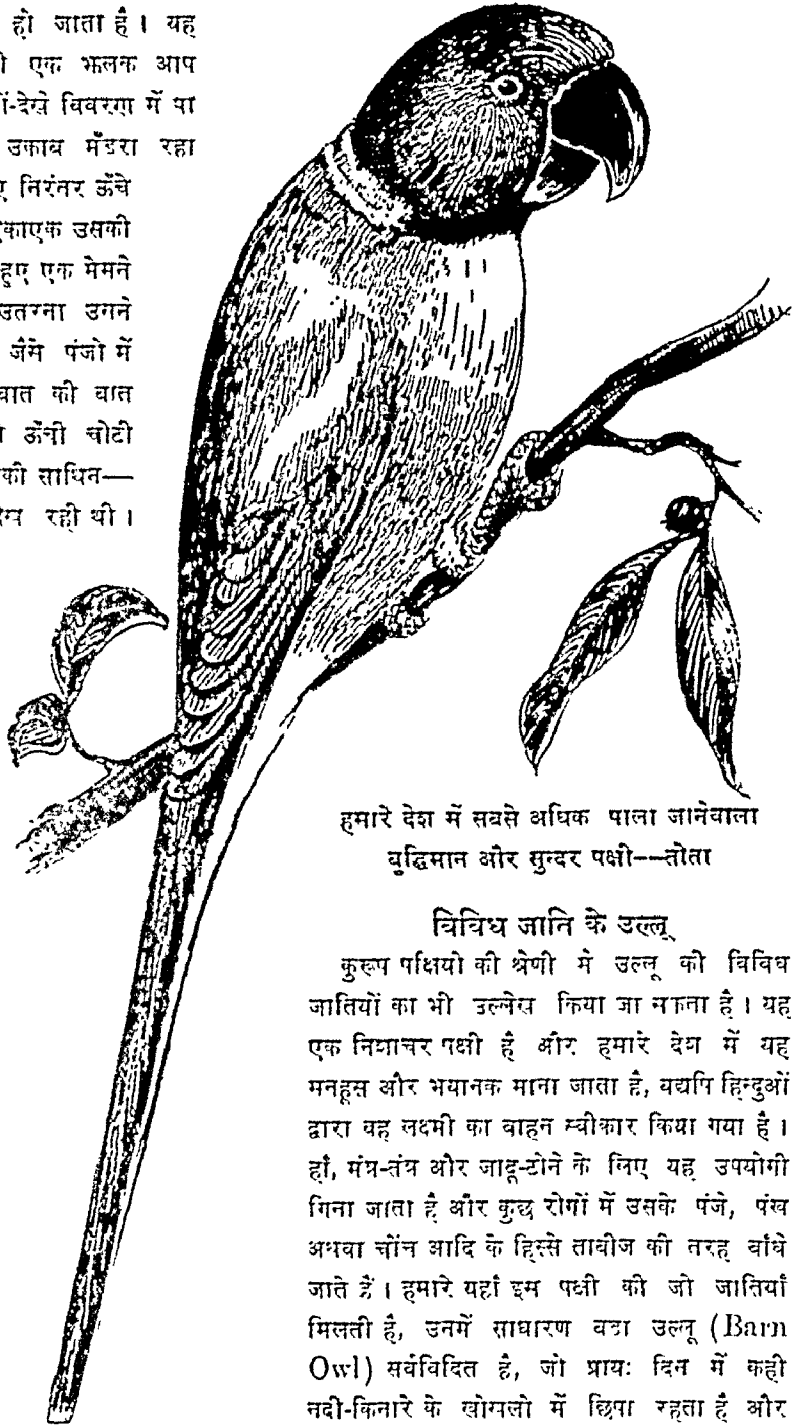
हमारे देश में सबसे अधिक पाला जानेवाला बुद्धिमान और सुन्दर पक्षी—तोता

विविध जाति के उल्लू

कुरूप पक्षियों की श्रेणी में उल्लू की विविध जातियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह एक निशाचर पक्षी है और हमारे देश में यह मनहूस और भयानक माना जाता है, यद्यपि हिन्दुओं द्वारा वह लक्ष्मी का वाहन स्वीकार किया गया है। हाँ, मंत्र-तंत्र और जादू-टोने के लिए यह उपयोगी गिना जाता है और कुछ रोगों में उसके पंजे, पंख अथवा चोंच आदि के हिस्से तावीज की तरह बाँधे जाते हैं। हमारे यहाँ इस पक्षी की जो जातियाँ मिलती हैं, उनमें साधारण बड़ा उल्लू (Barn Owl) सर्वविदित है, जो प्रायः दिन में कहीं नदी-किनारे के खोखलों में छिपा रहता है और रात को चुपके से चुहियों या छोटी-छोटी चिड़ियों के शिकार की टोह में निकलता है।

आइए, अब हम भारत के साधारण श्रेणी के पक्षियों का अध्ययन करें और सबसे पहले अपने चिरपरिचित कौए ही को लें।

का अध्ययन करे और सब से पहले अपने चिरपरिचित कौए ही को ले।

कौए संसार के सब से सफल पक्षियों में गिने जा सकते हैं, क्योंकि बावजूद इस बात के कि इनकी रक्षा के लिए किसी देश में कानून नही हैं तथा इनकी आदतें इतनी गन्दी है, ये ससार के कोने-कोने मे फैले हुए पाये जाते है। अमेरिका मे, जहाँ निरन्तर इनको नेस्तनाबूद करने के लिए सार्वदेशिक आन्दोलन-सा चलता रहा है, इनकी संख्या प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही है। यह पक्षी साल के बारहों महीने बना रहता है और सुबह जो पहला शब्द हमारे कानो मे पड़ता है वह प्रायः कौए का ही शब्द होता है। ये किसी को भी प्रिय नही लगते, फिर भी क्या छत पर और क्या दीवालो पर, हर कही इन्हे आप मौजूद पायेंगे। इधर-उधर बिखरे हुए जूठन तथा बच्चों की फेंकी हुई खाने की चीजों को ये झट उठाकर ले जाते हैं। इनके खाने के लिए यदि सहन में कोई चीज फेंक दी जाय तो ये बहुत बड़ी संख्या मे इकट्ठे हो जाते है और खूब काँव-काँव मचाते है। कुछ लोग कहते है कि ये आपस मे बातचीत भी कर लेते है! जो कुछ भी हो, कम-से-कम इसमे तो सन्देह नही कि एक-दूसरे के कर्कश स्वर के संकेतों को ये समझते है और संकट-काल मे उनके अनुसार तुरन्त ही काम भी करते है। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना की याद आती है। हमारे एक रिसर्च स्कॉलर के अध्ययन के लिए कुछ कौओ की आवश्यकता थी, अतः प्रयोगशाला के चपरासी को आदेश दिया गया कि वह प्रतिदिन कुछ कौए मारकर ले आए। कुछ दिनों बाद आसपास के कौए अपने इस शिकारी को इतनी अच्छी तरह पहचान गए कि विश्वविद्यालय के हाते मे घुसने के पहले ही कौए उसे देखकर सतर्क हो जाते, और उसके सिर के ऊपर उड़ते हुए काँव-काँव करके उस हाते के अन्य कौओ को तुरन्त आनेवाली विपदा की सूचना दे देते। जब कौओं का शिकार करना बन्द हो गया, तब भी कई दिनों बाद तक कौओं की यह हरकत जारी रही।

खेत मे पकते हुए अनाज को कौए ऐसा समझते हैं मानो वह इन्हीं के लिए बोया गया हो। किन्तु वास्तव में अनाज का उनके खाद्य पदार्थो की तालिका मे नगण्य-सा स्थान है। वस्तुत. कौओं के खाद्य पदार्थो की सूची बहुत लम्बी है। यद्यपि यह एक ढीठ पक्षी है, किन्तु गलीज चीजे खाकर मेहतर का काम करने तथा अनेक हानिकारक कीड़े-मकोड़ो को नष्ट करने के कारण उपयोगी होता है। टिड्डी दल जब हमारे अनाज मे भरे हुए खेतों पर उतरता है तो ये स्वयं-सेवक सैनिकों की भाँति चील आदि अन्य पक्षियों के साथ टिड्डियों को नष्ट करने में कृषक की सहायता करते है। अपने पंजों मे टिड्डियों को पकड़कर ये हवा मे उड़ जाते हैं और वहाँ उन्हे निगल जाते हैं—यह क्रिया उस वक्त तक जारी रहती है जब तक कि उनके पेट मे जरा-सी भी जगह खाली रहती है। ये सर्वभक्षी होते हैं और एक कुशल गृहपत्नी की भाँति जो कुछ भी मौसम के अनुसार लभ्य होता है उसी पर अपना जीवन-निर्वाह कर लेते है। खेत के अनाज की अपेक्षा कौआ कूड़े-कर्कट को अधिक पसन्द करता है—इसी कारण इसकी गिनती गन्दे पक्षियो में होती है। इसकी चाहे जितनी देखरेख रक्खी जाय फिर भी यह अपनी गन्दी आदत नहीं छोड़ता। कहा ही है कि 'वायस पालिय अति अनुरागा, होइ निरामिष कबहु कि कागा?'

साधारण कौओं की दो जातियाँ होती है—एक घरेलू कौआ और दूसरा जंगली। घरेलू कौए की गर्दन और सीने का रग भूरा होता है, किन्तु जंगली कौए का समूचा शरीर काला होता है। तथाकथित राज-कौआ या भुजंगा (King Crow) कौए की जाति का पक्षी नही होता, वह ड्रोंगो (Drongo) नामक वर्ग का सदस्य होता है। कद में लम्बा और फटी पूँछवाला यह शानदार पक्षी अत्यन्त निडर होता है और घोंसले की रक्षा के निमित्त आक्रमण करने मे जरा भी नही हिचकता। यह अन्य किसी भी पक्षी से भिड जायगा, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। जिस वक्त शाम को अपने भोजन के लिए यह उड़ते हुए पतिंगों को पकड़ता है उस समय की इसकी उड़ान देखने ही योग्य होती है।

मदमाती किन्तु आलसी कोयल

फागुन-चैत के महीनो मे हम सदैव कोयल की कूक की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते है। छोटे-छोटे बच्चे इसकी कूक की नकल करते है और अक्सर कोयल उनकी आवाज का जवाब भी देती है। यह आम की ऋतु के आगमन की सूचना देती है और जिन दिनों हमारा भाण्डार भरा रहता है उन दिनों यह हमारे साथ रहती है—इसी कारण देहातों मे इसका सर्वत्र स्वागत होता है। अगहन और माघ के कटकटाते जाड़े में या तो यह चुप हो जाती है या अन्य प्रदेशों को चली जाती है। कहा ही है कि—

तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहैं कौन॥

कोयल साधारणतः अपनी कूक द्वारा ही पहचानी जाती है। बहुत कम लोग इसके शरीर का वर्णन ठीक-ठीक कर सकते हैं। साधारणतः पाई जानेवाली कोयल एक बड़े आकार की भूरे-काले रंग की चिड़िया होती है। इसकी दुम पर सफेद धब्बे और सीने पर बाज की तरह आड़ी सफेद रेखाएँ होती हैं। मादा कोयल हलके भूरे रंग की होती है और इसके शरीर पर कुछ चित्तियाँ भी होती हैं। भारत में यह बात मशहूर है कि कोयल के अण्डे को कौआ सेता है। निम्नलिखित वर्णन से प्रकट होगा कि किस प्रकार कोयल कौए तथा अन्य पक्षियों को मूर्ख बनाकर अपना काम निकालती है—कुछ लोग इसे बहुत-कुछ अत्युक्तिपूर्ण और अनैसर्गिक भी बतलाते हैं। कोयल अपना घोंसला कभी नहीं बनाती इस बात में यह तमाम चिड़ियों से अनोखी है। साथ ही इस चिड़िया की एक विशेषता यह भी है कि यह बहुत ही लंबी अवधियों के बाद अपने अंडे दिया करती है। कोयल के आकार को देखते हुए इसका अण्डा छोटा होता है। मादा कोयल के कई पति होते हैं, क्योंकि नर कोयल की संख्या मादा की अपेक्षा बहुत अधिक है।

अनुकूल ऋतु में कोयल के आगमन के समय तक कौए, दँहगल (Magpies) और इस जाति के अन्य पक्षी अपने घोंसले बनाने में व्यस्त होते हैं। अतः यह चालाक चिड़िया सोचती है कि जब बने-बनाए घोंसले तैयार हैं तो अपने लिए अलग से घोंसला बनाने का श्रम क्यों किया जाय? अतः मादा कोयल अपना अण्डा जमीन पर देकर उसे चोंच में उठाकर कौए, दँहगल या खजन आदि किसी पक्षी के घोंसले में, जो अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए उन्हें कीड़े-मकोडे खिलाते हैं और जिनके अण्डे बहुत कुछ कोयल के अण्डे सरीखे होते हैं, डाल आती है। कभी-कभी अन्य पक्षियों की दृष्टि बचाकर यह दूसरों के घोंसले में ही जाकर अण्डे दे आती है! उसे इस बात का इत्मीनान रहता है कि उसके नवजात बच्चे की देखरेख सन्तोषजनक रीति से की जायगी। घोंसले में पहुँचा आने के बाद आलसी कोयल अपने बच्चे के लिए कुछ भी नहीं करती।

एक निरीक्षक लिखता है कि जब कोयल के अण्डे देने का अवसर आता है, और मादा कौआ अपने घोंसले में अण्डा दे चुकी होती है, तो सन्ध्या के झुटपुटे में नर कोयल कौओं के घोंसले पर जाकर किसी कौए से, जो रात के बसेरे के लिए अपने घोंसले में विश्राम करता होता है, अनायास ही झगड़ा मोल लेता है, और उस समय मादा कोयल पास ही आड़ में छिपी रहती है। इस बीच कौए और नर कोयल में खूब जोर-शोर की लड़ाई होती है और इस बहाने नर कोयल कौए को घोंसले से दूर ले जाता है। मैदान खाली होते ही कोयल चुपके से तीर की भाँति कौए के घोंसले की ओर दौड़ती है और वहाँ अण्डा दे आती है और यदि अण्डा वह पहले ही दे लिये होती है तो उसे चोंच से उठाकर वहाँ रख आती है। तदनंतर धीरे-धीरे 'कूकू, कूकू' की आवाज करती हुई वापस लौट जाती है ताकि नर कोयल को सूचना मिल जाय कि काम पूरा हो गया।

ज्योंही अण्डा घोंसले के अन्दर पहुँचा, त्योंही नर कोयल अपने छद्म युद्ध को छोड़ कर अलग उड जाता है। जल्दी-जल्दी मादा कौआ उड़कर अपने घोंसले में पहुँ-

हमारे जलाशयों का निपुण गोताखोर पक्षी—बानवर (Snake-bird) :: जब यह तैरता है तो केवल इसकी लंबी चोंच का कुछ हिस्सा जल के ऊपर उठा रहता है। उस समय उसे देखकर साँप के तैरने की भ्रान्ति होती है।
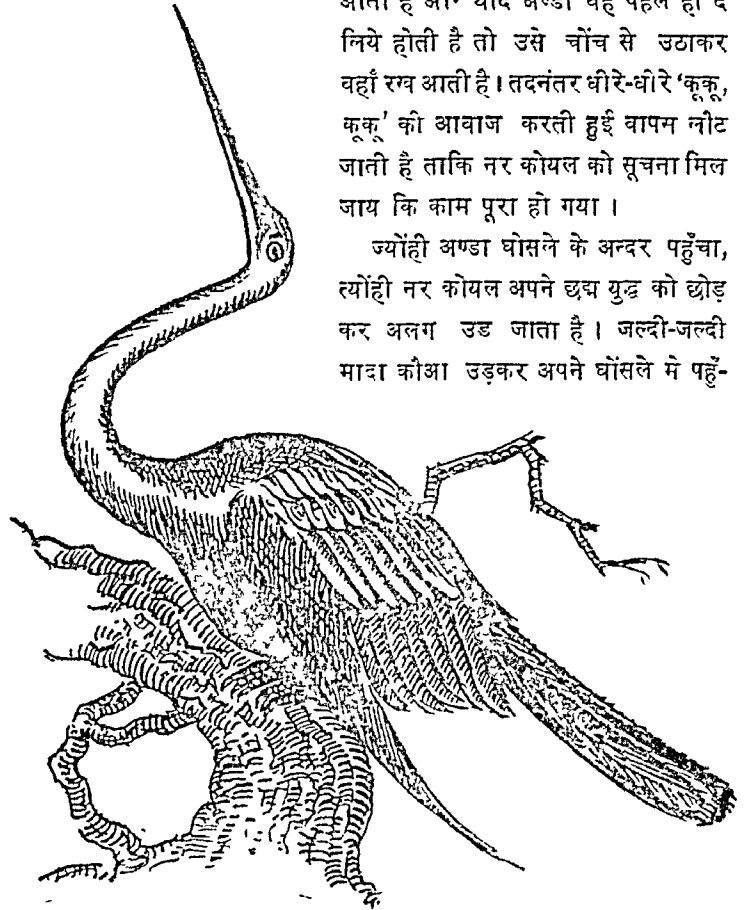
चती है और विना किसी प्रकार का सन्देह किए हुए घोंसले में रक्खे हुए अण्डों को सेने लगती है—उसे पता भी नही लगने पाता कि वह कोयल के रूप में आस्तीन में सांप पाल रही है। इस स्थान पर हम देखते है कि प्रकृति ने कोयल को छोटे आकार का अण्डा देकर उसका कितना उपकार किया है कि वह उसे अपनी चोंच में आसानी से उठाकर ले जा सके और छोटी जाति के पक्षियों के अण्डों के साथ उसका मेल खा सके।

कोयल का नवजात बच्चा अपने प्रतियोगियों का नाश कैसे करता है

कोयल के अण्डे के बारे में एक और अद्भुत बात है कि अन्य बहुत-से पक्षियों के अण्डे की तुलना मे इसके सेने के लिए कम समय चाहिए। अत जिस समय अपने अण्डे को फोडकर कोयल का बच्चा बाहर निकलता है तो इसके इर्द-गिर्द या तो इसके पालक पिता के अण्डे या अपेक्षाकृत नन्हे बच्चे ही पड़े मिलते है। कोयल का नवजात बच्चा स्वयं एक काले रग का अन्धा कुरूप जीव होता है। पर इसकी एक अद्भुत् विशेषता यह होती है कि इसका स्पर्शज्ञान बहुत ही बढा हुआ होता है—यह घोंसले में अन्य किसी चीज के स्पर्श को बर्दाश्त नही कर सकता। अतएव जब कोई अण्डा या दूसरा बच्चा इसके शरीर से लगता है तो यह क्षुब्ध होकर उसे धक्का देकर घोंसले से बाहर निकालने का हर तरह से प्रयत्न करता है। किन्तु यह नन्हा-सा जीव दूसरे बच्चों या अण्डों को घोसले से बाहर कैसे फेंक सकता है? उसे ऐसा करने के लिए पहले तो इन अण्डो या बच्चों को उठाना पड़ेगा, फिर घोंसले की ऊँची मेंड़ को फांदकर उन्हे बाहर फेंकना पड़ेगा! आइए, देखें किस प्रकार वह इस कार्य मे सफल होता है।

कोयल का यह नवजात बच्चा पास सटे हुए अण्डे को पहले कोल-कोलकर अपनी पीठ पर कन्धे के पुट्ठो के दर्मियान के गड्ढे मे बिठा लेता है और अब यह घोसले की ऊँची मेड़ पर चढना आरम्भ करता है। इस क्रिया मे उसके शरीर की एक और विचित्रता उसकी सहायता करती है। उसके पाँव पेड पर चढनेवाले पक्षियों के पाँव की भाँति होते है। उसके पंजो की दो उँगलियाँ सामने की ओर और दो पीछे की ओर निकली होती है। किन्तु बड़ा होने पर वह पेडों पर कभी चढता नही, केवल फुदकता है और उस समय उसके पंजों की तीन उँगलियाँ सामने की ओर निकली रहती है और केवल एक ही पीछे की ओर मुड़ी रह जाती है। घोसले की मेंड़ के ऊपर पहुँचकर अपनी पीठ का बोझा वह आहिस्ते से घोंसले के बाहर लुढ़का देता है और इस भारी परिश्रम से थककर बेदम होकर वापस घोंसले मे आ रहता है। ज्योंही वह महसूस करता है कि दूसरा अण्डा या बच्चा उसके शरीर से लग रहा है त्योंही पुन वह इसी क्रिया को दुहराता है। उसकी यह हरकत उस वक्त तक जारी रहती है जब तक कि घोंसला पूर्णतया खाली नही हो जाता और उस पर अकेले उसी का आधिपत्य नही रह जाता।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इसके पालक माता-पिता इस अद्भुत बच्चे की इस हरकत का विरोध करते नही जान पड़ते। अवश्य घोसले के बाहर वे अपने दम तोडते हुए बच्चों तथा टूटे हुए अण्डों को देखते होंगे, किन्तु फिर भी वे कोयल के बच्चे का त्याग नही करते। सच तो यह है कि वे उसे भरपूर खिलाते-पिलाते है, और मादा कौआ उसकी निरन्तर फरमाइशों को पूरी करती रहती है, यहाँ तक कि कभी-कभी उसके लिए काफी मात्रा मे झींगुर जैसी उसके अत्यंत पसंद की चीजें भी खाने के लिए ढूंढ लाती है। फलस्वरूप कोयल का बच्चा दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है और शीघ्र ही वह अपने पालक माता-पिता से भी बडा हो जाता है। यहाँ तक कि वह इतना बढ जाता है कि उसके पालक पिता-माता को उसे खिलाने के लिए उसके कन्धों पर खड़ा होना पड़ता है! निस्सन्देह यह एक विचित्र दृश्य होता है।

यह कोयल का बच्चा अपने पालक माता-पिता के संग इधर-उधर उस वक्त तक ही उडता फिरता है, जब तक कि जाड़ा आने पर अन्य उष्ण प्रदेशों को चले जाने का समय नही आ जाता। यह भी कम अद्भुत बात नही है कि यद्यपि इसके असली माता-पिता इसे कभी के छोड़कर चले गये होते है, फिर भी यह अकेले ही उड़कर अपने लिए ऐसा प्रदेश ढूंढ़ लेता है जहाँ इसे सूर्य की स्वास्थ्य-प्रदायिनी धूप और खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में लभ्य हो सकते है। इसी तरह अगली बसन्त ऋतु में पुनः आप ही आप अपनी मातृभूमि को लौट जाने की प्रेरणा इसे होती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि हम कोयल का स्वागत करते है, किन्तु यह वास्तव मे एक नीच प्रकृति का जीव है, कौए से भी अधिक काला! अपनी बाल्यावस्था से ही दगाबाजी और हत्या-सरीखे जघन्य कामो में यह लग जाता है। यदि पक्षियो के संसार में पुलीस का आयोजन होता, तो कोयल की जिन्दगी किस मुसीबत से बीतती?

पपीहा (चातक)

यह पक्षी भी वसन्त ऋतु में हमारे बीच आता है। वसन्त के आते ही हर कहीं इसकी 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की परिचित ध्वनि सुनाई पड़ती है। हमारे साहित्य में इस पक्षी की वेदना-भरी पुकार विरह की आकुल व्यथा की प्रतीक-सी बन गई है और विशेषकर हमारे यहाँ के कवियों ने पग-पग पर इसकी कसक-भरी कूक की याद दिलाई है। स्थानाभाव के कारण इसके संबंध में यहाँ अधिक विवरण देने में हम असमर्थ हैं।

भारत के सबसे बुद्धिमान् पक्षी--तोते और उनके भाई-बन्धु

तोतों के रूप-रंग से सभी भारतवासी परिचित हैं, क्योंकि घरों में प्रायः ये पिंजड़ों के अन्दर पाले जाते हैं। बुलबुल, शकरखोरे और मैना की भाँति पालतू चिड़ियों में ये भी सर्व-प्रिय हैं। ये चहचहाते खूब हैं और देखने में भी सुन्दर होते हैं। किन्तु पालतू अवस्था में ही हमें इनके मस्तिष्क की शक्ति का आभास मिलता है। ये पक्षी अनेक आश्चर्यजनक बातों को दुहरा सकते हैं। इनका बोलना मौलिक तो नहीं होता, सिखाई हुई बात ही ये दोहराते हैं, किन्तु झटपट ठीक मौके पर इनका ठीक बात बोल उठना इनके प्रति प्रशंसा उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। घर की वृद्धाएँ प्रायः इन्हें 'राम-राम', 'पढ़ो बेटे सीताराम', 'हम भूखे हैं' आदि वाक्य रटा देती हैं। करीब २० वर्ष हुए वाराणसी के एक धनी सज्जन ने वरुणा नदी के किनारे पर अपनी कोठी के बगीचे में बहुत-सी चिड़ियाँ पाल रक्खी थीं। उनके प्रवेश-द्वार के ठीक बगल में तोते, सुग्गे और काकातुआ का कठघरा था। ज्योंही कोई आगन्तुक इस कठघरे के समीप फाटक से गुजरता, एक सुग्गा चिल्ला उठता---'यहाँ आओ, यहाँ आओ, कहाँ जाते हो ?' आगन्तुक बेचारा हैरान होकर इधर-उधर देखने लगता कि यह मानव-स्वर कहाँ से सुनाई पड़ रहा है! तोतों को पालतू बनाना बड़ा सरल है। मनुष्यों से ये खूब हिलमिल जाते हैं, फल-स्वरूप इनके तरह-तरह के हाव-भावप्रदर्शन से हम आसानी से परिचित हो जाते हैं। इन्हें तरह-तरह के खिलाड़ियों जैसे करतब भी सिखाए जा सकते हैं।

इन्हें पिंजड़े में अपने अड्डे पर बैठे हुए ध्यानपूर्वक देखिए, किस नजाकत के साथ ये अपने नन्हें पंजों में केला या मूँगफली लेकर उसे चोंच के पास ले जाते हैं ताकि उसे कुतर सकें। आप यदि अपने पालतू सुग्गे के पैरों को देखें तो पाएँगे कि उसके पंजे के दो नाखून आगे की ओर निकले हैं और दो पीछे की ओर। पैर की इस बनावट की मदद से ही यह आम, अमरूद आदि की फाँक या रोटी के टुकड़े को इतनी सफाई के साथ पकड़ पाता है तथा इसी कारण यह इतनी खूबी के साथ जहाँ चाहे चढ़ जाता है।

एक मल्लाह के पालतू तोते के बारे में एक रोचक कहानी हमने सुनी है। यह मल्लाह कलकत्ते में हुगली नदी पर लोगों को नाव पर इस पार से उस पार पहुँचाया करता था। एक दिन उसका तोता नदी में गिर गया। नदी की धार में यह बहा चला जा रहा था और चिल्लाता जा रहा था---'बीस रुपये नाव के लिए' 'बीस रुपये नाव के लिए'। किनारे पर एक मल्लाह के कानों में यह आवाज गई तो तुरन्त वह नदी में कूद पड़ा। जब उसने तोते को बचाकर उसके स्वामी के यहाँ

भारत का सबसे शानदार जलपक्षी---हंस

पहुँचा दिया तो इनाम के बीस रुपये माँगे। पहले तो उसके स्वामी ने इधर-उधर का बहाना बताया, फिर बड़ी तकरार के बाद तय पाया कि तोता ही इस झगड़े को निपटाए। इस पर तोता आँखें मींचते हुए चिल्ला उठा—'इस बदमाश को एक चवन्नी दो।' और उसका प्राण-रक्षक खिसियाकर चवन्नी ही ले चलता बना!

भारत का सब से कुशल कारीगर पक्षी—बया

प्राणियों के कला-कौशल और गृह-निर्माण की खूबियों के बारे में आप पिछले एक प्रकरण में पढ़ चुके हैं। उस सिलसिले मे बया के घोसले का उल्लेख किया ही जा चुका है। गाँवों के सभी लोग इस चिड़िया और इसके बोतल सरीखे अद्‌भुत घोंसले से परिचित हैं। भारत मे बया प्रत्येक स्थान पर मिलता है। उसके परों का रग मटमैला होना है। बड़ा होने पर नर के वक्ष:स्थल के पर पीला रंग धारण कर लेते है। इसके पंजे बड़े और नाखून पैने होते हैं। बया झाड़ियो में अक्सर फुदकता रहता है और एक ही स्थान पर बसेरा लेता है। ये पक्षी सभी प्रकार के अनाज खा लेते है।

तोते से भी बढ़िया बाते लोग इसे सिखा लेते हैं। इसे दिखाकर लोग कुएँ में अँगूठी गिराते हैं, और यह उसके पीछे इतनी फुर्ती के साथ झपटता है कि उसे बीच रास्ते मे ही चोंच से पकड़कर बाहर निकाल ले आता है! अँगूठी पानी तक नहीं पहुँचने पाती। सिखाने पर बया माथे की टिकली उतार लेता है और चोंच में मिश्री की डली लेकर दूसरों के मुँह में रख आता है। यह छोटी-सी तोप में बारूद भर कर उसे दागता भी है। चोंच में दबाकर यह बनेठी भी फेर लेता है। इस प्रकार यह छोटा-सा पक्षी बड़े अद्‌भुत करतब दिखला सकता है।

हंस

आइए, अंत मे इस देश के सब से मशहूर जलपक्षी 'हंस' के रोचक वर्णन के साथ हम इस लंबे लेख को समाप्त करें। जब हम हंस को अपने पंखों को आधा ऊपर उठाए और गर्दन को अदा के साथ मोड़े हुए तथा दुम को तन-कर सीधी खड़ी किए पानी मे शान्तिपूर्वक बड़े इतमीनान के साथ तैरते देखते है तो हम उल्लसित हुए बिना नही रहते। हमारा साहित्य तो पग-पग पर हंस की महिमा के बखान से भरा है।

हंस की कई उपजातियाँ है, किन्तु उनमे राजहंस अधिक प्रसिद्ध है—यह हंस की सब से बड़े आकार की जाति है। इनका आदि निवासस्थान हिमालय की मानसरोवर झील माना जाता है। हंस एक निर्भीक तथा रोमाञ्चप्रिय पक्षी है। यह एक ऊँचे दर्जे का प्रेमी, साथ ही ऊँचे दर्जे का घृणा करनेवाला जीव है। नर-हंस की कई पत्नियाँ होती हैं—ये जीव स्वभाव से बड़े भावुक होते है। मादा अपने बच्चों को जल्दी नहीं छोड़ती, हाँ, नर अक्सर उन्हे छोड़कर इधर-उधर सैर-सपाटे के लिए चला जाया करता है, किन्तु संकटकाल सामने आने पर अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा करने मे पूर्ण भावावेश और निर्भीकता से यह पक्षी काम लेता है। हंस अत्यन्त ही बुद्धिमान और आदर्श माता-पिता होता है, जैसा कि इस बात से प्रगट है कि अपने बच्चों को ये उस वक्त तक सोने नहीं देते जब तक उनके भीगे हुए पर अच्छी तरह सूख न जायँ। अपनी पीठ पर बच्चों को इनका ले जाना निस्सन्देह सुन्दर दीखता है, किन्तु जल मे कूदने की प्राथमिक शिक्षा देने के निमित्त बच्चों की टाँग को पकड़कर ऊपर उठाए रखना निस्सन्देह उनकी प्रकाण्ड बुद्धिमत्ता का द्योतक है। ये निरामिष आहारी होते हैं और इनकी जीवनचर्या में पूर्ण सामञ्जस्य की दृष्टि से इनका जीवन आदर्श माना जा सकता है।

इनकी आयु भी उकाब (Eagle) की आयु के बराबर होती है। भारतीय साहित्य में यह प्रसिद्ध है कि यदि हंस को ऐसा दूध पीने को दिया जाय जिसमे पानी मिला हो तो यह दूध से पानी अलग करके केवल दूध-दूध पी लेता है और पानी को अछूता ही बर्तन में छोड़ देता है। अनेक पाठकों ने निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ी होंगी—

> न्यार में हंसनि ज्यों बिलगावहु,
> दूध को दूध औ पानी को पानी।

किन्तु जीव-विज्ञान के अध्ययन में इस अनोखे गुण का पता हमें अब तक कहीं नही मिला है।

गानेवाले पक्षी

भारतीय पक्षियों मे एक खास कमी अगर है तो वह यही कि इनमें बहुत कम को गाने की कला में वैसी निपुणता प्राप्त है जैसी विदेशों के अन्य कई पक्षियों को। यह सही है कि भारत मे श्यामा, दँहगल, मद्धमरनी, शकर-खोर, भीमराज, बुलबुल सरीखी गानेवाली चिड़ियाँ हैं, किन्तु ये उस हद तक गहरा प्रभाव नहीं डालतीं जितना अन्य देशों के गायक पक्षी, जैसे योरपीय लार्क या चंडूल और ईरानी बुलबुल आदि। कदाचित् इसका कारण यह है कि भारत मे योरप के वसन्त की-सी समाँ नहीं आती और न हमारे यहाँ जाड़े की ऋतु ही उतनी निष्प्राण और मनहूस होती है जितनी योरप की।

मनुष्य
की कहानी

उत्तरी ध्रुवप्रदेश के बर्फीले मोर्चे पर डटे हुए एस्किमो

चारो ओर बर्फ ही बर्फ ! रहने को भी बर्फ ही के मकान ! साथी के नाम पर कुछ कुत्ते ! खाने को मछलियाँ या सील जैसे जलजीव ! पहनने को भी इन्ही जानवरो की खाल ! इस पर प्रति पल प्रकृति के विचित्र भयप्रद नग्न ताण्डव का थिरकता हुआ चित्रपट—आँधी, बिजली, तूफान और आकाश मे 'सुमेरु प्रकाश' का अद्‌भुत् नृत्य ! फिर भी मानव सदियो से वहाँ डटा हुआ है।

पाचन-संस्थान तथा अन्न-प्रणाली

शरीर-रूपी कल के ढाँचे या ठठरी, पेशियाँ, खाल और उसके पाँचों द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियों से परिचित हो जाने के पश्चात्, आइए, अब हम आपको इस कल के भीतर की सैर कराएँ। शारीरिक कार्य करने में शरीर के तत्त्व क्षय होते रहते हैं। यदि हम इस कमी को पूरा न करते रहें तो धीरे-धीरे शरीर क्षीण होता जायगा और बहुत दिनों तक न चल सकेगा। इस कमी की पूर्ति भोजन द्वारा ही हो सकती है। शरीर की गरमी भी उसी से ही स्थिर रहती है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के बनने तथा उनकी वृद्धि के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है उनकी भी पूर्ति भोजन ही करता है। किन्तु जिस रूप में हम भोजन प्राप्त करते हैं उसी रूप में तन्तु और कोशिकाएँ उनको ग्रहण नहीं कर सकतीं। जो ठोस या तरल पदार्थ हम खाते हैं वह बहुत-सी क्रियाओं के बाद रक्त बनकर शरीर में घूम-घूमकर अंग-प्रत्यंग, प्रत्येक तन्तु और उसकी कोशिकाओं को उनकी खुराक देता है। इस लेख में आपको उन्हीं अंगों का हाल हम बतायेंगे, जिनके द्वारा पेट में पहुँचाया गया भोजन उस गरम, बलदायक और सुख-दायी रक्त में रूपान्तरित हो जाता है, जिसमें सारे भीतरी अंग परिप्लावित रहते हैं।

हम खाना क्यों खाते हैं ?

यह तो सर्वविदित है कि हमको खाने की आवश्यकता केवल प्रतिदिन ही नहीं होती, वरन् दिन में कई बार होती है। खाने की इच्छा ऐसी है कि यदि उसको पूर्ण न किया जाय तो वह और भी तेज होती जाती है और अन्त में दुखदायी भी हो जाती है। बहुत थक जाने पर हम नींद के वश में हो जाते हैं और काम करते-करते ही सो जाते हैं अर्थात् नींद की कमी को शरीर की कोशिकाएँ ही पूरा कर लेती हैं। किन्तु भूख में ऐसा नहीं होता। भूख की तृप्ति तो शरीर में बाहर से कुछ सामग्री पहुँचाये बिना हो ही नहीं सकती। जीवनारम्भ में शिशु तौल में केवल ३—३। सेर ही होता है, किन्तु पूर्ण रूप से बढ़ जाने पर उसके शरीर का भार १।—१।। या २ मन अथवा उससे भी अधिक हो जाता है। वृद्धि के इस काल में हड्डी, मांस-पेशियाँ, रक्त आदि सभी बढ़ते हैं। शरीर में बल भी अधिक आ जाता है। यह सब कैसे होता है ? वह सामग्री ही इस कार्य को करती है जिसे हम खाने-पीने के रूप में ग्रहण करते हैं। भोजन से शरीर को बढ़ने के लिए आवश्यक पदार्थ मिलते हैं। भोजन ही शारीरिक अंगों की थकान और घिसन को पूरा करता है। भोजन ही शरीर को गरम रखता है और उसको कार्य करने की शक्ति तथा फुर्ती देता है। अतः स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए हमको ऐसा भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर को ये तीनों ही बातें मिलती रहें। शरीर के सभी तन्तु जटिल रासायनिक मिश्रणों—प्रोटीन—से बनते हैं। मांसवर्द्धक पदार्थ या प्रोटीन दूध, बिना चर्बी के गोश्त, दाल, अंडे इत्यादि में मिलता है। यही मांसवर्द्धक पदार्थ मानो शरीर का ईंट और गारा है। हड्डियाँ और दाँत विशेषकर चूना खटिकम् (Calcium) और स्फुर जैसे खनिज लवणों से ही बनते हैं। शरीररूपी मकान की ये मानो गार्डर और कड़ियाँ हैं। रक्त के लाल कणों को बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। ये सब खनिज लवण मुख्य रूप में शाक, भाजी तथा फलों में ही प्राप्त होते हैं! चूना दूध में भी मिलता है। यदि भोजन में इन लवणों का अभाव हो तो दाँत और हड्डियाँ न बन पायें तथा उनमें कमजोरी आने लगे; रक्त भी इन लवणों की सहायता के बिना अपना कार्य सुचारु रूप से न कर सके। शरीर-रूपी कल को इन वस्तुओं के अतिरिक्त ईंधन की भी आवश्यकता होती है जो शरीर में उपस्थित रहे और जरूरत आ पड़ने पर जलकर शक्ति दे। इस प्रकार के पदार्थ शरीर के अंगों को

में कोई भाग नहीं लेते वरन् कोषों में जमा रहते हैं और समय पर काम आते हैं। गुड़, चीनी आदि श्वेत पदार्थ के उदाहरण है। ये गन्ना, चुकन्दर, खजूर, मुनक्का, अंजीर आदि फल, गेहूँ, चावल, जौ आदि अनाज और घी, दूध, तेल, चरबी जैसी चिकनी चीजो से प्राप्त होते है। ये सब श्वेत पदार्थ मोटर के पेट्रोल के समान है, जो उसमें भरा तो रहता है लेकिन उसकी मशीन का कोई भाग नही कहा जा सकता।

मुख्य खाद्य पदार्थ

शरीर को स्वस्थ और उपयुक्त अवस्था में बनाए रखने के लिए प्रोटीन, श्वेतसार, चिकनाई तथा खनिज लवण के सिवाय एक और प्रकार के खाद्य-पदार्थों की भी आवश्यकता होती है। इन वस्तुओ को 'विटामिन'(Vitamin)या खाद्योज कहते है। ये प्राय: ताजे फल, शाक-भाजी और दूध मे पाये जाते है। इनका कार्य-भाग अभी तक भली भाँति नहीं समझा गया है। उनको यदि शरीर के सिपाही कहे तो अनुचित न होगा। इनका वंश बड़ा है—कम-से-कम दस का तो पता लग चुका है। प्रत्येक किसी मुख्य कार्य के लिए नियत है। उदाहरणार्थ, उनमे से एक—खाद्योज 'डी'—का यह काम है कि वह हड्डियो पर दृष्टि रक्खे और देखे कि रक्त द्वारा जो चूना बढ़ती हुई हड्डियों में पहुँचता है, वह ठीक समय और उचित रीति से उन पर जमता जा रहा है या नहीं। अच्छी तन्दुरुस्ती के लिए हमारे भोजन मे इन सब प्रकार की सामग्रियों का उचित मात्रा में मौजूद रहना आवश्यक है। इस विषय को विस्तारपूर्वक हम कही और लिखेगे। यहाँ तो हम केवल यह बतला रहे है कि जो खाना हम खाते है वह कैसे और किन अंगों की सहायता से पचकर शरीर का अंग बन जाता है। यह कोई साधारण बात नही है। हमारा अधिकतर खाना ठोस होता है। शोरबे (रसा), दूध और संतरे के रस जैसे तरल पदार्थो में भी सूक्ष्म कणों के रूप मे कुछ ठोस पदार्थ रहता है। ठोस पदार्थ सारे शरीर में फैले हुए उन छोटे-छोटे कोषों के लिए बिलकुल बेकार होते है, जिनके जीवन के लिए हम भोजन करते है। भोजन के ताकत देनेवाले सारे अणु—जिनका कोष प्रयोग कर सकते है—उन तक घोल या तरल पदार्थो में महीन-महीन मिली हुई दशा मे ही पहुँचने चाहिएँ। इसलिए खाई हुई चीजो का घोल मे बदल जाना अत्यन्त आवश्यक बात है। हम रोटी, दाल, चावल, गोश्त, मछली, फल आदि अनेक रूप के संयोजित भोजन करते हैं, जिनमें से कुछ बहुत कड़े भी होते है। उनको तरल रूप प्रदान करने और पचाने के लिए हमारे भीतरी पेचीदा अंगों को बडा परिश्रम करना पडता है। हमारे लिए यह सम्भव नही है कि हम खाने के लिए बैठे और आवश्यकतानुसार थोड़ी-सी तन्तु बनानेवाली चीजे, शक्ति-दायक ईंधन, हड्डी बनानेवाले खनिज पदार्थ, जल इत्यादि तथा अन्य छोटी छोटी सहायक वस्तुएँ इस रूप में पा ले कि वे शरीर में जाकर आसानी से शरीर का अंग बन जायँ।

शरीर आहार के प्रयोग में मानव कृत सभी कलों से आश्चर्यजनक है। वह भोजन से ईंधन का काम लेता है और उसी के जलने से वह गरमी प्राप्त करता है, जो उसको चलता रखने के लिए आवश्यक होती है। शारीरिक मशीन के चलने से उसके पुर्जो मे जो रगड़ और घिसन आ जाती है उसको भी भोजन ही ठीक करता है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि जो कोष और तन्तु शरीर के काम मे सदा नष्ट होते रहते है वे एक तरफ खाने से बनते जाते है और दूसरी ओर अपना काम भी करते रहते हैं। तीनों प्रकार के मुख्य खाद्य पदार्थ—मांसवर्द्धक, श्वेत सार तथा चिकनाई—जिस रूप में खाये जाते है उसी रूप में शरीर के काम नहीं आते। इसलिए पाचन अंगो को उन्हे तोडकर ऐसी साधारण अवस्था मे लाना पड़ता है कि उनको रक्त सोख सके और भिन्न-भिन्न भागों मे पहुँचकर वहाँ के तन्तु-कोषो द्वारा वे फिर ऐसी वस्तुओं में बदल जायँ जिनकी वहाँ आवश्यकता है, जैसे कही खाल, कही माँस, कही हड्डी और कही चर्बी में। केवल पानी और खनिज पदार्थ ही ऐसी चीजे है, जिनके अणु साधारण अवस्था मे होते है। इसलिए उनको तोड़-फोड करने की जरूरत नही होती। उदाहरण के लिए प्रोटीनो को ही लीजिए। भोजन-सामग्री के प्रोटीन मांस के प्रोटीनो से बिलकुल ही पृथक् होते है। गोभी के पत्तों मे पाए जानेवाले प्रोटीन के लिए यह मुमकिन नहीं कि वह मांस-पेशियों के काम में कोई भाग ले सके, क्योंकि उसके अमिनोअम्ल के अणु और तरह से सजे रहते है। बिल्कुल उपयुक्त प्रोटीन मनुष्य द्वारा भक्षण करने से ही प्राप्त हो सकता है; किन्तु तब भी किसी तरह वह सीधा खून मे नहीं पहुँच सकता। उसको फिर तोड़ना और बनाना ही पड़ेगा। इसलिए भांति-भाँति के भोज्य प्रोटीनों को मांस-प्रोटीनों में परिवर्तित करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्न प्रकार है। सब तरह के प्रोटीनो को, जिन्हें हम खाते है, पेट में तोड़कर हम उन्ही अमिनोअम्लों में परिणत कर लेते है जिनसे कि वे बने हुए रहते है। इन अम्लों को हमारा खून चूस लेता है और इस तरह उनको तन्तुओं में बाँट देता है। तब कोष इन अमिनोअम्ल को लेकर

मुख या अन्न-प्रणाली का द्वार

यहाँ चबाये हुए भोजन में लार का पाचन रस मिलता है

चबाया हुआ भोजन इस नली के द्वारा आमाशय में पहुँचता है

यकृत और उससे निकलनेवाली पित्त नली—जिसके द्वारा पाचक रस आँत में पहुँचता है

आमाशय—जिसकी श्लैष्मिक झिल्ली से एक पाचक रस निकलकर भोजन में मिल जाता है

यकृत में पित्त की थैली—इसमें पित्त जमा रहता है

क्लोम—जिसमें पचानेवाला क्लोम रस बनकर नली द्वारा पित्त के साथ पक्वाशय में जाता है

पक्वाशय—आँत का पहला भाग, जिसमें से आमाशय से आहार-रस धीरे-धीरे आता है

बड़ी आँत के तीनों भाग, यहाँ बचा बचाया पचने योग्य आहार-रस और पानी सोख लेते हैं और मल को आगे बढ़ाते हैं

छोटी आँत—जहाँ आहार-रस पचकर खून में खिंच आता है

उपांत्र—आँत का बेकार भाग—इसमें खाना अटकने और सूजन आ जाने से केवल पीड़ा ही नहीं होती, बल्कि कभी-कभी जीवन भी संकट में पड़ जाता है

मलाशय या आँत का अन्तिम भाग, जिसमें त्याग होने के पहले मल इकट्ठा रहता है

अन्न-प्रणाली एक लगातार नली है जो मुँह से शुरू होकर शरीर के दूसरे सिरे तक चली जाती है। एक जगह वह फूलकर आमाशय बन जाती है और बाद में मुड़ी-मुड़ाई २७ फीट लम्बी पेचदार आँत हो जाती है। इस प्रमुख नली से कई ऐसे आवश्यक अंग निकले रहते हैं जिनका पाचन-क्रिया में जरूरी भाग रहता है, उदाहरणार्थ—यकृत और क्लोम।
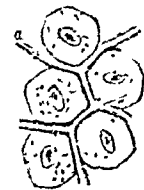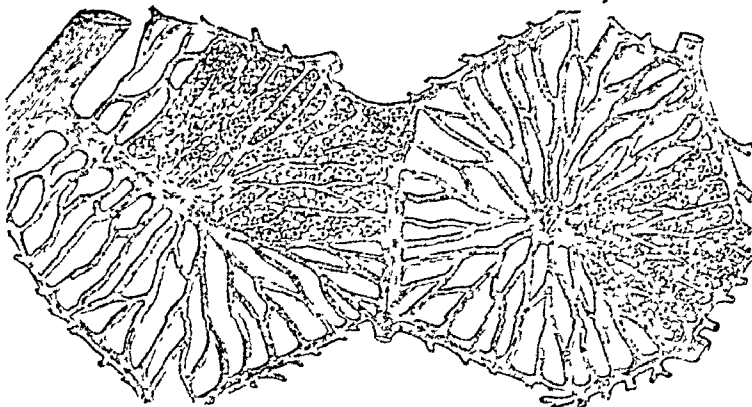
(बाईं ओर) यकृत से काटा गया महीन पर्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। वह छोटे-छोटे ग्रन्थि-कोषों से भरा रहता है।

अपनी जरूरत के प्रोटीनों को बना लेते हैं। यह काम ऐसा ही है जैसे कि हम ठेकेदार से कुछ छोटे-मोटे मकान बनाने को कहें और उसको ईंट, गारा, सीमेन्ट, लोहा या लकड़ी के बजाय एक बनी-बनाई विशाल इमारत दे दे जिसे तोड़कर वह ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि अलग-अलग करे और फिर लोहे और लकड़ी को काट-छाँट कर नये मकानों के योग्य बनाए।

कर्वोदित और चिकनाईवाले खाद्यपदार्थ के साथ बिल्कुल ऐसा ही होता है। सब से सीधा-सादा और भली भाँति जाना हुआ कर्वोदित ग्लूकोज है जो अंगूर और बहुत से अन्य फलों से बनता है। रक्त मे इसी रूप का कर्वोदित मिला रहता है। मिश्री, शक्कर, आलू या गेहूँ तथा चावल के निशास्ते मे मिलने वाले शेष सब कर्वोदितों की बनावट अधिक जटिल होती है। असली भीतरी अगों में पहुँचने के पूर्व ही उनको ग्लूकोज मे बदलना पड़ता है। इसी भाँति चिकनाइयो के भी अणु टूटकर मधुरिन (ग्लिसरीन)औरमज्जिकाम्ल के साधारण खंडो मे परिणत हो जाते है।

इसी प्रकार सभी खाया हुआ भोजन अति छोटे-छोटे टुकड़ों मे बँट जाने और चबा-चबाकर भली भाँति पिस जाने पर कई अन्य क्रियाओ के उपरान्त इस योग्य होता है कि उसका सार खिचकर रक्त मे पहुँच जाय और रक्त-संचार द्वारा क्रमशः समस्त शरीर में फैल जाय। इस सम्पूर्ण क्रिया को ही **पाचन क्रिया** कहते हैं। जो अंग इसका प्रबन्ध करते है वे एक लम्बी नली के रूप मे मुँह से शुरू होकर पाखाने के मार्ग तक—शरीर के एक छोर से दूसरे छोर तक—फैले हुए हैं। यह नली अन्न-मार्ग, भोजन-प्रणाली या भोजन की नली कहलाती है। आरंभ मे इसकी लम्बाई १० इंच तथा चौड़ाई १ इंच होती है। गर्दन और सीने मे होती हुई यह आमाशय तक पहुँचती है। यही प्रणाली और उसमे खुलनेवाले अवयव हमारी आहार-ग्रहण संबंधी सारी क्रिया से सरोकार रखते हैं। भोजन को पचाना, पचे हुए भोजन से रस को अलग निकालना और बचे हुए बेकार अंश को शरीर के बाहर फेक देना, इन्हीं अवयवों का कर्त्तव्य है। ऐसा नही है कि भोजन पचाने का अंग कोई और है और विकार निकालने का कोई दूसरा। वास्तव में, यह सारा यंत्र एक ही है। आइए, पहले इस अन्न-मार्ग और उससे लगे-लिपटे कल-पुर्जो का हाल बताएँ। इसके बाद पाचन रीति का वर्णन करेंगे।

लार बनानेवाली ग्रन्थियाँ :: चित्र में कान, जबड़े और जीभ के समीप ये ग्रंथियाँ दिखाई गई हैं। प्रत्येक गुत्थी शाखामय खोखली नलिकाओं से बनती है और हर एक गुत्थी से लार एक मुख्य नली द्वारा मुँह में पहुँचती है। जब हम दाँतों से खाना चबाते हैं और जीभ से चलाते हैं तो इन ऊपर बनी हुई ग्रन्थियों से लार निकलने लगती है। स्वादिष्ट भोजनों को देखने, सूँघने और उनका विचार करने से ही लार चूने लगती हैं।

पाचन-सम्बन्धी कल और पुर्जे—पाचक-संस्थान

मुँह—भोजन की नली मुँह से ही शुरू होती है और मुँह में पहुँचते ही भोजन पर पाचक क्रिया आरम्भ हो जाती है। लेकिन जो सामग्रियाँ हम पकाकर खाते हैं उनकी पाचन क्रिया मुँह से बाहर ही शुरू हो जाती है। पकाने से मांस और काष्ठोज (वनस्पतियों की कोष-भित्तियों को बनानेवाला पदार्थ) नरम हो जाते है। सब माँड़-युक्त (starchy) पदार्थों में काष्ठोज की झिल्लियों मे मढ़े हुए नन्हे-नन्हे दाने होते है, जिन पर पाचक रसों का बहुत ही कम असर होता है। पकाने से माँड़ के दाने फूल जाते हैं और उनके ऊपर की झिल्ली फट जाती है। तब उन्हे खाने पर पाचक रस उनको प्रभावित कर पाते है। इससे भोजन को पकाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

मुँह में खाद्य पदार्थ पहुँचते ही हम उसको चबाने लगते हैं। हम दाँतों से कुचलकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते है। टुकड़े थूक से मिलकर अच्छी तरह पिस जाते हैं और उनका एक रेशेदार गूदा सा हो जाता है, जो हज्म होने योग्य हो जाता है। लेई के समान चिकना हो जाने से हम उसको सहज मे निगल जाते हैं। जब कभी हम जल्दी में या गलती से बिना ठीक से चबाये कौर लीलने लगते हैं तभी गले में वह अटकने लगता है और गले में एक फन्दा-सा पड़ने लगता है। भोजन को पीसने में जीभ भी मदद करती है। वह छोटे-छोटे टुकड़ों को बार-बार डाढ़ों के नीचे ढकेलती रहती है।

मुँह के चलाने से जो थूक या लार उसमें आती है वह पानी जैसी होती है और मुँह के अन्दर की ६ खास गिल्टियों से निकलती है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। इनमें से तीन-तीन

दोनों तरफ होती है। इन लार-ग्रन्थियों में से एक कान की जड़ के नीचे, दूसरी नीचे के जवड़े के पिछले भाग के नीचे और तीसरी आगे की ओर जवान के नीचे पाई जाती है। इन गिल्टियों से निकलनेवाली लार पतली-पतली नलिकाओं के रास्ते से मुँह में आती है। दिन भर में आध सेर से लेकर सेर भर तक लार वनती है। जवड़ों की गति और मुँह के भीतर खानेवाली वस्तुओं की रगड़ से ही नही, वल्कि उनके स्वाद से भी लार-ग्रन्थियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे लार वनकर मुँह में आने लगती है। खाना जितना ही अधिक स्वादिष्ट होता है उतनी ही अधिक लार मुँह में आने लगती है। यहाँ तक कि अच्छे-अच्छे भोजनों की महज महक ही पहुँचने पर हमारे मुँह में पानी भर आता है। भोजन जितनी अच्छी तरह चवाया जायगा उतनी ही अधिक लार उसमे मिलती जायगी। चवाते समय भोजन पर श्लेष्म लग जाता है और उसमें झाग उठ आते है, तभी वह निगला जा सकता है। अच्छी तरह चवाया हुआ चिकना भोजन ६ सैकण्ड में ही सरककर मुँह से मैदे की थैली मे जा पहुँचता है, लेकिन कुनैन की टिक्की जैसी सूखी कड़ी चीज को मैदे मे पहुँचने में कई मिनट लग जाते है।

निगलने के लिए भोजन का लोथड़ा जवान से पीछे को ढकिल जाता है और अन्न-प्रणाली मे पहुँच जाता है। वहाँ से गले की मास-पेशियों के लगातार संकोचन से वह इस लम्बी यात्रा को पार करता हुआ आमाशय मे जा पहुँचता है। यदि आप किसी घोड़े को वाल्टी से पानी पीते समय देखे तो ज्यो-ज्यो वह पानी को ऊपर खींचता जायगा उसके गले की खाल पर पेशियों के संकोच की लहरें आपको एक के वाद दूसरी विलकुल साफ नजर आती जायँगी।

कृन्तक कील डाढ़

तीन प्रकार के दाँतों का सामने और वगल से लिया गया चित्र :: कृन्तक दाँत का किनारा छेनी की तरह तेज और कटीला होता है। कील का किनारा खूँटी की तरह नोकीला और फाड़नेवाला होता है। डाढ़ के शिखर पर कुचलने के लिए तीन स्कन्ध या उभार होते है।

भोजन नाक और हवा की नली में क्यों नहीं जाता?

यह तो आप जानते ही है कि नाक में से मुँह के लिए एक रास्ता है, जो तालू में खुलता है। इस रास्ते के सिरे पर मांस का एक छोटा सा नरम टुकड़ा---जो कौआ कहलाता है---लटकता रहता है। यह कौआ साँस लेते समय तो लटकता रहता है, जिससे यह रास्ता खुला ही रहता है, किन्तु खाते समय भोजन से यह कौआ पीछे को ढकिल जाता है और नाक की नली को वन्द कर देता है, जिससे खाना नाक की नली में नही जा पाता। कभी-कभी 'टौसिल' या 'डिप्थीरिया' की वीमारी मे यह कौआ वेकार हो जाता है और भोजन---विशेषकर तरल पदार्थ---नाक से वाहर टपकने लगता है। जीभ की जड़ के नीचे हवा की नली और भोजन की नली दोनो ही है। खाई हुई चीज को भोजन की नली मे पहुँचने के लिए हवा की नली के ऊपर होकर जाना पड़ता है। फिर भोजन हवा की नली में क्यों नही गिर जाता? वात यह है कि हवा की नली पर एक ढकना-सा लगा रहता है जो हवा की नली का ढकना कहलाता है। साँस लेते समय यह ढकना हवा की नली पर नही रहता, लेकिन खाते समय, जव भोजन मुँह से गले मे जाने लगता है, यह ढकना नली के ऊपर आकर उसको वन्द कर देता है। इस प्रकार खाते समय नाक और हवा की नलियों पर ढकने लग जाते है और भोजन विना किसी रुकावट के अपने मार्ग मे चला जाता है। कभी-कभी भूलकर हम खाने या पानी का घूँट लीलते समय वात करने की कोशिश करते है तो भोजन या पानी का कुछ अंश हवा की नली मे जा पहुँचता है। ऐसा होते ही झटके की खाँसी आती है और दम घुटने लगता है। खाँसी आते आते जव हवा की नली में गिरा हुआ खाना-पानी वाहर को फिंक आता है तभी चैन मिलता है। इसी को ठसा लगना या उछू लग जाना कहते है।

दाँत

जवड़े और उनमे लगे हुए दाँत मुँह में चक्की का काम करते है। मनुष्य के दाँत तीन तरह के होते है और खाने को कुचलने या तोड़ने-फोड़ने में प्रत्येक का अपना-अपना अलग कार्य नियत है। सामने की ओर के छेनी के सदृश चार ऊपर और चार नीचे के चपटे तेज दाँत काटने या कुतरने के लिए होते है। इनके दोनों ओर हर एक जवड़े में एक-एक लम्वा और नोकीला अत्यन्त मजवूत दाँत और

होता है जो चीरने-फाड़ने के उपयुक्त होता है। शेष दाँतों का ऊपरी भाग (सिरा) चौडा होता है और ये दाँत चक्की के पाट की तरह भोजन को कुचलने और पीस डालने का काम करते हैं। दोनों तरफ दो-दो कुचलनेवाली अग्र डाढें और तीन-तीन चबानेवाली डाढें होती हैं। पूर्ण वयस्क मनुष्य मे दाँतों की संख्या ३२ होती है, जिनमे काटनेवाले ८, फाड़नेवाले ४, कुचलनेवाले ८ और चबानेवाले १२ दाँत होते हैं।

शाकाहारी जन्तुओ में कुचलने या चबानेवाले दाँत (डाढें) खास तौर से बढे रहते हैं। मांसभक्षियों मे फाडनेवाले दाँत बहुत लम्बे होते हैं तथा काटनेवाले भी अधिक पैने होते हैं। उनमे जो डाढे होती हैं उनके भी सिरे तीक्ष्ण और काटनेवाले होते हैं। मनुष्य मे तीनों प्रकार के दाँतो का होना इस बात का प्रमाण है कि उसको सभी प्रकार का खाना खाना चाहिए। दाँत इसीलिए हैं कि खाई हुई चीज काटने, फाड़ने, कुचलने और चबाने के बाद लार से मिलकर ऐसी हो जाय कि उसके पचने मे सुभीता हो। इनकी हालत तभी अच्छी रहती है जब इनसे खूब काम लिया जाय। गन्ना खाने से, कडे फलो को काटने से और दातौन करते रहने से वे खूब अच्छे बने रहते हैं। अत्यन्त ठंडी, बहुत ही गर्म तथा सदा नर्म वस्तुओ के प्रयोग से वे निर्बल और सुकुमार हो जाते हैं। उनके खराब होने से खाना भी ठीक से हज्म नहीं होता। कुछ दिनों में इसका प्रभाव सारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। अत. यदि आप अपनी तन्दुरुस्ती कायम रखना चाहते हैं और दाँतों को सुदृढ़ रखना चाहते हैं तो उनसे खूब काम लेते रहिए और उनकी स्वच्छता का भी पूरा ध्यान रखिए।

मानव जीवन में दाँत दो बार निकलते हैं

जन्म के सातवें-नवें महीने में जो दाँत सबसे पहले निकलते हैं वे दूध के दाँत कहलाते हैं और गिनती में २० ही होते हैं। असली दाँतों के मुकाबले में ये दाँत कुछ छोटे और कमजोर होते हैं। ये २० दाँत पूरे-पूरे ३ वर्ष की उम्र तक निकल आते हैं और ६ और ७ वर्ष की अवस्था में एक-एक करके गिरने लगते हैं। १०–१२ वर्ष की उम्र होते-होते असली दाँत या अन्न के दाँत निकल आते हैं। वास्तव में, जैसे-जैसे असली दाँत बढ़ते जाते हैं दूध के दाँत ढकिल-ढकिलकर बाहर गिरते जाते हैं।
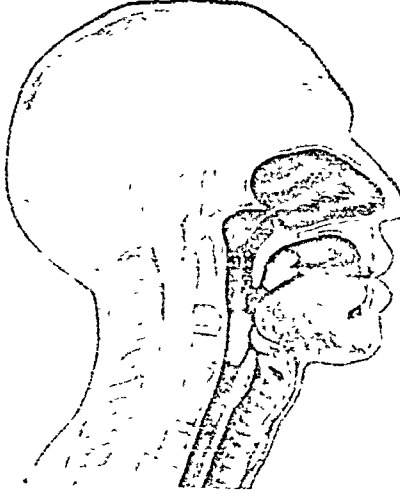
गले के पिछले हिस्से में भोजन-नली के अलावा दो सूराख और हैं— एक तो नाक को जानेवाला मार्ग और दूसरा श्वास-नली का रास्ता। जब चबाया हुआ कौर ढकिलकर जीभ के पीछे गले में उतरने लगता है तो नाकवाले सूराख के सामने लटकते हुए कौए को इस प्रकार ढकेल देता है कि वह सूराख बन्द हो जाता है और खाना आगे बढ़ जाता है। जब वह और नीचे पहुँचता है तो स्वरयंत्र की नर्म हड्डियाँ सरककर श्वास-नली के छिद्र को छोटा कर देती हैं। ऐसा होने से कौर स्वरयंत्र-च्छद को ढकेलकर सूराख को बन्द करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ़ जाता है।

आमाशय

चबाया हुआ भोजन लार के साथ मिलकर भोजन की नली मे उतरता है और उसकी दीवाल की पेशियों के संकोच से धीरे-धीरे ढकिलकर गले से नीचे उतर आमाशय की थैली में जा पहुँचता है। दैनिक बोल-चाल में हम आमाशय को ही पेट कहते हैं। पृ० १४६१ का चित्र देखिए, आमाशय अन्न-मार्ग का ही एक फैला हुआ भाग है, जो एक छोटी-सी मशक की भाँति धड़ के करीब-करीब बीच मे एक ओर से दूसरी ओर को फैला हुआ है। इस थैली में दो रास्ते होते हैं— एक मार्ग से तो उसमें गले से भोजन आता है और दूसरे से पचा हुआ भोजन निकलकर आँत में उतरता है। आनेवाले मार्ग को आमाशय का **हृदय द्वार** और जानेवाले को **पक्वाशयिक द्वार** कहते हैं। दूसरा द्वार मजबूत चक्राकार पेशियों से घिरा रहता है और आम तौर से कसकर बन्द रहता है। ये मांस-पेशियाँ मानों पहरेदार का काम करती हैं। आमाशय मे भोजन की पाचन-क्रिया जब तक पूरी नहीं होती तब तक ये पुट्ठे उसको आँत में जाने नहीं देते। आमाशय के अन्दर की पाचन-क्रिया के प्रारम्भ में पक्वाशयिक द्वार बन्द रहता है और उसके हल्के संकोचों से खुल नहीं जाता। इसलिए भोजन घूम-फिर-कर थैली ही में बना रहता है। ज्यों ज्यों पाचन-क्रिया पूरी होती जाती है मैदे की सिकुड़न भी जोरदार होती जाती है और उसमें से आँत को जानेवाला रास्ता खुलने लगता है। तब सिकुड़न की प्रत्येक लहर के साथ

थोड़ा-थोड़ा घुला हुआ आहार आँत में जाने लगता है। वयस्क मनुष्य के आमाशय की लम्बाई लगभग १ फुट और चौडाई करीब-करीब ४ इंच होती है। उसकी समाई १।। सेर की होती है। किन्तु यह समाई आयु के अनुसार बदलती रहती है। नवजात शिशु के आमाशय में आधे या पौन छटाँक तक दूध की जगह होती है। खाली होने पर आमाशय की दीवालें बिना हवा भरे फुटवाल के ब्लेडर के सदृश एक दूसरे से मिली रहती है और उसकी शक्ल ट्यूब की-सी हो जाती है। जब वह भोजन से भर जाता है तो कुछ-कुछ नासपाती की तरह दिखलाई पडने लगता है। इस नासपाती का चौड़ा भाग मानो ऊपर बाईं ओर तथा पतला हिस्सा नीचे को दाहिनी ओर रहता है। आमाशय की दीवाल में कई तहे होती है, जिनमें से पेशियों के सूत्रोवाली तह और सबसे भीतरी श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह सबसे जरूरी है। सूत्र तीन तहों मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे फैले रहते है। इनके संकोच और प्रसार से भोजन आमाशय मे पहुँचते ही इधर-उधर घुमाय और झकझोरा जाने लगता है। पेशियाँ ऐसे अच्छे ढंग से बनी हैं कि आहार को वे आमाशय के एक कोने से दूसरे कोने में फेंकती रहती है और उसको भली भाँति मथकर गाढे मट्ठे जैसा कर देती है। ज्यो-ज्यो भोजन मथा जाता है उसमें आमाशय-रस भी मिलता जाता है। यह रस उन छोटी-छोटी गुत्थियों से निकलता है जो श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह के भीतर फैली रहती है और उसकी सतह पर खुलती है। दिन भर मे यह गुत्थियाँ पाँच बोतल या और ज्यादा रस बनाती है। इस भीतरी तह मे एक और तरह की गुत्थियाँ रहती है जिनसे चिकना या लसलसा श्लेष्म निकलता रहता है। भोजन चाहे जितना कर लिया जाय आमाशय की दीवालें उसके पास ही रहती है और वह उनके दबाव, मन्थन तथा रस के मिलने से घुल-मिलकर आहार रस (chyme) बन जाता है। आमाशय की पेशियों की भी गति अन्न-प्रणाली की लहरों के ही समान है। आमाशय की लहरें हर १५-२० मिनट के बाद करीब-करीब उसके बीच से उठकर पक्वाशयिक द्वार की ओर धीरे-धीरे चलती रहती है। आमाशय के अन्दर पाचन-क्रिया एक से तीन-चार घंटे तक चलती है। जिस तरह लार का असर श्वेतसारो पर होता है उसी तरह आमाशय-रस का असर मासवर्द्धक पदार्थों पर होता है। जो भोजन-सामग्री आमाशय-रस से जल्दी टूट-फूट जाती है वह मैदे में कम रुकती है। इसके विपरीत जो सामग्री देर मे टूटती है वह देर तक रुकी रहती है। यदि खाली पेट प्यास बुझाने के लिए आप पानी पियें तो पक्वाशयिक द्वार फौरन ही खुल जाता है और पानी पक्वाशय मे दो मिनट के अन्दर ही पहुँच जाता है।
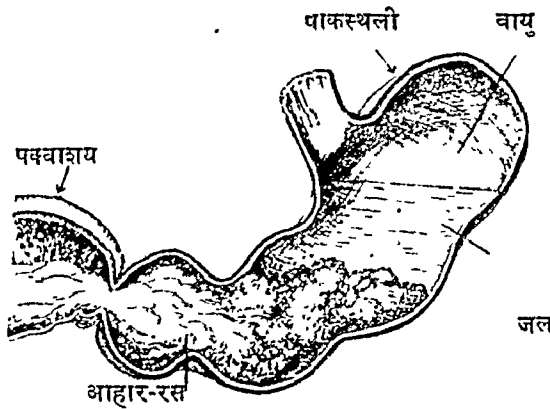
आमाशय में भोजन जब पचकर पतला पड़ जाता है तो धीरे-धीरे पक्वाशय-द्वार में होता हुआ आँत में जाने लगता है। (चित्र देखिए) आमाशय के निचले हिस्से से आहार-रस बहकर पक्वाशय में जा रहा है। उसके ऊपर जल है और सबसे ऊपर हवा भरी हुई दीख रही है।

छोटी और बड़ी आँत

आँत अन्न-प्रणाली का वह हिस्सा है जो आमाशय के पक्वाशयिक द्वार से लेकर मल-द्वार तक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी नली के रूप में फैला रहता है। इसके दो भाग होते है। पहले भाग को छोटी आँत और दूसरी को बड़ी आँत कहा जाता है। **छोटी आँत लगभग २० फीट लम्बी और बड़ी आँत ५ फीट लम्बी होती है।** छोटी आँत की मोटाई १ इंच और उसकी सतह चौरस होती है और वह बड़ी आँत से मिली रहती है। बड़ी आँत की मोटाई छोटी आँत से दुगुनी होती है और सतह भी जगह-जगह पर फूली रहती है। छोटी आँत का पहला हिस्सा १० इंच लम्बा होता है, और मैदे के नीचे अर्ध-चन्द्र की शक्ल में घूमा रहता है। इसको पक्वाशय कहा जाता है।

क्लोम ग्रंथि

पक्वाशय के घुमाव में उदर की पिछली दीवाल से लगी हुई एक बड़ी गिल्टी होती है, जो क्लोम (Pancreas) कहलाती है। उसका दाहिना सिरा पक्वाशय के घेरे में और बायाँ सिरा आमाशय के पीछे तिल्ली से लगा रहता है। इस गिल्टी में जो पाचन-रस बनता है वह एक नली से होकर पक्वाशय में पहुँचता है। क्लोम-रस पक्वाशय से आये हुए भोजन में मिलकर उसको और भी पचने योग्य बना देता है, जैसा आगे बतलाया जायगा। छोटी आँत की
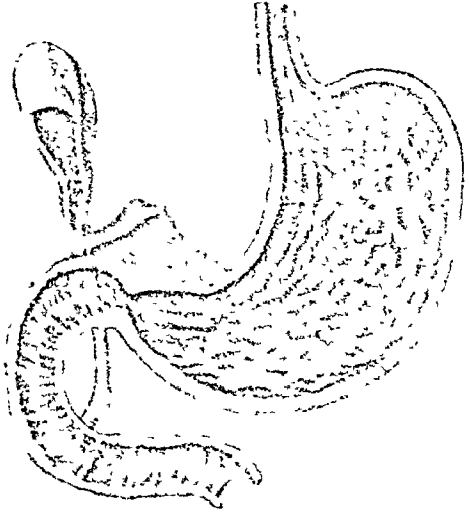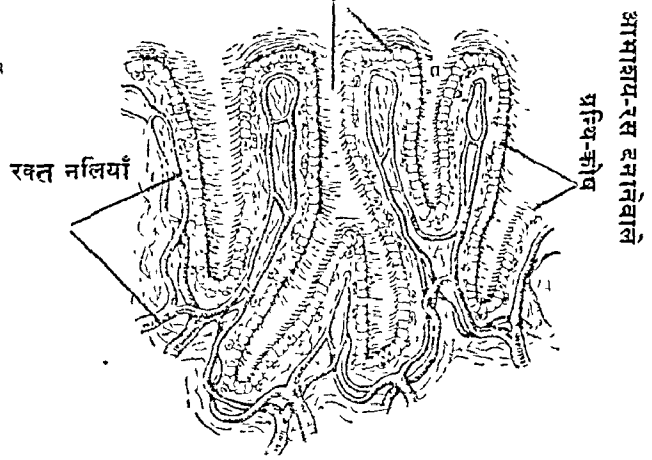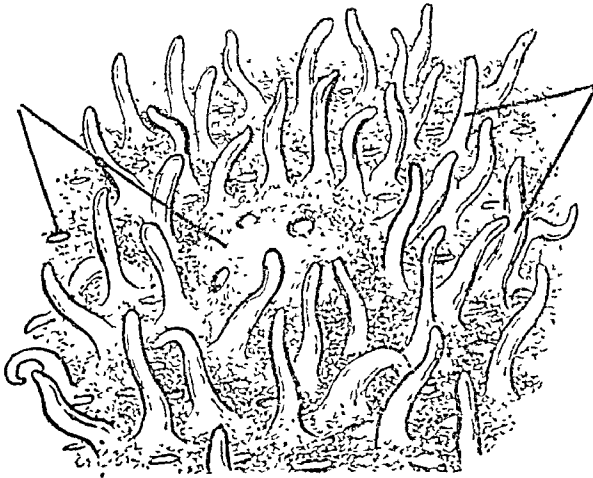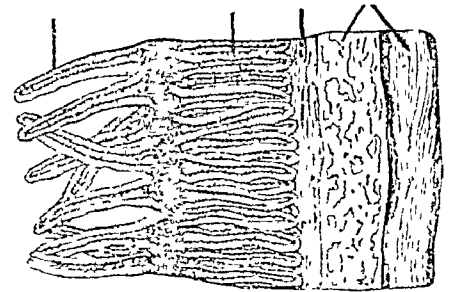
आमाशय और आँत की रचना—(अ) आमाशय और उससे संबद्ध आँत का दृश्य। इससे विदित होता है कि उसकी सतह कैसी खुरदरी है। (व) आमाशय की दीवार का एक परिवर्द्धित-अंश', जिसमें आमाशय-रस की नलिकाएँ, उसे बनाने वाले ग्रंथि-कोष और रक्त-नलियाँ दिखाई गई हैं। (स) आँत के थोड़े से भाग का बढ़ाया हुआ चित्र, जिसमें उँगलियों के-से निकले हुए ग्राहकांकुर दिखलाई पड़ रहे हैं। इनके बीच-बीच में पाचक-रस बनानेवाली गुत्थियों के सूराख नजर आ रहे हैं। (द) छोटी आँत की दीवाल से काटा गया एक पर्त, जिससे उसकी रचना का ज्ञान होता है।

दीवारों की बनावट भी आमाशय की दीवारों की बनावट की तरह होती है, लेकिन उसमें पेशियों के सूत्र भिन्न-भिन्न दिशाओं मे न फैलकर वृत्ताकार लिपटे रहते हैं। इन पेशियों के सिकुड़ने से ही आहार ढकिलकर धीरे-धीरे पेचदार लम्बी आँत के अगले सिरे से बड़ी आँत तक जा पहुँचता है।

आँत की क्रिया-प्रक्रिया

आँत की नली की मरोड़ या ऐंठन कई तरह की होती है। आँत का एक-एक पूरा घुमाव झूले के समान एक ओर से दूसरी ओर को झूलता रहता है और साथ-ही-साथ बीच के सीधे भाग जगह-जगह वृत्ताकार पुट्ठों के संकोच से विभिन्न हिस्सों में बँट जाते हैं। भोजन कुछ देर आँत के हर एक फन्दे में रुकता है, जहाँ पर इधर-उधर हिलने और मथने से पाचक रस उसमे अच्छी तरह मिल जाते हैं।

थोड़ी देर के बाद एक सिकोड़ की तेज लहर फन्दे पर आगे से पीछे को दौड़ती हैं और आहार-रस आगेवाले फन्दे में सरक जाता है। इसी तरह धीरे-धीरे, कभी रुकते और कभी ढकिलते हुए, आहार रस को इस २० फीट की राह काटने में लगभग ३ घंटे लगते है। इस समय में आहार-रस की अवस्था और रचना में बहुत-कुछ परिवर्तन हो जाता है और इस आँत में आहार का मुख्य हिस्सा खून में खिंच जाता है। कैसे ? छोटी आँत की भीतरी तह मखमल के कपड़े की तरह होती है। जिस प्रकार मखमल के ऊपर छोटे-छोटे महीन-महीन डोरे निकले रहते है उसी प्रकार श्लैष्मिक झिल्ली की सतह पर छोटी-छोटी गिल्टियों के बीच में सहस्रों पतले रेशे उभरे रहते है। पतले रेशे लम्बाई में $\frac{1}{25}$ इंच होते है। यही ग्राहकाकुर कहलाते है। खाना हज्म होते समय ये ग्राहकांकुर स्थिर नहीं होते, वरन् सदा कल-बलाया करते है। ये कभी बढते है, कभी सिकुड़ते और कभी इधर-उधर हिलते-डोलते रहते हैं। इन्ही अंकुरों के सहारे आहार-रस खून मे मिलता है। इन चूसनेवाले रेशों मे से प्रत्येक के बाहर पचने योग्य आहार-रस भरा रहता और भीतर की ओर रक्त की धार बहती रहती है। आहार-रस और खून की धार के बीच में अंकुरों को बनानेवाले कोषों की एक तह रहती है। ये कोष लार-ग्रन्थियों के कोषों की तरह जीते-जागते और चतुर होते है। वे अच्छी तरह पचे हुए आहार-रस के आवश्यक तत्त्वों को बाहर से अपने मे खींच लेते है और उन्हें भरे हुए खून की धार में मिला देते है।

इस प्रकार प्रोटीन टूटकर अमीनोकाम्ल के रूप में, कर्बोदित टूटकर ग्लूकोज या सरल शक्कर के रूप मे, और नमक की तरह की और साधारण वस्तुएँ बिना किसी पाचन-क्रिया के सीधी रक्त-धार में मिल जाती हैं और वहाँ से यकृत में होकर रक्त के द्वारा शरीर के समस्त अवयवों में पहुँच जाती है।

छोटी आँत में न सोखा जानेवाला भोजन का हिस्सा बड़ी आँत में चला जाता है और यदि कुछ सोखने लायक अंश बच भी रहता है तो उसको बड़ी आँत सोख लेती है। भोजन को पचाने मे बड़ी आँत का भाग बहुत ही कम है लेकिन वह बचे-बचाये गीले तरल पदार्थ मे से पानी अवश्य सोख लेती है, जिससे बड़ी आँत में ठोस भाग ही बच रहता है। यही मल है जो बड़ी आँत की पेशियों के बार-बार सिकुड़ने से आगे बढता है और अन्त मे मलद्वार के द्वारा शरीर से त्याग दिया जाता है।

बड़ी आँत पेट मे दाहिनी ओर से शुरू होकर ऊपर की तरफ सीधे यकृत के नीचे तक चली जाती है, फिर मुड़कर पेट को सीधा पार करके बाईं ओर जा पहुँचती है और वहाँ से घूमकर सीधी नीचे को आकर मलाशय में मिल जाती है। बड़ी आँत कुल ५-६ फीट लम्बी होती है। इसकी लम्बी दौड़नेवाली पेशियाँ तीन बंडलों में इकट्ठी होती है। इनकी लम्बाई आँत से कम होने के कारण आँत जगह-जगह फूल जाती है। इस फुलाव की जगह से भोजन के बचे-बचाये अंश को आगे बढ़ने मे देर लगती है। बड़ी आँत की भीतरी सतह में आमाशय तथा छोटी आँत की तरह न तो चुन्नट ही होती है और न ग्राहकाकुर ही, लेकिन उसमें छोटी-छोटी कई गिल्टियाँ होती है।

उपांत्र या एपेंडिक्स

छोटी और बड़ी आँत के बीच के सूराख को घेरे हुए पहरेदार की तरह की एक चक्राकार पेशी होती है जो भोजन के निकलने को वश में रखती है। इसके पास बड़ी आँत से छोटी-सी दुम सा निकला हुआ जो अंश नजर आता है वही उपांत्र (appendix) है। मनुष्य में इसका कोई काम नहीं है लेकिन खरगोश जैसे शाकाहारी स्तनपोषियों में यह अंग भी और भागों की तरह काम करता है। हममें तो वह एक ऐसा बेकार अंग है जो प्राचीन अविकसित दशा की याद दिलाता है। शरीर मे इसका न होना हमारे लिए अच्छा ही होता; क्योकि कभी-कभी उसमें तेज पीड़ा होने लगती है और प्राणघातक सूजन आ जाती है।

भोजन के पचने में बड़ी आंत का कोई बड़ा भाग नहीं

है। इसको काटकर निकाल देने के बाद भी आदमी तन्दु-रुस्त और फुर्तीले बने रहते हैं। भोजन के बचे-बचाये अंश जब बडी आँत मे पहुँचते हैं, तो उनमें विशेषकर नष्ट-भ्रष्ट कोष और कीटाणु रहते हैं जो मल के सड़ने के कारण और भी बढ जाते हैं। इसलिए बड़ी आँत मे पहुँचकर मल शरीर से जितनी जल्दी बाहर निकल जाय उतना ही अच्छा है; क्योकि इसके रुके रहने से जो पानी बडी आँत सोखती रहती है उसमे कुछ-न-कुछ गंदगी जरूर मिल जाती है। चिड़ियों मे बड़ी आँत होती ही नही। इसलिए उनमें जैसे ही मल छोटी आँत से मलाशय में पहुँचता है वैसे ही वह बाहर निकल जाता है। अन्य जानवर और शिशुओ को भी जब ही हाजत होती है वे पाखाना कर लेते है। अधिकतर लोग दिन में एक बार ही मल-विसर्जन करते हैं।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि मनुष्य की वर्त्तमान खाद्य आवश्यकताओं के हिसाब से उसकी अन्न-प्रणाली जरूरत से ज्यादा लम्बी है। भोजन करने के समय से उसके मलाशय तक पहुँचने में कम-से-कम २४–२६ घंटे लगते हैं। इतनी देर मे जरूर बहुत कुछ सड़न उसमें आ जाती है, जिससे सहस्रों बैक्टीरिया और दूषित वायव्य पैदा हो जाते है। लंदन के प्रसिद्ध चीर-फाड़ करनेवाले एक डाक्टर का कथन है कि अगर मनुष्य का आमाशय, उपांत्र और बड़ी आँत निकाल दिये जायँ तो हानि की अपेक्षा कुछ फायदा ही हो जाय।

यकृत या जिगर

आँत से सम्बन्ध रखनेवाले अंगो मे यकृत (Liver) ही सबसे बड़ा और आवश्यक है। तौल मे वह १॥–१॥। सेर होता है। वह दाहिनी ओर की पसलियों के भीतर काफी दूर तक छिपा रहता है और उसका कुछ हिस्सा बाईं ओर आमाशय के सामने तक भी रहता है। उसके ऊपर दाहिना फेफड़ा और नीचे आँते रहती है। यकृत या जिगर के चार गोलाकार खण्ड होते हैं, जिनमे से दो छोटे और दो बड़े खण्ड रहते है।

किरमिजी रग का यह भारी और ठोस अग ग्रन्थि-कोषों से परिपूर्ण रहता है। इनके बीच मे रक्त-नलिकाओं की अत्यन्त सूक्ष्म शाखायें फैली रहती हैं। यकृत कई कार्य करता है। वह भोजन के पाचन मे ही सहायता नही करता वरन् टूटे-फूटे बेकार रक्त-कणों और खून मे संयोग-वश आये हुए ठोस टुकड़ों--बैक्टीरिया इत्यादि—को खून की धारा से अलग करके खून को साफ कर देता है। इतना ही नही, वह पचाये हुए आहार का भाण्डार भी है। जब जिगर के काम मे कोई गडबड़ी हो जाती है या जब जरूरत से ज्यादा मीठा खाना खाने के कारण जिगर का भण्डार ठुस जाता है तब पित्त का विकार हो जाता है, मिजाज मे चिड़चिड़ापन आ जाता है और बदहजमी के चिह्न नजर आने लगते हैं। अंग्रेजी की इस कहावत मे बहुत कुछ सच्चाई है कि "जीवन की सार्थकता यकृत पर ही निर्भर है।"

जिगर का एक टुकड़ा अगर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र मे देखा जाय तो उसमें अधिकतर कई पहलवाले बड़े कोष ही दिखाई देंगे (पृ० १४६१ का निचला चित्र देखिये)। इन कोषों के बीच में केन्द्र (nucleus) बड़ा होता है और उनको बतानेवाला जीवन-मूल दाने-दार होता है। अक्सर उसके बीच में बहुत-सी नन्ही-नन्ही तेल की चमकदार बूँदे होती हैं। ये कोष समूहों में एकत्रित रहते है और एक प्रकार का पाचन-रस बनाते हैं। इसी रस का नाम पित्त है। यह कसैला हरा-पीला रस कोषों से निकल महीन-महीन शाखाओं द्वारा दाहिनी या बाईं ओर की बड़ी नलिकाओं मे बह आता है। ये दोनों नलियाँ जिगर के बाहर आकर एक दूसरे में मिल जाती हैं।

पित्ताशय

जिगर के नीचे की ओर एक छोटी-सी थैली—पित्ताशय—होती है। इसमे पित्त इकट्ठा होता रहता है। इस थैली से एक नली निकलकर जिगरवाली नली से मिलकर पित्त की नली बनाती है। यह नली क्लोम-रस की नली के साथ-साथ पक्वाशय मे प्रवेश करती है और अपना रस पक्वाशय के अन्दर पहुँचाकर आहार-रस को प्रभावित करती है। पित्त क्लोम-रस की मदद करता है और उसकी चिकनाई को पचने योग्य बनाता है। इसके मिलने से आहार-रस खून मे जल्दी मिलने लायक हो जाता है। छोटी आँत मे जब पित्त नही पहुँचता तो क्लोम-रस को अपना काम करने मे अड़चन होती है। जब कभी सर्दी के कारण पित्त-नली या उसकी आँत में खुलने की जगह पर सूजन आ जाती है तो पित्त आँत मे पहुँचने से रुक जाता है और आहार-रस की चिकनाइयाँ हज्म नही होती तथा दूसरे पदार्थो पर फैलकर उन्हें भी हज्म नहीं होने देती। जिगर में रुका हुआ पित्त जोर करके खून में प्रवेश कर जाता है जिससे आँखे और खाल पीली हो जाती है। यही कमल रोग कहा जाता है। शराब अधिक

पीने से भी जिगर में जल्दी ही खराबी आ जाती है। पूर्वोलिखित बातों से विदित होता है कि शरीर के अंगों में यकृत एक बड़ा आवश्यक और नाजुक कारखाना है जो थोड़ी-सी भी लापरवाही से बिगड़ जाता है और समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। इसलिए हमको उसकी सारी क्रियाओं को अच्छी तरह समझना चाहिए। इसकी सारी क्रियाओं की पूर्ण कहानी हम आपको फिर कभी सुनायेंगे। आगे के लेख में यह बतलाया जायगा कि अन्न-प्रणाली में बननेवाले रसों का भोजन पर रासायनिक प्रभाव कैसे पड़ता है।

खाद्य पदार्थ और उनका पाचन

पिछले प्रकरण में पाचन-संस्थान, अन्न-प्रणाली और कुछ ग्रन्थियों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब हम खाद्य पदार्थों के पाचन और समीकरण का विस्तृत विवरण आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि भोजन-सामग्री जिस दशा में खाई जाती है उसी दशा में शरीर में नहीं घुल सकती। भोजन-पदार्थ शरीर के उपयोग में तभी आ सकते हैं जब वे तन्तु-झिल्ली के अन्दर से निकल जानेवाले घुलनशील रूपों में परिवर्तित हो जाएँ और आमाशय तथा आँतों की दीवालों के भीतर से जाकर रक्त में मिल जायँ। पाचन-क्रिया का उद्देश्य यही है कि सभी प्रकार के अघुलनशील और ठोस खाद्यों को तोड़-फोड़कर घुलनशील रूप में बदल दे और उन्हें शोषण के योग्य कर दे, जिससे वे रक्त में मिलकर शरीर के सब भागों में पहुँचकर उनके पालन-पोषण में सहायता दे सकें।

अन्न मार्ग में जगह-जगह पर कई ऐसे कारखाने हैं जिन से तरह-तरह के पाचक रस निकल कर खाद्य पदार्थ की लम्बी यात्रा में उससे आ मिलते हैं और उस पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस लेख में हम मुख्य रूप से इन्हीं का हाल बतलायेंगे; किन्तु इसके पहले यह आवश्यक जान पड़ता है कि भाँति-भाँति के आहारों और उनके रसायन का कुछ हाल बतला दिया जाय।

आहार के प्रकार और उनका रसायन

खाद्य पदार्थ तीन मुख्य समूहों में विभाजित किये जाते हैं—(१) कर्बोदित, (२) प्रत्यामिन और (३) वसा या चर्बी। इनके अतिरिक्त कुछ खनिज लवण, खाद्योज (Vitamin) और पानी भी खाद्य ही में शामिल हैं।

कर्बोदित—खाने की सामग्री में इनका अधिक भाग होता है। कम-से-कम भारतवर्ष तथा अन्य देशों के शाकाहारियों में तो भोजन-सामग्री का मुख्य भाग कर्बोदित ही होते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं तथा वनस्पतियों से इनकी अधिक मात्रा प्राप्त होती है। शक्कर, निशास्ता, श्वेतसार, माड इत्यादि इनमें मुख्य हैं। आलू, चावल, गेहूँ तथा जौ प्रधानतया स्टार्चयुक्त पदार्थ हैं। स्टार्च पौधों द्वारा एकत्र किये गए आहार हैं जिन्हें वे आगे चलकर या तो अपने काम के लिए या बीज (बच्चों) के लिए इस रूप में जमा करते हैं। आलू की गाँठ अपने पौधे का भाण्डार है जिससे फूटे हुए अंकुवे जब तक बढ़कर सूर्य से अपने लिए शक्ति खींचने योग्य नहीं हो जाते तब तक इसी भाण्डार पर निर्भर रहते हैं। गेहूँ, जौ, जई, मक्का, बाजरा, चावल आदि अनाज पौधों के बीज हैं, जिनमें जमा की हुई भोजन-सामग्री को आटा, रोटी, हलवा, खिचड़ी, चबैना इत्यादि के रूप में हम ग्रहण करते हैं। यही वे सस्ते भोजन हैं, जिनसे हम अपने पेट को भरकर शारीरिक यंत्रों को चलाने के लिए ईंधन प्राप्त करते हैं। मनुष्य इन्हें पकाने के बाद ही आसानी से पचा सकता है, लेकिन अन्य जानवर—गाय, घोड़ा आदि—उनको कच्चा ही पचा लेते हैं।

शक्कर गन्ने और खजूर में बहुत पाई जाती है, किन्तु चुकन्दर तथा अन्य बहुत-से फलों में भी मिलती है। यह सब पेड़ों और फलों के रसों में पाई जाती है। यदि यह कहा जाय कि शक्कर पेड़ों में एक जगह से दूसरी जगह जानेवाला भोजन है तो अनुचित न होगा। श्वेतसार पानी में नहीं घुल सकता, परन्तु शक्कर घुल जाती है। इसलिए जब अघुलनशील स्टार्चों को भाण्डारों से कहीं ले जाने की आवश्यकता होती है तो पौधे थोड़े-से हेर-फेर से उन्हें शक्कर में बदलकर जल में घोल एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं और अपने कोषों को जिस जगह जरूरत होती है वहीं उसे सौंप देते हैं।

मिश्री, गुड़ और चीनी खालिस अग्नि-उत्पादक वस्तुएँ हैं। पानी निकल जाने के कारण इनमें बेकार बच रहने वाला पदार्थ नहीं होता। ३-४ चम्मच दानेदार शक्कर

या मिश्री के ३-४ बड़े टुकड़ों में ही हमको इतनी अग्नि-दायक सामग्री मिल जाती है जितनी कई सेर स्टार्चवाले आहारों के खाने पर मिलती है। फलों मे पानी का भाग अधिक होता है, इसलिए उनका अग्नि-उत्पादक मूल्य कम होता है; किन्तु जब उनका पानी सूख जाता है तो उनकी यह बहुमूल्यता फिर बढ़ जाती है, जैसे किशमिश, मुनक्के, खूबानी मे। शहद मधुमक्खियों का संगृहीत खजाना है जिसको वे अपने छत्ते मे इकट्ठा करती है; जिस प्रकार हम अपने बचे हुए धन को बैंक मे जमा कर देते है और जरूरत के समय खर्च करते है, उसी प्रकार मधुमक्खियाँ जमा किए हुए शहद का प्रयोग करती है। कर्वोदित तीन तत्त्वों—कार्वन, ओपजन और उद्‌जन—के संयोग से बनते है। उद्‌जन के परमाणुओ की संख्या ओपजन के पर-माणुओं से दुगनी होती है। इन यौगिकों मे सब से अधिक प्रयोजनीय वे समझे जाते है जिनमे कार्वन के ६ परमाणु हों। ये तीन समूहों में बाँटे जाते हैं। पहला—इक-शर्करिद; जैसे—फलोज, दुग्धस्योज, द्राक्षोज इत्यादि। दूसरा—द्वि-शर्करिद; जैसे—यवोज और इक्षु-शर्करा। तीसरा—बहु-शर्करिद; जैसे—निशास्ता, दक्षिणिन आदि।

कर्वोदित के यौगिक चाहे किसी रूप मे भी खाए जायँ अन्नमार्ग में इक-शर्करिद मे परिवर्तित होकर ही रक्त-केशि-काओ में पहुँचते है। पहले बताए हुए तीनो प्रकार के इक-शर्करिद सहज ही एक दूसरे मे बदल जाते हैं। किसी एक का घोल कुछ दिन रख छोड़ा जाय तो उसमे तीनों ही प्रकार के इक-शर्करिद मिलते हैं। जब हम कर्वोदित खाते है तो वे इन्ही यौगिकों के रूप मे आँतो की श्लैष्मिक क्रिया से कोष्ठों में शोषित हो रक्त-प्रवाह में पहुँचते है। रक्त में अवकीर्ण होनेवाली शर्कराओं की मात्रा सदैव एक ही रहती है। जब रक्त द्वारा यह इक-शर्करिद यकृत में पहुँचते है तो वहाँ इनका कुछ भाग मधुजन या 'ग्लाइकोजन' बन जाता है और बाकी बचा अंश खून के द्वारा शरीर के अन्य-अन्य भागो मे पहुँचकर ओपदीकरण से शक्ति उत्पन्न करता है। कर्वोदित के ओपदीकरण के अन्तिम फल कर्वनद्वियोपिद और जल है; परन्तु इस क्रिया का अन्त होने के पूर्व कर्वोदित कई रूपों में परिणत हो जाते हैं।

प्रत्यामिन— ये ऐसे यौगिक है जो प्रकृति की रसोई ही में पककर हमें बने बनाए मिलते है। ये आहार मे जीवन-मूल के सब से निकट है और जीवन के जादूभरे स्पर्श मात्र से ही जीवनमूल मे बदल जाते हैं। हमको प्रत्यामिनक भोजन गोश्त, मछली, अंडे, हरे शाक, बीज, मटर, सेम, दूध और पनीर से प्राप्त होते है। सूखे और हरे सेम, चना, मसूर, मूँगफली, मटर आदि मे प्रत्यामिन या जीवन का अंश अग्निदायक भोजन की तह मे लिपटा हुआ भरा रहता है। जब हम इन वस्तुओं को खाते है तो इनका फायदा उठाते है। पनीर दूध के प्रत्यामिनक भाग से ही बनती है। दूध और अंडे हमारी सारी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले सर्वोत्तम पदार्थ है। एक गिलास दूध में १। तोला और अंडे मे १२ फी सदी बहुमूल्य प्रत्यामिन मिलता है।

कार्वन, ओपजन, नोषजन, उद्‌जन, गंधक और स्फुर से मिलकर प्रत्यामिन बनते हैं। इन तत्त्वों की मात्रा यौगिकों मे इस प्रकार होती है:—

कार्वन —५४ ५ प्रति सैकड़ा; उद्‌जन—७·३ प्रति सैकड़ा;
ओपजन—२३ ५ प्रति सैकड़ा; गंधक—२ २ प्रति सैकड़ा;
नोपजन—१७·६ प्रति सैकड़ा; स्फूर—०·४—०·८ प्रति सैकड़ा।

स्फुर सब प्रत्यामिनो में तो नही मिलता, लेकिन बहुतों मे मिलता है।

प्रत्यामिनों का विश्लेपण किया जाय तो उनके अणु टूटकर कई प्रकार के अमिनोम्ल बन जाते है, जिससे विदित होता है कि कई अमिनोम्लों के संयोग से प्रत्यामिन तैयार होते है। आँतों की श्लैष्मिक क्रिया में पहुँचने के पूर्व प्रत्यामिन खमीरों की क्रियाशीलता से टूटकर भाँति-भाति के अमिनोम्ल मे बदल जाते है और उसी क्रिया के द्वारा सोख लिये जाते है। रक्तधारा में पहुँचने के पहले प्रत्यामिन अमिनोम्ल का रूप धारण कर लेता है। परन्तु इसमें सन्देह नही कि प्रत्यामिन का शेष भाग अपनी उसी दशा में रक्त में प्रवेश करता है। शरीर के किसी अंग की लुगदी मे केशिन, मधुजन, ल्यूसिन, टायरोसिन आदि अमिनोम्ल मिलाये जायें तो उसमें अमोनिया की उत्पत्ति होती है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर के अंगो में अमिन-विच्छेदक खमीर होते है जिनके प्रभाव से अमिनोम्ल का विच्छेद होकर अमोनिया उत्पन्न होती है, जो 'मूत्रिया' या 'यूरिया' के रूप मे बदल जाती है। अमोनिया रुधिर मे कर्वोनेत या कर्वो-मिद के रूप मे मिलता है। ये दोनो पदार्थ यूरिया बनकर शरीर से बाहर निकाले जाते है। अमिनोविच्छेदन की यह क्रिया शरीर के सभी अंगों में हो सकती है, परन्तु ज्यादा-तर तो यकृत मे होती है। यकृत ही मे अमोनिया यूरिया का रूप ग्रहण करता है। यूरिया में अमिनोम्ल का एक मुख्य भाग नोपजन होता है, जिसका ओपदीकरण कभी नही होता। उत्तरोत्तर वृद्धि और क्षतिपूर्ति के लिए हमको

बहुत थोड़े ही से नोपजन की आवश्यकता होती है। इसी लिए प्रत्यामिनक भोजनों में जो अधिक नोपजन खाया जाता है वह मूत्र द्वारा त्याग दिया जाता है। अधिक प्रत्यामिनक भोजन खाने से ४-५ घंटे में सब नोपजन का आधा भाग यूरिया बनकर मूत्र में मिल जाता है। परन्तु यह मालूम हुआ है कि मांसयुक्त आहार को पूरी तौर से पचने में ८-१० घंटे लगते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भोजन का अधिकाँश नोपजन मूत्र में निकल जाता है। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्यामिनकभोजन की आवश्यकता शरीर की वृद्धि के लिए या भिन्न-भिन्न कार्यों से उत्पन्न होनेवाली क्षीणता की पूर्ति तथा शारीरिक कार्य - संचालन के हेतु आवश्यक शक्ति को ओषदीकरण द्वारा उत्पन्न करने के लिए होती है। प्रत्यामिन भी अन्य खाद्य पदार्थों की तरह एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जैसे मनुष्य, चिड़िया, बकरी और मछली के मांस गुणों में एक-से नहीं होते, उसी तरह हरी पत्तियों, बीज, दूध और अंडों के प्रत्यामिन अथवा प्रोटीन सब एक-से नहीं होते। इन भिन्न-भिन्न खाद्य-पदार्थों में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रत्यामिन शरीर में प्रत्येक अपना - अपना खास काम करते हैं। प्रकृति सारी जीवित सृष्टि को एक ही नुसखे से नहीं रचती। वह तो प्रोटीनों के भिन्न-भिन्न नुसखे परिश्रम से तैयार किए हुए ऐसे अणु-रूपी शब्दों से लिखती है जो सैकड़ों परमाणु-रूपी अक्षरों के समूहों से बने हैं! जीवन के स्पर्श से उनमें और भी व्यक्तित्व और पृथक्ता आ जाती है, किन्तु अग्निदायक खाद्यों में ऐसा नहीं होता। एक प्रकार की वसा उतनी ही अग्नि देती है जितनी दूसरी तरह की। निशास्ता सदा निशास्ता ही होता है चाहे कहीं भी मिले। विभिन्न शर्कराओं की किस्मों में भी भेद नहीं होता बल्कि अग्निदायक मूल्यों में अन्तर होता है। अग्निदायक आहारों में से अपनी पसंद और सुविधा के अनुसार हम जो चाहते हैं वही खा लेते हैं। प्रत्यामिनों में यह बात नहीं है। सब प्रकार के उपयोगी प्रत्यामिनों को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी

भोजन के कारखाने के मुख्य भाग :: ऊपर, हमारे अन्नमार्ग का सब से पहला कारखाना—मुंह—और उसके यंत्र हैं। नीचे शरीर का दूसरा मुख्य भोजन कार्यालय या रसोई घर है। इसमें आमाशय के अन्दर का रहस्य प्रकट किया गया है। यह भी दिखलाया गया है कि पित्त और क्लोम-रस छोटी आंत के पहले भाग में कैसे आ पहुँचते हैं। १ कृन्तक २. चर्वणक; ३. भोजन ४ आमाशय रस, ५. यकृत, ६. क्लोम; ७. पित्त-प्रणाली, ८. आंत।

है कि कई तरह के गोश्त, बीजवाली तरकारियाँ, दूध और अंडे साथ-साथ खाये जावे।

वसा या मज्जा—मज्जा प्रकृति की समाहरण की हुई गरमी देनेवाली भोजन-सामग्री है। इनमें भी शक्कर और स्टार्च में पाई जानेवाली तीनों सामग्रियाँ होती हैं, लेकिन इनमें ओषजन की मात्रा कम होती है। इसलिए वे अधिक ओषजन ग्रहण कर सकती हैं और शक्कर आदि की अपेक्षा तेजी से जल सकती है। उनके अच्छे ईंधन समझे जाने का यही कारण है। एक ही तौल के मक्खन या तेल का अग्निदायक मूल्य उसी वजन की मक्खन या स्टार्च से ढाई गुना ज्यादा होता है। सभी प्रकार की चिकनी वस्तुएँ या चर्बियाँ करीब-करीब एक ही नुसखे से तैयार होती हैं। तेल, घी और चर्बी इस बात मे एक समान होते हैं। उनमें कोई विशेष रासायनिक अन्तर नही होता। सबका अग्निदायक मूल्य भी एक ही होता है। यदि उनमे अन्य वस्तुओं का मेल न हो तो उनकी महक, स्वाद और रूप भी एक-सा ही होता।

चर्बियाँ अधिकतर जन्तु-पाकशालाओं में ही बनती हैं, लेकिन कुछ वनस्पतियो के भांडार में भी मिलती है। अखरोट-बादाम जैसे मेवे चिकनाई के कारण ही ताकत और गर्मी देनेवाले समझे जाते हैं। बहुत से बीज और गुठलियो से हम तेल निकालते हैं; जैसे, तिल, सरसों, बिनौला, अंडी, महुआ और जैतून। जानवरों से भी हमको तेल और चर्बी आदि मिलते हैं। ह्वेल और मछली का तेल खाने और मालिश करने से शरीर की निर्बलता दूर होती है। अंडे की जर्दी मे तिहाई भाग मज्जा का होता है। मक्खन, मलाई, रवड़ी और पनीर गौशाला से मिलने वाली चिकनाइयाँ हैं। इन भोज्य पदार्थो मे से अधिकतर इतने समाहरण किए हुए होते है कि हम उनको अकेला ही नहीं खा लेते। वे हमारे भोजन को स्वादिष्ट करते है और अधिकतर खाद्य थोड़ी-बहुत चिकनाई घी-तेल आदि में पकाकर खाए जाते है। मज्जा मधुरिन और मज्जिकाम्ल के सम्मेलन से बनती है। वनस्पतियो या जानवरों के शरीर में अधिकतर त्रिमधुरिन ही पाये जाते है। चर्विकाम्ल, खजूरिकाम्ल, अथवा जैतूनिकाम्ल ही तीन मुख्य अम्ल हैं, जिनके मधुरिन सम्मेलन खाद्य पदार्थो में और जानवरों के शरीरो में पाये जाते हैं।

खमीर के प्रभाव से आँत मे मज्जा मज्जिकाम्ल और मधुरिन मे रूपान्तरित हो जाती है। साबुन और मज्जिकाम्ल पित्तरस में घुलकर श्लैष्मिक कला मे पहुँचते हैं। आँत की श्लैष्मिक कला के कोष्ठों के भीतर ये फिर सश्लेषण द्वारा मज्जा का रूप धारण कर लेते हैं और लसीकावाहिनी में होकर समस्त शरीर मे पहुँच जाते हैं। चर्बियाँ विशेष रूप से ईंधन का काम करने के लिए ही खाई जाती हैं। कर्बोदित और प्रत्यामिन की भाँति मज्जा भी ओषदीकरण द्वारा शक्ति उत्पन्न कर सकती हैं। जो अग्निदायक आहार हम जरूरत से ज्यादा खा लेते हैं वे शरीर में वसा के रूप में कई स्थानों पर जमा हो जाते हैं। सबसे अधिक मज्जा चर्म के नीचे ही मिलती है। पेट के अंगों के ऊपर भी इसकी अधिकता रहती है। यकृत मे भी मज्जा रहती है, लेकिन मधुजन और मज्जा साथ-साथ यकृत मे नही रहते। उन जीवधारियों के यकृत मे जो अधिकांश प्रत्यामिनक आहार पर रहते हैं और कर्बोदित कम या बिल्कुल नहीं खाते मज्जा बहुत मिलती है। जो जानवर घास-पात खाकर जीते है, उनके यकृत में मधुजन पाया जाता है, मज्जा नही। यह जरूरी है कि हम शरीर मे थोड़ी-सी चर्बी बचा रक्खें। उसमे होकर गर्मी जल्दी नही निकल पाती। इसलिए वह ताप को शरीर के भीतर ही रोककर उसको गर्म रखती है। सर्दी के दिनो मे या किसी बीमारी के कारण या तेज व्यायाम करने से जब शरीर रूपी कल में चर्बी की कमी हो जाती है उस समय यही बचाकर रक्खी हुई चर्बी काम आती है। यह मज्जा आवश्यकतानुसार बचाये हुए भांडारों से निकलकर जिस जगह जरूरत होती है वहीं पहुँचकर ओषदीकरण द्वारा शक्ति और गरमी उत्पन्न करती है। इसका अर्थ यह नही है कि हम शरीर में खूब चर्बी जमा करके बहुत मोटे बन जायँ; क्योंकि हद से ज्यादा मोटाई शरीर के लिए भारस्वरूप है।

बहुधा यह देखा गया है कि चिकनाई कम खानेवाले भी मोटे हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि कर्बोदित भी आवश्यकता से अधिक खाये जाने पर मज्जा बन जाता है। कर्बोदित से बनी हुई वसा में खजूरिकाम्ल और चर्बिकाम्ल की अधिकता होती है। प्रत्यामिन के अणुओं के टूटने से जो मज्जिकाम्ल बनते है वे नीचे श्रेणी के होते है और उनसे वसा नही बनती। ये मज्जिकाम्ल ओषदीकरण द्वारा कर्बन-द्वयोषिद और पानी में परिणत हो जाते है।

खनिज लवण—यह तो पहले ही बतला चुके है कि हड्डियों और दाँतों के बनने के लिए खटिकम या कैल्शियम और स्फुर की आवश्यकता होती है; लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ और भी खनिज पदार्थ है जिनका शरीर मे पहुँचना उतना ही जरूरी है। इनमें से कुछ शरीर-तंतु बनाने की सामग्री के काम आते है, कुछ रक्त में काम करते है और
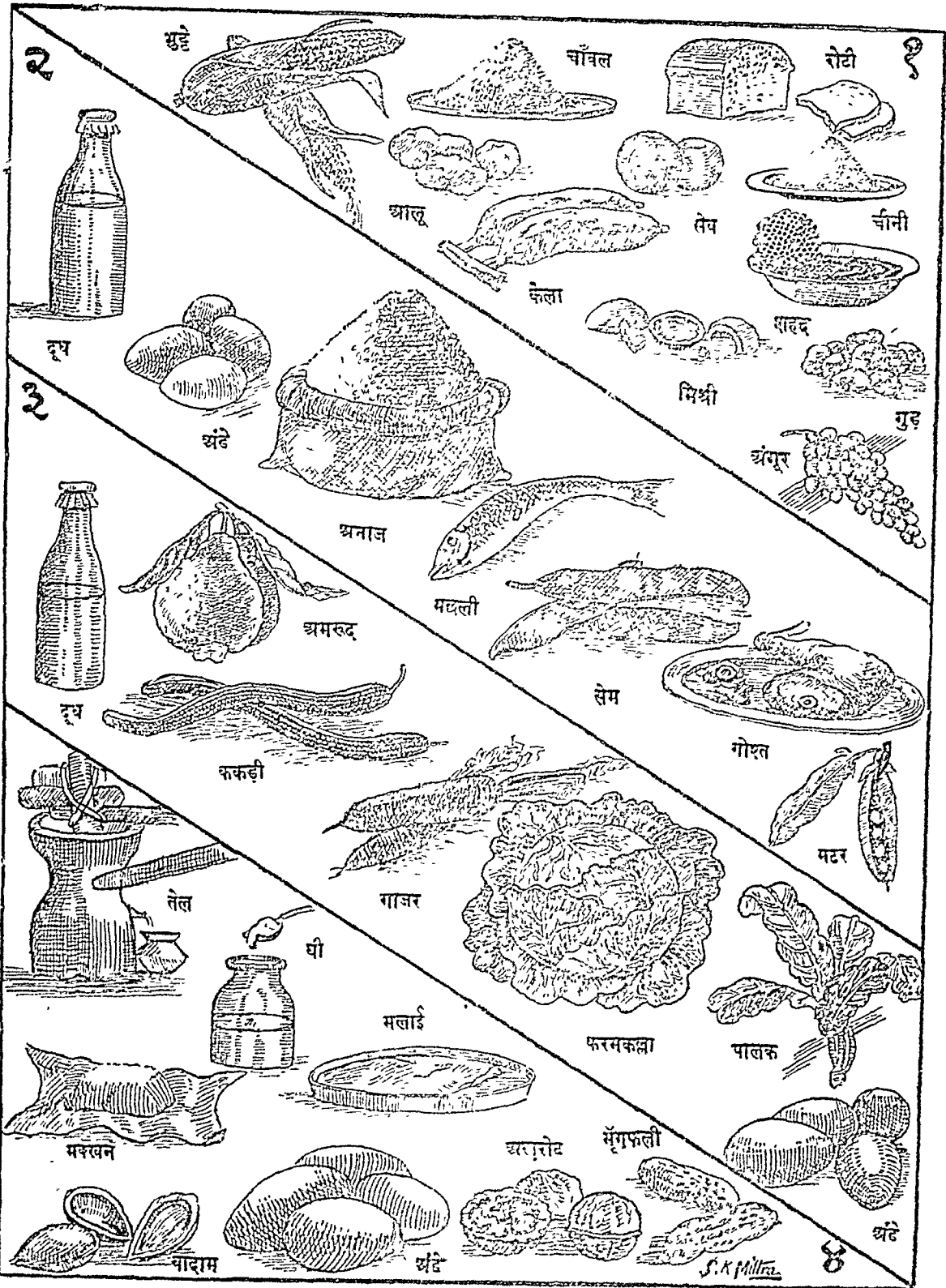
शरीर के मुख्य निर्माणकारी खाद्य पदार्थ—१—दो प्रकार के अग्निदायक भोजनों के कुछ साधारण नमूने। २—तन्तुवर्द्धक प्रत्यामिनों का समूह। ३—खनिज पदार्थ देनेवाले खाद्य। ४—विटामिन या खाद्योजदायक आहार।

कुछ शारीरिक कल को सुचारू रूप से चलाने और उचित रासायनिक क्रियाओं के होने में सहायक होते हैं।

प्रौढ़ मनुष्य में १५ मिलिग्राम लौह नामक खनिज की आवश्यकता होती है। खून के प्रत्येक लाल कण में लोहे का अपना अत्यन्त सूक्ष्म अंश जरूर होना चाहिए। बिना उसके वह कण पीला पड़ जायगा और जितना ओषजन उसको ग्रहण करना चाहिए उतना न कर सकेगा। रुधिर कणों को लाल करनेवाला पदार्थ लोहा ले जानेवाला एक रंगीन प्रत्यामिन है। यही प्रत्यामिन कण-रंजक या 'हीमोग्लोबिन' कहलाता है। लोहा हीमोग्लोबिन का सार-भूत भाग है। उसकी कमी से 'एनीमिया' या रक्तहीनता का रोग उत्पन्न हो जाता है। लोहा दूध और अंडे में मिलता है, लेकिन इसके मिलने के सब से प्रधान जरिये फल और तरकारियाँ हैं, जो खासकर बच्चों को खूब खाना चाहिए। साबित गेहूँ और बिना कुटे चावल में भी लोहे का अंश मौजूद रहता है। ताँबा यकृत में पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। हड्डियों और मांस के बनने के लिए थोड़ा-सा मैग्नीशियम भी जरूरी है। उसके अभाव से जानवर सहज में ही विकारयुक्त हो जाते हैं, लेकिन मनुष्य उसके न होने से कभी भी पीड़ित नहीं होता। इनके अलावा और भी खनिज पदार्थ शरीर में पाए जाते है। अम्ल, खार, नमक, कर्बोनेत और स्फुरेन सभी शरीर के तरल पदार्थों को ठीक रखने में और कार्य करने में अपना-अपना भाग लेते हैं।

खाद्योज--ऊपर बतलाये हुए खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त शरीर को कुछ और विशेष पदार्थों की आवश्यकता होती है। ये पदार्थ प्राकृतिक भोजनों में ही मिलते हैं, लेकिन बहुत थोड़ी-सी मात्रा में। इनको ही 'विटामिन' या खाद्योज कहते हैं; क्योंकि उनके बिना भोज्य पदार्थ निरर्थक से हो जाते हैं और अपना काम नहीं करते। इस बात का कैसे पता चला इसका हाल भी बड़ा मनोरंजक है।

कुछ रसायनज्ञों ने यह सोचा कि प्राकृतिक भोजनों के बजाय यदि ऐसे रासायनिक मिश्रण तैयार कर सकें जो शरीर में उन सब कामो को, जो भोजनों द्वारा होते हैं, कर ले, तो बड़ा सुभीता हो जाय। इसके लिए उचित मात्रा में आवश्यक रसायनों को मिलाकर कई तरह के मिश्रण बनाये गए और उन्हें चूहे, कबूतर, खरगोश इत्यादि को तथा उनके बच्चों को खिलाया गया। तब पता चला कि इस खाने से उनकी बाढ़ जैसी होनी चाहिए थी न हुई और न उनका स्वास्थ्य ही अच्छा रहा। वे कमजोर और सुस्त दिखलाई पड़ने लगे। इन्ही जानवरों को जब इस बनाये हुए रासायनिक भोजन के साथ थोड़ा-सा दूध मिलाकर दिया गया या उसके साथ गोभी, सलाद, करमकल्ला, मूली आदि के कुछ ताजे हरे पत्ते या फौरन् खेत से काटी हुई गेहूँ या जौ की हरी बालें खिलाई गईं तो वही सुस्त और रोगी बच्चे फिर चैतन्य होकर इधर-उधर दौड़ने लगे; उनकी तन्दुरुस्ती और वृद्धि भी ठीक हो गई। वैज्ञानिकों का ध्यान तब इस बात की ओर आकर्षित हुआ कि ताजा दूध, हरियाली और हरे नाज में कौन-सा जादू है जिसने थोड़ी ही मात्रा में दिये जाने पर भी बड़े सोच-समझकर बनाये हुए रासायनिक भोजनों की कमी को पूरा कर दिया? एक प्रयोगशाला में फाउनटेनपेन की आधी टोपी भर या ३ घन सेंटीमीटर ही दूध रोज देने से चुहियों की रुकी हुई बाढ और तन्दुरुस्ती उन्हें फिर से प्राप्त हो गई! ये फिर तेजी से फूलने-फलने लगी और उनकी संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। दूध की यह विशेषता उसके प्रत्यामिन और नमक निकाल देने पर भी उसमें बाकी रहती है। **इस विशेषता बनाए रखनेवाली वस्तु को विटामिन 'ए' कहते हैं**, जिसका ठीक-ठीक पता वैज्ञानिकों को अभी तक नहीं चला है। यह मज्जा में घुल जाती है और दूध, मक्खन, मलाई, मछली के तेल, अंडे की जर्दी और हरी तरकारियों में भी पाई जाती है।

एक और रसायनज्ञ ने विचारा कि पूर्वी देशों में चावल खानेवालों मे ही 'बेरी-बेरी' का रोग क्यो होता है? उसने कबूतरों को चावल और पानी ही खाने को दिया। फलस्वरूप वे भी जल्दी ही बेरी-बेरी के शिकार बन गए। साधारणतः जो चावल खाया जाता है वह कूटा-छाँटा, छिलका निकाला हुआ और सफेद होता है और यही कबूतरों को भी खिलाया गया था। रोगी कबूतरों में से कुछ को बिना कूटा-छाँटा, छिलकेदार, लाल, कच्चा चावल खिलाया गया तो उनमें पुनः स्फूर्ति का संचार हो गया। इससे स्पष्ट हुआ कि चावल के ऊपरी छिलके मे एक ऐसा खाद्योज या विटामिन है, जिसकी उन कबूतरों को जरूरत थी। पानी में घुलनेवाले **इस खाद्योज का नाम विटामिन 'बी' रक्खा गया है** और यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य और अन्य जानवरों के बढने और स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए यह जरूरी है। यह पदार्थ अनाज के दानो के बाहरी छिलकों के अतिरिक्त उनके अँकुरों और कुछ फलों तथा सेम और खमीर में भी पाया जाता है। इसके अभाव से बेरी-बेरी को छोड़कर कुछ खाल के रोग भी पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार एक और पानी में घुलनेवाले विटामिन का

पता चला है, जो नींबू, नारंगी, टमाटर आदि ताजा फलों और करमकल्ले, सलाद आदि की-सी सब्जियों मे पाया जाता है। दूध और ताजा मांस में भी यह थोडा-बहुत मिलता है। जिन मल्लाहों को बहुत दिनों तक फल और सब्जी के बिना जहाजों पर रहना पड़ता था उन्हें इसके अभाव से 'स्कर्वी' नामक भयंकर रोग हो जाता था। विटामिन 'सी' के पता लगाने का प्रमुख कारण यही है। और भी कई 'डी', 'ई', इत्यादि विटामिनों का परिचित भोजनों से पता चला है।

पानी—पानी साधारण वस्तुओं को शरीर में एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का सब से जरूरी साधन है। वह हर एक जीवित कोष का भाग है, जिसके बिना वे जीवित नही रह सकते। इसीलिए हमें दिन भर कई गिलास पानी पीने की आवश्यकता पड़ती है। कुछ पानी हमको हरे फलों और शाक-भाजी से भी मिल जाता है।

अन्नमार्ग के कारखाने तथा उनके कर्त्तव्य

मुंह—अन्न-प्रणाली का पहला ग्रहणकारी कारखाना—आइए, अब हम अन्नमार्ग के कारखानों की ओर चलें। सब से पहला कारखाना मुंह है, जहाँ भोजन चक्की की तरह कुचला और पीसा जाता है। पहले बतलाया जा चुका है कि मुख में भोजन को चबाने से जो लार उसमें आ मिलती है उसके प्रभाव से आहार के श्वेतसार पदार्थ शक्कर बन जाते हैं। यह परिवर्तन लार में उपस्थित टायलिन नामक खमीर से होता है। रोटी, चावल, आलू, केला, अरारोट आदि श्वेतसार इस खमीर के मिश्रण से दक्षिणिन और यवोज—शक्करों—का रूप ग्रहण कर लेते है। लार का गुण खारीपन है; क्योंकि टायलिन श्वेतसार को शक्कर में तभी परिणित कर सकता है जब वह खारी तरल पदार्थ में हो। परन्तु सारा निशास्ता मुँह में इस दशा को नहीं प्राप्त होता। उसका एक बड़ा भाग अपनी असली दशा में अन्नमार्ग के दूसरे कारखाने—पाकस्थली—में एक गोले के रूप में जा पहुँचता है और वहाँ ३०-४० मिनट तक उस पर लार की प्रक्रिया होती रहती है, क्योंकि इस बीच में पेट की ग्रन्थियों से निकले हुए उद्हरिकाम्ल या हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का प्रवेश नहीं हो पाता। लेकिन इसके बाद इतना उद्हरिकाम्ल निकलकर उससे मिल जाता है कि उसका खारीपन जाता रहता है और वह आम्लिक हो जाता है, जिससे उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। परन्तु इससे पहले ही लार बहुत-कुछ अपना प्रभाव डाल चुकी होती है।

टायलिन खमीर का असर अधिकांश पकाए हुए श्वेतसार पर ही पड़ता है। बिना पके हुए पर इसका प्रभाव बहुत कम होता है। श्वेतसार या निशास्तों (कर्बोदित) के अतिरिक्त और जो वस्तुएँ—चिकनाई देनेवाली (मज्जा) और मांसवर्द्धक (प्रत्यामिन)—हम खाते हैं, उन पर लार का कोई रासायनिक प्रभाव नहीं पडता। वे लार से मिलकर मुलायम तो हो जाती हैं परन्तु उनका पाचन आमाशय और आँत के रसों से होता है।

आमाशय—सुविधानुकूल हो जानेवाला दूसरा विचित्र कारखाना—अन्नमार्ग का दूसरा सब से बड़ा कारखाना आमाशय है, जिसमें भोजन ३० मिनट से लेकर ३-४ घंटे या उससे भी अधिक देर तक ठहरता है। हमने क्या खाया, कितना खाया तथा पाकस्थली की क्रियाशीलता और शरीर के अन्य भागों में होनेवाले कर्त्तव्य आदि सभी बातें खाने के आमाशय में ठहरने के समय से सम्बन्धित हैं। यह ऐसा अजीब कारखाना है, जो आवश्यकतानुसार छोटा और बडा होता रहता है। कम भोजन रहने पर उसकी दीवालें सट जाती है और ज्यादा भोजन आने पर वे फिर फैल जाती है अथवा यह कहा जा सकता है कि वह कारखाना बड़ा हो जाता है। इस कारखाने का कार्य विशेषतया सामग्री को तैयार करने का ही है, किन्तु यहाँ सामग्री अपनी पूर्ण अवस्था को नहीं पहुँचती। यहाँ जरूरी पाचन-क्रियाएँ तो होती हैं, लेकिन थोड़े-से मद्यों और शर्करा के सिवाय अन्य वस्तुओं का शोषण बहुत कम होता है।

इस कारखाने में जो रस बनता है उसमें खट्टापन होता है, क्योंकि उसमें उद्हरिकाम्ल (नमक का तेजाब) पाया जाता है। इसके अलावा आमाशय-रस में कई और खमीर भी रहते हैं, जिस में से मुख्य पेप्सिन और रेनिन हैं। पेप्सिन उद्हरिकाम्ल के सहारे प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थों—को तोड़कर पेप्टोन नामक सरल पदार्थ में परिवर्तित कर देता है। जो अमिनोअम्ल प्रत्यामिन के अणुओं के टूटने से निकलते हैं, उनके पृथक्-पृथक् समूहों मे एकत्र होने से ही भाँति-भाँति के प्रत्योज और पेप्टोन बन जाते हैं। ये घुलनशील पदार्थ हैं और सुगमतापूर्वक आगे के कारखानों में पहुँचकर शरीर में ले लिये जाते हैं। रेनिन खमीर दूध को जमा देता है। यही कारण है कि दूध पीने के थोड़ी ही देर बाद भी जब छोटे बच्चे कै कर देते हैं तो पेट में से दूध के कतरे निकलते हैं। आमाशय-रस का तीसरा खमीर लाइपेज है, जो मज्जा या चिकनाई (घी, तेल, मक्खन या दूध की चिकनाई)

का उद्श्लेपण करता है और उन्हें पिघलाकर स्वतन्त्र मज्जिकाम्ल में बदल देता है। चिकनाइयों का भी पाचन आगे जाकर ही शुरू होता है। वे आमाशय में बिल्कुल नही पचतीं।

इस अद्भुत कारखाने के २-३ घंटे तक चालू रहने पर देखा जाय तो उसमे पचे हुए श्वेतसार से बनी हुई शक्कर, कुछ बिना पचा श्वेतसार, पचे हुए प्रत्यामिन से बने हुए प्रत्योज पदार्थ, कुछ बिना पचे प्रत्यामिन, पिघली हुई चर्वी और कुछ मात्रा में दुग्धिकाम्ल या लैक्टिक ऐसिड मिलेगा, जो कीटाणुओ द्वारा कर्बोदित के खमीर से बनने लगता है। इनके अलावा भोजन का न पचनेवाला अंश—फलों और भाजियो के रेशे या चोकर और कड़े छिलके—भी मिलेंगे। ये सब पदार्थ आमाशय-रस मे घुले-मिले आहार-रस के रूप मे पक्वाशयिक द्वार से होकर धीरे-धीरे आगे के नली के समान लंबे कारखाने मे पहुँचाए जाते है।

आँत के काटे हुए भाग का एक परिवर्द्धित चित्र, जिसमें रक्त-नलिकाएँ और दुग्ध-स्रोत भी प्रदर्शित हैं। इससे विदित होता है कि आहार-पदार्थ और वसा कैसे उनमें खिंच जाते हैं।

क्लोम रस पतला, साफ और क्षारीय होता है। यह कैसी महत्वपूर्ण बात है कि क्लोम-रस पक्वाशय में पहुँचने पर आंत्रिक रस के मिलने के बाद ही क्रियाशील होता है। इसका कारण यह है कि जब क्लोम-रस पक्वाशय में पहुँचता है तो अम्लात्मक अधपचे खाद्य से मिलकर उसकी प्रक्रिया शिथिल हो जाती है।

क्लोम-रस में तीन-चार तरह के खमीर पाये जाते है। सबसे प्रभावशाली खमीर **एमाइलैप्सिन—केलीलेज** है। इसका असर लार में मिलनेवाली टायलिन की तरह होता है। यह श्वेतसारों के बचे-बचाये भाग को जो पक्वाशय तक पहुँचता है, पचनेवाली शक्करों में बदल देता है। दूसरा खमीर **ट्रिप्सिन** है, जिसके प्रभाव से आमाशय-रस के असर से बचे हुए प्रत्यामिन—मांसवर्द्धक पदार्थ—पेप्टोन का रूप धारणकर लेते है। यह भी एक रोचक बात है कि आमाशय का रस तो क्षारीयता के कारण मांसवर्द्धक पदार्थो पर असर करता है, परंतु यह खमीर उसी क्रिया को अपने खारेपन के कारण करता है। ट्रिप्सिन प्रत्यामिन का उद्श्लेपण आँत के पहले भाग मे ही करता है। दूध मे क्लोम-रस डालकर थोड़ी देर गरम करने से वह जम जाता है, परंतु फिर घुल जाता है। इस घटना का कारण ट्रिप्सिन ही बतलाया जाता है। सम्भव है कि कोई और खमीर भी इसका जिम्मेदार हो। इसी प्रकार क्लोम-रस दूध को भी पचाता है। क्लोम-रस का तीसरा खमीर **लाइपेज या स्टियेप्सिन** है, जो चर्वियों को तोड़कर मज्जिकाम्ल और मधुरिन बना देता है। मज्जिकाम्ल क्षार से संयुक्त होकर साबुन बन जाता है। लाइपेज पानी मे नही घुलता, परन्तु मधुरिन में घुल जाता है। यह खमीर क्षारीय या शिथिल माध्यम मे ठीक काम करता है। आम्लिक माध्यम में उसकी क्रियाशीलता भंग हो जाती है। इसके

आँत—सबसे बड़ा और आवश्यक कारखाना—इस लम्बे पेचदार नली-जैसे कारखाने का पहला भाग पक्वाशय, दूसरा छोटी आँत, और तीसरा बड़ी आँत है। पक्वाशय नामक भाग तो आवश्यक है ही, किन्तु उसके आगेवाला भाग भी कुछ कम जरूरी नही। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तीसरा भाग अथवा बड़ी आँत कोई ऐसा जरूरी नही है। आँत की श्लैष्मिक तह मे बहुत-सी पतली लम्बी-लम्बी बोतलें-सी आमाशय की ही तरह सजी रहती है, जिनसे पचानेवाले रस निकलते है। इनकी क्रिया को समझने से पहले क्लोम और यकृत से आनेवाले रसो पर ध्यान देना उचित है। जब अम्लात्मक आहार-रस पक्वाशय में पहुँचता है तो उसमें क्लोम, यकृत और नलिकाकार आंत्रिक ग्रन्थियो के रस मिल जाते हैं।

काम में यकृत से निकलनेवाला पित्त बहुत सहायक होता है। पित्त के नमक हल्के आम्लिक माध्यम में मज्जिकाम्ल और साबुन को भी घुला डालते हैं।

पित्त यकृत से बनकर पक्वाशय में आ गिरता है। पित्त में भी एक खमीर होता है, लेकिन आहार-रस पर पित्त का अपना कोई असर नहीं पड़ता। उसकी उपयोगिता उसमें घुले हुए नमकों से होती है। ये नमक और मज्जा पानी के बीच के तनाव को कम करते हैं, जिससे खमीर का घोल और मज्जा का परस्पर मिलाप अधिक बढ जाता है। पित्त के नमक खमीर के घोलने में भी सहायक होते हैं। पित्त में घुले हुए मज्जिकाम्ल, मधुरिन और साबुन जब आँतों की श्लैष्मिक कला मे पहुँचते है तो उनका फिर सम्लेषण हो जाता है और आहार-रस खून मे जल्दी से मिलने योग्य हो जाता है। जब छोटी आँत मे पित्त नहीं पहुँचता तो क्लोम-रस को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। खाद्य पदार्थों के आँत में पहुँचने पर पित्त और क्लोम-रस के अतिरिक्त छोटी आँत की गिल्टियों में बननेवाला रस भी उनमे आ मिलता है। इस आँत्रिक रस में कई खमीर होते हैं जिनके कारण वह आहार-रस को भली भाँति पचाकर रक्त में मिलने योग्य बना देता है। भोजन के पाचन की अंतिम क्रिया इसी रस के सहारे होती है। श्वेतसारो से बनी हुई शक्कर ग्लूकोज के रूप में बदलकर रुधिर मे जाने योग्य हो जाती है और मासवर्द्धक खाद्यों से बने पेप्टोन आँत के रस के प्रभाव से खून में मिलने लायक अमिनोअम्ल बन जाते है। चर्बीदार पदार्थ अम्ल और मधुरिन मे परिणत हो जाते है। इस प्रकार सब खाद्य-सामग्रियाँ आपस में मिलकर धीरे-धीरे छोटी आँत से बड़ी आँत की तरफ बढती है और इनका सार रक्त में खिचता जाता है और पाचन हो जाता
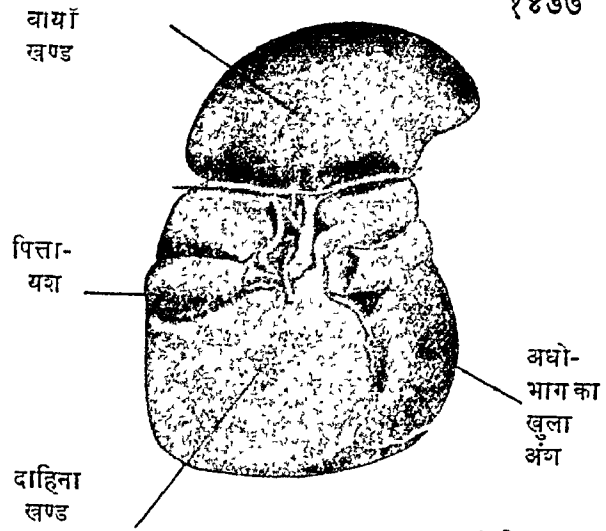
हमारे पाचन-संस्थान की पेचीदा यंत्र-प्रणाली के एक अति महत्वपूर्ण अंग 'यकृत' की झाँकी।

है। इसलिए यह कारखाना सबसे श्रेष्ठ है।

मनुष्य की बृहत् आँत न तो बहुत छोटी ही होती है और न बहुत बड़ी ही होती है। इस बड़ी आँत में पहुँचने पर पाचक रसो के खमीर कुछ समय तक बचे हुए अशो पर अपना असर डालते रहते है और जो सोखने लायक अश अब भी बच रहते है, उन्हे बड़ी आँत पानी के साथ सोख लेती है और ठोस मल बच रहता है।

यदि आप अपने पाचन-यंत्र को ठीक रखना चाहते हैं, तो इन बातो को न कीजिए:—

(१) भोजन बहुत तेजी से कभी न कीजिए।
(२) निगलने से पहले अच्छी तरह चबाना न भूलिए।
(३) खाने के पहले बहुत ज्यादा शक्कर कभी न खाइए।
(४) दोनो वक्त के भोजनों के बीच बार-बार न खाइए।
(५) रोज समय पर मल-त्याग करने से न चूकिए।

मानव शरीर के भोजन के पाचन की पूरी कहानी निम्नलिखित सूची में सक्षेप में फिर से दर्शाई जा रही है:—

अन्नमार्ग के कारखाने	पाचक रस	पाचक रसों की प्रक्रियाएँ
मुँह	लार (क्षारीय)	कुछ श्वेतसार शर्करा में बदल जाते है।
आमाशय	आमाशय रस (आम्लिक)	प्रत्यामिन टूटकर पेप्टोन और प्रत्योज बनते है; दूध जम जाता है; शर्करा साधारण चीनियों में बदल जाती है।
छोटी आँत	क्लोम रस (क्षारीय) पित्त (क्षारीय) आँत्रिक रस (क्षारीय)	प्रत्यामिनों को अधिक साधारण बनाता है, दूध को पचाता है। चिकने आहारों को साबुन में बदल देता है और श्वेत सार को अंगूर की शक्कर म परिणत कर देता है।
बड़ी आँत	एक क्षरण	मुख्य रूप से तेल देना। पानी सोख लिया जाता है और कीटाणुओं द्वारा रासायनिक परिवर्तन होते हैं।

अब आपने अपने शरीर की पाचन-कल की रचना, उसके भिन्न-भिन्न पुर्जे और उनके कर्त्तव्यों को जान लिया। इससे आपको पता चल सकता है कि हमारा पाचन-संस्थान कैसा अजीब और गुणकारी यंत्र है, जो रात-दिन, महीने-महीने और वर्ष-प्रति वर्ष अपना कठिन काम करता रहता है। याद रखिये कि यकृत, मैदे और आँत के कारखानों के कारीगरों को भी अपने कठिन परिश्रम के पश्चात् कुछ विश्राम मिलना चाहिए। यदि हम दिन मे कई वार थोड़ा-थोड़ा खाते रहें, तो आमाशय के कारीगरों को सुस्ताने का विल्कुल ही अवसर न मिले।

मलोत्सर्जन-संस्थान

मूत्रवाहक संस्थान—वृक्क (गुरदे), मूत्राशय और मूत्रमार्ग

प्रस्तुत लेख मे हम मलोत्सर्जन-संस्थान के विषय मे आपको वतायेंगे। जिस भाँति पोषण-संस्थान, श्वासोच्छ्वास-संस्थान, रक्त-संचारक संस्थान आदि शरीर के लिए परम आवश्यक है, उसी भाँति यह संस्थान भी है।

यह प्रकृति का नियम है कि जहाँ कोई वस्तु निर्मित होती है, वहाँ कुछ न कुछ नष्ट भी होता है। शरीर के कोष भी इसी नियमानुसार बनते-बिगड़ते रहते है। इस नष्ट होने की क्रिया से जो दूषित पदार्थ बनते है, उन्हे रक्त धो-बहाकर एकत्रित कर लेता है और फिर वह कई रीतियों से उसे शरीर के बाहर निकालता है। यह तो आप पढ़ ही चुके है कि फेफड़ो के सहारे हम किस तरह कारवोनिक एसिड गैस बाहर निकालते है और यह भी आप जान चुके है कि खाल के छिद्रों में से कुछ पदार्थ पसीने के साथ बाहर आते है। आप यह भी जानते हैं कि हमारे ग्रहण किये गये भोजन के सभी अंश आँतों मे सोखकर शरीर के कार्य मे नही आते, थोड़े बहुत भाग नित्य ही बिना पचे रह जाते है, जिसे शरीर मल के रूप में प्रतिदिन बाहर निकालता है। यदि यह दूषित पदार्थ शरीर से बाहर नही निकल पाए, तो शरीर के दूषित होने की सम्भावना होती है। शरीर के इन दूषित व हानि-कारक पदार्थो को दूर करने की एक और विधि भी है। इस विधि से जो मल बाहर निकाला जाता है, उसका रूप न तो वायु जैसा गैसीय है और न मल जैसा ठोस ही। वह पसीने की भाँति तरल है। आप समझ गए होंगे कि वह क्या है। वह है मूत्र। जो अंग इस मूत्र को बनाने और त्यागने के काम आते है, उनकी गणना मूत्र वाहक संस्थान मे की जाती है।

इस संस्थान के चार प्रधान भाग है—(१) वृक्क, जो रक्त से मूत्र को पृथक् करते है, (२) मूत्र-प्रणालियाँ, जो उसे मूत्राशय तक पहुँचाती है, (३) मूत्राशय, जहाँ वह एकत्रित होता है, और (४) मूत्रमार्ग, जिसके द्वारा वह शरीर से बाहर आता है।

वृक्क या गुरदे

वृक्क दो है। ये कमर में मेरुदंड के दोनो ओर सटे हुए चर्बी की एक तह मे घुसे रहते है। इनका ऊपरी भाग नीचे की पसलियों से और निचला भाग कमर की बड़ी पेशियो से सुरक्षित रहता है। ये आकार में सेम के बीज के समान, किन्तु डीलडौल मे उससे कही बड़े होते है। इनकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच और मुटाई १ इंच के लगभग होती है। एक वृक्क का भार लगभग २ छटाँक होता है। बाईं ओर का वृक्क दाहिने से कुछ लम्बा तथा ऊपर की तरफ होता है। वृक्क गहरे भूरे रंग के होते हैं। प्रत्येक गुरदे के ऊपरी सिरे पर एक छोटी-सी गिल्टी रहती है, जिसे उपवृक्क कहते हैं।

सेम के बीज के तुल्य इन गुरदो के वे भाग जो मेरुदंड की तरफ होते है कुछ अन्दर की ओर दबे रहते हैं। इसी स्थान पर वृक्क की रक्त-नलियाँ इनके भीतर प्रवेश करती हुई दृष्टि-गोचर होती है। इनके अतिरिक्त वृक्क के इसी स्थान से एक नली, जिसे मूत्र-प्रणाली कहते हैं, निकलती भी है।

गुरदो को यदि बीच से लम्बा काटकर निरीक्षण किया जाय तो उनके अन्दर दबे हुए स्थान की ओर एक खाड़ी ऐसा शून्य स्थान दिखाई देगा। इस शून्य स्थान में चारों ओर का भाग, जो ठोस-सा प्रतीत होता है, बहुत-सी पतली-पतली नलिकाओं से निर्मित होता है। ये नलिकाएँ बहुत लम्बी होती है और बहुत मोड़-तोड़ के पश्चात् और नलि-काओं से मिलकर बड़ी नलियों द्वारा कुछ मीनारों की चोटियो पर छोटे-छोटे छिद्र द्वारा वृक्क के शून्य स्थान मे खुलती है। इन नलिकाओं का दूसरा सिरा गेंद के समान फूला होता है, जिनमें रक्त-केशिकाओं का समूह मिला रहता है।
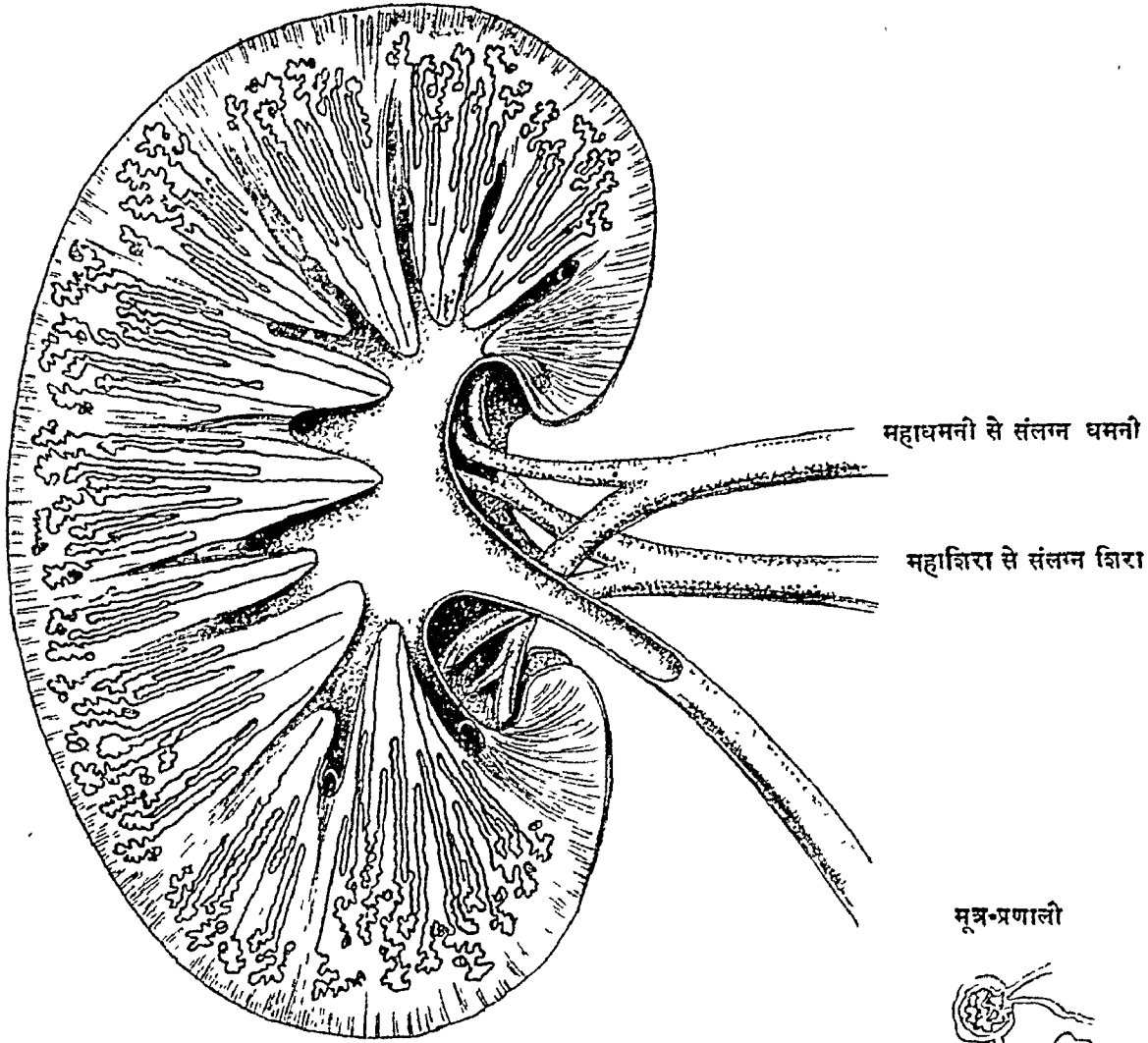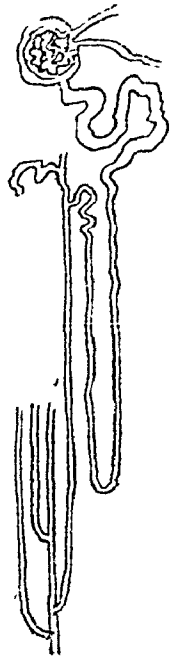
हमारे शरीर-यंत्र के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—वृक्क या गुरदे की सूक्ष्म रचना । वृक्क या गुरदा दूषित मल पदार्थ से लदे हुए रक्त में से हानिकारक अपद्रव्यों को छानकर मूत्र के रूप में बाहर निकालने के लिए प्रकृति द्वारा नियोजित संस्थान का सब से महत्वपूर्ण भाग है । जैसा कि पृ० १४८२ के चित्र से आप जान सकते हैं, हमारे शरीर में ऐसे दो गुरदे रहते हैं, जो दो मूत्र-प्रणालियों द्वारा मूत्राशय या मसाने से जुड़े रहते हैं । प्रस्तुत चित्र में एक गुरदे को बीच में से तराश कर उसकी आन्तरिक रचना परिवर्द्धित करके दिखाई गई है । आप देख सकते हैं कि वृक्क म अनेक पतली-पतली ऐसी सूक्ष्म नलियों का जंजाल-सा रहता है, जिनमें से प्रत्येक के शीर्ष भाग रक्त-केशिकाओं के झुंडों से संलग्न रहते हैं । यही नलिकाएँ रक्त-शोधन और मूत्र-रचना के लिए किस प्रकार एक जादू के छन्ने का-सा काम करती हैं, यह लेख में पढ़िए । दाहिनी ओर ऐसी ही एक सूक्ष्म नली का परिवर्द्धित चित्र दिया गया है । वृक्क के मध्य भाग में जो खोखला-सा अंश है, उसमें कई मीनारों जैसी रचनाओं के शिखर निकले हुए आप देख सकते हैं । इन्हीं शिखरों में बने छिद्रों में से स्रवित होकर मूत्र मूत्र-प्रणाली में जाता है ।

इसके अतिरिक्त नलिकाओं के चारों तरफ रक्त-केशिकाओं, धमनियों और शिराओं का भी एक जाल-सा बना रहता है।

वृक्क का कार्य

वृक्क की बनावट ऊपर बताई जा चुकी है। अब यह देखना है कि ये किस प्रकार मूत्र बनाते हैं तथा शरीर के विकार को कैसे रक्त से अलग करके बाहर निकाल देते हैं।

जो विकार शरीर में उत्पन्न होते हैं, वे रक्त द्वारा जिगर मे पहुँचते हैं। वहाँ पर इन दूषित पदार्थों का अधिकांश भाग 'यूरिआ' नामक एक दूषित पदार्थ में परिणत हो जाता है। यूरिआ रक्त मे मिश्रित होकर वृक्कों मे पहुँचता है। वहाँ पहुँचने पर जब रक्त वृक्क की नलिकाओ के फूले हुए भाग के अन्दर की केशिकाओ में जाता है तब नलिकाओं के फूले हुए भाग केशिकाओं के रक्त से पानी का अधिकाश भाग खीच लेते है और उसे नलिकाओ मे ढकेल देते है। जो रक्त नलिकाओ के चारो ओर वाली धमनियों तथा शिराओं में घूमता है उससे नलिकाएँ यूरिक ऐसिड आदि पदार्थ खीचकर नलिकाओ के अन्दर भेज देती है। नलिकाओं के अन्दर प्रवेश करने पर यह मल-पदार्थ उस पानी में नलियों के फूले हुए सिरे से छन जाता है।

मूत्रमार्ग

अब यह पानी, जिसमें दूषित पदार्थ मिले रहते हैं, पतली-पतली नलियों में बहता हुआ वृक्क की मीनारों की बड़ी नलियों में पहुँचता है, और फिर मीनारो की चोटियों के छेद से निकलकर वह मूत्र की नली के ऊपरी चौड़े भाग मे पहुँचता है। यही पानी जैसा पदार्थ मूत्र कहलाता है, जो वहाँ से मूत्र-प्रणाली द्वारा मूत्राशय मे इकट्ठा होता रहता है और समय-समय पर शरीर के बाहर मूत्र के रूप मे बाहर निकाल दिया जाता है। इससे आपको ज्ञात हो जायगा कि वृक्क शरीर की रक्षा के लिए कितने आवश्यक हैं और किस प्रकार ये शरीर से दूषित पदार्थो को निकाल देते है।

मूत्र-प्रणाली

दो मूत्र-प्रणालियाँ दोनो वृक्कों से निकलने के उपरांत पीछे आकर मूत्राशय से जा मिलती है। ये मूत्र-प्रणालियाँ १०–१२ इंच लम्बी होती हैं और इनकी मुटाई लगभग ¼ इंच होती है। मूत्र-प्रणालियाँ कभी-कभी सिकुड़ती है और इसी कारण वृक्क से आया हुआ मूत्र मूत्राशय में बूँद-बूँद टपककर पहुँच जाता है।

मूत्राशय

मूत्राशय शरीर के अन्दर नाभि के नीचे होता है। यह एक बहुत पतले आवरणवाले थैले के समान है और रबड़ की तरह छोटा-बड़ा हो सकता है। इसकी दीवारों में बहुत से मांससूत्र होते हैं। साधारणतः फैलने पर मूत्राशय में आधी बोतल या डेढ़पाव मूत्र समाता है, लेकिन पूरा फूलने पर इससे भी अधिक आ सकता है। मूत्राशय से ही लगी हुई एक नली होती है, जिसको मूत्रमार्ग कहते है। इसीके द्वारा मूत्र मूत्राशय से शरीर के बाहर निकल जाता है। पुरुषों मे यह मूत्रमार्ग लगभग ८ इंच और स्त्रियों मे १॥ इच लम्बा होता है। जब मूत्राशय मूत्र-प्रणालियों द्वारा लाये हुए मूत्र से भली भाँति भर जाता है, तब इसके सिकुड़ने से मनुष्य को मूत्र करने की प्रेरणा होती है और वह उस दूषित तरल को मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकाल देता है। मूत्रमार्ग के अन्त मे कुछ मास-पेशियाँ होती है, जिनके कारण मूत्रद्वार सिकुड़ा रहता और मूत्र को बाहर जाने से रोकता है। पर मूत्र त्यागने की आवश्यकता होने पर प्रकृति ने ऐसा प्रबन्ध किया है कि ये मांस-पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं और मूत्र बाहर निकल जाता है। बालकों में ये मांस-पेशियाँ दुर्बल रहती हैं, इसी कारण बच्चे मूत्र रोकने में बहुत असमर्थ होते हैं और जल्दी-जल्दी पेशाब करते हैं।

मूत्र

अब आपको विदित हो गया होगा कि मूत्र क्या है। इसमें ९६ हिस्सा तो पानी होता है और केवल ४ हिस्सों में बहुत से ठोस पदार्थ घुले रहते हैं। प्रतिदिन साधारणतया ५० औंस मूत्र मे २ औंस ठोस मूत्र-पदार्थ निकलता है। ताजे मूत्र में सब लवण घुले रहते हैं, किन्तु कुछ समय ठहरने पर उसमें हलके रुई के गाले-सा पदार्थ बहने लगता है। यह मूत्र-प्रणालियो से आया हुआ श्लेष्मा होता है। लेकिन बहुधा मूत्र के ठडे होने पर वह हलके गुलाबी या ईंट के रंग जैसे तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है। इस लवण में होते हैं—युरेट्स तथा लिथेट्स, जो शरीर के ताप से घुलनशील होते हैं और ठंडे मूत्र को थोडा गरम करने पर लुप्त हो जाते हैं। एक दूसरा तलछट जो मूत्र मे पाया जाता है फासफेट नामक लवण से उत्पन्न होता है। स्वस्थ मूत्र में यह सदैव रहता है। जब तक मूत्र आम्लिक होता है ये द्रव्य उसमें घुले रहते हैं। यदि मूत्र क्षारीय हो जाय तो वे नीचे बैठ जाते हैं। अतएव यदि हाल का मूत्र क्षारीय या बहुत हल्का आम्लिक हो तो अवश्य ही चिन्ता की बात है। इससे

मूत्र-वाहक संस्थान के अंग
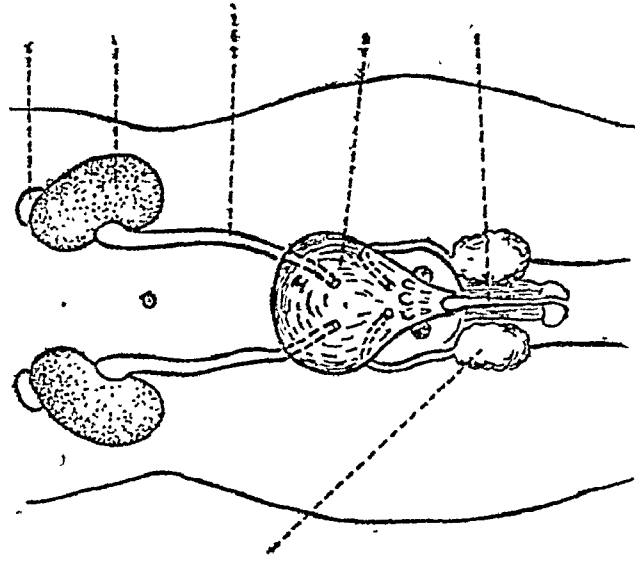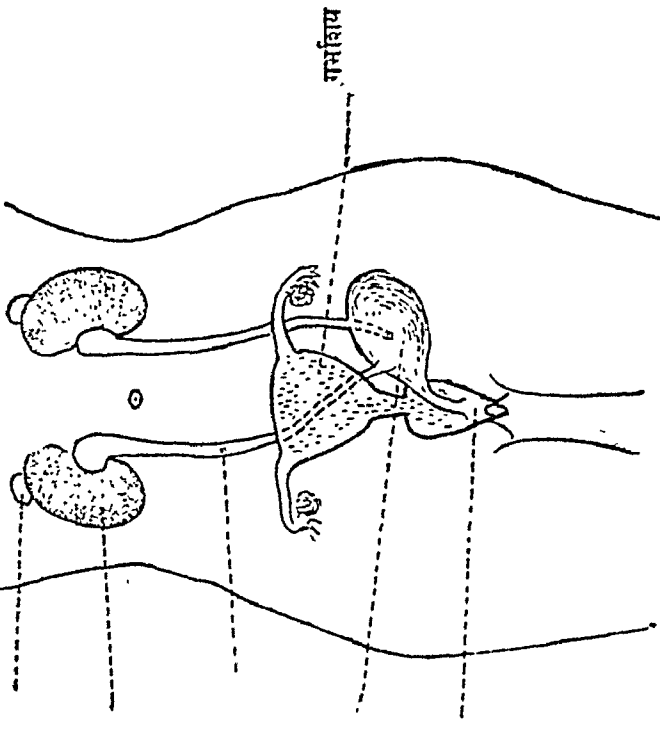
नर शरीर : पुरुष के शरीर में मूत्र तथा शुक्र निकलने का मार्ग एक ही होता है और मूत्राशय के पीछे उससे बिल्कुल मिले हुए दो शुक्राशय रहते हैं। चित्र में मूत्राशय के पीछे मूत्र-प्रणालियों और शुक्र-प्रणालियों के मुख प्रदर्शित हैं।

नारी शरीर : मूत्राशय का मुख योनि की ऊपरी दीवार से जुड़े हुए लगभग १॥ इंच लंबे मूत्रमार्ग में जाकर खुलता है। चित्र में गर्भाशय की स्थिति दर्शाने के लिए मूत्राशय कुछ बाजू को हटाकर दिखाया गया है।

शरीर दुर्बल हो जाता है और मूत्राशय में कोई रोग होने की सम्भावना होती है। एक और वस्तु जो साधारण मूत्र में थोड़ी मात्रा में मिलती है, यूरिक एसिड है। यह छोटे रवों के आकार मे जम जाता है। मूत्र मे इसके सदैव आने अथवा अधिक मात्रा में रहने से गठिया रोग होने की संभावना रहती है। इसी प्रकार जब मूत्र में प्रोटीन या शकर का अंश आने लगता है, तब भी स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ऐसी दशा में मूत्र का गुरुत्व बढ़ जाता है, साथ ही वह काफी मात्रा में निकलने लगता है। शकर सहित बहुत अधिक मात्रा मे मूत्र-प्रवाह होने की रोग-दशा 'बहुमूत्र', 'मधुमेह', 'डायबीटीज' आदि नामों से पुकारी जाती है। इसी प्रकार प्रोटीन (या अलब्यूमीन) का मूत्र के साथ निकलना वृक्क-प्रदाह या दूसरे किसी रोग की सूचना समझी जाती है। आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली मे मूत्र-परीक्षा को, इसीलिए, बड़ा महत्व दिया जाता है।

(दाहिनी ओर)

नर-मूत्रवाहक-संस्थान की पेचीदी रचना—इसका सामने का दृश्य पृ० १४८२ के चित्र में दिग्दर्शित किया जा चुका है—यह उसका बाजू की ओर से दिखाई देनेवाला विस्तृत चित्र है। देखिए किस प्रकार मूत्राशय और शुक्राशय दोनों से क्रमशः निकलती हुई मूत्र और शुक्र-प्रणालियाँ एक ही निकास-नली मे जा मिलती हैं [१. मूत्र-प्रणाली, जो वृक्क से आ रही है ; २. मूत्राशय का गर्त्त (खोलकर दिखाया गया है) ; ३. मूत्राशय की दीवार ; ४. शिश्न-मूल (प्रोटेस्ट) ग्रंथि ; ५. काउपर-ग्रंथि ; ६. मूत्रमार्ग ; ७. शिश्न ; ८. उपांड ; ९. शुक्र-ग्रंथि, १०. अंडकोश ; ११. शुक्र-प्रणाली ; १२. शुक्राशय]।
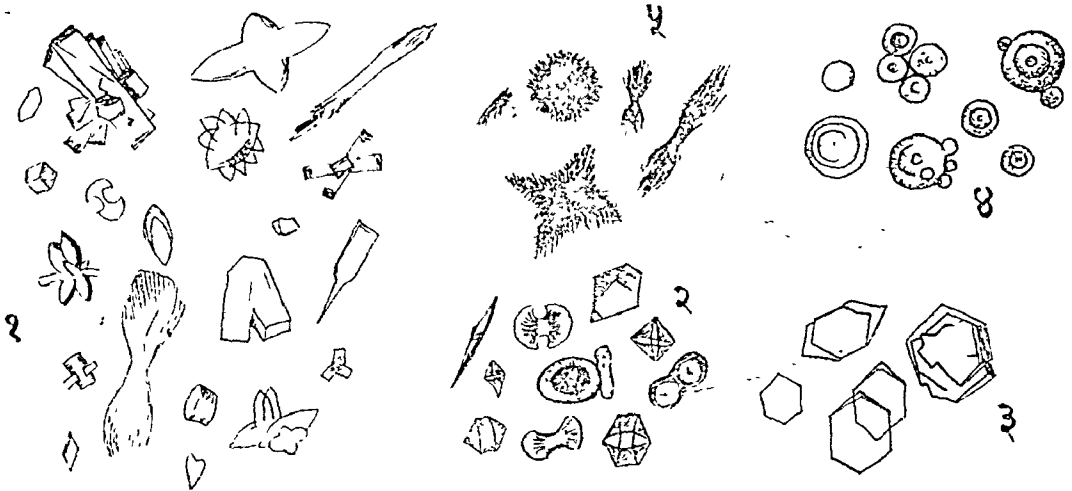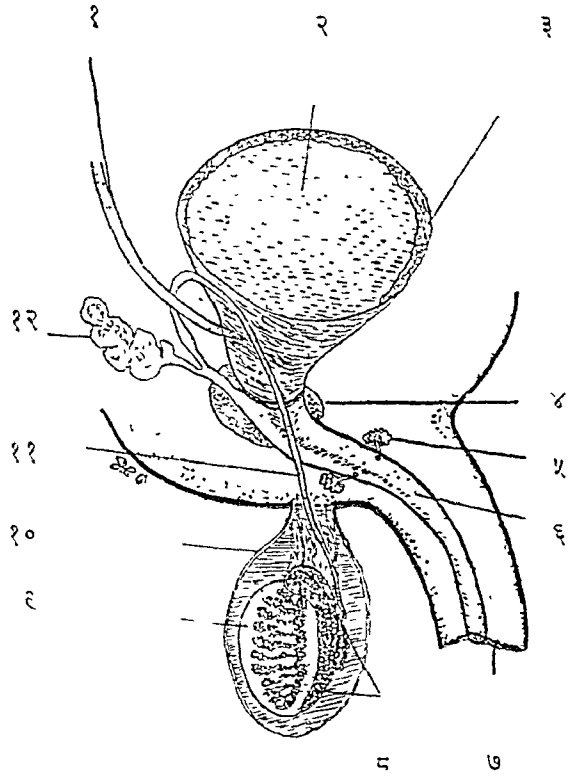
मूत्र की तलछट में पाए जानेवाले अपद्रव्यों के रवे :: १. यूरिक ऐसिड ; २. कैल्शियम आक्सेलेट ; ३. साइस्टिन ; ४. ल्यूसिन ; ५. टायरोसिन।

भावावेग

चेतन-वृत्तियाँ और चेतना-प्रवाह का अध्ययन पिछले प्रकरण में हम कर चुके हैं। सारी मानसिक क्रियाएँ चेतना के ही किसी स्तर में होती हैं--सुषुप्त, अर्द्ध-सुप्त अथवा जाग्रत। भावावेग (emotion) चेतना का ही एक प्रकार है, उसकी एक विशेष अवस्था है। मनोविज्ञान के पण्डित इस बात में प्रायः एकमत हैं कि भावावेग की कोई नपी-तुली परिभाषा नहीं गढ़ी जा सकती। जिन विद्वानों ने परिभाषा गढने की चेष्टा की भी है, उन्होंने प्रारम्भ में ही कह दिया है कि उनकी परिभाषा भावावेग-जनित प्रतिक्रियाओं के एक विशेष समुदाय ही पर लागू हो सकती है। वाटसन की परिभाषा है--

"भावावेग एक वंशागत 'उदाहरण-जनित' प्रतिक्रिया है, जिसमें मोटे तौर पर समूचे शरीर-यन्त्र ---विशेषतः मांसग्रन्थि-प्रणाली तथा अंतःशारीरिक (visceral) प्रणाली---का गहरा परिवर्त्तन सन्निहित होता है।"

'उदाहरण-जनित प्रतिक्रिया' से मतलब यह है कि जब कभी भी उत्तेजित करनेवाली शक्ति क्रियाशील होती है तब प्रत्याचरणों (responses) के अलग-अलग ब्यौरे (details) किसी निरन्तरता के साथ, किसी नियमपूर्वक, लगभग एक ही परिणाम-क्रम के दृष्टिगोचर होते हैं। एक ऐसी रात में जब कि तूफान उठ रहा हो, घर में केवल एक धुँधली-सी रोशनी जल रही हो, और एक बालक अकेले बैठा हो, झिल्ली की एक तनिक-सी झनकार पर भी उस बालक के मन में भय की प्रतिक्रिया जाग उठेगी। परंतु उसी घर में अगर बच्चे के माता-पिता मौजूद हों, खूब चमकती रोशनी फैल रही हो, तो वही प्रेरक ध्वनि इस प्रकार की प्रतिक्रया उत्पन्न करने में असमर्थ रहेगी। कदाचित् बालक का उधर ध्यान भी न जायगा। इस अर्थ में 'प्रेरक-शक्ति' शब्द न केवल उत्तेजक उपादान को ही व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है, बल्कि साधारण अवस्थिति का अर्थ भी उसमें सन्निहित है।

यह तो हुई पण्डितों की बातें, पर साधारण पाठकों के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भावावेग क्या है तब तुरन्त ही उत्तर दे सकना जानकारों के लिए भी सम्भव नहीं हो पाता है। किन्तु प्रश्न के साथ ही मस्तिष्क में कुछ विशेष आचरणों के चित्र अवश्य ही उपस्थित हो जाते हैं, जिनमें भावावेग की अभिव्यक्ति देखी जा सके। उदाहरणार्थ भय, क्रोध, आशा, द्विधा, ईर्ष्या और इसी तरह के अन्य आचरणों के चित्र हमारे मस्तिष्क के सामने घूम जाते हैं। अब मनोविज्ञान के विद्यार्थी के सामने प्रश्न यह उठता है कि आया इन सभी आचरणों में कोई एक सामान्य लक्षण है, जिसके कि कारण हम उन सबको एक ही नाम---भावावेग--- दे सकें। मनोविज्ञान के विद्वानों ने इस प्रश्न के विभिन्न और असम्बद्ध उत्तर पेश किये हैं। किन्हीं-किन्हीं का विचार है कि भावावेग एक प्रकार की स्नायविक उत्तेजना है, जो अवयवों के क्षुब्ध होने से पैदा होती है। कुछ अन्य पण्डितों का मत है कि विगत सुख-दुखों की स्मृति-धारा के ही पुनरुद्भव के फलस्वरूप भावावेग का जन्म होता है। विद्वानों का एक और दल यह मानता है कि भावावेग एक विशेष ढंग पर आचरण करने की प्रवृत्ति को कहते हैं जो अभीच्छित चेतना (Conative Consciousness) का ही एक प्रकार है। ऐसे विरोधी वक्तव्यों और प्रतिपादनों को देखते हुए साधारण विद्यार्थी के लिए स्वतन्त्र रूप से किसी परिणाम पर पहुँचने के लिए एक ही मार्ग रह जाता है और वह है भावावेग के विभिन्न उदाहरणों को लेकर उनमें लाक्षणिक अन्तर तथा साम्य ढूंढना और प्रत्येक अभिव्यक्ति का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करना।

यहाँ पर आगे बढ़ने के पहले एक भ्रम दूर कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। स्वयंभू या सहज वृत्तियाँ (Instincts) और भावावेग मस्तिष्क के क्षेत्र में निकट रूप से इतने सम्बन्धित विषय हैं कि प्रायः साधारण

विद्यार्थियों के लिए दोनो मे अन्तर कर सकना दुष्कर हो जाता है। उदाहरण के लिए भय की ही वात ले लीजिए। उसे सहज वृत्ति और भावावेग दोनों में स्थान दिया जा सकता है। मैक्डूगल के शब्दों में, खतरे से वचने की प्रवृति एक सहज वृत्ति है, जिसके साथ ही भय का भावावेग भी जाग्रत होता है। साहस एक सहज वृत्ति है, जिसके साथ क्रोध का भावावेग सम्मिलित हो सकता है। अन्य योनि का साहचर्य प्राप्त करने की रुझान एक सहज वृत्ति है और काम का भावावेग उसके साथ लगा हो सकता है। इसी तरह अन्य सहज वृत्तियो के साथ लगे हुए भावावेगों का अन्तर भी समझा जा सकता है।

भावावेग के वारे मे हमारे सामने जो सर्वप्रथम वात आती है, वह है उनका विस्तृत क्षेत्र। दर्शन-जनित चेतना (Perceptual Consciousness) के निम्नतम प्रकारों से लेकर विचार और चिन्तन-जनित चेतनाओं के उच्चतम प्रकार तक, सभी उसकी परिधि में आते है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि 'क्रोध' चोट के दर्द से भी पैदा हो सकता है और किसी घटना (जैसे घूमने जाते समय किसी भिखमंगे का अकारण पीटा जाना देखने) की स्मृति से भी। विल्ली को, यदि कोई उसके वच्चे को छू ले तो, क्रुद्ध होते देखा जा सकता है; किसी लड़के को उसका खिलौना छूने या छीनने की चेष्टा करके क्रोधित किया जा सकता है; इसी तरह एक प्रोफेसर को ऐसी हालत मे क्रोधित देखा जा सकता है जव कोई गूढ़ विषय समझाते-समझाते वह थक जाये और तव भी उसके विद्यार्थियो की समझ में वात न आए।

मानसिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं द्वारा आपेक्षिक भावावेग के इस विस्तृत विभाजन को ध्यान में रखते हुए, हम भावावेग की कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं कर सकते जो संकुचित और अपूर्ण न सिद्ध हो। भावावेग के विस्तृत क्षेत्र के साथ उन विभिन्न प्रकार की स्थितियों का घनिष्ट सम्वन्ध है, जो उन्हें जन्म देती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी प्रकार का खतरा भय के भावावेग को जाग्रत कर सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि एक विशेष प्रकार की साधारण अवस्थिति, न कि किसी विशिष्ट श्रेणी के उपादान, किन्हीं खास भावावेगो को उत्तेजित करती है। किन्तु उन आचरणों के, जिनके द्वारा भावावेगों की अभिव्यक्ति होती है, लक्षण साधारणतया विल्कुल समान होते है। क्रुद्ध कुत्ता जो आचरण करता है, अर्थात् जिस तरह अपने क्रोध को व्यक्त करता है, वह लगभग सदैव एक ही प्रकार का होता है। उसके क्रोध को जाग्रत करने में चाहे जो भी उपादान या अवस्थिति सहायक या प्रेरक हुए हों, हर कुत्ता क्रोध में सदा एक ही प्रकार का शारीरिक आचरण करता है, जैसे दाँत निकालना, गुर्राना, काटने की कोशिश करना, आदि। भावावेगो को उत्पन्न करनेवाले दो प्रकार के साधन होते है, जिनका अन्तर समझ लेना वहुत ही महत्वपूर्ण है। भावावेगों का सम्वन्ध किन्ही विशेष दृश्यों या विचारो से भी हो सकता है, जैसे सुखद समाचार प्रसन्नता का भावावेग जाग्रत करता है।

दूसरी ओर शारीरिक अवयवो मे परिवर्त्तन उपस्थित होने पर भी भावावेग की उत्पत्ति होती है, जैसे मादक पदार्थों के खाने से उत्पन्न होनेवाले भावावेग। व्यक्ति की मानसिक अवस्था उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति, स्वास्थ्य की दशा आदि के कारण भिन्न हुआ करती है। शारीरिक अवयवों से सम्वन्ध रखनेवाले परिवर्त्तन दो तरह से घटित होते है। वे सीधे स्नायु-तन्तु प्रणाली की अवस्था को परिवर्त्तित कर दे सकते हैं; और शरीर की साधारण अवस्था को वदलकर आंतरिक अवयवों से माध्यमिक स्नायु-प्रणाली मे प्राप्त होनेवाली प्रेरणाओ (Impulses) के प्रकार को भी परिवर्त्तित कर सकते है। शरीर अवयवों से सम्वन्वित उत्तेजनाओं के विकार से स्नायु-तन्तु प्रणाली की अवस्था मे एक सामान्य परिवर्तन घटित होता है, जो मनोविज्ञान की भाषा में 'भावावेग की अवस्था' (Emotional Mood) कहा जाता है। 'भावावेग की अवस्था' और भावावेग दोनों ही को एक चीज समझना भूल होगी। 'भावावेग' किसी निश्चित उपादान से सम्वन्धित अनुभूति को कहते है, जैसे क्रोध के लिए आवश्यक है कि किसी विषय या वात पर क्रोध पैदा हो; किन्तु क्रोध की 'भावावेग-अवस्था' विना किसी उपादान के भी हो सकती है जैसे प्राय. रात में नीद न आने से चिड़चिड़ेपन की अवस्था (Mood) पैदा हो जाती है। यह अवस्था किसी उपादान पर निर्भर न रहकर क्रोध के लिए स्वयं कारण ढूंढ लेती है और एक उपादान से दूसरे उपादान का आधार पकड़ती हुई निरन्तर ढूँढ़ती रहती है।

भावावेग की अवस्था, उसका मूल कारण चाहे जो भी हो, जव एक वार पैदा हो जाती है तव लगातार कायम रहना चाहती है, और जो भी पदार्थ उसके सामने आ जाता है, उसी को वह अपना आधार वना लेती है। उदाहरण के लिए, किसी मादक द्रव्य को खा लेने से क्रोधावेग या खिन्नता अथवा आनन्द-मग्नता की अवस्था
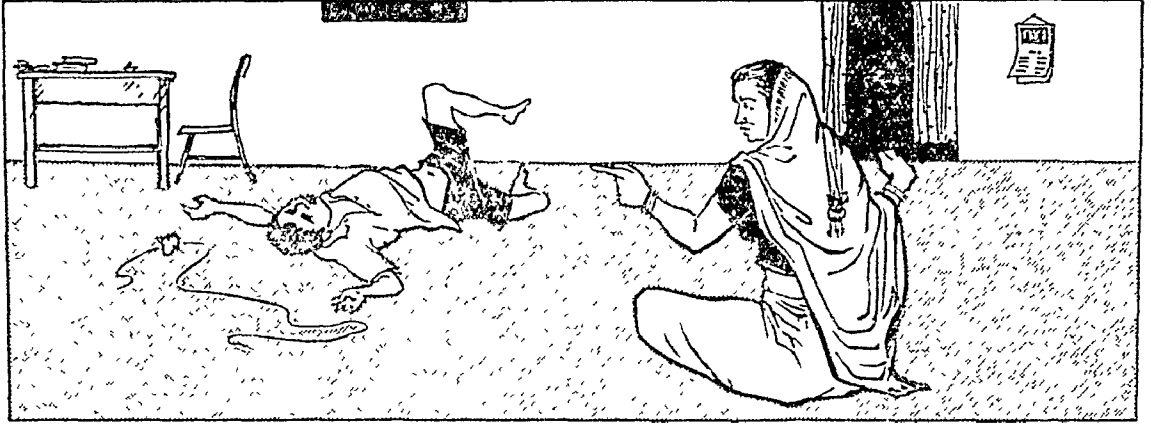
जब बच्चा अपने इच्छानुसार कोई काम करने से रोका जाने पर बेतरह बिगड़ उठता है और हाथ-पैर पटककर एवं रो-रोकर आसमान सिर पर उठा लेता है, तो वह भावावेग के ही उफान की एक प्रतिक्रिया होती है।

अकारण ही पैदा हो सकती है, किन्तु एक बार पैदा हो जाने के बाद उक्त अवस्थाएँ अपने लिए कारण और उपादान अपने-आप पैदा कर लेती हैं। रात्रि की अनिद्रा से चिड़चिड़ाये हुए व्यक्ति के सामने पड़नेवाली कोई भी घटना उसके चिड़चिड़ेपन का आधार बनकर उसके क्रम को लम्बा कर सकती है। वही घटना किसी अन्य मानसिक अवस्था में बिलकुल विपरीत प्रतिक्रिया भी पैदा कर सकती है, और ऐसा भी हो सकता है कि किसी अन्य अवस्था में ऐसी घटना पर ध्यान ही न जाय। प्रायः देखा जाता है कि घर का रसोईया जब स्वयं मालिक की डाँट खाकर आता है तो वह अपने अधीन नौकरों और मजदूरिनों पर अपने जी का बुखार उतारता है। पाठकों ने यह भी देखा होगा कि एक गौरैया यदि किसी प्रकार किसी के पंजे में आ गयी तो जब तक वह बन्दी रहेगी तब तक तो अन्य गौरैयों का झुण्ड अलग से ही चीं-चीं करके अपना विरोध प्रदर्शन करेगा; किन्तु जब वह छूट जायगी तो उसी के ऊपर वह अपना क्रोध उतारेगी। इसका कारण यह है कि गौरैयों के गिरोह का ध्यान उस एक ही पदार्थ पर केन्द्रित हो गया होता है, और उनकी उत्तेजना अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग भी ढूँढ़ती ही है, अतएव किसी निश्चित मार्ग के अभाव में वह उस भयभीत अथवा घायल चिड़िया पर ही (जिसकी सहानुभूति की 'सहज वृत्ति' ने उनमें क्रोध का भावावेग पैदा किया था) टूट पड़ती है।

हडसन लिखता है कि 'कभी-कभी यह देखने में आता है कि जब चार-पाँच कुत्ते थोड़ी दूर पर होते हैं और उनमें से एक अकारण भी भोंकना है या कष्ट-द्योतक (काँय-काँय) करता है तो सभी उसके पास दौड़ जाते हैं तथा उक्त भोंकने या शब्द करने के किसी भी प्रत्यक्ष कारण को न देखकर आपस में ही जूझ पड़ते हैं।'

इसी तरह कई जाति के पशुओं के नरों के पास उस समय जाना अत्यन्त विपत्तिजनक होता है जब कि उनके जोड़े खाने का समय होता है और जब यौन-सम्बन्धी प्रतियोगिता के कारण उनके क्रोध का भावावेग अत्यन्त उत्तेजित अवस्था में होता है। भावावेग या उसकी अवस्था सामान्य तौर पर एक तरह की विशेष रुझान अथवा क्रियाशीलता की विशेष प्रवृत्ति होती है, जो जिस किसी भी सम्भव और सुगम ढंग पर अपने को निर्देशित करती है। परिस्थितियाँ जो भी मार्ग उसे प्रदान कर सकें, उसी मार्ग से वह प्रवृत्ति बह निकलती है।

भावावेग का एक और रूप होता है, जिसे उसके 'परावलम्बी लक्षण' (Parasitical Character) का नाम दिया जाता है। ये ऐसे भावावेग हैं जो शरीर-अवयव में घटित होनेवाले साधारण परिवर्त्तनों से न प्रेरित होकर साधारण परिस्थितियों से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार के भावावेगों में अनिवार्य रूप से हमें 'सहज वृत्तियों' का पूर्व अस्तित्व मानकर चलना पड़ता है। कुत्ते के मुँह से हड्डी छीनने के कारण पैदा हुआ उसका क्रोध यह व्यक्त करता है कि कुत्ते में भूख या खाने की सहज वृत्ति विद्यमान है। वाटसन इस श्रेणी की भावावेग-जनित प्रतिक्रियाओं को क्रोध, भय और प्रेम इन तीन श्रेणियों में विभाजित करता

है। विलियम जेम्स तथा लैङ्ग आदि के मत के पंडित एक और चौथी श्रेणी 'दु.ख' को भी मानते है। किन्तु अधिकांश विद्वान् उक्त तीन श्रेणियों को ही मान्य ठहराते हैं।

दुर्भाग्य से मनोविज्ञान अभी हाल तक विज्ञान की श्रेणी में नही गिना जाता था, जिसके परिणामस्वरूप उसका परीक्षणात्मक अध्ययन बहुत दिनों तक संभव नही हो सका। परीक्षणात्मक अध्ययन प्रारम्भ होने के बाद से बच्चों पर कुछ परीक्षण अब तक हो पाए है। अध्ययन की पूर्णता के लिए विस्तृत परीक्षण करना आवश्यक है, क्योंकि बहुत-सी ऐसी प्रतिक्रियाएँ और प्रत्याचरण बच्चों में दिखलाई पड़ते है, जो पशु-पक्षियो मे नही मिलते। परीक्षणों द्वारा विद्वानों ने जो परिणाम निकाला है, उसके अनुसार निम्न प्रधान अवस्थितियों मे भय के भावावेग की प्रतिक्रिया होती है—

१—बच्चे के सामने से आधार के सभी साधन हटा देना; जैसे बच्चे को ऊपर उछालकर रोकने की स्थिति।

२—जोरों का अप्रिय स्वर या शब्द करना।

३—सोये बच्चे को एकाएक झकझोरकर जगाना।

इसी प्रकार क्रोध के भावावेग की प्रतिक्रिया इस प्रकार होती हुई देखी जाती है—

१—बच्चे की इच्छा एक विशेष दिशा में पड़े हुए गेंद को उठा लाने के लिए जाने की हो और तब अगर आप उसे रोक ले तो पहले वह रोकर साधारण विरोध प्रदर्शित करेगा, फिर चीख-चीखकर अपार क्रोध दर्शाएगा।

२—नवजात शिशु के सामने कोई आकर्षक चीज लटक रही हो और उसकी आँखों तथा उस वस्तु के बीच अगर कोई व्यवधान उपस्थित कर दिया जाय तो वह शीघ्र ही क्रोध से चीखने-चिल्लाने लगेगा।

इसी प्रकार प्रेम के भावावेग की प्रतिक्रियाएँ भी होती है, जिन पर विस्तार से आगे लिखा जायगा।

मन और शरीर

पिछले लेखों में 'हमारा मन' स्तंभ के अन्तर्गत मानव-मस्तिष्क-संबंधी कुछ प्रारंभिक बातों की जानकारी आपको कराई जा चुकी है। प्रस्तुत स्तंभ उसी के सिलसिले में दिया जा रहा है।

संसार के सब से बड़े आश्चर्य मानव-मस्तिष्क के संबंध मे पिछले प्रकरण में आपको कुछ-कुछ बताया जा चुका है। आपने यह भी पढा है कि किस प्रकार मस्तिष्क और उससे अभिन्न रूप से संबंधित वात-संस्थान की सहायता से मनुष्य का बाहरी आचरण नियंत्रित होता है। पावलोव के परीक्षण और वाटसन के सिद्धान्तों ने अवश्य ही आपके मन मे कुतूहलपूर्ण आश्चर्य के साथ यह भी विचार पैदा किया होगा कि क्या मानव-मन का अन्तिम रूप यही है? क्या यह सच है कि हमारी सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ कुछ श्वेत, कुछ धूसर पदार्थ, कुछ छोटी, कुछ बड़ी नाड़ियों का ही खेल है?

बहुत दिनों पहले बहुत-कुछ इसी प्रकार के प्रश्न बहुत बड़े-बड़े दार्शनिकों के मन मे उठे थे। हाँ, उतने धुंधले रूप मे नहीं जितना कि हमारे-आपके मन में हो रहा है। हमारे यहाँ के ऋषि-मुनियों ने भी इस प्रश्न पर बहुत-कुछ विचार किया और भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर पहुँचे।

यहाँ पर थोड़ा यह भी बता दें कि और-और नैसर्गिक विज्ञानों और मनोविज्ञान मे क्या अन्तर है, ताकि आप इस प्रश्न का पूर्ण रूप से महत्व समझ सके। एक वैज्ञानिक के लिए यह कोई जरूरी नही कि आखिर दुनिया ऐसी ही क्यो है, किसने इसे ऐसा किया आदि प्रश्नो पर वह ठहरा रहे। वह तो प्रकृति की चीजो को ज्यों-का-त्यों मानकर उनका अध्ययन करता है और परिणाम निकालता है। मनोवैज्ञानिक भी ऐसा ही करता है। जिस तरह भौतिक विज्ञान भौतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, रसायन-शास्त्र पदार्थों के संबंध मे माथा-पच्ची करता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान मन—चाहे फिर वह मानव-मन हो या पशु का मन—की गुत्थियाँ सुलझाने की कोशिश करता है। किन्तु पदार्थ-वैज्ञानिक अपने पदार्थों को हाथ से छू सकता है, आँखों से देख सकता है, नाक से सूँघ सकता है और इच्छानुसार अपनी प्रयोगशाला मे उनके साथ खेल कर सकता है। लेकिन मन को न कोई स्पर्श कर सकता है, न उसे देखा जा सकता है और न सूँघकर ही

कहा जा सकता है कि हाँ, यह देखो, यही मन-जैसा महक रहा है ! जहाँ अन्य सब प्राकृतिक विज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के जरिए अपनी वस्तुओं के संबंध में सीधे जान जाते हैं, वहाँ मनोविज्ञान को बाहरी आचरणो के द्वारा ही उसके पीछे काम करनेवाली किसी ऐसी वस्तु के विद्यमान होने की संभावना का अन्दाज़ा लगाना पड़ता है जिसकी ये बाहरी प्रतिक्रियाएँ हैं।

जब कुत्ता भौंकता है तो उसके सारे शरीर की बाहरी क्रियाओं को हम देखते है, लेकिन उसकी आँखो को एक खास तरफ देखते देखकर हम जान पाते हैं कि सामने से एक हाथी चला जा रहा है और उसी को लक्ष्य करके कुत्ता ऐसा आचरण कर रहा है। बिना बुद्धि पर ज्यादा जोर डाले ही हम समझ जाते हैं कि कुत्ते का गुस्सा हाथी पर है। लेकिन अगर कोई हमसे पूछ बैठे—'अच्छा, कुत्ते में कौन-सी वस्तु क्रोधित है ?' क्या यह उसके मस्तिष्क का श्वेत पदार्थ है या है उसकी वह नाड़ी जो सुषुम्ना से होकर उसके स्वर-यंत्र तक जाती है ? तो इसका जो उत्तर हम दे सकते है वह मात्र इतना है कि स्वयं कुत्ता क्रोधित है।
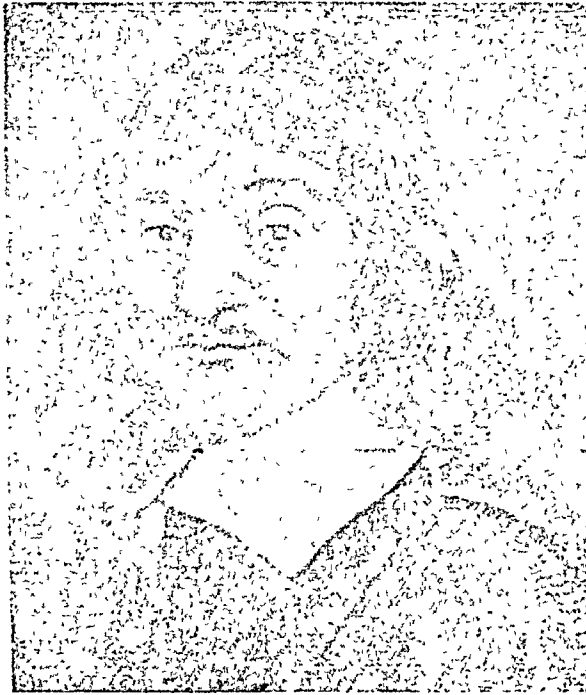
आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त का प्रतिपादक डेकार्ट।

हम हमेशा कहते हैं—हमारा हाथ, हमारा पैर, हमारी आँखे आदि। लेकिन अगर शरीर का एक-एक कण हमारा है तो यह 'हम'—इन सारी चीजों का स्वामी यह 'हम'—कौन-सा है ? स्वत्वाधिकारी और उसकी चीजें अवश्य ही एक नही हैं। तो फिर इन दो चीजों में कैसा संबंध है, जिन्हें हम मन और शरीर कहते हैं ?

यही प्रश्न डेकार्टे नामक दार्शनिक के दिमाग में भी उठा था और उसने यह सिद्धान्त तय किया कि मन और शरीर यद्यपि दो भिन्न वस्तुएँ हैं—एक 'पदार्थ' है और दूसरा 'न-पदार्थ' है, फिर भी दोनों में कुछ ऐसा संबंध है कि एक की क्रिया का सीधा असर दूसरे पर होता रहता है। और मन की शरीर पर तथा शरीर की मन पर ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ पिनियल नामक ग्रन्थि की मध्यस्थता से होती रहती हैं। इतने से सन्तुष्ट न होकर उसने यह भी कहा कि इस संबध को कायम करनेवाला परमात्मा है। यह है मन और शरीर का **आन्तरक्रियावादी** सिद्धान्त।

किन्तु इस सिद्धान्त ने सब से बड़ी मुश्किल जो पैदा की वह यह थी कि इससे आधुनिक विज्ञान के **शक्ति की नित्यता** के सिद्धान्त का एकबारगी उल्लंघन हो जाता है। शक्ति नित्य है, वह अपना रूप बदल सकती है, लेकिन नष्ट नही हो सकती। शरीर एक भौतिक वस्तु है, पदार्थ है। मन कोई भौतिक चीज नही। उसकी स्थिति के लिए स्थान और काल की आवश्यकता नही। वह **न-पदार्थ** है। फिर ये दो सर्वथा भिन्न चीजे किस प्रकार एक दूसरे पर असर डाल सकती है ? अगर पदार्थ मन पर क्रिया करना चाहता है तो उसे मन ही हो जाना पड़ेगा, अर्थात् वह न-पदार्थ हो जायगा। किन्तु ऐसा होना असभव है। ठीक उसी प्रकार मन को भी शरीर पर प्रभाव डालने के लिए शरीर ही जाना पड़ेगा, यानी पदार्थ बनना पड़ेगा। यह भी असंभव है। तो फिर मन और शरीर का आपस मे क्या सम्बन्ध है ?

इस प्रश्न का उत्तर हालैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा ने दिया। स्पिनोजा ने कहा—'भई, आखिर न-पदार्थ (मन)पदार्थ(शरीर)से टक्कर लेने क्यों जाने लगा ?··· में फँसने जायँ ? डेकार्टे के जिस 'भगवान्' ने आन्तर-क्रिया की व्यवस्था की वह इतना मन्दबुद्धि नही था कि विद्वानों के प्रिय सिद्धान्त 'शक्ति की नित्यता' का उल्लंघन कराके उसे दुःख पहुँचाता। आदम को स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजकर उसने इस आदमी को कम तकलीफ दी थी ! आपने

दो घड़ियों को एक साथ चलते देखा होगा। अगर आपकी रिस्ट-वाच में सात बजकर पन्द्रह मिनट हो रहे हैं तो आपकी टाइप-पीस में भी ठीक सात बजकर पन्द्रह मिनट हुए हैं! तो क्या आप इससे यह कहना चाहते हैं कि चूंकि दोनो घड़ियाँ एक साथ, एक ही तरह से चल रही है, इसलिए पहली घड़ी दूसरी पर और दूसरी पहली पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रही है? स्पिनोजा के इस तर्क ने तत्व-चिंतकों को चक्कर में डाल दिया!

यहाँ पर आपको स्पिनोजा के तर्क की सचाई माननी पड़ेगी और आप उत्तर देंगे—'नहीं'। इस पर स्पिनोजा समझाता है कि ठीक इस रिस्ट-वाच और उस टाइम-पीस की तरह मन और शरीर भी एक दूसरे से उसी तरह भिन्न होते हुए भी एक दूसरे की तरह ही काम कर रहे हैं। जब मन खुश होता है तो शरीर हँसता है, जब शरीर नशे में होता तो पैर के लड़खड़ाने के साथ मन भी लड़-खड़ाने लगता है। और जिस तरह दोनों घड़ियाँ एक दूसरे पर क्रिया नहीं कर रही हैं, उसी तरह ये दोनों भी अलग-अलग ही काम कर रहे हैं—लेकिन एक साथ, एक ही तरीके से, बिल्कुल समानान्तर। दोनों ही के डायल सात बजकर पन्द्रह मिनट दिखा रहे हैं।

इस मत ने मन और शरीर के **समानान्तरवाद** का नाम धारण किया। इसकी खूबी यही है कि शक्ति की नित्यता के सिद्धान्त पर जो चोट पहुँचती थी वह साफ बच गई।

पर आपको भी कोई क्या कहे जो पूछ ही बैठे—'तो ये दोनों घड़ियाँ एक साथ क्यों काम करती हैं?'

स्पिनोजा ने छूटते ही जवाब दिया—'क्योंकि घड़ीसाज ने दोनों को एक ही समय और एक ही तरह से काम करने के लिए व्यवस्थित कर दिया है। मन और शरीर की यह व्यवस्था परमात्मा ने आरंभ से ही कर दी है।'

समानान्तरवाद का प्रतिपादक स्पिनोजा

क्या उम्दा जवाब है! और बहुत दिनों तक बड़े-बड़े दार्शनिक भी इसी सिद्धान्त को ठीक मानते रहे। कुछेक विद्वानों ने अवश्य ही मौके-ब-मौके इसका खोखलापन देखा, फिर भी अभी तक ज्यादातर लोग यहीं पर आकर चुप हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि वास्तव में इस समस्या का कोई सर्वसमाधानकारक उत्तर हो भी नहीं सकता। अगर गौर से देखिए तो आपको पता चलेगा कि कुत्ते का मन जब हाथी पर क्रोधित होता है तो उसका शरीर भोंकना और क्रोध के दूसरे आचरण करना शुरू करता है, और आप जब शराब पीते हैं (जिसकी आशा कुछ हद तक कम है!) तो आप का मन भी लड़खड़ाने लगता है। सिर्फ यही बातें सत्य हैं। मन शरीर पर असर करता है या दोनों एक दूसरे के समानान्तर दौड़ते हैं यह तो किसी तरह जाना ही नहीं जा सकता। मन शरीर पर क्रिया करता है यह अगर गलत है तो दोनों एक दूसरे के समानान्तर कार्य कर रहे हैं यह भी उससे कुछ अधिक सही नहीं। हाँ, अलबत्ता आपके एक प्रिय सिद्धान्त 'शक्ति की नित्यता' को यह हानि नहीं पहुँचाता, इसलिए आपको इससे कोई नाराजगी नहीं हुई। अन्यथा स्पिनोजा का जो ईश्वर इतना शक्तिशाली है कि दोनों को एक दूसरे के समानान्तर व्यस्थित कर सकता है तो डेकार्टे का ईश्वर इतना कमजोर नहीं जो अपनी ही बनाई हुई सृष्टि में अपनी ही बनाई हुई दो चीजों को एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने को बाधित न कर सके, चाहे दोनों लाख एक दूसरे से भिन्न रहें, और चाहे शक्ति की नित्यता जैसे हजार सिद्धान्त इसके नीचे कुचलते रहें!

और फिर हम लौटकर उसी प्रश्न पर पहुँच जाते हैं—तो आखिर मन और शरीर में आपसी संबंध क्या है?

उत्तर में हमारे देश के एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक डा० गिरीन्द्रशेखर बोस ने कहा—'आदमी का मन सर्वदा उत्सुक है। और वह जानकर ही रहेगा। अगर हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति नहीं होती तो ज्ञान-विज्ञान का कहीं नामोनिशान भी नहीं रहता। और न वायुयान जैसी भारी चीज आकाश-मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती।'

उन्होंने यह दलील दी कि साढ़े बाइस आउन्स की सफेद चम-चमाती बोतल में बन्द लाल-लाल 'जौनी वाकर' का एक पेग मिस्टर हेग शॉ के पेट में पहुँचकर यकृत् और रक्त से होकर जब मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में पहुँच जाता है तो उनके पैर कुछ हल्के हो जाते हैं, आँखों में सुर्खी छा

जाती है, जवान कुछ उखड़ी-उखड़ी हो जाती है, आवाज फट जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बोलते हुए रूजवेल्ट का घर 'इन्डिया' बताकर वह 'डैम इट' में वाक्य समाप्त कर देते है ! और सुबह उठकर ठंडे पानी से स्नान करके मिस्टर शॉ सोचते हैं—यानी उनका मन कहता है कि अब ड्रेस करके जरा उनसे क्षमा माँगता आऊँ जिन्हे रात दो-ढाई घंटे तक ऊलजलूल भाषण सुनाता रहा, तो उनके पैर स्वयं उन्हे ड्रेसिंग टेबुल के पास ले जाते है और उनका दाहिना हाथ ब्रुश उठाकर सर की ओर ले जाता है !

मन ने शरीर-सा काम किया, बदले में शरीर न भी मन की आज्ञा मान ली। यह कैसे हुआ ?

बोस का सिद्धान्त है कि हर पदार्थ के दो पहलू है, एक भौतिक, दूसरा मानसिक। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर कार्य करती है तो उसका भौतिक पहलू दूसरी के भौतिक पहलू और उसका मानसिक पहलू दूसरी के मानसिक पहलू पर क्रिया करता है।

इस सिद्धान्त का नाम उन्होंने **सर्व-मना-सहचारवाद** दिया है। अंग्रेजी में इसका नाम इतना बड़ा है कि वह स्वयं एक आश्चर्य की चीज है, इसलिए उसका उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नही कर सकता। वह है Pan-psychic-psycho-physical-parallelism। इसका हिन्दी अनुवाद होगा—"सर्व-मना-मनोशारीरिक-सहचारवाद (या समानान्तरवाद)" !

ऊपरवाले उदाहरण में शराब के अन्दर दो पहलुओं का होना माना गया है। जब मिस्टर शॉ शराब को गले के नीचे उतारते है तो उसका भौतिक पहलू शॉ के शरीर पर असर करता है, और उनके पैर लडखडाना आदि उनके शारीरिक आचरण होते है। और उसका मानसिक पहलू नशे के रूप में उनके मन पर असर करता है और उनकी विचार-बुद्धि को भ्रष्ट करता है, तथा ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और नियंत्रणशक्ति की सारी शृंखला ही बिखेर देता है।

इस सिद्धान्त का महत्व केवल इतना है कि यह साधारण मनोशारीरिक-सहचारवाद से एक कदम आगे बढ़कर सहचारवाद को तो मानता है, लेकिन अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप में आन्तरक्रियावाद के सिद्धान्त को भी थोड़ा प्रश्रय देता है। सच पूछिए तो यह भी कोई खास दूर तक हमें कही नही ले जाता और इसका वास्तविक मूल्य केवल यही है कि और-और बहुत-से ऐसे सिद्धान्तों की तरह, जिनकी परीक्षा सीधे तौर पर ज्ञानेन्द्रियों अथवा माप-यन्त्रों के द्वारा नही की जा सकती, यह भी एक सिद्धान्त है और इसमें कल्पना कुछ और भी आगे तक बढी हुई है।

इसी की तरह कल्पनापूर्ण एक और भी सिद्धान्त है जो मैं अपने दोस्तों को एक दिन बता रहा था। ऊपर की सामग्री ने अवश्य ही आपके भीतर यह भाव पैदा किया होगा कि जब यह सारी बात निरर्थक है तो यह बहस ही क्यों उठाई जाय ! मैंने इसका जवाब ऊपर दे दिया है, अर्थात् मानव-बुद्धि की अत्यधिक उत्सुकता। तो मैंने यह सिद्धान्त दिया है कि आप चाहे हजार बार शक्ति की नित्यता को ठीक मानते रहे, और बार-बार परीक्षणों द्वारा इसकी सत्यता सिद्ध करते रहे, फिर भी यह सिर्फ एक सिद्धान्त है जो आपकी उस दुनिया में लागू है, जिसे आप नैसर्गिक रूप में देख रहे हैं। हो सकता है, नैसर्गिकोत्तर दुनिया में यह नहीं खप सके ! यह तो हमारे ऊपर के झगड़े से ही साबित है। संभव है कि मन शरीर पर और शरीर मन पर सच ही सीधे-सीधे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हो। कम-से-कम इन सारी क्रिया-प्रतिक्रियाओ का बाह्य प्रतिरूप हम हरदम देख रहे है। मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का मन पर बराबर हो रहा है। लेकिन अगर आपको शक्ति की नित्यतावाला सिद्धान्त ऐसा ही प्रिय है तो आप मन को भी एक भौतिक पदार्थ क्यों नही मान सकते ? अगर ईथर का होना सत्य कहकर माना जा सकता है तो, यह भी कोई उतना बुरा नही। यह आश्चर्य हर आदमी रोज देखता है कि हर तरह से निर्जीव भोजन जो हम लोग खाते है वह शरीर के अन्दर जाकर सजीव बन जाता है। शायद युधिष्ठिर ने कुछ अधिक दिमाग से काम लिया होता तो इसी पर 'किम् आश्चर्यमतः परम्' कहा होता और यक्ष भी सन्तुष्ट हो जाता ! यदि यह संभव है तो मन को भी पदार्थ मान लेना कोई वैसा आश्चर्यजनक नहीं। बहुत-सी ऐसी चीजें है जिन्हे हम किसी तरह नंगी आँखों से नही देख सकते, उन्हें खुर्दबीन से देख लेते है, और उससे भी अधिक शक्तिशाली खुर्दबीन से और भी बहुत-सी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चीजें देखते है। अभी तक किसी ने इतना शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र नही बनाया कि मन को देखा जा सके, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और उससे भी सूक्ष्मतम है। लेकिन मान लीजिए कि वह भी पदार्थ ही है, ठीक उसी तरह जिस तरह आपका शरीर एक भौतिक पदार्थ है। और तब आप खुशी से कह सकते है कि मन

और शरीर का आपसी संबंध आन्तरक्रियावादी है। मैंने इस सिद्धान्त को कोई नाम नही दिया है, इसलिए कि पहले ही से इस क्षेत्र में नामों की कमी नही और इसलिए भी कि लोग मेरे नाम से इसे याद न करने लग जायँ कहीं !

इतना जान लेना अत्यंत आवश्यक था, इसके पहले कि आप मनोविज्ञान को समझने के लिए आगे बढ़ सकें। क्योंकि अगर मन और शरीर के आपसी संबंध को अच्छी तरह समझे विना आप आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे तो शायद सब समाप्त करने पर भी आपके लिए यही कहावत लागू हो कि सारी रामायण समाप्त कर जाने पर भी आप नहीं जानते कि सीता कौन थी !

प्रत्यक्षानुभूति

आपने जरूर पढ़ा होगा कि लोक तीन है और भुवन चौदह है। लेकिन मनोवैज्ञानिकों ने साधारणत: दो ही लोक माने है--एक तो वह जिसे सुविधा के लिए आप 'बाहरी दुनिया' कह सकते है और दूसरा वह जिसे 'मन की दुनिया' कहा जा सकता है। बहिर्लोक में आप पेड, पौधे, पत्थर, पहाड़, घर, द्वार आदि पाते है और मनोलोक मे बहुत-सी और-और वस्तुओं के अलावा इन्हीं पेड़-पौधों के प्रतिविम्ब।

बाहरी पदार्थ वे है जिन्हें अगर आप न भी देखे, अथवा स्पर्श न करे, या जिनका ज्ञान और किसी प्रकार न भी प्राप्त करते रहें, तो भी वे वर्तमान रहेंगे। जैसे मान लीजिए कि सड़क पर एक मोटरगाड़ी खड़ी है। आपने अपनी दोनों आँखें अच्छी तरह मूंद रखी है और दोनो कानों में उँगली दे रखी है, और गाड़ी से इस तरह दूर हटकर खड़े है कि किसी तरह वह आपको छू न ले। इस तरह आपने यह जानने का हर मार्ग वंद कर रखा है कि आपके आसपास कोई मोटरगाड़ी है, या और भी कोई चीज है। ऐसी अवस्था में आपके लिए मोटर गाड़ी का अस्तित्व वहाँ पर नही है। फिर भी आपसे कुछ ही दूरी पर गाड़ी अपनी पूरी शान के साथ खडी है। यह बाहरी पदार्थ है, जिसका अस्तित्व अनुभव करनेवाले की अनुपस्थिति में भी अक्षुण्ण है।

अब तक आपके कान झनझना उठे है और आँखे अकबका गई है। इन्हें आप खोल डालिए और अपनी उँगलियाँ जरा आहिस्ते से मोटर की चमकीली पालिश पर रख दीजिए !--और सारी-की-सारी मोटर आपके अन्दर आपकी आँख, कान, नाक और उँगलियो से होकर घुस पड़ेगी ! अब इस स्थान पर एक की जगह दो गाड़ियाँ आ गई--एक तो वह जो सड़क पर खड़ी चल देने को है और दूसरी वह जो आपके मस्तिष्क और ज्ञान के अन्दर है। आपके चक्षुताल पर के इस बाहरी मोटर के प्रतिविम्ब ने अपना रूप मस्तिष्क के अन्दर अंकित कर दिया है, उसकी विशिष्ट गन्ध नाक की गन्धवाहिनी नाड़ियों के जरिए दिमाग मे पहुँच चुकी है और उसके इंजिन के चलते रहने की आवाज भी आपको सुनाई पड रही है। इन सारी चीजों के सम्मिश्रण से जो मोटर आपके अन्दर तैयार है, वह उस बाहरी मोटर से अलग ही एक चीज है।

इस तरह से किसी भी पदार्थ के बाहरी अनुभव को 'प्रत्यक्ष अनुभव' कहते है। जैसा कि नाम से जाहिर है, प्रत्यक्ष अनुभव उसी पदार्थ का होता है जो अनुभव करनेवाले के सामने वर्त्तमान हो। शरीर की संवेदन-क्रियाओ की सहायता से जो संवेदन हमारे मस्तिष्क में होते है, उन्हें मिला-जुलाकर किसी भी पदार्थ का अनुभव किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि अनुभव किए हुए पदार्थो में हम भेद कैसे करते है ? उदाहरणार्थ हम दृश्य वस्तु ले। आँखों से हम सैकड़ों वस्तुएँ देखा करते है और देखकर ही जान जाते है कि अमुक वस्तु घड़ी है, अमुक लालटेन है, अमुक आदमी है और अमुक कुत्ता है। हम यह भी देखकर जान लेते है कि अमुक वस्तु अचल है, अमुक चल रही है। आखिर यह कैसे होता है ?

प्रश्न इतना आसान लगता है कि शायद आप समझें कि इस आदमी के दिमाग का कोई पेच ढीला हो गया है जो ऐसे सवाल कर रहा है ! फिर भी इस बेतुके सवाल ने चिरकाल से मनोवैज्ञानिको की बुद्धि को चक्कर मे डाल रखा है और इसका उत्तर किन्ही भी दो मनोवैज्ञानिकों ने एक तरह से नही दिया।

एक दल वह है जो कहता है कि हमारी संवेदनग्राही नाडियाँ किसी भी पदार्थ के संवेदन को अलग-अलग हमारे मस्तिष्क में ले जाती है, जहाँ पर इन सारे संवेद-

जैसा कि चित्र के ऊपरी भाग म प्रदर्शित है, सड़क पर एक मोटरगाड़ी खड़ी है। आपने अपनी दोनों आँखें अच्छी तरह मूंद रखी है और दोनों कानों में उँगलियां दे रखी है, और इस तरह हटकर खड़े है कि गाड़ी आपको छू न ले। ऐसी अवस्था में आपके लिए मोटरगाड़ी का अस्तित्व वहां पर नहीं है। फिर भी आपसे कुछ दूरी पर ही गाड़ी अपनी पूरी शान के साथ खड़ी है। अब आप अपनी आँखें खोल डालिए और उँगलियां मोटर की पालिश पर रख दीजिए! —और सारी-की-सारी मोटर आपके मन के अन्दर आंख, कान, नाक और उँगलियों से होकर मानों घुस पड़ेगी जैसा कि चित्र के निचले भाग में प्रदर्शित है! अब इस स्थान पर एक की जगह दो गाड़ियाँ आ गईं—एक तो वह जो सड़क पर खड़ी चल देने को है और दूसरी वह जो आपके मस्तिष्क और ज्ञान के अन्दर है। इस तरह से बाहरी किसी भी पदार्थ के अनुभव को 'प्रत्यक्ष अनुभव' कहते हैं (विशेष विवरण के लिए सामने के पृष्ठ का मैटर देखिए)।
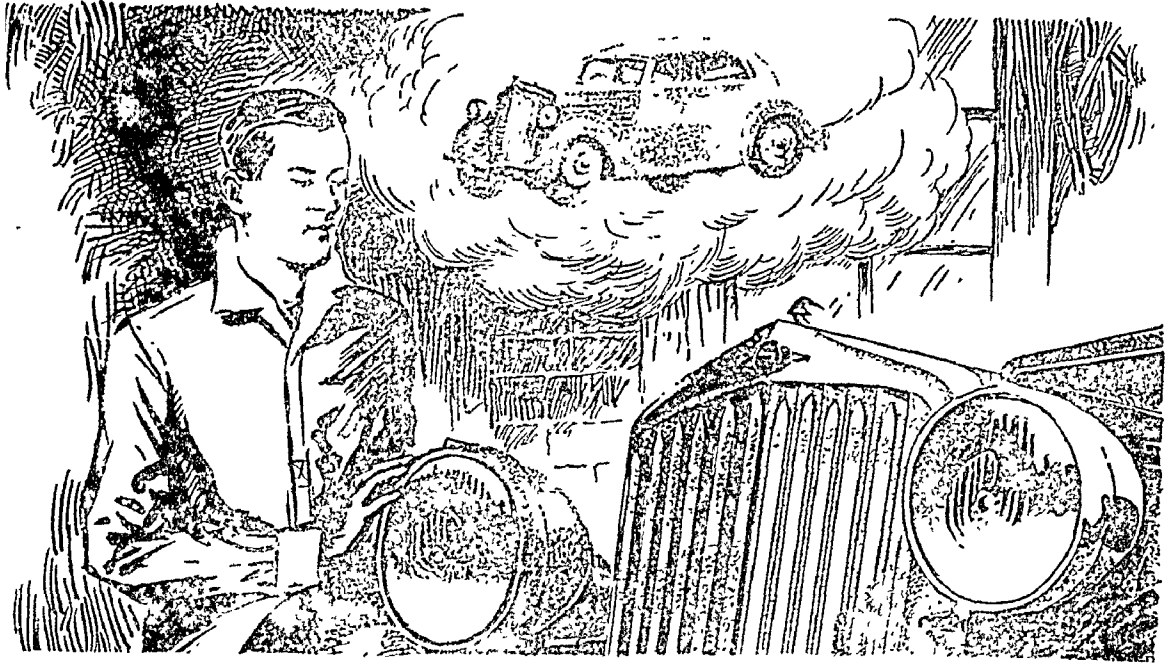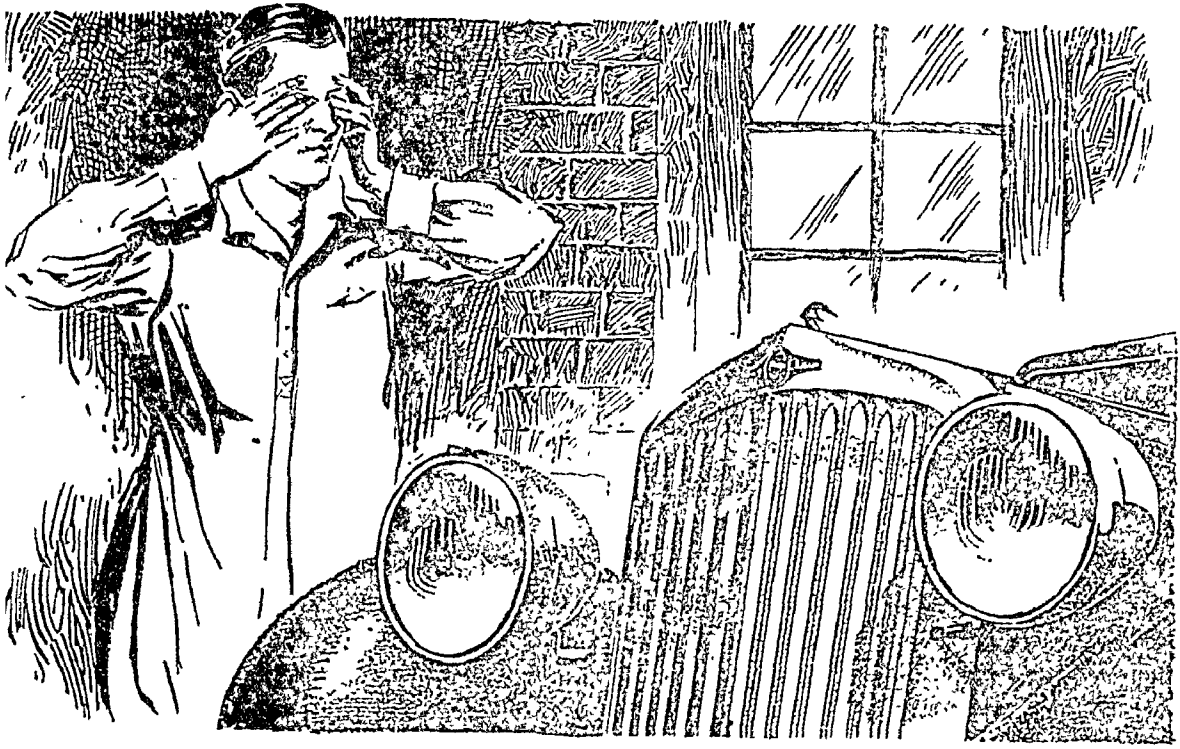
निक अनुभवो का समष्टीकरण होता है और तब हमें पदार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त को आचरणवादियों ने और भी दूसरे छोर पर पहुँचा दिया है। इस दल-वालो के मत से मस्तिष्क के अन्दर अपनी निज की क्रिया-शीलता नहीं। वह निष्क्रिय होकर बाहर से आते हुए संवेदनो को ग्रहण करता है, ठीक उसी तरह जैसे उँगली गीले पुटीन को छू दे तो उस पर चिन्ह जरूर पड़ जायगा, लेकिन पुटीन स्वयं उठकर उँगली का चिन्ह लेने नही जायगा। इस प्रकार गृहीत सवेदनों का संयोजन किसी रहस्यमय रूप मे स्वयं होता रहता है, जिनका संयुक्त रूप प्रत्यक्ष-बोध होता है।

लेकिन अगर आप अन्तर्दर्शन की चेष्टा करें और यह देखने की कोशिश करें कि संवेदन-ग्रहण से लेकर प्रत्यक्ष अनुभव होने तक आपके भीतर कौन-कौन-सी क्रियाएँ होती हैं, तो आप पायेंगे कि यह उतना सरल नही जितना कि उक्त दल के मनोवैज्ञानिक कहते है। टेबुल पर रखे हुए सन्तरे की रूपरेखाएँ, रंग आदि अलग-अलग होकर आपके मस्तिष्क मे जा रहे है, ऐसा आप अनुभव नही कर सकते, और न ऐसा ही मालूम होगा कि आँखो से होकर सन्तरे के दाहिने किनारे वाली वह रेखा आ रही है, और घ्राण-तन्तुओ से उसकी वह गन्ध घुसी पड़ रही है। बल्कि आप हमेशा यह पायँगे कि सन्तरा अपने संपूर्ण रूप में आपके सामने रखा हुआ है।

और अब फिर देखिए कि एक सेब भी उसी की बगल मे रखा हुआ है। आप देखते ही जान जाते है कि यह सेब है, सन्तरा नही। और सेब और सन्तरे मे अन्तर है।

इस तरह हमने देखा कि अपने प्रत्यक्ष-बोध में हम अलग-अलग सांवेदनिक आकृतियाँ नही देखते, वरन् एक सम्मिलित प्रतिकृति देखते है और एक प्रतिकृति और दूसरी प्रतिकृति का अन्तर भी स्वय ही अनुभव कर लेते है। इस प्रकार की प्रतिकृति के अनुभव तथा अन्तर जानने की क्रिया में तीन चीजे मुख्यतः सहायक होती हैं। वे है—प्रतिक्रिया का गुण, समय और स्थान। वस्तु-जगत् का हर पदार्थ इन तीन गुणो से युक्त है।

आप अपना रेडियो खोल दीजिए। यंत्र-संगीत हो रहा है। आपका कोई प्रिय फिल्मी गाना वाद्य यंत्रों पर बजाया जा रहा है। आपके मित्र ने प्रश्न किया—"बताओ तो, कौन-कौन-से यंत्र बजाए जा रहे है ?" आपने अपने कान को थोड़ी मेहनत दी और कहने लगे—"सितार है बेहला है, बाँसुरी है, सरोद भी मालूम हो रहा है और वह जो बीच-बीच में बज रहा है, वह क्या है......शायद क्लैरोनेट है !"

तो आपने जाना कैसे कि इतने भिन्न प्रकार के बाजे एक साथ बज रहे है ? गाना तो एक ही है और इनके सप्तक भी एक ही है। जिस समय बाँसुरी का ध-म बजता है उस वक्त सितार का भी ध-म ही बजता है। दोनों के सुर भी बिल्कुल एक है। वायु के प्रकंपन की गति हर यंत्र की बिल्कुल एक है, अन्यथा बेसुरा हो जायगा। फिर भी आप आसानी से आवाजों का विश्लेषण कर बता देते है कि पाँच भिन्न यंत्र काम मे आ रहे है !

जिसकी सहायता से आप इस अंतर को बता सके उसी को शब्द का गुण कहते है। अंग्रेजी में इसे Tone Quality अथवा Timbre कहते है। यह शब्द-गुण हर वस्तु का अलग-अलग होता है और जब एक ही प्रकंपन (Frequency) की दो आवाजे दो भिन्न यंत्रों से निकाली जाती है तो इसी शब्द-गुण के द्वारा दोनों के अन्तर का बोध होता है। किसी भी सांवेदनिक अनु-भूति का निजस्व गुण जितना ही किसी दूसरी अनुभूति के निजस्व गुण के अनुकूल होगा उतना ही उन दोनों में भेद करने में कठिनाई होगी। एक ही यंत्र द्वारा अनुभूत वस्तुओं में गुण का अन्तर जितना होता है, उससे बहुत अधिक अन्तर दो या अधिक भिन्न यंत्रों द्वारा अनुभूत वस्तुओं में होता है। टेबुल पर रखे हुए संतरे को चखने से कई तरह की अनुभूतियाँ होती है। कुछ खट्टा अधिक मीठा स्वाद, संतरे की खास गन्ध और आँखों द्वारा देखे गए रूप, इन सारी चीजों को मिलाकर सेब से अलग संतरा नामक वस्तु का ज्ञान हम प्राप्त करते है।

दूसरी अन्तर बतानेवाली प्रतिकृति है समय। आपकी खिड़की के बाहरवाले वृक्ष पर से पपीहा बोल उठता है—पी कहाँ। पहले 'पी' की-सी आवाज होती है, फिर तुरन्त 'कहाँ' की-सी। और आप तुरन्त कह उठते है—"वह पपीहा बोला।" लेकिन अगर किसी ने सिर्फ "पी" कहा या "कहाँ" कहा, या "पी" कहने के दो मिनट के बाद "कहाँ" कहा तो आप हर्गिज नही पहचान सकते कि यह पपीहे की बोली है। यही प्रतिकृति (Pattern) का सामयिक पहलू है। समय मे एक के बाद दूसरी अनुभूति अगर एक ही प्रकार का अन्तर देकर हो तो हमेशा उसी वस्तु का बोध होगा। तीसरी प्रतिकृति है स्थानिक। बाहरी स्थान में अलग-अलग अवस्थित वस्तुओं की अगर एक ही सामूहिक अनु-भूति हो तो स्थान के कारण ही उनका रूप पहचाना जा

सकता है। आकाश में लाखों तारे हैं, जो प्रायः सभी एक दूसरे के समान हैं। लेकिन जब हम सप्तर्षि की ओर देखते हैं तो तुरन्त पहचान जाते हैं कि ये सप्तर्षि हैं, और केवल इसीलिए कि इन सातों तारों ने एक दूसरे के आसपास एक खास तरह का स्थान ले रखा है। अगर ठीक इसी तरह के सात बिन्दु कागज पर भी इस ढंग के स्थानीय गुट्ट में बना दिए जायँ तो हम उसे सप्तर्षि ही कहेंगे।

और यहाँ पर गुटबंदी की एक मजेदार समस्या उपस्थित होती है। जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों का एक स्कूल है जिसे 'गेस्टाल्ट' (Gestalt) स्कूल कहते हैं। जर्मन 'गेस्टाल्ट' शब्द का हिन्दी पर्याय नहीं। अंग्रेजी में काम चलाने के लिए इसे Constellation कहते हैं। हिन्दी में इसे हम 'गुटबंदी' कह सकते हैं।

इस दल के मत से मन के अन्दर एक प्रवृत्ति है हर अनुभव को एक अर्थपूर्ण रूप देने की। मन कभी भी बेमतलब कोई चीज देखना नहीं चाहता, कभी दो ऐसी वस्तुओं के बीच जिनके बीच आपस का कोई संबंध हो ऐसा अन्तर नहीं देखना चाहता। उदाहरण के लिए आप बगल का ऊपरी चित्र लें। पहली दृष्टि में आप कहेंगे कि यह एक सितारे का चित्र है। लेकिन तनिक गौर करके देखिए। इसके अन्दर पाँच कोण हैं, जो प्रत्येक एक दूसरे से अलग हैं। आप चाहे जितनी ही चेष्टाएँ कीजिए, फिर भी पाँचों कोणों को अलग देखते हुए भी आपका मन इनका सितारे-सा वाला रूप नहीं भूल सकता। गेस्टाल्ट स्कूल के विचार से इस एक कोण की रेखाओं और दूसरे कोण की रेखाओं के बीच जो विच्छिन्न स्थान है उसे मन तड़पकर भर देता है, मानो वह दोनों रेखाओं के बीच के रिक्त स्थान पर एक संयोजक पुल बाँध देता है और इन सबको मिलाकर अर्थपूर्ण तारे का रूप दे देता है।

आप चाहे जितनी कोशिश करें, इन पाँचों कोणों को अलग देखते हुए भी आप इनका सितारेवाला रूप नहीं भूल सकते।

इसी तरह नीचे बाईं ओर के चित्र में अगर आपसे कहा जाय कि सारे बिन्दुओं और त्रिकोणों को एक साथ देखिए तो कोशिश करके भी सारे बिन्दु आपको त्रिकोणों से अलग एक गुट्ट-से दिखलाई देंगे और यही हाल त्रिकोणों का भी होगा। दाहिनी ओर के चित्र में अगर आपसे कहा जाय कि आप इसकी बारह रेखाओं को अलग-अलग रेखाएँ समझकर देखिए तो यह और भी कठिन है। हर तरह से उन रेखाओं का समूह आपको एक बक्स-सा ही दृष्टिगोचर होगा, उन्हें पृथक् देख पाना संभव नहीं।

बाईं ओर के चित्र में कोशिश करने पर भी आप सब बिन्दुओं और त्रिकोणों को एक-साथ नहीं देख पाते। अवश्य सारे बिन्दु त्रिकोणों से अलग एक दल बनाते हुए और सारे त्रिकोण बिन्दुओं से अलग दल बनाते दिखाई देंगे। यही हाल दाहिने चित्र की बारह रेखाओं का है, जिनका बक्सवाला रूप हमें नहीं भूलता!

किसी भी वस्तु को कुछ न-कुछ अर्थ देने की मन की कैसी जोरदार प्रवृत्ति है, यह पृ० १४९५ ... आप और भी अधिक समझ सकेंगे। यह एक पहेली-चित्र है। पहली दृष्टि में आप देखते हैं कि यह

एक फूलवाले पौधे का चित्र है। अब आपको कहा जाता है कि इसके अन्दर नेपोलियन के चेहरे से मिलती-जुलती कुछ मानवाकृतियाँ छिपी हुई हैं और कोशिश करके आप उन्हें ढूंढ़ निकालते हैं। पा लेने के बाद आप कोशिश कीजिए कि पहले खाली फूल के पौधे का जैसा चित्र देखा था, इसे वैसा ही फिर देख सकें। आप छिपे हुए मनुष्यों के चेहरो को भूल जाने की चेष्टा कीजिए। परन्तु आप सफल नहीं हो रहे हैं। क्यों?

पहले मैं बता चुका हूँ कि एक दल ऐसा है जो प्रत्यक्षानुभूति (Perception) को अनेक संवेदनों के संयोजन का परिणाम कहता है। हम जब गति का अनुभव किसी वस्तु में करते हैं तो कौन-सी क्रियाएँ मस्तिष्क में होती हैं? मान लीजिए कि एक घोड़ा आपके सामने दौड़ा जा रहा है। संयोजन-वादी स्कूल के अनुसार आपको यह देखना चाहिए कि घोड़ा दस गज दौड़ने में पचास स्थान में पचास तरह का रूप धारण करता है। और इन पचासो सांवेदनिक अनुभूतियों को मस्तिष्क की कोई रहस्यपूर्ण शक्ति एक में मिला देती है और आप देखते हैं कि घोड़ा दौड़ रहा है। आप इस अनुभव का अन्तर्दर्शन (Introspection) करने की कोशिश कीजिए। आप यही पायेंगे कि घोड़ा और उसकी गति को अलग-अलग आप नही देख सकते। बल्कि केवल गतिमान घोड़ा ही दिखलाई पड़ता है।

१९१२ में फ्रेंकफर्ट नामक स्थान में वर्दीमर (Wertheimer) गति-दर्शन पर अन्वेषण कर रहा था। कौफ्का (Koffka) और कॉयलर (Kohler) के ऊपर जांच हो रही थी। शायद आपको पता नहीं हो कि चल-चित्र का प्रथम आविष्कारक एक वेल्जियम का मनोवैज्ञानिक था। उसका नाम था प्लेटो। इसने एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया जिसके जरिए बहुत-से अचल चित्रो को जल्दी-जल्दी एक के बाद एक पर्दे पर दिखलाया जा सकता था। इस क्रिया से उसने देखा कि ये अचल चित्र पर्दे पर चलायमान दिखलाई देते है। उसके बाद से सिनेमा में बहुत उन्नति हुई, लेकिन इनका मूल सिद्धान्त प्लेटो का वही यंत्र है।

सिनेमा की फिल्म की किसी पट्टी के अंश को देखिए। यों देखने से उसके सभी चित्र प्रायः एक-से ही लगते हैं। लेकिन अगर गौर से देखिए तो मालूम होगा कि चित्र की आकृतियों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है, पर प्रत्येक चित्र उस आकृति का अचल रूप है। अगर सिनेमा के प्रोजेक्टर के द्वारा इन्हें जल्दी-जल्दी पर्दे पर प्रदर्शित किया जाय तो वह आकृति गतिमान दिखलाई पड़ेगी। तस्वीरों का प्रदर्शन ऐसा होना चाहिए कि खुद पर्दे पर स्थिर दिखाई दें, अन्यथा सभी आकृतियाँ एक दूसरे से मिलकर विकृत हो जायँगी। इसके लिए यह तरीका काम में लाया जाता है कि प्रोजेक्टर पर जब एक तस्वीर के बाद दूसरी तस्वीर सामने आती है। तो बीच की रोशनी को एक पंखा काट देता है। एक के बाद दूसरा दृश्य आता जाता है, जो प्रत्येक स्वयं अचल है, और बीच-बीच मे अँधेरा होता है। लेकिन दृश्य इतनी जल्दी-जल्दी आते जाते हैं कि मध्यवर्ती अंधकार अलक्षित रह जाता है। इसका कारण यह है कि एक तस्वीर जब आँख के आगे से हट जाती है तब भी उसकी प्रतिछाया थोड़ी देर तक आँखों के आगे से नहीं हटती। एक दृश्य से दूसरे दृश्य के प्रदर्शन के बीच के समय का अन्तर यदि ज्यादा हो जाय तो चित्रों मे कंपन दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार प्रदर्शित दृश्यों को देखकर उसके अन्दर की आकृतियों के चलने-फिरने आदि का बोध होना है। यह गति का बोध कैसे होता है?

अगर हम यह कहें कि अलग - अलग देखे हुए दृश्यों ने ही मिलकर गति का ज्ञान कराया तो यह गलत होगा। इन दृश्यों मे स्वयं गति निहित नही है। इसके अलावा भी कुछ ऐसा है जो इस गति की भावना देता है।

वर्दीमर ने देखा कि सम्पूर्ण अनुभूति के विश्लेषण के द्वारा इस गति को मौलिकों (Elements) में विभाजित करके नहीं जाना जा सकता। और उसने इस अन्वेषण को और भी सरल किया, अर्थात् दो सीधी रेखाओं के बीच में थोड़ी दूर का अन्तर रख कर उसने पर्दे पर उनका प्रदर्शन किया और पाया कि यह अन्तर जब एक खास दूरी का हो जाता है तो एक रेखा दूसरी रेखा की ओर चलती हुई मालूम पड़ती है। और ऐसा देखने में यह नहीं होता कि मस्तिष्क पहले एक स्थान पर रहता है और फिर जल्दी से दूसरा स्थान ले लेता है, बल्कि होता यह है कि गति को गति समझकर देख सकना भी मस्तिष्क का एक मौलिक गुण है। इसकी परीक्षाओं ने संयोजनवादी स्कूल के सारे सिद्धान्तों को ही धराशायी कर दिया।

गति का प्रत्यक्ष दर्शन कैसे होता है, यह आपने देख लिया। अब आपको यह बताने की कोशिश करूँगा कि दूरी का प्रत्यक्षानुभव किस प्रकार होता है।

आपसे दस गज हटकर एक कुर्सी रखी हुई है। आपकी आँखों पर इस कुर्सी की प्रतिछाया पड़ती है और आप

बता देते है कि सामने की चीज एक कुर्सी है और वह करीब अठारह बीस हाथ की दूरी पर है। आप इस दूरी का अन्दाज कैसे करते है ? क्या ऐसा होता है कि आपसे एक गज की दूरी पर रखी हुई कुर्सी का चक्षुपट पर पड़ा प्रतिविम्ब आपसे दस गज की दूरी पर रखी कुर्सी के प्रतिविम्ब से १० गुना बडा है, और जब आप कहते है कि वह कुर्सी दस गज दूर है, तो क्या आप एक गज पर की कुर्सी के प्रतिविम्ब के आकार को १० से विभाजित करके कह देते है कि चूँकि दूसरी आकृति इससे १० गुना छोटी है, इसलिए वह दस गज की दूरी पर है ? आप इसका अन्तर्दर्शन करें और देखे कि क्या होता है ? आप पायेंगे कि इस तरह तुलना करने के लिए आपके मस्तिष्क मे कोई प्रतिविम्ब नही आता, बल्कि एक ही प्रतिविम्ब होता है और आप स्वयं बता देते है कि यह दस गज की दूरी पर रखी हुई कुर्सी का है।

कुछ लोग इसे इस तरह बताने की कोशिश करते हैं कि हम सच ही चलकर देखते है कि कुर्सी कितनी दूरी पर है। और इसी तरह प्रत्येक पदार्थ के पास जाकर छूकर देखने से जो अभ्यास हो जाता है उसी के बल पर सिर्फ आँखों मे देखकर दूरी का अनुभव कर लेते है। इनके सिद्धान्त से आँखों में सिर्फ देखकर दूरी समझ सकने की शक्ति नही, हम दूरी का अनुभव पेशीय-वेदन, अर्थात् उतनी दूर जाने से पेशी में जो मेहनत पड़ेगी उसके संवेदन के आधार पर करते है।

इस फूल के पौधे में तीन मानवाकृतियाँ छिपी हैं। उन्हें देख पाने पर फिर आप चाहे जितनी कोशिश करें हर बार पौधे को देखने पर वे दिखाई देंगी, पहले की तरह खाली पौधा अब आप नहीं देख सकते।

गेस्टाल्टवादियो के मत से मस्तिष्क निष्क्रिय नही, जैसा कि उपर्युक्त संयोजनवादियों ने दिखलाने की कोशिश की है। बल्कि मस्तिष्क क्रियात्मक रूप में काम करता है और सर्वदा संपूर्ण दृश्य को ग्रहण करके प्रत्येक पदार्थ का स्थान स्वयं निश्चित कर देता है।

अब हम जानने की कोशिश करें कि समय का प्रत्यक्ष दर्शन कैसे होता है। हम यह कैसे जानते है कि एक घंटा बीत गया, या पांच मिनिट समय बीत गया ? पहले और पीछे का ज्ञान हमे कैसे होता है ? जब बाँसुरी बजाने के कुछ ही देर के बाद घंटी की आवाज होती है तो हम कैसे कह सकते है कि पहले बाँसुरी बजी थी, जिसके एक मिनिट बाद घंटी बजी ?

बचपन से ही ये बाते इतनी स्वाभाविक रही है कि इस संबध में हमने कभी ध्यान नही दिया और अचानक ऐसे सवाल का उत्तर देना मुश्किल हो जाता है। अधिक से अधिक यही कह सकते है कि हम समय का पहले-पीछे संबंधी अनुभव स्वयं अपने स्वभावानुसार कर लेते हैं। मनोवैज्ञानिको ने अन्तर्दर्शन द्वारा यह पता लगाया है कि एक अनुभव के प्राप्त करने के बाद बहुत-सी शरीरिक क्रियाएँ हो जाती है। मान लीजिए कि घड़ी के अनुसार बाँसुरी सुनने के पाँच मिनट बाद घंटी की आवाज हुई। बाँसुरी की आवाज का अनुभव हो जाने के बाद ३५० बार कलेजे में धड़कन हुई, ९० बार साँस आई और गई तथा एक खास परिमाण मे खून एक स्थान से दूसरे स्थान तक शरीर में दौड़ता रहा। इन सारी शारीरिक क्रियाओ का हिसाब अर्द्धचेतन रूप में मस्तिष्क ने रखा, और इसलिए घंटी की आवाज और बाँसुरी की आवाज के बीच के अन्तर का उतना अन्दाज किया, जिसे बाहरी भाषा में ५ मिनिट का समय कहा जाता है। इसका सबसे सुन्दर प्रमाण यह है कि क्लोरोफार्म द्वारा बेहोश किया गया व्यक्ति नहीं बता सकता कि कितनी देर वह बेहोश रहा।

लेकिन इस सिद्धात में भी एक बड़ी भूल है जो इससे साबित होती है कि भौतिक समय और मानसिक समय में बहुत अधिक अन्तर होता है। एक अच्छी फिल्म देखते हुए तीन घंटे का समय मुश्किल से एक घंटे जितना मालूम होता है। लेकिन स्टेशन पर बेकार बैठकर ट्रेन की प्रतीक्षा में बिताया हुआ एक घंटा तीन घंटे से भी बहुत

ज्यादा मालूम होता है। तो फिर क्या यह कहा जा सकता है कि मग्न होकर दिलचस्पी के साथ बिताए हुए तीन घंटों में हमारी कलेजे की धड़कन एक तिहाई हुई, या स्टेशन में बैठे हुए इसकी गति तिगुनी थी? फिर भी अन्तर अत्यधिक रहा। क्यों? इसका कारण हम अपने मानसिक प्रतिक्रिया का प्रतिन्यास (Attitude) कह सकते हैं। हम उस वस्तु को वैसा ही देखते हैं जैसा कि देखना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु का लक्षित रूप वैसा ही होता है जैसी कि प्रतिक्रिया उसकी ओर करने का हमारा ध्यान होता है। अँधेरी रात मे जंगल में जब अचानक वृक्ष-समूह के पीछे कुछ काली-काली धारियाँ नजर आती हैं तो हम उसे बाघ के रूप में देखते हैं। कारण कि रात को जंगल में हम पहले ही से कुछ डरे-से रहते हैं और हमारा मन पहले से ही भयभीत होने की प्रतिक्रिया मे उलझा हुआ रहता है।

अपनी आँखों के सामने गुजरती हुई हजारो चीजो में वही चीजें हमें दिखाई देती हैं, जिन पर हमारा ध्यान होता है। इसकी भी वजह यही है कि हमने जिस पर ध्यान दे रखा है उसके प्रति एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करने को हम तैयार है, अतएव वही चीजे मस्तिष्क मे अर्थ के साथ दिखलाई देती हैं, बाकी हमारे काम के लिए निरर्थक होने के कारण हम देख नही सकते, यद्यपि उन सबके सांवेदनिक चित्र चक्षुपटों पर पड़ते रहे हैं।

इन चित्रों में मंदिरों का आकार और स्थान बिल्कुल एक है, फिर भी मार्ग की दो रेखाओं के थोड़े-से हेर-फेर से दोनों में दूरी के कितने अंतर का बोध होता है! यह क्यों?

अब हम यह देखें कि भाव (Idea) कैसे बनते हैं। जिन वस्तुओं का संवेदन होता है, उसे अर्थ देकर हम उसका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन तभी तक होता है जब तक संवेदन-उत्पादक वस्तु सामने मौजूद रहती है। उस वस्तु के हटते ही प्रत्यक्ष दर्शन तो लुप्त हो जाता है, लेकिन उसकी याद दिमाग मे रह जाती है। यह है उस प्रत्यक्ष दर्शित वस्तु का प्रतिरूप (Image)। मस्तिष्क में रह गए किसी भी वस्तु के अर्थसहित प्रतिरूप को ही हम 'भाव' कह सकते हैं। साधारण भाव (Simple Ideas) मस्तिष्क के अन्दर रहकर एक दूसरे से मिल जा सकते हैं और तब वे सम्मिलित भाव (Complex ideas) हो जाते हैं। जैसे सोना हमने देखा है, उस का भाव हमारे मन में है। पहाड़ हमने देखा है और उसका भी भाव हमारे मन में है। इन दो साधारण भावों को मिलाकर सोने के पहाड़ के सम्मिलित भाव का निर्माण होता है।

प्रकृति में जितनी भी वस्तुएँ हैं या घटनाएँ होती हैं उनके प्रति हमारी विशेष तरह की प्रतिक्रियाएँ होती है। आप एक ऐसे प्राणी की कल्पना कीजिए जो दो ही तरह की प्रतिक्रियाएँ कर सकता है—एक तो किसी वस्तु की ओर बढ़ना; दूसरे किसी वस्तु से दूर भागना। जब आग मिलेगी और उसे जलन मालूम होगी तो वह उससे दूर भागेगा। और जब उसके लिए कोई खाद्य पदार्थ मिलेगा तो उसकी ओर बढ़ेगा। लेकिन यदि उसे बचकर रहना है तो वह याद रखना होगा कि अमुक वस्तु उसके जीवन के लिए हानिकारक है और अमुक लाभदायक। इस तरह पहले संवेदन के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान होता है, फिर हानि-लाभ के अनुसार उसकी प्रतिक्रिया होती है, और प्रतिक्रिया की इसी प्रवृत्ति के कारण उसका प्रतिरूप उसके मनमें रह जाता है। जैसे-जैसे मस्तिष्क विकसित होता है वैसे-वैसे अपने अनुभव-क्षेत्र को वह विस्तीर्ण करता है, क्योंकि उसे हमेशा अनेक प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओ और घटनाओ का मुकाबला करना पड़ता है। उसी के अनुसार वह अपनी प्रतिक्रियाएँ निश्चित करता है। इस तरह भाव-निर्माण करने की उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। यही प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी के सोचने-समझने की क्रिया की जड में है। अन्यथा प्राणी का नाश अवश्यम्भावी था। इस तरह हम देखते है कि संवेदन, प्रत्यक्ष दर्शन और भाव-निर्माण का एक दूसरे के साथ चोली-दामन का संबंध है।

सभ्यताओं का उदय—(३)

बेबिलान की सभ्यता

पिछले एक प्रकरण में हम दजला और फरात नदियों की उपजाऊ घाटी में प्रस्फुटित होनेवाली सुमेरियन सभ्यता का परिचय आपको करा चुके हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, संसार की अन्य कई नदियों की तलहटियों की तरह दजला-फरात की यह घाटी भी मानवीय सभ्यता के विकास के लिए विशेष अनुकूल रही है। अतएव सुमेरियन सभ्यता के साथ ही वहाँ से सभ्यता का अन्त नहीं हो गया, वरन् उसके बाद एक और महान् सभ्यता का वहाँ विकास हुआ, जिसे 'बेबिलान की सभ्यता' कहते हैं। मिस्र तथा भारत की तरह इस सभ्यता ने भी संसार को अमूल्य देन दी है। इस लेख में उसी का हाल सुनाया जा रहा है।

सुमेरिया की सभ्यता के विनाश के तीन मुख्य कारण माने जाते हैं। पहला तो यह है कि भौगोलिक परिस्थिति के फलस्वरूप वहाँ की जलवायु अच्छी और स्वास्थ्यरक्षक न थी। दूसरा यह कि सुमेरिया के स्वतंत्र या अर्द्धस्वतंत्र नगर आपस में लड़ने के कारण निर्बल हो गए थे। तीसरा यह कि उसके पड़ोस की जातियाँ, जैसे कि सेमेटिक, मिटानी और एलामी, उसे तीन ओर से दबाकर समुद्र की ओर ढकेलती चली आईं। इससे सुमेरिया के लोगों का कार्यक्षेत्र संकुचित होता गया, यहाँ तक कि उनकी स्वतंत्रता और शक्ति दूसरे लोगों के और (विशेषकर सेमेटिक लोगों के) हाथों में चली गई।

सेमेटिक जाति का उद्भव

सेमेटिक जाति के लोग सुमेरिया के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम भाग में रहते थे। उनके उद्गम का स्थान और उनका मूल निवासस्थान अरब माना जाता है। जन-संख्या बढ़ने और भोजन और चारे की सामग्री कम होने के कारण वे अरब से बाहर फैल गए। किन्तु यह मत सर्वसम्मत नहीं है। कारण यह है कि सेमेटिक लोगों के अरब में आने के पहले ही सीरिया और दजला-फरात के दोआबे में उनकी बस्तियों का पता मिलता है। मरुभूमि के दोनों ओर के समुद्र-तटों एवं उत्तरी चन्द्राकार भूभाग में तो उनकी सभ्यता के अगणित चिह्न हैं। किन्तु अरब में वैसे चिह्नों का उतने पुराने काल में अभाव पाया जाता है। अनेक विद्वानों का यह मत है कि सेमेटिक लोग एक जाति के न थे। वे सम्भवतः अनाटोलिया की ओर से सीरिया, फिलस्तीन और मसोपटेमिया में आकर बस गए थे। आर्यों की तरह वे भी कई जातियों के मिश्रण से बने थे। उनका व्यक्तित्व एक जाति के कारण नहीं, बल्कि एक भाषा और कुछ संस्थाओं की एकता के कारण है। जो कुछ भी हो, सेमेटिक लोग सुमेरियन लोगों से विभिन्न जाति के थे। सुमेरियन लोग सिर और डाढ़ी मुड़वाते थे और नगे पैर चलते थे, किन्तु सेमेटिक काली जुल्फें और दाढ़ी रखते थे। वे पैरों में सेण्डल पहनते व सिर पर पगड़ी बाँधते और छड़ी लेकर चलते थे।

अक्कद का अभ्युत्थान :: सम्राट् सारगन

सेमेटिक लोग सैकड़ों वर्ष से सुमेरियावालों से लड़ते चले आते थे। वे प्रायः धनुष-बाण से लड़ते थे। उनके हथियार ताँबे के थे। उनका अक्कद (अक्केड़) नामक नगर धीरे-धीरे प्रबल होता गया और सुमेरिया पर उसका अधिकार बढ़ता चला गया। उनका सबसे पहला प्रसिद्ध नेता शर्रुकिन (सारगन) था, जिसका समय २८००ईस्वी पूर्व माना जाता है। उसने सुमेरिया के नगरों को अपने अधिकार में कर लिया। उसकी सेना ने एलाम की पहाड़ियों से भूमध्यसागर के पूर्वी

तट तक अपना आतंक जमा दिया। बिखरे हुए सेमेटिक लोगों में उसने स्वाभिमान और एकता का भाव पैदा कर दिया। अब खानाबदोश और भ्रमणशील सेमेटिक अपने तम्बू छोड़कर नगरो के मकानो में रहने लगे। वे सुमेरिया की सभ्यता का अनुकरण करने लगे और उन्होने सुमेरिया से लेखन-कला, अङ्क-गणना, काल-गणना, नाप-तौल और व्यापार के विधान, धार्मिक ज्ञान, शिल्पकला आदि सीख ली। करीब ढाई सौ वर्ष मे सुमेरिया और अक्कदवालो में ऐसा मेल-जोल हो गया कि वे मिश्रित होकर बेबिलान राज्य और सभ्यता के संस्थापक बन गए। कालान्तर में राजनीतिक शक्ति अक्कद से बेबिलान के सेमेटिक लोगो के हाथो मे चली गई। ये लोग 'एमोराइट' कहलाते थे। सीरिया की ओर से आकर इन्होंने बाबुल नगर मे अपना प्रभुत्व जमा रखा था। यह निश्चित्-सा है कि बेबिलान की सभ्यता सुमेरियन और सेमेटिक लोगो के संयोग से बनी थी।

अक्कद का ह्रास :: सम्राट् खम्मूरबी

शर्रुकिन के वश मे नरम-सिन नाम का दूसरा तेजस्वी नेता हुआ। दोनो ने शिल्पकला, और साहित्य की उन्नति मे ऐसा उत्साह दिखाया कि इन क्षेत्रों में बेबिलान ने अपूर्व श्रेय प्राप्त कर लिया। किन्तु अक्कद का राजवश धीरे-धीरे क्षीण होता गया। उसका आतंक इतना घट गया कि मसोपटेमिया के नगर स्वतंत्र हो गए। पड़ोसियो ने भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। आखिरकार एलामवालों की सहायता से 'सिप्पर' नगर के एमोराइट लोगों ने (लगभग २२०० ई० पू०) अक्कद राज्य का अन्त कर दिया। 'सुमूअबू' ने ही संभवत: अपनी राजधानी 'बेबिलान' में स्थापित करके नए राजवंश का आरम्भ किया था।

इस नए वंश मे खम्मूरबी (हम्मूरपी) नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा हो गया है। उसने दक्षिणी मसोपटेमिया से एलामवालों को निकालकर वहाँ बाबुल (बेबिलान) का अखण्ड प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसने उत्तर की ओर असीरिया को भी अपने अधिकार में कर लिया, जिससे उसका ऊपर को बढने का मार्ग खुल गया। उसने बयालिस वर्ष राज्य किया (२१२३ से २०८१ ई० पू० तक)। उसने मसोपटेमिया में ऐसा संगठन कर दिया कि लोग उसे बेबिलोनिया का राज्य कहने लगे। अपने सैनिक बल से खम्मूरबी ने एक साम्राज्य स्थापित कर दिया। उसकी महान् देन उसके प्रकाशित कानून और घोषणाएँ है, जो कि पुरानी मिट्टी की शिलाओं पर खुदे पाए गए है। खम्मूरबी ने बड़ी-बड़ी नहरें खुदवाई, सड़कों और किलों का निर्माण किया और अनेक शहरों और मन्दिरों की रचना करवाई। पर उसकी सबसे प्रख्यात कृति, उसके उपर्युक्त विधान या कानूनों का संग्रह ही है, जो सन् १९०२ में सूसा में मिला था। ससार के इतिहास मे और विशेषत: कानून के इतिहास में ये विधान बड़े ही मार्के के माने जाते है।
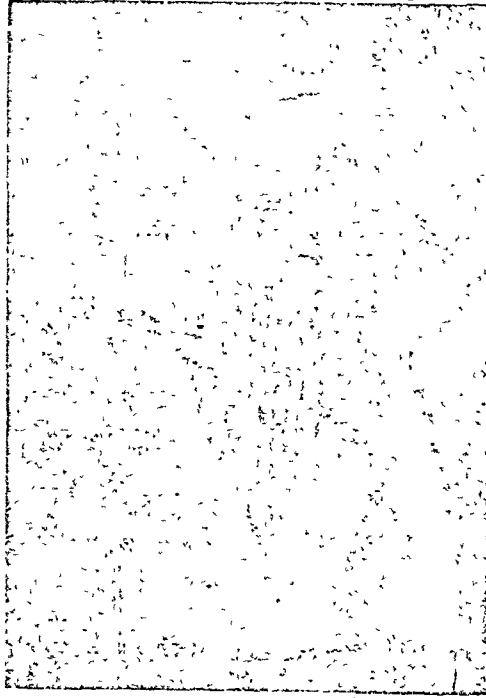
बेबिलान का महाप्रतापी सम्राट् खम्मूरबी, जिसने वहाँ का विधान बनाया।

खत्ती जाति का उदय

खम्मूरबी की मृत्यु के बाद साम्राज्य का प्रान्तीय संगठन और सैनिक बल शीघ्रता से क्षय होने लगा। उस पर ईरान की पहाडियो की ओर से काशी (काशाइट) जातिवाले आक्रमण करने लगे, जो उत्तरोत्तर अधिक सख्या में आकर वहाँ बस गए (२०७२ ई० पू०)। उनके अलावा दक्षिण की ओर से भी आक्रमण होने लगे। परिणाम यह हुआ कि लगभग १८७० या १७५० ईस्वी पूर्व खम्मूरबी के वंश का अन्त हो गया और बेबिलान पर खत्ती (हिट्टाइट्स) लोगो का अधिकार हो गया। खत्ती लोग 'केपाडोसिया' (काले समुद्र का दक्षिणी तट, जो एशिया माइनर मे है) मे शायद योरप से आकर बसे थे। उनकी राजधानी बोगजकुई मे थी। लगभग ढाई-तीन सौ वर्ष तक बेबिलान की परिस्थिति अनिश्चित-सी रही। खत्ती से काशाइट और उनसे असीरियावालों एवं फिर मिस्रियों के हाथ में इस प्रदेश का अधिकार चला गया।

बेबिलान की सभ्यता नागरिक थी

उत्तरी आक्रमणकारियों की विजय के मुख्य कारण लोहे के अस्त्र-शस्त्र और घोड़ों के रथ माने जाते है। किन्तु बेबिलान की सभ्यता को आक्रमणकारी नष्ट न कर सके। वस्तुत: वे स्वयं उस सभ्यता से ऐसे प्रभावित हो गए कि विजेता स्वयं अपना व्यक्तित्व भूल गए। विजितों और विजेताओं का पूर्णतया मिश्रण हो गया, जिससे एक नवीन मिश्रित जाति की उत्पत्ति हो गई, जिसने बेबिलान की सभ्यता का संवर्द्धन और प्रचार अच्छी तरह से किया।

बेबिलान के लोगों का जातीय जीवन नगरो और उनके आसपास के भूभाग से सम्बन्ध रखता है। यह कहना अनुचित न होगा कि वहाँ की सभ्यता नागरिक थी। नगरों को एकता के सूत्र मे बाँधकर बेबिलान राज्य की सृष्टि हुई थी। नगरों के चारो ओर दूर तक हरे-भरे बाग और खेत फैले हुए थे, जिनकी सिचाई नहरो से होती थी। जौ, गेहूँ, दाल, सरसों तथा अन्य अनाजो से खेत लहलहाते थे। वहाँ साठ तरह की तरकारियाँ पैदा होती थीं। खजूर, अंगूर और सेव के पेड़ बहुतायत से लगे थे, जिनसे प्राप्त फलों को न केवल खाया जाता था, बल्कि उनसे चीनी व शराब भी बनाई जाती थी। ताड़ और खजूर की पत्तियों से रस्से तथा छाने की सामग्री बनती और लकड़ी से भी बहुत-से काम निकलते थे। खेतों और बगीचों के आगे जंगल था, जो सिंह, तेंदुए, सियार, लोमड़ी आदि से भरा पड़ा था। लोग खूनी जानवरो के भय से नगर से दूर जाने से डरते थे। मैदानों में हिरन के झुंड चौकड़ी मारते और जंगली गधे, सुअर और बैल विचरण करते थे। वहाँ के लोग गधे, ऊँट, भैंस, बैल, बकरे और भेंडें पालते थे। काशी लोगों के आने से वहाँ घोड़ों का रखना भी शुरू हो गया था। कुत्ते और पक्षी भी पाले जाते थे। गाँवों के मकान करवी और झाऊ की टट्टियों से मिट्टी की नीची दीवालो पर छाकर बनाये जाते थे। लोग प्राय: मिट्टी के सादे बरतनों का प्रयोग करते थे। उन पर नक्काशी या बेलबूटे नही होते थे।

बेबिलान नगर की भव्यता

बेबिलान के बहुत पुराने युग की इमारतो के अधिक चिह्न नही मिलते। फिर भी सातवी शताब्दी ईस्वी पूर्व के बेबिलान का जो वर्णन तथा ध्वसावशेष मिलते है, उनसे जान पडता है कि वहाँ का नागरिक जीवन बहुत उन्नत और समृद्धिशाली था। ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस ने उसका सुन्दर वर्णन किया है। बेबिलान एक विस्तृत मैदान में चौकोर बसा हुआ था, जिसका प्रत्येक भुज १२० फर्लाङ्ग का था। नगर के चारो ओर एक चौड़ी और गहरी जल से भरी खाई तथा दो सौ हाथ ऊँची और पचास हाथ चौडी दीवार थी। नगर की चहारदीवारी में चौखट समेत पीतल के सौ दरवाजे थे। शहर के बीच फरात नदी बहती थी। मकानों की मोटी दीवारें नदी के किनारे तक थी। पहले तो वहाँ एक मंजिल के ही मकान बनते थे, किन्तु बाद में तीन-चार मजिल के भी भवन बनाये जाते थे। किराये के मकानों को साल भर के लिए लोग भाडे पर लेते थे और किराया हर छ महीने पर देते थे। शहर के बीच में सम्राट् के महल, किले, कचहरियाँ, ६५० फीट ऊँची जिग्गुरात (मीनार), आलीशान मन्दिर आदि थे। बड़ी इमारतों के दरवाजे प्राय ठोस पीतल के बनाये जाते थे। सड़कें बिल्कुल सीधी थी और वे नगर के चारो ओर बनी थी। नदी को पार करने के लिए अनेक पुल थे। शायद नदी से नीचे-नीचे आने-जाने की चौड़ी सुरंग भी थी।

रहन-सहन, कामधन्धे, पहनावा, आदि

शहर मे ताँबे, काँसे, जस्ते, सोने, चाँदी और लोहे के तरह-तरह के ढलाई के काम होते थे। सूती और ऊनी कपड़े बुने जाते थे। लोग प्राय ऊनी कपडे ही पहनते थे। वे शौकीन मिजाज के थे और लम्बे बाल रखते थे, जिन्हें वे घूँघरदार बनाते थे। वे शरीर में सुगन्धि लगाते, गालों को रँगते, तथा कान, हाथ और गले में आभूषण पहनते थे। वे रङ्गीन कपड़ों के शौकीन थे। रँगाई और बेलबूटे काढने का काम खूब होता था, जिसका यूनान और रोम में बडा आदर था। उनका व्यापार गधो, घोड़ो, गाड़ियों, ऊँटो और नावों के द्वारा पूर्व में भारत तक तथा पश्चिम में मिस्र और भूमध्यसागर तक फैला हुआ था। इस नगर का जीवन इतना कोलाहल से भरा था कि सम्पन्न निवासियों ने उकताकर अपने रहने के मकान शहर के किनारे बनवा लिए थे। यद्यपि सिक्को का प्रचलन न था, किन्तु सोने के कई किस्म और वजन के टुकड़ों को लेन-देन के काम में लाया जाता था। सबसे छोटा टुकड़ा 'शकल' कहलाता था। साठ शकलों का एक 'मीना' और साठ मीनाओं का एक 'टैलेन्ट' होता था। यद्यपि वहाँ बैंक न थे, किन्तु वहाँ के सेठ-साहूकार २० रुपए सैकड़ा सालाना सूद पर कर्ज दिया करते थे और हुन्डी का काम भी करते थे। धनिकों की रक्षा और उनकी व्यापारिक उन्नति के अनुकूल कानून बना दिए गए थे।

विविध सामाजिक वर्ग

बेबिलान का समाज कई श्रेणियों में विभक्त था। सबसे ऊँची श्रेणी के लोग धर्मरक्षक अथवा पुरोहित थे। वे धर्म अथवा विद्याओं के रक्षक माने जाते थे। दूसरी श्रेणी में योद्धागण थे। तीसरी श्रेणी व्यापारियों और धनियों की थी और चौथी श्रेणी में साधारण गरीब लोग थे। पाँचवीं श्रेणी गुलामों और दासों की थी। राजा के वंशज पहली दूसरी और तीसरी श्रेणीवालों के काम करते थे।

विद्या, धन और बल की विभिन्नता के अलावा कानून के अनुसार भी लोग तीन श्रेणी में विभक्त किए गए थे। एक तो थे 'अमेलू' (अवेलू ?), जिनको हानि पहुँचाने पर हानिकारक को वही दण्ड या भारी हरजाना देना पड़ता था। किन्तु यदि वे स्वयं कोई जुर्म करते थे, तो उनको कड़ा दण्ड अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। दूसरी और तीसरी श्रेणी में मजदूर, कारीगर, व्यापारी, शिक्षकगण, दरबारी और भिक्षुक लोग थे। ये 'मुश्किनू' कहलाते थे। यद्यपि उन्हे गुलामों और जायदाद के रखने का अधिकार था, किन्तु वे हथियार नहीं बाँध सकते थे और यदि उनको कोई शारीरिक हानि पहुँचाता, तो हर्जाना या जुर्माना देकर छूट जाता था। जुर्म करने पर वे 'अमेलू' की तरह कठोर दण्ड के भागी नहीं होते थे, यद्यपि सबके सामने वे कोड़ों से मारे जा सकते थे।

तीसरी श्रेणी के लोग 'अरदू' या गुलाम थे। गुलामों की परिस्थिति विचित्र थी। वे प्रायः लड़ाइयों में पकड़े गए कैदी अथवा जबरदस्ती अपहरण किए हुए अन्यजातीय व्यक्ति अथवा गुलामों के वंशज या खरीदे हुए दास थे। राज्य में गुलामों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी और एक समय ऐसा आ गया था कि उनकी संख्या स्वतंत्र जनता से भी बढ़ गई थी।

इन गुलामों के लिए भागकर बचने की कोई सूरत न थी। यदि कोई उनको भगाने में सहायता देता अथवा उन्हें चुराता, तो वह प्राणदण्ड का भागी होता था। गुलाम अपने मालिक के पूर्णतया अधिकार में थे। उनसे वह चाहे जो काम ले सकता था, और उन्हें बिना चूँ-चरा किए वह करना पड़ता था। उनसे प्रायः चाकरी के काम लिए जाते थे। उन्हें बेगार के तौर पर नहरों, सड़कों अथवा सेनाओं में काम करना पड़ता था। गुलाम का तन, धन और सम्पत्ति मालिक के ही गिने जाते थे। यदि गुलाम स्त्री होती तो उसका यह कर्त्तव्य था कि वह अपने खरीदार को भोजन और बिस्तर दे और उसे अपने जी भरकर सन्तान पैदा करने में हर प्रकार की सुविधा दे। यदि मालिक चाहता तो वह गुलाम को चाहे गिरवी रख देता, चाहे कर्ज के बदले में दे डालता और यदि उसके मरने से उसे अधिक लाभ की संभावना जान पड़ती तो मार भी डालता!

इतनी कड़ी गुलामी में भी गुलाम को यदि मालिक चाहता तो व्यापार में लगा देता और उससे जो लाभ होता उसका कुछ अंश दे देता। इस अंश से गुलाम अपनी स्वतंत्रता को मोल ले सकता था। इसके अलावा उसकी बीमारी में हकीम की फीस, दवा के दाम और बेकारी या बुढ़ापे में भोजन-छाजन का भार मालिक के जिम्मे रहता था। यदि मालिक चाहता तो उसे मुक्त भी कर सकता था। किसी-किसी दशा में गुलाम स्वतंत्र स्त्री से विवाह भी कर सकता था। उससे उत्पन्न सन्तति भी स्वतंत्र मानी जाती थी और गुलाम की आधी जायदाद की हकदार होती थी। गुलाम का स्वतंत्र स्त्री-धन भी गुलाम का मालिक नहीं ले सकता था। गुलाम स्त्री से उत्पन्न सन्तति स्वतंत्र मानी जाती थी। गुलामों के बदन पर गोदना गोदकर या दागकर गुलामी के चिह्न बना दिए जाते थे, और बाद को उनके लिए मिट्टी का एक विशेष चिह्न बाँधना अनिवार्य कर दिया गया था।

स्त्री-पुरुष का संबंध और गृह-जीवन

बेबिलान का गृहस्थ-जीवन भी व्यवस्थित था। अपनी सन्तति पर माता-पिता के अपार अधिकार थे। वे चाहे गुलामों की तरह उनसे व्यवहार करें, या उन्हें गिरवी रख दें, या कर्ज में दे दे। चाहें तो घर से निकाल दें अथवा उत्तराधिकार छीन लें। लड़कियों को माता-पिता के आदेश के अनुसार विवाह करना पड़ता था। माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली सन्तान को गुलामी की सजा मिलती थी और गुलामी के चिह्न उनके शरीर पर अङ्कित कर दिए जाते थे।

किन्तु यदि ऐसी कोई आपत्ति न हुई और निर्वाह हो गया, तो माता-पिता की जायदाद उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लड़कों और लड़कियों में बराबर बाँट दी जाती थी। यदि स्त्री विधवा हो जाती तो उसको भी लड़कों या लड़कियों की तरह बराबर हिस्सा मिल जाता था। बेबिलान में स्त्रियों की दशा काफी अच्छी थी। कानूनी विवाह होने के पहले यदि युवक और युवतियाँ चाहते तो सांकल्पिक विवाह कर सकते थे और इच्छानुकूल विच्छेद भी कर सकते थे। किन्तु ऐसी दशा में उनको अपने साथ विशेष चिह्न

रखना पड़ता था। लड़की का कानूनी विवाह उसके माता-पिता लड़केवाले से कुछ लेकर करते थे, और उनको दहेज या स्त्री-धन एवं आसन-वसन देते थे।

विवाह के बाद अपने श्वसुर के घर में रहना लड़की का कर्त्तव्य समझा जाता था। यदि मँगनी होने पर कोई लड़का विवाह न करे, तो लड़की का बाप नजराने की रकम हड़प सकता था और यदि लड़की इन्कार करे, तो उसके पिता को दुगनी रकम देना पड़ती थी। विवाह की कोई खास विधियाँ या रस्में न थीं। गवाहों के सामने कानूनी तौर पर दर्ज कर देने मात्र से ही विवाह हो जाता था। विवाह जीवन भर के लिए होता था, किन्तु तलाक भी आसानी से हो सकता था। पत्नी पर बाँझ-पन, मूर्खता या अनमेल स्वभाव और गृहस्थी के कामों में लापरवाही का इल्जाम लगाकर तलाक दिया जा सकता था, और स्त्री भी अत्याचार के कारण यदि चाहती, तो तलाक देकर अपना मालमता लेकर पिता के घर चली जाती थी। उसे अपने दहेज को भी वापस ले लेने का अधिकार था। यदि पुरुष का कसूर हुआ, तो उसे घर-बार स्त्री के सुपुर्द कर खाली हाथ घर से निकल जाना पड़ता था। और यदि औरत का अपराध हुआ, तो वह पानी में डुबा दिए जाने की सजा पाती थी। इल्जाम साबित होने पर पति चाहे उसे घर से नङ्गा न निकाले, किन्तु उससे पत्नी का अधिकार छिन जाता था और उसके साथ दासी का-सा वर्ताव किया जाता था। व्यभिचार के लिए स्त्री या तो पानी में डुबा दी जाती थी या ऊँची मीनार से ढकेल दी जाती थी। यही दण्ड उसके साथ व्यभिचार करनेवाले को भी दिया जाता। यदि पति लड़ाई में कैद हो गया, या व्यापार के लिए गया, किन्तु स्त्री की जीवका का प्रवन्ध कर गया, तो वह दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकती थी। किन्तु यदि जीविका का उचित प्रवन्ध वह नहीं कर गया, तो स्त्री दूसरा विवाह अथवा जीविका के लिए किसी पुरुष से अपने पति के लौटने तक सम्बन्ध कर सकती थी। यदि स्त्री चिररोगिणी हो तो पुरुष दूसरा व्याह कर सकता था, किन्तु उसे पहली स्त्री का भरण-पोषण करना पड़ता था। पुरुष को यह अधिकार अवश्य था कि वह चाहे तो उप-पत्नी या कम अधिकारवाली पत्नी कर ले, किन्तु अधिकतर लोग एक ही व्याह करते थे। यदि चाहे तो वह गुलाम स्त्री या दासी रख सकता था, किन्तु उनके अधिकार गुलामों या दासियों के ही रहते थे। यदि मालिक चाहता तो दासी की सन्तति को भी व्याही हुई पत्नी की संतान के समान अधिकार मिल जाते थे।

इस चित्र में सम्राट् खम्मूरवी को किसी दैवी विभूति द्वारा उन कानूनों को पाते हुए दिखाया गया है, जो मूर्ति के अधोभाग में अंकित है।

साधारणतया स्त्रियों को गृहस्थी का काम करना पड़ता था। वे बच्चों के पालने के सिवा घर की सफाई करती, कुएँ या नदी से पानी लाती, भोजन बनाती, अनाज पीसती, सूत कातती और बुनाई करती थी। बड़े घरों की स्त्रियाँ प्रायः जनानखाने या पर्दे में रहती थीं। वे जब बाहर जाती तो उनके साथ खोजा जाते थे। साधारण लोगों में ये सभी रुकावटें न थीं। स्त्रियों को व्यापार, रोजगार आदि करने का अधिकार था। वे अपनी निजी हैसियत से जायदाद या माल खरीद और बेच सकती थीं, या दे सकती थीं। चाहे तो वे साझे में भी व्यापार कर सकती थी। उनकी गवाही अदालत में मानी जाती थी। इस तरह हम देखते हैं कि स्त्रियों को सामाजिक और कानूनी क्षेत्र के भीतर बहुत स्वतंत्रता थी।

विविध सामाजिक वर्ग

बेविलान का समाज कई श्रेणियों में विभक्त था। सबसे ऊँची श्रेणी के लोग धर्मरक्षक अथवा पुरोहित थे। वे धर्म अथवा विद्याओं के रक्षक माने जाते थे। दूसरी श्रेणी मे योद्धागण थे। तीसरी श्रेणी व्यापारियों और धनियों की थी और चौथी श्रेणी मे साधारण गरीब लोग थे। पाँचवी श्रेणी गुलामो और दासों की थी। राजा के वंशज पहली दूसरी और तीसरी श्रेणीवालो के काम करते थे।

विद्या, धन और बल की विभिन्नता के अलावा कानून के अनुसार भी लोग तीन श्रेणी मे विभक्त किए गए थे। एक तो थे 'अमेलू' (अवेलू ?), जिनको हानि पहुँचाने पर हानिकारक को वही दण्ड या भारी हरजाना देना पड़ता था। किन्तु यदि वे स्वयं कोई जुर्म करते थे, तो उनको कड़ा दण्ड अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। दूसरी और तीसरी श्रेणी में मजदूर, कारीगर, व्यापारी, शिक्षकगण, दरबारी और भिक्षुक लोग थे। ये 'मुश्किनू' कहलाते थे। यद्यपि उन्हे गुलामो और जायदाद के रखने का अधिकार था, किन्तु वे हथियार नही बाँध सकते थे और यदि उनको कोई शारीरिक हानि पहुँचाता, तो हर्जाना या जुर्माना देकर छूट जाता था। जुर्म करने पर वे 'अमेलू' की तरह कठोर दण्ड के भागी नही होते थे, यद्यपि सबके सामने वे कोड़ों से मारे जा सकते थे।

तीसरी श्रेणी के लोग 'अरदू' या गुलाम थे। गुलामों की परिस्थिति विचित्र थी। वे प्रायः लड़ाइयों मे पकड़े गए कैदी अथवा जबरदस्ती अपहरण किए हुए अन्यजातीय व्यक्ति अथवा गुलामों के वंशज या खरीदे हुए दास थे। राज्य में गुलामो की संख्या उत्तरोत्तर बढती जाती थी और एक समय ऐसा आ गया था कि उनकी संख्या स्वतंत्र जनता से भी बढ गई थी।

इन गुलामों के लिए भागकर बचने की कोई सूरत न थी। यदि कोई उनको भगाने में सहायता देता अथवा उन्हे चुराता, तो वह प्राणदण्ड का भागी होता था। गुलाम अपने मालिक के पूर्णतया अधिकार मे थे। उनसे वह चाहे जो काम ले सकता था, और उन्हें बिना चूँ-चरा किए वह करना पड़ता था। उनसे प्रायः चाकरी के काम लिए जाते थे। उन्हे बेगार के तौर पर नहरों, सड़को अथवा सेनाओ में काम करना पड़ता था। गुलाम का तन, धन और सम्पत्ति मालिक के ही गिने जाते थे। यदि गुलाम स्त्री होती तो उसका यह कर्त्तव्य था कि वह अपने खरीदार को भोजन और बिस्तर दे और उसे अपने जी भरकर सन्तान पैदा करने में हर प्रकार की सुविधा दे। यदि मालिक चाहता तो वह गुलाम को चाहे गिरवी रख देता, चाहे कर्ज के बदले में दे डालता और यदि उसके मरने से उसे अधिक लाभ की संभावना जान पडती तो मार भी डालता !

इतनी कडी गुलामी मे भी गुलाम को यदि मालिक चाहता तो व्यापार मे लगा देता और उससे जो लाभ होता उसका कुछ अंश दे देता। इस अंश से गुलाम अपनी स्वतंत्रता को मोल ले सकता था। इसके अलावा उसकी बीमारी में हकीम की फीस, दवा के दाम और बेकारी या बुढ़ापे मे भोजन-छाजन का भार मालिक के जिम्मे रहता था। यदि मालिक चाहता तो उसे मुक्त भी कर सकता था। किसी-किसी दशा में गुलाम स्वतंत्र स्त्री से विवाह भी कर सकता था। उससे उत्पन्न सन्तति भी स्वतंत्र मानी जाती थी और गुलाम की आधी जायदाद की हकदार होती थी। गुलाम का स्वतंत्र स्त्री-धन भी गुलाम का मालिक नही ले सकता था। गुलाम स्त्री से उत्पन्न सन्तति स्वतंत्र मानी जाती थी। गुलामो के बदन पर गोदना गोदकर या दागकर गुलामी के चिह्न बना दिए जाते थे, और बाद को उनके लिए मिट्टी का एक विशेष चिह्न बाँधना अनिवार्य कर दिया गया था।

स्त्री-पुरुष का संबंध और गृह-जीवन

बेबिलान का गृहस्थ-जीवन भी व्यवस्थित था। अपनी सन्तति पर माता-पिता के अपार अधिकार थे। वे चाहे गुलामों की तरह उनसे व्यवहार करें, या उन्हे गिरवी रख दें, या कर्ज में दे दे। चाहे तो घर से निकाल दें अथवा उत्तराधिकार छीन ले। लड़कियों को माता-पिता के आदेश के अनुसार विवाह करना पडता था। माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली सन्तान को गुलामी की सजा मिलती थी और गुलामी के चिह्न उनके शरीर पर अङ्कित कर दिए जाते थे।

किन्तु यदि ऐसी कोई आपत्ति न हुई और निर्वाह हो गया, तो माता-पिता की जायदाद उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लडको और लड़कियों में बराबर बाँट दी जाती थी। यदि स्त्री विधवा हो जाती तो उसको भी लड़कों या लड़कियों की तरह बराबर हिस्सा मिल जाता था। बेबिलान में स्त्रियो की दशा काफी अच्छी थी। कानूनी विवाह होने के पहले यदि युवक और युवतियाँ चाहते तो साकल्पिक विवाह कर सकते थे और इच्छानुकूल विच्छेद भी कर सकते थे। किन्तु ऐसी दशा में उनको अपने साथ विशेष चिह्न

रखना पड़ता था । लड़की का कानूनी विवाह उसके माता-पिता लड़केवाले से कुछ लेकर करते थे, और उनको दहेज या स्त्री-धन एवं आसन-वसन देते थे ।

विवाह के बाद अपने श्वसुर के घर में रहना लड़की का कर्त्तव्य समझा जाता था । यदि मँगनी होने पर कोई लड़का विवाह न करे, तो लड़की का बाप नजराने की रकम हड़प सकता था और यदि लड़की इन्कार करे, तो उसके पिता को दुगनी रकम देना पड़ती थी । विवाह की कोई खास विधियाँ या रस्मे न थीं । गवाहों के सामने कानूनी तौर पर दर्ज कर देने मात्र से ही विवाह हो जाता था । विवाह जीवन भर के लिए होता था, किन्तु तलाक भी आसानी से हो सकता था । पत्नी पर बाँझ-पन, मूर्खता या अनमेल स्वभाव और गृहस्थी के कामों में लापरवाही का इल्जाम लगाकर तलाक दिया जा सकता था, और स्त्री भी अत्याचार के कारण यदि चाहती, तो तलाक देकर अपना मालमता लेकर पिता के घर चली जाती थीं । उसे अपने दहेज को भी वापस ले लेने का अधिकार था । यदि पुरुष का कसूर हुआ, तो उसे घर-बार स्त्री के सुपुर्द कर खाली हाथ घर से निकल जाना पड़ता था । और यदि औरत का अपराध हुआ, तो वह पानी में डुबा दिए जाने की सजा पाती थी । इल्जाम साबित होने पर पति चाहे उसे घर से नङ्गा न निकाले, किन्तु उससे पत्नी का अधिकार छिन जाता था और उसके साथ दासी का-सा बर्ताव किया जाता था । व्यभिचार के लिए स्त्री या तो पानी में डुबा दी जाती थी या ऊँची मीनार से ढकेल दी जाती थी । यही दण्ड उसके साथ व्यभिचार करनेवाले को भी दिया जाता । यदि पति लड़ाई में कैद हो गया, या व्यापार के लिए गया, किन्तु स्त्री की जीविका का प्रबन्ध कर गया, तो वह दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकती थी । किन्तु यदि जीविका का उचित प्रबन्ध वह नहीं कर गया, तो स्त्री दूसरा विवाह अथवा जीविका के लिए किसी पुरुष से अपने पति के लौटने तक सम्बन्ध कर सकती थी । यदि स्त्री चिररोगिणी हो तो पुरुष दूसरा ब्याह कर सकता था, किन्तु उसे पहली स्त्री का भरण-पोषण करना पड़ता था । पुरुष को यह अधिकार अवश्य था कि वह चाहे तो उप-पत्नी या कम अधिकारवाली पत्नी कर ले, किन्तु अधिकतर लोग एक ही ब्याह करते थे । यदि चाहे तो वह गुलाम स्त्री या दासी रख सकता था, किन्तु उनके अधिकार गुलामों या दासियों के ही रहते थे । यदि मालिक चाहता तो दासी की सन्तति को भी ब्याही हुई पत्नी की संतान के समान अधिकार मिल जाते थे ।

इस चित्र में सम्राट् खम्मूरबी को किसी दैवी विभूति द्वारा उन कानूनों को पाते हुए दिखाया गया है, जो मूर्ति के अधोभाग में अंकित हैं ।

साधारणतया स्त्रियों को गृहस्थी का काम करना पड़ता था । वे बच्चों के पालने के सिवा घर की सफाई करती, कुएँ या नदी से पानी लाती, भोजन बनाती, अनाज पीसती, सूत कातती और बुनाई करती थी । बड़े घरों की स्त्रियाँ प्रायः जनानखाने या पर्दे में रहती थीं । वे जब बाहर जाती तो उनके साथ खोजा जाते थे । साधारण लोगों में ये सभी रुकावटें न थीं । स्त्रियों को व्यापार, रोजगार आदि करने का अधिकार था । वे अपनी निजी हैसियत से जायदाद या माल खरीद और बेच सकती थीं, या दे सकती थीं । चाहें तो वे साझे में भी व्यापार कर सकती थीं । उनकी गवाही अदालत में मानी जाती थी । इस तरह हम देखते हैं कि स्त्रियों को सामाजिक और कानूनी क्षेत्र के भीतर बहुत स्वतंत्रता थी ।

राज्य-संगठन

बेबिलान का राजकीय संगठन भी उन्नत दशा में था। वहाँ राजा का शासन था। राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार असली शासक तो देवता थे, और राजा उनका प्रतिनिधि-मात्र था। यद्यपि वह मनुष्य ही समझा जाता था, किन्तु अन्य मनुष्यों से उसका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। मृत्यु के बाद राजा भी देवता के समान समझा जाता था। दैवेच्छा के अलावा उस पर कोई अन्य बन्धन न था। यद्यपि देवता के आदेशों को छोड़कर उसकी स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता में अन्य कोई बाधा न थी, तथापि कानून, पुरोहित और महाजनों का उस पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दबाव रहता था। न्याय करना, प्रजा का पालन और उन्नति एवं धर्म, विद्या और कला-कौशल की उन्नति करना उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। उसको यह अधिकार था कि अपने पुत्रों में से जिसे चाहे वह उत्तराधिकारी बना दे। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक राजकुमार अपने को राज्याधिकार का पात्र समझता था और अपनी विजय के लिए षड़यंत्र रचता अथवा बलप्रयोग करने के लिए उद्यत रहता था। राजा राज्य की सारी जमीन का स्वामी माना जाता था। वह जिसे जितनी जमीन देना चाहे दे सकता था। उसके प्रधान सहायक और सलाहकार पुरोहित, जमींदार और धनिक थे। साम्राज्य कई अर्द्धस्वतंत्र छोटे राज्यों या सूबों में विभक्त था। उनका शासन स्थानीय परंपरानुसार होता था।

न्याय और कानून

पहले पुरोहित और धर्माधिकारी लोग न्याय किया करते थे, किन्तु बेबिलान में वह अधिकार उनके हाथ से जाता रहा। न्याय करने के लिए प्रत्येक नगर में एक 'रबिअनु' होता था। साधारणतया उसका फैसला अंतिम रहता था। न्याय के अलावा 'रबिअनु' को शान्ति और कानून की रक्षा भी करनी पड़ती थी। यदि उसके अधिकार-क्षेत्र में डाका आदि पड़े, तो माल बरामद कराना उसका कर्त्तव्य था। यदि माल बरामद न हुआ, तो उसे और उसके क्षेत्र की रियाया को ही उतना माल देना पड़ता था। 'रबिअनु' की सहायता के लिए वयोवृद्ध और प्रमुख व्यक्तियों की एक छोटी समिति रहती थी। वे शायद 'शिबूती' कहलाते थे। किसी-किसी मामले में 'रबिअनु' के फैसले के खिलाफ राजधानी के मुख्य न्यायाधीश 'शक्कनक्कू' की कचहरी में अपील की जा सकती थी। 'शक्कनक्कू' की सहायता के लिए भी शायद ६ या १० प्रमुख व्यक्तियों की समिति होती थी। यदि कोई उससे भी संतुष्ट न होता, तो वह राजा के सामने अपील कर सकता था। न्याय करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य माना जाता था। उस समय भी न्यायालयों में कुछ रिश्वत चलने लगी थी। अदालत में देवताओं की शपथ भी ली जाती थी, किन्तु न्यायाधीशों को वह सर्वदा विश्वसनीय नहीं जान पड़ती थी।

बेबिलान के कानून भी व्यवस्थित और सुसंगठित थे। इस विषय में वहाँ पश्चिम के अन्य समकालीन राज्यों से अधिक उन्नत अवस्था थी। खम्मूरबी ने उनको लिपिबद्ध करा दिया था, यद्यपि जनश्रुति यह थी कि उसे वे कानून सूर्यदेव से मिले थे। जुर्माना, कोड़े, कैद, देशनिकाला, अङ्गभङ्ग और प्राणदण्ड की सजायें वहाँ प्रचलित थीं। धोखा देकर रुपया मारने तथा चोरी आदि में मूलधन से कई गुना जुर्माना होता था। अपने से बड़े को मारने वाले को कोड़े की सजा दी जाती थी। जीभ काटनेवाले, आँख फोड़ने एवं स्तन काटनेवाले को प्रायः उसी प्रकार के अङ्ग-भङ्ग का दण्ड मिलता था। मकान के गिरने अथवा आपरेशन करने से यदि किसी की मृत्यु हो जाती, तो मकान बनानेवाले को और जर्राह को भी वही दण्ड भोगना पड़ता था। डकैती, जबरदस्ती किसी को उठा ले जाने, चोरी, बलात्कार, वर्जित सहवास, जहर देने, दूसरे के गुलामों को छिपा रखने, शत्रु के सामने कायरता दिखाने, अपने ओहदे का दुरुपयोग करने, गृहस्थी के प्रबन्ध में लापरवाही करने या शराब बेचने के नियमों के उल्लंघन आदि के अपराध के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। किसी के चालचलन के विरुद्ध झूठा दोष लगाने के लिए भी प्राणदण्ड दिया जाता था। जलपरीक्षा और शपथ से भी सत्यासत्य का निर्णय होता था। जायदाद के अधिकार, लेन-देन, सूद आदि के सम्बन्ध में कानून थे। कानून के द्वारा कुछ अंश तक चीजों की कीमत, मेहनताना, वेतन आदि का भी नियंत्रण होता था।

देवी-देवता और धार्मिक विश्वास

बेबिलान में अनेक देव और देवियों का पूजन हुआ करता था। ई० पू० नवीं सदी में वहाँ के देवताओं की संख्या ६५,००० थी। बेबिलानवासियों ने सुमेरिया के देवताओं का सेमेटिक नाम रखकर उन्हें अपना लिया। सुमेरियनों के 'बब्बर', 'नन्नर', 'इनानी' और 'एनलील' के यथाक्रम शम्स (सूर्य), सिन (चंद्रमा), इश्तर और बाल (धरती) नाम रख लिए गए। इश्तर देवी सौन्दर्य और प्रेम की साक्षात् परम मूर्ति थी, किन्तु वह मातृत्व के महान् भावों से विभूषित

थी। वह युद्ध और प्रेम दोनो की देवी थी। वह स्वच्छन्द विचरण और विहरण करनेवाली कामिनी कुमारी थी। वह दुष्टों का दमन करनेवाली ज्योतिर्मयी जगद्धात्री थी। वेबिलान की साम्राज्य-स्थापना के साथ वहाँ का मुख्य देवता 'मर्दक' भी सब पुराने देवताओं से महत्व में काफी बढ गया और साम्राज्य का देवता माना गया, किन्तु स्थानिक देवताओं के प्रति लोगों की जो चिर श्रद्धा थी, उसको वह न हिला सका। वेबिलान में यद्यपि विश्व भर के देवों की तो कल्पना की गई, किन्तु मिस्र देशवालों के समान उनको एक परमेश्वर का ज्ञान न था। हाँ, अन्य अनेक जातियों की तरह उनमें भी त्रिमूर्ति का सिद्धान्त अनेक रूपों में प्रचलित था।

वेबिलान में देवालय बहुत थे। प्रत्येक मन्दिर का एक मुख्य देवता होता था, किन्तु वहाँ दूसरे देवताओं को भी स्थान दे दिया जाता था। अपने विश्वास के लिए न किसी को दण्ड दिया जाता था, न अनुदारता का ही सामना करना पडता था। देवताओं की चेष्टाएँ और वासनाएँ मनुष्यों की-सी होती थी। वे खाने-पीने और अपनी कामादि वासनाएँ भी पूरी करते थे। उनको अनेक विविध विधानों और पशु-बलि आदि से संतुष्ट करने की चेष्टा की जाती थी। उनके लिए गवैये और अनेक प्रकार के बाजे बजानेवाले रखे जाते थे। भोगादि के अन्यान्य साधनों में देवपत्नी और देव-दासियाँ भी मन्दिर में उपस्थित रहती थी। उन्ही की आड में वारागनाएँ और मदिरा बेचने वाली अपना कुत्सित व्यवसाय करती थी। उन सब साधनो को प्राप्त करने के लिए लोग बडे-बड़े दान देते थे, जायदादें लगा देते थे। उस धन से मन्दिरों के अधिकारी लोग गहरा व्यापार और लेन-

वेबिलान नगर के ये खण्डहर चार हजार वर्ष पूर्व की उसकी महान् सभ्यता के स्मारक के रूप में आज भी खड़े हैं। चित्र में सामने प्रसिद्ध 'इश्तर दरवाजे' के भग्नावशेष हैं, जिन पर बनी हुई मूर्तियाँ अब भी सुरक्षित हैं। ऊपर की ओर दूरी पर सुप्रसिद्ध 'बाबुल की मीनार' के भग्नावशेष दिखाई दे रहे हैं।

देन करते थे और अपनी और मन्दिरों की सम्पत्ति बढ़ाते चले जाते थे। मन्दिरो मे जो पशु पाए जाते थे, उनकी अच्छी तरह देखभाल होने का प्रमाण यह है कि वहाँ के कुत्तो तक को दूध-मलीदा दिया जाता था ! धर्माधिकारी समृद्धिपूर्ण और शिक्षित होने के कारण मंदिरों के अधिकारी जनता और राजा पर रोब-दाब जमाए रहते थे। पुरुषों के अलावा मन्दिरों मे स्त्रियाँ भी रहती थीं। उनमे से 'देवपत्नी' का बड़ा आदर और सम्मान होता था। वे 'नतीतू' अथवा 'एन्तू' कहलाती थी। उस सम्मान के लिए बड़े-बड़े राजा और धनी लोग अपनी पुत्रियों को देवता को समर्पित कर देते थे। कभी-कभी देवता उन्हें अलौकिक ढंग से सन्तान भी प्रदान कर देते थे ! 'सारगन' का जन्म इसी अलौकिक विधान से हुआ था। वहाँ के देवता एक-पत्नीव्रत न थे। उनके एक मुख्य पत्नी और अनेक उपपत्नियाँ व दासियाँ होती थी। वे पुरुषों से विवाह भी कर सकती थी, पर उनसे सन्तान पैदा नही कर सकती थी। इसके लिए वे उन्हे अन्य स्त्री या स्त्रियाँ दे दिया करती थी।

बेबिलानवाले देवताओं से परलोक के सुख की आशा नही रखते थे और न उस के लिए उनसे प्रार्थना करते थे। वे इसी संसार और जीवन में सुख तथा आनन्द की कामना करते थे। वे लोग स्वर्ग को जानते ही न थे। उनका विश्वास था कि मरने के बाद सब लोग पृथ्वी के नीचे अंधकारपूर्ण लोक में हाथ-पैर बँधे हुए विवश हो पड़े रहते हैं। अत. अपने वंशजों से श्राद्ध की सामग्री पाने के लिए वे लालायित रहते थे। अधोलोक में सब कोई एक विकट देवी की अध्यक्षता मे अगणित युगो तक पड़े रहते हैं, इसी भयंकर विश्वास के कारण उन्होंने कभी समाधिस्थान की रचना की ओर विशेष ध्यान नही दिया।

इश्तर देवी की प्रतिमा

ग्रीक इतिहास-लेखक हेरोडोटस के अनुसार बेबिलान में स्त्री का यह कर्त्तव्य था कि वह मन्दिर में जाकर एक बार किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ सहवास करे। मन्दिर मे इस निमित्त जाने पर स्त्री तब तक वापस नहीं आ सकती थी, जब तक उसका काम सिद्ध न हो जाय। सुन्दरी स्त्रियों को तो शीघ्र सफलता प्राप्त हो जाती थी, किन्तु कुरूपिणी के लिए कठिनाई होती थी। कोई-कोई ऐसी अभागिनी भी होती थी कि उनको तीन-चार साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी ! यह क्रिया 'माईलिट्टा' देवी को संतुष्ट करने के लिए अनिवार्य थी। ऐसी प्रथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों और जातियों में भी प्रचलित थी।

बेबिलानवाले जलतत्त्व को प्रधान कारण और सृष्टि के उद्भव का मूल मानते थे। ज्ञान का उद्गम वे इलहाम को मानते थे। नियत (तकदीर) मे उनका पूरा विश्वास था। बिना दैवी इच्छा को जाने वे कोई काम नहीं करते थे। दैवी इच्छा के जानने के कई रहस्यपूर्ण विधान वहाँ प्रचलित थे। उत्तर काल में नियति के सिद्धान्त में कुछ लोगों को संदेह हो चला था। सेमेटिक होने के कारण बेबिलोनिया-वालो में भक्ति का भाव भी उत्पन्न हो गया था। वे देवताओं की भावमय स्तुतियाँ रचते और गाते थे। उनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे मानव जीवन को पापपूर्ण समझते थे और देवता से अधीनता तथा दास्य भाव के साथ क्षमा माँगते थे। तथापि उनके साधारण जीवन मे उसका विशेष प्रभाव नहीं पाया जाता था। उनकी समझ में पाप रोग आदि के समान था जो मंत्र-तंत्रादि क्रियाओं द्वारा भगाया जा सकता था। व्यापारिक सभ्यता के कारण उनमे भोग-विलास की मात्रा बहुत बढ़ गई। यद्यपि वे व्यभिचार को पाप समझते थे, किन्तु पतनकाल में तो यह परिस्थिति पैदा हो गई थी कि निर्धन लोग अपनी कन्याओं के व्यभिचार की कमाई खाने में कोई बुराई नहीं देखते थे ! भले-बुरे का ज्ञान रखते हुए भी वे भलाई की ओर अधिक न झुक सके। कारण यह था कि उनका विश्वास था कि बुराई में भी भलाई रहती है और वह भलाई का एक दूसरा रूप है।

सुमेरिया की तरह बेबिलानवालों का भी मुख्य उत्सव नए वर्ष का उत्सव था। यह उत्सव बड़े धूम-धाम से सुमेरिया में शरद-संपात मे और बेबिलान में बसंत-संपात में ग्यारह दिन तक मनाया जाता था। राजा को भी सब राजकीय ठाट-बाट छोड़कर उसमें भाग लेना आवश्यक था। इस उत्सव में प्रत्येक वर्ष प्रधान पुरोहित राजा को उसके अधिकार प्रदान करता था। इसके अलावा कोई-न-कोई उत्सव प्रत्येक महीने में होता रहता था।

लेखनकला का विकास

बेबिलान की सभ्यता का सबसे पूर्ण विकास उनके प्रसिद्ध कानूनों और व्यापार में पाया जाता है। कहा जाता है कि कानून को व्यवस्थित और व्यापक रूप सबसे पहले वहाँ ही मिला था। कानून का आदर राजा स्वयं करता और उस पर भी वह वैसा ही लागू होता था जैसा कि जनता पर। वहाँ के लोग विद्या के महत्व को समझते थे। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। 'नबू' विद्या का देवता माना जाता था। लेखन-कला का उन्हें मिस्रवालो से भी अच्छा ज्ञान था। उन्हें वर्ण का ज्ञान तो न था, तथापि लगभग ३०० वाक्चित्रों के द्वारा वे अपना सारा काम निकाल लेते थे। कुछ लोग लेखनकला का ही पेशा करते थे। वे उसकी मुख्य उपयोगिता व्यापार के लिए, न कि साहित्य के लिए मानते थे। वे मिट्टी की ईंटों पर लिखते और मिट्टी ही के लिफाफे बनाते थे। इन ईंटों को वे सँवारकर पुस्तकालय मे रखते थे। उनकी भाषा सुमेरियन और सेमेटिक भाषाओं के मिश्रण से बनी थी। उसको अच्छी तरह समझने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के कोश और व्याकरण रचे थे। इसीलिए वे शब्दकोश और भाषा-विज्ञान के प्रणेता माने जाते हैं। वे कविता करते थे और उन्होने काव्य में दो उपाख्यान और नीति के अनेक छन्दों की रचना की थी। इसके अलावा कालक्रम से घटनाओं और राजाओं की कृतियों का सविस्तार वर्णन करने की पद्धति निकालकर उन्होंने इतिहास-साहित्य का भी सूत्रपात किया।

ज्ञान-विज्ञान

बेबिलानवालो को गणित और ज्योतिष का भी शौक था। उन्होंने गोले को ३६० अशो मे विभक्त किया। तीन हिस्सों तक की वे गणना कर लेते थे। गणना की सुविधा के लिए वे जन्त्रियों का प्रयोग करते थे। जमीन का क्षेत्रफल निकालने की रीति भी उन्हें मालूम थी। प्राचीनकाल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिर्विद बेबिलानवाले ही माने जाते थे। नक्षत्रों को वे देवता मानते थे और उनकी चालों तथा मानव जीवन पर उनके प्रभाव का विशेष रूप से अन्वेषण करते थे। अतएव फलित ज्योतिष की ओर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया था। उन्हें बारह राशियो का ज्ञान था। चान्द्रायण गणना के अनुसार उनका वर्ष बारह महीनों का और कभी तेरह महीनों का होता था। उनके छः महीने ३१ और छः २९ दिनों के होते थे। वे चार सप्ताहों का एक महीना और सात दिन का एक सप्ताह मानते थे। किन्तु उनका दिन २४ घंटों के बजाय १२ घंटे का ही होता था, और प्रत्येक घंटा ३० मिनटों का तथा प्रत्येक मिनट ६० सेकण्डों का होता था। इस हिसाब से उनका एक मिनट आजकल के चार मिनटो के बराबर था ! समय के ज्ञान के लिए वे जल-घड़ी और सूर्य-घड़ी का प्रयोग करते थे। नाप-तौल के विधान भी उन्हें मालूम थे। बेबिलानवाले चिकित्सा के क्षेत्र में वनस्पति-काष्ठादि औषधियो के अलावा मांस, हड्डियों और पुरीष, तैल और आसव आदि का भी प्रयोग करते थे। वे जर्राही जानते थे। चिकित्सक और जर्राह की फीस कानून द्वारा निश्चित थी। यदि उनकी लापरवाही या भूल से बीमार को हानि पहुँचती, तो उन्हे प्राणदण्ड तक दिया जाता था। चिकित्सा मंत्रतंत्रादि से भी की जाती थी।

पुरातत्त्व और कला

बेबिलोनिया की प्राचीन इमारतें नष्ट हो गई, किन्तु उनके अवशिष्ट चिह्नों से उनका कुछ अनुमान किया जाता है। उनके नष्ट होने का मुख्य कारण यह था कि बेबिलानवासी पत्थरों के अभाव के कारण ईंटों की इमारतें बनाया करते थे। इमारतों की दीवालों को वे या तो कई रंगों से रँग देते या उन पर कालीन या रंगीन चीनी के-से मोजइक टुकड़ों को सजा देते थे। कभी वे उन्हें धातुओ के आवरण से ढक देते थे। इन कलाओ में वे मिस्रवालों से बढ़े-चढ़े थे। उन्हें मिट्टी और पत्थर पर रंगीन पालिश करना आता था। सोना, चाँदी, ताँबे, काँसे और बाद को लोहे की भी छोटी और बड़ी चीजें, बरतन और मूर्तियाँ वे बनाया करते थे। उन्हें अनेक प्रकार के जेवर बनाना आता था, किन्तु उनकी कारीगरी मिस्र से घटिया थी। गाने-बजाने का शौक होने के कारण उन्हें तरह-तरह के बाजों का ज्ञान था। मन्दिरों, महलो और रईसों के यहाँ उत्सवादि में प्रायः गाना-बजाना होता था। मन्दिरों के निर्माण में उन्होने अधिक विवेक और योग्यता दिखाई। उनमें प्रत्येक आवश्यकता का विचार रखा गया था। उनकी ही इमारतों में पहलेपहल मेहराब दिखाई पड़ती है। ऊँचे चबूतरे और 'जिग्गूरात' (मीनारें) इनकी इमारतों की विशेषताएँ है। उनका स्थापत्य उपयोगी और प्रभावशाली, किन्तु अधिक कलात्मक न था। ईंटों की इमारतों में कला के लिए अधिक अवसर ही कहाँ होते हैं ! चित्रकला मे बेबिलान मिस्र से पीछे रहा। वहाँ वह केवल मंदिरों, स्मारकों आदि की सजावट के लिए ही काम में लाई जाती थी। स्वतंत्र रूप से उसकी कभी उन्नति नहीं हुई। फिर भी भित्तिचित्र बनाने में उन्होने अच्छा कौशल प्राप्त कर

मानव परिवार का विकास

पिछले प्रकरणों में मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास और उसकी आर्थिक भित्ति की सामान्य पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इस लेख में मनुष्य-समाज की विशाल इमारत की छोटी-से-छोटी इकाई "परिवार" की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन अब हम आरंभ करते हैं।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है और सदा समाज में रहने की वह इच्छा करता है। समाज मे रहना मनुष्य ने आवश्यकतावश सीखा और बहुत काल तक उसका पालन करने से आज यह उसका एक स्वाभाविक गुण हो गया है। मनुष्य जाति के विकास-क्रम के इतिहास अर्थात् मानव-विज्ञान (Anthropology) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किसी काल में छोटे-छोटे समूहों मे रहना मनुष्य के लिए आवश्यक तथा लाभदायक प्रमाणित हुआ। इसी प्रकार के जीवन से उसके संगठित जीवन की नींव पड़ी। मनुष्य-जाति की सबसे पुरानी और छोटी सुसंगठित संस्था को 'परिवार' कहते है। अथवा यों कह सकते है कि पति-पत्नी तथा उनकी सन्तान के समूह का ही नाम 'परिवार' है।

मानव परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई ?

परिवार-संस्था के निर्माण का कारण, उसका विकास-क्रम, और उसके विभिन्न रूप-रूपान्तरों को जानने के लिए हमें बहुत प्राचीन काल का निरीक्षण करना पड़ेगा। परिवार-संस्था की स्थिति पशु-पक्षियों मे भी पाई जाती है; किन्तु वह दशा बहुत प्रारम्भिक और असंगठित है। नीची श्रेणी के पशुओं मे पति-पत्नी और बच्चों का एकत्रित समूह मे रहना एव पक्षियों में नर व मादा का समागम हो चुकने के पश्चात् भी घोंसले का निर्माण करने, अण्डा सेने तथा उन छोटे-छोटे बच्चो की, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते, रक्षा करने में परस्पर सहयोग देना, आदि क्रियाएँ मनुष्य-परिवार के मुख्य कार्यो से बहुतांश में समता रखती है।

मनुष्य-परिवार के निर्माण के सम्बन्ध में विशेषकर तीन धारणाएँ है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युग में मनुष्य का शारीरिक विकास समाज-संगठन के साथ-साथ ही हुआ। उनके मत के अनुसार परिवार का रूप मनुष्य के विकास के अनुकूल बदलता रहा है। उन्होंने इतिहास को तीन काल में विभाजित किया है—आदि-काल, जंगलों का समय और आज का युग। इस मत के प्रमुख लेखक बेकोफेन, मेक्लीनेन और मोर्गन हैं। उनका कथन है कि आदिकाल में, जब विवाह-पद्धति की स्थापना नही हुई थी, मानव समाज में स्त्री-पुरुष का विवेकरहित समागम होता था। पुरुष तथा स्त्रियाँ छोटे-बड़े समूहों में साथ-साथ रहते थे। स्वेच्छानुकूल कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ इच्छा-पूर्ति कर सकता था। एक स्त्री का सदा किसी विशेष पुरुष के साथ ही समागम होना आदिकाल के बाद अर्थात् जंगलों की सभ्यता के समय में स्थापित हुआ।

आरंभ में परिवार मातृसत्तावादी था

इस प्रकार की स्वच्छंद अवस्था का कारण ये लोग यह बतलाते है कि आदिकाल में मनुष्य को व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था। ऐसे समय में सन्तान माता के ही साथ रहती थी। उनकी धारणा तो यहाँ तक है कि इस समय में मनुष्य को सन्तानोत्पत्ति के कारण का ज्ञान ही नही हुआ था और न वह यही समझता था कि सन्तानोत्पत्ति में पुरुष का कितना भाग है। मातृ-सत्तावादी परिवार का जन्म और उसकी स्थापना भी इसी समय में बतलायी जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार जंगलों की सभ्यता के समय में उत्पन्न हुए, जब मनुष्य पशु पालने, चरागाह रखने अथवा खेती का कार्य करने लग गया था।

लिया था। चित्रों के विषय प्रायः धार्मिक एवं काल्पनिक पशु-पक्षी, प्राकृतिक दृश्य, राजा आदि होते थे। वे लोग वीभत्स एवं नग्न चित्र बनाना अनुचित समझते थे। इसीलिए उनकी कला खुलकर न खेल सकी। मिस्र के देवता प्रायः अर्द्ध-पशु होते थे, किन्तु वेबिलान के देवता मनुष्यों की तरह होते थे। विलक्षण पशु-पक्षियों और उनके से मुखवाले जीवों का यदि वे चित्रण करते, तो उनका तात्पर्य किसी गुप्त भावना का प्रदर्शन मात्र होता था। उनके चित्रों में व्यक्तित्व का अभाव था, अन्यथा वे काफी अच्छे थे। यही दोष उनकी मूर्ति-कला में भी दिग्दर्शित थे।
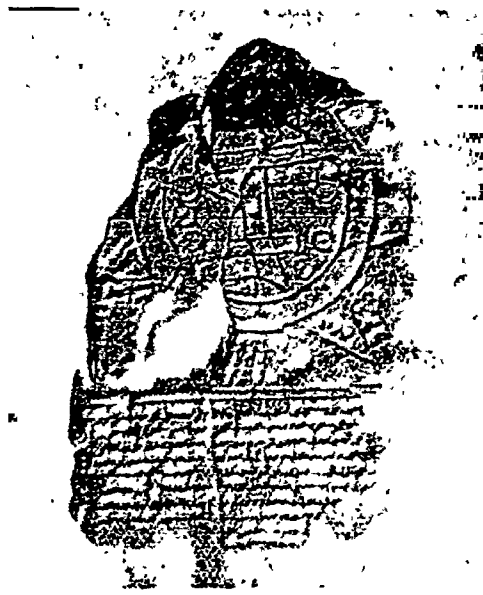
वेबिलानवासियों द्वारा प्रणीत दुनिया का नकशा, जो अब तक प्राप्त नकशों में सबसे प्राचीन है।

यद्यपि भारत और मिस्र की सभ्यता से वेबिलान की सभ्यता घटकर थी, तथापि वहाँ ही से यूनान और रोम को गणित, ज्योतिष, चिकित्सा - विधान, व्याकरण, कोष, इतिहास, पुरातत्व-निरीक्षण और दर्शन का ज्ञान मिला था। उन्हीं की मेहराव और मीनारों का उपयोग ईसाइयों और मुसलमानों ने किया, जिनसे उनकी इमारतों की इतनी ख्याति हुई। उनके कानून रोम के कानूनों से सैकड़ों वर्ष पूर्व के हैं। यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और पंचायत द्वारा राजनीतिक झगड़ों के निर्णय करने के साधन भी वेबिलान ही से संसार में फैले।

यह मूर्ति वेबिलान के सुप्रसिद्ध ईश्तर-द्वार की दीवारों पर ईंटों द्वारा बनाई गई विचित्र जन्तुओं की मूर्तियों में से एक है।

मानव परिवार का विकास

पिछले प्रकरणों में मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास और उसकी आर्थिक भित्ति की सामान्य पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इस लेख में मनुष्य-समाज की विशाल इमारत की छोटी-से-छोटी इकाई "परिवार" की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन अब हम आरंभ करते हैं।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है और सदा समाज में रहने की वह इच्छा करता है। समाज मे रहना मनुष्य ने आवश्यकतावश सीखा और बहुत काल तक उसका पालन करने से आज यह उसका एक स्वाभाविक गुण हो गया है। मनुष्य जाति के विकास-क्रम के इतिहास अर्थात् मानव-विज्ञान (Anthropology) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किसी काल में छोटे-छोटे समूहों में रहना मनुष्य के लिए आवश्यक तथा लाभदायक प्रमाणित हुआ। इसी प्रकार के जीवन से उसके संगठित जीवन की नीव पडी। मनुष्य-जाति की सबसे पुरानी और छोटी सुसंगठित संस्था को 'परिवार' कहते हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि पति-पत्नी तथा उनकी सन्तान के समूह का ही नाम 'परिवार' है।

मानव परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई ?

परिवार-संस्था के निर्माण का कारण, उसका विकास-क्रम, और उसके विभिन्न रूप-रूपान्तरों को जानने के लिए हमें बहुत प्राचीन काल का निरीक्षण करना पड़ेगा। परिवार-संस्था की स्थिति पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; किन्तु वह दशा बहुत प्रारम्भिक और असंगठित है। नीची श्रेणी के पशुओं मे पति-पत्नी और बच्चो का एकत्रित समूह मे रहना एवं पक्षियों में नर व मादा का समागम हो चुकने के पश्चात् भी घोंसले का निर्माण करने, अण्डा सेने तथा उन छोटे-छोटे बच्चों की, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते, रक्षा करने में परस्पर सहयोग देना, आदि क्रियाएँ मनुष्य-परिवार के मुख्य कार्यों से बहुतांश में समता रखती है।

मनुष्य-परिवार के निर्माण के सम्बन्ध मे विशेषकर तीन धारणाएँ है। कुछ विद्वानो का मत है कि ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युग में मनुष्य का शारीरिक विकास समाज-सगठन के साथ-साथ ही हुआ। उनके मत के अनुसार परिवार का रूप मनुष्य के विकास के अनुकूल बदलता रहा है। उन्होंने इतिहास को तीन काल में विभाजित किया है—आदिकाल, जंगलों का समय और आज का युग। इस मत के प्रमुख लेखक बेकोफेन, मेक्लीनेन और मोर्गेन हैं। उनका कथन है कि आदिकाल में, जब विवाह-पद्धति की स्थापना नहीं हुई थी, मानव समाज में स्त्री-पुरुष का विवेकरहित समागम होता था। पुरुष तथा स्त्रियाँ छोटे-बड़े समूहों में साथ-साथ रहते थे। स्वेच्छानुकूल कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ इच्छा-पूर्ति कर सकता था। एक स्त्री का सदा किसी विशेष पुरुष के साथ ही समागम होना आदिकाल के बाद अर्थात् जंगलों की सभ्यता के समय में स्थापित हुआ।

आरंभ में परिवार मातृसत्तावादी था

इस प्रकार की स्वच्छंद अवस्था का कारण ये लोग यह बतलाते हैं कि आदिकाल में मनुष्य को व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नही हुआ था। ऐसे समय में सन्तान माता के ही साथ रहती थी। उनकी धारणा तो यहाँ तक है कि इस समय में मनुष्य को सन्तानोत्पत्ति के कारण का ज्ञान ही नही हुआ था और न वह यही समझता था कि सन्तानोत्पत्ति में पुरुष का कितना भाग है। मातृ-सत्तावादी परिवार का जन्म और उसकी स्थापना भी इसी समय में बतलायी जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार जंगलों की सभ्यता के समय में उत्पन्न हुए, जब मनुष्य पशु पालने, चरागाह रखने अथवा खेती का कार्य करने लग गया था।

पितृसत्तावादी परिवार का विकास

वड़े परिवार की आवश्यकता इसलिए हुई कि वंश का मुखिया या पितामह अपने परिवार की सहायता से एक दूसरे की रक्षा कर सके और अपने द्वारा खोजे अथवा विजय किए गए चरागाहो या खेतों को सुरक्षित रख सके। इस युग में पुरुष ने स्त्री और सन्तान को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा और इस प्रकार आदि मातृसत्तावादी परिवार पितृसत्तावादी परिवार में परिणत हो गया तथा 'परिवार' वास्तविक रूप में निकट-सम्वन्धियो का एक समूह हो गया। मिश्रित परिवार भी इसी युग मे स्थापित हुए, जव मनुष्य पति-पत्नी की छोटी इकाइयों में विभाजित होकर भी अपने सम्वन्धियो एवं वान्धवो के साथ मिलकर रहने लगे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के जन-समूहो ने व्यक्तिगत परिवार का रूप धारण कर लिया।

स्त्री का व्यक्तित्व निखरा

पति-पत्नी-समूह का निर्माण इसलिए भी हुआ कि स्त्री अविवेकी समागम की प्रथा से घृणा करने लगी। इसलिए निश्चित रूप से किसी विशेष व्यक्ति से विवाह करने की प्रथा आरम्भ हुई। इस युग मे स्त्री और सन्तान पुरुष के अधीनस्थ रहे। क्रमश: स्त्री के व्यक्तित्व का विकास हुआ और धीरे-धीरे उसकी दासता की वेड़ी शिथिल हुई। आज परिस्थिति इस सीमा को पहुँच चुकी है कि स्त्री-जाति विवाह के वन्धन में फँसना ही नही चाहती। सन्तानोत्पत्ति के सम्वन्ध में भी जहाँ वड़ा परिवार होना सौभाग्य का चिह्न समझा जाता था और परिवार-वृद्धि के लिए पुरुष अनेक विवाह तक करते थे, वहाँ अव स्त्रियाँ गर्भधारण करना तक नही चाहती। सारांश यह है कि अव स्त्री-जाति ने अपने व्यक्तित्व को पहचाना है। स्त्री अव किसी प्रकार भी पुरुष की आज्ञाकारिणी दासी नही वनना चाहती, वरन् पुरुष के वरावर होने का दावा वह करती है। परिवार के विकास-क्रम की यह धारणा 'विकासवादी धारणा' (Evolutionary hypothesis) कहलाती है।

परिवार-विकास की दूसरी कल्पना यह है कि परिवार का रूप आर्थिक आवश्यकताओं अथवा आर्थिक स्थिति के अनुकूल वदलता रहा है। यह धारणा 'आर्थिक निर्माण-आधार' (Economic determinism) के नाम से प्रसिद्ध है। कार्ल मार्क्स की धारणाएँ इस विचार की पुष्टि करती है। इस अनुमान के अनुसार आर्थिक विकास के क्रम के साथ-साथ परिवार का रूप हर समय मे भिन्न-भिन्न रहा है। मनुष्य-परिवार का निर्माण आर्थिक जीवन को सरल वनाने के हेतु हुआ था। वच्चों का पालन-पोषण, रक्षा, भोजन - प्रवन्ध, निवास-गृह इत्यादि की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए माता-पिता व सन्तान एक स्थान पर सामूहिक रूप से रहने के लिए वाध्य हुए। यही सुसंगठित परिवार का मुख्य ध्येय है। प्रारम्भिक समय में, अर्थात् उस काल में जव केवल मृगया ही मनुष्य का आधार था, वच्चों के पालन-पोषण तथा उनकी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति का भार पूर्णतया माता पर ही रहता था और वह भी उस समय तक, जव तक कि वच्चे स्वयं अपने भोजनादि का प्रवंध करने को समर्थ न हो जायँ। दूसरी ओर पिता अपनी शक्ति का प्रयोग मृगया में करता था और आखेट द्वारा प्राप्त भोजन से अपने परिवार का उदर-पोषण करता था। अत इस काल मे वंश-संगठन वहुत ढीला था। चरवाहों के समय में मनुष्य का निवास-स्थान कुछ स्थिर हो गया था और उस समय पति-पत्नी व

स्त्री द्वारा संतान का पालन-पोषण और पुरुष द्वारा उनकी रक्षा की नैसर्गिक भावनाओं के रूप में भावी परिवार के सूक्ष्म वीज आदि युग ही में मनुष्य के पुरखों में विद्यमान रहे होंगे।
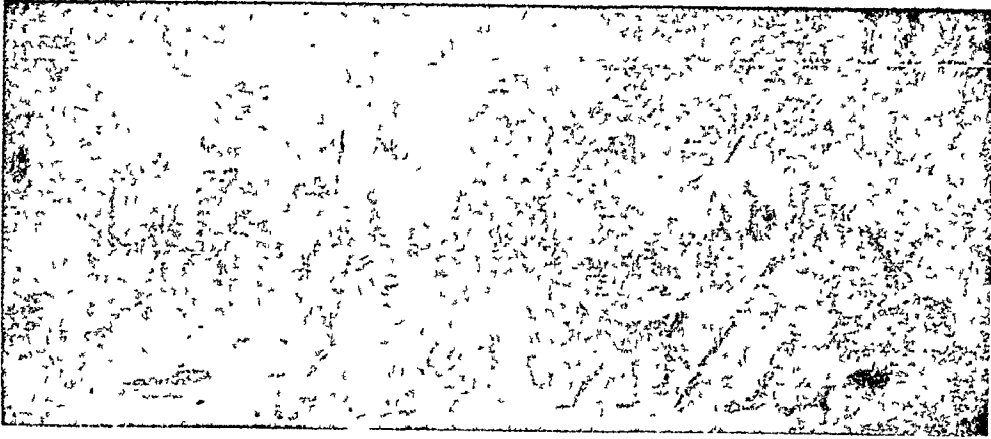
आखेट के युग में मानव-परिवार का रूप ['अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचरल हिस्ट्री' के एक चित्र से]

उनकी संतान एकत्रित होकर रहने लगे थे। अतएव इस परिवार को किसी अंश तक सगठित कह सकते है, क्योकि इस समय हम परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे की सहायता करते पाते है। खेती के समय में भोजनादि की सामग्री अधिकाश में निश्चित हो गई थी, परन्तु खेती के कठिन परिश्रम के कारण पुरुष को स्त्रियो की सहायता लेना आवश्यक था। इस युग मे आकर मनुष्य का एक स्थान पर रहना निश्चित हो गया। अब वह बेघरवार या घुमक्कड शिकारी नही रहा, वरन् अपने परिवारसहित निर्दिष्ट स्थान पर अधिक काल तक रहने लगा। इस तरह उसका परिवार अत्यन्त सुसगठित अवस्था में परिणत हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति द्वारा परिवार का विघटन

चौथे युग अर्थात् कला-कौशल के समय में पारिवारिक संगठन मे शिथिलता के चिह्न दिखाई देने लगे। और अब तो परिवार का रूप ही कुछ नये ढंग का होता जा रहा है। कही-कही तो वर्तमान आर्थिक प्रणाली का प्रभाव इतना प्रचण्ड हुआ है कि पुरातन परिवार-सगठन के चिह्न ही लुप्त हो गये है। यदि खेती के कार्य ने परिवार-सगठन करवाया, तो आजकल के कारखानो ने परिवार को पुन: भङ्ग कर दिया। आज मनुष्य-जाति दो बड दलो मे विभाजित हो गई है। इन दोनो दलो के पारिवारिक जीवन मे असमानता है। एक दल को पूँजीपति और दूसरे को श्रमजीवी कहते है। कलो के प्रचार से पूँजीपति-परिवार-संगठन को विशेष हानि नही हुई। उलटे इस दल मे पुरुष के धनोपार्जन के कार्य में स्त्रियो तथा बच्चो का भाग लेना अब अनिवार्य नही रहा, क्योकि इस पूँजीपति-वर्ग को धन की अधिकता के कारण यह विश्वास हो गया कि स्त्रियो और बच्चो की सहायता के बिना भी उनका जीवन धना-भाव से दुखी नही हो सकता। दूसरे यह बात भी थी कि इस वर्ग की स्त्रियाँ और बच्चे इन नवीन साधनो से अनभिज्ञ थे और कलो के सचालन का परिश्रम करने में यदि सर्वथा नही तो अधिकाश मे अवश्य असमर्थ थे।

इस नवीन आर्थिक प्रणाली का घोर वज्र दलित श्रम-जीवियो पर ही पडा है। यत्रो के प्रचार से ग्रामीण स्त्रियो, बच्चो और कारीगरो की जीविका जाती रही। ऐसी संकट-जनक अवस्था मे दुखी तथा क्षुधा-पीडित मनुष्य कारखानो में मजदूरी करने को उद्यत हुए और इस प्रकार उपार्जित धन से जीवन-निर्वाह करने लगे। कारखानो के इस युग में बहुत-से श्रमजीवी एक स्थान पर एकत्रित होकर कार्य करते है, इसलिये उन्हें अपने सुख-सम्पन्न गृहो और स्त्री-बच्चो को छोडकर घर से दूर रहना पडता है। यही से परिवार के संगठित रूप में बाधा प्रारम्भ होती है। औद्योगिक नगरो मे श्रमजीवी व्यापारी तथा अन्य व्यापार सम्बन्धी जन-समूह के एकत्रित होने से रहन-सहन का खर्च बहुत बढ जाता है और निवासगृहो की कमी पड जाती है। इसलिए अल्पवेतनीय श्रमजीवी अपने परिवार को उद्योग-स्थान मे अपने साथ नही रख पाते। उनका परिवार-सम्पर्क यदा-कदा होता है, सो भी उस समय जब कि वे कारखानो से छुट्टी लेकर कभी अपने गाँव को जा पाते है। दूसरी बात यह है कि निजी उद्योग के नष्ट हो जाने से परिवार की आय भी घट गई है और स्त्री व पुरुष दोनो कारखानो में कार्य करने के लिए बाध्य हो गये है। यह भी सदैव सम्भव नही कि पति व पत्नी एक ही कारखाने मे कार्य कर सकें। ऐसी दशा में पति-पत्नी सप्ताह म विशेष दिनो ही में एक समय मिल पाते है। सन्तान को भी माता-पिता के साथ रहने और पारिवारिक सुख पाने का अवसर सयोग ही से मिलता है। कारखानो में

काम करने के बाद जब थकित माता-पिता घर आते हैं, तब उन्हें विश्राम के अतिरिक्त कोई पारिवारिक चर्चा नहीं भाती; क्योंकि उनका ध्यान फिर दूसरे दिन कारखाने के कार्य में जाने की ओर लगा रहता है। उन्हें अपने बच्चों के साथ बैठने का सुख प्राप्त ही नही होता। परिवार का यह रूप 'आर्थिक निर्माण आधार' सिद्धान्त के अनुसार हुआ है।

तीसरी विचारधारा यह है कि परिवार का प्रमुख ध्येय व्यक्तिगत तृप्ति है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष परिवार मे इसलिए संगठित होता है कि उसके निजी व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास हो सके। इस धारणा के अनुसार 'व्यक्तित्व का विकास' (Development of Individuality) ही परिवार का संगठन-आधार है, और परिवार कुछ व्यक्तियों का समूह मात्र है। इस मत के अनुसार यदि किसी परिवार मे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नही हो पाता, तो वह परिवार त्याज्य अथवा बदलने योग्य है। परिवार का रूप केवल वही होना चाहिए, जो प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से चमका दे। यदि परिवार स्त्री को पुरुष के अथवा सन्तान को माता-पिता के अधीन बनाता है अथवा उनकी स्वतन्त्रता मे बाधक होता है, तो वह परिवार दोषपूर्ण है। इस मत के अनुसार परिवार का रूप सदैव व्यक्तिगत विकास की सुगमता के अनुसार बदलता रहा है और भविष्य में भी बदलता रहेगा।

इसमें संदेह नही कि तीनो विचारधाराओं की पुष्टि परिवार के रूप, कार्य व सगठन की शैली से होती है, परंतु इन तीनो में से कोई भी विचारधारा परिवार-संगठन व पारिवारिक रूप को पूर्णतया स्पष्ट नही कर पाती। वास्तव में तीनों शक्तियां हर समय में परिवार-संगठन को प्रेरित करती रही हैं और परिवार के रूप-निर्माण में उनका प्रभाव बहुत प्रबल रहा है। परिवार का वास्तविक रूप इन तीनों धारणाओ से मिश्रित है और परिवार के प्रत्येक स्वरूप में तीनो धारणाओ के चिह्न पाये जाते है। जैसे-जैसे सामाजिक उन्नति हुई है, वैसे-वैसे सभ्यता, आर्थिक आवश्यकता और व्यक्तित्व के आधार पर परिवार का रूप बदला है, और भविष्य मे भी इन तीनो प्रबल शक्तियों का प्रभाव परिवार के रूप पर पडते रहने की सम्भावना है। इन प्रभावशाली शक्तियो के अधीन परिवार के भावी रूप के चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते है।

स्त्री-स्वातंत्र्य का विकास

आज के युग की बदली हुई स्थिति की नवीन आर्थिक पद्धति ने पति-पत्नी को आज अधिकांश में स्वतन्त्र कर दिया है। अब पत्नी पति द्वारा लाये गए मृगया से प्राप्त भोजन की भिखारिणी नहीं। चरवाहों के युग की तरह पुरुष द्वारा पकड़े गए पशु या जाति द्वारा जीते गए जंगलों पर आज उसका जीवन-निर्वाह निर्भर नही। खेती के समय के मनुष्य के अधीनस्थ खेती के सरल कार्य व गृह-कार्य पर भी उसका जीवन सीमित नहीं है। आज वह स्वतन्त्र होकर पुरुष के बराबर कारखानो मे कलों पर काम करती है और अपने जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध स्वयं कर लेती है। पति से भोजन पाने की लालसा में वह पतिदासी बनने की कोई आर्थिक आवश्यकता नहीं समझती। शारीरिक विकास और प्रकृति से द्वन्द्व के लिए उसे जनसमूह के साथ-साथ रहने की भी आवश्यकता अब नही है। पुरुप की संपत्ति न होकर वह स्वयं पुरुष को अपनी संपत्ति समझती है और उसे एक पत्नीव्रत होने को बाध्य करती है। आज मनुष्य बहुपत्नीयुक्त स्वामी बनकर नही रह सकता, उसे एक-पत्नीव्रती होना पडता है। स्त्री उसे अपनी एकमात्र सम्पत्ति समझती है और पुरुष को यह अधिकार नहीं कि विवाह-सम्बन्ध के उपरान्त भी वह किसी अन्य स्त्री से प्रेमालाप कर सके। व्यक्तित्व के विकास की चरम सीमा अब समीप आ रही है। स्त्री-पुरुष के अधिकार में साधारणतया कोई अन्तर नहीं रह गया है। दोनो स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। सन्तान पर भी उनका पूर्ण अधिकार नही। यदि यह सम्भावना हो कि माता-पिता के दुराचरण से अथवा दुष्प्रभाव से सन्तान के व्यक्तित्व-विकास में न्यूनता अथवा दोष का भय है, तो राष्ट्र स्वयं बच्चो की देखरेख अपने हाथ में ले लेता है और बच्चे ऐसे परिवारो से हटा लिये जाते हैं। उनकी पढ़ाई-लिखाई, भोजनादि का प्रबन्ध भी राष्ट्र द्वारा किया जाता है। सन्तान का पालन-पोषण, जो परिवार-संगठन का मुख्य ध्येय था, आज बहुत-कुछ अनावश्यक हो चुका है। स्त्रियो के व्यक्तित्व का विकास इतना हुआ है कि आज वे विवाह-विच्छेद, गर्भधारण, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि कार्यों में अपने स्वतन्त्र विचार रखती हैं। स्वतन्त्रता में बाधा पडने के भय से अथवा गर्भधारण और सन्तानोत्पत्ति के कष्ट के कारण स्त्रियाँ विवाह-बन्धन में पड़ने और मातृत्व का भार उठाने के विरुद्ध हो रही हैं। कही-कही तो दाम्पत्य-जीवन की स्थापना केवल सुख व इच्छा पर निर्भर है। अल्पकालिक विवाह, क्षणिक प्रेमसम्बन्ध, स्वेच्छानुकूल विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह आदि इस नवीन सभ्यता के द्योतक है। परिवार का पुराना स्वरूप अब उनके ध्यान में भी आना संभव नही।

ऐसी धारणा की जाती है कि भविष्य का परिवार पुरुष

का पारिवारिक राज्य न होकर पति-पत्नी की परस्पर इच्छा पर निर्भर एक निवासगृह होगा, जिसमें प्रेमार्कर्षित स्त्री व पुरुष का सहवास होगा। यह एक ऐसी मित्रमण्डली होगी, जो मैत्री में शिथिलता आते ही छिन्न-भिन्न होकर फूल की पँखड़ी की भाँति बिखर जायगी। सारांश यह कि परिवार का कार्य व बाहरी रूप तो लगभग पहले ही जैसा होगा, परन्तु इस संस्था के संगठन की प्रेरणा-शक्ति नवीन आधार पर होगी, जिसमें आवश्यकता, निःसहायता और प्रभुत्व के स्थान पर स्वच्छन्दता, निर्भीकता व प्रणय का ही का साम्राज्य होगा।

आर्थिक संगठन

आर्थिक जीवन का प्रारम्भकाल उस अवस्था को कहते है, जब मनुष्य ने सहयोग का पाठ नही पढ़ा था। उन दिनों प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की आवश्यक सामग्री स्वय एकत्रित करता था। पिछले लेखों में यह वतलाया जा चुका है कि स्वावलम्बन की अवस्था अधिक समय तक क्यों नहीं चल सकी। यह भी वतलाया जा चुका है कि सहयोगी जीवन के प्रारम्भकाल में किस तरह भिन्न-भिन्न परिवारों ने एक-एक कार्य अपने लिए चुन लिया और विशेष परिवार ने विशेष कार्य में निपुणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार अनेक परिवार ग्राम की आवश्यकता की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ वनाते और हाट मे वेचकर जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार के सहयोगी जीवन का दायरा वहुत सीमित था, क्योंकि एक अथवा कई परिवार अपने परिवार के मनुष्यों के वल पर केवल ग्राम भर के लिए पदार्थ उत्पादन कर सकते थे। क्रमश: जव मानव जीवन में सभ्यता का प्रवेश हुआ और सांसारिक भोग की मात्रा वढी, तव नित्य नये-नये पदार्थो और सेवाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार उद्योगों की वृद्धि हुई। अव कई ग्रामों ने मिलकर उत्पादन का कार्य सँभाला, ताकि नाना प्रकार के पदार्थ वन सकें।

'पूँजीपति संगठन' का अंत :: 'साझेदारी का संगठन'

इस कार्य में विशेषता यह पैदा हुई कि पदार्थो की संख्या पहले-जैसी अल्प न रखकर अव अधिक वढ़ी। ग्राम्य स्वावलम्बन की अवस्था में उत्पादन करनेवाला कलाकार स्वयं ही उत्पादन तथा विक्री के सम्पूर्ण कार्य को करता था। वह ही जंगल से कच्चा माल लाता, वही औजार वनाता, वही पदार्थ-निर्माण का कार्य करता और फिर उसकी विक्री करने भी वही जाता। इसके साथ-साथ जहाँ-कही वने हुए औजार मोल लेने होते अथवा कच्चे माल का पैसा देना पड़ता, वहाँ उसे ही धन का प्रवन्ध भी करना पड़ता। यदि कच्चा माल लाने में, पदार्थ वनाने में, अथवा और किसी कार्य में वह किसी अन्य पुरुष से सहायता लेता, तो उसका वेतन इत्यादि भी उसी को देना पड़ता था। सारांश यह कि आजकल के मजदूर, पूँजीपति, महाजन तथा विक्रेता सवका कार्य वह स्वयं ही करता था। इस उत्पादन-संस्था को 'एकाकी पूँजीपति संगठन' कहते है। स्पष्ट-सी वात है कि एक परिवार इतने कार्य उसी समय तक कर सकता था, जव तक कि केवल थोड़ी मात्रा में उत्पादन करना हो। उत्पादन की मात्रा वढ़ने से अधिक सहयोग की आवश्यकता हुई। अव सहयोग के दो विशेष रूप हुए। एक तो यह कि उत्पादन तथा विक्री के उपर्युक्त भिन्न-भिन्न विशेष कार्य अलग-अलग परिवारो में वँट गये। दूसरे, प्रत्येक कार्य मे अनेक मनुष्यो ने एक-एक भाग अपना लिया और वे उसमें सलग्न हो गये। पहले प्रकार के सहयोगिक विभाजन के उदाहरण के लिए हम यों कह सकते है कि एक परिवार ने कच्चा माल एकत्रित करने का कार्य किया। दूसरे ने निर्माण-कार्य में सहायता की। तीसरे ने कच्चा माल खेत से कारीगर के निवासस्थान और निर्माण के वाद हाट तक पहुँचाने का कार्य किया। चौथे ने धन से सहायता की। पाँचवें ने निर्माण के औजार वनाने का भार ग्रहण किया। छठे ने नाना प्रकार के कार्य करनेवालों को सामूहिक रूप में कार्य में लगाया, और सातवें ने वने हुए पदार्थो की विक्री की। विक्री से प्राप्त धन में सव परिवारो ने मेहनत के अनुसार अपना-अपना भाग पाया। इस प्रकार के संगठन को 'साझेदारी का संगठन' कहते है।

दूसरा सहयोग यह हुआ कि एक ही पदार्थ के वनाने में एक-एक कारीगर ने उस वस्तु का केवल एक-एक भाग तैयार किया और फिर उन भिन्न भागों को मिलाने से वह संपूर्ण पदार्थ वना, जो हाट में विक सकता था। उदाहरण के लिए कपडे का उत्पादन ही ले लीजिए। जव रुई आई तो पहले धुनकिये ने उसे साफ किया। धुनकी हुई रुई कत्तिनों के पास भेजी गई। उन्होंने उसे सूत के रूप में परिवर्तित किया। फिर यह कता हुआ सूत जुलाहों के पास गया।

वहाँ वह लच्छी के रूप मे खोलकर फैलाया गया। ताना-बाना तैयार हुआ। वै बनाई गई। पौडी भरी गई और जुलाहे ने कपडा बुना। फिर कपड़े की धुलाई और कही-कही रँगाई भी की गई। इसके बाद कपड़ा हाट में गया और पहनने के वस्त्र बनाने के कार्य मे आया। इसी प्रकार हर कार्य को भागो में बाँटा गया और बहुत-से मनुष्यों के सहयोग से एक पदार्थ का निर्माण हुआ।

यंत्र-युग का आविर्भाव :: पूँजीवाद का विकास

पहली अवस्था में कारीगर अथवा मजदूर सबसे आवश्यक था। उसके बिना कार्य नहीं चल सकता था। इसमें एक भारी रुकावट यह थी कि पदार्थ की संख्या मनुष्य के हाथ द्वारा कार्य करने की शक्ति तक सीमित थी, और आवश्यकता पड़ने पर उत्पादन की मात्रा अधिक नही बढ सकती थी। इस कठिनाई को मिटाने के लिए मनुष्य ने औजारों से काम लिया, जिनका अन्तिम स्वरूप आजकल की मशीनें हैं।

इसमें सन्देह नही कि औजार तथा मशीन की सहायता से कार्यकुशलता तथा उत्पादन-गति बहुत बढ़ गई है। ठीक एक जैसी हजारों चीजें कुछ ही घण्टों मे बनने लगी हैं। मनुष्य का परिश्रम भी बहुत घट गया है। आजकल तो मशीनें इतनी अद्भुत प्रकार की बनने लगी हैं कि वे स्वयं ही उत्पादन का संपूर्ण कार्य करती हैं। कारीगर केवल कच्चा माल मशीन में भर देता है और बना हुआ माल उठाकर दूकान को ले जाता है। तीसरी बात यह हुई कि भारी परिश्रम का कार्य (जैसे लोहे की भारी चीजो का निर्माण) और अत्यन्त निपुणता के कार्य (जैसे घड़ी इत्यादि को बनाना) बड़ी सुगमता और कुशलता से होने लगे। इस तरह समाज की औद्योगिक उन्नति हुई। नये-नये पदार्थ बनने लगे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि कारीगर (मजदूर) का महत्व उत्पादन में घट गया। वह केवल मशीन चलानेवाला रह गया। कार्य-निपुणता का मूल्य भी घट गया और बेकारी बढने लगी। मशीन का महत्व बढ़ने से संचालन का कार्य कारीगर के हाथ से निकलकर पूँजीपति के हाथ में चला गया, जो कारखाने का मालिक है।

मजदूर संचालक होने के बदले अब वेतन पर काम करने लगे। उनके भाग का भारी अंश उस धन के सूद के रूप में जाने लगा, जिसके द्वारा बड़ी-बड़ी मशीने खरीदी गई थी, क्योंकि अब उत्पादन में दो चीजे सहयोग देती थी—मजदूर और मशीन। मजदूर का भाग वेतन कहलाया और मशीन का भाग दो रूप मे रक्खा गया—एक तो मशीन के मूल्य का सूद और दूसरा मशीन की टूट-फूट और घिसने का खर्च। इसके साथ-साथ एक तीसरा भाग उन व्यक्तियों का समझा गया, जो पदार्थ के उत्पादन के समय से बिक्री के समय तक के लिए अपना धन देते थे। उत्पादन के प्रारम्भ होने के पूर्व कच्चा माल तथा मशीने खरीदने के लिए धन आवश्यक है। फिर कारखाने के प्रतिदिन के खर्च के लिए भी धन की आवश्यकता होती है, जैसे मजदूर को नियमित समय पर वेतन देना, सरकारी कर देना, बिजली का मूल्य चुकाना, कच्चा माल लाने का भाड़ा देना इत्यादि। इसलिए अब पूँजीपति की आवश्यकता हुई, जो अपना धन लगा सके। कारखाने द्वारा उत्पादन में स्वभावतः पूँजीपति की महिमा बढ़ गई, क्योंकि अब कारीगर की जगह पूँजीपति ही उद्योग-संचालन का कार्य करता था। इन पूँजीपतियों की दो शाखाएँ हुईं। एक तो वे जो केवल धन देकर सूद लेते है ; इन्हें महाजन कहते है। इनकी तुलना साधारण बैंक से की जा सकती है।

दूसरा दल उन पूँजीपतियों का है, जो अपना रुपया उद्योग मे लगाते है और सूद न लेकर मुनाफा लेते है, जो प्राय. सूद से ज्यादा होता है। इनके मुनाफा लेने का कारण यह है कि ये उद्योग के जोखम को भी सहन करते हैं। हो सकता है कि कारखाने को हानि हो। ऐसी अवस्था में हानि का भार इन्ही पूँजीपतियों पर पड़ता है, इन्हे हिस्सेदार कहते हैं।

जब तक उद्योग-क्षेत्र सीमित था और उत्पादन-कार्य, एक अथवा कई परिवार करते थे, तब तक थोड़े-से ही धन की आवश्यकता होती थी और उतना धन एक अथवा कई परिवारों की पूँजी से पूरा हो सकता था। परन्तु उद्योग का विस्तार बढ़ने से एक-एक कारखाने के लिए अगाध धन-राशि की आवश्यकता पड़ने लगी। इतना धन एक व्यक्ति, परिवार अथवा कुछ व्यक्ति एकत्रित करने में असमर्थ थे। इसलिए जनसाधारण से थोड़ा-थोड़ा धन लेने की युक्ति सोची गई। इस युक्ति में कारखाना खोलने के पहले समाचार-पत्रों द्वारा जनसाधारण को सूचना दी जाती है और छोटे-छोटे भागों मे उन्हें रुपया लगाने के लिए निमंत्रित किया जाता है। इसे 'संयुक्त पूंजी का सिद्धान्त' कहते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ और कारखाने आजकल इसी युक्ति के आधार पर खुलते हैं। अब उद्योग केवल पूँजीपतियो के हाथ में आ गया। इतने बड़े धन का प्रबन्ध करना, और कारखाने के संचालन का निरीक्षण का कार्य अब बहुत महत्वपूर्ण हो गया और कुछ मनुष्यों ने केवल संचालन तथा निरीक्षण के कार्य में निपुणता प्राप्त करने की चेष्टा की। कहीं-कहीं ये

धन का भी प्रबन्ध करने लगे। इन्हें 'संचालक' (Managing Agents) कहते हैं। इस प्रकार उद्योग-संचालन में अब चार मुख्य कर्त्तव्य हुए—कच्चा माल लाना, निर्माण-कार्य (मजदूर द्वारा), धन तथा मशीनों का प्रबन्ध (पूंजीपति द्वारा) और संचालन-कार्य। जैसे-जैसे उद्योग का विस्तार बढ़ता गया, क्रम से नये कर्त्तव्य महत्व पाते गये। यहाँ तक कि आज संचालक और उसके बाद पूँजीपति उद्योग के विशेष अंग हैं।

कारखानों से उत्पन्न कुचक्र

हम पहले कह चुके हैं कि पदार्थ की माँग बढ़ने से उद्योग का विस्तार बढ़ा और अधिक मात्रा में पदार्थ पैदा किये गये। इस विस्तार का एक कारण "मशीन" भी है। मशीन के मूल्य का सूद तभी निकल सकता है, जब पदार्थ बहुत बड़े परिमाण में बनाए जाएँ। जनसाधारण तो पदार्थ का मूल्य अपनी मोल लेने की शक्ति तथा आवश्यकता के अनुसार ही देंगे। इसलिए मशीन के रूप में लगे धन का सूद निकालने के लिए पदार्थ का मूल्य तो बढ़ाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसमें पदार्थ न बिकने का भारी भय है। अतएव दूसरा उपाय यही है कि उत्पादन इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि उस पर सूद का भार कम से कम हो जाय और पदार्थ का मूल्य न बढ़े। उदाहरण के लिए यदि मशीन का मूल्य १० लाख रुपया है, तो मासिक सूद ३) प्रतिवर्ष प्रतिशत की दर से २५००) हुआ। यदि २५०० पदार्थ बनाए जायँ, तो एक रुपया सूद जोड़कर पदार्थ का मूल्य १) बढ़ जायगा। इसको घटाने के लिए २५०० के बजाय ४०,००० पदार्थ बनाने की चेष्टा की जाती है, जिसमें सूद का भार प्रति पदार्थ केवल -) रह जाय और पदार्थ की बिक्री मे कोई कमी न हो। एक बात और भी है। मशीन द्वारा उत्पादन की विशेषता यह है कि जितना अधिक उत्पादन होगा, उतना ही पदार्थ का मूल्य भी कम होता जायगा। अधिक पदार्थ बनाने पर यह आवश्यकता होती है कि बिक्री बढ़ाई जाय। उसके लिए पदार्थ के मूल्य को घटाना पड़ता है, जिसमे कम पैसेवाले भी उक्त पदार्थ को मोल ले सकें। मूल्य घटाने के लिए मशीन से अधिकाधिक काम लेना पड़ता है, जिससे मजदूर की बेकारी दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है। यह कुचक्र इस प्रकार है—अधिक धन पैदा करने के लिए मशीन मँगाई। फलस्वरूप मजदूर बेकार हुए, अर्थात् समाज की पदार्थ मोल लेने की शक्ति मजदूरी की मात्रा भर घट गई। इसके फलस्वरूप पदार्थ सस्ते हुए। परन्तु घटाए मूल्य पर भी वे बिक नहीं सकते। उन्हें और अधिक सस्ता करन के लिए और मशीन लगाई। फलतः बेकारी और बढ़ी। जब एक देश में पदार्थ नही बिक सके, तब उनके लिए दूसरे देश मे हाट पैदा करने की चिन्ता हुई। साथ-ही-साथ अधिक पदार्थ बनाने के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता हुई। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग की योजनाएँ बनी। अब एक देश से कच्चा माल लिया, अपने देश में मशीन द्वारा उससे कम मूल्य पर पदार्थ बनाए, और संसार के देशों में उन्हें बेचने की चेष्टा की। इस प्रकार के औद्योगिक संगठन को 'पूँजीवाद' कहते हैं। इसमे केवल कुछ पूँजीपति धनी हो जाते हैं और मजदूरों की बड़ी संख्या बेकार होती जाती है, जिससे जनसाधारण में निर्धनता बढ़ती है। इस तरह एक देश के रहनेवाले दो भागों में विभाजित हो जाते हैं—पूँजीपति और श्रमजीवी दल।

'पूँजीवादी साम्राज्यवाद'

यदि इस प्रकार का पूँजीवादी आर्थिक संगठन संसार के केवल एक देश मे हुआ और बाकी सब देश उद्योग-उन्नति की नीची श्रेणी ही में रहे, तब तो विशेष आपत्ति नहीं आती। अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक, जब इङ्गलैंड पूँजीवादी संगठन द्वारा उद्योग में संलग्न था और दूसरे देश कच्चा माल बेचकर इङ्गलैंड के कारखानों का बना हुआ माल मोल लेते थे, यही दशा रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवी शताब्दी के आरंभ से संसार के कई देश इसी ढग पर औद्योगिक उत्पादन करने लगे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कच्चा माल पैदा करनेवाले देश तथा कारखानों का बनाया हुआ सामान मोल लेनेवाले देशों को अपने वश में करने की चेष्टा प्रत्येक पूँजीपति देश कर रहा है। कहीं-कहीं मित्रता द्वारा वश में किया जाता है, कहीं समझौते के बल पर, और ये दो उपाय न चलने पर शस्त्रबल का उपाय भी निर्भय होकर किया जाता है। इसको कहते हैं 'पूँजीवादी साम्राज्य-वाद'। इस शताब्दी के महायुद्धों के कारण की तह में यही आर्थिक संगठन और कच्चा माल पैदा करनेवाले उपनिवेश हैं, जहाँ शासक देश का बना हुआ माल बिकता है। इस प्रकार मनुष्य ने आर्थिक संगठन को एक व्यक्ति से प्रारम्भ करके संसारव्यापी पूँजीवादी संगठन तक पहुँचाया है। आर्थिक संगठन की यह चरम सीमा है। परन्तु स्वदोष के कारण इस प्रकार के संगठन में आन्तरिक क्षीणता के चिह्न दिखाई देते रहे हैं, जो भीतर-ही-भीतर इसके खोखला होते जाने और एक नवीन रूप ग्रहण करने की सूचना दे रहे हैं।
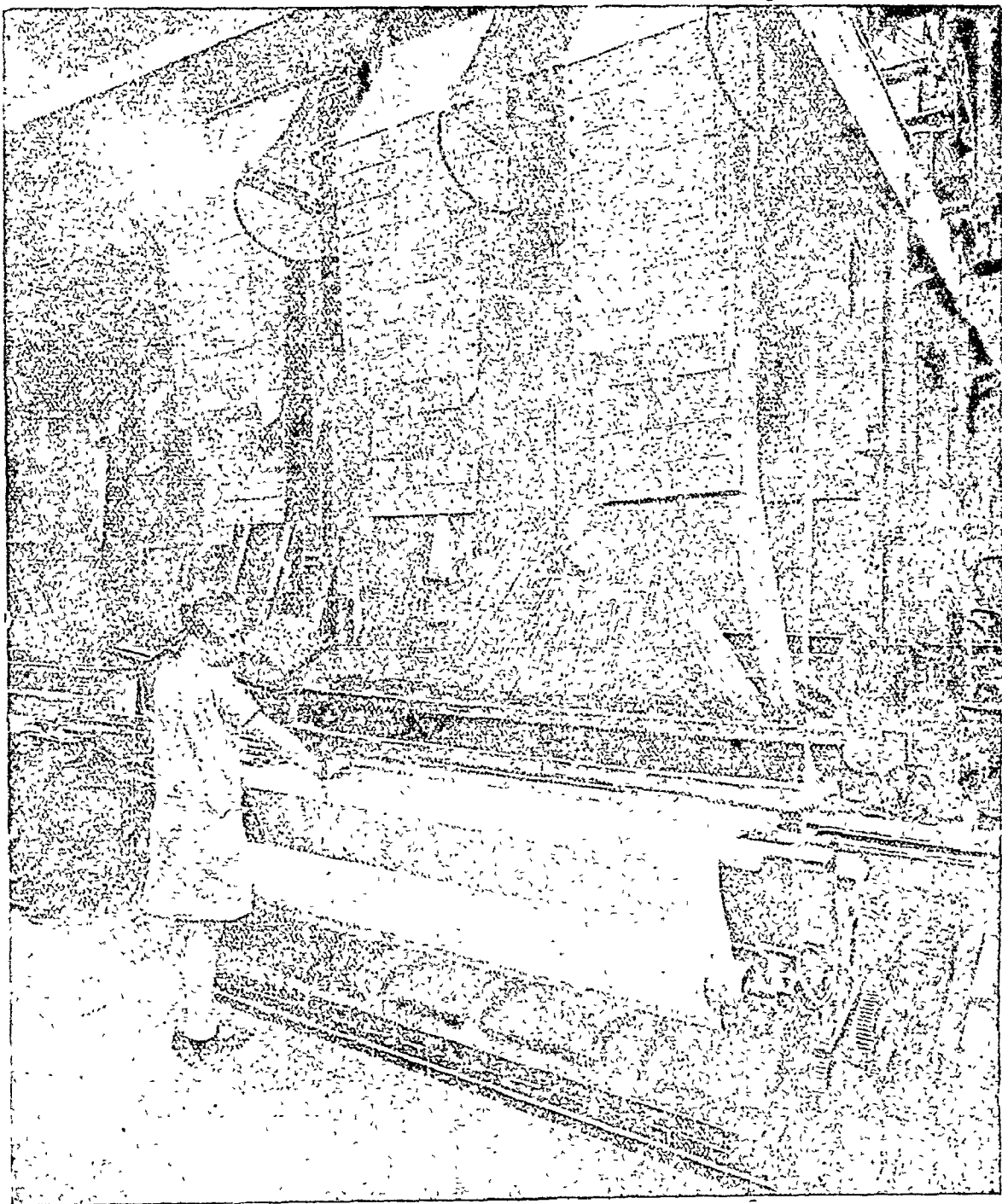
पुतलीघर का आधुनिक करघा या बुनने का यंत्र !

इस प्रकार की बुनने की सैकड़ों पेचीदा मशीनें मिलों में लगी रहती हैं और उन पर तेजी से सैकड़ों फीट लम्बा कपड़े का थान बुनता हुआ बेलनों पर लिपटता जाता है। इन मशीनों पर जिस-जिस डिजाइन का ताना-बाना तैयार करके लगा दिया जाता है, उसी डिजाइन का कपड़ा बनता चला जाता है।
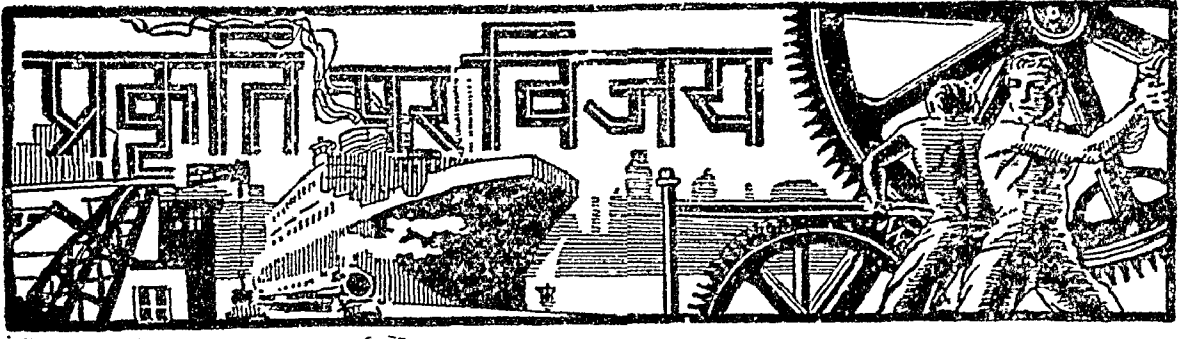
चरखे और करघे से पुतलीघर तक

सूती वस्त्र-निर्माण की कहानी

कपड़ा बुनने की कला कदाचित् उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानवीय सभ्यता। सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक दिनों में ही विभिन्न देशों के लोगो ने करघे पर कपड़ा बुनना सीख लिया था। सुन्दर आकृति के वस्त्रो के निर्माण मे उन्होंने सौंदर्य और कला का प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में किया था। उस सुदूर अतीत से लेकर आज तक सामाजिक वाह्याडंबर का प्रदर्शन वस्त्रों की श्रेष्ठता द्वारा ही किया गया है। मिस्र के स्तूपों में से प्राप्त मोमियाइयो (सुरक्षित शवों) पर लिपटे हुए वस्त्रों को देखकर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि आज से ३००० वर्ष पूर्व का मिस्र-निवासी कपड़ा बुनने की कला में कितना सिद्धहस्त था! इन परिधानो में सन के रेशे प्रचुरता से काम में लाए गए थे। किन्तु ये इतनी अच्छी तरह से बुने गए थे कि ३००० वर्ष उपरान्त भी वे पहले जैसे ही मुलायम और सुन्दर बने रहे, उनका रंग और उनकी चमक इतने दिनों उपरान्त भी जैसी की तैसी बनी रही! विशेषज्ञों की धारणा है कि इस यंत्र-युग के वावजूद भी आधुनिक काल के बुने हुए कपड़े कला की दृष्टि से प्राचीन मिस्र के कपड़ों की तुलना में टिक नही सकते!

आइए, देखें किस प्रकार एक के उपरान्त दूसरे आविष्कारको ने चरखे और करघे को शनैः-शनैः सुधारकर उन्हें दानवाकार मशीन का रूप दे डाला। इन मशीनों के विकासक्रम को समझने के पूर्व हमें चरखे और करघे का ही कुछ अध्ययन करना होगा। भला कौन भारतवासी ऐसा होगा, जिसके लिए आज दिन 'चरखा' एक अपरिचित वस्तु हो! जब से गाधीजी ने खादी का आंदोलन उठाया है और हाथ की कताई-बुनाई पर महत्व दिया है, तब से 'चरखा' मानों इस देश की राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया है—यहाँ तक कि हमारी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के झंडे पर भी उसने स्थान पा लिया है, उस पर उसकी तस्वीर बनी रहती है। चरखा लकड़ी का एक अत्यंत सरल यंत्र होता है, जिसमें एक ओर एक तकुआ रहता है, जो एक घूमनेवाली डोरी के द्वारा एक पहिए से सम्बन्धित रहता है। जब पहिया जोर से घुमाया जाता है तो तकुआ भी घूमने लगता है और तकुए के कई चक्कर लग जाते हैं। इस तकुए पर रुई की पूनी का सिरा लगाकर दूसरे हाथ से हल्के-हल्के उसे खींचते हुए सूत काता जाता है। इसका सिद्धान्त वही है, जो तकली का है।

खेतों में कपास की विनाई का दृश्य। इसी कपास से प्राप्त होनेवाली रुई पर सूती वस्त्र-निर्माण निर्भर है।

बुनने का सबसे सरल यंत्र हमारे जुलाहो का करघा है। वैसे तो

पहनने के लिए परिधान सलाइयों की सहायता से सूत में फन्दे डालकर भी वनाए जा सकते हैं। क्रोशिया या सलाइयों की सहायता से वनिआइनें और स्वेटर आदि वुने ही जाते हैं किन्तु कपड़े के वुनने में एक नियमित रूप से आड़े और खड़े सूत क्रम से एक-दूसरे के नीचे विठाए जाते हैं। लम्वाई के सूत 'ताना' कहलाते हैं और आड़े सूत 'वाना'। देहात का एक साधारण वढई भी लकडी के टुकड़ो से आसानी से करघा तैयार का लेता है। ताने के सूत एक कतार मे सजा दिए जाते हैं—सामने के वेलन में ये सूत व्यवस्थापूर्वक लपेट दिये जाते हैं। करघे के चौखटे मे ऊपर दो डण्डे लगे रहते हैं—ये डण्डे नीचे के दो डण्डों से सम्वद्ध होते हैं, ताकि पैरो से उस 'ट्रेडिल' को दवाने पर डन्डे वारी-वारी से ऊपर उठ सके। ऊपर-नीचे के डण्डों में मजवूत धागे वँधे रहते हैं। दोनों जोड़े डण्डों के धागों की कुल संख्या ताना के धागो की संख्या के वरावर होती है। प्रत्येक धागे में एक नन्हा-सा गोल फन्दा लगा होता है, जिसमें से होकर ताने के धागे गुजरते हैं। इस तरह के किनारे से ताने का पहला धागा डण्डे के एक जोड़े के पहले धागे के फन्दे मे से गुजरता है तो ताने का दूसरा धागा दूसरे जोड़े डण्डे के पहले धागे में से, फिर तीसरा धागा पहले जोड़े के धागे के फन्दे मे से। इस प्रकार ताने के आधे धागे एक जोड़े डण्डे से सम्वद्ध हो जाते हैं और आधे दूसरे जोड़े डण्डे से। ट्रेडिल दवाने पर ताने के आधे धागे नीचे को हो जाते हैं और आधे ऊपर को उठ जाते हैं। अव इन दोनों के वीच से ढरकी को गुजारते हुए दाहिने से वायीं ओर को फेंकते हैं। इस प्रकार वह वाने का धागा विठा देती है। ट्रेडिल को फिर दवाने पर ताने के आधे धागे जो पहले नीचे थे, ऊपर हो जाते हैं और ऊपरवाले नीचे चले जाते हैं। अव ढरकी को वायें से दाहिनी ओर को फेंका जाता है और वाने का धागा ताने के साथ फिर वुन जाता है।

हमारे देश में सूत कातने का सवसे सरल यंत्र—तकली।

इस प्रकार के करघे हमारे देहातो में खूब काम में लाए जाते है, किन्तु वड़े पैमाने पर कपडा तैयार करने के लिए केवल करघे से ही काम नही चल सकता। उत्पादन वढ़ाने के लिए मशीनो का उपयोग अनिवार्य था। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय इँगलैंड के लंकाशायर के एक अनपढ व्यक्ति जेम्स हारग्रीव्ज को प्राप्त है। हारग्रीव्ज का जन्म एक गरीव घराने में १७४५ ई० में हुआ था। वड़ा होने पर यह भी अपने पैतृक व्यवसाय जुलाहे के काम में लग गया। घर पर उसकी स्त्री चरखे पर सूत कातती और उसे लेकर वह कारखाने में वुननेवालों के पास पहुँचा आता। ऐसा कहा जाता है कि एक दिन जव वह कारखाने जाने के लिए तैयार हुआ, तो उसने
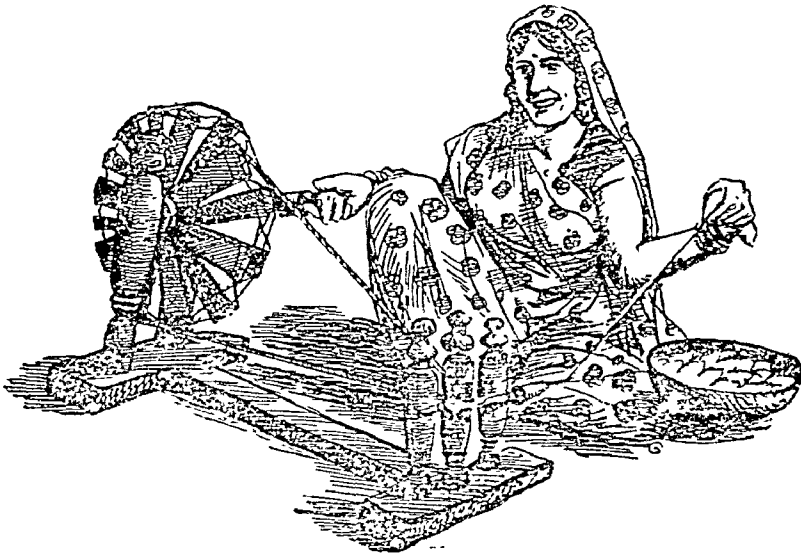
भारतीय चरखा, जिस पर मिलों के आविर्भाव के पहले हमारे वस्त्र-उत्पादन की सारी नींव प्रस्थापित थी।

देखा कि अभी पर्याप्त मात्रा में सूत तैयार ही नहीं हुआ। क्रोध में आकार उसने चरखे को पैर से ठोकर लगाई। उसने आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा कि लुढक जाने पर भी चरखे का पहिया घूम रहा था और तकुए पर सूत कतता चला जा रहा था। अचानक उसे सूझा कि एक ही पहिए के घुमाने से यदि कई तकुए चलाए जा सकें तो निस्संदेह सूत की निकासी कई गुना बढ़ जायगी। अतएव पड़ोसियों की दृष्टि बचाकर उसने छिप-छिपकर नए ढंग के सूत कातने की मशीन कुछ ही दिनों में तैयार कर ली। इस मशीन में एक ही पहिए के घूमने से आठ तकुओं पर सूत लिपटते थे, हारग्रीव्ज और उसकी पत्नी ने अपने इस नए यंत्र 'स्पिनिंग जेनी' के बारे में किसी से एक शब्द भी न कहा। चुपके-चुपके सूत कातकर ये उनसे स्वयं ही कपड़ा बुन लेते या जुलाहों के पास उसे बेच आते। पड़ोसियों ने सोचा कि हारग्रीव्ज दम्पति अकेले इतनी अधिक मात्रा में सूत तैयार कर लेते है, तो इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य होगा। उनकी बढ़ती हुई आय को देखकर पास-पड़ोस के जुलाहे ईर्ष्या से जलने लगे। यह ईर्ष्या यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने कस्बे के अन्य निवासियों को भी उनके खिलाफ भड़काया। आखिर एक दिन आस-पास के लगभग ५००० व्यक्तियों ने हारग्रीव्ज के घर पर धावा बोल दिया और उसकी 'स्पिनिंग जेनी' की धज्जियाँ उड़ा दीं, साथ ही उन लोगों ने उस बेचारे के घर का अन्य सामान भी तोड़-फोड़ डाला।

पड़ोसियों की कोप-दृष्टि से बचने के लिए हारग्रीव्ज दम्पति को कस्बा छोड़कर नाटिंघम भागना पड़ा। नाटिंघम में हारग्रीव्ज टामस जेम्स नामक एक व्यक्ति के सम्पर्क में आया। जेम्स के पास कुछ थोड़ी पूंजी भी थी। इसी पूंजी से दोनों ने मिलकर 'स्पिनिंग जेनी' की मशीन तैयार करनी शुरू की और धीरे-धीरे सभी जगह सूत कातन के लिए इस मशीन का प्रयोग लोगों ने करना शुरू कर दिया।

सूत कातने की मशीन के विकास में सर रिचार्ड आर्कराइट का नाम भी विशेष महत्व रखता है। आर्कराइट को तो हारग्रीव्ज से भी अधिक यातना अपने आविष्कार के कारण भोगनी पड़ी थी। उसका जन्म प्रेस्टन नगर में १७३२ ई० में एक गरीब घर में हुआ था। अपने पिता की वह तेरहवीं सन्तान था, अतः आर्कराइट तथा उसके भाई-बहनों की शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। कुमारावस्था में ही अपनी जीविका के लिए उसे नाई का पेशा अपनाना पड़ा। लङ्काशायर में घर-घर वह हजामत बनाने के लिए फेरी लगाता। धीरे-धीरे लङ्काशायर के जुलाहों के करबे से वह भली भाँति परिचित हो गया। उन दिनों रुई से कते हुए सूत इतने मजबूत नहीं हुआ करते थे कि उनसे ताने का काम लिया जा सके, अतः ताना डालने के लिए 'लिनन' का सूत काम में लाया जाता। किन्तु 'लिनन' आयरलैण्ड से मँगाना पडता—अतः यह महँगा तो पड़ता ही, साथ ही यातायात के साधनों की कमी के कारण प्रायः उसके पहुँचने में देर भी हो जाती। ऐसी दशा में लङ्काशायर के कारीगर बेकार बैठे रहते। अक्सर आर्कराइट जब फेरी पर जाता तो लोग उसे वापस लौटा देते कि खाने के लिए पैसे नहीं हैं तो बाल कटाने के लिए कौन खर्च करेगा! आर्कराइट ने कुछ तो अपने स्वार्थ के लिए कि उसका काम न रुकने पाए, और कुछ इस उद्देश्य से कि वह अपने पड़ोसियों की आर्थिक स्थिति को सुधार सके, सोचना शुरू किया कि किस प्रकार सूत कातने की मशीन में सुधार किया जाय कि रुई के सूत भी इतने मजबूत कत सके कि उनसे ताने का काम लिया जा सके। इसी उधेड़बुन में वह लगा हुआ था कि एक दिन वह एक लोहे के कारखाने में गया। उसने बेलनों के बीच में लोहे के तार को खिंचते हुए देखा। तुरन्त ही उसने सोचा कि 'क्या रुई की पूनियों से सूत खींचने के लिए बेलनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता?'

बड़ी मशीनों के आविर्भाव के पहले इंगलैण्ड में इसी पुराने चरखे पर सूत काता जाता था।

इस नई सूझ के नशे में वह हज्जाम के पेशे को छोड़कर अनुसन्धान में जुट गया और उसने दृढ़ संकल्प किया कि सूत कातने की मशीन में क्रान्तिकारी सुधार करके ही रहूँगा। इस सिलसिले में उसने ७५

सभी प्रयोग घर के अन्दर तहखाने के भीतर किए थे, क्योंकि वह भली भाँति जानता था कि लोगों को उसके इरादे का यदि पता लग गया तो उसकी मशीन और स्वयं उसकी भी खैर नहीं। बेचारा रात को ही अपने प्रयोग करता। एक दिन उसकी मशीन की घर्राहट की आवाज पड़ोस के दो वुड्ढो के कान मे पड़ी तो उन्होंने दरवाजे की भिरी मे भांककर देखा कि आखिर बात क्या है। दूसरे ही दिन तमाम कस्वे में उन्होंने खबर फैला दी कि रात को आर्करा इट शैतान का आवाहन करता है और शैतान के बाजे की धुन पर वह स्वयं नृत्य करता है।

किन्तु आर्कराइट अपने पड़ोसियों की अशुभ कामनाओं से निरुत्साहित नहीं हुआ। अन्त में १७७५ ई० में उसने सूत कातने की अपनी नई मशीन का पेटेन्ट करा ही लिया। यह मशीन पूनी वनाने से लेकर मजबूत सूत कातने तक सभी काम कर लेती थी। साथ ही इससे कते हुए सूत इस योग्य होते कि वे ताने पर भी लगाए जा सकें। प्रेस्टन के निकट ही उसने अपनी फैक्टरी खडी की थी, पर उसे अपनी ही आँखों के सामने उपद्रवियों द्वारा विनष्ट होते भी उसे देखना पड़ा। किन्तु आर्कराइट साहस खोना जानता ही न था। अन्याय के विरुद्ध वर्षो तक वह लड़ता रहा और अन्त में उसने अपने विरोधियों को नीचा दिखाया। पचास वर्ष की अवस्था में उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की; धन-मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में भी वह सफल हुआ और अन्त में गवर्नमेन्ट ने उसे 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

वस्त्र-व्यवसाय के विकास के इतिहास में सैमुएल क्राम्पटन का नाम भी अमर रहेगा। क्राम्पटन का जन्म १७५३ ई० में वोल्टन नगर में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उसे भी पेट पालने के धन्धे मे लग जाना पडा। दिन को घर के अन्य लोगों के साथ वह सूत कातने की फैक्टरी में काम करता। फैक्टरी मे उसने देखा कि कातते समय सूत बार-बार टूट जाया करता था। उसने सोचा कि यदि ऐसी मशीन तैयार हो सके कि उससे कातने पर सूत टूटे नही तो समय की भारी बचत होगी। फिर तो रात को घर पर जब सब लोग सो जाते तब वह तरह-तरह के प्रयोग करने मे जुट जाता

कपड़ा बुनने का सबसे सरल यंत्र—एक ग्रामीण करघा!

यद्यपि हाथ से चलाए जानेवाले जुलाहों के बढ़िया करघों और पुतलीघर के करघों में इससे कहीं अधिक यांत्रिक पेचीदगी होती है, फिर भी उनकी बुनाई का सिद्धान्त वही है, जो इस सरल करघे का है!

ताकि कोई ऐसी मशीन तैयार की जाय जो प्रचुर मात्रा में तेज रफ्तार से सूत तैयार कर सके। अपने प्रयोगों के सिलसिले मे उसे भी हद दर्जे की सतर्कता से काम लेना पडता। अपनी मशीन के पुर्जो को अलग करके वह छत के अन्दर एक दराज मे छिपा दिया करता ताकि घर में आने-जानेवालो को उसकी मशीन के नारे में किसी तरह की खवर न लग सके। वह यह वात वखूवी जानता था कि पास-पडोस के लोगों को उसके इस नवीन प्रयास की यदि खवर लग गई तो न उसकी खैर और न उसकी मशीन की। पूरे पाँच साल के अनवरत परिश्रम के उपरान्त वह अपनी मशीन का निर्माण पूरा कर पाया। उसने सूत कातनेवाली इस नई मशीन का नाम 'म्यूल' (खच्चर) रखा, क्योंकि यह हारग्रीव्ज और आर्कराइट की मशीनों के मेल से तैयार की गई थी।

सूत कातनेवाली मशीन का आविष्कारक रिचार्ड आर्कराइट

वोल्टन के फैक्टरीवालों ने क्राम्पटन की मशीन को अपनी फैक्टरियो मे लगवाया, किन्तु पाँच वर्ष के अनुसन्धान और परिश्रम के उपरान्त अपने इस आविष्कार के लिए वेचारे क्राम्पटन को कुल ६० गिनी ही मिली! प्रत्येक फैक्टरीवाले ने एक गिनी अपनी ओर से क्राम्पटन को दी। इस प्रकार ६० फैक्टरियो से ये ६० गिनियाँ इकट्ठी हुईं थी। तमाम लङ्काशायर में कुछ ही दिनों के अन्दर क्राम्पटन की म्यूल मशीनें लग गईं। इसकी वजह से फैक्टरीवालों की आय वेहद वढी, किन्तु क्राम्पटन को एक पैसा भी वोल्टन के वाहर से कही नही मिला। अन्त में उसने गवर्नमेण्ट से अपील की कि उसकी आविष्कार की हुई मशीन ४० लाख से ऊपर की संख्या मे देश के विभिन्न स्थानो में काम में आ रही है जवकि हारग्रीव्ज और आर्कराइट की मशीनो की तादाद दो-तीन लाख से अधिक नही है—अत. उसे उसकी मेहनत के लिए पारिश्रमिक मिलना चाहिए। फलस्वरूप गवर्नमेण्ट की ओर से इस आविष्कार के लिए उसे ५००० पौंड का पुरस्कार मिला। किन्तु यह छोटी सी रकम उसे वृद्धावस्था में गरीबी से न वचा सकी। उन दिनो उस पर तरस खाकर वोल्टन के फैक्टरी-मालिकों ने अपनी ओर से चन्दा इकट्ठा करके १०० पौंड वार्पिक के हिसाव से उसे पेन्शन देने का इन्तजाम किया। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली आविष्कारक को, जिसके आविष्कार की वदौलत अनेक व्यक्ति लखपती हो गए, स्वयं वृद्धावस्था में दूसरों के दान पर आश्रित होना पडा!
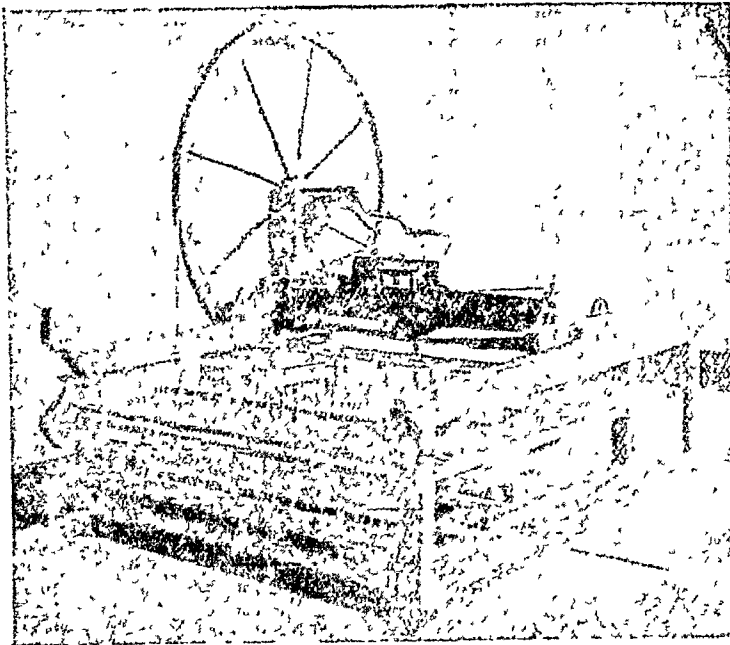
हारग्रीव्ज द्वारा आविष्कृत सूत कातने की मशीन—'स्पिनिंग जेनी'

यद्यपि सूत कातने की तरह-तरह की मशीनें अव तक तैयार हो चुकी थीं, किन्तु कपड़ा वुनने के लिए अभी हाथ के ही करघे काम में लाए जाते थे। नाटिंघम के एक

कपास में से विनौला अलग निकालने की मशीन। विनौला-रहित कपास ही रुई कहलाता है।

युवक पादरी एडमण्ड कार्टराइट ने सोचा कि कपड़ा बुनने के लिए भी मशीन का ही प्रयोग क्यों न किया जाय। उसने जब अपना विचार वस्त्र-व्यवसाइयो के सामने प्रकट किया तो उन लोगों ने उत्तर दिया कि ऐसी मशीन का बनाना असम्भव है। किन्तु कार्टराइट ने अपनी धुन नही छोड़ी और अन्त में उसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया।

गिर्जाघर के इस पादरी को करघे के पुर्जो का ठीक ज्ञान भी प्राप्त न था। अतः अपने अवकाश के समय वह फैक्टरियो मे जाकर गौर से देखता कि करघे किस तरह चलाये जाते है। आखिर अपनी सारी पूंजी लगाकर कार्ट-राइट ने कपड़ा बुनने की मशीन तैयार कर ही डाली—और अपनी इस मशीन के परिचालन के लिए उसने एक छोटा भाप का इंजिन भी बनाया। उसकी मशीन की उपयोगिता तत्काल ही सिद्ध हुई और तुरन्त ही मैन्चेस्टर की फैक्टरियों से उसे इस ढंग की ४०० मशीनों का आर्डर मिला। किन्तु तत्कालीन जुलाहो ने कार्टराइट की मशीन का घोर विरोध किया, यहाँ तक कि कार्टराइट के कारखाने पर, जिसमें ये मशीनें तैयार की जा रही थीं, उन्होंने धावा बोलकर उसे फूंक दिया। किन्तु कुछ दिनों उपरान्त अन्य आविष्कारों की भांति कार्टराइट की मशीन को भी धीरे-धीरे सभी लोगो ने अपनाया और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने कार्टराइट को उसके परिश्रम और आर्थिक व्यय के लिए १० हजार पौण्ड का पुरस्कार भी दिया।

बुनने और कातने की मशीनो की कार्यक्षमता के बेहद बढ़ जाने से कपास बोनेवाले किसानों के सामने एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। उनके मजदूर औटे हुए कपास से इतनी जल्दी विनौले अलग नहीं कर पाते थे कि फैक्टरियो की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए वे

कपास में से रुई को निकालकर इसी प्रकार की गाँठों में कस दिया जाता है। यही गाँठें पुतलीघरों में भेजी जाती है।

साफ की हुई रुई समय पर सप्लाई कर सकें। आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है, अतः इस मुश्किल को हल करने के उद्योग में बिनौला साफ करने की 'जिनिङ्ग मशीन' का जन्म हुआ। इस मशीन की सहायता से अकेला एक व्यक्ति दिन भर में ५०० सेर रुई में से बिनौला अलग कर सकता है।

अब आइए, देखें पुतलीघर में विभिन्न मशीनें किस प्रकार रुई साफ करके उसे धुनती हैं, उसकी पूनी बनाती हैं, उन्हें सूत में कातती हैं और फिर ताना-बाना डालकर उनसे भाँति-भाँति के वस्त्र तैयार कर लेती हैं।

पहले पुतलीघरों में खूब कसकर बँधी हुई रुई की गाँठें मालगोदाम से ले आई जाती हैं। गाँठों में से रुई काम में लाने के पूर्व उसमें से दो मुट्ठी रुई निकालकर विशेषज्ञ उसकी भलीभाँति जाँच करते हैं कि रुई के रेशे किस श्रेणी के हैं। जाँच करते समय विशेषज्ञ रुई को दोनों हाथों से पकड़कर उसे एक विशेष अन्दाज से खींचता है। फिर उसमें से थोड़ी रुई लेकर वह दोनों अँगूठों से उसके रेशे को खींचकर देखता है कि उसके रेशे औसत रूप से कितने लम्बे हैं, क्योंकि रुई की श्रेष्ठता उसके रेशों की लम्बाई पर ही निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए पश्चिमी द्वीपसमूह की रुई संसार के अन्य देशों की रुई की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, क्योंकि इसके रेशे की लम्बाई २ इंच तक पहुँचती है। मिस्र की रुई में पौने दो इंच लम्बे रेशे होते हैं। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की रुई द्वितीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे एक इंच से लेकर सवा इंच तक लम्बे होते हैं। भारत की रुई जो अच्छी जाति की हुई तो उसके रेशे ⅞ इंच से लेकर १ इंच तक लम्बे होंगे। किन्तु अधिकांश भारतीय रुई तृतीय श्रेणी में आती है। इसके रेशे ½ इंच से लेकर ¾ इंच तक लम्बे होते हैं। रुई का वर्गीकरण उसके रेशों की इस लम्बाई के अनुसार ही किया जाता है। तभी यह निश्चय किया जा सकता है कि इससे कितना बारीक सूत काता जायगा।

तदुपरान्त गाँठ खोल ली जाती है और मजदूर उसे रुई साफ करनेवाली पहली मशीन पर ले जाते हैं। वहाँ हाथ से उठा-उठाकर रुई के ढेर को वे मशीन के हरकत करते हुए 'बेल्ट' पर डालते हैं। यह बेल्ट लकड़ी की तीलियों से बना होता है। मशीन के अन्दर एक बेलन घूमता रहता है, जिसमें लंबी-लंबी कीलें लगी रहती हैं। ये कीलें रुई की गाँठों को अच्छी तरह बिखेर कर रुई को खोल देती हैं। इससे रुई की गर्द अलग होकर नीचे गिर जाती है। तदुपरान्त रुई को दूसरी मशीन में डालते हैं। इस मशीन के बेलन में इतनी अधिक संख्या में कीलें लगी रहती हैं कि इसका नाम ही "साही" बेलन पड़ गया है, क्योंकि साही के काँटों की तरह इसकी कीलें भी अगणित होती हैं। इस मशीन में रुई के रेशे और भी खुल जाते हैं। अब इस मशीन में से निकलने पर एक चौड़े मुँह की नली द्वारा हवा की साँस के जोर से रुई खिंचकर तीसरी मशीन में पहुँचती है। इस मशीन का नाम 'ओपनर' है। यहाँ पर भी रुई साफ करने तथा उसके रेशों को खोलकर मुलायम करने की क्रिया जारी रहती है। तदुपरान्त रुई को दो-तीन और मशीनों में से
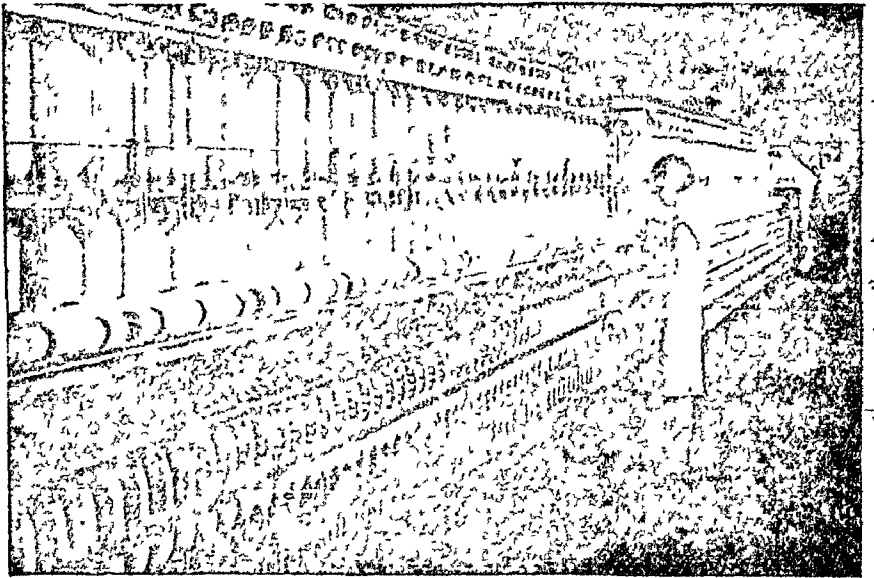
आधुनिक पुतलीघर में सूत कातनेवाली मशीनों का ताँता
यह अद्भुत मशीन केवल एक-दो श्रमिकों की ही देखरेख में एक निश्चित समय में उतना सूत कात सकती है, जिसे हाथ के चरखे पर कातने के लिए कम से कम ४००० कातनेवाले चाहिएँ।
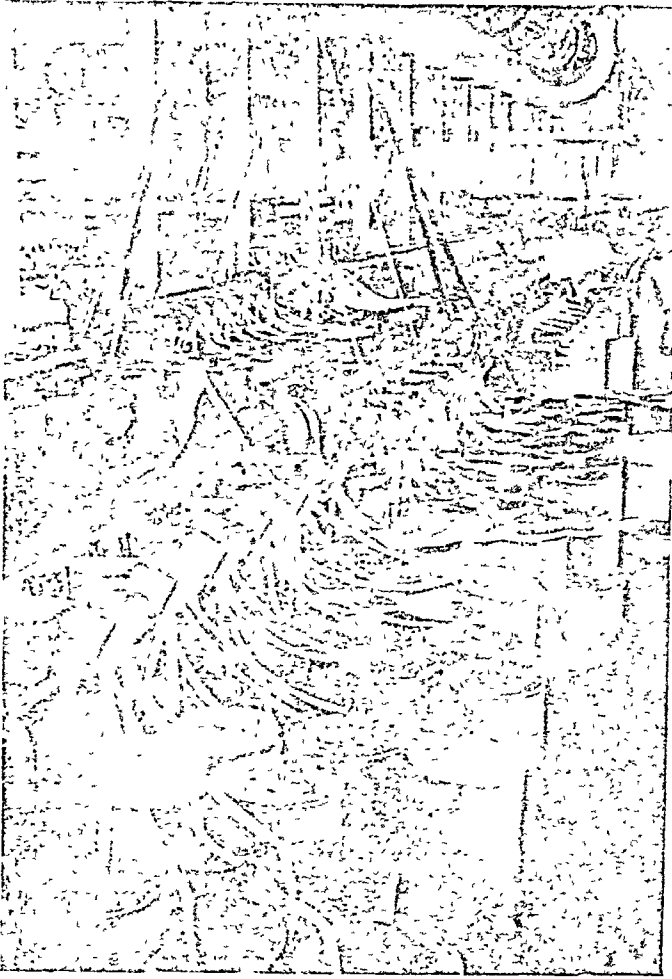
रुई की पूनियां बन जाने पर तब इस प्रकार मशीन द्वारा छः-छः पूनियों को एक लंबी पूनी के रूप में परिवर्त्तित किया जाता है। कभी-कभी यह क्रिया छः-सात वार दुहराई जाती है।

पूनी तैयार करनेवाली मशीन में एक खोखले ढोल के अन्दर वेलन तेजी से घूमता है। वेलन के धरातल पर वहुत-सी कीलें निकली रहती हैं। ढोल के भीतरी धरातल पर भी कीलें गड़ी रहती हैं। घूमते समय वेलन की कीलें ढोल की कीलो के वीच में से होकर गुजरती हैं। ढोल में धुनी हुई रुई जब पड़ती है तो वेलन की कीलें निरन्तर रुई के रेशों को कंघे की तरह एक ही दिशा में खींचती हैं। इस प्रकार रुई के सभी रेशे एक-दूसरे के समानान्तर हो जाते हैं। ऐसी ही दो-तीन मशीनों में से गुजरने के वाद मुलायम हुए रेशोंवाली इस रुई के गादे को एक ऐसी मशीन में से होकर जाना पड़ता है जो उसे खीचकर फुलफुली लम्वी पूनी का रूप देती है। यह पूनी लगभग १ इंच मोटी होती है। रेशे को समान वनाने के लिए ६-६ पूनियों को पुनः एक साथ मशीन में डालकर उनसे एक पूनी खींचते हैं। कभी-कभी तो यह क्रिया ६-७ वार दुहराई जाती है। इस क्रिया में मशीन पूनियों में ऐंठन भी डाल देती है। जितनी वार इस क्रिया की पुनरावृत्ति की जाय उतना ही वढ़िया सूत पूनी से प्राप्त होगा।

सूत कातनेवाली आधुनिक मशीनें अपना काम अत्यन्त फुर्ती के साथ करती हैं। इन मशीनों के प्रत्येक 'वाविन' (Bobbin) के सिरे पर धातु की एक गराड़ी लगी रहती है, जिसके

होकर गुजरना होता है और अन्त में वह लोहे के वेलनों के वीच से स्वच्छ रुई की तह के रूप में निकलती है। यह तह आध इंच मोटी और ४ फीट चौड़ी होती है। यह लम्वी तह वेलन के रूप में लपेट ली जाती है। किन्तु रुई साफ करने की क्रिया अभी भी पूर्ण नहीं हुई। रुई की तह का वेलन अव एक दूसरी मशीन में से होकर गुजरता है। यहां पर रेशे और भी मुलायम और साफ किये जाते हैं। फिर इस मशीन से भी रुई की तह वेलन के रूप में ही लिपट-कर वाहर निकलती है। इस तरह साफ और धुनी हुई रुई के वेलन ट्राली पर खड़े कर दिये जाते है और मजदूर उस ट्राली को लोहे की पटरियों पर ठेलकर कार्डिंग रूम (पूनीघर) में ले जाते हैं।

किनारे कुछ वाहर की ओर निकले हुए होते हैं। गराड़ी के किनारे पर एक नन्हा-सा छल्ला फिट किया रहता है। इस छल्ले का मुँह कटा रहता है ताकि उसके मुँह के दोनों होंठ गराडी के किनारे को पकड़े रहें। पूनी का धागा वाविन में लगने के पहले इसी छल्ले में से होकर गुजरता है। यह छल्ला गराड़ी के किनारे पर तेजी के साथ परिक्रमा लगाता है—एक मिनट मे लगभग ८००० वार। मशीन को देखने पर छल्ले हरकत करते हुए दिखलाई नहीं पड़ते, किन्तु हाथ लगाने पर छल्ले का घूमना मालूम पड़ता है। छल्ले के घूमने से धागे में ऐंठन पड़ती जाती है और पूनी में खिचाव भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार तेजी के साथ धागा कतता जाता है। पूनी

और छल्ले के बीच लगभग १० इंच की दूरी रहती है, जिससे निरन्तर १० इंच लम्बे धागे में ऐंठन पड़ती रहती है। इस प्रकार धागे में प्रति इंच ६४ ऐंठनें पडती हैं।

शुष्क प्रदेशों की मिलों में जिस कमरे में कताई की मशीनें चलती हैं, उस कमरे में वायु को आर्द्र रखने के लिए भाप की फुआर हवा मे छोड़ते रहते हैं, क्योंकि अधिक शुष्क वायु में बारीक धागे काते नही जा सकते।

धागों को कताई की मशीन से रीलों पर उतार लेने के बाद तुरन्त ही उन्हें बुनाई विभाग मे नही भेजते, क्योंकि रील पर से उतारने पर उनकी ऐंठन खुल जाती है। अतः बुनाई विभाग में भेजने के पहले या जुलाहों के हाथ बेचने के पूर्व सूत में एक नियत परिमाण मे नमी का प्रवेश कराया जाता है। कम-से-कम आठ प्रतिशत जल-वाष्प धागे के अन्दर मौजूद होनी चाहिए।

कताई की विशालकाय मशीनें यद्यपि तीव्र वेग से चलती है और हजारों धागे एक साथ ही काते जाते हैं, किन्तु यदि एक भी धागा कताई के सिलसिले में टूटा तो मशीन फौरन रुक जाती है। तब संचालक तुरन्त ही धागे को जोड़ता है और मशीन को फिर से चालू करता है। पिछले बेलन के ऊपर ही प्रत्येक धागे पर एक-एक दोमुँही सुई लटकती रहती है। जब तक धागे तने रहते हैं, ये सुइयाँ भी धागों पर समतुलित रहती हैं, किन्तु धागे के टूटते ही उसके ऊपर टँगी हुई सुई नीचे बेलन पर गिर जाती है। फलस्वरूप बेलन को एक हल्का-सा धक्का पहुँचता है। उस धक्के के जोर से वह एक लीवर परिचालित करता है, जो मशीन को गियर से हटाकर उसे रोक देता है।

अब बुनाई का काम शुरू हुआ। पर इसके पहले ताना के लिए धागे पर कलफ चढ़ाना होता है। इसके लिए साबूदाने और आटे के कलफ के गरम घोल में धागा डालकर बाहर निकाल लिया जाता है और उसे सुखाने के लिए ताँबे के खोखले बेलनो पर लपेटते हैं। इस बेलन के अन्दर निरतर गरम भाप भेजी जाती है, जो बेलन को ठीक इतना ही गरम रखती है कि धागे सूख तो जायें किन्तु वे जलने न पायें। बेलन पर से जब धागे उतारे जाते है तो वे एक डन्डे के ऊपर नीचे से इस प्रकार गुजारे जाते है कि एक धागा ऊपर से गुजरता है तो उसके बगल का धागा नीचे से। इस तरह धागे एक दूसरे से अलग हो जाते है, वे एक दूसरे से चिपकने नही पाते। तदनन्तर धागा बुननेवाली मशीन के बेलन पर लपेटा जाता है।

अब इससे ताना तैयार करते हैं। यह काम केवल विशेषज्ञों को ही सौंपा जाता है। ताना तैयार करने के लिए प्रत्येक धागा सूत के छोटे-छोटे फन्दों में से गुजारा जाता है। फिर ये धागे एक कंघे की शक्ल की फ्रेम के दांतों में से गुजारे जाते है। इस कंघे के दांत धातु की तीलियो के बने होते है। कंघे के फ्रेम की चौड़ाई जितनी बड़ी होगी, उतने

बुनाई आरंभ करने के पहले विशेषज्ञ मनोनीत डिजाइन का वस्त्र बनाने के उद्देश्य से सूत के धागों को एक कंघे की शक्ल के फ्रेम के दाँतों में पिरोकर इसी प्रकार ताना तैयार करता है, जैसा कि चित्र में दिग्दर्शित है।

ही अर्ज का कपड़ा मशीन पर तैयार हो पायगा। साधारण बुनाई के लिए कंघे के हर दाँत के बीच से एक धागा खींचना होता है। किन्तु विभिन्न डिजाइनों की बुनाई के लिए कंघे के दाँतों के बीच से एक धागा, फिर बगल की झिरी से दो, फिर एक, तब तीन—इस तरह काफी पेचीदा हिसाब हो जाता है। धागा खीचनेवाले ने जरा-सी गलती की कि कपड़े के डिजाइन में नुक्स आ गया। किन्तु विशेषज्ञ इस कठिन काम को भी सरलतापूर्वक बिना गलती किए करते रहते है।

ताना तैयार हो जाने पर वह बुनाई की स्वयंक्रिय मशीन में फिट कर दिया जाता है। यहाँ शटल अपने आप विद्युत् गति से एक से दूसरी ओर दौड़ लगाकर बाना डालकर भिन्न-भिन्न डिजाइनों के कपड़े तैयार करते हैं। स्वयंक्रिय यंत्र अपने आप शटल के खाली होने पर उसमें धागा भी भर देते है, जिससे हर तरह से समय की बचत हो जाती है।
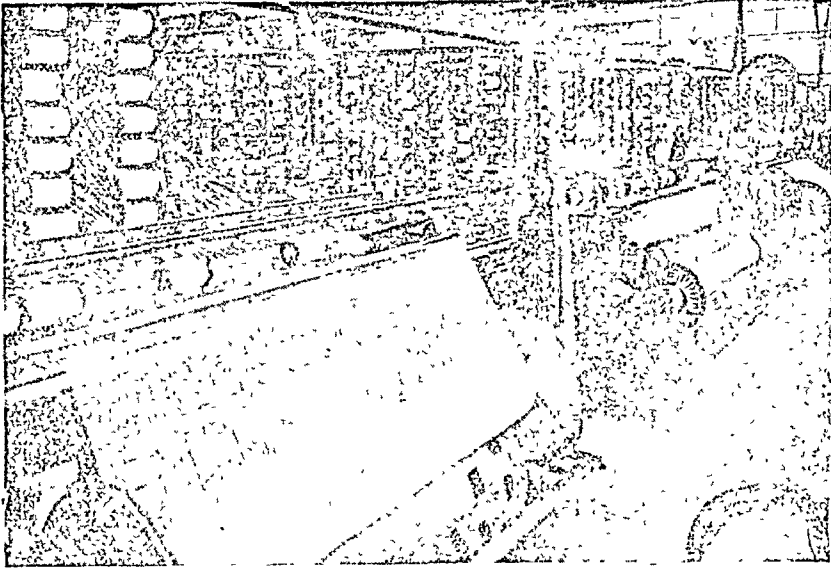
इन मशीनों पर ताना भरनेवाले धागों को आवश्यक चौड़ाई में एक के पास एक व्यवस्थित करके एक बेलन पर लंबाई के रुख लपेटा जाता है। यह क्रिया इस प्रकार संपन्न की जाती है कि क्या मजाल कि एक भी धागा दूसरे में उलझ जाय। सभी एक-दूसरे के समानान्तर और निर्धारित फासले पर रहते है!

पुतलीघर का बुनाई का विभाग बहुत अधिक कोलाहलमय विभाग होता है। अक्सर एक बड़े पुतलीघर मे इस विभाग मे दो हजार तक 'लूम' (बुनाई की मशीने या करघे) लगे रहते है, जिनमें विद्युत् गति से प्रतिमिनट २०० बार इधर से उधर दौड़नेवाली ढरकियों (Shuttles) तथा अन्य पुर्जो की खटखट के मारे काफी हंगामा मचा रहता है। ये करघे कई आकार-प्रकार के होते है और उनमें से बहुतेरे तो पेचीदा यंत्रों के ऐसे जंजाल होते है कि देखकर आश्चर्य होता है। वे एक साथ ही विभिन्न रंगों के धागों को अत्यन्त उलझन-वाली डिजाइनों में बुनकर कपड़े पर मनमानी चित्रकारी उतार देते है। उनमें से कई इतने अधिक बडे होते है कि उन पर बारह फीट तक चौडा कपडा बुना जा सकता है! इन आश्चर्यजनक मशीनो मे रंग-बिरंगे डिजाइनों के कपड़े बनाने के लिए एक विशेष प्रकार की यंत्र व्यवस्था होती है, जिसे 'जेकर्ड की यंत्र-व्यवस्था' कहते है। इस यत्र-व्यवस्था की तुलना हम पियानो नामक वाद्ययत्र से कर सकते है। जिस प्रकार पियानो के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के छिद्र उसम से निकलनेवाले विभिन्न स्वरों का नियंत्रण करते हैं, उसी तरह इस बुनाई की मशीन पर लगे हुए एक छिद्रमय कागज के छेदों द्वारा कपड़े की निश्चित डिजाइन का निर्धारण होता है।

लूम पर से छूट जाने पर भी कपड़े के थान की अभी पूरी तरह मुक्ति नही हो पाती—इसके बाद अभी तरह-तरह के रासायनिक द्रव्यों से धोकर उसे एकदम सफेद करने, उस पर कलफ चढाने, उसे आवश्यक रंग से रँगने, लोहा करके उस पर चमक लाने तथा उसको निर्धारित आकार में काटकर उसकी तह करने का काम बाकी रहता है। इसके अतिरिक्त यदि उस पर छींट आदि की-सी किसी प्रकार की छपाई करना हुई तो और भी कई मशीनो पर से होकर उसे गुजरना पडता है। जब ये सब प्रक्रियाएँ समाप्त हो जाती है, तब अंत में थानों पर कपड़े की नाप, मिल का लेबल और नंबर आदि छापकर उन्हे गोदामों में भेज दिया जाता है, जहाँ से गाँठों में कसकर वे स्थान-स्थान के बाजारों में खपत के लिए भेजे जाते है।

कपड़ा बुनने की कला में हमारा देश प्राचीन काल ही से अग्रणी रहा है। हजारों साल पहले हमारे यहाँ के बुने हुए सूती और रेशमी कपड़े रोम के बाजारों में धनिक वर्ग के नर-नारियो के लिए सुवर्ण के मूल्य में बिकने पहुँचा करते थे। ढाका की प्रसिद्ध मलमल तो अभी डेढ़-दो सौ वर्ष पहले तक ऐसी बारीक बुनी जाती थी कि उसका एक पूरा थान एक अँगूठी में पहना दिया जाता था। यद्यपि वह कला अंग्रेजों की चाल बाजी से तो नष्टप्राय हो गई परन्तु आज भी भारत हाथ के करघे तथा पुतलीघर दोनों ही के क्षेत्र में संसार के कपड़ा बुननेवाले देशों में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। आज के दिन हमारे कारखानो बना कपडा बहुतायत से विदेशों में जा रहा है।

चमड़ा

जिस सुदूरवर्त्ती प्रस्तर युग में मानव ने अपने शरीर को ढकने के लिए वल्कल वस्त्र तथा हिंस्र पशुओं की खाल का सर्वप्रथम प्रयोग करना सीखा था, उन दिनो शीतप्रधान देशो मे अवश्य पशु की खाल को योही बिना सिझाए हुए ही लोगों ने अपने को ठण्ड से बचाने के लिए पहनना आरम्भ किया होगा। सूखने पर खाल के ये परिधान कड़े भी हो जाते रहे होगे। वर्षा में भीगने पर इनमें से दुर्गन्ध भी निकलती रही होगी। सम्भव है, खाल की दुर्गन्ध दूर करने के लिए किसी विचारशील व्यक्ति ने उसे आँच के समीप रखकर सुखाया हो, तदुपरान्त कडी खाल को नरम बनाने के लिए सम्भवतः उसकी भीतरी सतह पर चर्बी रगड़ी हो। ऐसा करने पर उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ होगा कि अब खाल सूखने पर भी पहले की तरह मुलायम बनी रहती है। उस प्राक्ऐतिहासिक युग मे आदिम मनुष्य ने खाल को सिझाकर चमडा बनाने का गुर ढूंढ निकाला था। धुएँ और चर्बी को मदद से तैयार किया गया वह चमडा चाहे उतना बढिया न उतरता रहा हो जितना आज का, किन्तु इन आदिम मनुष्यो को इस गुर को ढूंढ निकालने का श्रेय तो हमें देना ही पड़ेगा।

खाल को सिझाने की कला हजारो वर्ष पूर्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। रोमन सैनिकों के चमड़े के वस्त्र योरप के संग्रहालयों में इन दिनों भी अपनी मजबूती और लचीलापन तथा मुलायमियत बनाए हुए हैं। इसके प्रतिकूल आजकाल के सस्ते तरीको पर सिझाए हुए चमड़े से मढी पुस्तको की जिल्दे आठ-दस वर्ष में ही नष्ट हो जाती हैं। आधुनिक समय में चमड़े का प्रयोग अनेक क्षेत्रो मे होने लग गया है, अत. सिझाए हुए चमड़े भी सैकडों तरह के आपको देखने को मिल सकते हैं। लकड़ी के तख्ते जैसे कठोर और मजबूत चमड़े से लेकर कागज के वर्क-से पतले चमड़े तक आजकल तैयार किए जाते हैं। आइए किस प्रकार एक दुर्गंधयुक्त कच्ची खाल बढ़िया मुलायम चमड़े में परिवर्त्तित की जाती है, इसकी कहानी हम आपको सुनाएँ।

भारी और मोटी खालों को चर्बी आदि लगाकर और रगड़कर मुलायम बनाया जा रहा है
[फोटो—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट (दक्षिणी भारत)' की कृपा से प्राप्त]
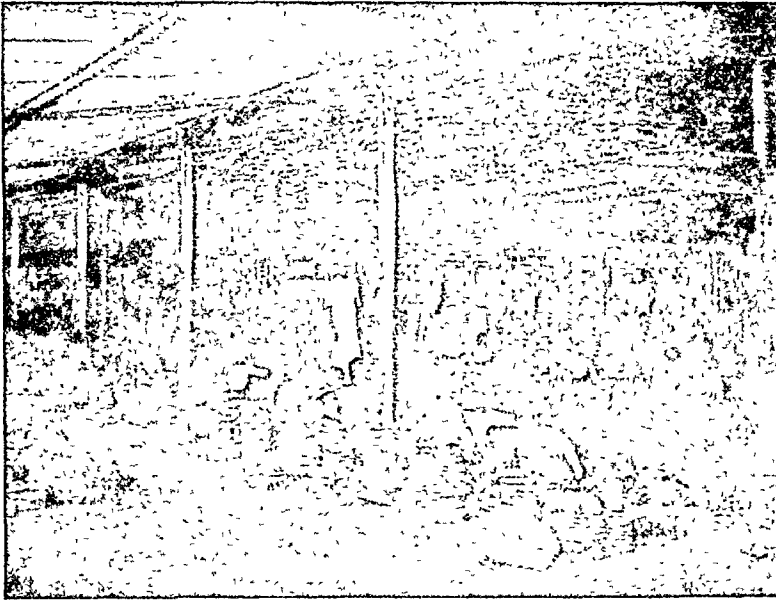
इस फोटो में चमड़े को धोने के लिए काम में लाई जानेवाली एक प्रकार की क्रोममिश्रित रुई के निर्माण का दृश्य दिग्दर्शित है।
[फो०—'क्रोम लेदर कं० क्रोमपेट', की कृपा से]

चमड़ा सिझान के कारखाने (टैनरी) मे खाल साधारणतया चार हालतो में पहुँचती है—(१) सीधे बूचड़खाने से कच्ची ताजी खाल; (२) गीली नमक पुती हुई खाल, (३) सूखी नमक पुती हुई खाल जो दूर देशों से भेजी गई होती है; (४) धूप मे सुखाई गई खाल। टैनरी में सर्वप्रथम खाल को पानी में धोकर साफ करना होता है, ताकि उस पर लगा हुआ मैल, नमक तथा रक्त के धब्बे निकल जाएँ। तदुपरान्त पानी मे सूखी खाल को कुछ समय तक भिगोना पड़ता है, जिससे वह भी समान रूप से नरम पड़ जाय। नमक लगी हुई खाल को बहते हुए पानी मे देर तक धोना पड़ा है ताकि उस पर से नमक का अंश बिल्कुल निकल जाय।

धुलकर साफ हो जाने पर खाल से बाल और रोएँ अलग करने होते हैं। मोटी खाल के लिए तीन-चार गड्ढे खोद लिये जाते हैं। इन गड्ढों मे चूने का पानी भरा रहता है। साफ की हुई खाल इन तीनों गड्ढों में बारी-बारी से डाली जाती है। खाल की किस्म तथा ऋतु के अनुसार दस से पन्द्रह दिनों तक गड्ढो में खाल को पड़ी रहने देते है। इस बीच खाल को कई बार बाहर निकालकर उसे सुखाकर फिर चूने के पानी मे डालते है। चूने के पानी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप खाल के बाल और रोएँ ढीले पड़ जाते है। अब खालों को बाहर निकालकर काठ के तख्तों पर उन्हें फैला देते हैं—बालवाली सतह ऊपर रखते हैं। ये तख्ते दीवाल के सहारे तिरछे टिकाए रहते है। कारीगर चौड़े फल के चाकू से, जिसमे दोनों ओर काठ की मुठिया लगी रहती है, खाल पर से बाल को खरोंचता है। इस प्रकार सावधानी के साथ खरोंच लेने पर खाल की ऊपरी सतह साफ हो जाती है। कीमती ऊनवाली खाल को चूने के पानी में डालने से ऊन खराब हो जाता है। अत: ऐसी खाल से ऊन अलग करने के लिए एक दूसरी ही विधि काम में लाते है। खाल को धोकर उसका मैल आदि साफ कर

पशुओं की खाल साधारणतया दो श्रेणियों मे विभाजित की जाती है—गाय, बैल, भैस, घोड़े, जेब्रा आदि की खाल को 'खाल' के नाम से पुकारते है, किन्तु छोटे जानवरों जैसे भेड़, बकरी, बिल्ली, सील मछली आदि की खाल को 'चमड़ी' के नाम से पुकारते है। वैज्ञानिक दृष्टि से खाल और चमड़ी मे विशेष अन्तर नही होता। हर प्रकार की खाल या चमड़ी कई तहों से बनी होती है। सबसे ऊपर ऊन, कड़े बाल या रोएँ होते हैं। उनके नीचे मुख्य खाल होती है, जिसका धरातल दानेदार और कुछ खुरदरा होता है। मगर आदि जलजीवों की खाल पर रोएँ की जगह 'चोएँटे' होते है। खाल की भीतरी तह पर नसो के रेशे आकर इकट्ठे होते है। यहीं मांस की तह भी होती है। इस तह मे 'अल्बूमीनायड' प्रचुर मात्रा मे मिली रहती है।

इस कच्ची खाल को सिझाने का उद्देश्य है इसे सड़ने से बचाकर मुलायम बनाये रखना, तथा इस योग्य बनाना कि पानी इसमे प्रवेश न कर सके, साथ ही उसकी मजबूती बढाना, ताकि उससे बनाई गई चीजे अधिक दिनों तक टिक सके। सिझे हुए और बिना सिझे हुए सूखे चमड़े का अन्तर मालूम करने के लिए यह प्रयोग किया जा सकता है। १४०° फा० टेम्परेचर के पानी मे डालने पर सिझे हुए चमड़े पर कुछ प्रभाव न पड़ेगा, पर इसके विपरीत बिना सिझा चमड़ा पानी में घुलने लग जायगा।

लेने के पश्चात् धरती के अन्दर बने हुए कमरों में लटका देते हैं। इन कमरों में चिकनी टाइल्स जड़ी होती हैं। हवा के आने-जाने का प्रबन्ध इस ढंग का होता है कि इच्छानुसार कमरे के तापक्रम, उसकी आर्द्रता आदि पर पूर्ण नियंत्रण रख सकते हैं। तीन-चार दिनों तक इस धरती के नीचे के कमरे में पड़े रहने के उपरान्त खाल की ऊन ढीली हो जाती है। तब खाल को बाहर निकालकर उसका ऊन हाथ से या मशीन द्वारा अलग कर लेते हैं। कारीगर को इस क्रिया में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है ताकि खाल की सतह पर किसी तरह की क्षति न पहुँच जाय।

खाल की भीतरी सतह के मास को भी इसी प्रकार चाकू से खरोंचकर अलग कर लेते हैं। अब साफ की हुई खाल के अन्दर सोखे गए चूने के पानी का असर दूर करना होता है, वरना खाल को सिझाने में कठिनाई पड़ती है। इसके लिए बल्लियों के सहारे खाल को गड्ढों में लटकाते हैं। इन गड्ढों में बोरिक ऐसिड या लैक्टिक ऐसिड के पानी का हलका घोल भरा रहता है। किसी-किसी फैक्टरी में चूने के क्षारीय प्रभाव को दूर करने के लिए नमक का हलका तेजाब भी काम में ले आते हैं। यंत्रों द्वारा गड्ढे के घोल को प्रायः हिलाते रहते हैं। गड्ढे से निकालने के बाद खाल को बहते हुए पानी में धोते हैं, जिससे तेजाब का असर उस पर से दूर हो जाय। अफ्रीका में देशी रीति से चूने का असर दूर करने के लिए कबूतर की बीट या गदहे की लीद के घोल में खाल को डालते हैं।

अब खाल को सिझाने की बारी आती है। आजकल खाल को सिझाने की तीन रीतियाँ काम में लायी जाती हैं। प्रथम बबूल तथा बलूत की जाति के वृक्षों की छाल के रस से, द्वितीय क्रोमियम सल्फेट (रासायनिक द्रव्य)
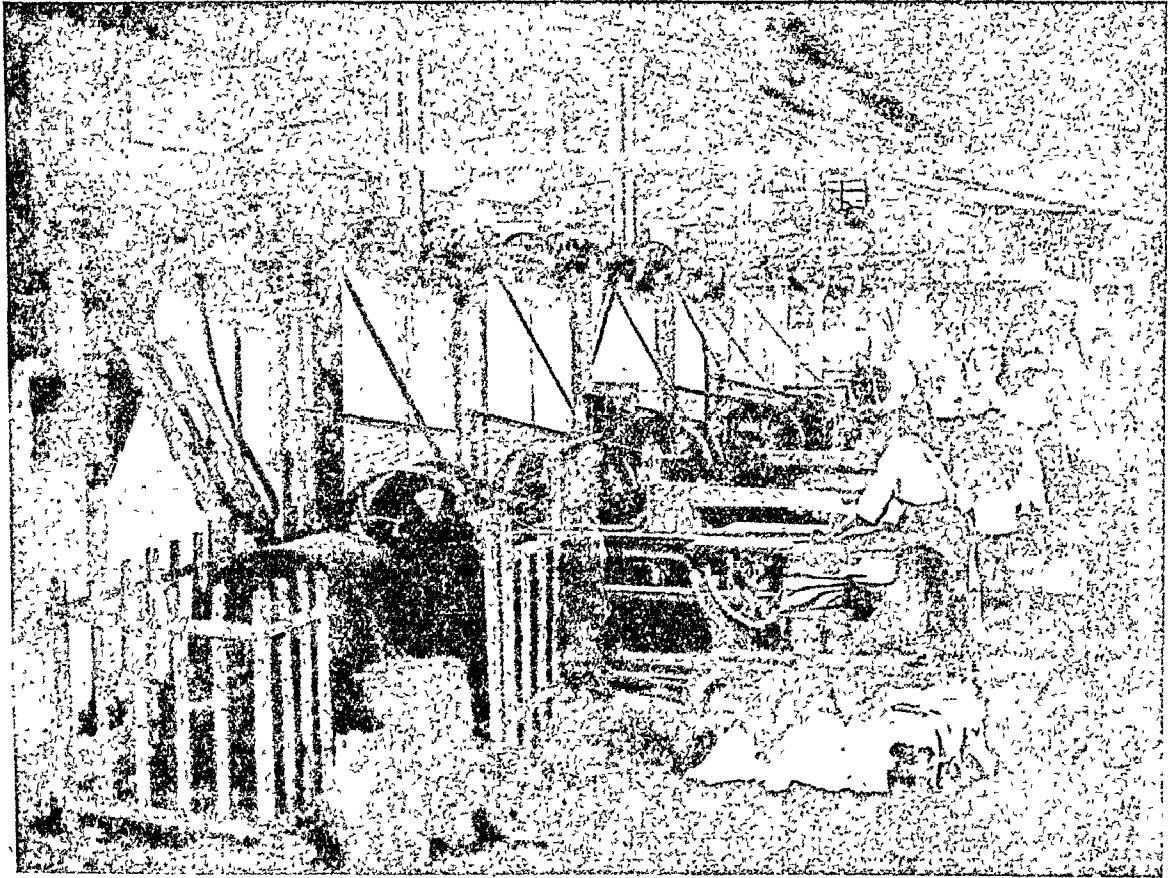
सिझाए और रँगे जाने के बाद चमड़ा कड़ा हो जाता है, अतएव उसे लकड़ी के गीले बुरादे से नम बनाकर मशीन द्वारा खींचतान कर तथा रगड़कर लचीला बनाया जाता है। इस क्रिया को 'स्टेकिंग' कहते हैं।

[फो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट (दक्षिण भारत)' की कृपा से]
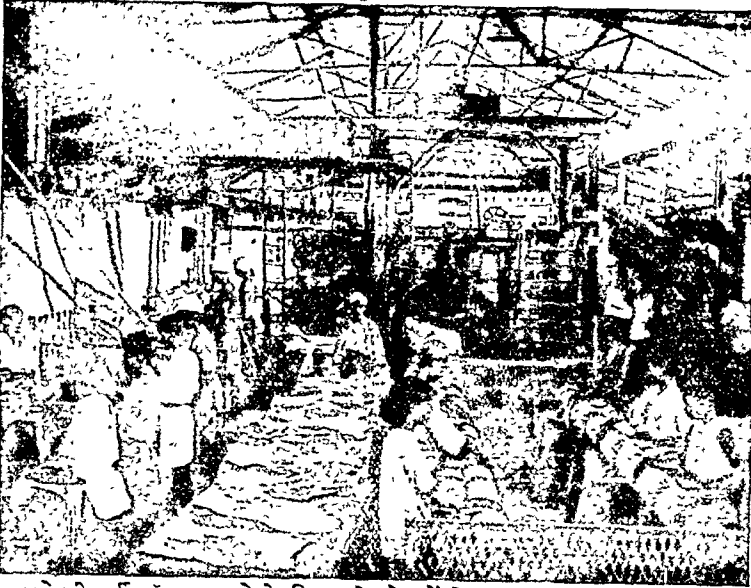
चमड़े की झुर्रियाँ दूर करने के लिए उसे रोलरों से दबाया जा रहा है, साथ ही उसकी निचली सतह को मखमल जैसी बनाया जा रहा है। (फो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट' की कृपा से।)

मशीन-युग से पहले इङ्गलैण्ड में वढ़िया चमड़ा सिझाने में प्राय: ४ वर्ष लग जाते थे। उन दिनों हौज मे नीचे छाल विछाकर उस पर खाल की एक तह रख देते थे, फिर उस पर छाल विछाकर खाल की दूसरी तह रखते थे। इस प्रकार एक के वाद दूसरी तह विछाते चले जाते थे। फिर हौज मे पानी भर देते थे। इस तरह कई महीने तक खाल हौज में पड़ी रहती थी। फिर खाल को निकालकर नई छाल की तहों के अन्दर उसी गड्ढे मे खाल को फिर कई महीने तक रखते थे। कई वार इस क्रिया के दुहराने के वाद खाल अच्छी तरह सिझ पाती थी।

की मदद से, तृतीय जलजन्तुओं की चर्बी की सहायता से। इन रीतियों मे चमड़ा तैयार करने में अधिकांश प्रथम रीति ही काम में लायी जाती है।

ववूल आदि के वृक्षों की छाल से कसैले स्वाद का एक रस निकलता है। इसे टैनिन के नाम से पुकारते है। यही रस चमडे के लिए अति उपयोगी है। फैक्टरी में तीन-चार हौज वने रहते है। पहले हौज मे पानी में भिगोई हुई छाल का पतला घोल रखा जाता है, दूसरे मे उससे अधिक गाढ़ा घोल रहता है, तृतीय में उससे भी गाढ़ा और चौथे मे छाल का सत्त अत्यधिक मात्रा में रहता है और उसमें छाल के टुकड़े भी पड़े रहते है, ताकि गड्ढे के पानी में टैनिन की मात्रा खूब अधिक हो।

पानी मे टैनिन का घोल तैयार करने के लिए वृक्ष की छाल को मशीन मे डालकर उसको छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लेते है। यह मशीन लगभग उसी तरह की होती है जैसी काफी पीसने की मशीन। मशीन के अन्दर तेज धार के चाकू के फल प्रति मिनट तीन हजार वार घूमते है! कई सप्ताह तक इन गड्ढों में पड़े रहने के वाद खाल पूर्ण रूप से सिझ जाती है। फैक्टरी मे आने के वाद कहा जाता है कि खाल को सिझाकर वढ़िया चमड़ा वनाने में लगभग १ वर्ष लग जाता है, क्योंकि टैनिन के हौज में से निकालने के वाद चमड़े को धोकर उसमें तेल रगड़ा जाता है, उसे रोलर मे दवाते है और तव उसे सुखाते हैं।

फैक्टरी मे सिझाने के उपरान्त चमड़े को उठाकर दुहरा करके लटका देते है। फिर मशीन द्वारा उसकी भीतरी सतह को खुरचकर उसे एक ही मुटाई का वना लेते है। अव उपयुक्त रंग चढ़ाने के लिए उसे लकड़ी के हौदों में डालते हैं। इन हौदों में रंग भरा रहता है। रंग चारो तरफ समान रूप से चढ़े, इस उद्देश्य से हौदे में चमड़े को हिलाते रहते हैं।

रंग चढ़ाने के वाद इसके चमड़े पर एक-सा रेशे को नरम वनाने के लिए उसे तेल और साबुन के घोल में डालकर हिलाते है। एक वड़े पीपे में तेल और साबुन के घोल को रखकर उसी में चमड़े को डालकर पीपे को मशीन के सहारे इधर-उधर डुलाते है। तेल चमड़े मे प्रवेश करके उसे चिकना और मुलायम वना देता है। पीपे मे से निकालने के वाद चमड़े को भीतरी सतह की ओर दुहरा देते हैं और दो-तीन दिन तक इसी दशा में इसे लटकाकर छोड़ देते है। वढ़िया किस्म के चमडे तैयार करने के लिए तेल को चमड़े पर हाथ से भी रगड़ते है। ऐसा करने से चमड़े का लचीलापन वढ़ जाता है। अव अन्तिम रँगाई करके उसे ठण्डे पानी में धोकर सुखाते है। तल्ले वाले मोटे चमड़े को वहुत धीरे-धीरे सुखाना होता है, वरना चमड़ा अत्यधिक कड़ा पड़ जाता है। पतले चमड़े को अवश्य मशीन की गरम हवा की सहायता से जल्दी सुखा सकते है। सूखने के वाद चमड़ा अवश्य कड़ा पड़ जाता

है, अतएव उसे फिर मुलायम करने के लिए उस पर गीला बुरादा छिड़ककर मशीन के सहारे खींचते और बार-बार मोड़ते हैं। विशेषज्ञ कारीगर हाथ से भी मीजकर उसे खूब मुलायम बना लेते हैं। सूखने पर यह चमड़ा कड़ा नही पड़ता। तब मशीन से इसके हाशिये तराशकर उसे जूते या चमड़े की वस्तु बनानेवाले कारखाने में भेज देते हैं। यदि चमड़े को और भी बढ़िया बनाने की जरूरत हो तो उसे 'सीजन' करते हैं। इस क्रिया में चमड़े की ऊपरी सतह के खुरदरेपन को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए दूध, चन्दन का बुरादा तथा अन्य मसालों को मिलाकर लेप तैयार करते हैं। इसी लेप की पतली तह चमड़े पर फेरते है। सिझे हुए चमड़े की झुर्रियाँ दूर करने के लिए उसे मशीन के रोलर के नीचे दबाना पड़ता है। यह रोलर (बेलन) काँच का बना होता है।

चमड़ा सिझाने की दूसरी विधि में वृक्ष की छाल के स्थान पर क्रोमियम सल्फेट तथा क्रोमियम के अन्य रासायनिक यौगिकों का प्रयोग किया जाता है। क्रोमियम सल्फेट को पानी में घोलकर कई हौज में उसे भर देते हैं। तब खाल को एक के बाद दूसरे हौज में रखते हैं। हौज में घोल का गाढापन भी बढाते जाते हैं। नं० १ के हौज में क्रोमियम सल्फेट की मात्रा कम रहती है, नं० २ के हौज में उससे ज्यादा और नं० ३ मे उससे भी अधिक। क्रोमियम द्वारा सिझाने पर खाल में तेजाब का अंश पहुँच जाता है और इस तेजाब के अंश को नष्ट करना अनिवार्य होता है। ऐसा करने के लिए चमड़े को कुछ दिनों तक क्षारीय घोल में रखना पड़ता है। तदुपरान्त इसे धो देते हैं। क्रोमियम द्वारा सिझाए गए चमड़े को 'क्रोम लेदर' के नाम से पुकारते हैं। क्रोमियम के कारण ही इसका रंग कुछ-कुछ हरा होता है। मोटा चमड़ा जूते का तला बनाने के
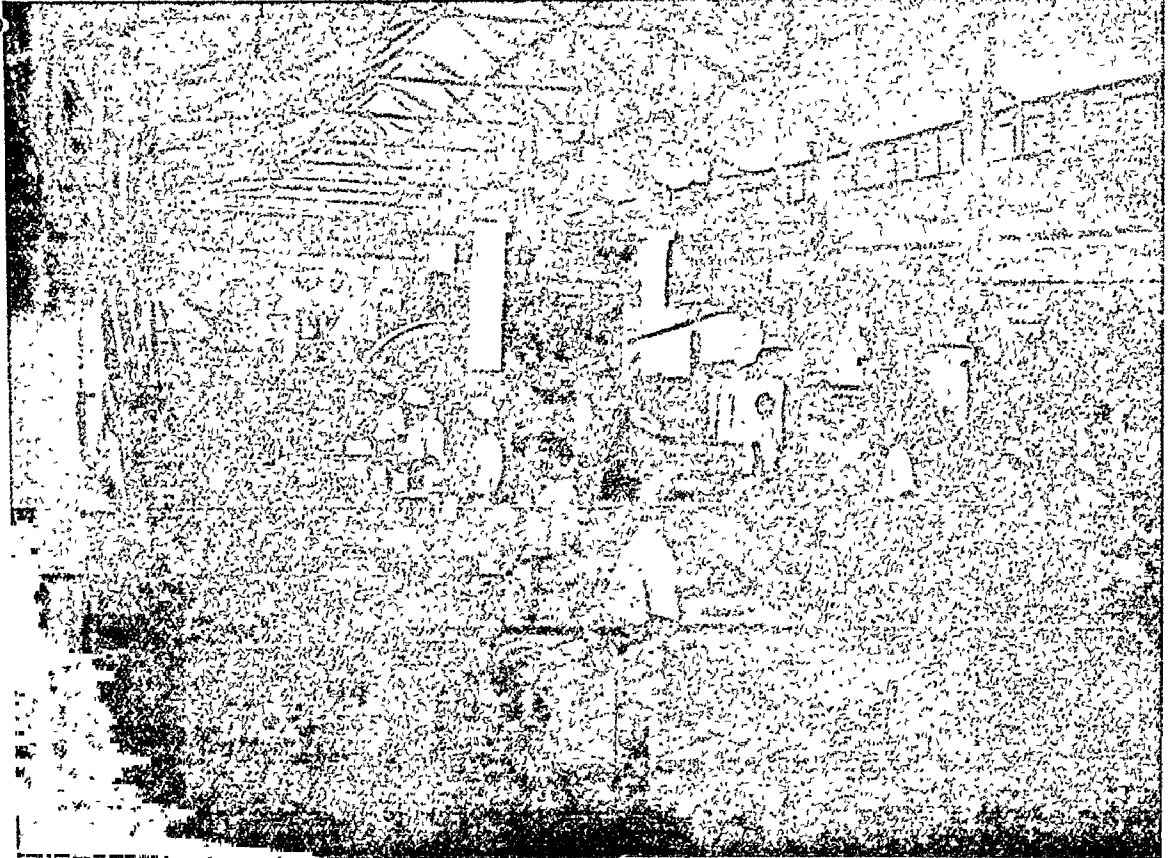
चमड़े को मशीन द्वारा समान मोटाई का बनाया जा रहा है। इस क्रिया को अंग्रेजी में 'शेविङ्ग' कहते है।
(फो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट,' की कृपा से प्राप्त)

काम में लाया जाता है। अतः तले के लिए मोटे क्रोम लेदर को एक पीपे में (जिसमें मोम और चर्वी गरम करके डाली जाती है) रखकर पीपे को मशीन के सहारे घुमाते हैं। चर्वी और मोम चमड़े मे जज्ब होकर उसे मोटा और चिकना बना देती है, तदुपरान्त मशीन के रोलर से इसे खूब दवाते है। क्रोम लेदर की विशेषता यह है कि उबलता हुआ पानी भी उस पर असर नहीं करता। वृक्ष की छाल से सिझाए गए चमड़े में यह गुण नही पाया जाता। क्रोम लेदर को सिझाने में समय भी कम लगता है।

बकरी, भेंड़ आदि की खाल, जो अपेक्षाकृत बहुत पतली होती है, फिटकरी द्वारा सिझाई जाती है। फिटकरी से सिझाए गए चमड़े का रंग सफेद होता है। अतः हाथ के दस्ताने आदि के बनाने के लिए इसी श्रेणी का चमड़ा प्रयोग में लाया जाता है। फिटकरी द्वारा सिझाए गए चमड़े मे पानी आसानी से जज्ब हो जाता है।

टॅनिंग की तृतीय विधि में मछली का तेल अथवा चर्वी का प्रयोग किया जाता है। इस रीति से तैयार किया गया चमड़ा 'शमॉय लेदर' के नाम से पुकारा जाता है। शमॉय लेदर कपड़े की भाँति मुलायम होता है।

'शमॉय लेदर' बनाने के लिए बाल अलग कर लेने के बाद खाल को चूने के पानी में भिगोते है। तदुपरान्त हलके तेजाब के पानी से उसे धोकर सुखाते है और फिर पीपों में उन्हें डाल देते है, जिनमें मछली का तेल तथा चर्वी भरी रहती है। इसके बाद प्रत्येक खाल को मुंगरी से कूटते है ताकि चिकनाई खाल के रोम-रोम में प्रवेश कर जाय। तब हवा मे सुखाकर उसे तेल डालकर कूटते हैं। अब चमड़े को धूप मे सुखाकर एक कमरे मे टाँग देते हैं। इस कमरे को कृत्रिम रूप से गरम किया जाता है। कुछ काल उपरान्त चमड़े मे भिगा हुआ आधा तेल चमड़े के रेशे के संग रासायनिक तौर पर संयोग कर जाता है। शेष तेल को पोटाश के गरम घोल से धोकर अलग कर लेते हैं। सूखने पर बढ़िया शमॉय लेदर बन जाता है।
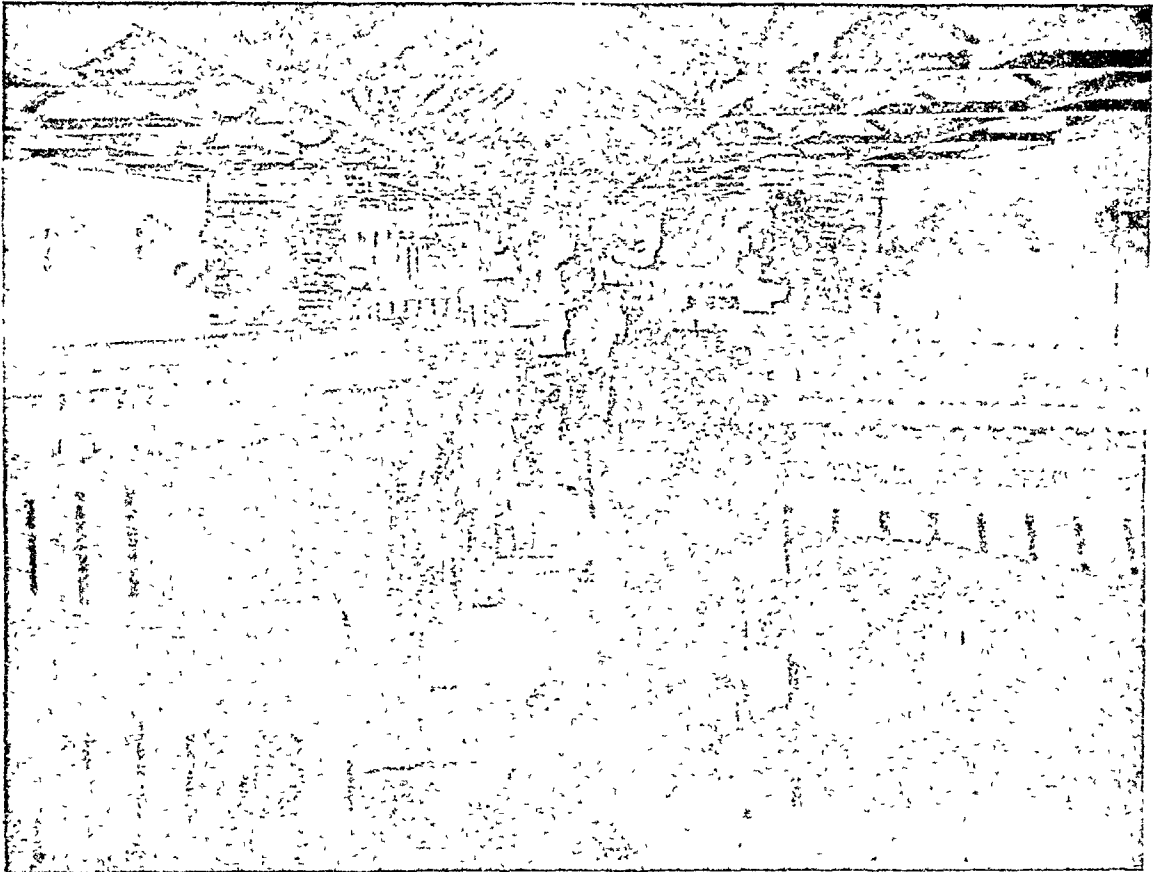
अंतिम रँगाई करने के बाद चमड़ा सुखाया जा रहा है। मोटे चमड़े को अधिक समय तक धीरे-धीरे सुखाना पड़ता है।
(फो०—'क्रोम लेदर कं०, क्रोमपेट' की कृपा से प्राप्त)

हमारे अपने देश में अभी चमड़े के व्यवसाय के विकास की बहुत अधिक गुंजाइश है। अभी भी देश के चमड़े की उपज का एक बहुत अंश कच्ची खाल के रूप में अमेरिका आदि देशों को यहाँ से निर्यात कर दिया जाता है। यदि यह सब चमड़ा यहीं पकाकर ठीक से तैयार किया जा सके तो न केवल हम इस क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय आय की ही वृद्धि कर सकते हैं, प्रत्युत जूते, सूटकेस, आदि चमड़े से बनी वस्तुओं के उद्योग को भी काफी बढ़ावा दे सकते हैं, जिससे देश की बेकारी की समस्या के हल की दिशा में एक नया कदम बढ़ाया जा सकता है।

ज्ञान का संरक्षक और प्रचारक—कागज

वह कौन सी वस्तु है, जिसकी बदौलत आज न केवल सामयिक विचारधाराओं बल्कि दुनिया के सभी देशों और समस्त युगों के अब तक के संचित सारे ज्ञान की अमूल्य निधि का खजाना मानों घर-घर में खुल गया है ? आइए, प्रस्तुत लेख में उसी अनोखी वस्तु से आपका परिचय कराएं, जो दरअसल हमारी आज की सभ्यता की नींव की ईंट बनी हुई है।

प्रकृति की अपूर्व देन जल के बिना जिस प्रकार जीवधारियों की दुनिया कदापि कायम नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार कागज के बिना हमारी वर्त्तमान सभ्यता की इमारत का भी टिक पाना संभव नहीं है। कागज के बिना ज्ञान का प्रचार होना इन दिनों असंभव ही प्रतीत होता है। जरा कल्पना तो कीजिए कि यदि सभ्य संसार से आज कागज विलुप्त हो जाय तो हमारी क्या दशा होगी ! कहाँ तक हम भोजपत्र, ताम्रपत्र अथवा चमड़े या रेशम के पट पर पुस्तकें या समाचारपत्र छापते फिरेंगे ? आज समस्त संसार का ज्ञान कागज की पोथियों ही में लिपिबद्ध है। साहित्य-विज्ञान, इतिहास-दर्शन, व्यापार-व्यवसाय, नीति-धर्म, समाज-राजनीति सभी कुछ तो कागज के ही बल पर टिके हुए हैं। तभी तो ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय की दीवाल पर लिखा है कि "आप के हाथ में जो पुस्तक है, उसे बहुत सँभालकर पढ़िये, यह स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान् है। यदि कागज न हो तो आधुनिक सभ्यता की ऊँची अट्टालिका क्षण में धराशायी हो जायगी। यह जंगली दशा से हमें उच्च शिक्षित अवस्था तक पहुँचाने के लिए मानों एक पुल का काम देता है; अराजकता से सुधा-

आपने 'पल्प' नामक एक वस्तु का नाम सुना होगा। यही वस्तु कागज की आधारशिला है, और वह बनती है पेड़ों के लट्ठों से। चित्र में जो हजारों लट्ठे नदी में तैरते दिखाई दे रहे हैं, वे इसी उद्देश्य से एक पेपर-मिल को ले जाए जा रहे हैं।
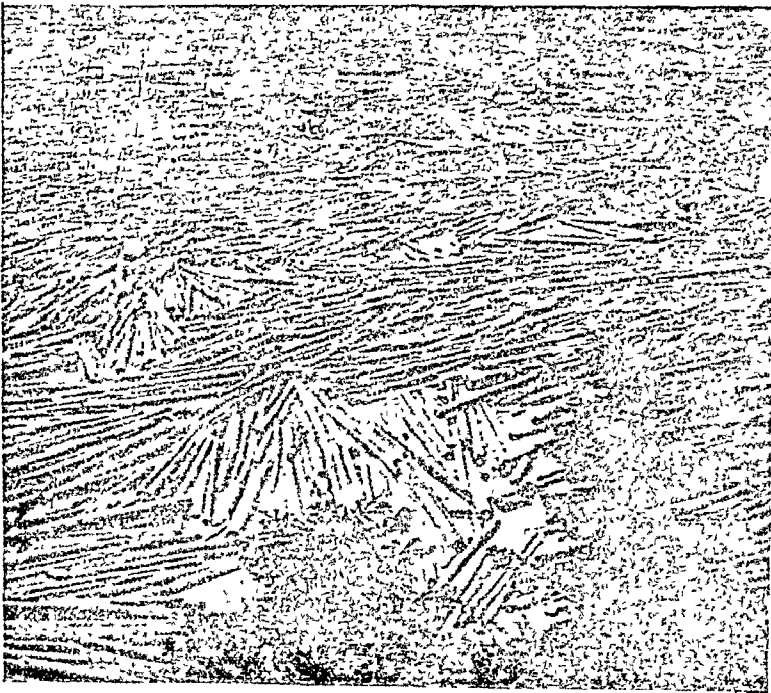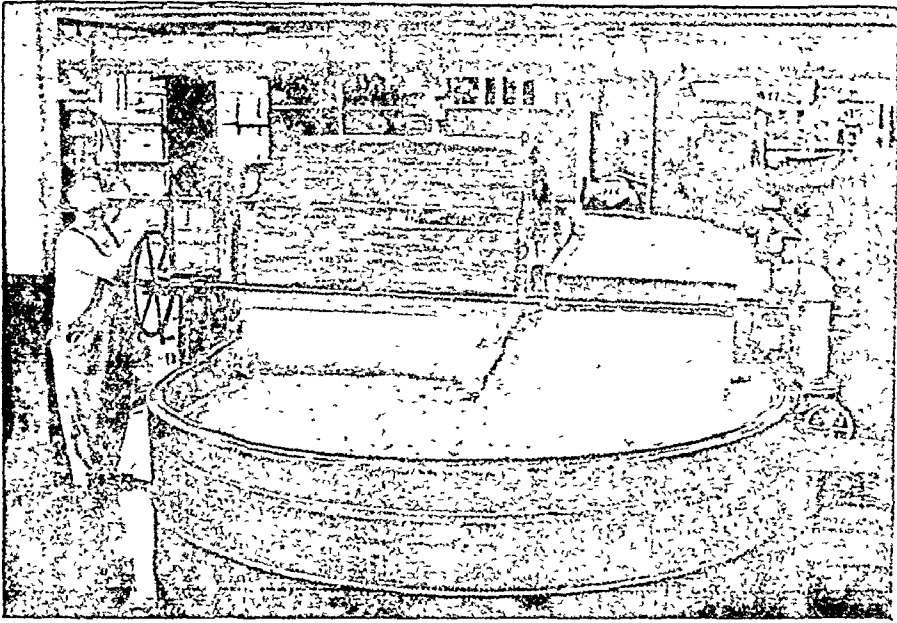
इस विशेष प्रकार की मशीन द्वारा लकड़ी की चिपटों को और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में काट-काटकर उसकी लुगदी बनाई जाती है। यह लुगदी कागज बनाने का खास मसाला है।

सन, तथा उत्पीड़न की दशा से स्वतंत्रता की स्थिति तक इसी के सहारे हम पहुँच सकते हैं। इसके बिना हमें वह प्रोत्साहन नहीं मिल पाएगा, जिससे कि मनुष्य के हृदय में महान् कार्यो को करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। हमें सोचना चाहिए कि कागज का वास्तविक महत्व कितना अधिक है।"

तो फिर आइए, देखें कि ज्ञान-प्रचार के इस जबर्दस्त साधन का आविष्कार कब और कैसे हुआ। विचारों को लेखबद्ध करने की अभिलाषा मनुष्य के हृदय में उस सुदूर अतीत के युग में ही जन्म ले चुकी थी, जब वह खोह-कन्दराओं में अपना जीवन-यापन करता था। उन दिनों कन्दराओं की दीवारों मे पत्थर की छेनियों से खोदकर चित्रमय संकेतों द्वारा ही उसने अपने विचार अंकित करने शुरू किए थे। इस चित्र-लेखन कला में मिस्र-निवासियों ने विशेष उन्नति की थी। तदुपरान्त मिट्टी की तख्तियों और धातु के पत्तरों पर भी खुदाई करके लिखने की तरकीब ईजाद की गई। प्राचीन मिस्र और बेबीलान मे तो राजकीय व्यवहार में भी मिट्टी की तख्तियाँ कानूनी लिखा-पढ़ी के लिए काम में लाई जाती थीं। वहाँ टैक्स वसूल करनेवाला मुंशी टैक्स की वसूली की रसीद ऐसी ही तख्तियों पर बनाया करता था। किन्तु वह बेचारा जब टैक्स वसूल करने के लिए शहर में जाता तो साथ ही एक गदहे पर ढेर-सी ऐसी मिट्टी की तख्तियाँ लाद कर ले जाता! इन्हीं पट्टियों पर खोदकर उसे प्रत्येक टैक्स देनेवाले को टैक्स की वसूली की रसीद तैयार करके देना पड़ता था। कालान्तर में लगभग साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व मिस्र-निवासियों ने 'पेपायरस' नामक एक विशेष जाति की घास के रेशों को भिगोकर और उन्हें कूटकर ताने-बाने के रूप में बारीक चटाई की भाँति बुनकर तथा उन्हें इतना चिकना बनाकर कि उनकी सतह पर लिखना संभव हो सके, एक प्रकार का कागज बनाना शुरू किया। कागज के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'पेपर' इसी 'पेपायरस' शब्द से निकला है। सिकन्दर महान ने मिस्र से ढेरों ऐसा 'पेपायरस' लिखने के लिए यूनान मँगवाया था। इसी जमाने में योरप में 'पेपायरस' का सर्वप्रथम आगमन हुआ। पर ठीक इन्हीं दिनों चीन में सड़े-गले रेशम से कागज तैयार किया जा रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि घास और शहतूत की छाल के रेशे से भी चीन-निवासी कागज तैयार करना जानते थे। आठवीं शताब्दी में अरब के कुछ सेनानायक युद्ध करके चीन से कुछ ऐसे कारीगर बन्दी के रूप में अरब ले आए जो रेशे से कागज बनाना जानते थे। इससे मानो एक भारी समस्या हल हो गई। घरेलू कारीगरी के पैमाने पर स्थापित हुई अरब की कागज की इन फैक्टरियों को हम योरप के कागज-व्यवसाय का अग्रदूत कह सकते हैं—यहीं से सबसे पहले कागज बनाने की कला मूर लोगों द्वारा स्पेन पहुँची, जहाँ योरप की कागज की सर्वप्रथम फैक्टरी

खुली। फिर तो धीरे-धीरे योरप और अमेरिका में कागज के व्यवसाय ने चरम उन्नति प्राप्त कर ली।

प्रारम्भिक दिनों में फटे चीथडों और स्पेन की 'एस्परेटो' नामक घास के रेशे से ही हाथ से कागज बनाया जाता था। किन्तु शिक्षा के प्रसार ने जब कागज की मांग बेहद बढ़ा दी, तब उनके निर्माण के लिए नए-नए साधन ढूंढने की आवश्यकता प्रतीत हुई। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि चीथड़ों और एस्परेटो घास पर कच्चे माल के लिए आश्रित रहकर पर्याप्त मात्रा में कागज तैयार नहीं किया जा सकता। इस समस्या को हल करने के लिए आखिर रेशम के कीड़े से सबक सीखा गया। रेशम का कीड़ा शहतूत की पत्तियाँ खाकर उन्हें एक लसीले पदार्थ में परिणत कर देता है, जो उसके शरीर से बाहर निकलकर इस योग्य हो जाता है कि उसके रेशे काते जा सकें। कागज के व्यवसायियों ने भी जंगल की लकड़ी के गूदे को रेशम के कीड़े के ढंग से एक लसीले पदार्थ में परिणत करने की तरकीब ढूंढ निकाली, जिससे कागज तैयार हो सके। आज दिन इस काम के

चित्र में जिस विशाल ढोलनुमा पात्र का एक भाग दिखाई दे रहा है, ऐसे अनेक कंडाल किसी भी आधुनिक कागज बनाने के बड़े कारखाने में लगे रहते हैं, जिनमें चिथड़ों या पल्प बनानेवाली लकड़ी के छोटे-छोटे चिपटों को विविध रासायनिक द्रव्यों के साथ भाप की गरमी से पकाकर और खूब मंथन करके वह घोल बनाया जाता है, जिससे कि कागज बनता है।
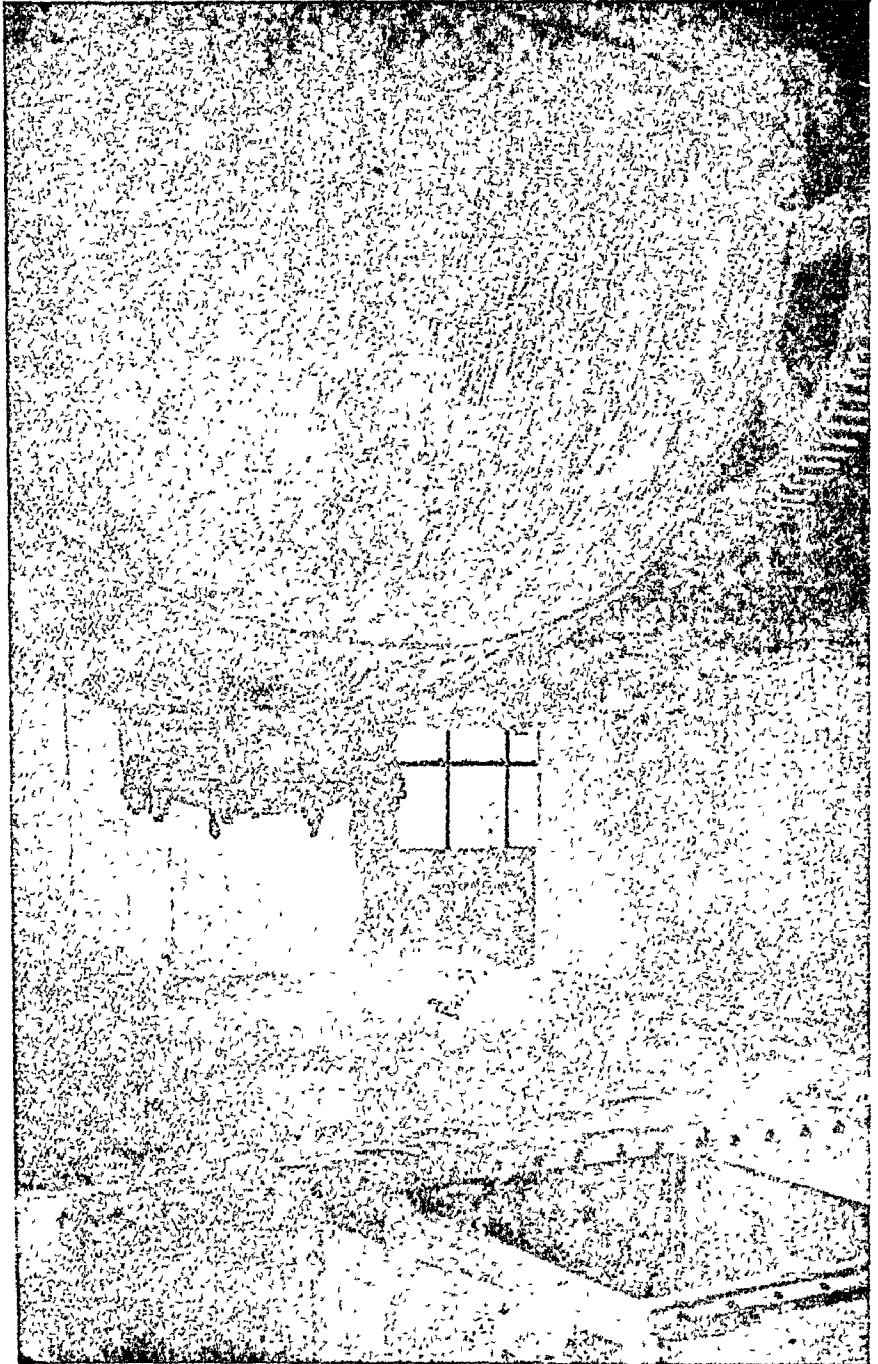
लिए आधुनिक मशीनें जंगल के विशाल वृक्षों के लट्ठों को काटकर उनकी लुगदी बनाती है, उस लुगदी को साफ करती हैं, कूटती-छानती है, और उससे एक पनीला मिश्रण तैयार करती है, जिससे अन्त में दूध की भाँति सफेद कागज के लम्बे-लम्बे वर्क तैयार हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए कनाडा की एक कागज की फैक्टरी का हम आपको दिग्दर्शन कराएँगे। इस फैक्टरी के लिए पहले जंगलों से लगभग १५ फीट लम्बे और १० इंच व्यास के लकड़ी के लट्ठे काटे जाते है, जो नदियों में बहाकर फैक्टरी तक पहुँचाए जाते हैं। फैक्टरी के हाते में पहुँचने पर ये लट्ठे जल में डाल दिए जाते हैं। तब एक घूमती हुई जंजीर के सहारे ये उस जगह पहुँचते हैं, जहाँ विद्युत्शक्ति द्वारा तीव्र गति के साथ कई आरे चलते रहते हैं। ये आरे इन्हें चार-चार फीट के समान टुकड़ों में काट डालते हैं। तदुपरान्त ये टुकड़े एक ढोलनुमा 'रोटेटर' में डाले जाते हैं। उस ढोल के निरन्तर घूमने के कारण ये सब आपस में खूब रगड़ खाते हैं और इस प्रकार रगड के कारण इनकी छाल उतर जाती है। तदुपरान्त एक तेज पानी की धार द्वारा उनके ऊपर से छिलके पूर्णतया अलग कर दिए जाते हैं। तब कुछ दिनों तक धूप में रखे रहने पर जब ये अच्छी तरह सूख जाते है, तो इन्हें पत्थर के कई चक्कों के नीचे डालकर इनके छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं, जिस प्रकार कि इमारती काम के लिए चूने के कंकड़ों के टुकड़े किए जाते है। इस क्रिया
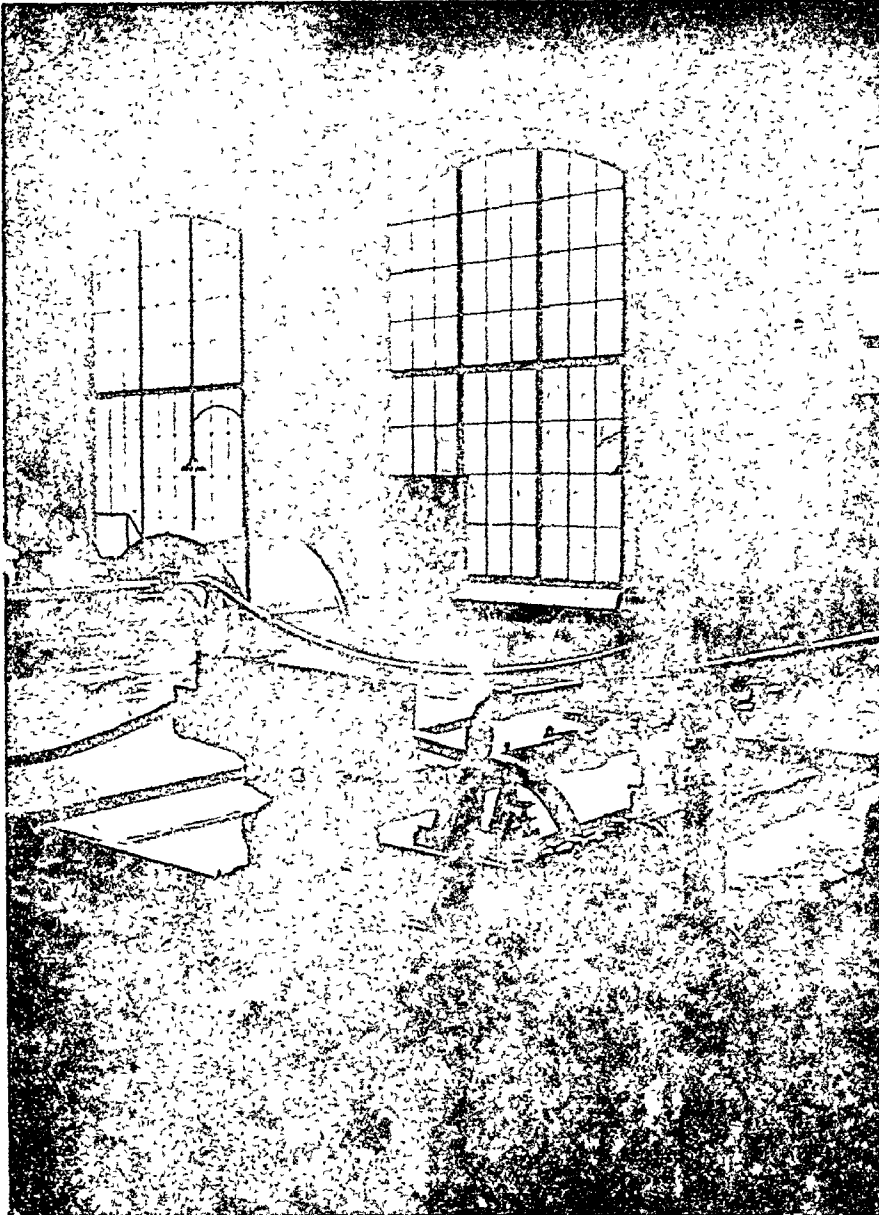
यह है कागज बनाने की मशीन का आरंभिक या गीला सिरा। इस सिरे पर लुगदी-मिश्रित पनीला द्रव्य लाकर एक पतली-सी पर्त के रूप में फैलाया जाता है, जो आगे चलकर क्रमशः सूखता हुआ मनचाही मोटाई के कागज में परिणत हो जाता है।

के समय चक्के के नीचे भी पानी डालते रहते हैं। इस प्रकार अन्त में उस सारी लकड़ी की लुगदी बन जाती है। इस लुगदी को तैयार करने के लिए एक रासायनिक रीति भी काम में लाई जाती है। इसके लिए सबसे पहले लकड़ी को वृत्ताकार परिधि में लगातार घूमती हुई एक तेज धार से इंच-डेढ इंच की चिपटो में बराबर काट लेते हैं। अब इन चिपटों को लोहे के कई मजबूत कण्डालो में डालते हैं। ये कण्डाल १५ फीट व्यास के होते हैं और इनकी ऊँचाई ५० फीट तक पहुँचती है। इनकी भीतरी सतह पर एक विशेष प्रकार की ईंटें लगी होती हैं जिन पर तेजाब का प्रभाव नहीं होता। इन कण्डालों को ऊपर-नीचे से एकदम बन्द करके उसमें जोरों के साथ भाप को प्रवेश कराते हैं, ताकि लकड़ी की वे चिपटें गरम हो जायँ। इस भाप के प्रवेश के पहले उन चिपटों के साथ एक नियत मात्रा में सलफरडाइ-ऑक्साइड, पानी और कैल्शियम-बाइ-सल्फेट भी मिला देते हैं। लगभग बारह-पन्द्रह घण्टे तक चुर जाने के बाद उन चिपटों के रेशे गलकर लुगदी के रूप में बदल जाते हैं। तदनन्तर उस लुगदी को कंडाल से बाहर निकाल साफ पानी में धो लेते हैं, ताकि रासायनिक द्रव उसमें लगे न रह जायँ। चाहे यह लुगदी यांत्रिक रीति से प्राप्त की गई हो, या रासायनिक रीति से, उसे कई बार तार की छलनी से छानना होता है ताकि बड़े आकार के रेशे अलग कर दिए जा सकें। अब एक-से ही आकार के रेशोंवाली यह लुगदी पानी के हौज में रखी जाती है। यहाँ पर इसमें कुछ रंगीन पदार्थ इसलिए मिलाए जाते हैं कि उसका स्वाभाविक पीला रंग दूर होकर एकदम श्वेत हो जाय। तदनन्तर फिटकरी और चीनी

यह है कागज बनाने की मशीन का अंतिम या सूखा सिरा। लगातार बनते चले आ रहे कागज को इस सिरे पर आकर कई बड़े-बड़े रोलरों के बीच में से होकर गुजरना पड़ता है, जिससे वह दबकर अच्छी तरह चिकना और 'समतल' हो जाता है। तदनंतर वह बड़ी-बड़ी रीलों में लपेटकर काटने के लिए भेज दिया जाता है।
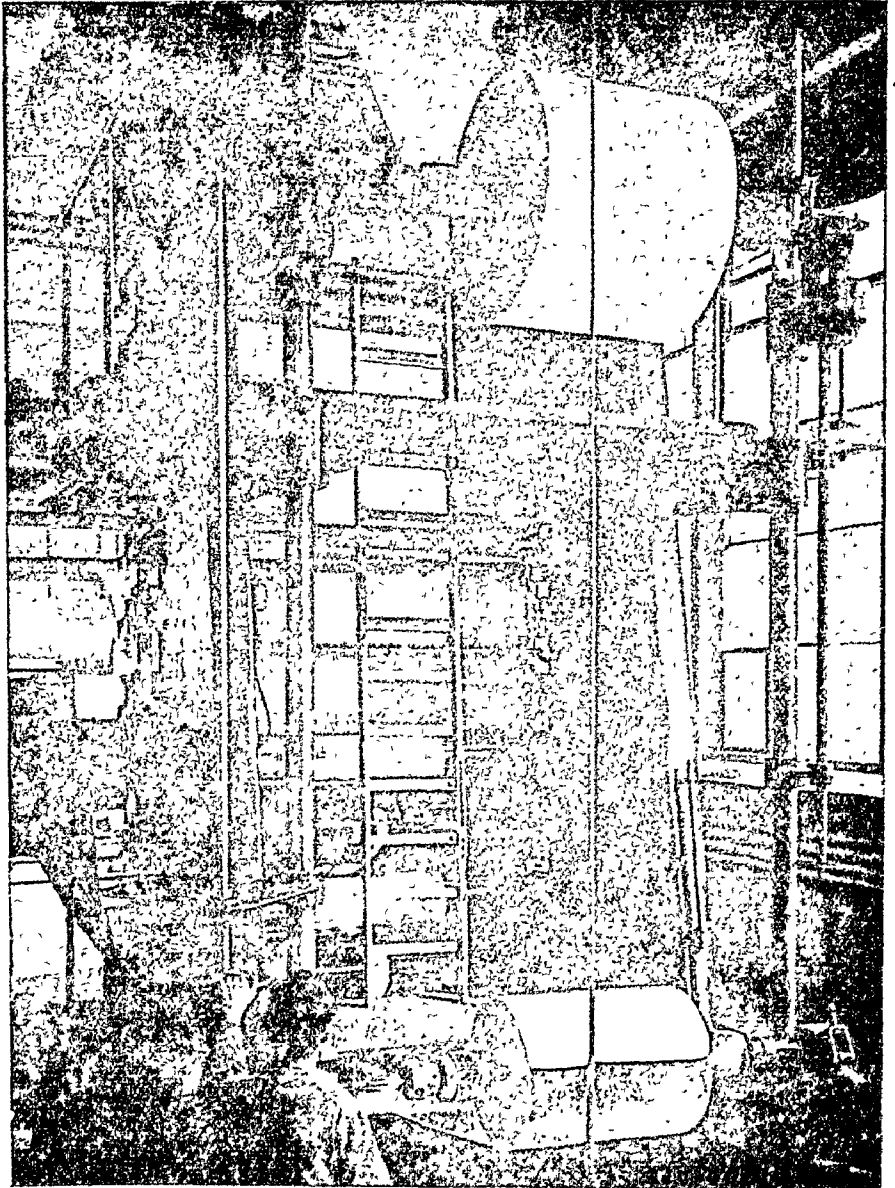
मिट्टी भी कुछ मात्रा में लुगदी के साथ मिला देते हैं ताकि उसमें आवश्यक चिकनाहट आ जाय। इसके बाद यह लुगदी कागज के रूप मे ढाले जाने के लिए पूर्णतया उपयुक्त हो जाती है।

तैयार हो जाने पर यह लुगदी, जिसमें १०० भाग पानी और एक भाग लकड़ी का रेशा रहता है, मशीन के प्रवेश-मुख (फ्लो-वाक्स) में डाली जाती है। फ्लो-वाक्स के पेंदे में एक आड़ी झिरी कटी हुई होती है। इसी झिरी मे से लुगदी दूध की धार की तरह एक-सां गति से नीचे पतले तार की छलनी के बेल्ट पर गिरती है। यह बेल्ट आगे को घूमता रहता है—फलस्वरूप लुगदी की एक पतली तह बेल्ट पर सामने की ओर बढती चली जाती है। इस छलनी मे प्रति इंच ६६ तार ताने के और ६६ बाने के लगे रहते है! इस छलनी की चौड़ाई २७ फीट और लम्बाई ३०० फीट के करीब होती है, और उसका बेल्ट नीचे लगे हुए बेलनों के सहारे आगे बढता है। ज्यो-ज्यों छलनी आगे बढती है, लुगदी का पानी नीचे को रिसता जाता है।

रीलों में लपेटे हुए कागज को छोटे आकार में काटने की मशीन

लुगदी का पानी खींचने के लिए रोलरों के बाद ही कुछ वक्स बेल्ट के नीचे लगे रहते है—इन वक्सों के अन्दर आंशिक वैकुअम उत्पन्न करके लुगदी का पानी खीच लेते हैं। इस मंजिल तक आते-आते लुगदी की एक तह-सी जमने लग जाती है। यहीं से तार की जाली के बेल्ट नीचे लौट जाते हैं और लुगदी की तह फेल्ट की पेटी पर कुछ दूर और आगे बढकर तीन जोड़े रोलरों में से होकर गुजरती है। ये दोहरे रोलर लुगदी की पर्त्त में से (जो अब कागज के रूप में है) पानी को दबाकर निचोड़ लेते है। इन्हे 'प्रेस-रोलर' के नाम से पुकारते हैं। प्रेस-रोलर से गुजरने के बाद भी कागज में ६० प्रतिशत पानी का अंश शेप रहता है, किन्तु अब यह कागज उस योग्य होता है कि बिना किसी पेटी के सहारे अकेले ही आगे बढ सके। आगे चलकर उसे लोहे के कुछ खोखले बेलनों पर से गुजारते है। इन खोखले बेलनों में भाप भरी रहती है, जिसकी गरमीसे कागज के अन्दर का पानी सूख जाता है। सुखानेवाले इन खोखले बेलनों की संख्या किसी-किसी मशीन में ६० तक पहुँच जाती है। इन बेलनों पर से गुजरने के बाद भी कागज मे ४ प्रतिशत नमी शेप रहती है, जो दूर नहीं की जाती, क्योंकि अभी कागज को चिकना बनाने के लिए उस पर लोहा करना आवश्यक होता है, और नम कागज पर ही ठीक से लोहा हो सकता है। इस क्रिया के लिए कागज को फिर भारी और चिकने रोलरों के बीच में से होकर गुजरना पड़ता है। तदुपरान्त वह बृहत्काय रीलों पर लपेट

लिया जाता है। जिस वक्त मशीन चलती रहती है, प्रति मिनट लगभग १००० फीट कागज रील पर अबाध रूप से लिपटता जाता है। एक रील के भर जाने पर अपने आप दूसरी रील उसका स्थान ले लेती है। इन्हीं रीलों से विशेप प्रकार की मशीनों द्वारा मनचाहे आकार के कागज काटकर रीमों में पैक कर लिये जाते है। रोटरी मशीनों पर छापते समय ऐसी पूरी रीलें ही लगा दी जाती है।
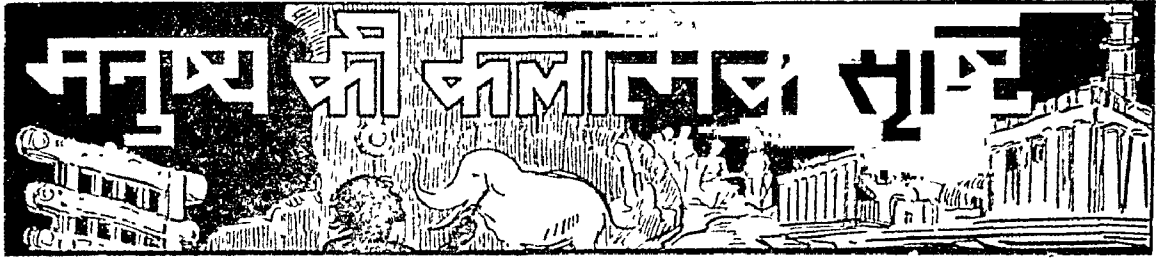
भारतीय कला—(१) प्रवेशक

मानव-इतिहास के आदि-युग से आरंभ करके हम प्राचीन मिस्र, सुमेर, बेबिलोनिया, असीरिया, आदि की कला-धारा का परिचय पिछले खंडों में पा चुके हैं। अब हम अपने ही देश—भारतवर्ष—के कला-मंदिर के तोरण-द्वार पर आ खड़े हुए हैं! वास्तव में तो हमें इससे पहले ही अपने घर का द्वार खटखटा लेना चाहिए था, किन्तु हमने यह आवश्यक समझा कि अपनी इस पैतृक निधि का यथार्थ मूल्य आँकने और उसकी गौरव-गरिमा को ठीक-ठीक समझ पाने के लिए पहले औरों की कमाई पर भी नजर दौड़ा लें। हमें विश्वास है कि हमारा यह श्रम विफल नहीं रहा है यदि हम अपने उपर्युक्त प्राचीन पड़ोसियों की पूँजी की जानकारी पाकर अब स्वयं अपने खजाने की झाँकी देखने को बढ़ रहे हैं। निस्संदेह अभी अपनी इस वसीयत की पूरी-पूरी नाप-जोख करने में कई प्रकरण हमें चाहिएँगे। तो फिर आइए, पहले उन आरम्भिक सूचनाओं और हिदायतों को पढ़ लें, जो इस कला के महान् संग्रहालय में प्रवेश करने के पहले जान लेना हमारे लिए जरूरी है।

इसके पहले कि हम भारतीय कला-क्षेत्र का सुविस्तृत रूप से दिग्दर्शन आरंभ करें, यह बेकार न होगा यदि हम उसकी कुछ प्रमुख विशिष्टताओं को जान लेने का यत्न करें। अब तक जिन-जिन महादेशों की कलाओं का पिछले प्रकरणों में हमने निरीक्षण किया है, उनमें से प्रत्येक की कला पर कोई-न-कोई अपनी निजी विशेषता और निरालेपन की छाप हमें दिखाई दी! प्रत्येक का कोई गुप्त प्रेरणा-स्रोत हमें दृष्टिगत हुआ, जिसने अन्य सब देशों की कलाओं से उसे विशिष्ट बनाकर उसके ललाट पर मानो सदा के लिए उस जाति विशेष का एक परिचयात्मक चिन्ह अंकित कर दिया, जिससे कि उसका जन्म हुआ था। इस प्रकार प्राचीन मिस्र की कला को हमने शाश्वतता, अटल-अडिग स्थिरता एवं अपरिमेय भव्यता के तो असीरियन कला को निर्द्वन्द्व शक्ति के प्रतीक के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करते देखा। आगे चलकर इसी तरह यूनानी कला को दैहिक सौंदर्य-विषयक परिपूर्णता तथा प्रकृतिपरक मानववाद, चीनी कला को अविचलित शान्त तत्त्वचिन्तन एवं गहन अन्तर्दर्शन, और जापानी कला को पूर्ण सामञ्जस्य तथा सुखमय प्रकृति-पूजन के भाव का प्रतिनिधित्व करते हम देखेंगे। भारतीय कला का भी इसी प्रकार अपना एक मूल प्रेरक उद्‌गम-स्रोत रहा है, जिससे उसकी समस्त कलात्मक धाराएँ अपनी मर्मर संगीत-ध्वनि लेकर उच्छ्वसित हुई हैं। वह प्रेरणा-स्रोत है 'धर्म', जो हमारी सबसे बड़ी वसीयत—सबसे अनमोल पैतृक सम्पत्ति है। संसार के अन्य किसी भी राष्ट्र के पास इससे अधिक मूल्यवान् पैतृक निधि नहीं है, और न कहीं और वह देखने को मिल सकता है। एक के बाद एक आनेवाली अगणित शताब्दियों के विशद् चित्रपट पर उस वसीयत की अटूट पैतृक धारा का वह निरन्तर उमड़ता हुआ प्रवाह केवल हम भारतवासियों ही को नसीब हुआ है।

आज के दिन मिस्र के वे प्राचीन देवता कहाँ हैं? उनकी विशाल भव्य पाषाण-प्रतिमाएँ तो निस्संदेह अब भी खड़ी हैं, किन्तु नील नदी की उपत्यका में धरती जोतनेवाला मिस्र का कृषक आज उनकी ओर किंचित् मात्र भी उस सम्मान के भाव से नहीं देखता, जैसा कि उसके पूर्वज देखा करते रहे होंगे। इसी प्रकार बाल (Baal), मोलोक (Moloch), एस्टार्ट (Astarte) आदि बाबुली देवी-देवता भी अतीत के अन्धकारपूर्ण विस्मृति-लोक में कभी के निर्वासित कर दिए जा चुके और यूनानी देवता अपोलो भी काव्य-कला की अधिष्ठात्री अपनी सह-

योगिनी देवियों सहित पार्नेसस पर्वत के शून्य निर्जन वनों में निराश ठंडी आहें भर रहा है ! किन्तु भारत का सीधा-सादा ग्रामवासी तो आज भी अपने साथी-संगियों का अभिवादन 'जय रामजी की' कहकर ही करता है, यद्यपि रघुराज श्रीरामचन्द्र सहधर्म्मिणी-सहित अपने उज्ज्वल चरणों से इस देश की भूमि को पावन करते हुए जिन दिनों यहाँ के आदिकालीन वनों में विचरे होंगे, उस समय को गुजरे हजारों युग बीत चुके हैं। यही बात श्रीकृष्ण, शिव, दुर्गा, बुद्ध, शंकर आदि अन्य दिव्य मनीषियों के बारे में भी कही जा सकती है, जो हमारे यहाँ एक बीते युग के कल्पित देवताओं या पौराणिक व्यक्तियों के रूप में नहीं, प्रत्युत विविध रूप और आकृतियों में अपने आपको अभिव्यक्त करनेवाले एक ही परमात्मा की प्रतीक-रूपी जीती-जागती शक्तियों के रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ इन सबका आज के दिन भी वैसा ही वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, जैसा कि भारतीय इतिहास के धुँधले आदि युग में उन्हें प्राप्त था और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के दिन पर दिन बढ़ते जा रहे प्रभाव के बावजूद भी भारत की जीवनधारा में आज भी धर्म का पुट उसी प्रकार मिला हुआ है, जिस प्रकार कि वह तुलसीदास, कबीर, चैतन्य, शंकर, बुद्ध, महावीर या उनसे भी पूर्व के पौराणिक और वैदिक ऋषियों के युग में था।

कला और धर्म

कला के इतिहास की एक सरसरी-सी जानकारी भी किसी भी जिज्ञासु के मन में यह बात जमाने के लिए पर्याप्त है कि संसार के लगभग सभी देशों में प्रेम और धर्म इन दो तत्त्वों का स्थान मानव-जीवन में सदैव एक आधारशिला के रूप में रहा है। धर्म ही वह सर्वोपरि शक्ति है, जो मनुष्य को दृश्य जगत् से परे के उस रहस्यमय अदृष्ट लोक में कुछ खोजने को निरन्तर प्रेरित करती रहती है, जहाँ देश और काल का अस्तित्व नहीं पाया जाता, और जहाँ विविध रूपधारी परम सत्ता का केवल एक ही अंतिम रूप दिखाई देता है। वह परम सत्ता उपासक के गुण-स्वभाव एवं वैयक्तिक प्रवृत्तियों के अनुसार किसी को परम शक्ति के रूप में तो किसी को परम ज्ञान अथवा परम आनन्द के रूप मे दिखाई देती है। अंत में साधक की परम सिद्धि की पराकाष्ठा उस समय होती है, जब कि वह अपने मनोनीत इष्टदेव में तादात्म्य भाव से घुलमिलकर एकाकार हो जाता है। औसतन प्रत्येक भारतवासी जब अपनी-अपनी रुचि विशेष के अनुसार अपने इष्टदेव की मनोनीत रूप में उपासना करता है, तो उस समय वह इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि जो परमात्मा उसे उस समय एक विशिष्ट रूप में दिखाई देता है, वह अपनी निरपेक्ष अवस्था में वस्तुतः किसी भी रूप या आकार में बद्ध नहीं होता——वह तो पूर्णतः निर्गुण और निराकार है। केवल अपने भक्तों की आराधना के मार्ग को सरल बनाने के हेतु ही वह वर्णनातीत निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करके दिखाई देता है। चूँकि उस परम शक्ति की सत्ता और गुण अनन्त है, अतएव उसके दिखाई पड़नेवाले विविध रूपों की भी कोई गिनती नहीं लगाई जा सकती——वह अनन्तरूप है। हिन्दू धर्म के उपासना-क्षेत्र मे इन अनगिनत देवी-देवताओं के पाये जाने का यही मूल रहस्य है, जिनको कि देख-देखकर पाश्चात्य समीक्षक इतने अधिक खीझ उठते हैं तथा जिनके कारण हमारे यहाँ भी परस्पर न जाने कितनी कटुता, उपहास और गलतफहमी पैदा हुई है।

वस्तुतः प्रत्येक हिन्दू अपनी मनोनीत पद्धति से उपासना करते समय अन्य लोगों द्वारा अपने-अपने ढंग से चाहे जिस रूप में ईश्वर को पूजने की स्वतंत्रता को उदारतापूर्वक सहर्ष स्वीकार करता है, क्योंकि उसका तो यह दृढ विश्वास है कि उपासना के जितने भी अलग-अलग पंथ हैं, उनका यदि सच्चे भावपूर्वक अनुसरण किया जाय, तो वे सभी एक ही परम लक्ष्यबिन्दु अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति की ओर ले जायेंगे।

दूसरों के प्रति उदारता का भाव रखने तथा अन्य धर्मों में जो कुछ भी ऊँची उठानेवाली बात हो उसके साथ आध्यात्मिक नाता जोड़ने की इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप ही भारतवर्ष की विचारधारा में धार्मिक सहिष्णुता की एक ऐसी प्रगाढ़ भावना पनप सकी है, जैसी कि अन्य किसी भी देश में नहीं पाई जाती। और यदि धर्म के नाम पर मंदिरों आदि को नष्ट-भ्रष्ट करने तथा अपने से पृथक विचार रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था को निर्दयतापूर्वक कुचलने और नेस्तनाबूद करने की कलंकमयी प्रवृत्ति ने भारतीय इतिहास के पन्नों पर अपने कालिमामय पदचिह्न छोड़े हैं, तो वह विदेशों से आए हुए विजयोन्माद से मदमाते धर्मान्ध आक्रमणकारियों के आगमन के बाद ही हुआ है। किन्तु प्रकृति और कालचक्र के प्रहार तथा अर्थलोलुप विजेताओं अथवा धर्मान्ध

अत्याचारियों द्वारा किए गए निरंतर आघातों के बावजूद भी इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक देवालयों में प्रतिष्ठित अनगिनत देवी-देवताओं का जो भव्य समारोह हमें आज भी देखने को मिलता है, वह इस बात का जीवित प्रमाण है कि एक के बाद एक आनेवाली विगत अनेक शताब्दियों की कालावधि में युगो और महायुगों के दुर्भेद्य पाषाण-खण्डों को काटते हुए किस प्रकार इस देश की धर्म एवं आध्यात्मिक साधना की कलकलमयी मंदाकिनी शत-सहस्र वीथिकाओं की रचना करके उनमें निरन्तर प्रवाहित होती रही है ! संसार का दूसरा कौन ऐसा देश है, जो एक ही मूल उपासनाक्रम के अपनी जन्मभूमि में इस प्रकार एक अटूट शृंखला के रूप में विकसित होने का सगर्व दावा कर सकता हो ?

भारतीय कला पर धर्म का प्रभाव

भारत के वैयक्तिक और समाजिक जीवन में आदि वैदिक युग से आज तक एक मूलभूत तत्त्व के रूप में धर्म की जो यह अटूट धारा प्रवाहित होती रही है, उसकी यहाँ की कला पर एक अमिट छाप पड़ी है। व्यर्थ के विवाद में पड़े बिना ही हम भारतीय कला पर भारतीय धर्म के प्रभाव को संक्षेप में केवल दो शब्दो मे व्यक्त कर सकते है—ये है लाक्षणिक प्रतीकवाद और रूढ़ि अथवा परम्परानुसरण। एक ही परम सत्ता के अगणित रूपों में पूजन-आराधन के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही असंख्य प्रतीकों का भी जन्म हुआ और कालान्तर में इन लाक्षणिक प्रतीकों को विविध आसन, मुद्रा, रूप, वर्ण, लक्षण, वाहन, आयुध आदि की विशिष्ट नियमावली में बद्ध कर दिया गया। तंत्रों में, जोकि वेदो से कुछ ही बाद के समय के है तथा सभी विवादास्पद बातों के निर्णय के लिए जो वैदिक संहिताओं को ही अंतिम आधार मानते है, अनेक मूल वैदिक देवता तांत्रिक 'शक्तियो' के साथ घनिष्ट रूप में संबद्ध कर दिए गए है। ये शक्तियाँ उन देवताओं के ही स्त्री-रूप है तथा उनके विशिष्ट तेज की प्रतीक मानी गई है। तंत्र-मत और महायान बौद्ध मत के समागम से तो मध्य-युग में आकर धार्मिक कल्पना के क्षेत्र में—विशेषकर बंगाल, नेपाल और तिब्बत में—मानों नवसर्जन की बाढ-सी आ गई। अपनी टूटी-फूटी हालत के बावजूद भी जिस रूप मे 'साधनमाला' नामक उस युग की एक अनमोल कृति हमें मिली है, उसमें प्रतीकवाद की मानों भरमार है और अब भी भारतीय धर्म-प्रतिमाओं के प्रत्येक अनुसंधानकर्त्ता को मध्ययुग की तांत्रिक बौद्ध मूर्त्तियों की पहचान का पता लगाने में एक दुर्लभ आनन्द मिलता है। उन प्रतीकों के गुह्य लाक्षणिक अर्थ की मीमांसा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं, यह तो धार्मिक इतिहासकार के अनुसंधान का विषय है।

किन्तु समसामयिक कलाकारों ने जिस प्रकार से उस युग के दिव्यदृष्टिप्राप्त साधकों की कल्पनाओं का बराबर साथ देते हुए उनके भव्य स्वप्नों को वास्तविकता का परिधान पहनाकर उन्हें एक स्थूल आकार दिया, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना कोई समीक्षक भी नही रह सकता।

भारतीय परंपरा की विशेषता

भारतीय कला में रूढि अथवा परंपरानुसरण के भाव की प्रधानता का कारण इस बात में है कि इस देश की दीर्घ इतिहास-सरिता के निरन्तर उतार-चढाव के बावजूद भी यहाँ की धर्म-परम्परा के प्रमुख स्रोत लगातार एक अटूट धारा के रूप में प्रवाहित होते रहे है। कई समान और असमान धार्मिक मतों के इस देश में घुस पडने के बावजूद भी भारतीय धार्मिक जीवन के शाश्वत धारा-प्रवाह में कोई ध्यान देने योग्य परिवर्तन नही हो पाया है और इसीलिए यहाँ की प्रधान परंपराएँ आज के दिन तक वैसी ही गठी हुई और सप्राण है जैसी कि उन दिनो रही होगी, जब पहलेपहल उनके आदि रूप अभिव्यक्त हुए होंगे। यह सच है कि विस्तार की बातों में अथवा कुछ गौण विषयों में कई छोटे-छोटे परिवर्तन हुए है, किन्तु हर हालत में इन विषयान्तरो से उन विविधता और समृद्धि का ही बढावा हुआ है, जिसका अन्यथा आज के दिन 'भारतीय कला' के नाम से ज्ञात कलात्मक सर्जन के इस विशद भाण्डार में अभाव ही रहता। ये विषयान्तरसूचक नवधाराएँ ही उसमें नवीन जीवन और प्राण का संचार करती रही है, अन्यथा वह निरी एक जी उबानेवाली बार-बार दोहराई गई-सी वस्तु होती। और फिर भारतीय कला यदि रूढ़िमूलक भी है, तो उस प्रकार की नही है जैसी कि प्राचीन मिस्र की पुरोहितों द्वारा नियंत्रित कला थी। वह शिल्पशास्त्रों के विविध विधानों और दृढ नियमों के बावजूद कभी भी निष्प्राण और अनुर्वर हो जाने की अधोदशा तक न गिरी।

पिछले युगों में भारतीय महाद्वीप के भिन्न-भिन्न भागों में धर्म के क्षेत्र में जो साहसपूर्ण नवप्रयोग किए गए, उनसे प्रेरणा पाकर कला के क्षेत्र में भी उतने ही उच्च आशयपूर्ण और साहसिक प्रयोगों की ओर हाथ बढ़ाया गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार इस देश के विविध धार्मिक मत नवीन विचारों के ज्वार-भाटे के

साथ-साथ नूतन परिधान पहनते रहे और उनके ही साथ-साथ कदम बढ़ाते हुए किस प्रकार कला के क्षेत्र में भी सहानुभूतिसूचक समान रूपान्तर होते चले गए।

'रस' की परंपरा

भारतीय परंपरा कभी भी बाह्य आकार-प्रकार को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने और उनकी बार-बार पुनरावृत्ति करनेवाली परंपरा नहीं रही है, जैसा कि अन्य देशों की परंपराओं के बारे में देखा जाता है। यदि आप कतिपय ग्रीक, रोमन, मिस्री या असीरियन मूर्तियों को गौर से देखें, तो हमारे इस कथन का आशय आपकी समझ में आ जायगा। आप देखेंगे कि उन लोगों के यहाँ अपने रोचक इतिहास की इतनी लंबी अवधि मे लगातार एक समान शैली और लगभग एक ही विधि (Technique) से काम लिया गया है—सारांश यह कि यदि आप उनकी एक ही कृति देख लें, तो मानो सभी कृतियाँ आपने देख ली। आपको सभी ग्रीक मूर्तियों में स्थूल शरीर की मासल बाह्याकृति का वही एक-सा ऊपरी निदर्शन, वही शरीर-रचना संबंधी सूक्ष्म रेखाङ्कन, और लगभग वही गिनी-चुनी दैहिक मुद्राएँ देखने को मिलेंगी। इसी तरह अनेक शताब्दियों की कालावधि में बिखरी हुई तमाम मिस्री कलाकृतियों में भी वही अविचलित भव्यता और शाश्वतता का भाव, तथा समस्त असीरियन मूर्तियों में वही उद्दण्डता, आतंक और निर्दय सत्ता की भावना आप देखेंगे। इसके प्रतिकूल भारतीय कला में बाह्य आकार-प्रकार संबंधी रूढ़ियों का उतना अनुसरण नही किया जाता, जितना कि 'रस' विषयक परंपरा का। किसी भी देवता का बाह्य आकार-प्रकार चाहे जैसा हो, उसके प्रतिनिधि भाव में कोई अन्तर नही पड़ना चाहिए, यही यहाँ का लक्ष्य रहा है। उदाहरण के लिए शिव, चाहे जिस युग में उनकी प्रतिमा बनी हो, हमें सदैव हर्ष-शोक से परे सर्वव्यापी कल्याणकारी परब्रह्म के ही प्रतीक के रूप में चित्रित दिखाई देते हैं और इसी तरह अपने प्रचण्ड रूप द्वारा भय हरनेवाली मा काली सदैव विश्व-संहारक प्रलयंकर शक्ति के रूप में ही हमारे यहाँ प्रदर्शित की गई हैं। यही बात बुद्ध के बारे में भी लागू है, जो सदैव ध्यानमग्न और महान् करुणा से ओत-प्रोत ही दिखाई देते है, फिर चाहे उनकी मूर्ति तक्ष-शिला में गढ़ी गई हो, चाहे अमरावती, मथुरा, अथवा सारनाथ में। उनकी बाहरी आकृति या वेशभूषा में अतर पाया जा सकता है—वे कहीं एक यूनानी जैसे तो कहीं सिथियन, मगधवासी, आन्ध्र, ब्रह्मदेशीय, सिंहली अथवा कंबोज-देशीय जैसे चित्रित किए जा सकते हैं। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि सर्वत्र उनमें 'रस' की परंपरा अक्षुण्ण भाव से समान ही होनी चाहिए।

बाहरी आकार-प्रकार से अधिक आन्तरिक भाव के तत्त्व पर जो अत्यधिक जोर दिया गया है, सो भारतीय कला की एक खास विशेषता है। अनेक आधुनिक चित्रकार अजंता, तिब्बत, राजस्थान, काँगड़ा, या मुगल शैलियों की महज नकल करके प्राचीन परपरा को फिर से जगाने की धुन में भारतीय कला की इस अत्यंत महत्वपूर्ण विशिष्टता के प्रति ध्यान देने से चूक जाते है और किसी भी युग विशेष अथवा स्वयं अपने ही युग की प्रतिनिधि भावना को सही-सही समझे बिना केवल उस युग की गौण रचना-विधि का अनुकरण मात्र करने मे ही सफल हो पाते हैं। इस प्रकार से प्राचीन कला का पुनरुत्थान असंभव है, जब तक कि आज का कलाकार अतीत की उन कृतियो के पीछे जो प्रेरक भाव रहा है, उसे फिर से खोजकर न जान ले। वस्तुतः प्रत्येक सच्चे कलाकार को 'रस' के रूप मे मिली हुई अपनी उस अनमोल वसीयत के साथ-ही-साथ स्वयं अपने युग के प्रति भी खरा होना चाहिए। संभव है कि प्राचीन आकृतियों और रचनाशैली की नकल कुछ लोगो को भ्रान्ति में डालकर, उन्हें प्राचीन भावना के पुनरुत्थान का भुलावा दे सके, किन्तु एक दक्ष कला-पारखी की आँखें यह भाँपे बिना नहीं रह सकतीं कि यह सिवा रचना-विधि की कलाबाजी और थोथी नकल के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। इस प्रकार के अनुकरण के प्रयास कुछ समय के लिए प्रचारवादियों द्वारा प्रशंसित होकर अथवा थोथी राष्ट्रीयता की परितुष्टि करके क्षणिक ख्याति-लाभ कर भी ले, तो भी अंत में उनके लिए जोश ठण्डा पड़कर असफलता की मरुभूमि में विलीन हो जाना ही बदा है। क्योंकि आंतरिक प्राणशक्ति ही वह प्रेरक शक्ति है, जो हर प्रकार के कलात्मक सृजन में ओज भरती है और कला के महान् युग सदैव राष्ट्र की उस प्राणशक्ति के पुनरुत्थान के समय ही प्रकट होते हैं। हम देखते है कि बुद्ध की वाणी ने इस देश में ही नहीं बल्कि, जहाँ-जहाँ भी बौद्ध मत फैला वहाँ न केवल आध्यात्मिक उत्थान प्रत्युत एक सुनिश्चित कलात्मक पुनरुत्थान की भी नींव डाली। सारांश यह है कि महान् कला का उदय एक महान् आध्यात्मिक उत्थान के साथ ही होता है और यह एक ऐसा सत्य है जिसकी भारतीय इतिहास में कई बार पुनरावृत्ति होती रही है।

भारतीय कला की आलंकारिता

भारतीय कला की तीसरी विशेषता है उसकी आलंकारिकता। भारत के कलाकारों ने अपनी कृतियों को ग्रीक या रोमन कलाकारों की भाँति एकदम प्रकृति की हूबहू प्रतिकृति बनाने का कभी प्रयास नही किया, बल्कि उनका प्रयत्न सदैव प्रकृति की नकल करने के बजाय उन्हे अपने मन की भावनाओं के अनुकूल बनाने की ओर ही रहा। इसीलिए कुछ सुन्दरता की माँग और कुछ अपनी आन्तरिक भावनाओं के उभाड़ से प्रेरित होकर उन्होने प्रकृति को अपने निजी आयोजन के अनुसार एक नए साँचे में ढालने का प्रयत्न किया और प्राकृतिक तथ्यों को जैसा उन्हे अनुकूल प्रतीत हुआ वैसा ही रूप उन्होंने दिया।

भारतीय कला—(२)

प्रागैतिहासिक युग

भारत की प्रागैतिहासिक कला का भी श्रीगणेश हम बहुत-कुछ उसी प्रकार होते देखते है, जैसा कि अन्य देशों में देख चुके है। इस प्रागैतिहासिक कला का सर्वाङ्गसंपूर्ण इतिहास तो संभवत: कभी भी रेखाकित न किया जा सकेगा, अत: प्रस्तुत लेख में भी हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओ पर ही प्रकाश डाल पाएँगे। विशेषज्ञों ने इतिहास से परे के उस पुरातन युग की पुरातत्त्व-विषयक ढेरों सामग्री को भूगर्भ में से खोद निकाला है। उसकी भूस्तर-विज्ञान, शिलीभूत-विद्या तथा मानव शास्त्र की दृष्टि से गहरी छानबीन की है, और इस प्रकार प्राप्त सामग्री पर से बहुतेरे कामचलाऊ नतीजे निकाले है। मोटे तौर-से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के इतिहास का आदि-प्रस्तरयुग लगभग १७,००० ईस्वी पूर्व, उत्तर-प्रस्तर-युग ७,००० से ६,००० ईस्वी पूर्व और लौह-ताम्र-कांस्य युग ४,००० से १,००० ईस्वी पूर्व के लगभग आरंभ होता है। रंग-ढंग में इस प्रागैतिहासिक युग से मिलती हुई सारी सामग्री बहुत कुछ वैसी ही है जैसी अन्य देशों में मिली है। अतएव इस दृष्टि से भारत के आदिकाल के चकमक पत्थर से बने औजार-हथियार, अस्त्र-शस्त्र, मिट्टी के बर्तन आदि अपनी कोई ऐसी विशेषता नही रखते, जो दूसरी जगहों से प्राप्त सामग्री की तुलना में उन्हें किसी प्रकार की विशिष्टता प्रदान कर सके। इसमे सदेह नही कि इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से इन वस्तुओं का बहुत बड़ा महत्व है। परन्तु यदि हम उनमें वास्तविक कला के अंकुर खोजना चाहे, तो अभी वे हमे देखने को नहीं मिलते—वह तो बहुत बाद की बात है।

भारत की प्रागैतिहासिक युग की गुहा-चित्रकारी का विवेचन यदि हम किसी सुनिश्चित तिथिक्रम में करना चाहें, तो यह सभव नही है। परन्तु चूँकि वही भारतीय कला के प्रस्फुटन के आदि अंकुरों के रूप में हमें उपलब्ध है, अतएव यहाँ हम एक-दो विशिष्ट उदाहरण लेकर कुछ विस्तारपूर्वक उसकी आलोचना करेंगे। ये गुहा-चित्र सारे भारतवर्ष में काफी विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए मिलते है—उनकी यह श्रृंखला उत्तर-पश्चिम में सुदूर कलात से आरंभ होकर बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड, मिर्जापुर, रायगढ, छोटा नागपुर होते हुए दक्खिन के कुर्नूल

घाटशिला में प्राप्त प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों का एक नमूना

और वाइनाड़ जिलों की 'विल्ला सुर्गम' तथा 'एड़ाकाल' गुफाओं मे जाकर समाप्त होती है। इस संबंध में एक बात बड़े मार्के की यह है कि हिमालय मे अब तक प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रकारी के ऐसे कोई भी नमूने नहीं मिले हैं, यद्यपि आदि-काल ही से वह प्रदेश हमारे यहाँ 'देवों की निवासभूमि' माना जाता रहा है। इसका कारण कोई-कोई यह बताते हैं कि भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से हिमालय का उद्भव बहुत बाद को हुआ है, और कोई इस सिलसिले में उस महान् प्रागैतिहासिक मध्य-एशियाई महासागर का ही नाम लेते हैं, जिसने एक जमाने मे सारे उत्तरी भारत और तिब्बत के प्रदेश को परिप्लावित कर मध्यभारत तथा दक्खिन के भूभाग को उस शेष भूखंड से एकदम पृथक् कर रक्खा था, जिसे कि आज हम एशिया के नाम से पुकारते हैं। जो कुछ भी कारण रहा हो, इस बात के रहस्य का अभी तक कोई संतोषजनक निराकरण नहीं हो पाया है।
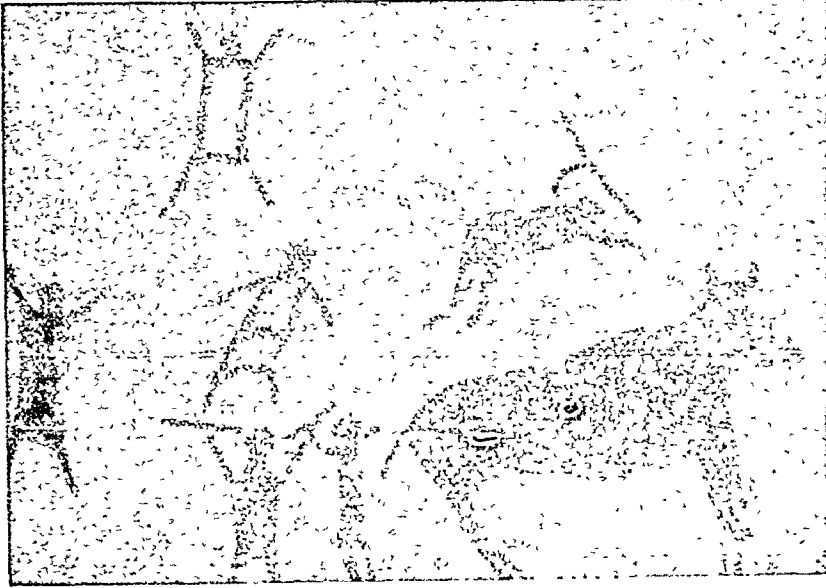
सिंघनपुर की गुफाओं के प्रागैतिहासिक चित्रों का एक उदाहरण

भारतवर्ष में जो प्रागैतिहासिक कंदरालय अब तक मिलते हैं, उनमें सबसे प्राचीन हैं 'विल्ला सुर्गम' नामक गुफाएँ। ये गुफाएँ सबसे पहले कैप्टैन न्यूबोल्ड द्वारा सन् १८४४ ई० मे खोजी गई थीं और उन्होंने ही इनकी बहुत-कुछ आरंभिक छानबीन भी की थी, यद्यपि विशेषज्ञों द्वारा उनका विधिवत् अनुसंधान किया गया लगभग ४० वर्ष बाद। इन गुफाओं में अत्यंत प्राचीन ढंग के मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों और बहुतेरे पुराने जानवरों की अस्थियों के रूप में तो काफी मूल्यवान् सामग्री मिली है, परन्तु उनमें किसी तरह की भित्ति-चित्रकारी या खुदाई-नक्काशी का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता। यह धारणा की जाती है कि इन गुफाओं में जो एक गुफा आज 'परियों का कक्ष' कहकर पुकारी जाती है, वह संभवतः ऐसे तांत्रिक अनुष्ठानों के प्रयोग के लिए काम में लाई जाती रही होगी जैसे कि आदि शक्ति की आराधना-उपासना में प्रयुक्त होते हैं।

वाइनाड़ की 'एड़ाकाल गुफाएँ' कालीकट से लगभग ५६ मील और उटकमंड से भी करीब उतने ही फासले पर स्थित हैं। उनका पता पहलेपहल १९०१ ई० में एक अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेंट, मि० फासेट, द्वारा लगा था और उनमें कई मानवाकृतियाँ तथा पशुओं के खुदे हुए शिला-चित्र पाए गए हैं। इन खुदे हुए शिला-चित्रों की सबसे मनोरंजक विशेषता सिर पर धारण किए हुए एक विचित्र प्रकार के वेश से युक्त उनमें प्रचुर रूप से पाई जानेवाली मानवाकृतियाँ हैं। अनेक पशुओं की भी आकृतियाँ उनमें सम्मिलित हैं और स्वस्तिक, सूर्य-चक्र, तथा चतुष्कोण तांत्रिक यंत्र जैसे आम तौर से पाए जानेवाले सामान्य भारतीय प्रतीक भी उनमें देखने को मिलते हैं।

पहाड़ी चट्टानों पर खुदे हुए शिला-चित्रों का एक और मनोरंजक उदाहरण कलकत्ता-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० पंचानन मित्र ने सिंहभूम जिले के मऊभंदर गाँव के पास घाटशिला नामक स्थान में खोज निकाला था। ये शिला-चित्र काले पाषाण पर नक्काशी किए हुए हैं और उनमें तथा ऑस्ट्रेलिया के 'ब्रेंट्री बे' नामक स्थान मे पाए गए प्रसिद्ध शिला-चित्रों में एक निश्चित समानता दिखाई देती है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)।

विगत शताब्दी के अंतिम दिनों में मि० जॉन कॉकबर्न नामक एक योरपीय सज्जन को कैमूर-पहाड़ियों के सिलसिलों में कई प्रागैतिहासिक चित्रों का पता लगा।

यह चित्रकारी सीधी खड़ी चट्टानों के पृष्ठों पर तथा ऐसी कंदराओं में की गई है, जो कि 'शिला कुटीर' (Rock Shelters) के नाम से पुकारी जाती है, और कैमूर-पहाड़ियों के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो सिलसिलो एव उनके बीच के पठार के प्रदेश में भी पाई गई है, जिसकी कि चौड़ाई बीस से तीस मील तक है और जो मिर्जापुर तथा चुनार से पाभोगा और चित्रकूट तक फैला है। इन गुहा-चित्रो में से अधिकांश में शिकारियो और आखेट के ही दृश्य चित्रित हैं। मिर्जापुर के परगना अहरौरा के भल्दुरिया नामक स्थान के चित्र में एक ऐसे कृष्णमृग के शिकार का दृश्य है, जिसके सींग आगे को निकले हुए है और लोहरी गुफा के चित्र में विड़ाल-वर्ग के किसी जानवर को शिकार में मारने का दृश्य अकित है। इसमें शिकारी हाथ में एक मशाल या फेकने के वर्छे-जैसी कुछ चीज ऊँचा उठाए हुए प्रदर्शित है। इसी प्रकार सोन नदी की उपत्यका में टूप्पै-चौरासी नामक स्थान के सम्मुख स्थित लिखूनिया नाम की शिला-कुटीर के चित्र में एक शिकारी पत्थर के भाले से एक हरिणी का शिकार करते हुए दिखाया गया है। इन दुर्गम कदराओं में से अधिकतर प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विषयक सामग्री के एक प्रकार के अजायबघरों जैसी है, जिनमें पाए जानेवाले चकमक पत्थर के छुरों-चाकुओ, वाणों के फलों, वरमियों, फरसों, मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों, जली हुई हड्डियों और शिलीभूतों के अवशेपों को छाँटकर एक वढिया संग्रह जुटाया जा सकता है। घोड़मांगर नामक स्थान की गुफा में शिकार का एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण दृश्य चित्रित है, जिसमे एक साथ छः आदमी एक सींगदार गैंडे पर आक्रमण करते हुए दिखाए गए हैं। इनमें से एक को गैंडे ने अपने थूथन के सींग से लथेड़कर ऊँचा उछाल दिया है। पीछे की ओर टोली में का एक आदमी, जो अपने सिर पर एक असाधारणतया बड़ा शिरोवेश धारण किए हुए है और संभवतः इन सबका सरदार है, गैंडे की पीठ में अपना वर्छा घुसेड़कर उसको दूसरी ओर मोडने के प्रयत्न में संलग्न दिखाया गया है। उसकी भावभंगी से ऐसा प्रतीत होता है मानों उसने वार करने में अपने वजन का सारा जोर भाले के ऊपर लगा दिया हो! क्रोधित गैंडे के सामने की ओर जो दो आदमी है, उनमें से एक की मुद्रा अत्यन्त सतेज और कर्मण्य गतिशीलता की द्योतक है। उसके हाथ में कड़े किए हुए काठ का एक साधारण भाला है, जिसमें आस-पास दो अतिग्वित फल लगे हुए है। इस भाले को वे गैंडे की छाती पर
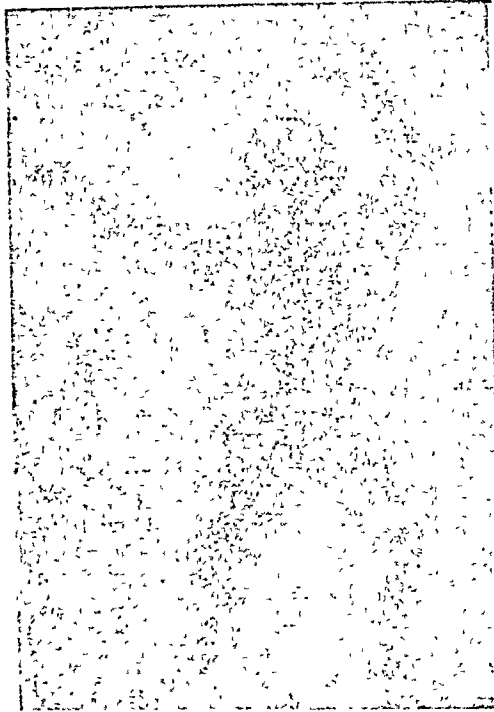
संधाने हुए हैं।

सिंघनपुर की गुहा-चित्रकारी का अन्य एक नमूना

इसी तरह के शिकार के दृश्य परगना बरहर के रूप नामक गाँव में और विजयगढ के समीप हरिनहरणा नामक स्थान की गुफा की चित्रकारी में भी पाए जाते है। बघेलखण्ड के मोरहना पहाड़ और घरवी पहाड़ की कंदराओ में लाल गेरू के रंग में रूखे ढंग से की गई एक तरह की चित्रकारी मिलती है, जिसमें एक बहुत ही पुरातन पद्धति की गतिहीन शैली में सामान्य शिकार के दृश्यों के अलावा प्राचीन पत्थर गढनेवालों की जिन्दगी के कुछ दृश्य चित्रित है। विंध्याचल के बलुए पत्थर पर इसी प्रकार के लाल गेरू मे चित्रित अन्य कुछ उल्लेखनीय प्रागैतिहासिक रेखाचित्र मि० सिल्वेराद नामक एक सज्जन ने मानिकपुर रेलवे स्टेशन से १॥ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित सरहाट में, वदौसा रेल्वे स्टेशन से १६ मील दक्षिण स्थित गुड़हमपुर में, मानिकपुर से १२ मील दक्षिण-पूर्व में मौजा कठौता ममनिया के कुड़ियाकुंड नामक स्थान में और चौरी की जंगल-चौकी से १॥ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित कर्पटिया नामक स्थान में भी खोज निकाले थे। इन रेखाचित्रों में विशेपज्ञों ने आदि भारतीय-ऑस्ट्रेलियन संस्कृतियों के सम्मिलन का बहुत-कुछ आभास पाया है और इनके आधार पर प्राचीन भूगोल तथा मानवशास्त्र के

सम्बन्ध में तरह-तरह की अटकल-पच्चू धारणाएँ खड़ी की गई हैं।

किन्तु अब तक इस देश में जितनी भी ऐसी प्रागैतिहासिक गुहाचित्रकारियाँ पाई गई हैं, उनमें हमारे अपने मतलब की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण हैं मध्यप्रदेश की सिरगुजा रियासत के रायगढ़ नामक स्थान के समीप की एक पहाड़ी पर स्थित कुछ गुफाओं की चित्रकारी। इस स्थल पर पहुँचने के लिए सबसे नजदीक का स्टेशन बंगाल-नागपुर रेल्वे का नहरपाली स्टेशन है, जिसके ठीक उत्तर में दो मील के फासले पर एक ऊँचा चट्टानी टीला दिखाई पड़ता है। इसी के दक्षिणी पृष्ठ में निर्मित कुछ छिछली गुफाओं में सन १९१० में बंगाल-नागपुर-रेल्वे के एक अफसर, मि० एंडरसन, ने ऊपर उल्लिखित महत्वपूर्ण चित्रकारी की खोज की थी। इस पहाड़ी की तलहटी में सिघनपुर नाम का एक गाँव बसा हुआ है, इसीलिए इन गुफा-चित्रों का नाम उक्त गाँव के नाम पर ही पड़ गया है। सिघनपुर के ये भित्ति-चित्र तीन वर्गों में बँटे हुए हैं—१. वे जो कंदरा की ही दीवारों पर चित्रित हैं; २. वे जो समीप के एक गहरे खड्ड के पृष्ठ पर रेखांकित हैं, ३. वे जो बिल्कुल खुली हुई चट्टानों के पृष्ठ पर चित्रित हैं। भारतीय कला के विख्यात इतिहासज्ञ और जानकार मि० पर्सी ब्राउन का मत है कि इन भित्ति-चित्रों में स्पष्टतया दो विभिन्न शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनमें एक प्राचीनतर और अधिक स्पष्ट, तथा दूसरी किचर-पिचर ढंग की और लापरवाह जैसी है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मिट्टी का बर्तन (फो०—'भारतीय पुरातत्व-विभाग')

चट्टानों के जो पृष्ठ इस चित्रकारी के लिए काम में लाए गए हैं, वे कोई खास तौर से इस कार्य के लिए तैयार किए गए नहीं जान पड़ते, बल्कि चित्रकार ने अपनी मनमानी चाह के अनुसार ही शिला-पृष्ठ के अधिक चिकने भागों को अपने काम के लिए चुन लिया है। यह चित्रकारी लाल गेरू के रंग से की गई है, जो कि इस स्थान के आसपास सुलभ्य है और रंग संभवतः बाँस या नरकुल से बनाई गई कूँचियों से लगाया गया होगा। बल्कि अधिक संभावना तो यह है कि रंगों को लगाने के लिए जिस तूलिका से काम लिया गया होगा वह कूँची या ब्रुश जैसी न होकर लेखनी की तरह कड़ी और नुकीली रही होगी। इस पर भी इन चित्रों की रेखाओं में जो मृदु सुकुमारता की झलक दिखाई देती है, उसका कारण संभवतः समय का प्रभाव अथवा उक्त चट्टानों की गुण-विशेषता रही हो, जिससे कि रंग उनमें सोखा जाकर उनकी रगों में भीतर तक प्रविष्ट हो गया है।

इन चित्रों के विषय हैं—१. आखेट के दृश्य; २. मानव-समूह; ३. चित्र-लिपि, और ४. पशुओं, उरंगमों आदि की आकृतियाँ। प्रस्तुत लेख के साथ इन गुहा-चित्रों के जो नमूने दिए जा रहे हैं, उनमें पृ० १५४२ के चित्र में शिकारियों द्वारा संभवतः एक जंगली भैंसे के आखेट का सतेज चित्रांकन है। इस चित्र में कलाकार ने बड़े दर्शनीय ढंग से शिकारियों में से एक व्यक्ति के भैंसे द्वारा उछाल दिए जाने की क्रिया दिग्दर्शित की है और शेष व्यक्तियों में से कुछ ऐसे दिखाए गए हैं, मानों या तो वे मर चुके हों या सख्त घायल हो गए हों। दूसरे नमूने में (दे० पृ० १५४३ का चित्र) संभवतः शिकारियों द्वारा घेरे जाने पर सामना करने के लिए उठ खड़े हुए एक भालू का चित्र है, जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि रायगढ़ के आसपास का प्रदेश इन दिनों भी भालुओं के लिए प्रख्यात है।

इन भित्ति-चित्रों में चित्रित मानव-समूहों का रेखांकन भी बहुत ही दिलचस्प है। अधिकतर लोग या तो किसी धार्मिक रस्म को अदा करते हुए या नृत्य करते हुए ही दिखाए गए हैं। ऐसे प्रत्येक चित्र में प्रायः नृत्य के समय की गतियुक्त टेढ़ी-मेढ़ी टाँगों और ऊपर उठी हुई बाहोंवाली मुद्रा ही प्रदर्शित है। चित्रलिपि के आलेखों में से कई तो रंग-ढंग में इतने क्लिष्ट हैं कि आज के दिन उनके अर्थ को पढ़कर समझना असंभव-सा है। हाँ, पशुओं और उरंगमों के
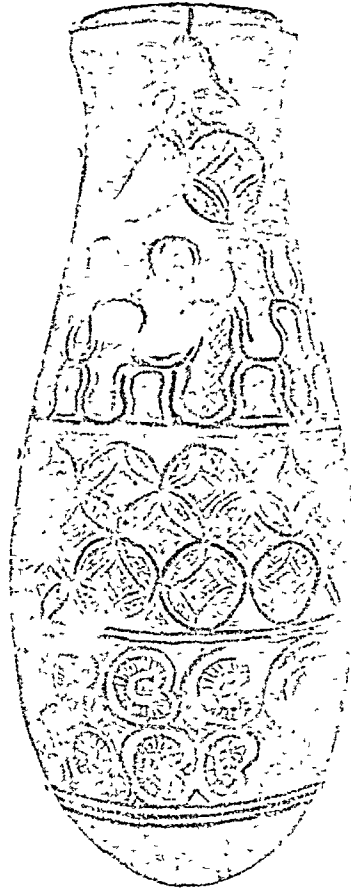
जो चित्र अंकित किए गए है, वे एकदम सजीव-जैसे और ओजपूर्ण हैं। छिपकलियों के चित्र तो खास तौर से बहुत अच्छे हैं और एक पशु-चित्र में, जो सभवत सांभर का प्रतीत होता है, कई नैसर्गिक विशेषताएँ प्रत्यांकित हैं।

इन चित्रों की कलात्मक व्यञ्जना यद्यपि उच्च कोटि की नही है, फिर भी उनमें से कुछ मे तूलिका के प्रयोग की वैसी ही विधि का आभास हमें मिलता है, जैसा कि स्पेन में कोगूल नामक स्थान के भित्ति-चित्रों के आदिकालीन चित्रांकनों में के प्राचीनतर नमूनों में दिग्दर्शित है। सिंघनपुर के इन भित्ति-चित्रों की प्रमुख कला-विशेषता उनका उल्लसित भाव-प्रदर्शन तथा विषयाङ्कन सम्बन्धी उनका धाराप्रवाह है। इन गुहा-चित्रों और प्रागैतिहासिक मिस्र के तथाकथित जालीदार रेखाओं से खचित मिट्टी के वर्तनों पर की चित्रकारी में वहुत-कुछ जातीय समानता-सी देखी जा सकती है।

यह मोहेंजोदड़ो की खुदाई में निकली मूर्तियों में सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध कलाकृति है। यह किसी योगी की मूर्ति मानी जाती है।
(फो०—'भारतीय पुरातत्व-विभाग')

भारत की पुरातन चित्रकारी के उन नमूनों में, जिनके कि विषय में कोई निश्चित तिथि कायम की जा सकती है, सबसे ठोस उदाहरण सिरगुजा रियासत की रामगढ़-पहाडियो की जोगीमारा-गुफा के भित्ति-चित्रों में हमें मिलते है। ये भित्ति-चित्र ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में वनाये गए थे, ऐसा माना जाता है। ये चित्र अपने मूल रूप में तो अव देखने को नही मिल सकते, क्योंकि धुंधले पड़ जाने के कारण कालान्तर में सद्भावनापूर्वक संभवत: उनका जीर्णोद्धार किया जाता रहा और उनका वही रूपान्तर अव हमें उपलब्ध है। फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मूल रूप में इस गुहा में ऐसी ही चित्रित पट्टियों की एक ही केन्द्र से विकीर्ण एक पूरी शृंखला-सी थी, जिसमें मानवाकृतियाँ, पशु और भवन आदि विविध विषयो का निदर्शन किया गया था। वाद के जीर्णोद्धारकों द्वारा उनका वहुत-कुछ रूपान्तर हो जाने पर भी उनमें हम उस युग की मूर्ति एवं भवन-निर्माण-कला की विशेष शैली के साथ वहुत-कुछ समानता पाते हैं। ये चित्र-पट्टियाँ मछलियो, मकर तथा अन्य जल-जीवों की आकृतियों के वार-वार प्रयोग से बनाए गए एक प्रकार के वार्डर से परिवेष्ठित हैं। सच पूछिए तो इन चित्रो में जो कहानी चित्रांकित की गई है, उसका पूरा रहस्योद्घाटन तथा सही-सही अर्थ-विवेचन अभी तक नही हो पाया है।

जोगीमारा की यह कंदरा केवल १० फीट लवी और ६ फीट चौड़ी है और उसकी ऊँचाई इतनी कम है कि कोई भी औसत कद का आदमी खड़ा होकर उसकी छत को छू सकता है। गुफा का एक पृष्ठ खुला हुआ है, अतएव उसके भीतरी हिस्से में काफी उजाला रहता है।

इस गुहा-चित्रशाला में ऊपर उल्लिखित आलंकारिक चित्र-पट्टियों के अतिरिक्त एक-दो ऐसे चित्र भी हैं, जिनमें कुछ स्वतंत्र विषयों का रेखाङ्कन हुआ है, जैसा कि वृक्ष के नीचे बैठे हुए पुरुषों की एक टोली का अथवा पुष्करिणी के बीच खड़ी नर्त्तकियो की एक जोड़ी का चित्र। इनमें हम प्राचीन काल के भवनों तथा रथों के-से वाहनो के भी अविकसित चित्रण के कुछ नमूने देख सकते है। इन चित्रो में जो कलातत्त्व है, वह अजंता, वाघ अथवा सिगरिया के विख्यात भित्ति-चित्रो से बहुत अधिक निम्न कोटि का है, इसमे संदेह नही है। परन्तु इन आदिकालीन चित्रांकनों में आगे आनेवाले कलाक्षेत्रीय उप:काल की अग्रिमा का कुछ धूमिल आभास अवश्य देखा जा सकता है।

ऊपर उल्लिखित प्रागैतिहासिक कला तथा कदरा-चित्रों की मंजिल से ऊपर उठकर एकदम मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की कला की ओर अग्रसर होना काफी लंबी छलाँग भरने जैसा है, और आज से चालीस वर्ष पूर्व तो प्रागैतिहासिक स्थिति से इतिहास की ओर की इस कुदान के बीच का फासला कहीं और भी अधिक था, क्योकि तब तक इतिहास से परे के धुँधले युग की आदि कला और आरंभिक बौद्धो की सुविकसित प्रौढ़ कला के बीच के युग के संबंध मे किसी को भी कोई जानकारी न थी। धन्यवाद है श्री राखालदास बेनर्जी और दयाराम साहनी तथा उनके मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा-संबंधी अनुसंधानो को, जिनकी वजह से भारतवर्ष का आदि इतिहास अब ४००० ईस्वी पूर्व तक मानो पीछे खिसका दिया गया है और उसकी कड़ी सुमेरियन संस्कृति से जुड़ गई है, जिसका कि वह अब पुरखा माना जाने लगा है।

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक देवी की मृण्मय मूर्ति (फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

मोहेंजोदड़ो के मुकाम की स्थिति का पता तो सिंध के राज्याधिकारियो को बहुत अर्से से था, परन्तु उसके ध्वंसावशेषों की प्रागैतिहासिकता का रहस्योद्घाटन उस समय तक नहीं हुआ जब तक कि सन् १९२२ मे स्वर्गीय श्री राखालदास बेनर्जी ने उसकी खुदाई के काम का श्रीगणेश न किया। इस खुदाई से पहले ही मोहेंजोदड़ो के खंडहरो पर एक स्तूप खड़ा था और आम तौर से यह धारणा की जाती थी कि वहाँ के शेष अवशेष भी उसी काल के होंगे, जिस काल के कि वहाँ के बौद्ध-स्मारक थे, अर्थात् ईस्वी सन् की आरंभिक शताब्दियों के। परन्तु उन बौद्ध अवशेषों की खुदाई कराते समय श्री राखालदास को दैवयोग से धरती में से कई अनोखी मिट्टी की मुद्राएँ मिलीं, जिन्हें पहचानते उन्हें देर न लगी कि वे उसी जाति की थीं, जिस जाति की मुद्राएँ पंजाब के माटगुमरी जिले के हड़प्पा नामक स्थान के ध्वंसावशेषो में पहले मिल चुकी थीं और जिनकी जानकारी भारतीय पुरातत्वविदों को काफी अरसे से थी। इन मुद्राओं पर एक ऐसी अज्ञात लिपि में कुछ आलेख अंकित थे, जिसका आज के दिन अर्थ नही लगाया जा सकता था। बहुत पहले सन् १८५३ ई० मे सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् जनरल कनिंघम ने जाकर हड़प्पा के खँडहरों का निरीक्षण किया था और वहाँ उन्हे अधिकतर एकशृंग (Unicorn) जैसे किसी पशु की आकृति तथा किसी अज्ञात चित्रलिपि में अंकित आलेखो से खचित ऐसी ही मुद्राएँ देखने को मिली थी। इस जगह का और वहाँ से मिली सामग्री का वर्णन उन्होने १८७५ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे किया था, किंतु उसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक वह मामला यों ही पड़ा रहा, उसे किसी ने फिर से उठाया ही नही। जब श्री राखालदास को ताम्र-पाषाण-युग की-सी प्रतीत होनेवाली ठीक हड़प्पा मे मिली मुद्राओं जैसी ही वे मुद्राएँ मोहेंजोदड़ो के मुकाम पर भी मिली, तो उन्होने अपनी इस खोज का महत्त्व समझा और फलतः उन्होंने उस बौद्ध विहार के आसपास और भी अधिक खुदाई करने के प्रति कदम बढ़ाया। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि मोहेंजोदड़ो की आबोहवा उग्र होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद थी और डेरे-तंबुओं मे जीवन बिताते समय की मुसीबतों का भी कोई पारावार न था। साथ ही भारत-सरकार की ओर से इस खुदाई के काम के लिए आवश्यक धन भी उपलब्ध नहीं हो रहा था। परन्तु इन सब आपदाओं का सामना करते हुए भी श्री बेनर्जी ने वीरतापूर्वक खुदाई का वह काम जारी रखा!
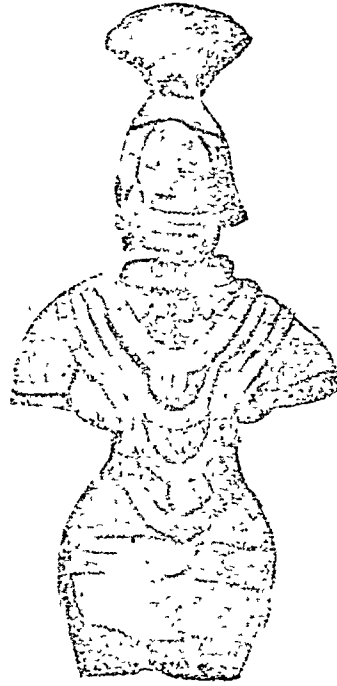
भारतीय पुरातत्व-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर-जनरल, सर जॉन मार्शल, ने श्री बेनर्जी के कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनकी निम्न शब्दों में उचित ही सराहना की है—"मोहेंजोदड़ो में उनका वह काम जैसा कि आज के दिन हमें दिखाई देता है वैसा सरल कदापि नहीं था। वह एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था। हड़प्पा में मिली सामग्री के अलावा (और उसे भी श्री बेनर्जी ने स्वयं देखा नहीं था) सिंधु-कांठे की इस सभ्यता के सम्बन्ध में इस समय तक किसी को भी कुछ ज्ञात नही था। इस पर मुसीवत यह थी कि उस सभ्यता के भवनों के खँडहरों के रूप में जो थोड़े बहुत अवशेष उन्होंने खोदकर बाहर निकाले थे, वे सब ऐसी ईंटों से बने हुए थे, जो कि ऊपरी स्तर के बौद्ध स्तूप और विहार के निर्माण में काम में ली गई ईंटों जैसी ही थीं और इन अवशेषों का इन बौद्ध इमारतों के साथ इतना निकट का सादृश्य था कि आज भी उनका भेद बता पाना सरल नहीं होता। यह सब कुछ होते हुए भी श्री बेनर्जी ने अपनी प्रौढ़ कल्पना-बुद्धि द्वारा अनुमान किया और बिल्कुल सही अनुमान किया कि ये नीचे के स्तर के अवशेष अवश्य ही उन बौद्ध इमारतों से, जो कि उनसे केवल एक दो फीट ऊपर ही बनी थी, लगभग दो-तीन हजार वर्ष पहले की रचनाओं के अवशेष थे! यह कोई मामूली सफलता का कार्य न था।"

श्री बेनर्जी की इस आरंभिक खोज के बाद तो सर्व श्री मार्शल, दीक्षित, साहनी, वत्स, हारग्रीव्ज और मेके आदि द्वारा मोहेंजोदड़ो के इस मुकाम की खूब विस्तार के साथ खुदाई का काम सम्पन्न किया गया और फलतः खानगी व आम मकानों और भवनों, सड़कों और गलियों, मोरियो और परनालों तथा स्नानागारों और जलाशयो से युक्त एक सारा नगर खण्डहरों के रूप मे पृथ्वी के गर्भ में से निकल आया! साथ ही ऊपर उल्लिखित जैसी हजारो मिट्टी की मुद्राएँ, खिलौने, मूर्तियाँ, छोटे-छोटे गहने, मिट्टी के पात्र, पत्थर के बटखरे, सामान भरने के नाँद, मनके और आभूषण आदि भी काफी तादाद में खुदाई में निकले और अब भी लगभग नित्य ही कुछ न कुछ मिलता ही रहता है। इस सामग्री में मिट्टी की मुद्राएँ, जो इस मुकाम पर चारों ओर प्रचुर मात्रा में मिली हैं, बहुत उम्दा ढंग की हैं और उनके ऊपर एकशृंग, वृषभ, गैंडे, हाथी, शेर, मगर आदि-आदि पशुओं की आकृतियों के साथ-साथ एक 'अज्ञेय' चित्रलिपि में कुछ न कुछ आलिखित है। ठीक इन्हीं में की कुछ मुद्राएँ सुदूर मसोपटामिया (इराक) और इलाम में भी मिली हैं, जो कि निर्विवाद रूप से प्राक्-सार्गोनिक युग की मानी जाती हैं। स्वयं सर जान मार्शल लिखते हैं कि "उर और किश से प्राप्त ऐसी ही दो मुद्राओं के नमूनो से यह ठीक ही निर्णय किया गया है कि सिंधु-कांठे की यह सभ्यता कम से कम २८०० ईस्वी पूर्व से पहले की होनी चाहिए।" ताँबे और काँसे के हथियार-औजार भी मोहेंजोदड़ो में पाए गए हैं। स्पष्टतया ये सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि इस सिंधु-सभ्यता के निर्माताओं के पीछे एक और भी प्राचीन इतिहास-परम्परा रही होगी।
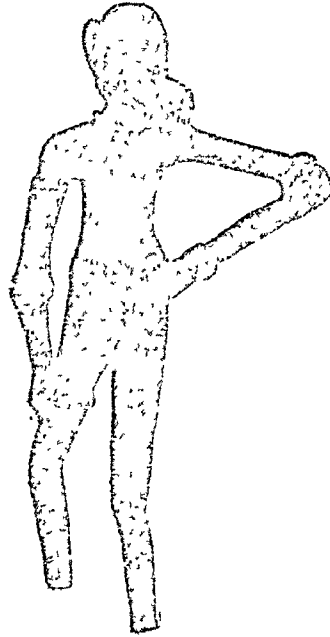
मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक नर्त्तकी की कांस्य मूर्ति

इन भारतीय पुरातत्त्वावशेषों के सुमेरियन सादृश्य पर प्रो० साइस, गेड और स्मिथ ने काफी जोर दिया है। मार्शल का मत है कि वैदिक और सिंधु-सभ्यताओं में कोई संबंध नहीं था। वस्तुतः यह बताना बड़ा मुश्किल है कि सिंधु-सभ्यता के ये लोग सचमुच कौन लोग थे। कई विद्वानों के अनुसार सिंधु-सभ्यता का विकास करनेवाले लोग दरअसल कौन थे यह विवादग्रस्त विषय है। सबसे अधिक बुद्धिसंगत मत यही प्रतीत होता है कि वे लोग भारतवर्ष के आर्यो से पहले के निवासी (संभवतः द्रविड लोग) थे, जिनका वेदों में "दस्यु", "असुर", या "पणि" आदि नामों द्वारा उल्लेख मिलता है, और जिनकी सभ्यता लगभग दो या तीन हजार ईस्वी पूर्व उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारी आर्यों के ज्वार में विनष्ट हो गई थी।

कला की दृष्टि से बहुतेरी सुन्दर मुद्राओं और मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सामग्री में सब से उल्लेखनीय सेलखरी की बनी हुई संभवतः एक योगी की मूर्ति (दे० पृ० १५४५ का चित्र) और काँसे की एक

नर्त्तकी की छोटी-सी मूर्ति है (दे० पृ० १५४७ का चित्र)। रचना-कौशल और भाव-प्रदर्शन के लिहाज से ये दोनों कलाकृतियाँ मोहेंजोदड़ो मे देवी माता तथा पगड़ीधारी बौने कौचकों की हजारों की तादाद में पाई गई अन्य मृण्मय मूर्तियों से कहीं बढ़ी-चढ़ी हैं।

मोहेंजोदड़ो ही की तरह हड़प्पा से प्राप्त सामग्री भी, जिसकी खुदाई का काम श्री दयाराम साहनी ने कराया था, अति मनोरंजक है। इन दोनों स्थानों की संस्कृतियों में, जैसा कि उनकी खुदाई में निकले हुए मकानों, पानी वहने की मोरियों और परनालों, ईंटों, मिट्टी के पात्रों, अस्त्र-शस्त्रों, घरेलू काम की वस्तुओं, गहनों-आभूषणों और मुद्राओं से प्रकट होता है, इतनी अधिक परिपूर्ण समानता है कि यह बिना किसी हिचकिचाहट के माना जा सकता है कि इन दोनों ही नगरों का जीवन एक-जैसी संस्कृति से परिप्लावित था और उनमें निरन्तर पारस्परिक संसर्ग प्रस्थापित था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हड़प्पा के खँडहर आज से बहुत पहले से सन् १८५३ ई० में जनरल कनिंघम द्वारा देखे जा चुके थे, परन्तु पुरातत्त्व की दृष्टि से एक मूल्यवान् स्थल के रूप में उसका महत्व बहुत दिनों तक किसी ने भी नहीं समझा। इसका नतीजा यह हुआ कि कनिंघम द्वारा उल्लिखित वहाँ की बहुतेरी इमारतों की दीवारों की ईंटें लाहौर-मुलतान रेलवे की १०० मील लंबी सड़क की मिट्टी की पूर्ति करने हेतु ढहा दी गई और पास-पड़ोस के गाँववाले तो अपने मकान बनाने के लिए हड़प्पा की इमारतों की इन पक्की ईंटों को न जाने किस जमाने से लगातार काम में लेते आ रहे थे! खैर, जो कुछ भी सामग्री वहाँ अवशिष्ट है, उसके स्तरों की विधिवत् अनुसंधान द्वारा की गई जाँच के उपरान्त यह मत निश्चित किया गया है कि वहाँ की प्राचीनतम रचनाओं की तिथि ३२५० ई० पू० तक पुरानी मानी जा सकती है। श्री दयाराम साहनी के तत्त्वावधान में की गई खुदाई और शोध के बाद श्री माधोस्वरूप वत्स द्वारा और अधिक खोज इस स्थान की गई और फलतः मोहेंजोदड़ो के मकानों से बिल्कुल मिलते-जुलते पक्की ईंटों से बनाए गए कई मकान यहाँ भी निकले, जिनमें बाकायदा पक्की फर्शे, सीढ़ीदार जीने, पानी बहने के लिए मोरियाँ और नालियां, कूड़ा-कर्कट फेंकने की नाँदें, गन्दा पानी जमा करने के हौज, कुएँ और अनाज भरने की खत्तियाँ आदि निर्मित हैं। इन इमारतों के खँड़हरों के अलावा मोहेंजोदड़ो जैसी ढेरों मुद्रा और मुद्रिकाएँ, मिट्टी की मूर्तियाँ, स्फटिक मणियों से गुँथी हुई मालाएँ, गोमेदक, सूर्य-कान्तमणि, वैदूर्य आदि रत्नों से जटित सोने के आभूषण, तांबे और काँसे के बर्तन, औजार-हथियार, खिलौने, हाथीदाँत की चीजें, पत्थर की पटरियों पर खुदे आलेख, मिट्टी, पाषाण और ग्लेज की हुई मृत्तिका द्वारा बनाई गई न जाने कितनी पशु-आकृतियाँ आदि चीजें यहाँ की खुदाई में निकली हैं, जिनमें कोई-कोई तो बहुत ही कलापूर्ण हैं। परंतु इस सारी सामग्री में सौंदर्य की दृष्टि से जिन्हें सिरताज कहा जा सकता है, वे हैं क्रमशः धूसरवर्ण तथा लाल पत्थर की दो शीशविहीन खण्डित मानव - मूर्तियाँ, जिन्हें खोजने का श्रेय क्रमशः श्री दयाराम साहनी और श्री माधोस्वरूप वत्स को प्राप्त है। इन प्रतिमाओं की श्रेष्ठ कला की तुलना में रक्खी जाने योग्य एक भी वस्तु हमें मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सामग्री में नहीं मिलती—ये उन ढेरों आदिदेवियों की बर्बरसम भौंडी मूर्तियों के झुंड के बीच उसी प्रकार से अलग से अपनी शोभा निखराए उन्नतमस्तक खड़ी हैं, जैसे कि बत्तखों के झुंड के बीच हंसों का एक जोड़ा खड़ा हो! विशेषकर नर्त्तक की उस शीर्षहीन प्रतिमा के ललित और सुकुमार शिल्प-गढ़न को देखकर तो इतना अधिक आश्चर्यचकित हमें रह जाना पड़ता है कि हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सच-मुच ही यह कलाकृति एक ऐसे पुरातन युग की है, जब

हड़प्पा से प्राप्त लाल बलुए पत्थर की एक अद्भुत शीर्षहीन खंडित मूर्ति (फो०-भा० पु० वि०)

कि ग्रीक कला का जन्म भी नहीं हुआ था ! उसको देखने पर विद्वानों के मन में ऐसी धारणाएँ तक उठी हैं कि हो न हो प्रकृति के यथार्थ प्रत्याङ्कन की कला में इस भारतीय निपुणता के प्रभाव ने सुमेर की कला पर अपना रंग जमाया हो और उसी के मार्फत आगे चलकर यूनानी कला पर भी अपनी छाप डाली हो ! स्वयं सर जॉन मार्शल इन दोनों मूर्तियों की कला-विशिष्टताओं का विवेचन करते हुए लिखते हैं—"इन दो मूर्तियों में जो बात सब से अधिक चकरा देनेवाली है वह है उनमें प्रत्याङ्कित शरीर-गठन की यथार्थता का आश्चर्यजनक तथ्य, जो कि हमारे मन में बरबस ही यह विस्मययुक्त विचार पैदा कर देता है कि क्या सचमुच ही ग्रीक मूर्तिकला की इस सबसे बड़ी खूबी का अत्यन्त प्राचीन काल के उन सिंधु-तटवासी शिल्पियों ने मानो पूर्वाभास पाकर उसमें मौलिक दक्षता प्राप्त कर ली थी ? यह हम सुदृढ़ रूप से जानते हैं कि सिंधु-तट का शिल्पी पशुओं की आकृतियों के निदर्शन में उस पुरातन युग ही में ग्रीक कला की-सी छटा दिखाने का सामर्थ्य रखता था, और जहाँ तक आकृतियों के सर्वाङ्गीण निरूपण एवं शरीर-गठन की विशेषताओं के सूक्ष्म प्रत्याङ्कन संबंधी प्रौढ़ता का सवाल है, हम इन दोनों कलाओं में एक विशेष आत्मीयता का संबंध पाते हैं।"

हड़प्पा से प्राप्त धूसरवर्ण पाषाण द्वारा बनाई गई अन्य एक कलापूर्ण खंडित नर्त्तक-मूर्ति (फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग')

यद्यपि उपर्युक्त मूर्ति की रूपरेखा अत्यन्त सुकुमार और स्त्रैणभावयुक्त है, तथापि सर जॉन मार्शल के मतानुसार वह एक पुरुष-प्रतिमा है। उनकी यह भी धारणा है कि उसकी गर्दन की असाधारण मोटाई को देखते हुए उस नर्त्तक-प्रतिमा में या तो तीन सिर या तीन चेहरे रहे होंगे और उनका अनुमान है कि वह संभवतः शिव नटेश की ही युवा-मूर्ति है ! जो कुछ भी हो, इस युग के भास्कर्य में इस मूर्ति की बराबरी करनेवाली दूसरी कोई कलाकृति नहीं है। यह और इसके साथ की लाल पत्थर की वह दूसरी मूर्त्ति, जिसका वर्णन इसके बाद हम करने जा रहे हैं, मोहेंजोदड़ो में पाई गई भद्दी मानव-मूर्तियों से इतनी श्रेष्ठतर है कि उनसे इनकी कोई तुलना ही नहीं।

श्री वत्स द्वारा हड़प्पा की खुदाई के तीसरे स्तर में पाई गई लाल पत्थर की वह मूर्ति, जिसका हवाला हम ऊपर दे चुके हैं, इस प्रागैतिहासिक स्थान के भूगर्भ में से प्राप्त दूसरी अत्यन्त महत्वपूर्ण और सुंदर कलाकृति है। यह लाल बलुआ पत्थर में कोरी गई एक पुरुष की नग्न प्रतिमा का शीर्षविहीन खण्डित भाग है। यों तो उसकी प्राप्ति के स्थान मात्र के हवाले से हमारे मन में इस मूर्ति की प्रागैतिहासिकता के संबंध में कोई शंका नहीं रह जाती, परन्तु इस पर भी यदि कोई शंका करे तो तुरन्त ही उसका समाधान हो जाता है जब कि हम उसके पदार्थ, शैली और कारीगरी पर ध्यान देते हैं। जिस लाल बलुआ पत्थर से यह मूर्ति बनाई गई है, वह पूर्वोक्त नर्त्तक-मूर्ति के धूसरवर्ण पाषाण की भाँति सिंधु-सभ्यता के उस पुरातन युग में हड़प्पा में (जहाँ किसी प्रकार का स्थानीय पत्थर उपलब्ध नहीं है) कई और छोटी-बड़ी चीजों को बनाने में बाहर से प्रचुर

मात्रा में मँगवाकर काम में लाया जाता रहा। ये दोनों पत्थर बाद के ऐतिहासिक युग में मूर्ति के काम में लाए जाते नहीं पाए गए। इसी बात पर जोर देते हुए सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "पंजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रांत में पाई गई ढेरों भारतीय यूनानी मूर्तियों में एक भी ऐसी नहीं है, जो इन दोनों प्रकार के पत्थरों में से किसी से बनाई गई हो!"

इस मूर्ति में सामने का भाग प्रत्यांकित है, अतएव देखने में यों वह बहुत सरल है। परन्तु उसका सारा सौंदर्य उसमें निदर्शित शरीर के मांसल भागों के उस सुरुचिपूर्ण और यथार्थ गढ़न मे है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इस सिलसिले में उसके कमर के हिस्से में रीढ़ के तले पर दोनों ओर दिग्दर्शित दो यथार्थ गड्ढों तथा सूक्ष्मतापूर्वक चपटे कर दिए गए उसके नितंब भाग पर जरा ध्यान दीजिए। देह की सुघड़ गठन के यथार्थ प्रत्यांकन का यह एक सर्वांगसंपूर्ण नमूना कहा जा सकता है और यूनानी कला के श्रेष्ठतम उदाहरण की तुलना में वह रक्खा जा सकता है।

इस मूर्ति में अंकित आकृति की मुद्रा, विशेषकर उसका बाहर की ओर निकला हुआ उदर, स्पष्टतया एक भारतीय लाक्षणिक विशेषता है। इन दोनों मूर्तियों के खोज के स्थान, जिससे वे निर्मित हुई हैं वह पत्थर, एवं उनकी रचना-शैली आदि इस बात की निर्विवाद रूप से गवाही देते हैं कि वे प्रागैतिहासिक युग की है।
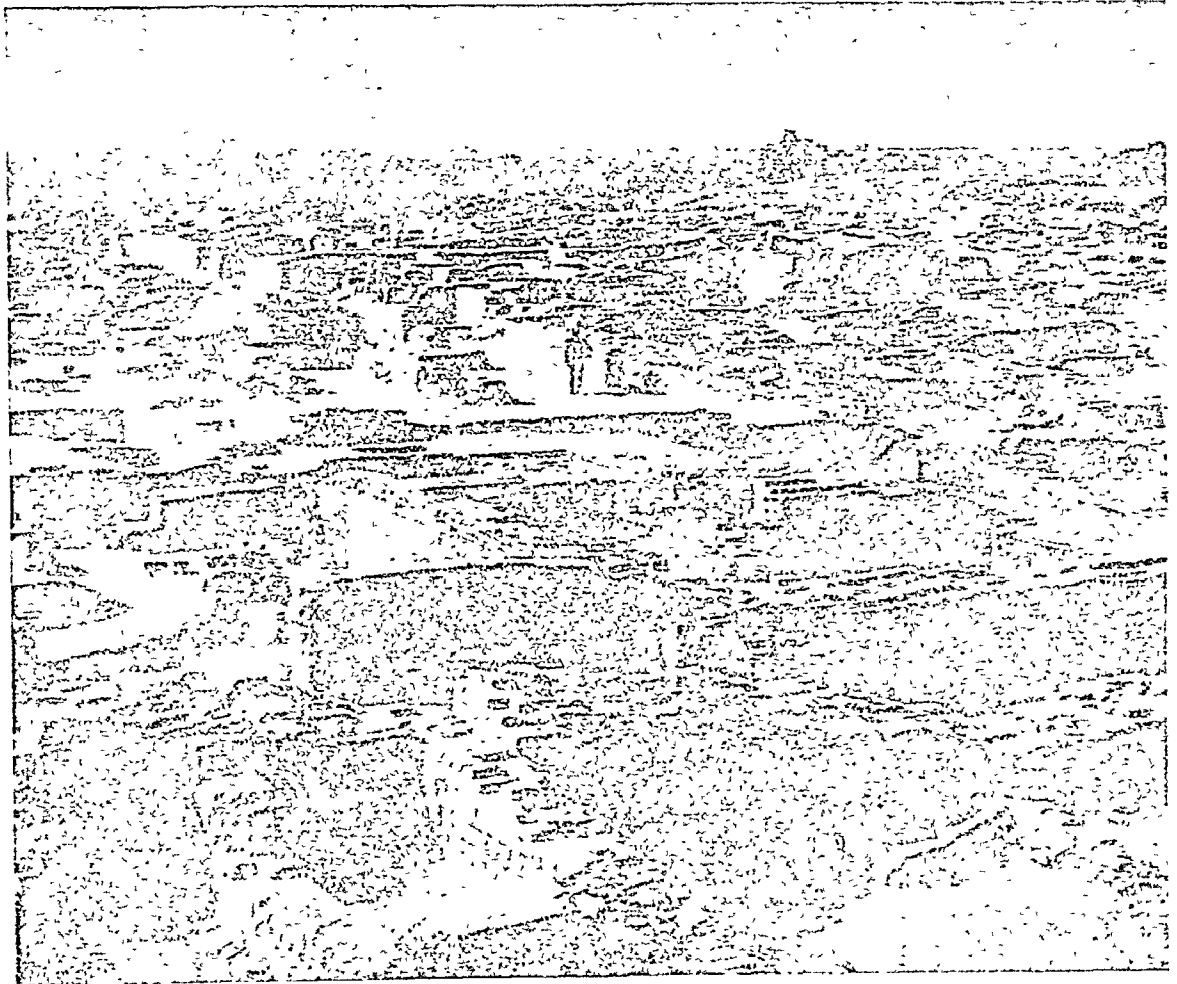
मोहेंजोदड़ो की खुदाई के फलस्वरूप प्रकाश में आनेवाले पांच-छः हजार वर्ष पूर्व के भारतीय स्थापत्य की एक भव्य झाँकी

संस्कृत-वाङ्मय—(४)

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण

संस्कृत-वाङ्मय में समयानुक्रम के अनुसार संहिताओं के बाद दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। साहित्यिक माधुर्य के विचार से इनमें कुछ भी आकर्षक नहीं। यजुर्वेद की भाँति ये भी नीरस हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को समझने के लिए ये अद्भुत कुञ्जी की भाँति हैं। धर्म-विज्ञान का मनन करने से तो उनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ईश-प्रार्थना के इतिहास में जिस प्रकार यजुर्वेद का प्रचुर महत्त्व है, उसी प्रकार यज्ञों और पौरोहित्य के इतिहास में इन ब्राह्मणों का विशिष्ट स्थान है।

यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है, किसी यज्ञ की क्रिया-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य का मत अथवा टिप्पणी। ब्राह्मण-ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याओं की संहिताएँ हैं और यद्यपि उनमें जनजगत् और प्राचीन ख्यातों आदि से संबंध रखनेवाली और यज्ञकर्म से भिन्न अन्य कथाएँ भी हैं, तथापि उनका विषय प्रारम्भिक रूप में यज्ञकर्म ही है, जिनकी विवेचना में ये सारे मतमतान्तर और ख्यातियाँ प्रसूत होती हैं। ब्राह्मणों के विषय यज्ञ हैं और उनमें विविध क्रियाओं पर विधान हैं। इन क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी स्थान-स्थान पर दिए गए हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना और ध्यान से भी किया गया है। कई स्थलों पर वे वेदों के विविध मन्त्रों पर दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं और इस रूप में वे निरुक्तों का स्थान ग्रहण करते हैं। जहाँ तत्कालीन अथवा प्राचीन विद्वानों के मत परस्पर-विरोधी हैं, वहाँ ब्राह्मण एक के विरोध या दूसरे के पक्ष में अपने मन्तव्य प्रकाशित करते हैं। ऐसे स्थलों का ब्राह्मणों में प्राचुर्य है। कितने ही स्थल उनमें ऐसे भी हैं, जिनमें स्थान और सुविधा विशेष से यज्ञक्रियाओं की रीतियों में होनेवाले अंतरों पर विचार किया गया है। किस यज्ञ में किस पुरोहित, होता, आदि को किस रूप में कितनी दक्षिणा होगी—इसका उल्लेख भी जगह-जगह किया गया है। किस-किस यज्ञ से इस अथवा अगले जन्म में कौन-कौन-सी सुविधाएँ यजमान पाएगा—इसका भी विवेचन मिलता है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' वे ग्रन्थ हैं, जिनमें यज्ञ-विज्ञान का निरूपण है।

सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि किसी समय में इस प्रकार के अनेकों ग्रन्थ वर्तमान रहे होंगे—उनसे कहीं अधिक जो हमें आज उपलब्ध हैं। ऐसी भारतीय ख्याति तो है ही, इसके अतिरिक्त उपलब्ध ब्राह्मणों के पाठों में ही अनेकों लुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं और जो ब्राह्मण आज उपलब्ध हैं, स्वयं उनकी भी संख्या कुछ कम नहीं है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण भी हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ चरणों में हुई थी। कृष्ण यजुर्वेद की संहिता में ही मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञों के अर्थ और उनके प्रयोजन पर प्रकाशित मतों और व्याख्यानों का समावेश है। यजुर्वेद की संहिताओं के इन ब्राह्मण-सदृश भागों में हमें ब्राह्मण-साहित्य का आरम्भ दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण यजुर्वेद के वे ही स्थल, जिनमें यज्ञ-क्रियाओं पर विधान अथवा उनके संबंध के मन्तव्य प्रकट किए गए हैं और जिनका संपर्क सीधा मंत्रों से है, वे प्रारंभिक ब्राह्मण भाग हैं, जिनका प्रणयन ग्रन्थ रूप में पश्चात् काल में विविध शाखाओं में सम्पन्न हुआ। यही कारण

है कि एक तो इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की संख्या भी प्रचुर मात्रा में बढ़ी और इसके अलावा ब्राह्मणों के अन्तर्गत गिने जानेवाले उन ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जो न तो अपने विषय और न अपने विस्तार के कारण ही ब्राह्मण कहला सकते हैं। निःसन्देह वे वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी है। इस वर्ग के अनेक ब्राह्मण सामवेद से संबद्ध है, जो वेदांगो के सिवा और कुछ नहीं है। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण भी इसी प्रकार का एक प्रयास है। गोपथ ब्राह्मण तो सारे वैदिक साहित्य के अंतिम ग्रन्थों में से एक है। वास्तव में प्रारम्भ में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण न था। बाद में जब किसी वेद की स्थिति ब्राह्मण के बिना असाधारण समझी गई तब गोपथ-जैसे प्रयास प्रस्तुत किए गए।

नीचे प्रमुख ब्राह्मणों का एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है.--

ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण है। इसमें चालीस 'अध्याय' है, जो आठ 'पंचकों' में विभक्त है। इसके ग्रन्थकार अनुवृत्त के अनुसार महिदास ऐतरेय है। वास्तव में वह इसके संकलनकर्ता अथवा संपादक मात्र थे। इस ब्राह्मण मे सोम-यज्ञ का सविस्तार और मुख्यतः वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय का भी वर्णन है। इसके अन्तिम दस अध्याय कुछ लोगो के मत से बाद के है। इस ब्राह्मण से कौषीतकि या सांखायण ब्राह्मण का घना संबंध है। यह भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है और इसमें तीस अध्याय है। इसके पहले ६ अध्यायों में अन्न-यज्ञ का वर्णन है और ७--३० तक में ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता-जुलता सोम-यज्ञ का विवेचन है। यह ब्राह्मण ऐतरेय से बाद का है और एक व्यक्ति का प्रणयन है।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण सामवेद का है। इसके पचीस भाग होने के कारण इसे पंचविंश ब्राह्मण भी कहते है। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक है और इसमें कुछ अत्यन्त प्राचीन कथानकों का वर्णन है। इसके एक विशिष्ट भाग का 'शुद्धि' से संपर्क है, जिसमे 'व्रात्यस्तोम' और उन यज्ञक्रियाओं का विवरण है, जिनके अनुसार 'व्रात्यों' को शुद्ध कर आर्यों अथवा ब्राह्मणों में मिला लेते थे। षड्विंश (अथवा छब्बीसवाँ) ब्राह्मण पचीस भागोवाले पंचविंश अथवा ताण्ड्य का ही एक विस्तार है। षड्विंश का अंतिम भाग 'अद्भुत ब्राह्मण' कहलाता है, जो इन्द्र-जाल पर एक वेदांग है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य-महाब्राह्मण से भी प्राचीन है। यह ब्राह्मण अनुश्रुति और धर्म दोनों के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु यह अधिकतर असंबद्ध और अपूर्ण भागों में ही प्राप्त है।

कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही एक उत्तर विस्तार है, क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद संहिताओं मे ब्राह्मणों का आरंभ से ही समावेश हो गया है। इस प्रकार 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' संहिता का अन्तिम भाग है। इस ब्राह्मण में पुरुषमेध का वर्णन है और चूंकि संहिता में पुरुषमेध का उल्लेख नहीं है, अतः यह सिद्ध है कि यह ब्राह्मण काफी बाद का है।

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है। इसमें सौ अध्याय है। यह ब्राह्मण सब ब्राह्मणों में बड़ा, विख्यात और अपने प्रस्तुत विषय के अनुसार प्रमुख है। वाजसनेयि संहिता की भाँति ही शतपथ की भी 'काण्व' और 'माध्यन्दिन' दो शाखाएँ है। माध्यन्दिन शाखा में इसके सौ अध्याय १४ काण्डों में विभक्त है। इस ब्राह्मण के पहले नौ काण्ड वाजसनेयि संहिता के पहले अट्ठारह भागों पर क्रमिक भाष्य है। ये शेष पाँच काण्डों से नि.संदेह प्राचीन है। फिर इनमें भी सम्भवतः एक से पाँच काण्ड परस्पर सन्निकट हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य (जो चौदहवें काण्ड के अंत में शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता कहे गए हैं) का उल्लेख प्रायः ऐसे आचार्य के रूप में हुआ है, जिसका मत संदिग्ध और विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। अग्निचयन का वर्णन करनेवाले छठे से नवें तक के किसी काण्ड मे याज्ञवल्क्य का नाम नही आया है। उसके स्थान पर शाण्डिल्य नामक एक दूसरे आचार्य का प्रमाण के रूप में उल्लेख हुआ है। यही शांडिल्य दसवें काण्ड के अग्निरहस्य का प्रवक्ता कहा गया है। ग्यारहवें से चौदहवें काण्ड में उपनयन, स्वाध्याय, मृत्यु-संबंधी क्रियाओं आदि ऐसे विषयो के संबंध में विवेचन किया गया है, जो साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय नहीं समझे जाते। अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध का वर्णन तेरहवें काण्ड में और प्रवर्ग्य-क्रिया का चौदहवें में है। इसी ब्राह्मण के अंत में बृहदारण्यक नाम का प्राचीन और प्रमुख उपनिषद् है।

भिन्न-भिन्न वेदों के ब्राह्मणों में एक विशिष्ट अन्तर है। ऋग्वेद के ब्राह्मण क्रियाओ के संबंध में उन विषयो पर जोर देते है, जो 'होता' से संपर्क रखते है। ये होता ऋग्वेद के मंत्रों और सूक्तों का गान करते है। इसी प्रकार सामवेद के ब्राह्मण मुख्यतः 'उद्गाता' और यजुर्वेद के 'अध्वर्यु'

के कार्यों का विवेचन करते हैं। अपने विषयों के तात्विक निचोड़ में ब्राह्मण प्रायः अभिन्न हैं। इन ब्राह्मणों के प्रणयन में कई शताब्दियों का समय लगा है। सामवेद के वंश ब्राह्मण में दिए वंशवृक्षों में पचास-साठ गुरुओं के नाम आते हैं। इनका काल-प्रसार एक सहस्र वर्षों से कम किसी प्रकार न रहा होगा। कुछ लोगों ने इन तालिकाओं के ऐतिह्य पर संदेह किया है, परन्तु यह संदेह बेबुनियाद है।

पहले तो इनमें से अनेकों ऐसे नाम हैं जो अन्य वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। दूसरे इन गुरुओं में से बहुतेरों का संबंध पुराणों में दी हुई वंश-तालिकाओं के राजाओं से है, जिनके वे या तो पुरोहित या आचार्य हैं। इनका परस्पर मिलान करने से कोई इतिहास-क्रम नहीं बिगड़ता और यह सिद्ध कर देना आसान हो जाता है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। तीसरे, इन तालिकाओं को सुरक्षित रखने में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि जो गुरुभाई हैं वे ऊपर-नीचे न होने पावें और कोष्ठ-बद्ध हो जावें। फिर वेदों की भाँति ही ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषदों के पाठों को भी असाधारण धार्मिक श्रद्धा से सुरक्षित रखा गया है। इस कारण उनमें किसी प्रकार की संकरता की संभावना नहीं। इस बात का भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यज्ञ-क्रिया के उस वैज्ञानिक विधि के विकास में प्रचुर समय लगा होगा। और यदि बौद्ध साहित्य ब्राह्मणों को प्राचीन मानता है और स्वयं बुद्ध इनकी स्थिति अपने से पूर्व मानते हैं तो चूँकि उनका अपना काल ई० पू० छठी शताब्दी है, अतएव ब्राह्मणों का सकलन उस समय तक पूरा हो चुका होगा। यदि महाभारत की घटना का समय १४०० ई० पू० के लगभग मानें तो ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम मानव गुरु तुर-कावषेय, जो जनमेजय का पुरोहित था, उस तिथि के लगभग जा पहुँचेगा। और इस प्रकार १४०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक आठ शताब्दियों के बीच ब्राह्मण-साहित्य का विकास मानना हमारी समझ में कुछ अयुक्तियुक्त न माना जायगा।

वैसे इन ब्राह्मणों का समय स्थिर करना भी उतना ही कठिन है जितना संहिताओं का। इस संबंध में एक बात निःसंदेह स्थिर हो जाती है। वह यह है कि जब इन ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ उससे बहुत पूर्व ही ऋग्वेद का साहित्य समाप्त और संकलित हो चुका था। इतना ही नहीं वरन् वह अति प्राचीन भी समझा जाने लगा था। केवल ऋग्वेद ही नहीं प्रत्युत अथर्ववेद के भेदभरे भाग, यजुर्वेद के याग-होम और सामवेद के गेय मंत्र सभी इन ब्राह्मणों से अत्यन्त पूर्व-काल में निर्मित हो चुके थे। विन्टरनित्स का कहना है कि यह भी संभव है कि अथर्ववेद की संहिताओं का संपादन और प्रारम्भिक ब्राह्मण-साहित्य का निर्माण प्रायः सम-कालीन रहा हो*। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि इससे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुश्रुति को क्षति पहुँचेगी। अनुश्रुति है कि व्यास ने अपने शिष्यों की सहायता से ऋग्वेदादि संहिताओं का संपादन किया, जो महाभारत-काल में हुआ। तब कदाचित् ब्राह्मण-काल की क्रियात्मिका प्रणाली का जन्म तो अवश्य हो चुका होगा, क्योंकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य और जनमेजय का पुरोहित तुर-कावषेय महाभारत-काल के निचले सिरे को छूता है। फिर भी ब्राह्मणों के ग्रन्थन और इनके क्रियात्मक काल में काफी अन्तर रहा होगा।

इस संबंध में हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि इन तालिकाओंवाले ब्राह्मणों का निर्माण तभी हुआ होगा जब उन तालिकाओं की सबसे निचली कड़ी के नाम का आचार्य भी भौतिक दृष्टि से रह चुका हो। वैसे इसमें संदेह नहीं कि कुछ ब्राह्मणों के कतिपय अंश अत्यन्त प्राचीन हों—शायद उतने प्राचीन हों जितनी संहिताएँ स्वयं हैं। क्योंकि जब से ही ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा और जब से ही उनके क्रियात्मक और यज्ञात्मक रूप खड़े हुए होंगे तब से ही उनके अनुष्ठान-वैविध्य और मत-भिन्नताएँ भी उठ खड़ी हुई होंगी। इस रूप में जहाँ तक ब्राह्मणों में वेद अथवा यज्ञात्मिका व्याख्या की बात है उनका कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हो सकता है—शायद तुर-कावषेय आदि से भी प्राचीन। और प्रस्तुत ब्राह्मणों में उन प्राचीन ब्राह्मणों का उल्लेख भी है जो इनके निर्माण के समय भी उपलब्ध न हो सके थे, खो चुके थे।

ऋग्वेद का सप्तसिंधु देश अब ब्राह्मण-काल में विस्तृत हो चुका था। उस काल के कार्यों की क्रियात्मिकता का क्षेत्र अब कुरु-पञ्चाल जनपद हो चुका था। अब यज्ञों का धर्म-क्षेत्र 'कुरुक्षेत्र' हो चुका था। इस कुरुक्षेत्र का विस्तार गंगा और यमुना के पश्चिम सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच था। पंचालों का देश पड़ोस में

*भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १६५।

ही गंगा और यमुना के बीच था। यह दिल्ली से मथुरा तक का देश बहुत बाद तक 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाता रहा। इसी जनपद में उस संस्कृति का प्रादुर्भाव और विकास हुआ जिसे ब्राह्मण-संस्कृति कहते हैं और जिसकी आर्य अथवा हिन्दू संस्कृतियाँ पर्यायवाची हैं। इस समय में ऋग्वेद काल की धार्मिक स्थिति से बहुत अन्तर पड़ गया था। देवता वही हैं, जो ऋग्वेद के हैं परन्तु अब वे अपने पैरों नहीं खड़े होते, यज्ञों से अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। कुछ देवता जो ऋग्वैदिक काल में गौण थे अब विशिष्ट हो जाते हैं। विष्णु और रुद्र अथवा शिव ऐसे ही मे हैं। इस काल में विशेष महत्व प्रजापति को मिलता है, जो देव और असुर दोनो का जनक समझा जाता है। देवासुर-संग्राम के अनेक निर्देश ब्राह्मणों मे मिलते हैं। ऋग्वेद में असुर फिर भी देवता-सा है, परन्तु ब्राह्मणों में वह केवल दैत्य है। अब यज्ञ लक्ष्यार्थ नही किए जाते वरन् वे स्वय एक आवश्यक कार्य है। ये स्वयं लक्ष्य हो जाते हैं। पूर्वकाल मे देवता मुख्य थे, यज्ञ उनके प्रसाद के लिए किए जाते थे। अब दोनों एक हो गए। यज्ञ ही प्रधानतः मुख्य वही प्रजापति है।

आरण्यक और उपनिषद्

साधारणतया यह धारणा है कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञप्रसंगजनित शुष्क ब्राह्मण-साहित्य की ही रचना हुई। परन्तु यह धारणा गलत है। आर्यो की भाँति उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ-संबंधी बाल की खाल निकालने में ही नही लगा रह सकता था। यथार्थ में तो स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों मे, जैसा कि सायण ने पहले ही कहा है, कल्प के अतिरिक्त इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसी साहित्य का उदय हो जाता है। और इस प्रकार वीर काव्य का आरम्भ ब्राह्मण-काल में ही होता हम पाते हैं। यह बात भी कुछ बेतुकी है कि उस समय की विविध आर्य जनता सरस गीत न गाती रही हो, अथवा सुन्दर कथाओं को कान न देती रही हो। उन दिनों जो कुछ गाया जाता था उसका कुछ आभास तो हमें वैदिक पाठो की शुनःशेप-वाली आख्यायिका में मिल जाता है, पर वास्तव मे उसका बडा भाग पुराणों और काव्यबद्ध इतिहासों में सुरक्षित है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के भाषा-साहित्य से ही यह बात स्पष्ट है कि उनसे पूर्व ही व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि (जिनका विशद और स्वतंत्र वर्णन बाद के वेदांग का विषय है) का रूप खड़ा हो चुका था। और न दार्शनिक विचार ही ब्राह्मणों से सर्वथा बाद में उठें। वास्तव में वे उनसे पूर्व ही जन्मे। स्वयं ऋग्वेद के मंत्रों में इस प्रकार के विचार और देवताओ के संबंध में प्रश्नात्मक धारणाएँ उठ खड़ी होती हैं। ये सन्देहशील जिज्ञासु ही भारत के प्रथम दार्शनिक थे। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि इन दार्शनिकों ने अपने विचारों का प्रचार किया, अपने चरण स्थापित किए। और यद्यपि यजुर्वेद की संहिताओ में उनकी मखौल उड़ाई गई है, इसमें सन्देह नही कि इस मखौल मे ही एक दबे भय का संचार रहा हो।

इतना अवश्य है कि ये दार्शनिक हमें यज्ञपुरोहितों में न मिलेंगे। यह संभव नहीं कि इन्द्र के प्रति यज्ञ कराने-वाले होता अथवा अध्वर्यु को इन्द्र देवत्व में साधारण-तया सन्देह होता हो। कदापि भी वे इन्द्र अथवा अन्य देवताओं के प्रति किए यज्ञों को निरर्थक नही घोषित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ ही उनकी जीविका के भी साधन थे। अधिक तो सम्भव यह है कि ये सन्देहात्मक विचार उन धनियों के दिमाग में उठे हों जो प्रमादी और यज्ञो से कुछ उदासीन रहे हों—यज्ञों का विपुल व्यय जिन्हें अपव्यय-सा लगता हो और पुरोहितों की बड़ी दक्षिणाएँ जिन्हें अखरती हों। उपनिषदो और स्वयं ब्राह्मणों के कतिपय उदाहरणों से सिद्ध होता है कि राजन्य वर्ग का प्राचीन काल के साहित्यिक और मेधावी जीवन से घना संबंध था।

कौशीतकि ब्राह्मण* मे राजा प्रतर्दन पुरोहितो से यज्ञ-विज्ञान पर विचार-विनिमय करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण† मे विदेह जनक अनेकों बार अपने ज्ञान से पुरोहितों को चकित और निरुत्तर कर देता है। जब वह अग्निहोत्र के संबंध में श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है तो वे सद्यःस्नातक उत्तर नहीं दे सकने। उसके चले जाने पर स्नातक एक दूसरे से कहते हैं कि "आश्चर्य है कि राजन्य ने हमे निरुत्तर कर दिया, अब हमें उसे ब्रह्मोदय (शास्त्रार्थ) के लिए ललकारना चाहिए।" याज्ञवल्क्य इस विचार से सहमत न होकर जनक के पास जाता है और उससे उसका ज्ञान सीखता है।× यजमान अयस्थूण भी इसी प्रकार अपने पुरोहित शौल्बायन को पढाता है।○

बहुतेरे उपनिषदो में तो हम देखते हैं कि राजाओं

*२६, ५। † का० ११. × ११, ६, २; ३, १, २-४; ६, ३. ○ वही, ११, ४, २, १७-१०.

और राजन्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी दार्शनिक व्याख्यानों में भाग लेती हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से वादविवाद करती है। दूसरे स्थल पर वही याज्ञवल्क्य से कहती है कि "जिस प्रकार धनुर्धर दो अचूक बाणों को धनुष पर रखता है मैं भी तुम्हारे विरोध में खड़ी होकर दो प्रश्न करती हूँ उनका उत्तर दो।" उसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मविद्या का रहस्य समझाते हैं।* बार-बार उपनिषदों में वे स्थल आते हैं जहाँ राजन्य (क्षत्रिय) ब्राह्मण को दीक्षित करते और ज्ञान देते हैं। यह विदेह जनक, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय का युग है। जनक याज्ञवल्क्य को उपदेश करता है, प्रवाहण जैवलि पन्चाल परिषद् में दहाड़ता है और अश्वपति कैकेय याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु को शिष्य रूप में अपनी ज्ञानाग्नि से विदग्ध करने को 'समित्पाणि' होने का आदेश करता है। उपनिषद्-ज्ञान के दो मुख्य स्कन्ध 'आवागमन या पुनर्जन्म'† और 'आत्मा'◉ के सिद्धान्तों का निरूपण दो राजन्य क्रमशः प्रवाहण और अश्वपति कैकेय करते हैं। जिस समय ब्राह्मणवर्ग यज्ञों में दत्तचित्त थे तभी राजन्यों और अन्य वर्गों के अनेकों समुदाय यज्ञ से इतर ज्ञान—पराविद्या—की खोज में विचार कर रहे थे। इनमें से कुछ गृहस्थ थे, कुछ संन्यासी। संन्यास की ओर लोग झुकने लगे थे और फलस्वरूप धीरे ही धीरे कितने ही संप्रदाय खड़े होने लगे थे। उन्हीं में से दो प्रबल संप्रदाय बौद्धों और जैनों के उठ खड़े हुए, जिन्होंने यज्ञ-विश्वास की नींव हिला दी।

उपनिषद् ही 'वेदान्त' है

फिर भी इससे यह कभी न समझना चाहिए कि इन दार्शनिक विचारों से ब्राह्मण सर्वथा दूर थे। यह संभव भी न हो सकता था, क्योंकि इन ब्राह्मणों के ही गुरुकुलों में सारे क्षत्रियों की प्रारम्भिक शिक्षा होती थी। प्रायः विचार-विनिमय और वाद-विवाद यहीं हो जाते होंगे और दो-दो चोटें हो जाने के बाद ऋषि उस शृंखला को सर्वथा भुला न देता होगा। फिर सारे ब्राह्मण यज्ञ के ही आसरे तो रहते न रहे होंगे। उनमें भी धनी-गरीब थे और उनके चिन्तन की भी सुविधाएँ-असुविधाएँ थीं।

*बृह० उप०, ३, ६; ३, ८; २, ४; ४, ५. † छा० उप०, ५, ३; बृह० उप०, ६, २; कौ० उप०, १, १. ◉ छा० उप०, ५, ११; श० ब्रा०, १०, ६, १.

इन सबसे ऊपर ब्राह्मणों में परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित कर लेने की सदा से शक्ति थी। इसी के फलस्वरूप उस उठती-फैलती मेघमाला को उन्होंने बिखेर दी जो गौतम बुद्ध ने उत्पन्न की थी। स्वयं बुद्ध को ही उन्होंने अपने अवतारों की शृंखला में डालकर उन्हें विलुप्त कर दिया!

ब्राह्मणों में ही अथवा उनके परिशिष्ट के रूप में हमें वैदिक साहित्य के वे भाग मिलते हैं जिन्हें 'आरण्यक' कहते हैं। इनके पाठ रहस्यमय थे जो साधारणतया किसी को नहीं दिए जा सकते थे। विशिष्ट शिष्य ही उस भेदभरे साहित्य में दीक्षित हो सकते थे और इसी कारण उनका दान अरण्य अर्थात् वन की निर्जनता में ही संभव था। इनमें यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठान की रीति नहीं दी हुई है, प्रत्युत् उनका विषय यज्ञों का रहस्यवाद और पौरोहितिक आन्वीक्षिकी है। ब्राह्मण-धर्म के आदर्श आश्रमों के स्थापित हो जाने के बाद सहज ही इन आरण्यकों को पढ़ना वनवासी ऋषियों का कर्तव्य हो गया। प्राचीनतम उपनिषद् आरण्यकों के साथ इस घनता के साथ जुड़े हुए हैं कि उनको उनसे पृथक् करना कठिन है। उपनिषद् ही वेदान्त है, क्योंकि वे अपेक्षाकृत बाद में बने और इस प्रकार वे वैदिक साहित्य के अन्त के हैं। वैदिक विद्यार्थी के अध्ययन के अन्त में ही उन दार्शनिक पेचीदगियों पर गवेषणा होती थी जो उपनिषदों के विषय हैं। इन उपनिषदों में ही बाद के दार्शनिकों ने वेदों का रहस्य पाया।

प्रधान चौदह उपनिषद्

वेदान्त के रूप में आरण्यक और उपनिषद् विविध वैदिक शाखाओं के हैं। अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक, जिसमें ऐतरेय उपनिषद भी शामिल है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के साथ जुड़ा हुआ है। इसी तरह हम देखते हैं कि कौशीतकि उपनिषद् और महानारायण उपनिषद् और आरण्यक ऋग्वेद के कौशीतकि ब्राह्मण के ही भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही भाग है जिसका अन्तिम भाग तैत्तिरीय उपनिषद् है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के प्रथम तीन भाग एक आरण्यक हैं और इसी काण्ड का अन्त सबसे महान् और प्रमुख उपनिषद् वृहदारण्यक है। छान्दोग्य उपनिषद्, जिसका प्रारम्भिक भाग एक आरण्यक है, स्वयं सामवेद के एक ब्राह्मण (सम्भवतः ताण्ड्य महा-

ब्राह्मण) का है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण सामवेद की जैमिनीय अथवा तलवकार शाखा का एक आरण्यक है। केन उपनिषद्, जिसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं, इसी का एक भाग है।

तैत्तिरीय आरण्यक मे बाद मे जोड़े जानेवाले महानारायण उपनिषद् को छोड़ उपरिलिखित सभी उपनिषद् प्राचीनतम है। भाषा और शैली मे वे ब्राह्मणो के से हैं जिनके वे भाग है। उन्ही की भाँति इनकी भी वही प्राचीन गद्यात्मिका शैली है। केवल केन उपनिषद् का आधा पद्यात्मक है और यह उपनिषद् ऊपर गिनाए उपनिषदों मे से अन्तिम है। प्रमुख उपनिषदो के स्वतंत्र भाग भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से बहुत बाद के नही है, और उनकी रचना कम-से-कम बुद्ध और पाणिनि से पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन उपनिषद् साहित्य के प्राचीनतम स्तर प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त सिद्धान्त उनमें खरे मौलिक रूप में विद्यमान है।

कुछ उपनिषद्, जो थोडे बाद के हैं, सभवत. प्राक्बौद्ध है। यद्यपि ये आरण्यको के भाग नही है, इनका सम्बन्ध भी किसी-न-किसी वैदिक शाखा से है। कठ या काठक उपनिषद् का संपर्क कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा से है, जिससे शायद उस महानारायण उपनिषद् का भी सम्बन्ध है जो तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट-सा है। वाजसनेयि संहिता का अन्तिम भाग अमूल्य ईश उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का है। मुण्डक और प्रश्न अथर्ववेद के हैं। इनका विषय भी वेदान्त ही है। इनमें सांख्य और योग सिद्धान्तों का भी रूप खड़ा हो गया है। कृष्ण यजुर्वेद का मैत्रायणीय उपनिषद् बुद्धोत्तर काल का है। परन्तु प्राचीन उपनिषद् की भांति यह गद्य में लिखा गया है। भाषा, शैली और विषय के आधार पर हम इसे संस्कृत के काव्य-साहित्य के सन्निकट पाते हैं। इसी काल का अथर्ववेद का माण्डूक्य उपनिषद भी है। परन्तु शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य मे जिन प्रामाणिक बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है उनमें न तो मैत्रायणीय है और न माण्डूक्य ही। फिर भी इन दोनों की गणना उन बारह के साथ होनी चाहिए। ये चौदह उपनिषद् प्राचीनतम भारतीय दर्शन के इतिहास के आधार है।

अन्य उपनिषद्

बाद के लगभग २०० उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों मे बताया जाता है, परन्तु इनमें से केवल कुछ ही वास्तव में उनसे संपर्क रखते है। इनमें से अधिकतर दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक अथवा उपासनापरक है जो बहुत बाद के धार्मिक संप्रदायों के है। अधिकतर का सम्बन्ध पुराणों और तंत्रों से है। विषय के अनुसार इनके निम्नलिखित विभाग किए जा सकते है—(१) वेदान्त-सिद्धान्तीय, (२) योगसंबन्धी, (३) संन्यासपरक, (४) विष्णुप्रशंसक, (५) शिवप्रशंसक, और (६) शाक्त अथवा अन्य संप्रदायों के उपनिषद्। उनके कुछ भाग तो गद्य मे है, कुछ गद्य-पद्य मे, कुछ वीर-काव्य सदृश श्लोको मे। इनमे कुछ, जो अपेक्षाकृत प्राचीन है, नीचे दिए जाते है:—(१) जाबाल उपनिषद् (इसका शकर ने प्रमाणों मे उल्लेख किया है); (२) परमहस उपनिषद् (इसमें परमहसों का वर्णन है); (३) बृहदाकार सुबाल उपनिषद् (इसका रामानुजाचार्य ने अनेको बार उल्लेख किया है। इसमें सर्ग, मनोविज्ञान, आन्वीक्षिकी आदि का समावेश है); (४) गर्भ उपनिषद् (इसमे पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना है); (५) शैवों का अथर्वशिरस उपनिषद् (इसका उल्लेख धर्मसूत्रों में मिलता है), (६)ब्रह्मसूचिका उपनिषद् (जिसमे एकेश्वरवाद का उपदेश है)।

बहुत बाद के मुक्तिका उपनिषद् मे १०८ उपनिषदो की सूची दी हुई है और इनका सबंध वेदों से किया गया है। इसके अनुसार ऋग्वेद के १० उपनिषद् है, शुक्ल यजुर्वेद के १९, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और अथर्ववेद के ३१। परन्तु इस परिगणना का आधार प्राचीन अनुश्रुति नही है। ये उपनिषद् साधारणतया अथर्ववेद के कहे जाते है। यथार्थ में उपनिषद् का 'रहस्यमय सिद्धान्त' वाला अर्थ बराबर उनके सम्बन्ध मे सार्थक रहा। इसी कारण जब इस प्रकार के ग्रन्थ बने उनकी गणना उपनिषदो मे कर ली गई और चूंकि अथर्ववेद का विषय अधिकतर भेदभरा है वे उसके साथ संबद्ध हो गए।

उपनिषदों का संदेश

'उपनिषद्' शब्द उप-नि-सद् से बना है, जिसका अर्थ है 'किसी के समीप बैठना।' इसका भाव प्राचीन काल में रहस्य-सिद्धान्तों की दीक्षा के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना था। स्वयं उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' का पाठ प्रायः मिलता है। उपनिषदों का विषय 'ब्रह्म,' 'आत्मा' और 'ब्रह्माण्ड' है। 'जीव' और 'प्रकृति' का उनमें समावेश है। आत्मा का जन्मान्तर रहस्य उन्ही मे प्रतिपादित किया गया है। एक ब्रह्म और आत्मा की अमरता का सन्देश विशेष रूप मे उपनिषदों का है!

भारतीय दर्शन का प्राचीन और प्रथम रूप इनमें सुरक्षित है, जिसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इनके स्रोत ईरानी सूफी सिद्धान्तों में, और नव-प्लेटोनिक और अलेक्जेन्ड्रियन क्रिश्चियनों के विचारों से लेकर रहस्यवादी एकहार्ट और टालर तक के सिद्धान्तों में वह रहे हैं। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार तो उपनिषदों पर लट्टू था। वह कहा करता था कि "संसार में सबसे अधिक संतोषप्रद और सर्वोच्च ज्ञान इन उपनिषदों का है। ये उपनिषद मेरे जीवन के ढाढस रहे हैं अब वे मेरी मृत्यु के आश्वासन होंगे!"

संस्कृत वाङ्मय—(५)

वेदांग और सूत्र-साहित्य, इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराण तथा तंत्र-साहित्य

वेदांग और सूत्र-साहित्य

मुण्डक उपनिषद् के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—एक परा, दूसरी अपरा (१,१,५)। परा वह उत्तम विद्या है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है और अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं (तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति)। इस तालिका में शिक्षा से ज्योतिष तक की विद्याएं वेदांगों के अन्तर्गत आती हैं। वेदांगों का यह प्राचीनतम उल्लेख और गणना है। 'वेदांग' का अर्थ है 'वेदों के अंग', जो छः हैं। प्राचीन काल में इनसे पुस्तकों का नहीं वरन् उन नामधेय विषयों का निर्देश होता था जिनसे वेदार्थ समझने में सहायता मिलती थी। इस प्रकार इनका आरम्भ ब्राह्मण और आरण्यकों में ही हो गया था, जिनमें इन पर विचार किया गया है। धीरे-धीरे इन विषयों में से प्रत्येक की निर्देश-पुस्तकें प्रस्तुत हो गईं।

'सूत्र' का अर्थ है सूत, एक संक्षिप्त परिभाषा अथवा संकेत। अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र ही कहते हैं। इनका प्रयोग वैज्ञानिक था। लोग तब विचार्य विषयों को रट लेते थे। इस रटने के कार्य में सूत्र बड़े सहायक होते थे। संसार के साहित्य में यह भारतीय सूत्र-शैली अनूठी है। पतञ्जलि ने इनके संबंध में लिखा है कि सूत्रकार को एक मात्रा बचा लेने से पुत्रोत्पत्ति का सुख होता है। कालान्तर में इन सूत्रों की गुरुओं द्वारा दी गई व्यवस्था भी लिख डाली गई और अब तो सारे सूत्र-ग्रन्थों पर बड़े-बड़े भाष्य प्रस्तुत हैं, जिनकी सहायता के बिना ये समझे नहीं जा सकते थे। इस सूत्र-शैली का जन्म ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्यवहृत गद्य में हुआ। ब्राह्मणों का यह गद्य अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा निर्मित हुआ है।

कल्प-साहित्य—प्राचीनतम सूत्र-ग्रन्थ वे हैं, जो अपने प्रतिपाद्य विषय में भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से सम्बद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक के अनेक स्थल सूत्रों में लिखे हुए हैं और इनके रचयिता अनुश्रुति के अनुसार आश्वलायन और शौनक के-से सूत्रकार हैं। सामवेद के भी कुछ 'ब्राह्मण' वास्तव में सूत्र ही हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय कल्प (क्रियादि) प्रथम वेदांग है, जिसे 'कल्पसूत्र' कहते हैं। कल्पसूत्रों का निर्माण यज्ञक्रियाओं और उनके नियमादि की जानकारी के लिए ऋत्विक् पुरोहितों के हेतु हुआ। ब्राह्मणों में बताए गए वे कल्पसूत्र जो श्रौत-यज्ञों से संबंध रखते हैं, 'श्रौत-सूत्र' कहलाते हैं। अन्य जो सूत्र गृहसंबंधी नित्य-प्रति के यज्ञ-होमादि का विधान करते हैं वे 'गृह्यसूत्र' हैं।

श्रौतसूत्र धर्म के इतिहास और यज्ञादि के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें तीन प्रकार की यज्ञाग्नि, अग्निहोत्र, प्रतिपद् और पूर्णचन्द्र के यज्ञ और विशेषकर सोमयज्ञ के नियम लिखे हैं। गृह्यसूत्रों के विषय और भी विविध हैं। इनमें मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त के (श्राद्ध आदि) संस्कारों का विधान है। रीति और आचार का वर्णन ही इनका प्रधान विषय है। इनमें गर्भाधान, शिशुजन्म, जननी और शिशु, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, ब्रह्मचारी, आचार्य आदि के सम्बन्ध में तत्कालीन रीति और आचार का उल्लेख है। विवाह के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से सारे नियमों का इनमें संकलन है।

इन सूत्रों का एक तीसरा वर्ग, जो गृह्यसूत्रों से सम्बद्ध है और जो उन्हीं का एक सिलसिला-सा है, 'धर्मसूत्रों' का है। इनमें गृहस्थ और धर्म, वर्ण और आश्रमादि के सम्बन्ध में नियम प्रस्तुत हैं। इनका वर्णन हम आगे चलकर व्यवहार-साहित्य के साथ करेंगे। श्रौतसूत्रों से सम्बद्ध 'शुल्वसूत्रों' का उल्लेख कल्पसूत्रों के साथ ही होना

चाहिए। इनमें अग्निवेदी और यज्ञ-स्थल के ठीक-ठीक मान का वर्णन है। भारतीय ज्यामिति पर प्राचीन ग्रन्थ होने के नाते शुल्वसूत्र गणित के इतिहास की प्राचीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

केवल कृष्ण यजुर्वेदीय बौधायन और आपस्तम्ब शाखाओं में ही कल्पसूत्र चारों प्रकार के श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्रों से संयुक्त हैं। संभवत. बौधायन और आपस्तम्ब चारों खण्डो से संयुक्त सम्पूर्ण कल्पसूत्रों के रचयिता थे। आपस्तम्बीय शाखा से मिली हुई ही भारद्वाज और सत्याषाढ हिरण्यकेशी की शाखाएँ हैं। ये सारे सूत्र तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें संदेह नही कि इनमें दक्षिणात्य बौधायन सबसे प्राचीन हैं। और इनके शीघ्र बाद के ही भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी हैं। गौतम के धर्मसूत्र भी लगभग इसी समय (ल० ५००—४०० ई० पू०) के हैं। मानव, श्रौत, गृह्य और शुल्वसूत्र और मानव गृह्यरूप से सम्बद्ध काठक गृह्य-सूत्र मैत्रायणी संहिता के हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, कात्यायन शुल्वसूत्र शुक्ल यजुर्वेद के, तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र, एवं शाखायन के श्रौत और गृह्यसूत्र ऋग्वेद के हैं। इसी प्रकार लाट्यायन और द्राह्यायण के परस्पर सम्बद्ध श्रौतसूत्र, जैमिनीय श्रौत और गृह्यसूत्र एव गोभिल तथा खादिर के गृह्य-सूत्र सामवेद के हैं। इसी अन्तिम वेद के ही अर्पेयकल्प और मशककल्पसूत्र भी हैं। सामवेद का सामविधान ब्राह्मण भी वास्तव में सूत्र-साहित्य का ही अंग है। अथर्ववेद का कौशिकसूत्र है और भारतीय इन्द्रजाल, जादू आदि के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। इसी वेद का परन्तु बहुत बाद में लिखा वैतान श्रौतसूत्र है। गृह्यसूत्रों के बाद ही श्राद्धकल्पो और पितृमेधसूत्रों का स्थान है। श्रौत-गृह्यादि सूत्रों के अतिरिक्त इस विषय पर कुछ और भी सामग्री है जो इनके परिशिष्ट-सी है। इनको 'परिशिष्ट' कहते भी हैं। इनमें से गोभिलपुत्र का गृह्य-संग्रहपरिशिष्ट, कर्मप्रदीप, अथर्ववेदीय इन्द्रजालपरक परि-शिष्ट और प्रायश्चित्तसूत्रादि मुख्य हैं। बाद के कल्पग्रन्थ 'प्रयोग', 'पद्धति' और 'कारिका' वर्गो के हैं।

शिक्षा—'शिक्षा' सम्बन्धी सूत्र कम से कम इतने ही प्राचीन हैं जितने कि कल्पसूत्र। कल्पसूत्र ब्राह्मणों के पूरक ग्रन्थ हैं, इसी प्रकार वेदांग-शिक्षा के सूत्र वैदिक संहि-ताओं के सन्निकट हैं। वैदिक संहिताओं के पाठों का ठीक-ठीक उच्चारण ही शिक्षा का विषय है। इस वेदांग का प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् (१, २) में मिलता है, जहाँ इसके छ. प्रकरणों अर्थात् वर्ण, स्वर, मात्रा-बल, साम, और सन्तान (वर्णः स्वरः ॥ मात्रा बलम् ॥ साम सन्तानः ॥) का निर्देश हुआ है। संहितापाठ और पद-पाठ शिक्षा के प्राचीनतम आविष्कार है। इस वेदांग की सबसे प्राचीन रचनाएँ "प्रातिशाख्य" है, जिनके नियमों के अनु-सार पद-पाठ से संहिता-पाठ बनाया जा सकता है। संहि-ताओं की प्रत्येक शाखा से सम्पर्क रखनेवाले साहित्याग होने के कारण ये प्रातिशाख्य कहलाते हैं। 'ऋग्वेद-प्राति-शाख्य' आश्वलायन के गुरु शौनक का रचा बताया जाता है। यह ग्रन्थ पद्यात्मक है जो प्राचीन काल में सूत्र-रूप में था। 'तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य-सूत्र' तैत्तिरीय संहिता का है। कात्यायन द्वारा निर्मित 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य-सूत्र' वाजसनेयि संहिता का और 'अथर्ववेद-प्रातिशाख्य-सूत्र' अथर्ववेद का है। एक 'साम-प्रातिशाख्य' भी उप लब्ध है और 'पुष्पसूत्र' सामवेद के उत्तरगान का प्राति-शाख्य है। 'पञ्चविध-सूत्र' में यज्ञों में सामों के गाने के नियम हैं।

इन ग्रन्थो का प्राधान्य दो प्रकार का है। प्रथमतः तो वे संस्कृत व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते है, दूसरे उनसे यह सिद्ध होता है कि प्रातिशाख्यों के समय से आज तक के हजारो वर्षो के बीच संहिताओ के पाठ में तनिक भी अन्तर नही पडा है। प्रातिशाख्य शिक्षा वेदाग के प्राचीनतम प्रतिनिधि है। इनके अतिरिक्त शिक्षा नाम से कुछ और ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं जो भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि द्वारा रचे कहे जाते हैं, परन्तु हैं वे बहुत बाद के। इनमें से कुछ प्राचीन भी हैं। इन्ही में से काफी पुराने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से सम्बद्ध 'व्यास-शिक्षा' है।

शिक्षा-वेदांग से मिलती-जुलती ही कुछ 'अनुक्रमणियाँ' है, जिनमें वैदिक संहिताओं की विषय-सूची दी हुई है। शौनक ने ऋग्वेद की कई प्रकार की अनुक्रमणियाँ प्रस्तुत थीं—ऋषियों की, सूक्त और छन्दों की, और देवताओं की। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' निर्मित की, जिसमें सूत्र-शैली में ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा के प्रथम शब्द, मंत्रों की संख्या, ऋषि और उसके कुल का नाम, देवता, और छन्द के नाम दिए हुए है। 'बृहद्देवता' और 'ऋग्विधान' भी शौनक द्वारा ही रचित कहे जाते हैं। इनमें से पहले ग्रन्थ में ऋग्वेद के देवताओ की वृहत् सूची हैं। दूसरे में मंत्रशक्ति का वर्णन है।

निरुक्त—निरुक्त पर हम इस समय केवल एक महर्षि यास्क का ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि और भी इस प्रकार के ग्रन्थ प्रस्तुत हुए होंगे जो अब नष्ट हो गए हैं। वेदांग निरुक्त से भी पता चलता है कि ऋग्वेद का पाठ अत्यन्त शुद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार 'निघटु' (शब्द-सूची) भी महर्षि यास्क द्वारा ही प्रणीत है। परन्तु वास्तव में 'निघंटु' यास्क का नहीं है, यह स्वयं वह ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'निघंटु' की रचना प्राचीन ऋषियों के वंशजों ने की है। स्वयं यास्क की उन पर टीका अथवा भाष्यमात्र है। वेदार्थ समझने के लिए निघंटु का निर्माण हुआ। निघंटुओं में शब्दों की पाँच सूचियाँ हैं जो तीन भागों में विभिक्त है। पहले भाग निघंटुकाण्ड के भी तीन खण्ड हैं, जिनमें वैदिक शब्द एक विशेष क्रम में संग्रहीत हैं। दूसरे नैगमकाण्ड अथवा एकपदिक में कठिन वैदिक पदों की व्याख्या है और तृतीय दैवतकाण्ड में पृथ्वी, अतरिक्ष, आकाश (स्वर्ग) के देवताओं के तीन वर्गों के विभाजन हैं। निरुक्त वैदिक भाष्यों में सर्वप्रथम-से थे और यद्यपि यास्क का निरुक्त अकेला है और भाष्यों में प्रथम है तथापि निस्सन्देह इस प्रकार के प्राचीन निरुक्त ग्रन्थों में यह अन्तिम है। यास्क का समय स्थिर करना कठिन है, परन्तु अवश्य वह ई० पू० ७०० और ५०० के बीच विद्यमान थे।

छन्द और ज्योतिष—छन्द और ज्योतिष वेदांगों में भी, जो आज हमें प्राप्त है, उन साहित्यों के निचले छोर ही हैं। सामवेद का 'निदानसूत्र' छन्द का ग्रन्थ है, जो पतञ्जलि का बनाया कहा जाता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद का एक छन्द-संबंधी वेदाग 'पिंगल' भी समझा जाता है, परन्तु है यह बाद का, क्योंकि यह उन छन्दों पर भी विचार करता है जो पश्चात्काल के संस्कृत-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। 'ज्योतिष-वेदांग' ज्योतिष के ऊपर एक छोटा पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमे नक्षत्रों और चन्द्रमादि पर विचार किया गया है।

व्याकरण—व्याकरणपरक वेदाग-ग्रन्थ सर्वथा नष्ट हो गए हैं। यह वेदांग भी वेदों के अध्ययन में ही प्रस्तुत हुआ और वैदिक शाखाओं के साथ ही इसके ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ होगा। आरण्यकों में हमें जहाँ-तहाँ पारिभाषिक व्याकरण-पद मिलते हैं। इस समय व्याकरण पर जो प्राचीनतम ग्रन्थ प्राप्त है वह है पाणिनि की सर्व-मान्य 'अष्टाध्यायी'। परन्तु इसमें वैदिक व्याकरण के संबंध में विचार कम है। प्रस्तुत रूप में यह किसी वैदिक शाखा से संयुक्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक अध्ययन की सहायता के रचे गए व्याकरण वेदांग भी कभी थे जो आज अभाग्यवश नष्ट हो गए हैं। स्वयं पाणिनि ने अपने ग्रंथ में शाकटायनादि अनेक आचार्यो का उल्लेख किया है। परन्तु स्वयं अष्टाध्यायी वेदपरक नहीं है। इसका कारण यह है कि साहित्य धीरे-धीरे अपने को धर्म से स्वतंत्र करने लगा था और एक प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उत्तरोत्तर विकास होने लगा था। अष्टाध्यायी धर्म की शृङ्खला से सर्वथा स्वतन्त्र सर्वाङ्गपूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता महामुनि पाणिनि आधुनिक यूसुफजई के पठान इलाके में शालातुर गाँव के ब्राह्मण (पठान, पक्थ) थे, जो मगध के साम्राज्य के दिनों मे उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में आ बसे थे। जैसा कि नवीन उपलब्ध ग्रन्थ 'मञ्जुश्री मूलकल्प' से विदित होता है, पाणिनि पाँचवी शती ई० पू० में पाटलि-पुत्र में सम्राट् नन्द के समकालीन और उसकी सभा के सभ्य भी थे।

इतिहास-पुराण

वैदिक साहित्य के बाद जिन ग्रन्थों का निर्माण हुआ अथवा जिनका प्राधान्य है वे है इतिहास-पुराण। वास्तव में इतिहास-पुराणों की अत्यधिक प्राचीनता इससे भी प्रमाणित है कि उनका उल्लेख स्वयं वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण का वक्तव्य है—"मध्वाहुतयो ह वा एता देवाना यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः। स य एवं विद्वाननुशासनानि .. इतिहासपुराण गाथा नाराशं-सीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवास्त-र्पयति।" इस उद्धरण से सिद्ध है कि शतपथ ब्राह्मण के निर्माण के समय इतिहास-पुराण विद्यमान थे और तब भी वे पुराने (पुराण) हो चुके थे। इतिहास-पुराणों की और भी प्राचीनता अथर्ववेद के एक मंत्र से सिद्ध होती है—'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथाना नाराशंसीनां स प्रियं धाम भवति य एव वेद।' ब्राह्मणों से पता चलता है कि यज्ञादि तथा अन्य गृहोत्सवों के अवसर पर आख्यान, इतिहासादि गाए जाते थे। अश्वमेध की प्रारंभिक क्रियाओं मे देवताओं और वीरों के आख्यानों का वर्ष भर तक गायन मुख्य था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण और एक क्षत्रिय दो वीन बजानेवाले स्वरचित गाथाओं में यजमान राजा की उदारता और दानादि की स्तुति करते थे। मृत्यु के अवसर पर भी शोकित व्यक्तियों

को अन्यमना करने लिए इतिहास और पुराणों की कथाएँ कही और गाई जाती थीं।

इन आख्यानों और इतिहासों के चक्र-से होते थे। इस प्रकार का एक चक्र 'सुपर्णाख्यान' नाम से आज भी उपलब्ध है। सुपर्णाख्यान में सर्पमाता कद्रू और पक्षि-माता विनता तथा गरुड़ और नाग की शत्रुता की कथा है। इस आख्यान का आरंभ वैदिक काल में हुआ और यह महाभारत के आस्तीक पर्व में वर्णित है। इतिहास-पुराण को छान्दोग्य उपनिषद् (७,१,७) और बौद्ध सुत्तनिपात (३, ७ सेलसुत्त) में 'पंचम वेद' कहा गया है। इससे सिद्ध है कि वैदिक काल में भी किसी-न-किसी रूप में ये विद्यमान थे और पेशेवर 'ऐतिहासिकाः' और 'पौराणिकाः' बहुत प्राचीन काल में इन्हें गाते और सुनाते फिरते थे। बुद्ध के समय तक इतिहास, पुराण और गाथाओं का असमाप्य कोष विद्यमान था, जिसका ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी समान रूप से व्यवहार करते थे।

इतिहास-पुराणों के अतिरिक्त मानव प्रशस्ति में गाथा-नाराशंसीयों का भी उल्लेख मिलता है। एक ओर तो इनका संबंध ऋग्वेद की दानस्तुतियों और अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों में है और दूसरी ओर वीरों और नृपतियों की वीरगाथाएँ होने के कारण ये वीरकाव्य के उद्गम हैं। ये मानव प्रशस्तियाँ शीघ्र ही वीरगाथाओं में विकसित हो गई जिनके केन्द्र विशिष्ट वीर अथवा प्रधान घटनाएँ होती थीं। इनकी अटूट लंबी शृंखला में रामायण और महाभारत के वीरकाव्य अन्तिम कड़ियाँ थे। इन दोनों काव्यों की रचना से बहुत पूर्व ही निस्सन्देह रामायण के नायक राम और महाभारत के महायुद्ध के संबंध की गाथाएँ गाई जाती रही होंगी। राम के वनभ्रमण और कौरव-पाण्डवों के युद्ध संबंधी काव्यों के अतिरिक्त अन्य राजकुलों की गाथाएँ और काव्य भी निर्मित हुए होंगे, ऐसा रामायण और विशेषकर महाभारत में दिए हुए अनेक वीराख्यानों से प्रमाणित है।

वीरकाव्यों के रचयिता, गायक और रक्षक राजदरबारों में रहनेवाले 'सूत' थे जो विशिष्ट अवसरों पर राजाओं के गौरवगान किया करते थे। ये सूत प्रायः युद्धों में भी जाते थे जिससे अपने वीर-गायन से शूरों का साहस बढ़ा सकें और समर के प्रत्यक्ष उदाहरण से भविष्य में और भी वीरकाव्य रच सकें। इसी प्रकार सूत संजय ने महाभारत-युद्ध की कथा धृतराष्ट्र से कही थी। इन दरबारी चारणों का एक वर्ग (वर्ण) बन गया था, जिनके घरानों में वीर-काव्य पुश्तैनी रूप से पिता द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था।' वीरकाव्य इन्हीं सूतों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इन सूतों का संबंध राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग से था। इनके अतिरिक्त गायकों का एक वर्ग और था जिन्हें 'कुशीलव' कहते थे और जो गाथाओं को याद करके बीन की सहायता से जनता में गाते फिरते थे। वास्तव में जनता में वीर-गायन फैलाने का श्रेय इन्हीं कुशीलवों को था। रामायण से विदित होता है कि राम के पुत्र कुश और लव वाल्मीकि से सीखकर राम के कृत्य गाते फिरते थे। इन कुशीलवों और चारणों के ही वर्ग के गायक आजकल उत्तर प्रदेश में वे लोग हैं जो ढोलक लिये विवाहादि के अवसरों पर आल्हा गाया करते हैं।

परन्तु रामायण और महाभारत सर्वथा इस प्रकार के गाए हुए वीर-गायन ही नहीं हैं। भारतवर्ष के तथा संस्कृत के वे आदि वीरकाव्य भी हैं, जिनमें दो कुलों की विशिष्ट प्रशस्तियाँ एक अद्भुत अद्वितीय शृंखला में काव्यबद्ध हुई हैं। इतना जरूर है कि इनमें से महाभारत में इस प्रकार अन्य गाथाओं और आख्यानों का संकलन हुआ है कि इस काव्य का काव्यरूप ही प्रायः विनष्ट हो गया है।

रामायण—रामायण महाभारत से कई बातों में भिन्न है। प्रथमतः वह महाभारत से अत्यधिक अल्पाकार है और इसके कथानक (प्लाट) में उससे कहीं अधिक क्रमबद्ध एकता है। महाभारत के घटना-काव्य को छोड़ इसके संपूर्ण कलेवर को काव्य कहने में अनेक विद्वानों को आपत्ति होगी और है, परन्तु रामायण को वर्तमान रूप में भी हम एक काव्य कह सकते हैं। महाभारत के रचयिता व्यास की ऐतिहासिकता में शायद लोगों को संदेह भी हो परन्तु रामायण के रचयिता वाल्मीक के ऐतिहासिक व्यक्ति और काव्यकार होने में युक्तितः संदेह नहीं हो सकता। वाल्मीकि 'आदिकवि' कहे जाते हैं और उनकी रामायण 'आदिकाव्य'। काव्य में कथावस्तु से अधिक प्राधान्य उसके काव्यरूप को दिया जाता है। इस रूप का मंडन 'अलंकारों' से होता है। उपमा, व्यंजना, श्लेषादि काव्य के गुण होते हैं। काव्य-साहित्य में इन अलंकारों का आरंभ रामायण में ही होता है। लगभग दो हजार वर्षों से रामायण भारतवर्ष में राजा-रंक, सेठ-साहूकार, गृही-संन्यासी सभी को प्रिय रही है और इसकी कथा और इसके पात्र उनमें आदर्श-भाव जागृत करते रहे हैं। कालिदास और भवभूति-से महान् कवियों ने अपने

रघुवंश और उत्तररामचरित तथा हनुमन्नाटक के लिए रामायण से प्लाट लिये हैं। उत्तर-दक्षिण की सभी भारतीय भाषाओं मे इसके अनुवाद और छायानुवाद हो गए हैं। हिन्दी में तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस इसी पर अवलंबित है और असंख्य धर्मप्राण हिन्दुओं का वह वेद है। परन्तु इसकी जनप्रियता ही इसका विशुद्ध रूप कायम रखने में विघ्न सिद्ध हुई। यह आज हमें मूल से अत्यन्त परिवर्द्धित रूप में उपलब्ध है। यह महाकाव्य सात काण्डों और २४,००० श्लोकों मे प्राप्त है परन्तु निस्सन्देह इसके सभी भाग एक-से प्राचीन नही हैं और न उनकी रचना ही पूर्णतया एक व्यक्ति की है।

रामायण की कथा--अयोध्या के राजा दशरथ की रानी कौशल्या से राम उत्पन्न हुए। राम का विवाह जनक की पुत्री सीता से हुआ तब राजा दशरथ ने राम को युवराज बनाना चाहा। इस संवाद से सर्वत्र आनन्द मनाया जाने लगा, परन्तु राम की विमाता कैकेयी को राम का युवराज बनना पसन्द न आया। उसने एक बार राजा दशरथ की किसी युद्ध में बड़ी सहायता की थी, तब राजा ने उससे दो वर माँगने को कहा था। पर उसने वर माँगे नही और किसी और समय के लिए उन्हे रख छोड़ा था। उनके लिए अवसर आया जान उसने अपने दोनों वर माँगे। उसने अपने बेटे भरत के लिए अयोध्या का राज्य और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगा। राम अपनी स्त्री सीता और तीसरे भाई लक्ष्मण को लेकर वन को चले गए। वहाँ लका के राजा रावण ने सीता का हरण कर लिया। राम बहुत काल तक लक्ष्मण के साथ बिलखते और सीता को खोजते रहे। फिर उन्होंने बालि को मार सुग्रीव से मित्रता की और उसकी सहायता से रावण को मारकर सीता को छुड़ाया। अयोध्या लौटकर राम ने तब शान्तिपूर्वक बहुत काल तक राज्य किया।

बालकांड में राम का जन्म और विवाह है, अयोध्याकांड में कैकेयी का वर माँगना और रामादि का वनगमन वर्णित है। अरण्यकांड में सीताहरण और किष्किन्धाकांड में सुग्रीव से मैत्री का वृतान्त है। सुन्दरकांड में लंकादहन और सीता का अशोकवाटिका-निवास है। युद्धकांड में राम-रावण-युद्ध का वर्णन है और अन्तिम उत्तरकांड में महाभारत-पुराणों की भाँति अनेक कथाएँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकांड रामायण में बाद में जोड़ा गया। विद्वानों का यह भी कहना है कि बालकांड का संपूर्ण वाल्मीकिकृत नही हो सकता, क्योकि परस्पर-विरोधी स्थलों के अतिरिक्त उसमें दूसरे और छठे कांडों की तुलना में भाषा और शैली भी नगण्य है। केवल प्रथम और सप्तम कांडों में राम को सर्वत्र विष्णु का अवतार माना गया है, परन्तु दूसरे से छठे कांडों में वह सदा पुरुषोत्तम की भाँति वर्णित है।

रामायण का समय--रामायण के बादवाले भाग, विशेषकर पहला और सातवाँ कांड, तथा मूल रामायण, अर्थात् दूसरे काड से छठे कांड, के रचनाकाल में शताब्दियो का अन्तर है। प्राचीन कांडों में राम मानव वीर हैं, पिछलों मे विष्णु के अवतार।

महाभारत के वर्त्तमान रूप के पूर्व ही सम्पूर्ण रामायण अपना वर्तमान रूप धारण कर प्राचीन समझी जाने लगी थी और उसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी।

सभवत: रामायण का वर्तमान रूप द्वितीय शताब्दि ईस्वी तक खड़ा हो चुका था।

महाभारत की प्राचीन कथाएँ राम की कथा से प्राचीन है।

वेद मे राम-काव्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता और राम-कथा का केवल क्षीण मात्र।

बौद्ध त्रिपिटकों में रामायण का उल्लेख नहीं है, परन्तु राम-संबंधी गाथाओ का है।

रामायण में बौद्ध धर्म का संकेत नहीं है।

रामायण को ग्रीकों (यूनानियो) का बिलकुल ज्ञान नहीं।

रामायण मे उदायिन् द्वारा बसाए पाटलिपुत्र का उल्लेख नही है और बौद्धकालीन साकेत के स्थान पर कोशल की राजधानी का नाम सर्वत्र अयोध्या लिखा मिलता है।

इन सब प्रमाणो से हम रामायण को बहुत पूर्व भी नहीं रख सकते और न बहुत पश्चात् ही। संभवत: उसकी काया ई० पू० ५०० और द्वितीय शताब्दि ई० के बीच गढी जा चुकी थी।

उसके रचयिता वाल्मीकि के विषय मे कुछ विशेष कहना कठिन है। परन्तु महाभारत और पुराण उन्हें प्राचीन ऋषि और राम के समकालीन मानते है। सभव है कि वाल्मीकि राम के समकालीन रहे हो। राम-संबंधी पहली गाथा अथवा गेय काव्य उन्होंने ही लिखा हो, जो समयान्तर में अन्य कवियों के प्रभाव से आज का रूप धारण कर गया हो। प्रस्तुत रामायण के वर्तमान रूप का अधिकांश

पुष्पमित्र शुंगकालीन किसी कवि ने, संभव है, खड़ा किया हो। बाद के होनेवाले किसी कवि द्वारा निर्मित होकर भी रामायण वाल्मीकिरचित हो सकती थी—ऐसा करना भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था, विशेषकर जब रामायण की प्रारम्भिक मूल गाथा वाल्मीकि द्वारा ही निर्मित हुई थी। इसमें उदात्त और आदर्श भावों का वर्णन अत्यन्त चमत्कार से हुआ है। भारतीय समाज का आदर्श रूप इसमें स्थिर किया गया।

महाभारत—महाभारत के विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि वह एक शृंखलाबद्ध काव्य नही बल्कि एक संहिता है। वास्तव में पुराणो की भाँति वह कई प्रकार के प्रकरणो से सजा हुआ कथाओं-उपकथाओ से युक्त एक सपूर्ण साहित्य है। निस्सदेह इसके अतिरिक्त उसमें भारत-युद्ध का प्रसंग मुख्य है जो कुछ हद तक क्रमबद्ध भी है। शताब्दियो के अन्तर मे इस मूल कृति के ऊपर अनेक कथाओ का आवरण चढा दिया गया। इस प्रकार महाभारत आज केवल भारतो (कौरव-पाण्डवो) के युद्ध का ही काव्य नही वरन् प्राचीन चारण-गान तथा सूत-कथाओं का बड़े कौशल से सपादित एक साहित्य-सिन्धु है। इसमें पुराण-शैली की विष्णु और शिव की कथाएँ, सर्गो और भौगोलिक स्थलो तथा वंश-तालिकाओ के वर्णन है। काव्य के अतिरिक्त इसमे कितने ही प्रसंग गद्य और कितने ही चम्पू (आधे गद्य, आधे पद्य) शैली में संग्रहीत है।

लगभग १५०० वर्ष पहले इसका वह रूप खड़ा हो चुका था जैसा यह हमे आज उपलब्ध है। यह अट्ठारह पर्वो में विभक्त है और उन्नीसवें पर्व के रूप में हरिवंश नाम का एक पुराण उपसंहार (खिल) के रूप में इसमें जुड़ा हुआ है। इस समय इसमे एक लाख श्लोक है इसलिए इसे 'शतसाहस्री' सहिता भी कहते है। इस महाभारत के रचयिता वेदो और पुराणों के संपादक महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते है।

सारे महाभारत का संवाद के रूप मे होना निश्चय ही उसकी अत्यंत प्राचीनता का द्योतक है। ऋग्वेद मे यम-यमी आदि के उपाख्यान संवाद के ही रूप में है। महाभारत की बाहरी रूपरेखा का वर्णन करनेवाले उग्रश्रवस है, परन्तु काव्य के भीतर वक्ता वैशम्पायन है। नैमिषारण्य में ऋषियों के बीच यह कथा कही जाती है।

इसमे कोई सदेह नही कि महाभारत मूल रूप में आधुनिक से बहुत छोटा था। सर्वप्रथम इसका नाम 'जय' था, तब संभवतः इसमें केवल भारत-युद्ध का ही वर्णन था। उसके पश्चात् इसका नाम 'भारत' पडा—भारतों (कुरुओं) के इतिहास के नाम पर। और अन्त मे जब यह ग्रन्थ बाद के प्रक्षेपों से बृहदाकार होकर शतसाहस्री हो चुका था तब 'महाभारत' कहलाया। उग्रश्रवस स्वयं कहते है कि वह उस ग्रन्थ को केवल ८,८०० श्लोको का जानते हैं, परन्तु व्यास का कथन है कि उसमें २४,००० श्लोक हैं। इससे यह सिद्ध है कि महाभारत धीरे-धीरे मूल से बढ़ता गया और अंत में उसने वर्तमान रूप धारण किया। इसमें स्थल-स्थल पर अत्यन्त सुन्दर और मधुर काव्य मिलता है।

महाभारत की कथा—संक्षिप्त मे महाभारत की कथा इस प्रकार है:—कुरुराज विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र के जन्मांध होने के कारण उनके कनिष्ठ पुत्र पाण्डु सिहासन पर बैठे। पाण्डु की अकाल मृत्यु हुई, इस कारण कुछ काल के लिए धृतराष्ट्र को स्वयं राज्य की बागडोर सँभालनी पड़ी। पाण्डु के पाँच बेटे थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। वे पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाते थे और संख्या में सौ थे। उनमें दुर्योधन, दुःशासन आदि बड़े थे। गुणों से विभूषित होने के कारण युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र ने अपना युवराज चुना। इससे कौरवों के अग्रज दुर्योधन के वदन मे आग लग गई। उसने कुछ चालों से पाण्डवों को राजधानी छोडने पर मजबूर किया। इधर-उधर घूमते हुए पाण्डव राजा द्रुपद की राजधानी में पहुँचे। वहाँ राजपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। स्वयंवर में द्रौपदी को अर्जुन ने जीत लिया और राजकुमारी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हो गया। इस विवाह से पाण्डवो का सम्बन्ध बलिष्ठ हो गया और धृतराष्ट्र ने उन्हे बुलाकर राज्य दो भागो में बाँट दिया। बड़ा भाग दुर्योधन को मिला और अत्यन्त छोटा पाण्डवो को। कौरवों की पैतृक राजधानी हस्तिनापुर थी और पाण्डवों की इंद्रप्रस्थ हुई। परन्तु यहाँ भी दुर्योधन ने पाण्डवों को शान्तिपूर्वक राज्य न करने दिया। दुर्योधन ने युधिष्ठिर को द्यूत खेलने के लिए ललकारा और अपने मामा शकुनि की सहायता से धोखे से उनसे दाँव पर राज-पाट, भाई, स्त्री सब कुछ रखवाकर जीत लिया। हारनेवाले को बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भी करना था। तेरह वर्ष के बाद पाण्डवो ने अपना राज्य वापस माँगा, जिसका उत्तर दुर्योधन ने क्रोध और दुत्कार से

दिया। वासुदेव कृष्ण और महात्मा विदुर के सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हुए। इस पर घमासान युद्ध छिड़ गया। अट्ठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र के मैदान मे अत्यन्त गहारक समर होता रहा। अन्त में विजय युधिष्ठिर की हुई। युधिष्ठिर ने कुछ काल तक बड़े ऐश्वर्य से राज्य किया, फिर अर्जुन के पौत्र परीक्षित् को राज्य देकर भाइयो और द्रौपदी को ले वह हिमालय गलने के लिए चले गए।

महाभारत के अन्य स्कन्ध—महाभारत मे कौरव-पाडव-युद्ध के अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अन्य विषय भी वर्णित है। इसमें युद्धपूर्व की प्राचीन गाथाएँ और आख्यान मुख्य हैं। ये है शकुन्तला-दुष्यन्त, ययाति-देवयानी, नल-दमयन्ती, राम-सीता, नहुष-विदुला आदि के सम्बन्ध की।

महाभारत में कुछ दूसरे प्रकार की पौराणिक कथाएँ और ख्यातियाँ भी हैं। जनमेजय का नाग-यज्ञ, कद्रू-विनता की कथा, रुरु का सर्प-यज्ञ, इन्द्र-वृत्र के युद्ध, अग्नि के प्रणय-प्रसंग, जल-प्रलय, राजा अनूकपक के प्रति नारद द्वारा कथित मृत्यु-कथा, सावित्री-सत्यवान, ऋष्य-शृंग का आख्यान, वशिष्ठ-विश्वामित्र के सघर्षादि अनेक स्थल पुराणपरक हैं। इसी प्रकार उसमे कितनी ही दृष्टान्तपरक कथाएँ भी है।

परन्तु इन युद्धेतर स्कंधो में जो प्रमुख हैं वे हैं अध्यात्म-सम्बन्धी प्रकरण जिनमें नीति, धर्म और मोक्ष का विधान है। शान्तिपर्व के पूर्वार्द्ध में राजधर्म कहा गया है और अनुशासनपर्व में मुख्यतया धर्मशास्त्रानुचरण अथवा व्यवहार (कानून)। इनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर बृहस्पति और विदुर-नीत्यादि कही गई हैं। अध्यात्मपरक प्रसंगों में सर्वप्रधान और सर्वमान्य जो स्थल है वह है छठे पर्व की गीता। अध्यात्म का अपूर्व ग्रन्थ गीता उपनिषद्-तत्त्वों का निचोड है। कर्म मार्ग का यह अपूर्व उपनिषद् है। इसके उपदेशो में कर्मयोग, भक्तियोग, और ज्ञानयोग के परस्पर विरोधी जैसे सिद्धान्तों का विस्मयजनक सामंजस्य किया गया है। इसके वक्ता कृष्ण है, और श्रोता अर्जुन। और इसका प्रसंग तव आता है जब धनंजय ने अपने आत्मीयों को मोहवश मारने से इन्कार कर दिया है। इस ग्रन्थ को विदेशी विद्वानों ने भी अत्यन्त सराहा है। भाषा इसकी अत्यन्त सरल और काव्यमय है। अनुगीता और नारायणीय नामक दो और अध्यात्मपरक प्रकरण महाभारत में आते है।

महाभारत का अन्तिम भाग हरिवंश पुराण है, जो इसमे उपसंहार की भाँति जुड़ा हुआ है। इसमें विशेष वर्णन वृष्णि और अन्धक कुलों का है, जिनमें कृष्ण उत्पन्न हुए थे। यह विष्णु की प्रशंसा मे संकलित हुआ है। हरिवंश के तीन मुख्य भाग हैं—हरिवंशपर्व, विष्णुपुराण और भविष्यपुराण। हरिवंश में राजाओ और ऋषियों की कथाएँ और सूर्यादि वंशों का विवरण है, विष्णुपुराण में कृष्ण चरित वर्णित है, और भविष्यपुराण में संभावित घटनाओं का कथन है।

महाभारत का समय—महाभारत की कुछ ख्यातियाँ, और कथाएँ वेदों के काल में पहुँच जाती है।

वैदिक काल मे 'भारत' या 'महाभारत' नाम का कोई काव्य न था।

महाभारत में अनेक ऐसी कथाएँ है जिन्हें छठी शताब्दि ई० पू० से बाद तक बौद्धो और जैनो ने भी अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। ये कथाएँ वास्तव में तपस्वी जीवन की थीं।

यदि महाभारत नाम का कोई काव्य ई० पू० छठी और चौथी शताब्दियो में उपलब्ध था तो उसकी जानकारी कम-से-कम बौद्धों को न थी।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। यह काल सभवतः चौथी शती ई० पू० है।

लगभग ५०० ई० के भूमिदान के एक लेख में महाभारत को शतसाहस्री संहिता कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि यह ग्रन्थ वर्त्तमान रूप में लगभग ४०० ई० में प्रस्तुत हो चुका था।

इस प्रकार महाभारत को 'जय' से लेकर अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में करीब आठ-नौ सौ वर्ष लगे होंगे, जिस बीच में महाकाव्य के अतिरिक्त इसकी अनेक ख्यातियाँ, आख्यान, गाथाएँ आदि जोड़ी गईं। अत: महाभारत का समय लगभग ई० पू० पाँचवीं शती और ४०० ई० के बीच रखना युक्तिसंगत प्रतीत होता ह।

पुराण—पुराणों का स्थान तिथि-क्रम और उनमें वर्णित विषय दोनों के नाते संस्कृत-साहित्य में स्थिर करना कठिन है। उनका स्थान वास्तव में जितना महत्वपूर्ण इतिहास में है उससे कही बढकर धार्मिक साहित्य में है। वैदिक साहित्य के बाद हिन्दूधर्म को जिस साहित्य-शाखा ने विशेष रूप से प्रभावित किया है वह है पुराण-वर्ग। विष्णु और शिव की महिमा इन ग्रन्थों में विशेषक

है कि सोमवंश मे दो ऋक्ष और दो ही परीक्षित हुए, तीन भीमसेन और दो जनमेजय हुए ।" वायुपुराण तुर्वसुवंश के संबंध में भी कहता है—'अविक्षित का पुत्र राजा मरुत्त, जिसका उल्लेख ऊपर हो गया है, उस नाम के इस राजा से सर्वथा भिन्न था।" ऊपर के उद्धरणो से प्रमाणित होगा कि इन राजवंशों की तालिकाओं पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता था और ये तालिकाएँ महाभारत-युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व ही मूल पुराण में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा इकट्ठी कर ली गई थी।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार पुराणो के वर्णन के विषय पाँच हैं—सर्ग (सृष्टि), प्रति-सर्ग (पुनः-सृष्टि, प्रलय के बाद की), वंश (देवताओं और ऋषियों की वंशतालिकाएँ), मन्वन्तर (प्रत्येक मन्वन्तर का एक मनु था) और वंशानुचरित (अर्थात् सूर्य और चंद्रवंश की राजतालिकाएँ)। परन्तु प्रस्तुत पुराणो में इन पाँचों से कही अधिक विषयों का वर्णन मिलता है जिनमे अध्यात्म, अलकार, धर्म, सम्प्रदाय, आचार, व्यवहार, सभी पर साहित्य है। इन पुराणो मे अधिकतर प्राचीन सूर्य और चंद्रवंशो के साथ भविष्य के राजवंश भी जोड दिए गए हैं जो वास्तव में ऐतिहासिक काल के राजकुल है। पुराणो को प्राचीनतर करने के लिए इस भविष्य-कथन-शैली का सहारा लिया गया है। इन पिछले राजकुलों ही मे शैशुनागों, नन्दो, मौर्यो, आंध्रो, शुगों, कण्वों और गुप्तो के वंश आते हे और इस कारण इन पुराणों की गुरुता बढ जाती है। पुराणों में इन राजकुलों का तिथिक्रम लगभग छठी शताब्दि ई० पू० से चलकर ईसा की सातवी शती के पूर्व समाप्त हो जाता है क्योंकि इनमे हर्ष और उसके बाद के व्यक्तियों और कुलो का वर्णन नही मिलता। इन तालिकाओं के कारण ही पुराण प्राचीन राजनीतिक इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होते है। उनकी सत्यता इस प्रकार और भी निश्चित हो जाती है कि उनके राजव्यक्तियो का वर्णन तत्कालीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी मिल जाता है।

इन पुराणों की सख्या प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अट्ठारह है। वे निम्नलिखित है—(१) ब्राह्म, (२) पद्म, (३) वैष्णव, (४) शैव अथवा वायवीय, (५) भागवत, (६) नारदीय, (७) मार्कण्डेय, (८) आग्नेय, (९) भविष्य अथवा भविष्यत्, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिंग, (१२) वाराह, (१३) स्कंद, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड़ और (१८) ब्रह्माण्ड। यह तालिका सभी पुराणों में दी हुई है। इन पुराणों के अतिरिक्त कुछ महापुराण और उपपुराण भी है।

ब्रह्म-पुराण को आदि पुराण भी कहते है, परन्तु वास्तव में इसका कुछ ही भाग प्राचीन है। पद्म-पुराण वृहदाकार है। इसके ६ काण्ड है—आदिकाण्ड, भूमि-काण्ड, ब्रह्मकाण्ड, पातालकाण्ड, सृष्टिकाण्ड और उत्तरकाण्ड। विष्णु-पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा एक काव्य सा प्रतीत होता है। इसके भी ६ भाग है। वायु-पुराण का दूसरा नाम शिव-पुराण भी मिलता है। इस पुराण में चौथी शती ई० के गुप्त शासन और उस राज्य के प्रसार का उल्लेख है। भागवत-पुराण भक्तो मे बहुत प्रसिद्ध है। इसके वर्णित विषय विष्णु-पुराण के विषय मे बहुत मिलते है। संभवत. यह उसी पर अव-लंबित है। और दशवी सदी ईस्वी तक यह संकलित हो चुका था। बृहन्नारदीय पुराण भक्ति-विषयक पुराण है और इसमे 'सर्ग-प्रतिसर्गों' का पुराण-परक वर्णन भी नही है। मार्कण्डेय-पुराण विष्णु, वायु और अग्नि पुराणों की भांति ही प्रधान पुराणो मे से है। उनमे से प्राचीनतमो मे से यह एक है। पार्जिटर की राय मे इसके कुछ भाग तृतीय शताब्दी ईस्वी अथवा इससे भी प्राचीन है। अग्नि-पुराण एक विश्वकोष जैसा है, जिसमें भगवद्गीता से लेकर अलकार शास्त्र तक के निचोड है। भविष्य-पुराण मे भविष्य-कथन है और शाकद्वीप के भोजक और मग वर्ग के सूर्य-पुजारियो का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे वैष्णव सप्रदाय की ख्यातियाँ आदि दी गई है। लिंग-पुराण मे लिंग-परक शैव पूजा का माहात्म्य है। वाराह-पुराण मे भी विष्णु के वाराहावतार की कथा है। स्कन्द-पुराण भी शैव संप्रदायपरक पुराण है, परन्तु उसके अतिरिक्त भी उसमें पुराणोचित अनेक विषय है। कुर्मपुराण मे विष्णु, शिव और शक्त्यादि पर विचार है। मत्स्य-पुराण भी प्राचीन पुराणों मे से एक है। इसमें भी राजाओं की वंशावलि दी हुई है और आंध्रों के सम्बन्ध में यह प्रमाण है। गरुड़-पुराण वैष्णव पुराण है। ब्रह्माण्ड-पुराण संभवतः वायु पुराण का प्राचीन रूप है। इसमें स्तोत्र, माहात्म्य और स्तोत्रादि भरे पड़े है। विख्यात अध्यात्म रामायण उसी का भाग है।

प्राचीनतम पुराण, जिसकी इनमें गणना नही है, गार्गी संहिता का एक भाग है जिसे 'युग-पुराण' कहते हैं।

गाई है और बाद का भारतीय अथवा हिन्दू धर्म इन्ही देवताओं अथवा इन्ही के वर्ग के देवी-देवताओं का पूजा-क्षेत्र है।

पुराण का मौलिक अर्थ है 'पुराण आख्यानम्', अर्थात् प्राचीन कथाएं। प्राचीन साहित्य यानी ब्राह्मणो, उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थो में 'पुराण' शब्द प्राय 'इतिहास' शब्द के साथ सम्बद्ध मिलता है। परन्तु इतिहास-पुराणों से यह तात्पर्य नही है कि इतिहास और पुराण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध थे। वे केवल साहित्य मात्र थे। फिर भी अथर्ववेद मे (५,१६,६) जहाँ वेदों के अतिरिक्त पुराणो का भी उल्लेख है अवश्य पुराणो द्वारा किसी-न-किसी रूप के ग्रन्थ की ओर सकेत किया गया है। वास्तव मे सूत्र-साहित्य मे यथार्थ पुराणों का अस्तित्व प्रमाणित है। गौतम-धर्मसूत्र मे लिखा है कि राजा को दण्डनीति मे वेद, धर्मसूत्र, वेदाग और पुराणो को प्रमाण मानना चाहिए। यहाँ वेदादि की ही भाँति निश्चय ही पुराणो के एक ग्रन्थबद्ध साहित्य का उल्लेख है। आपस्तंबीय धर्मसूत्र मे पुराणों के दो और भविष्यत्पुराण का एक संदर्भ उल्लिखित है। और चूँकि इन धर्मसूत्रों को ई० पू० पाँचवीं और चौथी शताब्दियो के बाद नही रख सकते। अतएव पुराणो का यह ग्रन्थबद्ध रूप किसी न किसी रूप में चौथी-पाँचवी शताब्दियों ई० पू० मे ही स्थिर हो जाता है। जो पुराण हमें उपलब्ध है निश्चय वे ही वे ग्रन्थ नही है जिनका उल्लेख इन धर्मसूत्रों मे मिलता है। यथार्थ मे यह पुराण एक मूलपुराण है, जिसके आधार पर आधुनिक पुराणों के प्राचीन ऐतिहासिक अथवा प्रागैतिहासिक वृत्तान्त लिखे गए है। वायुपुराण एक स्थल पर बताता है कि किस प्रकार यह मूलपुराण बना। उसमे लिखा है कि यह मूलपुराण विविध वंशों की यशस्वी कीर्त्तियो से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास के आख्यानो, उपाख्यानो और गाथाओं के योग से निर्मित हुआ। सो यह आख्यान और गाथाबद्ध इतिहास वैदिक काल मे भी प्राप्य था और शतपथ ब्राह्मण ने जो 'पुराण' को वेद घोषित किया है (पुराणं वेद. सोऽयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीत—१३,४,३,१३), उससे ब्राह्मणकाल में इस पुराण-साहित्य की महत्ता लक्षित होती है। पुराण उस काल मे वैदिक मंत्रों की भाँति समादृत होते थे। इसी कारण पुराण में वर्णित विषय पूरी तरह सुरक्षित रखा जा सका और जिस प्रकार ब्राह्मणों ने वेदनिधि को अत्यन्त क्षमता और परिश्रम से बचा रखा, उसी प्रकार पुराण-साहित्य के प्रचार और उसकी रक्षा के लिए भी एक विशिष्ट ऋषि-परिवार पनप उठा। इन्हे सूत कहते थे और इनका काम कथा बाँचना था। दुर्भाग्यवश सूतनामधारी कथावाचकों और पुराणकारों की शृंखला टूट गई। यदि वे भी ब्राह्मणों की भाँति जीवित रहते तो वेदो की तरह ही पुराणों की परम्परा भी सुरक्षित रहती और उनकी कथाओं की पावनता भी ऋचाओं की नाई बनी रहती। उनमें तब प्रक्षेप की गुंजायश भी न रहती।

अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में जिस इतिहास-पुराण का उल्लेख है उसमे तत्कालीन और उससे भी प्राचीन वंशों के आख्यानों और कुलकर्मो का समावेश रहा होगा। जब गुप्तकालिक वर्तमान पुराणो मे क्रमागत वंशनालिकाएँ इस रूप में सुरक्षित मिलती है, तब अन्त्य-वैदिक काल मे तो उस समय की तथा उससे भी पूर्व की तालिकाएँ और पूर्ण रूप मे प्राप्य रही होंगी। सो सार्वजनिक सूतों का वह समुदाय वैदिक काल में पूरी तन्मयता से प्राचीन इतिहास की सामग्री से तत्कालीन ढाँचा तैयार करता था। उसे वे सूत उत्तरकालीन पीढ़ियो के लिए सूत्ररूप श्लोकों में व्यक्त कर छोड़ते थे। ये श्लोक वर्तमान पुराणों मे भी जहाँ-तहाँ आसानी से पढे जा सकते है। ये पुराण भारत-युद्ध के पूर्व के व्यक्तियों के सम्बन्ध मे साधारणतया तो नाममात्र लिखते है, परन्तु जब किसी महत्वपूर्ण राजा का प्रसग आ जाता है तब वे वहाँ तक के जीवित नाराशसी गाथाओ के अवतरण देते है। उदाहरणार्थ वायुपुराण को ले ले। इक्ष्वाकुवशी राजाओ के नाम गिनाते हुए यशस्वी मान्धाता के समीप जब पुराणकार आता है, तब वह कहता है—"पौराणिक ब्राह्मणो ने इस राजा के सम्बन्ध में ये दो श्लोक संभाल रखे है।" उसी प्रकार की नाराशंसी गाथाएँ त्रिशकु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, अलर्क, ज्यामेघ, वसु, भरत, कार्तवीर्यादि राजाओ के विषय मे भी सुरक्षित है। इन राजाओं की साधारण नामावली उपस्थित करते हुए भी पुराणकारों ने वैज्ञानिक रीति से काम लिया है। इस प्रकार वायु और मत्स्य पुराण इक्ष्वाकु-राजनामावली पर विचार करते हुए जब नल नामक राजा तक पहुँचते है, तब उनकी धारा रुक जाती है और वे कहते है—"पुराणो में दो नल विख्यात है—एक वीरसेन का पुत्र और दूसरा इक्ष्वाकुवशीय।" इसी प्रकार एक नाम के कई राजाओं का उल्लेख करते हुए ब्रह्मपुराण कहता

है कि सोमवंश में दो ऋक्ष और दो ही परीक्षित हुए, तीन भीमसेन और दो जनमेजय हुए।" वायुपुराण तुर्वसुवंश के संबंध में भी कहता है—'अविक्षित का पुत्र राजा मरुत्त, जिसका उल्लेख ऊपर हो गया है, इस नाम के इस राजा से सर्वथा भिन्न था।" ऊपर के उद्धरणों से प्रमाणित होगा कि इन राजवंशों की तालिकाओं पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता था और ये तालिकाएँ महाभारत-युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व ही मूल पुराण में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा इकट्ठी कर ली गई थी।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार पुराणों के वर्णन के विषय पाँच हैं—सर्ग (सृष्टि), प्रति-सर्ग (पुन-सृष्टि, प्रलय के बाद की), वंश (देवताओं और ऋषियों की वंशतालिकाएँ), मन्वन्तर (प्रत्येक मन्वन्तर का एक मनु था) और वंशानुचरित (अर्थात् सूर्य और चंद्रवंश की राजतालिकाएँ)। परन्तु प्रस्तुत पुराणों में इन पाँचों से कहीं अधिक विषयों का वर्णन मिलता है जिनमें अध्यात्म, अलंकार, धर्म, संप्रदाय, आचार, व्यवहार, सभी पर साहित्य है। इन पुराणों में अधिकतर प्राचीन सूर्य और चन्द्रवंशों के साथ भविष्य के राजवंश भी जोड़ दिए गए हैं जो वास्तव में ऐतिहासिक काल के राजकुल हैं। पुराणों को प्राचीनतर करने के लिए इस भविष्य-कथन-शैली का सहारा लिया गया है। इन पिछले राजकुलों ही में शैशुनागों, नन्दों, मौर्यो, आंध्रों, शुंगों, कण्वों और गुप्तों के वंश आते हैं और इस कारण इन पुराणों की गुरुता बढ़ जाती है। पुराणों में इन राजकुलों का तिथिक्रम लगभग छठी शताब्दि ई० पू० से चलकर ईसा की सातवीं शती के पूर्व समाप्त हो जाता है क्योंकि इनमें हर्ष और उसके बाद के व्यक्तियों और कुलों का वर्णन नहीं मिलता। इन तालिकाओं के कारण ही पुराण प्राचीन राजनीतिक इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। उनकी सत्यता इस प्रकार और भी निश्चित हो जाती है कि उनके राजव्यक्तियों का वर्णन तत्कालीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी मिल जाता है।

इन पुराणों की संख्या प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अट्ठारह है। वे निम्नलिखित हैं—(१) ब्राह्म, (२) पद्म, (३) वैष्णव, (४) शैव अथवा वायवीय, (५) भागवत, (६) नारदीय, (७) मार्कण्डेय, (८) आग्नेय, (९) भविष्य अथवा भविष्यन्, (१०) ब्रह्मवैवर्त्त, (११) लिंग, (१२) वाराह, (१३) स्कंद, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड़ और (१८) ब्रह्माण्ड। यह तालिका सभी पुराणों में दी हुई है। इन पुराणों के अतिरिक्त कुछ महापुराण और उपपुराण भी हैं।

ब्रह्म-पुराण को आदि पुराण भी कहते हैं, परन्तु वास्तव में इसका कुछ ही भाग प्राचीन है। पद्म-पुराण वृहदाकार है। इसके ६ काण्ड हैं—आदिकाण्ड, भूमि-काण्ड, ब्रह्मकाण्ड, पातालकाण्ड, सृष्टिकाण्ड और उत्तरकाण्ड। विष्णु-पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा एक काव्य सा प्रतीत होता है। इसके भी ६ भाग है। वायु-पुराण का दूसरा नाम शिव-पुराण भी मिलता है। इस पुराण में चौथी शती ई० के गुप्त शासन और उस राज्य के प्रसार का उल्लेख है। भागवत-पुराण भक्तों में बहुत प्रसिद्ध है। इसके वर्णित विषय विष्णु-पुराण के विषय से बहुत मिलते है। सम्भवतः यह उसी पर अव-लंबित है। और दसवीं सदी ईस्वी तक यह संकलित हो चुका था। वृहन्नारदीय पुराण भक्ति-विषयक पुराण है और इसमें 'सर्ग-प्रतिसर्गों' का पुराण-परक वर्णन भी नहीं है। मार्कण्डेय-पुराण विष्णु, वायु और अग्नि पुराणों की भांति ही प्रधान पुराणों में से है। उनमें से प्राचीनतमों में से यह एक है। पार्जिटर की राय में इसके कुछ भाग तृतीय शताब्दी ईस्वी अथवा इससे भी प्राचीन है। अग्नि-पुराण एक विश्वकोष जैसा है, जिसमें भगवद्गीता से लेकर अलंकार शास्त्र तक के निचोड़ है। भविष्य-पुराण में भविष्य-कथन है और शाकद्वीप के भोजक और मग वर्ग के सूर्य-पुजारियों का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में वैष्णव संप्रदाय की ख्यातियाँ आदि दी गई हैं। लिंग-पुराण में लिंग-परक शैव पूजा का माहात्म्य है। वाराह-पुराण में भी विष्णु के वाराहावतार की कथा है। स्कन्द-पुराण भी शैव सम्प्रदायपरक पुराण है, परन्तु उसके अतिरिक्त भी उसमें पुराणोचित अनेक विषय है। कूर्मपुराण में विष्णु, शिव और शक्त्यादि पर विचार है। मत्स्य-पुराण भी प्राचीन पुराणों में से एक है। इसमें भी राजाओं की वंशावलि दी हुई है और आंध्रों के सम्बन्ध में यह प्रमाण है। गरुड़-पुराण वैष्णव पुराण है। ब्रह्माण्ड-पुराण संभवतः वायु पुराण का प्राचीन रूप है। इसमें स्तोत्र, माहात्म्य और स्तोत्रादि भरे पड़े है। विख्यात अध्यात्म रामायण उसी का भाग है।

प्राचीनतम पुराण, जिसकी इनमें गणना नहीं है, गार्गी संहिता का एक भाग है जिसे 'युग-पुराण' कहते हैं।

इससे दूसरी शती ई० पू० के इतिहास और ग्रीक-शक आदि के भारत-आक्रमणों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार का यह अद्वितोय पुराण है।

उपपुराणों में मुख्य निम्नलिखित हैं—विष्णुधर्मोत्तर, वृहद्धर्म-पुराण, शिव-पुराण, गणेश-पुराण, चण्डी-पुराण, शाम्ब-पुराण, कल्कि-पुराण, कालिका-पुराण, नीलमतादि। नैपाल की वंशावलियाँ, नेपाल-माहात्म्य, वागवती-माहात्म्य आदि भी उपपुराणों से संबंधित है।

तन्त्र-साहित्य

संहिता, आगम और तन्त्र—पौराणिक साहित्य पर तान्त्रिक साहित्य का खासा असर पडा दिखाई देता है। उसके रूप कई है—जैसे शिव-पार्वती के संवाद, गूढ़ मंत्रों और यत्रो का प्रयोग। परन्तु पुराण जहाँ काव्य का कलेवर धारण कर ख्यातियो और प्राचीन अनुवृत्तों पर जोर देते है वहाँ 'तन्त्रो', 'संहिताओ' और आगमों में धर्मतत्त्व का निरूपण है और वे सांप्रदायिक आचार और रहस्यमय मंत्रो और गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है। सूत्रत: संहिताएँ वैष्णवों, आगम शैवों और तंत्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ है। परन्तु इन तीनो के साहित्य में विशेष अन्तर न होने के कारण सबकी तंत्र संज्ञा ही है। सम्पूर्ण तन्त्र में चार भाग होने आवश्यक हैं—(१) ज्ञान (सिद्धांत), (२) योग, (३) क्रिया और (४) चर्या (नियमादि)। प्रत्येक तंत्र में तो ये चारों प्रकरण सदा नहीं होते, परन्तु प्रत्येक में अध्यात्म और रहस्यवाद की चर्चा अवश्य रहती है।

शैव आगमों के विषय में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। आगम २८ है और प्रत्येक के कई-कई 'उपागम' है। इनकी तिथि के विषय में कुछ कहना कठिन है।

वैष्णव पाञ्चरात्र संप्रदाय की 'संहिताओं' के विषय मे हमारा ज्ञान कुछ अधिक है। अनुश्रुति के अनुसार तो पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या १०८ है, परन्तु वास्तव मे उल्लेख २१५ का है, जिनमे से बारह प्रकाशित है। प्राचीनतम संहिताओं में से एक 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' है। यह लगभग चौथी शती ईस्वी का काश्मीरी ग्रन्थ है। यद्यपि पाञ्चरात्र संहिताओं का आरम्भ उत्तर में हुआ, उनका प्रसार अधिकतर दक्षिण में ही हुआ। ये प्राय: पाँचवी से नवी सदियो के है। इन दाक्षिणात्य संहिताओं में से एक प्राचीन संहिता 'ईश्वर-सहिता' है। इसका उल्लेख श्रीरामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य ने किया है। आचार्य यामुन का देहान्त १०४० ई० में हुआ था। स्वयं श्रीरामानुज ने 'पौष्कर', 'परम' और 'सात्वत' संहिताओं का जिक्र किया है। नारद पाञ्चरात्र की बृहद् ब्रह्म संहिता में श्रीरामानुज के संबंध मे भविष्यद्वाणी होने के कारण स्वयं यह बारहवी सदी ई० से पूर्व का नहीं हो सकता। नारद पाञ्चरात्र के नाम से प्रकाशित ज्ञानामृतसार संहिता में राधा-कृष्ण की प्रशस्ति है और चूँकि इसका विषय वल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्तों से मिलता है, अत: इसका निर्माण श्रीवल्लभाचार्य से कुछ ही पूर्व लगभग सोलहवीं सदी के आरम्भ में हुआ होगा।

तंत्रग्रंथ साधारणतया शाक्तो के हैं, जिनमें शक्तियाँ प्रधान मानी गई है। इसमे पाण्डित्यपूर्ण अध्यात्म-सिद्धान्तो के साथ ही अत्यन्त निगूढ़ रहस्यवाद तथा अन्धविश्वास की बाते भी है। इनमें अत्यंत कठोर आचार का विधान है। अनुश्रुति के अनुसार तंत्र ६४ हैं परन्तु तन्त्रों की हस्तलिपियो की संख्या इससे कहीं अधिक है। इनका आदि स्थान बंगाल था, जहाँ से ये बौद्ध संप्रदाय के जरिए आसाम और नैपाल तथा तिब्बत और चीन तक फैले। इनमें शिव-पार्वती के संवाद होते हैं। जब शिव उत्तर देते और पार्वती प्रश्न करती है तब उसे आगम कहते है और जिनमें शिव शिष्य और पार्वती गुरु का आचरण करती हैं उसे निगम कहते है।

इन आगमो में प्रधान महानिर्वाण तंत्र है, जिसमें शाक्त धर्म का सर्वोत्तम विवेचन है। यह बहुत प्राचीन तो नही है परन्तु महत्त्वपूर्ण अवश्य है। 'कौल' अर्थात् शाक्तों के प्रधान ग्रंथों में एक 'कुलार्णव-तंत्र' है, जिसमे छ: प्रकार के कुलाचारो का वर्णन है। कौल संप्रदाय का दूसरा प्रधान ग्रंथ 'कुलचूड़ामणि' है। यह एक 'निगम' है।

'प्रपंचसारतंत्र' में विश्वतत्त्व का निरूपण है। यह शकराचार्य द्वारा रचा कहा जाता है। 'तंत्रराज-तंत्र' में प्रसिद्ध श्रीयन्त्र का वर्णन है। श्रीयन्त्र में नौ त्रिभुज और नौ वृत्त एक-दूसरे में गुँथे हुए दिखाए होते है। यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण यन्त्र है, जिसका चिन्तन करने से भक्त की देवी के साथ एकता स्थापित होती है। 'काली-विलास तंत्र' निषिद्ध तंत्र है। 'ज्ञानार्णव तंत्र' में क्रियाओं का विधान है। ११वीं सदी के लक्ष्मण देशिक विरचित 'शारदातिलक-तंत्र' में मत्रों और यंत्रों का निरूपण है।

तंत्रों की प्राचीनतम नैपाली हस्तलिपियाँ सातवी से नवी सदी ईस्वी की है, अत. इस साहित्य का आरम्भ पाँचवीं सदी के पूर्व ही रखना होगा। परन्तु तंत्रों के कुछ तात्त्विक रूप उपनिषदों, ब्राह्मणों और अथर्ववेद तक में मिलते है।
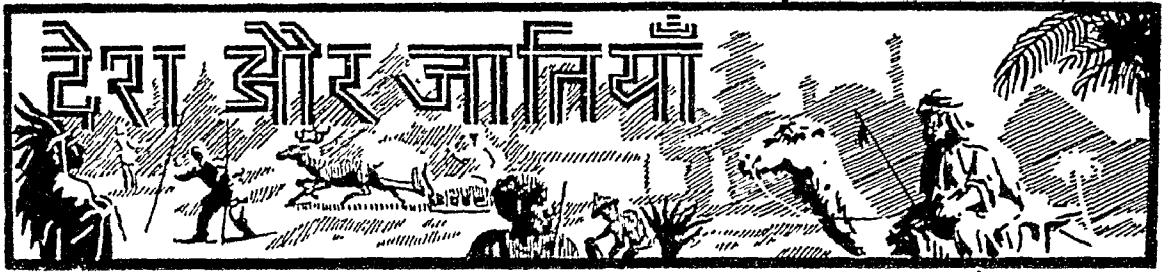
उत्तरी हिमप्रदेश के रखवाले ग्रीनलैंड के एस्किमो

चारों ओर तुषारमंडित धवल हिम-क्षेत्र का ही प्रसार है ! मकान भी हिमशिलाओं द्वारा निर्मित है ! आहार के लिए केवल मछलियाँ या सील-वालरस जैसे समुद्री जीव, और पहनने को इन्हीं जंतुओं की खाल ! इस पर प्रति पल प्रकृति के भयावह नग्न ताण्डव का थिरकता हुआ चित्रपट---आँधी, बिजली, तूफान और आसमान में सुमेरु-ज्योति या 'अरोरा बोरियालिस' का अद्‌भुत दृश्य ! भला किस पदार्थ की उन नरवीरों की हड्डियाँ बनी हैं, जो ऐसी परिस्थिति में भी डटकर सदियों से प्रकृति से लोहा ले रहे हैं ? आइए, उनकी कहानी इस प्रकरण में आपको सुनाएँ !

चारों ओर बर्फ ही बर्फ ! पेड़े-पौधो का कही नाम नही ! एक अजीब धुंध ! कुहरा और अंधकार ! सूरज महीनों गायब ! खून को भी जमा देनेवाली कडकड़ाती सर्दी ! तापमान शून्य से ३०-४० अंश नीचे तक गिरा हुआ ! आँधी---बदन को काटती, चीत्कार करती, सौ सवा सौ मील प्रति घटे की रफ्तार से भागती बर्फीली आँधी ! नंगे एकदम खड़े खिसकते हिम के पहाड ! हिमानियाँ---अरअराती धीरे-धीरे सरकती बर्फ की नदियाँ ! जानवर के नाम पर एक पखेरू तक नहीं ! केवल समुद्र पर बिछी बर्फीली चादर के नीचे चुपचाप तैर रही कुछ खास तरह की मछलियाँ और उनका शिकार कर अपना निर्वाह करनवाले वालरस, सील, ह्वेल या सफेद भालू-जैसे कुछ अनोखे जीवों का ही बोलबाला। आसमान मे भी कहीं न देखी-सुनी गई प्रकृति की एक अजीब लीला ! देखते-देखते इन्द्रधनुप को भी मात कर देनेवाले निरन्तर थिरकते हुए एक विचित्र रग-बिरंगे प्रकाश-पुज का आविर्भाव ! घंटों आकाश में प्रकृति का यही खिलवाड़--- मानो आसमान में आग लग गई हो। फिर वही अंधकार, वही बर्फीली आँधी !

क्या इस दिल दहला देनेवाले वातावरण में जीवनयापन करनेवाले मानव की भी कल्पना की जा सकती है ? प्रकृति के इस प्रलय-ताण्डव में सम्मिलित होकर, उसके ताल-स्वर पर पैर उठाने, उसकी ललकार का अट्टहास्य द्वारा प्रत्युत्तर देने का साहस और सामर्थ्य रखनेवाले उस नरवीर की हड्डियाँ किस पदार्थ की बनी होगी ? निस्सदेह, उसकी रूपरेखा सहज ही हमारे मन में नही खिचने की। हमें भीषण लू-लपट से तपे हुए पथरीले रेतीले रेगिस्तानो, आँधी-पानी-तूफान से रात-दिन घिरे घने जंगलोवाले दलदली निर्जन टापुओं, ऊबडखाबड पहाडों और निर्जल पठारो में मोर्चा बाँधकर प्रकृति से निरंतर लडाई लडते रहनेवाले मानव का अस्तित्व असंभव नही प्रतीत होता। पर ऊपर वर्णित कठोर वातावरण में भी मनुष्य उसी भाँति संघर्ष कर रहा होगा, यह एकाएक हमारी कल्पना मे नही आ सकता।

इस बर्फीले मोर्चे पर भी सदियों से मनुष्य डटा है

किन्तु प्रकृति की लीला जैसी विचित्र और अनत है, मनुष्य की शक्ति और जीवनलीला भी उससे किसी दर्जे कम विचित्र नही है। आप यह जानकर अचरज करेंगे कि पिछले हजारों वर्षो से मनुष्यो की एक छोटी-सी टुकड़ी ऊपर वर्णित बर्फीले मोर्चे पर भी डटकर अकेले ही प्रकृति से लोहा ले रही है ! उसकी यह संग्राम-भूमि अमेरिका के उत्तर-पूर्व में स्थित ध्रुव से सटे हुए ग्रीनलैण्ड के विशाल द्वीप से लगाकर पश्चिम में अलास्का और बेयरिङ्ग जल-डमरूमध्य के उस पार साइबेरिया के उत्तर-पूर्वीय नुकीले कोने तक पसरी हुई है। यह सारा का सारा विशाल क्षेत्र,

कुछ जल और स्थल भागों को छोड़कर, एक अखण्ड बर्फ की चादर से ढका रहता है, जो शीतकाल में शेष भागों को भी ढाँप लेती है। अकेले ग्रीनलैण्ड का ही विस्तार लगभग ८२,७३,००० वर्गमील अर्थात् भारतवर्ष के आधे से भी अधिक है। लगभग एक महाद्वीप का विस्तार! फिर भी इस विस्तृत प्रदेश की कठोर बर्फीली दीवार से टक्कर लेने-वाले उन साहसी मनुष्यों की संख्या कितनी परिमित है—केवल तीस हजार प्राणी! किन्तु संख्या में कम हुए तो क्या हुआ, साहस और वीरता में तो वे ३० लाख को भी मात कर सकते हैं! इसी से तो उन्होंने इस प्रदेश में पिछले हजारों वर्षों से अपने पैर मजबूती से जमा रक्खे हैं। अपनी सारी शक्ति को लेकर भी प्रकृति उन्हें इस मोर्चे से उखाड़ फेंकने में कभी सफल नहीं हो पाई है। प्रकृति की कठोरता के कारण उनकी शक्ति का ह्रास होना तो दूर रहा, उल्टे उन्हें उसका सामना करने के लिए और बल मिल गए हैं!

यही है वह नरवीर, जो उत्तराखंड के बर्फीले मोर्चे पर सदियों से प्रकृति से लोहा ले रहा है। एस्किमो जाति के इस सूरमा की मुखमुद्रा में प्रकृति के साथ निरंतर जारी अपने कटु संघर्ष की क्या-क्या स्मृतियाँ अंकित नहीं हैं! पर क्या आप विश्वास करेंगे कि जितने ये लोग हँस लेते हैं, कदाचित् संसार की अन्य कोई जाति उतना हँस पाती हो!

सचमुच ही ये लोग मौजूदा मनुष्यों में सबसे अनोखे हैं। ये इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि मनुष्य में कठोर से कठोर वातावरण के भी अनुकूल अपने आपको बना लेने की कैसी विचित्र शक्ति छिपी हुई है। ये लोग मानो इस पृथ्वी के उत्तरी बर्फीले सीमा-प्रान्त के रखवाले हैं। जिस क्षेत्र में कदम रखते हुए भी दुनिया के अन्य मनुष्य घबड़ाते, उसी को इन लोगों ने अपना घर-द्वार बना लिया है! जिस दशा में दूसरों के लिए जीवन का अस्तित्व बनाए रखना भी दूभर हो जाता, वहीं इन लोगों के जीवन का आरम्भ होता है। मानो इसी तरह के वातावरण के लिए ही वे बने हों—इससे बाहर पनपना उनके लिए मुश्किल है। यही कारण है कि अपने इस विशुद्ध वातावरण में बाहर की हवा भी आने देना ये लोग गवारा नहीं कर सकते। और सच तो यह है कि संसार की अन्य अनेक आदिम जातियों की तरह इन लोगों के लिए भी यह बाहरी 'सभ्यता' की छूत घातक ही सिद्ध हुई है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इस छूत ने उनके यहाँ आकर प्राण-हारी महा-मारी का काम किया है और उनके पार्थिव अस्तित्व तक को खतरे में डाल दिया है! उन्हें ध्रुवप्रदेश की बर्फीली आँधी और कड़ाके की सर्दी तो न डिगा सकी, न आहार और सुख के साधनों की कमी ही उन्हें विचलित कर पाई, किन्तु एक विदेशी सभ्यता की छूत ने उनके पैर उखाड़ दिए! अचरज नहीं, यदि इसी के परिणामस्वरूप एक दिन इन वीर और साहसी लोगों का इस दुनिया से नाम ही उठ जाय!

ध्रुव-प्रदेश के इन अनोखे निवासियों को 'सभ्य' संसार 'एस्किमो' के नाम से पहचानता है। इस अद्भुत जाति का

ध्रुव-प्रदेश में रात्रि के समय भी कभी-कभी इसी तरह सूर्य दिखाई देता है ! इस फोटो में एक ही प्लेट पर सूर्य की भिन्न-भिन्न समय की स्थिति अंकित है ।

अध्ययन करनेवालों में प्रमुख डा० रिन्क के अनुसार 'एस्किमो' नाम इन लोगों को इनके दक्षिण के पड़ोसी अमेरिकन इंडियनों द्वारा दिया गया है । इंडियनों की भाषा में एस्किमो शब्द का अर्थ 'कच्चा मांस खानेवाला' होता है, जो एस्किमो लोगों के आहार-विहार को देखते हुए सार्थक ही है ! परन्तु स्वयं एस्किमो अपने आपको 'इनुइत' कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी भाषा में होता है 'मानव' । क्या ही सुन्दर, सरल और स्वाभाविक नाम उन्होंने अपने लिए चुना है ! किन्तु आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि ये लोग केवल अपने आपको ही 'मनुष्य' समझते हैं । अपने अलावा अन्य सभी को वे और वर्ग के जीवधारी मानते हैं, मानव नहीं !

एस्किमो कहाँ से आए ?

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एस्किमो लोग ग्रीनलैण्ड से लगाकर अलास्का और बेयरिंग जलडमरूमध्य के उस पार तक बिखरे पाये जाते हैं । पिछले कुछ वर्षों में इनकी रगों में गोरी जातियों के भी रक्त का मिश्रण हो गया है, अतएव अब विशुद्ध एस्किमो इने-गिने ही मिलते हैं । फिर भी ग्रीनलैण्ड में बसनेवाले किसी भी विशुद्ध रक्तवाले एस्किमो और ३,००० मील दूर बेयरिंग जलडमरूमध्य के पार या अलास्का में पाए जानेवाले एस्किमो की बोली, सूरत-शक्ल और रहन-सहन में इतनी मौलिक समानता है कि यह दृढ़ धारणा होती है कि ये सब किसी एक ही अति प्राचीन मूल आदिम जाति के वंशज हैं, जो किसी समय इस विशाल क्षेत्र के विभिन्न भूभागों में बिखर गई थी । अधिकांश मानव-वैज्ञानिकों का मत है कि एस्किमो उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों की ही जाति के हैं---ये उन्हीं की एक उपशाखा हैं । इनके चेहरे की काट, आँखें, बाल, कद सभी अमेरिकन इंडियनों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं । केवल रंग उनसे अधिक गोरा है---सो शीत-प्रधान वातावरण के कारण भी हो सकता है । डा० रिन्क का मत है कि एस्किमो एक जमाने में अलास्का के भीतरी भागों में रहते थे---वहीं से बाद को वे उत्तरी हिमप्रदेशों में फैल गए । उनकी यह भी धारणा है कि एस्किमो भाषा अमेरिका की आदिम बोलियों से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है और उनके औजार-हथियार, दन्तकथाएँ एवं रीति-रिवाज भी अमेरिकन रेड इंडियनों से सम्बन्ध रखते हैं । एक बात में निस्सन्देह एस्किमो अमरिकन रेड इंडियनों में नहीं मिलते, और वह है उनमें कुत्तों से खींची जानेवाली स्लेजगाड़ियों का प्रयोग ।

एक सिद्धान्त यह भी है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व एस्किमो के पुरखे कनाडा की सुपीरियर झील के उत्तरी जंगलों के वासी थे । यहाँ से वे उत्तर की ओर बढ़े और क्रमशः उनकी दो मुख्य शाखाएँ अलग-अलग फूट गईं । एक उत्तर-पूर्व की ओर छितरे हुए टापुओं की राह से ग्रीनलैंड में जा पहुँची और दूसरी सुदूर पश्चिम में अलास्का में जा बसी । उन्हीं में से कुछ कदाचित् बेयरिंग जलडमरूमध्य को पार कर साइबेरिया में भी जा पहुँचे होंगे ।

पहली ही निगाह में देखने पर एस्किमो को हम सुन्दर तो किसी हालत में भी नहीं कह सकते, परन्तु जो कोई भी उन्हें देखेगा, वह उनकी हँसमुख मुद्रा से प्रभावित हुए बिना

ग्रीनलैंड के एस्किमो इसी तरह वर्फ के मकान वनाकर उनमें ध्रुव-प्रदेश के जाड़े की लम्बी रातें काटते है। वर्फ की शिलाओं के टुकड़े काट-काटकर किस प्रकार ये लोग उन्हें एक-दूसरे पर रचकर गुंवजनुमा मकान वनाते है, यह इस फोटो में दिखाया गया है। तैयार हो जाने पर यह हिमगृह ईंट के भट्ठे जैसा जान पड़ता है।

नहीं रह सकता। संसार में और कोई जाति शायद ही इतनी अधिक प्रसन्न रहती हो! कहते हैं, हम लोग साल भर में कुल मिलाकर जितना नही हँसते, उससे ज्यादा एस्किमो लोग महीने भर में ही हँस लेते है! उनसे हँसे विना रहा ही नहीं जाता। इसी से कुछ लोग सोचते है कि शायद यह उनकी एक जन्मजात जातीय विशेपता है। अन्य लोग इसका कारण उनके विशेष प्रकार के आहार या रहने के वातावरण में ही खोजते है। कुछ भी हो, उनका यह हास्य उनके आत्मसंतोप और आन्तरिक सुख का सूचक अवश्य है। यही कारण है कि आठ-आठ दिन फाँका करने पर भी उनके चेहरे की मुसकान गायव नहीं होती!

शक्ल-सूरत और शरीर-गठन

विशुद्ध नस्ल के एस्किमो का रंग भूरा-पिलौंहा, चेहरा गोल और चौड़ा, शरीर का डौल कुछ वेडंगा, आँखें काली, छोटी और कभी-कभी वेडी भी, नाक चपटी, गाल गोल और चर्वीले, मुँह चौड़ा, जवडे भारी और फैले हुए, तथा दाँत सफेद और मजवूत होते हैं। उनके चेहरे और हाव-भाव में उनके स्वतन्त्र प्राकृतिक जीवन का पूरा चित्र प्रतिविम्वित रहता है। यह सच है कि उनका जीवन अत्यंत कठोर है, फिर भी उनके अंग-प्रत्यंग से एक कोमल भाव ही टपकता है—उनमें कर्कशता का लेश भी नही पाया जाता। जिन लोगों में गोरी जातियों का रक्त मिश्रित हो गया है, उनके चेहरे की काट, रंग और शरीर-गठन में एक सुघडता आ गई है और हमारी दृष्टि में वे सुन्दर जँच सकते हैं, परंतु उनसे वह सौम्यता का भाव नही टपकता, जो विशुद्ध एस्किमो मे दिखाई देता है।

कद में एस्किमो नाटे नही कहे जा सकते। उनका कद मँझोला कहा जा सकता है। लगभग छ फीट तक की ऊँचाई के एस्किमो भी पाए गए है। इनके शरीर हट्टे-कट्टे और पुट्ठे मांसल होते है, परन्तु कमर से नीचे का हिस्सा प्राय. कम हृष्ट-पुष्ट पाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि इन्हे प्राय· दिन भर अपनी सँकरी-सी नौका में, जिसे ये 'काइआक' कहते हैं, सिकुडकर बैठे रहना पडता है।

वेपभूपा

पहनावे मे इनकी प्रधान विशेपता यह है कि स्त्रियों और पुरुपों दोनो की पोशाक में वहुत कम अंतर होता है—दोनो का पहनावा एक-सा ही मालूम देता है। पुरुप वदन मे आधुनिक ऊनी जर्सी से मिलता-जुलता एक वाँहदार

वस्त्र पहनते है, जिसे वे लोग 'तिमियाक' कहते हैं। यह सील या अन्य जानवरों की खाल को उलटकर बनाया जाता है। गले के ऊपर इसमें एक टोपीनुमा पुछल्ला भी होता हैं, जो सिर पर टोपी की तरह पहन लिया जाता है अथवा यों ही पीठ पर मुड़ा पड़ा रहता है। कॉलर और बाँहों के छोर पर हमारे ओवरकोट की तरह कुत्ते की बालदार खाल लगी रहती है। 'तिमियाक' के ऊपर एक और वस्त्र 'अनोराक' पहना जाता है, जो अब प्राय: सूती होता है। पैरों में सील की खाल का एक पाजामा ये लोग पहना करते है। इनके जूते भी बड़े विचित्र होते है। ये सील की खाल से बनाए जाते है और 'कामिक' के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें दो पर्ते रहती है—एक जुर्राबनुमा भीतरी पर्त, जिसमें खाल का बालदार हिस्सा भीतर की ओर मुड़ा रहता है; दूसरी बिना बालवाली मजबूत चमडे की बाहरी पर्त, जिसमे से होकर पानी की एक बूंद भीतर नहीं घुस पाती। इन्ही जूतों के सहारे इन लोगों के लिए बर्फ और पानी मे चलना-फिरना सभव होता है।

स्त्रियों की पोशाक पुरुषों से मिलती हुई होती है। दक्षिणी ग्रीनलैंड में वे बदन पर एक चमड़े की अँगिया पहनती है, जिसमें ऊपर की ओर एक उठा हुआ कॉलर रहता है। इस कॉलर पर प्राय. रंग-बिरंगें काँच के मनकों की एक चौड़ी माला ये लोग धारण करती है। इसके ऊपर पहना जानेवाला वस्त्र बडा ही तड़कभडकदार और रंगीन होता है। उसके नीचे के किनारे पर प्राय: सूती या रेशमी वस्त्र की एक रंग-बिरंगी पट्टी या चौड़ी झालर लगी रहती है। स्त्रियों के पाजामे पुरुषों से छोटे हुआ करते है—वे घुटनों तक ही पहुँचते है, किन्तु उनमें सामने की ओर बडी सजावट की हुई रहती है। इनके जूते पुरुषों के जूतों से कुछ ज्यादा लम्बे होते है और पहनने पर घुटनों से भी ऊपर तक चले आते है। ये भी प्राय. लाल, नीले, सफेद या आसमानी रंग से रँगे रहते है।

ध्रुव-प्रदेश के बर्फीले आँगन में खेलने-कूदनेवाले ये एस्किमो बच्चे, अपनी शैशवावस्था ही से कठोर परिस्थितियों में पनपने के कारण, उन जातीय गुणों से अपने आप संपन्न हो जाते है, जो वयस्क होने पर जीवन-निर्वाह के उग्र संघर्ष में उतरते समय आगे चलकर उनके एकमात्र संबल होते है।

माताएँ एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनती है, जो 'अमाउत' कहलाता है। यह साधारण 'अनोराक' जैसा ही होता है—केवल पीठ की ओर उसमें एक बडा भारी जेब या थैला होता है, जिसमें वे अपने बच्चे को रखकर चाहे जो काम करती रहती है। बच्चा इसमें बड़े आराम से रहता है।

ग्रीनलैंड के पूर्वी तटवासी एस्किमो लोगों में घर या डेरे के भीतर एकदम नंगा रहने की भी विचित्र प्रथा पाई गई है! पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे, सभी घर के भीतर बिना किसी वस्त्र के ही रहा करते है!

एस्किमो लोगों के बाल एकदम काले होते है। वे कड़े और सीधे रहते है। ये लोग प्राय अपने बाल कभी नही कटवाते। कभी-कभी बच्चों के बाल कतर दिए जाते है, किंतु इस तरह बचपन में जिनके बाल काट दिए जाते है, उन्हे फिर उम्र भर अपने बाल कटवाते रहना पडता है। स्त्रियाँ अपने बालों को सिर के ऊपर एक तरह के जूडे की शक्ल मे बाँधे रहती है। वे सजावट के लिए तरह-तरह के रगीन फीते काम में लाती है।

संघर्षमय जीवन

एस्किमो लोगो की सारी जीवनचर्या उस खास वातावरण द्वारा नियंत्रित है, जिसमे कि वे अब तक रहते आए है। जरा कल्पना कीजिए मनुष्यों की एक ऐसी टोली की, जो सारी बाहरी

दुनिया से अलग कटे हुए कड़कड़ाती सर्दीवाले एक ऐसे वर्फीले उजाड़खण्ड में जा पड़ी हो, जहाँ न वृक्ष हों, न लोहा आदि धातुएँ ही मिलती हों, न मनुष्य की सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक अन्य सामग्री ही सुलभ हो, जो कि पृथ्वी के अन्य भागों में प्राप्त है ! केवल समुद्र की लहरों द्वारा वहाकर लाई गई कुछ लकड़ी, पत्थर और जानवरों की हड्डियाँ या खाल—यही एकमात्र सामग्री उसे उपलब्ध है, जिस पर उसे निर्वाह कर अपना काम चलाना है ! इसी से अपनी सभ्यता की इमारत उसे खड़ी करना है। हड्डियाँ या खाल भी कहीं उसे पड़ी तो मिलने की नहीं ! इसके लिए भी उन थोड़े-से जलजीवों का शिकार करना निहायत जरूरी है, जो उसके लिए आहार के एकमात्र साधन हैं ! यदि हमारी 'सभ्य' कहलानेवाली दुनिया का कोई व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में जा पड़े, तो वह कब तक निभा पाएगा ?

किन्तु इसी तरह के वातावरण में एस्किमो लोग पिछली अनेक शताब्दियों से रहते चले आए हैं और इस वातावरण में भी उन्होंने किसी न किसी प्रकार अपने आपको सुखी बना लिया है। हम उनका रंग-ढंग देखकर, संभवतः उन्हें सभ्यता की निम्न श्रेणी पर अवस्थित समझने लगेंगे, परन्तु उनके जीवन की असुविधाओं और कठोरताओं पर यदि हम ध्यान दें और फिर इस बात को परखें कि ऐसे प्रतिकूल वातावरण पर भी विजय पाने में इन लोगों ने किस हद तक सफलता पा ली है, कैसे इतनी परिमित सामग्री ही से वे अपना काम चला लेते हैं, तो हमें अपनी धारणा बदलनी पड़ेगी।

जी हाँ, इन्हें अपने जीवन से पूर्णतया संतोष है ! देखिए, यह एस्किमो बालक अपनी माता के साथ कितना प्रसन्न है !

आइए, सबसे पहले इन लोगों की बस्ती या रहने के मकानों पर ही ध्यान दें। जहाँ जाड़े में तापमान शून्य हिमांक से भी ५०–६० अंश या इससे भी अधिक नीचे गिर जाया करता हो, और कभी-कभी हफ्तों वर्फीले तूफान का ऐसा दौरा रहा करता हो कि किसी भी जीवधारी के लिए बाहर मुँह निकालकर झाँकना भी असंभव हो जाता हो, ऐसे स्थान में खुले में रह सकना किसके लिए संभव हो सकता है ? किन्तु यहाँ मकान भी बनाया जाय तो किस सामान से ? न तो यहाँ अधिक लकड़ी ही प्राप्त है, न लोहा ही। कहीं-कहीं तो मिट्टी भी नहीं मिलती। केवल पत्थर हैं या जानवरों की खालें। परन्तु चतुर एस्किमो इन्हीं से अपना आवासस्थान बना लेते हैं। ये लोग पत्थर और मिट्टी से बनाए गए एक विचित्र प्रकार के कंदरानुमा घरों में जाड़ा बिताते हैं, जो बाहर से भौंडे ढूह-जैसे दिखाई देते हैं। ऐसे घरों में भीतर केवल एक ही कमरा रहता है, जिसमें कई स्त्री-पुरुष एक साथ रहते हैं। कैप्टन होम ने एक ऐसे मकान का उल्लेख किया है, जिसका भीतरी कमरा २७ × १४॥ फीट आकार का था और उसमें ३८ व्यक्तियों के आठ कुटुम्ब रहते थे। इतनी थोड़ी-सी जगह में ही ये लोग कैसे गुजर कर लेते हैं, यह एक अचरज की बात है।

वर्फ के घर या हिमगृह

गर्मियों में ये लोग तंबुओं में रहा करते हैं, जो खाल के बने होते हैं। किन्तु इन लोगों के सबसे विचित्र आवासस्थान तो वे वर्फ के मकान हैं, जिन्हें जाड़े के दिनों में अटलांटिक के तट की ओर रहनेवाले ग्रीनलैण्ड के कुछ एस्किमो अपने रहने के लिए बनाया करते हैं। वर्फ के मकान ! आपको एकाएक यह अनहोनी बात शायद समझ में न

आएगी, न इस पर एकबारगी विश्वास ही होगा। परन्तु एस्किमो लोग सचमुच ही जाडे के दिनो में वर्फ की शिलाएँ काट - काटकर, उन्हे ईंटो या पत्थरो की तरह एक - दूसरे पर व्यवस्थित रूप से रखकर चूने के भट्ठे की शक्ल का खालिस वर्फ का एक गुवजनुमा मकान बना लेते है और उनमें उनका पूरा कुटुम्ब वडे आराम के साथ ध्रुव प्रदेश की वे जाड़े की लम्बी राते काट लेता है।

वर्फ में गड्ढा करके एस्किमो स्त्री नीचे के पानी में की मछलियों का शिकार कर रही है। इस कार्य में पर्याप्त धैर्य की आवश्यकता होती है, पर अधीर होना तो एस्किमो जानते ही नहीं।

हिमगृहों की भीतरी झाँकी

वर्फ के ये ढोके एक-दूसरे से मिलकर अपने आप ही एकाकार हो जाते है और यदि कही दरार रह गई, तो उस में ये लोग मुलायम वर्फ को सीमेंट की तरह भर देते है। इस टीलेनुमा घर पर जाडे मे जब वर्फ गिरती है, तो उसके भीतर रहनेवालो पर उसका रचमात्र भी असर नही पडता। उल्टे उससे वह मकान और भी मजबूत हो जाता है। मकान के भीतर एक ही कमरा रहता है और उसमे वर्फ की ही शिलाओ की वेंचनुमा बैठकें वनी रहती है। ये दिन मे बैठने-उठने के काम आती हैं और इन्ही पर रात को ये लोग सो रहते है। इन पर और फर्श पर खालो की कई पर्तें विछी रहती है। इस गोल कमरे से एक लम्बा सुरंगनुमा ढका हुआ निकास का रास्ता होता है। इसी मे जो कुछ हवा आ सकती है, इस कदरा में आया करती है। भीतर का अँधेरा दूर करने के लिए उस कमरे में इनके विचित्र प्रकार के कई दीपक रात-दिन जला करते है। इन दीपकों मे चर्वी जलती है। प्राय. सील की चर्वी या 'व्लवर' का एक वडा-सा टुकडा दीपक की शिखा के ऊपर लटका दिया जाता है। उसी मे से चर्वी या तेल पिघल-पिघलकर शिखा पर टपकता रहता है और उसे जागरूक रखता है। दीपक का पात्र एक नरम पत्थर का वना होता है और उसमें की वत्ती एक प्रकार की काई को वँटकर बनाई जाती है।

इस तरह के वर्फ के मकान केवल ग्रीनलैंड के पूर्वीय तट के कुछ ऊपरी भागो में ही प्रचलित है—पश्चिम मे अलास्का या दक्षिण में लेब्राडर के एस्किमो लोगो मे ये हिमगृह नही पाए जाते। एस्किमो बस्ती में उनके इसी तरह के वर्फ या मिट्टी-पत्थर के कई ढूहनुमा मकान दूर-दूर तक बिखरे रहते है। जाडे मे वर्फ गिरने पर वे मानो धरती के साथ मिलकर लगभग एकाकार हो जाते है।

शत-प्रति-शत शिकार पर ही निर्भर

एस्किमो लोगो के निर्वाह का मुख्य साधन सील, ह्वेल, वालरस और मछलियाँ आदि जलजीव है। यही वहाँ उपलब्ध है। अत इन्ही का ये लोग शिकार करते है। कहीं-कहीं केरीवो नामक वारहसिंघे का भी शिकार किया जाता है। परन्तु बहुत-से एस्किमो ने कभी वारहसिंघे को देखा तक

यह शुद्ध नस्ल का एस्किमो है। इसके रक्त में गोरी जाति का रक्त मिश्रित नहीं हो पाया है। चेहरे से कैसी दृढ़ता का भाव टपक रहा है!

संसार के सबसे चतुर नाविक

समुद्री जलजीवों पर ही निर्भर होने के कारण एस्किमो प्रायः समुद्र-तट पर ही रहते हैं। समुद्र का इन लोगो की जिन्दगी मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। समुद्र ही इन्हें जीवननिर्वाह की सभी सामग्री प्रदान करता है। उसी पर गरमी में अपनी अजीव लंबी नौकाओं द्वारा और जाड़े में (जब वह बर्फ से ढक जाता है) कुत्तों से खींची जानेवाली स्लेज-गाड़ियों द्वारा ये यहाँ से वहाँ की यात्रा करते है। इन लोगों की ये नौकाएँ और कुत्तांवाली स्लेज-गाड़ियाँ उनकी सबसे कीमती संपत्ति हैं। इनकी नौकाएँ दो प्रकार की होती हैं— एक 'काइआक' या शिकार करने के लिए मर्दों द्वारा काम में लायी जानेवाली नौका; दूसरी स्त्रियों की नौका, जो उनके लिए एक तैरते हुए घर का काम देती है। 'स्त्रियों की नाव' नाम उन्हें योरपियनों द्वारा मिला है, क्योंकि उन्हें स्त्रियाँ ही खेती हैं। 'काइआक' की रचना बहुत सँकड़ी और लंबोतरी होती है। उसका भीतरी ढांचा लकड़ी का बना होता है। यह लकड़ी इन्हें समुद्र की लहरों द्वारा दूर-दूर से बहाकर लाए जानेवाले लट्ठो एवं डालियों से मिलती है—यों तो बहुतेरे एस्किमो ऐसे भी हैं, जिन्होंने कभी वृक्षों का दर्शन तक न किया होगा! नाव का यह ढांचा ऊपर सील की खालों से मढ़ा रहता है, जिससे उसमें पानी न घुस पाए। जैसा कि कहा जा चुका है, ये नौकाएँ बहुत कम चौड़ी होती हैं। यद्यपि लंबाई में वे छ: गज तक होती है, पर उनकी अधिक-से-अधिक चौड़ाई डेढ़ फीट से ज्यादा नही होती। इसी के दायरे में शिकारी के बैठने के लिए एक गोल गड्ढा सा बना रहता है और उसके आस-पास उसके शिकार के शस्त्र—हार्पून या फेंकनेवाला बर्छा—आदि इस ढंग से लगे रहते हैं कि शिकारी प्रत्येक को अपने स्थान से हटे बिना ही उठाकर काम में ला सके। एस्किमो लोगों के ये हथियार-औजार सील आदि मारे गए जानवरों की हड्डियों से ही बनाए जाते है। उनका डंडा लकड़ी का होता है। अपनी परिमित सामग्री ही से इन लोगो ने अपना काम चलाने के लिए शिकार करने के ये अनोखे अस्त्र-शस्त्र कैसे

नहीं। मछली और मास को प्रायः ये लोग कच्चा ही खा लेते हैं—कभी-कभी उबालकर पका भी लेते हैं। इन्हें ये सुखाकर जमा भी रख छोडते हैं! ह्वेल और सील के 'ब्लबर' भी प्रायः कच्चे ही खा लिए जाते है! वनस्पतियो में कई प्रकार के समुद्री शैवालों को ये खाने के काम में लाते हैं। अकाल के जमाने मे तो जो कुछ भी मिलता है वे खा लेते है, यहाँ तक कि कुत्तो को भी नही छोड़ते! और तो और, मौका पडने पर अपने तंबुओं की खालों को ही टुकड़े-टुकड़े काटकर उनका शोरबा बनाकर हड़प जाते हैं! एक बात बड़े मार्के की है, और वह यह है कि एस्किमो लोगों के भोजन का कोई खास निश्चित समय नही रहता—वे जब भी भूख लगती है, खाने लगते हैं, बशर्ते कि कुछ खाने को पास मे हो। कभी-कभी शिकारी लोग दिन-दिन भर फाँका करके ही रह जाते हैं। इन लोगों में अनशन का अद्भुत सामर्थ्य है। किन्तु जब कभी ये खाने बैठते है, तो फिर एक ही बैठक में काफी खा लेते हैं कि देखकर अचरज होता है!

तैयार कर लिए हैं, यह उनके कौशल और प्रतिभा का सूचक है। आगे हम इनका विशेष परिचय प्राप्त करेंगे।

'काइआक'

एस्किमो की वीरता और साहस का यथार्थ परिचय हमें उस समय मिलता है, जब वह काइआक पर चढ़कर महासागर की उत्तुंग तरंगों से लोहा लेता हुआ ह्वेल, सील या वालरस का शिकार करता है। यह कोई आसान काम नहीं होता—सरासर मौत से खेल खेलने जैसा है! पहाड़ की दीवार की तरह ऊँची उठी हुई लहरें एक के बाद एक मानो शिकारी और उसकी मछली-जैसी नाव को निगलने के लिए दौड़ती हुई आती हैं और काइआक सहित उसे कई गज ऊँचे उछाल देती हैं! यह 'काइआक' ही समुद्री जंतुओं का शिकार करने का उसका प्रमुख साधन और सबसे महत्वपूर्ण वाहन है। उसी के बल पर प्रकृति को ललकारते हुए वह अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ होता है। सागर-तट पर बहकर आई हुई लकड़ियों द्वारा निर्मित, सील की खाल से मढ़ी गई, डेढ़ फीट से भी कम चौड़ी और करीब अठारह फीट लम्बी यह अनोखी नौका अकेले नाविक के लिए अब तक ईजाद की गई सभी हाथ से खेई जानेवाली नावों में सबसे अधिक सफल कही जा सकती है। वह आधुनिक विज्ञान की भाषा में इतनी अच्छी तरह से 'स्ट्रीम-लाइण्ड' की हुई होती है कि खेये जाते समय उसकी गति में जल और वायु की अवरोधक शक्ति के कारण कम-से-कम बाधा पड़ने पाती है। और वजन में तो वह इतनी हलकी होती है कि आसानी से एक आदमी द्वारा सिर पर उठाकर मीलों ले जाई जा सकती है!

जैसा कि बताया जा चुका है, इसके मध्य भाग में मढ़ी हुई खाल के बीच एक आदमी के बैठने भर को एक गड्ढा-सा बना रहता है, जिसमें पैर डालकर नाविक बैठ जाता है। ऊपर से खाल का बना हुआ एक विशेष प्रकार का तंग जैकेट वह पहन लेता है, जो उसकी कमर तक पहुँचता है और नौका पर मढ़ी गई खाल के साथ बँधकर इस प्रकार एकाकार हो जाता है कि न नाविक को पानी से भीगने का डर रहता, न नौका के ही भीतर जल की एक बूंद तक घुस पाने का कोई मार्ग शेष रह जाता है। खेने के लिए एक प्रकार का दोमुँहा डांड़ काम में लाया जाता है, जिसे बीच से आड़ा पकड़कर नाविक अपनी जगह से हिले बिना ही दाएँ-बाएँ दोनों बाजू सपाटे से पानी काटता रहता है।

इस अद्भुत नाव के साथ उन अजीब हथियारों पर भी जब हम निगाह डालते हैं, जो कि नाविक की बैठक के आसपास बड़े मौके से सजे रहते हैं, तब कहीं एस्किमो की आविष्कार-प्रवीणता और वातावरण के अनुकूल साधन जुटाने की उसकी विलक्षण व्यावहारिक बुद्धि का सच्चा परिचय हमें मिलता है। इन अस्त्र-शस्त्रों की सबसे उल्लेखनीय विशेषता उनके उस विचित्र आयोजन में होती है, जिससे पानी पर दूर से फेंके जाने पर भी वे न तो शिकार के साथ गायब होकर खो ही पाते हैं, न बार-बार विनष्ट होने के कारण उन्हें बदलने की ही आवश्यकता रहती है। वे हमारे पुराणों में वर्णित उन बाणों जैसे होते हैं, जो अपना काम साधकर वापस अपने-अपने योद्धा के तरकस में चले आते थे!

अनोखे अस्त्र-शस्त्र

आप कहेंगे कि यह कैसे संभव हो सकता है—क्या कभी कोई शस्त्र शिकारी के हाथों से छूटकर अपने आप उसके पास पुनः वापस भी लौट सका है? किन्तु आप मानें चाहे न मानें, इन असभ्य और जंगली कहे जानेवाले एस्किमो लोगों ने इस असंभव-सी दिखाई देनेवाली बात को भी संभव कर दिखाया है, और सो भी बहुत ही सरल तरीके से। उन्होंने इसके लिए दो साधनों का आश्रय लिया— एक तो हाथों से दूर तक फेंके जानेवाले अपने विविध हथियारों में उन्होंने वैसी ही डोरी बाँध दी, जैसी कि मछली का शिकार करनेवालों की बंसी-काँटिया में बँधी रहती है। दूसरे उस डोरी के एक छोर पर खाल की एक मशकनुमा हवा-भरी तुंबी लटका दी, जिससे कि वह पानी पर तैरती रहे और हथियार को डूबकर खो न जाने दे!

इस तरह एक पत्थर से उन्होंने दो शिकार मार लिए—जहाँ उन्होंने अपने औजार को खो जाने से बचा लिया, वहाँ साथ-ही-साथ निशाना ठीक बैठने पर घायल शिकार को भी अपना बंदी बना लेने की योजना उन्होंने कर ली। अन्यथा समुद्र के विशाल तट पर शिकार को मार चुकने पर भी क्या ठिकाना था कि वे उसे पा ही जाते—संभव है कि वह डुबकी लगाकर खुद भी गायब हो जाता, साथ ही उनके हथियार को भी ले डूबता! एस्किमो के इन हथियारों में सबसे महत्वपूर्ण 'हार्पून' होता है, जो उनका शिकार करने का प्रधान अस्त्र है और जिसका प्रयोग अब योरपवाले भी ह्वेल मत्स्य के शिकार के लिए करते हैं। वस्तुतः इन हथियारों में एस्किमो जाति के न जाने कितने हजार वर्षों के कटु अनुभव और निरंतर प्रयोगों की कहानी निहित है। उन्हें हम आवश्यकता की पुकार

यह एस्किमो का भोजन पकाने का विचित्र उपकरण है ! चूँकि ध्रुव-प्रदेश के वर्फीले वातावरण में आग जलाना कोई आसान काम नहीं होता और ईंधन की लकड़ियाँ भी उतनी आसानी से उपलब्ध नहीं होतीं, अतः एस्किमो जाति ने अपने भोजन पकाने की विधियों में परिस्थिति के अनुसार परिष्कार कर लिया है । वे अधिकतर तो कच्चा मांस ही चबाते हैं, पर कुछ चीजें सील की चर्बी में तलकर या पकाकर भी तैयार कर लेते हैं ।

पर आविष्कार की राह अपनाने की मानवीय प्रवृत्ति के मूर्तिमान प्रतीक कह सकते हैं ! जरा सोचिए कि यदि सुदूर ध्रुव-प्रदेश के उजाड़ हिमखण्ड में जा फँसी मानवता की इस एकाकी टोली ने इन निराले साधनों और उपकरणों का अवलंब न लिया होता, तो उसकी क्या दशा हुई होती ? क्या इनके बिना वह अपना अस्तित्व रख पाती ?

चारित्रिक गुण

सील और वालरस जैसे जंतुओं का शिकार करना कहने में जैसा सरल मालूम देता है, वैसा कोई खिलवाड़ या हँसी ठट्ठे का खेल नहीं होता । यदि हम उसे खेल ही कहें, तो फिर वह होता है जान की बाजी बदने का एक खेल, जिसे एस्किमो जैसे निर्भीक और धैर्यवान खिलाड़ी ही खेल सकते हैं ! वस्तुतः शिकार की संकटापन्न स्थिति में ही हमें एस्किमो के सच्चे स्वरूप को देखने का अवसर मिलता है । प्रायः गोरे योरपियनों ने सामाजिक व्यवहार में इन लोगों द्वारा असीम सहिष्णुता तथा विनम्रता से काम लिए जाते और तलवार का जवाब तलवार से न देने की नीति बरतते देखकर इन पर 'कायर' होने का आरोप किया है । किन्तु एस्किमो के जातीय शब्दकोश में वीरता का अर्थ रोष के आवेश में अपना मानसिक संतुलन खो बैठना नहीं, प्रत्युत विकट-से-विकट संकट का सामना पड़ने पर भी अपनी स्थिरता, गंभीरता और विवेक-बुद्धि को अडिग बनाए रखना ही है ! और इसका परिचय हमें उनकी जीवनचर्या में पग-पग पर मिलता है । वे उस लोलुपता और पारस्परिक द्वेष-भाव के शिकार नहीं, जिनके विष में तथाकथित 'सभ्य' कहलानेवाली अन्य जातियाँ दहक रही हैं । यह सच है कि उनका जीवन भी एक कठोर संघर्ष है—संभवतः संसार की अन्य सभी जातियों से अधिक कठोर । किन्तु उनकी लड़ाई प्रकृति से ही है । उसी से अपने मुँह का ग्रास छीनने को वे सदैव जूझते रहते हैं, हमारी तरह स्वयं आपस में छीनाझपटी करना उन्होंने नहीं सीखा ।

शिकारी जीवन की झाँकी

आइए, एस्किमो के जीवन-संघर्ष की प्रत्यक्ष झाँकी देखने के निमित्त, हम एक दिन भर के लिए उनकी आखेट-यात्रा में शरीक होकर उसकी दिनचर्या का अनुसरण करें । यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आखेट ही एस्किमो का एकमात्र जीवन-व्यवसाय है और किशोरावस्था ही से अपने इस धंधे में पूर्ण पारंगत होने की ओर वह प्रयत्नशील हो

जाता है। संसार की लगभग सभी जातियों की भाँति एस्किमो लोगों में भी भरण-पोषण के लिए आहार जुटाने का काम पुरुषों के जिम्मे ही है और घर-गृहस्थी तथा बच्चों की देख-रेख का पूरा उत्तरदायित्व स्त्रियों पर है। पुरुष का काम केवल शिकार मारकर ले आना भर है, उसके बाद उसे काटना, पकाना और उसकी खाल सुखाकर उससे पहनने के वस्त्र, थैले, बिस्तर आदि बनाना स्त्रियों की जिम्मेदारी है। वही 'काइआक' पर खाल मढ़ती हैं, सीने-पिरोने का सारा काम करती हैं, चूल्हा-चौका सँभालती हैं, लड़की-पानी लाती हैं, झोपड़े तैयार करती हैं, डेरा-तंबू लगाती और उखाड़ती हैं और स्त्रियोंवाली विशेष प्रकार की नौकाओं को खेती हैं। यहाँ तक कि पुरुष जब सील, वालरस आदि का शिकार करके वापस लौटता है, तो स्त्रियों का ही यह काम होता है कि उन मारे हुए जंतुओं को समुद्र-तट से उठाकर घर तक लावें।

पुरुष तो शिकार के अलावा के अवकाश के समय में केवल अपने हथियार-औजारों को ही देखते-भालते हैं। उनकी भी सजावट आदि में स्त्रियों का ही हाथ विशेष रहता है। पुरुष तो जहाँ सुबह पौ फटी नहीं कि अपनी काइआक सँभालकर समुद्र की लहरों के साथ फिर होड़ बदने को चल देते हैं—या जाड़े का मौसम हुआ तो बारहसिंघों की खोज में अपने कुत्तों के साथ आखेट को निकल पड़ते हैं। प्राय. सील, वालरस आदि जन्तु तट से दूर समुद्र की किसी खास जगह में झुंड-के-झुंड मिलते हैं। ऐसी जगह ही एस्किमो का शिकारगाह होता है, जिसका निश्चित पता उन्हें होता है। इन जन्तुओं का शिकार करने को जब वे जाते हैं, तो बड़े तड़के ही सोते से उठकर वे सागर-तट की किसी ऊँची-सी चट्टान पर चढ़कर पहले यह जानने की कोशिश करते हैं कि उस दिन का मौसम कैसा रहेगा। बरसों से समुद्र की छाती पर अपना खेल खेलते-खेलते उनकी आँखें उसके स्वभाव से इतनी अधिक परिचित हो चुकी होती हैं कि उसकी लहरों की आवाज भर से वे अंदाज लगा लेते हैं कि आया वह दिन शांत रहेगा या एक विकट तूफान खड़ा हो जायगा।

मौसम अनुकूल होने पर तुरन्त ही अपने झोपड़ों में वापस आकर वे हथियार-औजारों सहित अपनी-अपनी काइआक उठाते हैं और बिना कुछ खाए-पिए ही अपनी शिकार की पोशाक पहन निश्चित शिकारगाह की ओर झपाटे से डाँड़ चलाते हुए दौड़ पड़ते हैं। प्राय. एक साथ ही तट की विभिन्न बस्तियों में ऐसे कई शिकारियों की नौकाएँ एक ही दिशा में अग्रसर होते दिखाई देंगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों काले-काले पक्षियों का एक दल लहरों को चूमता हुआ क्षितिज की ओर उड़ा चला जा रहा हो।

लुका-छिपी का खेल

लगभग दो ढाई घंटे तक लगातार डाँड़ चलाकर वे अपने शिकार की जगह पर पहुँच पाते हैं। इस बीच रास्ते भर गप-शप, हँसी-मजाक, और मीठी चुटकियों का ताँता लगा रहता है। यदि चलते-चलते कहीं कोई समुद्री चिड़िया उनके लपेट में आ गई, तो बिजली की तड़प की तरह तुरंत ही किसी एक शिकारी के हाथ से बर्छीनुमा कोई एक शस्त्र बाण की तरह छूटते आप देखेंगे और बात की बात में वह पक्षी हथियार सहित खिंचकर काइआक में आ गिरेगा!

किन्तु यह तो रास्ते चलने की मुफ्त की कमाई हुई—खास निशाना तो और ही है। वह देखिए, शिकार की निश्चित जगह आ पहुँची। अब बिलकुल चुप्पी लगा जाइए—डाँड़ों को भी ऐसे आहिस्ते से चलाइए कि ज्यादा छपछप न हो, वरना पानी की सतह के ऊपर काली-काली-सी जो कुछ चीज डूबती-उतराती दिखाई पड़ रही है, क्षण भर में वे आँखों से ओझल हो जायँगी! वही तो वे अनमोल मोटी-ताजी सीलें हैं, जिनकी टोह में शिकारियों का यह दल समुद्र की लहरों को चीरते हुए इतनी दूर तक आया है। देखिये, किसी ने असावधानी से पानी पर छपछप की वह आवाज की और वे सब की सब चौंक उठीं! किस तरह अपनी गरदन उठाकर वे उन गोल-गोल शंकित आँखों से इधर-उधर घूर रही हैं! नहीं, जल्दबाजी करना उचित न होगा। मुमकिन है, वे भड़ककर एकदम गायब हो जायँ।

और हमारे ये चतुर शिकारी इसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए घंटों उचित अवसर का इन्तजार करते रहते हैं। तब अचानक टोली में से किसी एक शिकारी को नजदीक ही एक असाधारणतया हृष्ट-पुष्ट सील पानी से ऊपर गरदन उठाए दिखाई पड़ती है। और वह फौरन् ही चौकन्ना होकर मानों बिजली की तरह उसकी ओर लपकता है। किन्तु वह हार्पून उठाकर निशाना ताके, तब तक तो वह जानवर पानी में डुबकी लगाकर फिर गायब हो जाता है। अब लुका-छिपी का एक मजेदार खेल शुरू होता है। शिकारी पिछले अनुभव से खूब जानता है कि अमुक जगह पर डुबकी लगाकर सील फिर किस जगह पर कितनी देर बाद निकलेगी। वह न तो उसका पीछा छोड़ता है, न अपना धैर्य ही खोता है, चाहे इस काम में घंटों लग जायँ!

अपने वच्चों को एस्किमो माताएँ इसी प्रकार पीठ पर लिए चलती हैं। इसके लिए 'अमाउत' नामक उनकी विशेष प्रकार की एक पोशाक में एक जेवनुमा थैला-सा वना रहता है, जिसमें वच्चा वैठा रहता है। उत्तराखण्ड निवासिनी अन्य एक जाति 'लाप' की तत्संवंधो विधि से तुलना कीजिए।

जान की वाजी

अंत में अनुकूल अवसर आया देख वह ताककर शिकार को मारता है और सरसराता हुआ हार्पून सील के वदन मे जा घुसता है। घायल सील एक अजीव थरथराहट से कांप-सी उठती है—उसकी दुम फड़-फड़ाती है और एक वार ऊँचे उचककर हार्पून की रस्सी को खीचते हुए वह पानी में वड़े जोर से गोता मारकर गायव हो जाती है! पर अभ्यस्त शिकारी तत्काल ही ब्लेडर के साथ तेजी से सरसराती हुई वहती चली जा रही हार्पून की रस्सी के पीछे काइ-आक को वढा देता है। और इस बीच अपने दूसरे शस्त्र—तीखे वर्छे—को संधान कर फिर से शिकार के ऊपर आने की मानो सांस रोककर वह प्रतीक्षा करता रहता है। आखिर दो-चार मिनट में घायल सील को फिर पानी के ऊपर आने को विवश होना पड़ता है और गरदन ऊपर निकालते ही जव सामने वर्छा ताने हुए अपने दुश्मन को वह देखती है, तो आगे-पीछे कही भी भागने का मौका न देखकर रोष के साथ फुफकाती हुई वह आक्रमणकारी पर टूट पड़ती है!

इस समय जरा-सी भी भूल-चूक शिकारी की मौत सावित हो सकती है! किन्तु यही तो एस्किमो की दृढ़ता का परिचय हमे मिलता है। विजली की भाँति वह अपना वर्छा उठाता है, और देखते-देखते अपनी पूरी ताकत से उसे सील के मुँह मे जोरों से भोंक देता है! वर्छा गर्दन के उस पार निकल जाता है और एक भयभीत कर देनेवाली चीत्कार के साथ सील अपनी दुम के वल पानी पर एकदम सीधी खड़ी हो शिकारी को जैसे चवा डालने को उस पर टूट पड़ती है! किन्तु इसी समय एक और तीक्ष्ण वर्छा उसकी छाती मे भक् से घुसकर उसका काम तमाम कर देता है और जो काम शेप रह जाता है, उसे शिकारी का तीखा लंवा छुरा पूरा कर देता है। तव सावधानी-पूर्वक अपने वर्छो और हार्पून को उसके वदन मे से निकालकर शिकारी उसे नौका की वाजू में वाँध देता है और पुन. दूसरे शिकार की टोह मे आगे वढ़ जाता है। इस प्रकार तव तक उसका काम जारी रहता है, जव तक कि दो-चार सील वह नही मार लेता।

किन्तु सदैव सवको एकदम आसानी से इस तरह शिकार हाथ नही लग जाया करता। कभी-कभी

'काइआक' पर सवार होकर सील और वालरस का शिकार करते समय यदि जरा भी शिकारी अपना निशाना चूक जाय तो फिर मौत ही से उनका सामना समझिए ! इस घड़ी में एस्किमो की दृढ़ता और उसकी प्रवीणता का सच्चा परिचय मिलता है ।

निशाना ठीक बैठ जाने पर भी हार्पून की रस्सी में उलझकर शिकार के साथ ही शिकारी भी काईआक सहित पानी के भीतर खिचता चला जाता है और इस तरह उसके प्राणों पर आ बनती है ! इसके अतिरिक्त कभी-कभी यह भी होता है कि मौसम के एकबारगी ही बिगड़ जाने पर तूफानी लहरो की प्रचण्ड थपेड से लड़खड़ाकर या घायल शिकार के प्रत्याक्रमण से अपना संतुलन खोकर काइआक एकदम उलट जाती है ! उस समय यदि नाविक इतना होशियार न हुआ कि उलटी हुई नाव को फिर से अपने बदन के एक झटके से ही सीधी कर ले, तो प्राणों पर आ बनती है ।

सील के बजाय जब वालरस जैसे भयानक भीमकाय जंतु से कभी उलटा सामना पड़ जाता है, तब तो मानो लोहे के चने चबाना पड़ता है । वालरस एक भीमकाय जानवर होता है—लगभग पंद्रह-सोलह फीट लंबा ! और उसके जबड़े से सुअर की तरह भयंकर दाँत बाहर निकले रहते है, जिनकी लपेट में आने पर वह आदमी को चीरकर फेंक सकता है । इस जानवर की आदत मिलकर शत्रु पर टूट पड़ने की रहती है । किन्तु इन सब खतरो के बावजूद भी एस्किमो शिकारियों ने न तो इन जानवरों का शिकार करना ही छोड़ा, न अपने समुद्री जीवन को ही उन्होने तिलांजलि दी, फिर चाहे उनके सातों पुरखे समुद्र की लहरों से लोहा लेते हुए ही क्यों न अपनी जान गँवा चुके हों !

स्त्रियों और बच्चों द्वारा स्वागत

जब दिन भर की कमाई लेकर शिकारी एस्किमो वापस घर लौटते है, तो उन्हें अपनी स्त्रियाँ बड़ी उत्सुकता तथा चिन्तापूर्वक तट की ऊँची चट्टानों पर चढ़कर उनके सकुशल लौटने की प्रतीक्षा करते हुए मिलती है । ज्योंही क्षितिज प९

काइआकों की काली-काली आकृतियाँ दिखाई देने लगती है, तट पर एक हर्षध्वनि गूंज उठती है और यदि ह्वेल जैसा कोई बड़ा जानवर मारकर लाया गया हो, तब तो सारा गाँव ही उसमें से अपना-अपना हिस्सा बँटाने को तट पर आ डटता है।

सच्चे साम्यवादी

यहाँ हमें एस्किमो लोगों के सामाजिक जीवन की एक विशेषता की झलक देखने को मिलती है। आपको यह जानकर अचरज होगा कि जहाँ संसार की 'सभ्य' कहलानेवाली जातियाँ अभी समानता के कोरे राग ही अलाप रही हैं, वहाँ इन 'असभ्य' कहलानेवाले एस्किमो लोगो में न जाने कब से एक प्रकार का सच्चा व्यावहारिक साम्यवाद समाज में प्रचलित है। उदाहरण के लिए, जब कोई भी शिकारी सील, वालरस, आदि का शिकार करके लाता है तो उसे 'ब्लबर' अर्थात् चर्बीले अंश विशेष का एक-एक टुकड़ा अन्य प्रत्येक शिकारी को देना पड़ता है, चाहे उसे उनसे शिकार में कोई मदद मिली हो या न मिली हो! गाँव में आने पर बस्ती के प्रत्येक बच्चे को भी इसी तरह ब्लबर का एक-एक टुकड़ा खाने को मिलता है। और जब कोई शिकारी ह्वेल मत्स्य को मारकर लाता है, तब तो सारे गाँव को उसमें अपना हिस्सा बँटाने का अधिकार होता है! यही नहीं, जब गाँव में अकाल की दशा होती है तो लोगों के पास जो कुछ भी मांस होता है उसे मिलकर बाँट लिया जाता है, और फिर यदि फाँका करना पड़ता है तो सभी मिलकर भूखों मरते हैं और सभी एक दूसरे के कष्ट में हाथ बँटाते हैं।

एस्किमो लोग भूमि पर अपना कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानते—वस्तुतः कुछ हथियार-औजारों और काइआक नौकाओं अथवा पहनने के कपड़ों को छोड़कर इन लोगों में व्यक्तिगत जायदाद नामक कोई चीज ही नहीं होती! इनमे उदारता की मात्रा इस दर्जे तक बढ़ी-चढ़ी होती है कि यदि कोई पथिक एस्किमो लोगों की बस्ती में पहुँच जाय तो वह जिस किसी भी झोपड़े का द्वार पहले खटखटाएगा, वहीं उसे तुरन्त आश्रय मिल जायगा और वहाँ वह चाहे जितने दिन भी ठहरेगा, कोई मना न करेगा। बल्कि जब वह जाने लगेगा, तो ये लोग उसके साथ कई दिन के लिए खाना भी बाँध देंगे! इस प्रकार आज के 'सभ्य जगत्' को यह आदिम जाति बहुत-कुछ सबक सिखा सकती है।

ये आपस में लड़ना नहीं जानते

जैसा कि बताया जा चुका है, एस्किमो संसार में सबसे अधिक हँसमुख, प्रसन्नचित्त और निर्द्वन्द्व प्रकृति के लोग हैं। उन्हें अपने कठोर संघर्ष से इतना अवकाश ही कहाँ कि वे एक-दूसरे से लड़ना-झगड़ना या व्यर्थ का का फिसाद करना सीखे? वस्तुतः वे गाली-गलौज नाम की कोई चीज ही नहीं जानते—उनकी भाषा में गाली देने के लिए कोई शब्द ही नहीं बना! उनका तो आदर्श है—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' अर्थात्, सत्य बात कहो, परन्तु वह सत्य, जो अप्रिय न हो। वे कभी किसी के दिल को चोट नहीं पहुँचाते। उन का स्वभाव एकदम
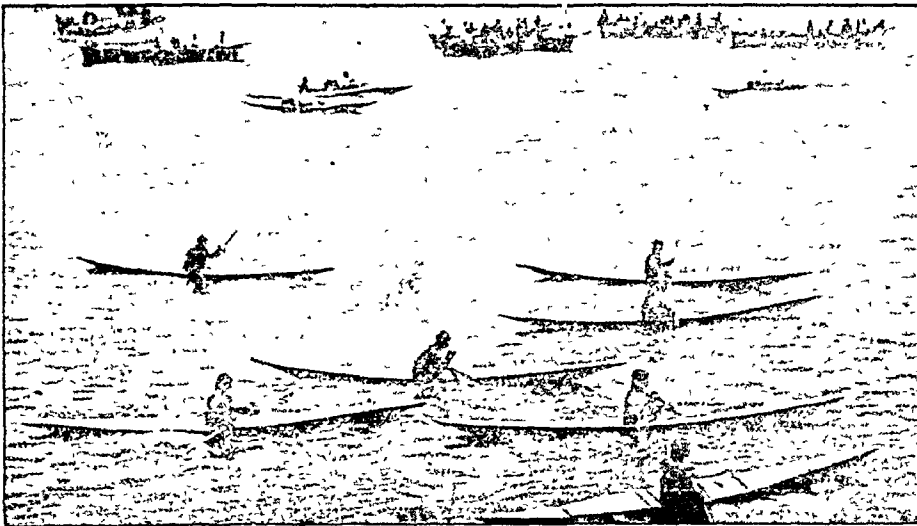
यही एस्किमो लोगों की 'काइआक' नौकाओं का बेड़ा है। इन बेहद सँकरी और लम्बी नौकाओं पर सवार होकर, एस्किमो शिकारी तूफानी लहरों के थपेड़ों की किंचित् भी परवा न करते हुए, सील और वालरस का शिकार करने के लिए मीलों तक सागर की छाती को चीरता चला जाता है। एक नौका पर एक ही नाविक के लिए जगह होती है।

सरल निष्कपट बच्चों का-सा होता है। यही उनकी सबसे बड़ी थाती है, जिसके बल पर भूतकाल के संताप और भविष्य की चिन्ता से मुक्त होकर वे अपना जीवन संतोष के साथ बिताते रहे हैं। वे न तो झूठ ही बोलते है, न उन्हें चोरी करना ही आता है। यदि कोई किसी को कुछ उधार देता है तो फिर उस चीज को वापस नही माँगता! यदि कोई समुद्र में बहकर आई हुई लकडियो को बटोरकर तट पर जमा कर दे, तो चाहे वह ढेर बरसो वैसा ही क्यो न पड़ा रहे, दूसरा उसे हाथ न लगाएगा।

'सभ्य' जातियों का घातक संपर्क

हाँ, जब से तथाकथित 'सभ्य' योरपीय जातियो ने इन पर जबर्दस्ती अपने आचार-विचार, धर्म, व्यापार, आदि लादकर इन्हें 'सुधारने' तथा 'सभ्यता के दायरे में लाने' का प्रयत्न करना शुरू किया है, तब से इनके सरल एकान्त जीवन मे बहुत बड़ी खलबली पैदा हो गई है। प्रकृति के ये भोले-भाले प्राणी सभ्यता की छूत लगने के बाद से न केवल अपना स्वास्थ्य, जातीय शुद्धता, परम्परागत दृढता और निष्कपट स्वाभाविक प्रवृत्ति ही धीरे-धीरे खोते चले जा रहे है, बल्कि आसार ऐसे दिखाई देने लगे है कि कही वे अपने अस्तित्व ही से हाथ न धो बैठे! उनकी जनसख्या चेचक, खसरा, क्षय आदि 'सभ्य संसार' के रोगो के नवागत आक्रमण से दिन पर दिन घटती चली जा रही है और जो कुछ लोग बचे है, उनमे भी वर्णसंकरता का प्राबल्य बढता जा रहा है! सचमुच ही जो जाति हजारों वर्षो मे प्रकृति की विषम कठोरताओ द्वारा दबाए न दबी, वह गोरी संस्कृति के एक ही प्रहार से कुलबुला उठी! यह इस बात का एक जीता-जागता उदाहरण है कि रूढियों के किसी विशेष वातावरण मे लालित-पालित लोगों के लिए एक विदेशी सस्कृति या नवीन पद्धति का जीवन, फिर चाहे वह उत्कृष्ट ही क्यों न हो, कितना आत्मघातक सिद्ध हो सकता है! उनके लिए तो उनकी परंपरा ही वरदानतुल्य होती है।
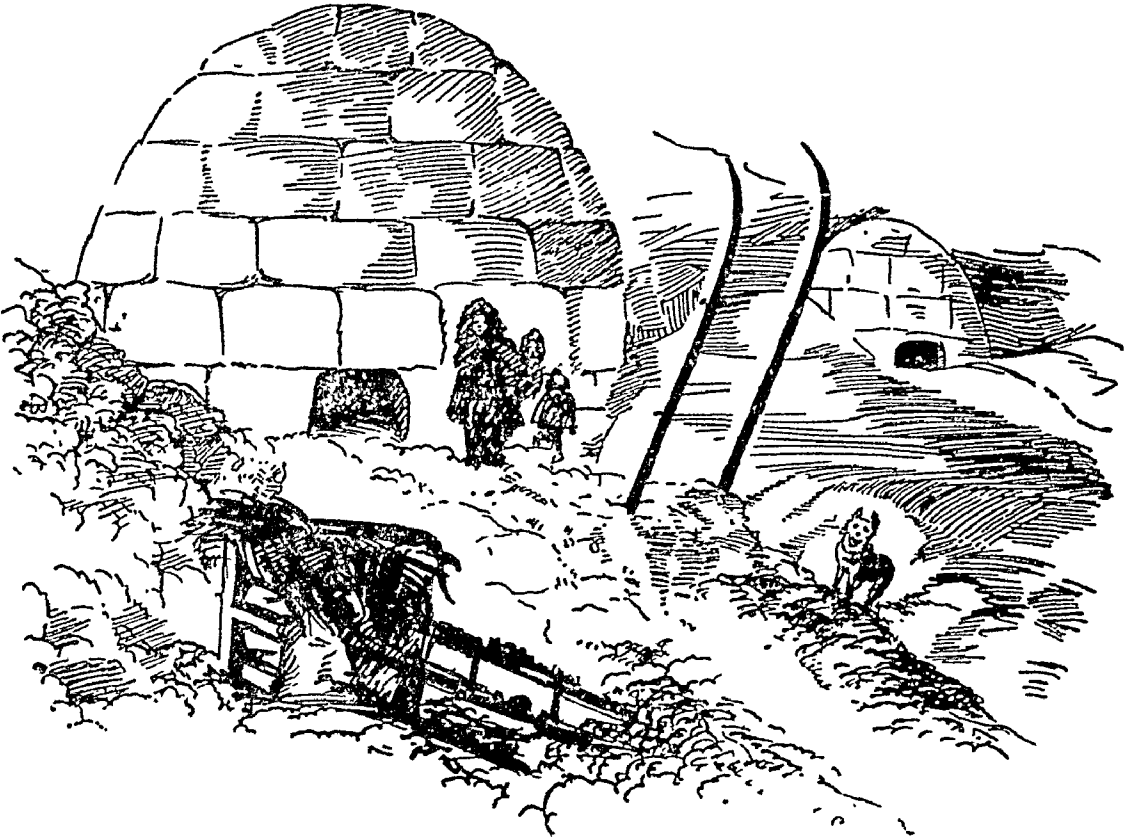
अपनी उस बर्फीली दुनिया में मनुष्यों की यह टोली, वर्ष प्रतिवर्ष अपने हिमगृहों का नवनिर्माण करते हुए, आज भी अपने मोर्चे पर उसी तरह दृढ़तापूर्वक तैनात हैं, जिस तरह वह सदियों से वहाँ डटी चली आ रही हैं।

इधर जब से सोवियत रूस और संयुक्त राज्य (अमेरिका) के बीच संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की होड़-सी शुरू हुई है और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक मार करने मे समर्थ अंतरिक्षगामी स्वयंक्रिय रॉकटों जैसे प्रलयंकर अस्त्रों का विकास हुआ है, तब से उत्तरी ध्रुव-प्रदेश पर—सामरिक दृष्टि से उसके महान महत्व के कारण—उन दोनों महाशक्तियों की लोलुप गृद्धदृष्टि जा लगी है। कोई आश्चर्य नहीं कि अगले कुछ वर्षों में, यह हिमाच्छादित वीरान क्षेत्र भी संसार के राजनीतिक दांवपेंच का एक मैदान बन जाय और तब वहाँ के इन आदिम बाशिन्दो—एस्किमो लोगों—की कहानी केवल एक इतिहास की कहानी भर बनकर रह जाय !

योरपीय उत्तराखंड के मस्त घुमक्कड़ :: लाप

जो हजारों वर्षों से अपने बर्फीले मोर्चे पर डटे हुए हैं !

एस्किमो ही से मिलते-जुलते उनके नजदीकी भाई-बन्धु योरप के उत्तरी हिमक्षेत्र के निवासी लाप जाति के खानाबदोश लोग हैं। इनका जीवन भी विषम परिस्थितियों में प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए अपने आपको वातावरण के अनुरूप बना लेने की मानवीय क्षमता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी अनोखी जाति का परिचय दिया जा रहा है।

उत्तरी ध्रुव के पास के कुछ क्षेत्रों की विशेषताएँ बड़ी अद्भुत हैं। उत्तरी नार्वे, स्वीडन और फिनलैण्ड मे प्रकृति प्राय: अपना विकराल और भयंकर स्वरूप प्रदर्शित किया करती है। उसके उस भयभीत करनेवाले स्वरूप का सामना करते हुए उन प्रदेशों में निवास कर पाना विरले ही मनुष्यों के लिए संभव हो पाता है। पृथ्वी के इस भूभाग में प्रकृति सिर्फ दो ही रूप लिया करती है। जाड़े की चरम सीमा की सर्दी और तब गरमी। इनके बीच किसी मौसम का स्थान यहाँ नही रहता। जो स्थान आज वहाँ वर्फ और तुषार से ढके दिखाई देते हैं, वे ही एक सप्ताह बाद हरे-भरे दिखाई देने लगते हैं।

जहाँ जाड़े में सूर्य महीनों उगता नहीं

सर्दी के दिनों में यहाँ प्रकृति बड़ी कठोर रहती है। इन दिनों यहाँ इतनी अधिक मात्रा में रुई के फाहे के समान बर्फ गिरती है और इस रफ्तार से वह हवा के साथ छूटती है कि यदि कोई आदमी घर या खीमों के बाहर रह जाता है, तो उसके लिए जमीन पर पड़े रहने और खाल के कपड़ों से अपने को ढक लेने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रह जाता। सर्दी का माप अक्सर शून्य से ३६ डिग्री (फारेनहाइट) नीचे रहता है ! यहाँ पर बसनेवाले लोगों के झोपड़े पूरी तरह बर्फ से ढक जाते हैं और दरवाजे पर इतनी वर्फ इकट्ठी हो जाती है कि यदि एक ही दिन उसे न हटाया जाय, तो फिर दरवाजा खुल ही नही पाता। उस पर मुसीबत यह है कि सर्दी के लम्बे मौसम भर इन इलाकों में महीनों सूर्य नहीं उगता। तब रोशनी की कमी कुछ अंश में सुमेरु-ज्योति (अरोरा बोरियालिस) द्वारा दूर होती है। उस ज्योति के ही सहारे उत्तरी ध्रुव की लम्बी रात का आकाश घंटों प्रकाशमान बना रहता है। इस ज्योति की रहस्यमयी रश्मियाँ बिजली की गति से आकाश को प्रकंपित करती रहती हैं। कभी-कभी इनकी शक्ल अर्ध-धनुष की-सी बन जाती है और उनका सुनहला प्रकाश तलवार की धार की तरह लपलपाता हुआ दिखाई देने लगता है। उत्तरी ध्रुवप्रदेशों के निवासी अपने अन्ध-विश्वास के कारण यह मानते हैं कि देवता उस रोशनी का पुल बनाकर जमीन पर उतर रहे हैं ! सुमेरु-ज्योति दिखाई देने के बाद प्राय: तूफान और तीव्र झकोरों के आने की बारी आती है। उत्तर-पूर्व से आनेवाली इस आँधी का रूप बड़ा भयंकर होता है और वर्फ भी, उस समय अत्यधिक मात्रा में गिरने लगती है। मई का महीना आने पर सर्दी दूर हो जाती है। इस गरमी के मौसम मे महीनों सूर्यास्त नही होता ! मई के आखिर से जुलाई के प्रारम्भ तक तो चौबीसों घंटे वहाँ सूर्य दिखाई देता है।

'लाप' नाम इन्हें किसने दिया ?

इन इलाकों में रहनेवालो को तथाकथित सभ्य संसार के लोग 'लाप' नाम से पुकारते हैं। इनके इसी नाम के

आधार पर नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड और रूस के उत्तरी बर्फीले प्रदेशों का नाम 'लापलैण्ड' पड़ गया है। पर इतने लंबे-चौड़े विशाल क्षेत्र में सिर्फ तीस हजार लाप बसते हैं। कुछ विशेषज्ञों का खयाल है कि 'लाप' नाम स्वेडिश लोगों का दिया हुआ है। स्वेडिश भाषा में 'लाप' शब्द का अर्थ 'छलाँग मारना' है। आर्कटिक क्षेत्र के ये बाशिन्दे दौड़ने में बड़े तेज होते हैं और सर्दी के मौसम में बर्फ पर सफर करने की उनकी गति इतनी तेज होती है कि इसमें शायद ही कोई उनसे प्रतिद्वंद्विता कर पा सकता है। शायद इसीलिए स्वीडन के लोगों ने उनको 'लाप' (छलाँग) नाम दे रखा है। अन्य विशेषज्ञों का खयाल है कि 'लाप' नाम फिनलैण्ड की भाषा का है। इसका अर्थ 'सीमा पर रहनेवाला' होता है। ये उत्तरी सीमा पर रहते हैं, इसलिए उन्हें वैसा नाम दिया गया है। 'लाप' नाम के उद्भव की समस्या पूरी तरह हल न हो पाने पर भी इतना स्पष्ट है कि यह जाति बड़ी ही पुरानी है। लोग अब भी इन्हें वहशी और सभ्यता से परे की श्रेणी में गिना करते हैं। कितने ही इन्हें अति प्राचीन ढंग के शिकारी समझते हैं। जो भी हो, इन्हें उस भयंकर प्रदेश में अपने को जीवित रखने के लिए प्रकृति से निरंतर संघर्ष करते रहना पड़ता है।

आकृति और वेशभूषा

इसमें संदेह नहीं कि लापों की वेशभूषा, उनकी रहन-सहन, यहाँ तक कि उनके सोचने की पद्धति भी प्राचीन जातियों की श्रेणी की है। ये अब भी खाल पहनते हैं और मैदानों में सोते हैं। प्रकृति तथा जंगली जानवरों से बचने-बचाने के सिलसिले में वे अब तक सिर्फ झोपड़े तैयार कर लेने के ज्ञान तक ही पहुँच पाये हैं। इनकी सारी शक्ति शिकार करने में खर्च होती है और सारा जीवन भ्रमण करने में बीतता है। ये एक स्थान पर कभी नहीं बसते। जहाँ भी इन्हें जानवर मारने की सुविधा दिखाई देती है, वहाँ ये अपना घर बना लेते हैं और चौड़े काठ के जूते पहनकर बर्फ पर फिसला करते हैं।

लापों के चेहरे मंगोल नस्ल के दिखाई देते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि वे पूर्व की ओर से आए हैं। एशिया और रूस के विशाल प्रदेशों को पार कर ये उत्तरी योरप में उजाड़ आर्कटिक प्रदेश में आ पहुँचे हैं। इसी उजाड़ प्रदेश के सुमेरु-हिरन, जंगली पक्षी और मछली पर ये बसर करते हैं। इन इलाकों की झीलों तथा नदियों में तरह-तरह की मछलियाँ पाई जाती हैं। गरमी में तो ये पकड़ी ही जाती हैं, पर सर्दी में भी इन्हें पकड़ने में लाप लोग दक्ष होते हैं। इसके लिए झीलों में जमी हुई बर्फ में गोल छेद किया जाता है। बर्फ की तह कभी-कभी चार हाथ मोटी रहती है, पर उसमें भी लाप छेद कर डालते हैं। खाल पहने हुए वे छेद के पास बर्फ पर लेटे रहते हैं। फिर लम्बे डोरों में हुक बाँध कर बर्फ के छेद में डालते हैं। मछलियों को आकर्षित करने के लिए हुक में कोई चमकती हुई चीज भी अटका देते हैं। इन हुकों में मछलियों के फँस जाने पर वे उन्हें ऊपर खींच लाते हैं। झीलों की बर्फ पर लाप लोग घंटों पट पड़े रहते हैं। इस प्रकार अपने आहार के लिए सर्दी के दिनों में भी काफी मछलियाँ वे जुटा लेते हैं।

समुद्र-तटवासी लापों का कद छोटा होता है। इनकी आँखें काली होती हैं। ये बहुत कम स्थान-परिवर्तन किया करते हैं। शायद इसीलिए पहाड़ी भागों के निवासी अन्य लाप इन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं।
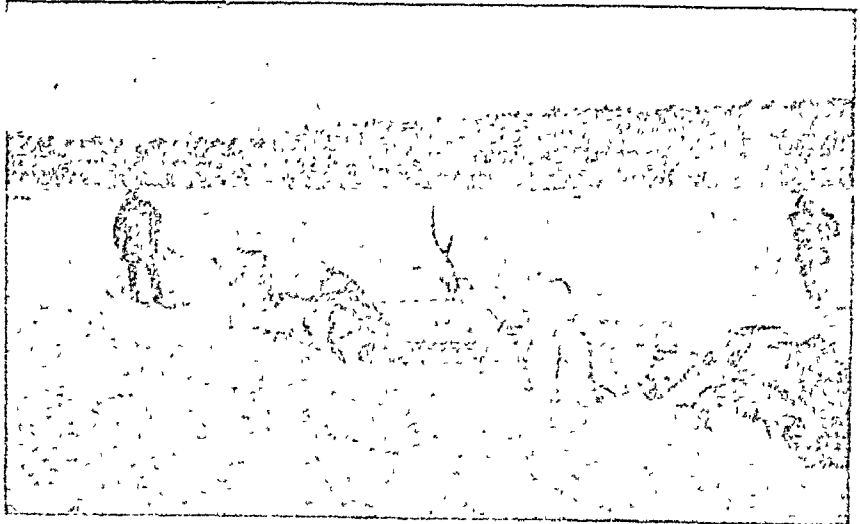
यह है लाप लोगों की खानाबदोशी की जिन्दगी की एक झाँकी! ये लोग बारहसिंघों को स्लेज गाड़ी में जोतकर इसी प्रकार बर्फीले मैदानों में भटकते फिरते हैं।

लाप लोगों के लिए वारहसिंघा उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि अरब और सहारा के रेगिस्तानों के निवासियों के लिए ऊँट है। यही जानवर इनकी सबसे बड़ी संपत्ति है। इसी का दूध और मांस वे खाते, इसी की खाल से अपना तन ढकते और इसी को अपनी गाड़ियों में जोतकर यहाँ से वहाँ तक सामान आदि ढोते हैं। चित्र में एक लाप रस्सी का फंदा डाल कर वारहसिंघो को पकड़ रहा है। वर्फ पर फिसलनेवाले उसके काठ के जूतों पर ध्यान दीजिए!

बारहसिंघे या सुमेरु-हिरन

लापों के लिए सबसे अधिक उपयोगी सुमेरु-हिरन होते है। वे उन्ही के द्वारा अपनी स्लेज-गाड़ियाँ खिचवाते हैं, उन्ही की खाल पहनते हैं, उन्ही का दूध पीते हैं और उन्ही के गोश्त पर बसर करते है। सुमेरु-हिरन अपना निर्वाह भूरे रंग के एक सिवार पर किया करते है। यह सिवार इन इलाकों मे बहुत अधिक होता है। सर्दी के दिनो मे ये हिरन अपने अगले पाँवो से वर्फ हटा-हटाकर सिवार निकालते है और उसे खाते है। कभी तो सिवार निकालते समय वे वर्फ की तह के इतने नीचे तक चले जाते हैं कि उनके सिर्फ पिछले पाँव ही बाहर रह जाते है।

हिरनो को घेर लाने के लिए और उन्हे हाँकते रहने के लिए लाप कुत्तो से काम लेते हैं। लापों के ये कुत्ते बड़े ही आज्ञाकारी होते है। यदि उनका मालिक नशे के झोंक में अथवा थकावट के मारे वर्फ पर पड़ जाता है तो ये कुत्ते उसका मुँह चाट-चाटकर उसे जगाते हैं और झोपडे में जाने का इशारा करते है। अक्सर पडोसियो तक को भी अपने मालिक के वर्फ पर पड़ जाने की खबर वे पहुँचा दिया करते हैं। सिर्फ इतना ही नही, जब सर्दी के दिनों में सभी रास्ते वर्फ से ढके रहते है और चारो तरफ वर्फ का ही मैदान दिखाई देने लगता है, तब ये कुत्ते ही आगे-आगे चलकर अपने मालिक को रास्ता दिखाते है। अपने खानाबदोशी के जीवन मे लापों की सबसे बडी संपत्ति हिरन ही हुआ करते है। इनके समाज मे धन का पैमाना हिरनों द्वारा ही नापा जाता है। जिस आदमी के पास जितने अधिक हिरन होते है, वह उतना ही धनी गिना जाता है। इन्हीं के मांस एवं खाल की बिक्री से लाप कॉफी, नमक, तम्बाकू आदि प्राप्त करते हैं।

हिरनों के शरीर का कोई भी पदार्थ लाप व्यर्थ नही जाने देते। उनके बाल तक बेच दिये जाते हैं, जो सभ्य समाज द्वारा

भाँति-भाँति से काम में लाये जाते हैं। इसीलिए जिधर भी हिरनों के ये झुंड जाते हैं, उधर का ही रास्ता लापों को भी लेना पड़ता है।

हिरनों के बच्चे जब छोटे रहते हैं, उसी समय उनके मालिक उनके कान में अपने लम्बे चाकू से अपना विशिष्ट चिह्न लगा देते हैं, जिसमें आगे चलकर उन हिरनों के दूसरों की सम्पत्ति बन जाने का खतरा पैदा न हो।

बच्चों के पालन-पोषण की समस्या

लापों के बच्चे जब पैदा होते हैं अथवा उनके दाँत निकलते हैं, उसी समय माता-पिता उन्हें कुछ हिरन भेंट करते हैं, ताकि आगे चलकर वे बच्चे समाज में 'गरीब' न रह जायें। पर इसी से बच्चों की समस्याएँ हल नहीं हो जातीं। उन्हें भयंकर सर्दी का सामना करना पड़ता है। उनके जन्म के समय तंबू या झोपड़े भी गनीमत ही रहते हैं। डाक्टर या दवा आदि की तो कोई व्यवस्था रहती ही नहीं। इसीलिए लापों के बहुत ही कम बच्चे जीवित रह पाते हैं। जितने बच्चे जीवित बचते हैं, उन्हें देखकर ही आश्चर्य होने लगता है। लाप अपने बच्चों के लिए खास तरह के काठ के टोकरे तैयार करते हैं। ऐसे टोकरों में नीचे मृगशावकों का नरम चमड़ा, घास और समूर बिछा रहता है। ये चीजें बच्चे को गरम किए रहती हैं। माँ उस टोकरे को अपने कंधे से झुलाये चलती है। बच्चों और सयानों सभी के लिए जब दूध की आवश्यकता होती है तो वह भी हिरनों से ही प्राप्त किया जाता है। हिरनों का यह दूध दुहना अवश्य ही कठिन होता है, फिर भी कई लाप मिलकर किसी भाँति हिरन को बाँधकर और पकड़कर एक-एक से छटाँक-आध-छटाँक दूध निकाल ही लेते हैं। मारे गए हिरनों के पेट की थैली को धोकर और सुखाकर उसी में दूध रखा जाता है।

लापों के लिए सर्दी में भोजन पकाते वक्त बर्फ ही पानी का काम देती है। उसी को पिघलाकर वे उसमें हिरन का गोश्त और उसकी हड्डी उबाल लिया करते हैं। हिरन का खून भी जमाकर रखा जाता है, जो कुत्तों को खाने के लिए दिया जाता है।

लापों के वस्त्र भी पुश्त-दर-पुश्त से एक ही भाँति के रहते चले आ रहे हैं। सर्दी से रक्षा करने के लिए वे हिरन की खाल द्वारा बहुत पुराने ढंग पर तैयार किए गए वस्त्र पहना करते हैं। डोरी के लिए कई तरह की घास का उपयोग करते हैं। पेटी के लिए चमड़े का प्रयोग होता है। सिर पर ये नीली दिखाई देनेवाली चमड़े की टोपी पहनते हैं।

सर्दी में मैदानों में बर्फ पर सोते समय सर्दी लग जाने के अलावा लापों के लिए खास खतरा सुमेरु-प्रदेश के भालुओं का रहता है। कुत्ते उन्हें उनसे बचाने की भरपूर चेष्टा करते हैं। पर लापों का इस विषय में अंधविश्वास है कि भालू औरतों पर कभी भी आक्रमण नहीं करते!

जादू में विश्वास

सभ्य समाज से बिलकुल अपरिचित रहने के कारण लापों के विश्वास भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। माताएँ अपने बच्चों को चाँदी एवं लोहे के गहने पहनाए बिना अकेले नहीं छोड़तीं। उनका विश्वास रहता है कि वे गहने एक विशेष प्रकार के भूत—'उलडास'—से बच्चों की रक्षा करते हैं। उनके विश्वास के अनुसार ये उलडास आदमियों के बच्चे उठा ले जाते हैं अथवा उन्हें अपने बदसूरत बच्चों से बदल लेते हैं।

योरप के धुर उत्तर में लाप जिन प्रदेशों में बसते हैं, वहाँ गरमी के मौसम में रात्रि के समय भी इसी तरह सूर्य दिखाई देता रहता है—वह महीनों अस्त नहीं होता।

निरंतर घुमक्कड़ बने रहने के कारण लाप लोगों के दृष्टिकोण में एक मस्तानेपन का-सा भाव आ गया है। उनकी इस टोली की वेशभूषा और मस्तानी भावभंगी को देखिए। उससे स्पष्ट है कि इन लोगों ने जीवन के सुख-दुःख के प्रति समान दृष्टि अपना ली है।

सभ्यता से परे की अन्य जातियों के ही समान लापों का भी जादू में गहरा विश्वास रहता है। प्रकृति के विरुद्ध संग्राम में अपने को दुर्बल साबित होता देख, अपने को जीवित रखने के सिलसिले में साहस बनाये रखने के लिए, उन्हें जादू में विश्वास करना ही पड़ता है। जिन समस्याओं का वे और किसी ढंग पर निराकरण नहीं कर पाते, उन्हें जादू से हल करते हैं। दिवंगत लोगों का समाचार वे इसी ढंग पर जानते हैं। उनके जीवित सम्बन्धी भी बहुत बिखरे रहते हैं। हमेशा स्थान बदलते रहने के कारण उनसे फिर से मुलाकात होने की संभावना कम रहती है। अशिक्षित होने के कारण पत्र-व्यवहार वे नहीं कर सकते। इसलिए बिछुड़े हुए संगी-सम्बन्धियों का समाचार भी वे जादू द्वारा ही जानने की चेष्टा करते हैं। जादू की करामात दिखानेवाला लाप उछलता-कूदता है और बेहोश हो जाने की क्रिया दिखा चुकने पर बिछुड़े लोगों का समाचार औरों को सुनाने लगता है।

इनके देवता

देवताओं की उपासना में सर्वप्रथम मेघ देवता—'थोर'—का स्थान आता है। दूसरा स्थान सूर्य का और तीसरा विपत्ति से रक्षा करनेवाले तथा शिकार को आसानी से जुटा देनेवाले 'स्टोरयूंकार' का रहता है। इन्हीं देवताओं पर विश्वास और भरोसा करके, लाप एक-एक आदमी के बैठने के उपयुक्त काठ के बने बर्फ पर फिसलनेवाली अपनी 'पुलकाओं' नामक गाड़ियों पर सामान लादे, उनमें हिरनों को जोते, वीरान ध्रुव-प्रदेशों में प्रकृति के साथ युद्ध करते हुए निरंतर भ्रमण करते रहते हैं।

लाप वस्तुतः अति साधारण जीवन बितानेवाले तथा बड़ी ही सीधी प्रकृति के लोग हुआ करते हैं। हमारे सभ्य समाज में पाई जानेवाली नाना तरह की बुराइयों से ये लोग अब भी अपरिचित हैं। बुराई के नाम पर सिर्फ कभी-कभी एक-दूसरे के हिरन की चोरी वे करते हैं, जिसे उनका समाज 'अपराध' करार देता है। मार-काट आदि लापों के बीच कभी भी नहीं हुआ करती। अपने साथी मनुष्यों के साथ सदैव उनका शांति का ही व्यवहार होता है। शादी-ब्याह के संबंध में झगड़े पैदा हो सकते हैं, पर इसकी उनके समाज ने सुन्दर व्यवस्था कर ली है। ये अपने समान ओहदेवालों के साथ ही शादी-ब्याह किया करते हैं। शादी में युवा-युवतियों की उम्र की अपेक्षा अधिक ज़ोर उनके समान ओहदे पर ही दिया जाता है। अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए लाप युवा-युवती परस्पर नाक रगड़ लिया करते हैं!

इनके शादी तथा अन्य उत्सव मनाने का समय मार्च के अन्तिम सप्ताह में आता है। लंबे जाड़े के बाद उसी समय उन्हें सूर्य भी निकलता दिखाई देता है। वे उसकी गरमी में सुख का अनुभव करते हैं। जो लाप ईसाई धर्म के अनुयायी बन गए हैं, वे मार्च में आनेवाले ईस्टर का त्यौहार बड़े ज़ोर-शोर से मनाते हैं। उसी समय वे जाड़े में मरे हुए मुर्दों को गिर्जाघर में अन्तिम क्रिया के लिए लाते हैं। वहाँ ले जाने के पहले मुर्दों को जंगली जानवरों द्वारा खाए जाने से बचा रखने के लिए वे दरख्तों पर ऊँचा करके बाँधे रहते हैं। लापों के गिर्जाघरों में ईस्टर के अवसर पर एक ओर मुर्दे के पास बैठे मृत व्यक्ति के संबंधी शोक मनाते रहते हैं और ठीक इन्हीं लोगों के सामने विवाह के लिए आए हुए जोड़े आनन्द भी मनाते होते हैं! शोक और आनन्द का यह संमिलन लाप समाज की मनोदशा का प्रतीक है। ये दुःख और सुख दोनों को ही बहुत हद तक जीवन का अवश्यम्भावी और स्वाभाविक अंग करार देते हैं। यह सच है कि इनके जीवन का एक क्षण भी प्रकृति के साथ जारी अपने भौतिक संघर्ष से वंचित नहीं पाया जाता, परन्तु हमारी तरह मानसिक संघर्ष का दौर उनके जीवन में बहुत दूर तक नहीं जाता।

सदियों से प्रकृति के साथ लोहा लेते-लेते वे प्रकृति के साथ एकाकार हो गए हैं। इस दृष्टि से हम उन्हें 'सभ्य' कहलानेवाले मनुष्यों से कहीं अधिक सुखी और सफल मान सकते हैं।
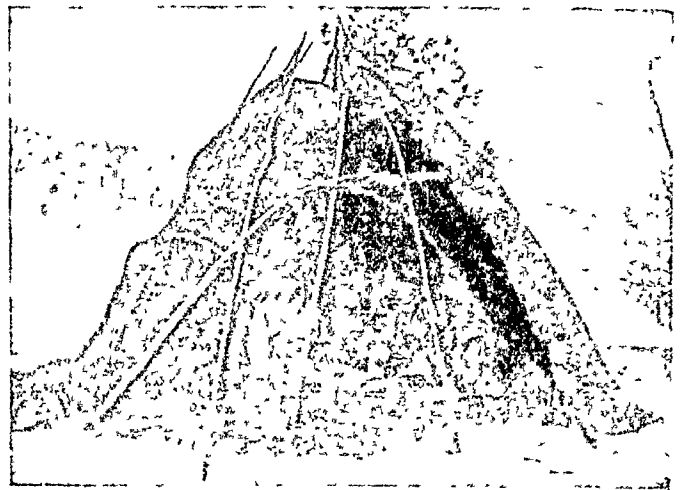
लाप लोग खाल से ढके हुए ऐसे ही खीमे में प्रायः रहते हैं।
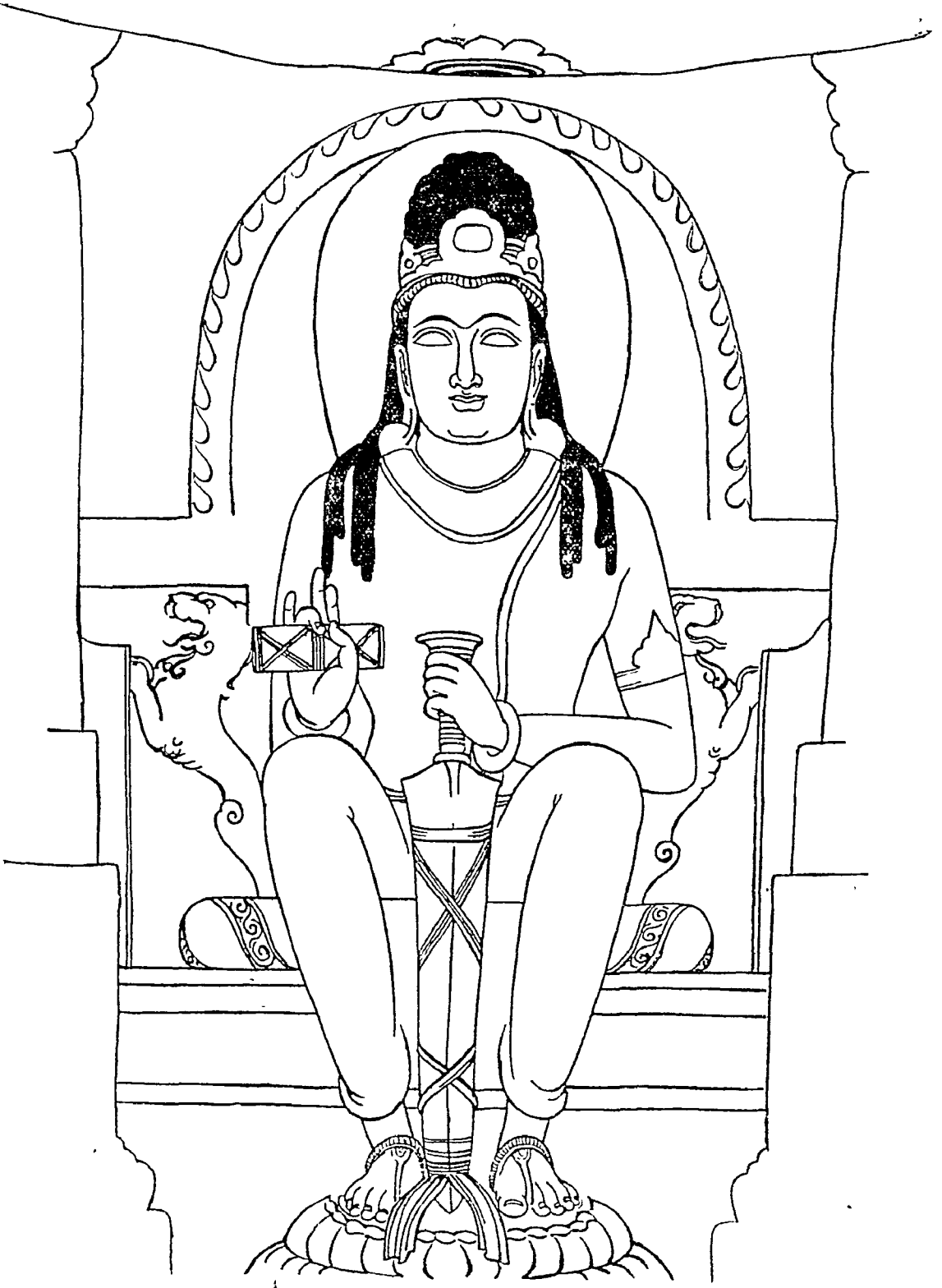
राजर्षि मनु

भारतीय समाज-व्यवस्था की आधारशिला के संस्थापक

भारतीय समाज-व्यवस्था के प्रतिष्ठापक प्रजापति मनु

भारतीय महापुरुषों में मनु का एक विशेष स्थान है। इतिहासवेत्ता उन्हें चाहे ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे की वस्तु कहें, किन्तु आज भी इस देश की सामाजिक व्यवस्था की तह में मनु द्वारा निर्धारित प्रशस्त नियम ही काम कर रहे हैं। आइए, इस लेख में आर्य संस्कृति के इस महान् व्यवस्थापक का दर्शन करें।

आर्य महाप्रजाओं के युगान्तव्यापी जीवन की स्थिर आधारशिला का न्यास करनेवाले जो अनेक महापुरुष हैं, उनमें मनु का नाम अप्रतिम तेज से प्रकाशित है। मनु प्रथम प्रजापति कहे जाते हैं। प्रजाओं के संवर्धन के लिए जिन प्रशस्त नियमों और उदार जीवनक्रम की आवश्यकता होती है, मनु का नाम आर्य संस्कृति में उन सबके लिए एक सुन्दर प्रतीक ही बन गया है। हमारे सहस्रमुखी जीवनक्रम को नियंत्रित करने में जो श्रेय मनु को प्राप्त है, वह और किसी को नहीं। मनु कुछ स्पष्ट और निश्चित् आदर्शों के प्रतिनिधि हैं। यदि हम उन आदर्शों के राजमार्ग पर अग्रसर होना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम धर्म-के मनु प्रतिपादित स्वरूप को अच्छी तरह से परीक्षा करके समझ लें।

ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे का व्यक्तित्व

मनु हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम से परे की वस्तु है। मनु का नाम आते ही हमें अपनी सभ्यता के उस धुँधले प्रभात का स्मरण हो आता है, जिसमें सूर्य की उपःकालीन किरणों के प्रकाश में मानव और देव दोनों साथ-साथ विचरते हुए दिखाई देते हैं। उस युग की गाथाओं के समुदाय में से इतिहास के तथ्य और पुराण की कल्पना का विश्लेषण एक कठिन कार्य है, और यह कठिनाई केवल भारतवर्ष के ही लिए नहीं है, बल्कि संसार के प्रत्येक देश के लिए है। यदि हम अपने नितान्त मानवी कौतूहल को थोड़ी देर के लिए वश में कर सकें, तो यह कहा जा सकता है कि मानव-जाति के पूर्व-पुरुषों के विषय में सत्य और कल्पना का यह सम्मिश्रण कुछ विशेष हानिकर नहीं है। उनका जो सजीव चित्रण हमें दृष्ट है, वह हमारे मनोराज्य में समस्त जातीय जीवन की एक विराट् वस्तु बनकर सदा के लिए व्याप्त हो गया है। मनु की कल्पना भी हमारे जातीय जीवन में बहुत दूर तक ओत-प्रोत है, और मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म की बहुत गहरी छाप हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन पर पड़ी है।

आर्य राजर्षि-परंपरा के आदि स्रोत

भारत के बाहर के कुछ देशों के इतिहास से मनु के मिलते-जुलते कुछ नाम मिलने का सन्देह होता है। कुछ लोगों का विचार है कि जल-प्रलयवाले 'नूह' का, जिनकी कथा प्राचीन (बेबिलान) बवेरु और सुमेरु देशों के ग्रन्थों में है और ईसाई तथा मुसलमानी धर्मों में भी पाई जाती है, एवं शतपथ ब्राह्मण में जल-प्रलय की कथा के सम्बन्ध में आए हुए मनु का कुछ सम्बन्ध अवश्य है। प्राचीन क्रीट द्वीप के आदि सम्राट् की संज्ञा 'मिनोस' भी मनु से मिलती-जुलती है। मिस्र देश की परम्परा में भी पहले राजा का नाम 'मेनीज' पाया जाता है। हो सकता है, इनके पीछे किसी एक मनु की परम्परा छिपी हो। भारतीय साहित्य में १४ मनु कहे गये हैं; जिनके नाम से मन्वन्तरों के काल-विभाग प्रचलित हैं। सबसे पहले स्वयम्भु मनु हैं, जिनको मानव

धर्म-शास्त्र में धर्म का प्रवक्ता कहा गया है। हमारा वर्तमान मन्वन्तर जिन मनु के नाम से प्रसिद्ध है, उन्हें वैवस्वत मनु कहते हैं। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वैवस्वत मनु ही प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश के आदि सम्राट् हुए हैं। यह कहा जा सकता है कि वैवस्वत मनु से सम्बन्धित इक्ष्वाकु वंश की राजपरम्परा ही प्राचीन भारतीय तिथिक्रम का मेरु-दण्ड है। महाकवि कालिदास ने चुने हुए शब्दों के तेज को पुञ्जीभूत करके इसी प्रख्यात वंश के कर्मठ राजर्षियों के लिए 'सोऽहमाजन्मशुद्धाना' आदि विशेषणों की आरती उतारी है! उन्होंने लिखा है कि मनीषियो मे माननीय वैवस्वत मनु का सब राजाओं मे ऐसे ही प्रथम स्थान है, जैसे वेदो में ओंकार का। अर्थात् जिस प्रकार प्रणव रहस्य से भरी हुई त्रयी विद्या का प्रतीक है, उसी प्रकार सब राजाओं की शासन-नीति के प्रतीक मनु हैं। मनु ने मानव-धर्म के जिस उत्कृष्ट स्वरूप का उपदेश किया है, उसी के कुछ प्रधान सूत्र कालिदास ने रघुवंशीय राजाओं के चरित्र की मीमासा मे लिखे हैं। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के एकराट्, जन्म से मृत्यु-पर्यन्त संस्कारों के द्वारा शुद्ध रहनेवाले, आयु के प्रथम भाग में विद्या का अभ्यास करनेवाले, यौवन में यथान्याय विषयों का उपभोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण करनेवाले और अन्त में योग के द्वारा शरीर छोड़नेवाले, इस प्रकार के सुव्यवस्थित आश्रम-जीवन के अनुयायी सूर्यवंशी राजा थे! वे लोग यश के लिए जीतनेवाले, सत्य के लिए मितभाषी, दान के लिए अर्थसञ्चयी और सन्तति के लिए गृहमेधी बनते थे। विधि के अनुसार अग्निहोत्र करना, समय के अनुसार जागना, अपराध के अनुसार दण्ड देना और कामना के अनुसार याचकों को दान देना ये उनकी विशेषताएँ थीं। इन स्फुट रेखाओं से मानव-जीवन का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, वही संक्षेप मे मानव-धर्म है। हमारे आदर्शो के चिरपरिचित रघु और दिलीप के ही पूर्वज मनु थे। उदात्त क्षात्र धर्म के उत्कृष्ट प्रतिनिधि इन राजर्षिवर्यो का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, उसमें कवि के शालप्रांशु, वृषस्कन्ध, व्यूढ़ोरस्क और महाबाहु ये विशेषण अक्षरशः चरितार्थ होते है। राजर्षि मनु के भौतिक स्वरूप की कल्पना भी कुछ-कुछ इसी रूप में हमारे सामने आती है।

आर्य जीवन की इसी उदार परम्परा में भगवान् श्रीकृष्ण थे। उन्होंने गीता में स्वयं कहा है कि राजर्षियों का यह उत्तम प्रज्ञा योग वैवस्वत मनु से ही प्रारम्भ हुआ और इसी के अनुयायी जनक भी थे। हम कह चुके हैं कि ब्रह्म और क्षात्र दोनों आदर्शों का पूरा मानदण्ड कृष्ण का जीवन था। यही बात मनु और जनक तथा उन्ही आदर्शो से पोषित इतर राजर्षि-परम्परा के लिए भी कही जा सकती है! महाकवि कालिदास ने लिखा है कि मनु ने जिस मार्ग को चलाया, रघुवंशी राज्य की प्रजाएँ तिल भर भी उससे इधर-उधर नही हटती थी। भारवि ने कहा है कि दुर्योधन भी अपनी शासन-नीति मे मनु की पदवी का अनुयायी था। मनु-राजधर्म का ऊँचा आदर्श राज्याभिषेक की शपथ के साथ से ही भारतीय नरेशों को दीक्षित करता रहा है। ऐतिहासिक युग में गुप्तवंशी सम्राट् इसके उदाहरणस्वरूप हमारे सन्मुख आते है, जिनके समय मे कवि के अनुसार स्वर्ग की समृद्धि पृथ्वी पर उतर आई थी।

मनुस्मृति

वर्तमान मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र बारह अध्यायों* मे अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध है। इसी स्मृति की अन्तरङ्ग साक्षी से यह मालूम होता है कि एकाग्र बैठे हुए भूरितेज, अमितौजा, धीमान् महात्मा मनु से ऋषियों ने धर्म के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। परन्तु कुछ दूर तक धर्म का निरूपण करने के बाद भगवान् मनु अपने मनीषी शिष्य भृगु को आगे के निर्वचन का कार्य सौपकर चले जाते हैं और शेष ग्रन्थ का व्याख्यान भृगु के द्वारा होता है। वस्तुत. वर्तमान मनुस्मृति का संस्करण मानव चरण के भृगुवंशी आचार्यो ने किया। इसमें एक प्रमाण यह है कि मनुस्मृति और महाभारत में गहरी समानता है। स्वर्गीय डाक्टर व्हूलर ने शान्ति, अनुशासन और वनपर्व के साथ मनुस्मृति की तुलना करके यह बताया था कि दोनो मे लगभग २५० श्लोक समान हैं और यह संख्या उपलब्ध मनुस्मृति का दसवाँ भाग है। महाभारत के शेष पर्वो में और भी समान श्लोक होगे। पिछले दिनों भाडारकर इंस्टीट्यूट के अध्यक्ष डा० विष्णु सुकंठणकर ने अपने 'भृगु' शीर्षक लेख में बहुत खोज और विद्वत्ता के साथ, जिसे डा० कीथ ने भी माना है, यह सिद्ध किया है कि महाभारत का वर्तमान संस्करण भार्गववंशी ब्राह्मणो के द्वारा तैयार कराया गया था। यह अनुमान होता है कि उन्होंने ही इन समान श्लोकों का मनुस्मृति और महाभारत दोनों मे समावेश किया। इस प्रश्न

* प्राचीन रोमन लॉं का संग्रह भी द्वादशाध्यात्मक है। उक्त संग्रह ४५१ ई० पूर्व दस आप्त व्यक्तियों के 'डेसेम्विरी' द्वारा किया गया था, जिसके साथ मनु की 'दशावरा परिषद्' का ध्यान आता है।

के उत्तर में कि मनुस्मृति का पूर्व रूप क्या था, विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि मनुस्मृति से पहले एक मानव-धर्मसूत्र था, जिसमें प्रातिशाख्यों की तरह श्लोक और सूत्र दोनों मिले हुए थे। यह मानवधर्मसूत्र अब उपलब्ध नहीं होता, परन्तु किसी समय इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से था। मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत एक मानवों का चरण था। प्राचीन परिभाषा में चरण वैदिक परिषद् या आचार्य विशेष के चारों ओर पनपने-वाले विद्या-संस्थान को कहते थे। मानव आचार्यों के चरण में जिस धर्मसूत्र की रचना हुई, उसी के आधार पर वर्तमान मनुस्मृति का अधिकांश भाग बना हुआ मालूम होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत-साहित्य में मनु का नाम बहुत पुराना है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता और मैत्रायणी संहिता, तीनों में यह बात कही गई है कि मनु का जो वचन है वह सब ओषधियों की ओषधि है, अर्थात् सब नीतियों में परम नीति है।†

मनु का धर्म

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक नित्शे ने लिखा है—

"बाइबिल की अपेक्षा मनुस्मृति एक बहुत बड़े मस्तिष्क की उपज है।" नित्शे की प्रशंसा के महत्व को समझने के लिए मनु के धर्म के अर्थ को जानना आवश्यक है। मनु का धर्म वीर्य और शक्ति का धर्म है। वह थोथे परलोकवाद के कट्टर शत्रु हैं। उन्होंने लिखा है—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्व देहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवितस्य मृतस्य च॥
(मनुस्मृति ११।१०)

अर्थात् जिनका भरण-पोषण अपना अवश्य कर्त्तव्य है, उनको कष्ट देकर जो परलोक साधता है, उसके लिए इस जीवन में और इसके बाद मृत्यु में भी दुःख-ही-दुःख है। मनु वैदिक कर्मयोग के प्रतिपादक हैं। उस कर्मयोग का मूल मनु के अनुसार जीवन में दृढ़ सङ्कल्प है। कामना से सङ्कल्प होता है और सङ्कल्प से ही सारे यज्ञ, व्रत, तप, जीवन की अप्रतिहत शक्तियों का जन्म होता है। जिस समय कुल और जाति के अन्दर शक्तिशाली बनने की लहर उत्पन्न होती है, उस समय मनु का वैदिक कर्मयोग काम आता है। मानव-धर्म खोखले साधुओं का धर्म नहीं, जिन्हें संसार से उपेक्षा हो। मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अर्थात् ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण इन तीनों के द्वारा जातीय संस्कृति, पितृभूमि और मानव-वंश या नस्ल की यथोचित सेवा करने के बाद मनुष्य को यह अधिकार मिलता है कि वह केवल अपने अध्यात्म-जीवन की चिन्ता में लगे। मनु का धर्म गणित के अङ्कों की तरह बहुत ही सीधा-सादा है, उसमें जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य-जीवन का एक पूरा नकशा हमें प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार पुरुषार्थ, देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋणरूपी तीन आवश्यक कर्त्तव्य, सोलह संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, गृहस्थ और संन्यासरूपी चार आश्रम, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनका चातुर्वर्ण्य सङ्गठन यही संक्षेप में मनु का धर्म है। एक बालक भी सरलता के साथ मनु के धर्म की रूपरेखा खींच सकता है। मनु का यह आदर्श लोक और परलोक, संग्रह और त्याग, भोग और वैराग्य दोनों को जीवन में साथ लेकर चलता है। इसी का नाम प्राचीन ब्राह्म क्षात्र धर्मों का समन्वय है। इस आदर्श में अभ्युदय और निःश्रेयस इस तरह एक साथ मिल जाते हैं, जिस तरह एक रथ के खींचने में समान रूप से मिलकर दो बैल चलते हैं। मनु का धर्म और महाभारत में प्रतिपादित धर्म एक ही है। वेदव्यास ने कहा है—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

अर्थात् धर्म वह शक्ति है, जो प्रजाओं और समाज को धारण करती है। यह मनुष्य को जीवन से परे खींचकर जंगल का मार्ग दिखानेवाला साधन नहीं है। जिस धर्म से जीवन में विजय की भावना का नाश हो, पीलिया रोग की तरह जीवन को निस्तेज बनानेवाला वह धर्म मनु को कदापि सम्मत नहीं। एक प्रसिद्ध विद्वान् डा० मीज ने पिछले दिनों 'धर्म और समाज' नामक अपने विचारशील ग्रन्थ में भारतीय दृष्टि से 'धर्म' शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया है। मनु और वेदव्यास व्यक्ति और जाति के ऐहलौकिक जीवन में अभ्युदय प्राप्त करानेवाले और अन्त में अध्यात्म-शान्ति तक ले जानेवाले व्यवस्थित कार्यक्रम को धर्म कहा है। यह धर्म प्रकृति के विधान के साथ मिला रहता है। अथर्ववेद में कहा है कि यह पृथ्वी धर्म से धारण की

---

† यह जानने की बात है कि मनुस्मृति के काल से लेकर मिथिला की रानी लक्ष्मी देवी (अठारहवीं सदी का अन्त) के समय तक हिन्दुओं के धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों की अखंड परम्परा पाई जाती है। प्रो० हॉपकिन्स के शब्दों में संसार में दूसरे कौन लोग हैं, जिनकी कानूनों की चौबीस सौ वर्षों की ऐसी अटूट लड़ी हो? भारतीय मस्तिष्क की कानूनी बारीकियों में पैठने की क्षमता के लिए यह पर्याप्त स्तुति है।

हुई है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन भी धर्म की दृढ नींव पर खड़ा होता है। जितनी पुष्ट यह आधार-शिला होगी, उतनी ही विराट् ऊँचाई तक जीवन का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। इसलिए मनु का धर्म प्रधानत. आचार-मूलक धर्म है। रामायण के द्वारा रामचरित का जो आदर्श वाल्मीकि ने रक्खा है, वही दस लक्षणोवाला* आचार-प्रधान धर्म मनु ने कहा है। मनु का वाक्य है—

आचारः परमो धर्मः। (१।१०८)

और भी, 'आचार से विहीन विप्र को वेद का कुछ भी फल प्राप्त नही होता, आचारवान् होकर ही वह सम्पूर्ण फल को पाता है।' इस प्रकार आचार से धर्म की प्राप्ति मानते हुए ऋषियो ने समस्त तप का मूल आचार को कहा है—

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।

मनु ने बारम्बार वेद को अपने शास्त्र का मूल माना है। ऋग्वेद मे कहा है—

ऋतस्य पन्थां न तरंति दुष्कृतः। (ऋ० ९।७३।६)

अर्थात् आचारहीन व्यक्ति सत्य के मार्ग के पार नहीं पहुँच पाते। मनु ने इसी का अनुवाद करते हुए कहा है—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हि चित्॥
(म० २।९७)

अर्थात् वेद, त्यग, यज्ञ, नियम और तप ये सब दुष्ट मनोभाववाले मनुष्य के लिए निष्फल है।

इस आचारमूलक जीवन की साधना मनु का ब्रह्मचर्य आश्रम है। मनु के शिक्षाक्रम का उद्देश्य डॉक्टर, वकील, या इंजीनियर अथवा इनके समान पेशेवर लोग उत्पन्न करना नही है, बल्कि ऐसे आचारवान् पुरुषों को बनाना है, जो शरीर और मन से बलवान् हों और अपने और जाति के महान् जीवन मे जिनकी श्रद्धा हो। विवाह करने का अधिकारी कौन है, इसका उत्तर मनु एक शब्द में देते है कि जो 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य' वाला हो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का यह अधिकार राष्ट्र के जीवन-मरण के साथ सम्बन्ध रखता है और त्रिकाल में भी कोई अधीर व्यक्ति इसमें परिवर्तन नही कर सकता। वास्तव मे नीतिमूलक आचार ही नित्य धर्म है। वह सत्य होने के नाते ही हमारे लिए अटल कर्तव्य बना रहा है।

कुल-धर्म

गीताञ्जलि की भूमिका के विद्वान् लेखक ने लिखा है कि 'क्या आप यह जानते है कि पूर्व में किस प्रकार कुलो को यशस्वी बनाया जाता है'। मनु के धर्म का गोत्र भी कुल है। प्राचीन आर्य-जातियो के समाज-संगठन में गृहपति, जिसे रोम के कानून में 'पेटर फेमिलियास' कहा गया है, प्रधान केन्द्र था। हिन्दू-जाति मे गृहपति की भावना एक स्वर्गीय दिव्य भावना है, जिसके अमृत-जल से आज भी जाति का जीवन प्राणमय है। राज्य की और समाज की व्यवस्थाएँ भी जब ढीली पड़ जाती है, तब भी गृहपति सौर मण्डल की तरह अपने परिवार के केन्द्र में बैठा हुआ उसको नियंत्रित रखता है। नियमन का नाम ही जीवन है, अराजकता मृत्यु है। राजा के राज्याभिषेक की तरह गृहपति का भी मूर्धाभिषेक किया जाता था। एक राष्ट्र का ककुद् या उच्चतम स्थान है, दूसरा परिवार का। हिन्दू-जाति में एक गृहपति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र को उसके स्थान में मूर्धाभिषेक करने की प्रथा आज तक जीवित है, जिसका बचा हुआ रूप तेरहवें दिन पगड़ी बाँधने की क्रिया है।

विवाह के समय मनु ने समृद्ध कुल और निंद्य कुलो में विवेक करने पर बहुत जोर दिया है। कुविवाहों से उत्तम कुल भी हीन बन जाते है। अतएव बहुत सोच-समझकर वैवाहिक धर्मो को स्थिर करना चाहिए।

मनु के अनुसार नारी का गौरव

मनु के अनुसार स्त्री उत्तम सन्तति और प्रजाविशुद्धि का हेतु है। परिवार में माता-पिता वृत्त के केन्द्र और परिधि की तरह है। दोनों देखने में दो, पर वास्तव में अभिन्न है। मनु की व्यवस्था है—

यो भर्ता सा स्मृतांगना

अर्थात् जो पति है, वही अभिन्न रूप से पत्नी है। दोनों का अस्तित्व एक इकाई है। दोनों में न अधिकार की पृथक्ता है, न स्वार्थो का विरोध। परन्तु माता हजार पिताओं से गौरव में भारी है। माता पृथिवी है, वह क्षमाशील धात्री के रूप मे परिवार का पोषण करती है।

स्त्री के जीवन की पूर्णता माता बनने मे है। वीर्यवान् पुत्रों की माता कहलाने में जो गौरव स्त्री को मिलता है वह अन्य किसी प्रकार से नही। प्रकृति पुरुष के विना दीन है, स्त्री भी उस आदर्श भर्ता को चाहती है, जिसको वह अपना आराध्य देव कल्पित कर सके। विवाह उसके

---

*"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"
(मनुस्मृति ६।९२)

जीवन की उच्च पराकाष्ठा है। इसलिए मनु ने स्त्रियों के लिए वैवाहिक विधि को ही सबसे बड़ा वैदिक संस्कार माना है। पति-सेवा ही उनका गुरुकुलवास है और गृहकार्यों में दक्षतापूर्वक योग ही उनकी अग्नि-परिचर्या है (२।६७)। जिस दिन जाति को उत्तम संतान की आवश्यकता न रहेगी, उसी दिन यह शायद सम्भव हो कि स्त्री अपने मातृत्व का गौरव खो दे। परन्तु यह भी निश्चय है कि उसी दिन जाति की मृत्यु भी हो जाएगी। मानव नीति मे नारी-प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में इस समय असत्य और भ्रमात्मक विचार फैले हुए है। प्रजानिरोध के द्वारा मातृत्व का जो नाश हो सकता है, वैसा अन्य किसी उपाय से नही। और मातृत्व की उपेक्षा स्त्री को स्वर्ग से गिराकर नरक के गर्त मे गिरा देना है। पुरुष स्त्री की पूजा करता है, क्योकि उसके द्वारा वह अपनी अमरपन की भावना को पूरा करता है। बीजनिषेक के द्वारा वह स्वयं स्त्री के गर्भ में जन्म लेता है। 'यही जाया का जायत्व है कि पुरुष उसमे पुन जन्म ग्रहण करता है।' प्रजासिद्धि का विलक्षण हेतु स्त्री है, विश्व में उसका पद अत्यंत महनीय है।

आर्यनारी का यशोगान

आर्यनारी का जो यशोगीत मनु ने गाया है, वह संसार के साहित्य में अनन्यसुलभ है। वैदिक साहित्य के सूत्र-ग्रंथों में एक सारस्वत अनुवाक आता है। विवाह-संस्कारो में उसका गान किया जाता है—

यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तमिद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

अर्थात् महाभाग्यशीला नारी, जो भूत और भविष्य की जननी है, जिस उत्तम यश का पात्र है, उस यशोगाथा को आज हम गाते है। इस प्रकार प्रारम्भ करके बीस ऋचाएँ वेदिमंडप में स्त्री के उत्तम यशोवर्णन में गाई जाती है। मनु का यशोगीत भी चुन-चुनकर इस प्रकार से स्त्री के प्रति पूजा के सुरभित पुष्प चढाता है—

१—जहाँ स्त्रियों का पूजन होता है, वहाँ देवता बसते है। जहाँ इनका आदर नही होता, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल जाती है।

२—जिस कुल में पति पत्नी से और पत्नी पति से संतुष्ट रहती है, वहाँ ध्रुव कल्याण वास करता है।

३—स्त्री की प्रसन्नता से सारा परिवार प्रसन्न रहता है। उसके असंतोष से कुछ भी अच्छा नही लगता।

४—स्त्री को सदा प्रहृष्ट रहना चाहिए। उसे उचित है कि घर के कामों में तत्पर हो, सब सामान को साफ-सुथरा रक्खे और व्यय करने में हाथ रोके रहे।

५—मंत्र के साथ होनेवाले संस्कार से प्राप्त हुआ पति इस लोक में और परलोक मे भी स्त्री को नित्य सुख का देनेवाला होता है।

६—स्त्रियो के लिए पृथक् यज्ञ, व्रत या उपवास का विधान नही है। पति की सुश्रूषा से ही वे स्वर्ग में उच्च स्थान पाती है।

७—जो पुरुष यत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करता है, वह अपनी संतान, चरित्र, परिवार, धर्म और अपने आपकी रक्षा करता है।

८—अनेक कल्याणों की भाजन स्त्रियाँ पूजा के योग्य है, ये घर की ज्योति है, प्रजापति ने प्रजोत्पत्ति के लिए उन्हे बनाया है। स्त्रियाँ घरो में साक्षात् लक्ष्मी है। पति-पत्नी दोनो मे कोई अन्तर नहीं है।

९—संतति को जन्म देना, उत्पन्न हुए पुत्रादिक का पालन करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा (भोजन आदि का प्रबन्ध) का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण स्त्री ही है।

१०—अपत्य, धर्मकार्य, सुश्रुषा, उत्तम आनन्द और अपनी तथा अपने पूर्व-पुरुषों की स्वर्गगति सब कुछ स्त्री के अधीन है।

११—मन, वाणी और शरीर से संयत रहकर जो स्त्री पति के अनुकूल रहती है, वह इस लोक में साध्वी स्त्रियों का यश पाती है और मरने के उपरान्त पति-लोक में जाती है।

१२—देवों के समक्ष की गई प्रतिज्ञा के द्वारा पुरुष स्त्री के साथ विवाह करता है, स्वेच्छा से नहीं। अतएव देवों की प्रीति के लिए स्त्री का नित्य भरण-पोषण करना चाहिए।

पूर्व ऋषियो के द्वारा कहा हुआ यह पुण्य नारी-वृत्त सब जनों का हित करनेवाला है। आत्मा, जाया और प्रजा, इतना ही पुरुष का विस्तार है। पुरुष के द्वारा किए हुए समस्त धर्माचरणों में स्त्री का साझा है। मनु ने जो यह कहा है कि कौमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र, इसलिए स्त्री का अपना तंत्र नही होता—यह प्राचीन आर्य जातियों में स्त्री को प्रतिदिन की लोक-यात्रा से निश्चिन्त बनाने की सर्वसम्मत कानूनी व्यवस्था थी। मनुस्मृति से बहुत अंशो में समानता रखनेवाले प्राचीन रोमन लॉ मे भी ऐसा ही प्रबन्ध था। संक्षेप में मनु आदर्शो का प्रतीक वह पुरन्ध्रि स्त्री है,

जिसके द्वारा सप्तसिंधु से लेकर योरप तक आर्य जाति का महान् विस्तार हुआ।

मनु और राष्ट्र

मनु का भारतवर्ष एक पुण्यभूमि है। वह इसे देवनिर्मित देश मानते हैं। इस यज्ञीय देश में जो आचार प्रचलित था, उसके लिए मनु के हृदय में गर्व है। वह सदाचार कहा गया है और मनु आर्योचित गौरव के साथ उस सदाचार को पृथ्वी के सब मानवों के लिए आदर्श मानते हुए अपने राष्ट्र को सबसे ऊँचे आसन पर स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार की भावना ही राष्ट्र के अमर जीवन का हेतु है, जो उसे अंधकार मे भी आत्मविषाद से बचाना है। अर्वाचीन भारत के पुनरुत्थान के तोरणद्वार पर मनु का यह श्लोक सोने के अक्षरो मे लिखा जाना चाहिए :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश में जन्म पाए हुए श्रेष्ठजन्मा पुरुषो मे पृथिवी के सब मानव अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

राष्ट्र में राजा की आसंदी (गद्दी) सबसे ऊँचा स्थान है, जहाँ से दंड प्रवृत्त होता है। मनु को अराजक राष्ट्र से घृणा है। अराजकता की व्यवस्था में मात्स्यन्याय के द्वारा बलवान् निर्बलों का भक्षण और शोषण करने लगते हैं। जब तक राजनीति ठीक है, तभी तक राष्ट्र की पद्धति ठीक चलती है। स्वराष्ट्र में राजशक्ति के लड़खड़ाते ही राष्ट्र की आदर्श व्यवस्थाएँ भी बैठ जाती हैं। इसीलिए मनु ने राष्ट्रीय शक्ति के मूल को महती देवता माना है। मनु के अनुसार धर्म का ही दूसरा नाम दंड है। दंड के निर्बल होने पर धर्म रसातल को चला जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मनु का धर्म थोथा परलोक-विश्वास नही है, बल्कि वह प्रजाओं का धारण और संवर्धन करनेवाली जीवन की एक शक्तिशाली पद्धति है। दंड ही न्याय का मूल है। जब दंड का प्रणेता साधु अर्थात् निष्पक्ष भाव से दंड का प्रयोग करता है, तभी प्रजाएँ एक दूसरे को दबाना नही चाहती। मनु के अनुसार दंड ही राजा है, दंड ही नेता है, दंड ही शासिता है और दंड ही राष्ट्र में अकेला पुरुष है, दंड के सामने अन्य सब कुछ स्त्री की तरह प्रतीत होता है। सब भूतों का गोप्ता, प्रजापति का पुत्र, ब्रह्मतेज से युक्त दंड ही है, जिससे राष्ट्रीय धर्म विचलित नहीं होते। इस प्रकार का सबसे निडर रहनेवाला और सबको निडर रखनेवाला दंड जब तक राष्ट्र का ककुद् या सबसे ऊँचा स्थान बना रहता है, तभी तक राष्ट्र की आत्म-सम्पदा पनपती रहती है। मनु का आदर्श राष्ट्र के ब्राह्मधर्म और क्षात्र-धर्म का (जिन्हें आजकल की राजनीतिक परिभाषा में 'लेजिस्लेटिव' और 'एक्जीक्यूटिव' शक्ति कहते हैं) सुन्दर समन्वय है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥९।३२२॥

अर्थात् बिना ब्रह्म के क्षत्र और बिना क्षत्र के ब्रह्म का विकास नहीं होता। ये मिलकर ही इस लोक में और पर-लोक मे संवर्द्धित होते हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था में मस्तिष्क और बल, दोनों की पूजा की जाती है। मनु के आदर्श ब्राह्मण वे हैं, जिनमें उच्च राष्ट्रीय संस्कृति मूर्तिमान रूप धारण करती है। वे ब्राह्मण धर्म के कोश हैं। राष्ट्रीय धर्मो का निर्माण इसी प्रकार के ज्ञानियों की परिषद् में होता है, राजदण्ड तो उन धर्मों को प्रचलित रखता है। मानव संस्कृति बहुसंख्या पर निर्भर नही है। एक ज्ञानी दस हजार मूर्खों से श्रेष्ठ है।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

मानवधर्मशास्त्र बुद्धि का समादर करता है। वह जकड़नेवाले धर्मों का पुलिन्दा नहीं है। युगधर्म के अनुसार कानूनों की वृद्धि और विकास करने के उदार बीज इस शास्त्र में जान-बूझकर रक्खे गए हैं। शिष्ट विद्वानों की दशावरा परिषदों को संगठित करने का विधान इसीलिए था।

मनु के अनुसार मनुष्य सब के केन्द्र में है

मनु के अनुसार विद्वान् या कर्मशील ज्ञानी का मूल्य सबसे अधिक है। धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या, ये पाँच आदर की चीजे है, इनमें बाद की वस्तु पहले से श्रेष्ठ है। धन से ज्ञान बहुत ऊँचा है। यही ऋषियों का पैमाना था, जिससे मानव की ऊँचाई नापी जाती थी और मनु ने इसी को अपनाया है। मनु की दृष्टि मे 'मनुष्य' सबके केन्द्र में है, उसी का निर्माण सब शास्त्र और धर्मो का ध्येय है। मनुष्य की समृद्धि के लिए ही आदर्श संस्थाओं का विकास राष्ट्र में किया जाता है। मनु का विचार है कि राजा ही युग का प्रवर्त्तक होता है (राजा हि युगमुच्यते), अतएव सप्तांग राज्य की ठीक व्यवस्था मानव समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसकी सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर वीर्य-वान् दण्ड की स्थापना चाहिए, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की प्रजा में निर्मलता और तेज भी आना चाहिए।

दक्षिणी ध्रुव की विजय

भूमंडल के हिममंडित दुर्गम अधोभाग की खोज में अपना जीवन उत्सर्गित करनेवाले कतिपय साहसिक वीरों की अमर कहानी।

पृथ्वी के दक्षिणी छोर पर फैला हुआ हिम का वह अज्ञात भूभाग! इस बर्फीले महाद्वीप के मौन सौंदर्य पर, इसकी बलिवेदी पर, कितने अदम्य साहसी वीरों ने अपनी जीवनाहुतियाँ न चढ़ा दी! एक के बाद एक वीरो की टोलियाँ मीलों लम्बे समुद्र की छाती को चीरते हुए इस कुतूहलपूर्ण, विचित्र और भयानक हिम-प्रदेश की असीम सुनसान परिधि को नापने के लिए बढ़ीं और इसकी अथाह बुभुक्षित उदर-दरी में समाती गईं! फिर भी मानव इसका सम्पूर्ण रहस्य अभी तक नहीं जान पाया। किन्तु इससे क्या! इन साहसी अन्वेषकों ने अपनी कुर्बानियो की ईंटो से चुन-चुनकर ज्ञान की एक ऊँची दीवार तो खड़ी कर दी, जिस पर चढ़कर इस रहस्यपूर्ण क्षेत्र का विस्तृत रूप से अवलोकन करने और अंत में उस पर अपना पूर्ण साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग भावी पीढियों के लिए खुल गया।

एक के बाद एक अन्वेपक पृथ्वी के इस तल-प्रदेश की ओर जान की बाजी लगा-लगाकर बढ़े, और उन्होने वहाँ क्या देखा? केवल बर्फ ही बर्फ, और सुनसान में अपनी भयंकर फुफकार छोड़ती तथा १०० मील प्रति घंटे की गति से भागती हुई बर्फीली आँधी!

इस सुनसान महादेश की छाती पर हहर-हहरकर भागने-वाली उस प्रचण्ड वायु का रूप कितना अदम्य था! इन यात्रियों को कभी-कभी तो साँस लेना भी मुश्किल हो जाता था और उनका दम घुटने लगता था। मुँह पर मानों कोई पंजों से खरोंच-सी लेने लगता था। आँखें चौधिया जाती थी। मुँह और ओठ सतत् तीक्ष्ण प्रहार से सूज-से जाते थे। फोड़े-फुन्सियाँ निकल आती थीं। मुँह में खून आने लगता था, और कभी-कभी तो उन्हे अपना सारा बोझ इस अंधड़ पर फेंककर झुके-झुके ही घंटों खड़े रह जाना पड़ता था। यदि जूते कीलदार न हुए, तो बस पीछे ही घसिटते चले गए, और मार्ग छूट गया! जब वे अपने यंत्रों के धातु-निर्मित भाग को स्पर्श करते तो उन्हें बिजली की झनझनाहट-सी अनुभव होने लगती थी, और वे देखने लगते थे अपनी अँगुलियों के नाखूनों के सिरों से उठती हुई चिनगारियों की पतली-पतली-सी रेखाएँ! हवा मे विद्युत्-कणों के इस बाहुल्य के चमत्कार को देखकर उन्हें आश्चर्य होने लगता था! किंतु संसार के इस निर्जनतम महादेश में उन्होंने यदि प्रकृति का विकराल प्रलयंकर रूप देखा, तो साथ ही साथ देखा उसका वह मौन सौंदर्य भी, जो संसार के अन्य किसी भी भाग में मिलना दुर्लभ है। दिन के दस बजे हैं और वे देखते हैं कि क्षितिज पर एक जगमगाता हुआ गोला दृष्टिगोचर हो रहा है। धीरे-धीरे कई प्रकाश-स्तम्भ सीधे ऊपर की ओर उठने लगते हैं और तत्पश्चात् लपटो की तरह लपलपाते हुए उस विशालकाय अग्नि-मण्डल के दोनों ओर इन्द्र-धनुप के चटकीले रंगों से भरे दो झिलमिलाते हुए प्रकाश-मण्डल एकाएक आकाश में जगमगाने लगते हैं। कैसा स्वर्गीय दृश्य रहा होगा वह!

यो तो अठारहवीं शताब्दी में जेम्स कुक से लेकर पिछले दिनों हिलारी और फुश तक अनेक वीरों ने इस प्रदेश में यात्राएँ कीं, परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण यात्रा सन् १८४१ में रॉस नामक एक अंग्रेज के अधिनायकत्व में हुई। रॉस ने ४०० मील तक पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए संसार के इस सबसे बड़े व फीले भाग पर पहुँचकर देखा कि हिम की उस ठोस चादर का समुद्री किनारा पठार की तरह समुद्र से सैकड़ो फीट ऊँचा उठा हुआ है। पता नही यह ठोस चादर समुद्र पर तैरती रहती है या भूमि पर स्थित है। साथ ही उसने वहाँ लावा उगलते हुए ज्वालामुखी पर्वत भी देखे!

सुदूर दक्षिण तक जाकर लौट आया और उसका रेकार्ड कोई भी न तोड़ सका, यद्यपि इसके बाद नारवे, बैलजियम और ब्रिटेन के अन्य कई यात्री ध्रुव की खोज में गए।

आधुनिक शताब्दी के प्रभात-काल में, सन् १९०१ मे, कैप्टन स्कॉट के नायकत्व में एक ब्रिटिश जहाज दक्षिणी ध्रुव की खोज मे चल पड़ा। उसी विशाल वर्फ के पठार पर जिस पर रॉस उतरा था, ये नये यात्री भी उतरे तथा पूर्व की ओर ७०० मील तक बढ़े चले गए। फिर भी ध्रुव-विन्दु तक ये नही पहुँच पाये। स्कॉट ने वेलून पर ६५० फीट ऊँचे चढ़कर चारों ओर देखा तो सिवा वर्फ के और कुछ नजर नही आया!

सन् १९१२ मे मावसन नामक अन्य एक साहसिक यात्री दो वीर साथियों को लेकर चल पडा। उस रीढदार वर्फीली भूमि की छोटी-बड़ी टेकडियों, दरारों, खड्डों आदि को पार करते हुए ये लोग अभी जा ही रहे थे कि एकाएक मावसन का एक साथी गायव हो गया। मालूम हुआ, वह कुत्तों और स्लेज की गाड़ी सहित सैकड़ों फीट नीचे एक वर्फीली दरार के मुँह में समा गया है! उसके चीखने तक की भी आवाज नही आती थी। केवल १५० फीट नीचे एक कुत्ता, जिसकी पीठ की हड्डी टूट गई थी, अपने प्राणो की अन्तिम शक्ति लगाकर मारे दर्द के मिमिया रहा था। लेकिन उतनी लम्बी रस्सी भी तो नही थी कि उस विशाल दरार के तल को छुआ जा सकता। स्लेज के साथ उस पर लदी हुई खाद्य-सामग्री आदि वस्तुएँ भी उसी वर्फ की उदर-दरी में समा गईं। मावसन के पास अव केवल एक मुट्ठी भर किशमिश और एक कुत्ते की लाश वची थी। एक स्लेज भी जिस पर कि तम्बू का वोझ लदा हुआ था, उसके पास थी। इसी वोझे को खींचकर मीलों का रास्ता उसने अपने वचे हुए साथी के साथ पार किया। पर उसका वह साथी भी चल वसा। अव अकेले ही इस वजन को घसीटकर उसे चलना था। नीचे हजारों फीट गहरी दरारे छिपी हुई थी! फिर भी वह वढ़ता ही गया। एक बार तो वह दरार मे गिर ही पड़ा, ६ फीट नीचे तक लटक गया और चक्कर खाने लगा। वड़ी मुश्किल से वह बाहर निकल पाया। थकावट और भूख के मारे वह उस दरार के किनारे वेहोश हो गया। जव होश आया तो फिर आगे वढ़ा। लेकिन हवा इतनी तेज थी कि वह आगे वढने के वदले अपने रास्ते से मीलों दूर पीछे ही घसिटता चला गया!

अन्त मे अपने यन्त्र-तन्त्र तोड़-ताड़कर उनकी कीलें जूतों मे ठोंककर और पैर जमा-जमाकर वह आगे वढा। इस तरह, वडी कठिनता से वह समुद्र-किनारे तक पहुँचा।

इसके वाद फिर वही अमर यात्री कैप्टन स्कॉट अपने कुछ वीर यात्रियो को लेकर ध्रुव पर धावा वोलने के लिए चल पड़ा। यह वही स्कॉट था, जिसने विशाल वर्फ के पठार के किनारे-किनारे जहाज चलाकर एक वड़ा भू-भाग खोज निकाला था, जिसका नाम उसने 'किंग एडवर्ड सेवंथ लैन्ड' रखा था। शीत वीत जाने पर वह अपने वीर साथियों के साथ ३७० मील तक वढ़ता चला गया, लेकिन मुख्य भूभाग
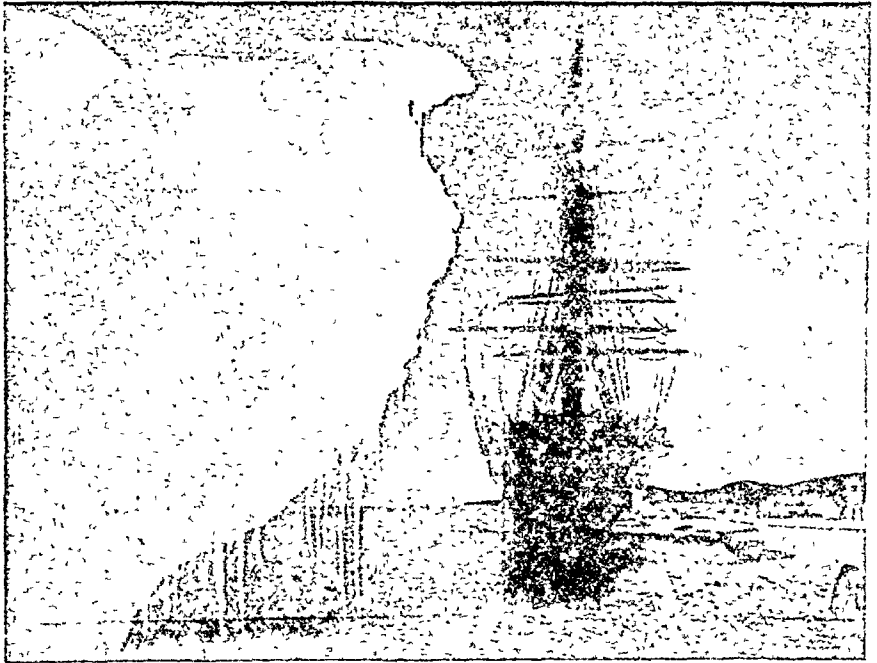
दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में कैप्टन स्कॉट का प्रसिद्ध जहाज "टेरा नोवा"
सामने की ओर तैरता हुआ एक वर्फ का पहाड़ है, जिससे यह जहाज वाल-वाल वचा या।

दक्षिणी ध्रुव के महान् विजेता

सर डगलस मावसन
(जन्म १८८२)

सर ह्यूबर्ट विल्किंस
(जन्म १८८८)

सर अर्नेस्ट शेकल्टन
(जन्म १८७४; मृत्यु १९२२)

कैप्टन राबर्ट स्कॉट
(जन्म १८६८; मृत्यु १९१२)

रोल्ड एमंडसन
(जन्म १८७२; मृत्यु १९२८)

कैप्टन रिचर्ड बर्ड
(जन्म १८८८)

ध्रुव से लौटते समय पड़ाव से ११ मील दूर स्कॉट और उसके साथियों की मृत्यु।

जब स्कॉट और उसके साथी ध्रुव पर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने एमंडसन का तंबू और झंडा गड़ा पाया !

दक्षिणी ध्रुवप्रदेश पर मं... हु... कैप्टन बर्ड का हवाई जहा...

तक नही पहुँच पाया। कुत्तों के मर जाने से, खाद्य सामग्री के खत्म हो जाने से, एवं अपने एक साथी शेकल्टन को खून की बीमारी हो जाने से, उसे बरबस निराशा लेकर पीछे लौटना पड़ा। तो भी उसकी साधना असफल नही रही, क्योंकि उसने दक्षिणी ध्रुव के मार्ग का पता लगा लिया था। १९०८ मे बीमारी से आराम होने पर वीर शेकल्टन
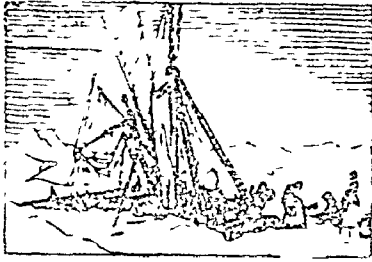
शेकल्टन का जीर्ण - शीर्ण जहाज इसी प्रकार वर्फ की आँधी से टुकड़े टुकड़े हो गया था।

ने पुन ध्रुव की राह पकड़ी। जिस ठोस बर्फीली जमीन पर उसने अपना असबाव रखा था, वह वर्फ के नीचे बहते हुए समुद्र के पानी के दबाव के कारण फट गई और फलतः असबाव तो स्वाहा हुआ ही, साथ-साथ ८ टट्टू भी मर गये। यही नहीं, १०० मील प्रति घण्टे की गति से दौड़नेवाली आँधी न उसके जहाज को भी तोड़-ताड़कर दुरुस्त कर दिया। तो भी वह वढते ही गया और जब ध्रुव से ९७ मील ही की दूरी पर वह था, तब एक भयानक आँधी दौड़ती हुई दीवार के समान उसकी छाती से आकर टकराई और उसे हारकर आखिरकार वापस लौटना पड़ा। अब फिर कैप्टन स्कॉट की बारी थी। इस बार वह अपनी यात्रा को, (जिसे कि अस-फल होने पर भी हिम्मत न हारकर उसने कई बार प्रारंभ की थी, और जिसे कि शेकल्टन ने करीब-करीब सफलता के नजदीक पहुँचा दिया था) पूरी करने का प्रण कर चुका था।
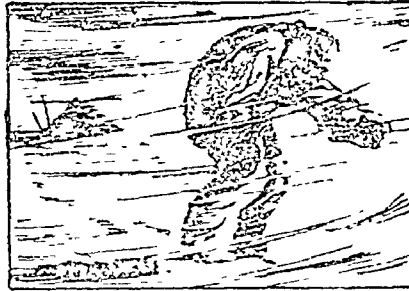
जनवरी १९११ मे ओट्स, एडगर इवान्स आदि चार वीर साहसियों को साथ लेकर स्कॉट अपनी अमर यात्रा को पूरी करने की साध मे निकल पड़ा। भयङ्कर आँधियों को चीरते हुए, हिमानियों आदि से बचते हुए ये पाँचों वीर १८ जनवरी, १९१२, को आखिरकार अपने लक्ष्य दक्षिणी ध्रुव पर पहुँच गए। लेकिन स्कॉट का हृदय ही जानता होगा कि उसे कितनी निराशा हुई, जब उसने देखा कि केवल एक माह पहले ही किसी दूसरे ने ध्रुव पर विजय प्राप्त कर ली थी। स्कॉट को दुनिया के इस सबसे वीरान स्थान में एक तम्बू मिला, जिसके पास एमण्डसन की विजयिनी उँगलियों से लिखा हुआ यह सन्देश पड़ा था "९० डिग्री पर स्वागत !" स्कॉट की यह सफल यात्रा, यह अमर यात्रा, इतनी सफलता मे भी असफल ही रही ! आखिर क्या दक्षिणी ध्रुव का विजय का टीका उसके उस देश के मस्तक को गौरवान्वित नहीं कर पाया, जिसने कि युग-युग के इस स्वप्न को साकार बनाने के लिए कई बार अपने प्राणों का होम किया था ? नारवे का साहसी यात्री एमण्डसन अपने ४२ कुत्तों को लेकर थोड़े-से समय में ही विजय का वह झण्डा गाड़ गया था। इतने अल्प समय में इतनी महान् विजय ! स्कॉट और उसके वीर साथी निराशा का तूफान प्राणों में छिपाए हुए लौट पड़े ! भयङ्कर आँधी चल रही थी।

कैप्टन ओट्स का आत्म-बलिदान ! शिथिल हो जाने पर साथियों की प्रगति में बाधा न डालने के उद्देश्य से ओट्स ने बर्फीली आँधी की ओर बढ़कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी !

ध्रुव-प्रदेश की प्रचण्ड वर्फीली आँधी का दृश्य !
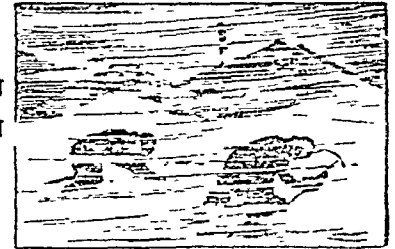
टट्टू पहले ही मर चुके थे, अतएव सब सामान-असबाब उन्हें ही उठाना पड़ रहा था। एडगर इवान्स परिश्रम के कारण थककर चकनाचूर हो रहा था। भयंकर शीत, कँपा देनेवाला तूफान और बरसती हुई वर्फ ! इवान्स चल बसा। अब ओट्स के भी पैर लड़खड़ाने लगे। वीर ओट्स—यह समझकर कि इन लोगों को कष्ट देना उचित नहीं, क्योंकि पग-पग पर मौत का खतरा है—बरसती हुई वर्फ के हहराते हुए तूफान में, जहाँ कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था, एक ओर चल पड़ा ! अपने फौलादी कलेजे को सीने में थामे हुए ओट्स अपने साथियों द्वारा रोके जाने पर भी मौत का आलिंगन करने के लिए चल दिया !
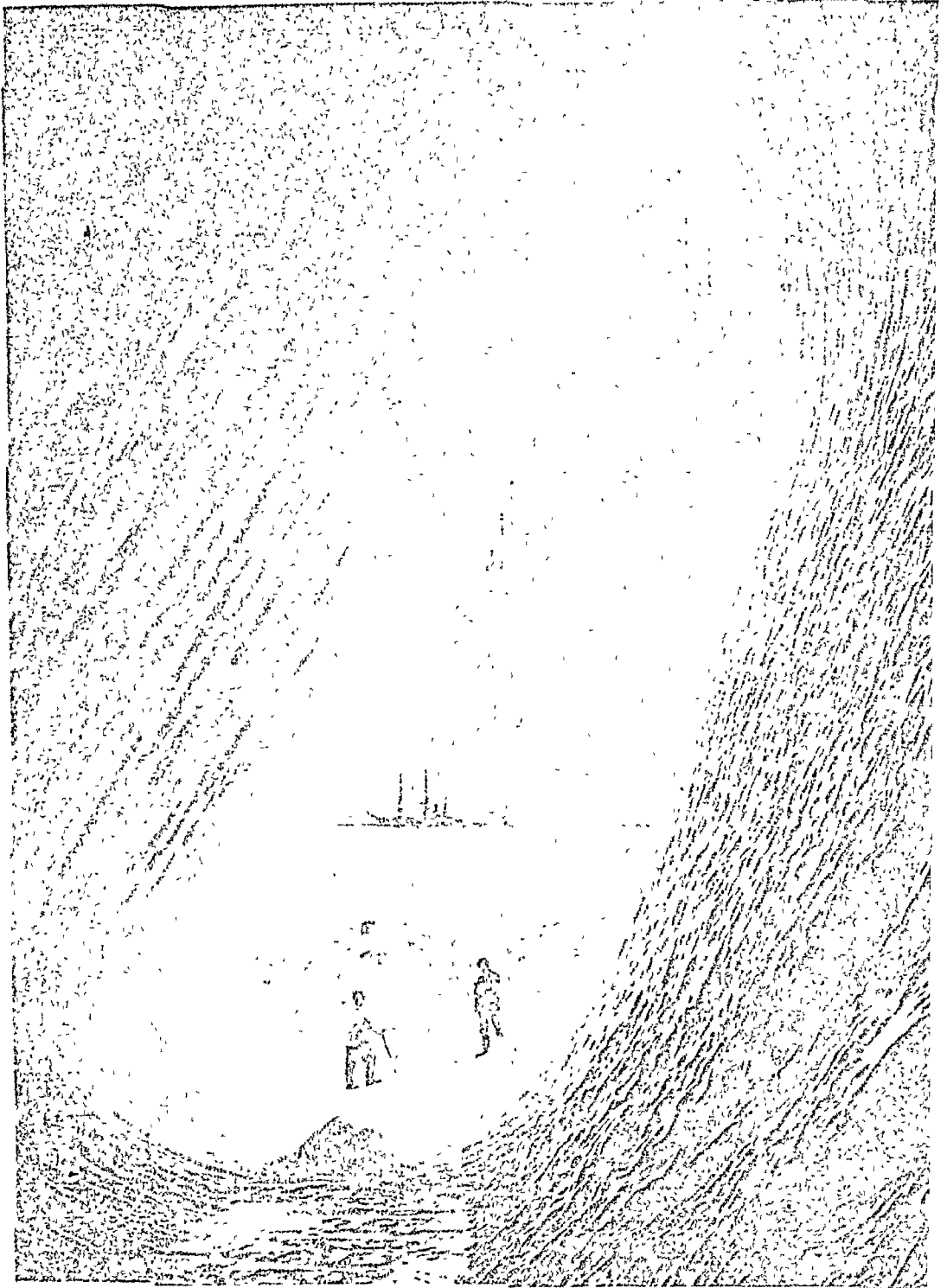
दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश के महान् हिमक्षेत्र की एक झांकी

वह लड़खड़ाते हुए उस तीक्ष्ण वर्फीले तूफान के श्वेत अंधकार में सदा के लिए विलीन हो गया। अब शेष रहे स्कॉट, और दो और साथी। वर्फ के तीक्ष्ण टुकड़े आ-आ कर उनके मुखों पर चुभ-चुभ जाते थे। उनके कपड़े वर्फ से तर-बतर हो रहे थे। अन्त मे उन्हें क्रूर प्रकृति के भीषण अत्याचार से बचने के लिए वहीं रुककर तम्बू की शरण लेनी पड़ी। उनका मुख्य पडाव अब केवल ग्यारह मील दूरी पर ही रह गया था। वहाँ उनको भर-पेट भोजन मिल सकता था। लेकिन केवल दो दिन का भोजन लिए हुए वे वीर भयकर तूफान से हिलते हुए इस छोटे से तम्बू में ही सिकुड़कर पड़े थे। यह भीषण तूफान एक सप्ताह तक चलता रहा और वे उसी तम्बू में वीरतापूर्वक अनशन करते रहे।

स्कॉट के साथी ४ दिन तक जिन्दा रहे और आखिरी दम तक उन्होंने सद्भावना के पत्र लिखे तथा अपनी-अपनी डायरियाँ भी वे लिखते रहे। स्कॉट ने, जिसकी मृत्यु सब के बाद हुई, अपनी डायरी में मृत्यु के कारण तथा अपने ध्रुव-संबंधी अनुभवो की बातें लिखी। जब मृत्यु की घड़ी सन्निकट आ गई, तब भी स्कॉट ने मरते-मरते लिखा—'अपनो की सुधि लेना।' कितना करुणाजनक वाक्य था यह! जब १२ नवम्बर, १९१२, को इन अमर वीरों की खोज में एक पार्टी पहुँची, तब उक्त पार्टी के लोगों को वह मृत्युशिविर दिखलाई पड़ा। उन लोगों ने देखा कि वे तीनों मृत्यु की अमर शय्या में लिपटे हुए सो रहे है। उनकी डायरियाँ उनके आस-पास बिखरी पड़ी है। मूँगों के टुकड़े, कोयले, किस्म-किस्म की धातुओं के नमूने तथा अन्य कई वस्तुएँ—जिन्हे उन लोगो ने प्राणो से भी अधिक कीमती समझकर जुटायी थी—उस तम्बू में मिली, जिसमे खाने के लिए एक दाना भी न बचा था। स्कॉट का हाथ विल्सन के शरीर पर रखा हुआ था। ऐसी गौरवशालिनी वीर मृत्यु की महत्ता विनष्ट न होने देने के लिए, लोगो ने उन वीरों के मृत शरीरों को समुद्र से सैकड़ों मील दूर, शाश्वत वर्फीले मैदान पर छाती की तरह तने हुए उस नीरव निर्जन तम्बू में ही रहने दिया! आज के दिन भी उनकी वीर आत्माएँ उनके मृत शरीरों के साथ उस वर्फीले मैदान की छाती पर मानो कदम बढ़ाये चली जा रही है!

इसके बाद शेकल्टन तथा अन्य लोगो ने इस प्रदेश की ओर भी कई यात्राएँ की। शेकल्टन १९२२ मे इसी प्रदेश में स्वर्गलोक को सिधारा।

पृथ्वी के दोनो छोर अर्थात् उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव की यात्राओं से मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि उत्तर का "आर्कटिक" प्रदेश यदि बड़े-बड़े जमीन के टुकड़ों से घिरा हुआ एक समुद्र है, तो दक्षिण का एण्टार्कटिक प्रदेश गहरे समुद्र से घिरा हुआ एक महाद्वीप है। दक्षिण का यह ध्रुव-प्रदेश पृथ्वी का सबसे ऊँचा पठार है। इसका भीतरी भाग समुद्र की सतह से ९००० फीट ऊँचा तथा इस ऊँचाई पर भी हजारों फीट ऊँची हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों से आच्छादित है। इस हिमप्रदेश मे साल भर शुष्क रेतकणों के समान चमकीले वर्फ-कणों ही की झड़ी लगी रहती है। इस प्रदेश की समस्त ऊँची समतल भूमि लाखों वर्षो से बरसती हुई वर्फ की हजारो फीट मोटी सतह से आच्छादित है। यहाँ पर हजारो फीट नीचे तक पानी में डूबे हुए भिन्न-भिन्न आकार के वर्फ के तैरते हुए विशाल पहाड़ो (Icebergs) की भी भरमार है। ६०-६० मील लम्बे पानी पर तैरनेवाले वर्फ के पहाड़! प्रकृति का कितना भव्य, परन्तु साथ ही कितना भयानक दृश्य होगा वह! यहाँ न तो कोई मनुष्य ही रहता है और न वनस्पति ही पैदा होती है। हाँ, पैंग्वीन नामक एक विचित्र पक्षी-वर्ग का प्राणी यहाँ का एक-मात्र निवासी है।

आज इस अखण्ड भूभाग को हथियाने के लिए अनेको राष्ट्र अपने-अपने अधिकारों की माँग पेश कर रहे है। क्यो? कारण यह है कि इसके वर्फीले गर्भ-स्तल में कोयला आदि कई प्रकार के खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। आज ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, स्वीडन, फ्रांस, नॉरवे और यूनाइटेड स्टेट्स सभी इसे हथियाने के लिए प्रयत्नशील है तथा अपने-अपने झण्डे वहाँ गाड़ने के लिए उत्सुक है। यूनाइटेड स्टेटस् का वीर वायुयान-यात्री रिचर्ड एवेलीन बर्ड पहले-पहल वायुयान में दक्षिणी ध्रुव पर उड़ा था और वहाँ अपना झण्डा गाड़कर लौटा था। उसने अपनी पहली यात्रा में ४,००,००० वर्ग-मील अनदेखी जमीन का नकशा खीचा। १९३३ में उसने फिर वायुयान द्वारा वहाँ की यात्रा की।

उपर्युक्त आरंभिक अभियानों के बाद पृथ्वी के इस दक्षिण-वर्ती अधोभाग के अज्ञात भूभाग के अन्वेषण के अन्य प्रयासो में सबसे उल्लेखनीय अभी हाल ही में 'गौरीशंकर' (एवरेस्ट) की चोटी पर चढ़ने में सफल होनेवाले सर एडमण्ड हिलारी तथा डॉ० फुश नामक एक ब्रिटिश वैज्ञानिक के अपने-अपने स्वतंत्र अभियान है। डॉ० फुश ने प्रसिद्ध "शैकल्टन बेस" से चलकर ९९ दिन की अवधि में 'स्कॉट बेस' तक की २,१०० मील की यात्रा करके इस सारे महाद्वीप को पहली बार इस ओर से उस ओर तक पार करने का गौरव प्राप्त किया है। हिलारी स्कॉट बेस से चलकर उनसे पहले ही ध्रुव तक जा पहुँचे थे।